

श्रीकृष्णाय नमः

श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्



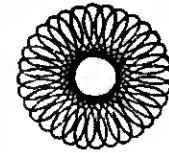
शुद्धाद्वैतब्रह्मवादनिर्युगभक्तिमार्गप्रवर्तकाचार्य-
चक्रचूडामणिश्रीमदल्लभाचार्यचरणप्रणीतम्



दशदिगन्तविजयिश्रीमद्गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमचरणप्रणीत-
भाष्यप्रकाशसंपूर्णवेत्तुश्रीमद्गोस्वामिश्रीगोपेश्वर-
जिच्चरणप्रणीतभाष्यप्रकाशरश्मिपरिवृंहितम्



प्रथमो भागः



प्रकाशक :

श्रीनाथद्वारा टेंपलबोर्ड
नाथद्वारा, राजस्थान

प्रथम संस्करण : वि. सं. १९९२-९३

द्वितीय संस्करण : वि. सं. २०३८

प्रति : १५००

मूल्य : रु. ४६

मुद्रक .

वी. वरदराजन

एसोसिएटेड एडवटाइजर्स एंड प्रिंटर्स

५०५ तारदेव, आर्थर रोड,

वम्बई, ४०० ०३४.

शुद्धाद्वैतवाद तथा अणुभाष्य की

प्रस्तावना

सोऽबिभेद् तस्मादेकाकी बिभेति !

सहायमीक्षाचक्रे यन्मदन्यत्रास्ति कस्माभु बिभेमीति ।

ततएवास्य भयं वीयाय ।

कस्माद् हि अभेष्यत् ? द्वितीयाद् वै भयं भवति !

सर्वं नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते !

स द्वितीयमच्छत् स हैतावानास ।

यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ स इममेवात्मानं

द्वेषापातयत् । ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम् ।

(बृहदारण्यकोपनिषद्)

[अपनी एकाकितामें उसे भयकी अनुभूति हुई थी, अतएव आज भी एकाकी व्यक्ति भयभीत हो जाता है! तब उसने यह सोचा कि जब मेरे अलावा दूसरा कोई है ही नहीं तो डरनेकी बात ही क्या है। ऐसा सोचनेमात्रसे उसका भय निवृत्त हो गया। आखिर कोई क्यों डरता है? भय तो सर्वदा किसी दूसरेके कारण ही होता है! अपने अकेलेपनमें, किन्तु, उसका मन रमा नहीं, अतएव आज भी किसी एकाकी व्यक्तिका मन लगता नहीं है। उसे अपने अलावा किसी दूसरेकी कामना हुई। तब यह जो कुछ है वह सब वही बन गया! अपने एकाकिपनको दूर करनेके लिये जैसे स्त्रीपुरुष एक-दूसरेके समीप जाते हैं, वैसे ही उसने भी अपने एकाकिपनको दूर करनेके लिये स्वयम्को दो भागोंमें बांट लिया! तबसे एक भाग पति और दूसरा भाग पत्नी बन गया!]

एकाकित्ता या अद्वैत में अरति; और सद्वितीयता या द्वैत में भीति, के विरोधाभासवाली मनोवृत्ति सभी प्राणियोंके भीतर सर्वत्र सर्वदा पायी जाती है।

जड-चंतन चेतन-चेतन जगत-जगदीश माया-ब्रह्म अथवा शैतान-परमेश्वर आदि विभिन्न रूपोंमें, जब हमारी बुद्धि किसी तरहका द्वैत खड़ा कर देती है, तब वह स्वयम् हमारे ही लिये भयकी सामग्री एकत्रित कर देती है। भेद या भिन्नता के उपर, अतिवादी दृष्टिकोणवश, जितना भार दिया जाता है उतना ही, भय अपराध हीनभाव कुण्ठा विद्वेष विद्रोह संघर्ष जय-पराजय और परिणामतः शोक-मोह आदिके मनोभाव हमारी हमारी चेतना में घर बना लेते हैं।

दूसरे छोरपर, किन्तु, केवल अद्वैत भी हमारे हृदय बुद्धि एवं वाह्य-व्यवहारों की मांगोंको सन्तुष्ट नहीं कर पाता है।

अतएव किसी न किसी तरहके विशेषणोंको जोड़ कर द्वैतको शुष्क नीरस अद्वैतमें कोई न कोई स्थान देना ही पड़ता है। स्वाभाविकद्वैत औपाधिक-द्वैत स्वगत-द्वैत सजातीय-द्वैत विजातीय-द्वैत मायिक-द्वैत व्यावहारिक-द्वैत या प्रतिभासिक-द्वैत इत्यादि। इसे हमारी 'मानसिक नियति' कहें या जगत के 'तात्त्विक स्वरूपकी नियति' कहें कोई अन्तर नहीं पड़ता। तथ्य यही है कि द्वैतकी पूर्ण अस्वीकृति मूलतया अशक्य है। क्योंकि जगत्के प्रकट होनेमें अर्थात् मूलरूपमें ही द्वैतकामनाकी पूर्तिका प्रयोजन निहित है। अतएव सचाईसे आज तक कोई भी दार्शनिक केवल अद्वैतकी बात कर नहीं पाया है।

शून्याद्वैतकी चरम स्वीकृतिमें भी कर्षणाको अप्रासंगिक न माना जा सका। कर्षणास्पद और कर्षणाशील के द्वैतको अनमने मानना ही पड़ा! निर्विशेषाद्वैतमें भी उपासनार्थ कल्पित द्वैतकी मिथ्या चाटुकारिता करनी ही पड़ती है!! क्योंकि 'अद्वैत' पदके गर्भमें ही द्वैतका वास है!!!

पद 'अद्वैत' किन्तु अर्थमें द्वैत !

'अद्वैत' पदके घटक निषेधार्थक अकारके स्वयम् अनेक अर्थ सम्भव है। जैसा कि कहा जाता है :

तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता ।

अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थः षट् प्रकीर्तिताः ॥

अर्थात् निषेधार्थक 'नञ' के छह अर्थ सम्भव हैं :

- (१) सादृश्य यथा गधेके जैसे घोड़ेको 'अनश्व' कहा जा सकता है।
- (२) अभाव यथा आदरके अभावको 'अनादर' कहा जाता है।
- (३) अन्यता यथा मनुष्यसे भिन्न किसी भी प्राणीको 'अमनुष्य' कहा जाता है।
- (४) अल्पता यथा पतली कमरवाली किसी सुन्दर युवतीको कविजन 'अनुदरा सुन्दरी' कह देते हैं।
- (५) अप्राशस्त्य यथा दुश्चरित्र होनेके कारण अप्रशंसनीय ब्राह्मणको 'अब्राह्मण' कहा जाता है।
- (६) विरोधिता यथा सुर-देवताओंके विरोधी होनेके कारण दैत्य को 'असुर' कहा जाता है।

इस तरह 'अद्वैत' पदके ही छह अर्थ तो केवल निषेधार्थक नञके कारण ही उठ खड़े होते हैं। और फिर निषेध्य 'द्वैत' पदके भी तो अनेक अर्थ सम्भव हैं।

वैसे तो "द्विधा इतं-ज्ञातं द्वीतं, द्वीतस्य भावो द्वैतम्" व्युत्पत्तिके अनुसार तो "द्वित्वप्रकारक ज्ञान विषयता" के रूपमें एक सामान्य लक्षण हमें द्वैतका मिल जाता है। और वह यह कि "एक यह वस्तु और दूसरी वह वस्तु" ऐसी बुद्धि या अनुभूति का विषय होना ही द्वैत है। परन्तु यह द्वैत कभी भावात्मक हो सकता है तो कभी अभावात्मक भी।

उदाहरणतया, नैयायिकोंके मतमें, द्रव्य आश्रयरूप भाव-पदार्थ माना जाता है; और गुण कर्म सामान्य विशेष तथा समवाय, द्रव्यमें आश्रित होकर रहनेवाले भाव पदार्थ हैं। और इस रूपमें दोनोंके बीच द्वैत सिद्ध हो जाता है। भाव-पदार्थके अन्तर्गत भी केवल गुणोंपर दृष्टिपात करते हैं तो कुछ गुण सर्वथा ऐसे हैं कि जो द्वैतबुद्धिके विषय बने बिना अवगत ही नहीं हो सकते। यथा संख्या पृथक्त्व संयोग विभाग परत्व अपरत्व आदि गुण द्वैतका अवगाहन न करनेवाली बुद्धिके विषय बन ही नहीं सकते। इसी तरह कर्म सामान्य विशेष समवाय रूप भावपदार्थ भी द्वैतका अवगाहन न करनेवाली बुद्धिके विषय नहीं बन पाते। क्योंकि सामान्य जैसा यदि कुछ होता है तो किन्हीं दो के बीचमें ही। इसी तरह विशेष भी, क्योंकि उसकी तो कल्पना ही, विभिन्न परमाणुओंके बारेमें पैदा होती द्वैतबुद्धिको आधार प्रदान करनेके लिये की गयी है। समवाय-रूप भाव-पदार्थकी भी यही गति है। क्योंकि कौन एक किस दूसरेमें, समवाय सम्बन्धसे स्थित है, इस तरहके द्वैतके अवगाहन किये बिना, समवाय-रूप भाव-पदार्थका स्वरूप ही समझा नहीं जा सकता। देश में कालमें और वस्तुके अपने स्वरूपमें, ये तीन तरहकी परिच्छिन्नता वस्तु में अनुभूत होती हैं 'कोई वस्तु वहां होनेपर भी यहां नहीं है' ऐसा देशिक परिच्छेद अत्यन्ताभावका बोध प्रकट करता है। कालिक परिच्छेद यह कि कोई वस्तु उत्पत्तिके बाद विद्यमान हो सकती है परन्तु उत्पत्तिसे पूर्व कालमें या नाशके उत्तर कालमें उसे विद्यमान नहीं माना जा सकता। ये कालिक परिच्छेद प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव का बोध प्रकट करते हैं। एक वस्तुका जो स्वरूप अपने आपमें होता है वह दूसरी वस्तुका नहीं अनुभूत होता, अतः दोनों के बीच तादात्म्याभाव अनुभूत होता है। इस तरह देशकृत कालकृत एवम् स्वरूपकृत परिच्छेदोंके वश जो अभावपदार्थके बारेमें ज्ञान होता है, वह भी द्वैतावगाहिनी बुद्धिमें ही प्रकट होता है। नैयायिकोंको अभिमत सातों पदार्थों के बारेमें जो ज्ञान होता है, वह द्वैतमूलक है। अतः द्वैतका भांन भी इन भाव और अभाव उभयविध पदार्थोंके बारेमें होता है।

यद्यपि य सात पदार्थ सभी दार्शनिकोंको मान्य है ऐसा तो नहीं है। फिर भी इन्हें वास्तविक या बाह्य पदार्थ न भी माना जाये और केवल पदोंकी सप्तविध विवक्षा मानी जाये। अर्थात् 'पृथ्वी' 'जल' 'तेज' 'वायु' 'आकाश' 'काल' 'दिशा' 'आत्मा' या 'मन' जैसे पदोंके प्रयोगमें हमारी विवक्षामें द्रव्य होता है। 'रूप', 'रस', 'गन्ध' आदि पदोंके प्रयोगके समय हमारी विवक्षामें गुण होता है। 'भ्रमण', 'रेचन' आदि पदोंके प्रयोग करते समय हमारी विवक्षा कर्मके बारेमें होती है। 'सत्ता', 'मनुष्यता' या 'ब्राह्मणत्व' आदि पदोंके प्रयोग करते समय हमारी विवक्षा सामान्यके बारेमें होती है। इसी तरह विशेष समवाय एवम् अभावों को भी बाह्य एवम् वास्तविक न माना जाये। यों सप्तविध पदोंके प्रयोगद्वारा प्रकट होती हमारी सप्तविध केवल विवक्षा भी इन्हे मान लें, तो भी किसी दार्शनिककी विवक्षामें एकाद पदार्थ या तो अधिक होगा या न्यून होगा, एतावता द्वैत, भावपदार्थ द्रव्य-गुणादि जैसे और अभाव-पदार्थ अत्यन्ताभाव-तादात्म्यभावादि जैसे दोनोंके ज्ञानमें भासित होता है, इस तथ्यका अस्वीकार शक्य नहीं।

कुल मिला कर बात इतनी ही है कि 'अद्वैत' पदमें अकारद्वारा निषेध्य द्वैतके भी अनेक प्रकार हो सकते हैं।

इस अर्थजटिलताको लक्ष्यमें रखे बिना जो लोग, 'द्वैत' या 'अद्वैत' पद को सुनते ही सोत्साह उछलने लगते हैं, उनकी वैसी उछलकूदके कारण, 'द्वैत' या 'अद्वैत' पदोंके ऐसे सूक्ष्म तथा जटिल अर्थोंके चिन्तनका अवकाश उन्हें नहीं मिलता!

'अद्वैत' पदमें ही निहित इस अर्थद्वैतके कारण, 'द्वैत' या 'अद्वैत' पदोंका जो भी अर्थ हमें रुचता हो लिया जा सकता है, अपनी-अपनी विवक्षाके अनुरूप फिरभी वास्तविकता तो यही है कि हमारी चेतनामें एक निगूढ़ भावना छिपी हुई है कि जिसके कारण न हमें केवल द्वैत चाहिये और न केवल अद्वैत ही। हमें हैं आवश्यकता निर्भयताकी जो सम्भवतया केवल अद्वैतमें मिल पाती होगी... परन्तु साथ ही साथ हमें हैं आवश्यकता रमणकी भी जो केवल अद्वैतमें कभी

सम्भव नहीं : तस्मादेकाकी न रमते. केवलाद्वैत कदाचित् निर्भयता प्रदान कर सकता है पर वह नीरस निर्भयता है। केवल-द्वैतमें रमण सम्भव है परन्तु वह भयमिश्रित ही रहेगा : द्वितीयाद् वै भयं भवति। अतः निर्भय-रमणकी हमारी मूल एवम् शाश्वत आकांक्षाकी तुष्टि न तो केवल द्वैतमें सम्भव है और न केवलाद्वैतमें ही।

भौतिकवादी इस भौतिक जगतमें निर्भयरमण चाहता है। अध्यात्मवादी अपनी आध्यात्मिकतामें निर्भय-रमण चाहता है। अधिदेववादी अपने अधिदेव के साथ कर्म-ज्ञान-भक्ति-प्रपत्तिमय आधिदैविक सम्बन्धमें अथवा आधिदैविक लोकोंमें भी निर्भय-रमण चाहता है। पर केवलद्वैत या केवलाद्वैत हमारे भीतर भरी हुई इस भीति एवम् अरति की परस्पर उलझी हुई समस्याको सुलझा नहीं पाते हैं।

महाप्रभु श्री वल्लभाचार्यका दार्शनिक उद्देश्य

आधिभौतिक आध्यात्मिक तथा आधिदैविक तीनों ही आयामोंमें इन्हीं भीति और अरति की विडम्बनासे हमारी चेतनाको मुक्ति दिलाना यह महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके शुद्धाद्वैतवादका परम एवम् चरम लक्ष्य है।

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य (वि० सं० १५३५-१५८७) ने, अतएव शुद्धाद्वैतबोधके उपदेशार्थ, भक्तकवि सूरदासके आत्मग्लानि-बोधक पदोंको सुन कर कहा था : सूर हूँके काहे धिधियात है कछू भगवल्लीला गा !

जीव और परमेश्वर के बीच भेदकी दीवार खड़ी की जानेपर, उस और सर्वज्ञ सर्वव्यापी सर्वसमर्थ सर्वशुभ परमेश्वरकी जो भी गति होती हो, हो जाये, कोई चिन्ताकी बात नहीं है! परन्तु भेदकी दीवारके इस ओर देश-कालकी सीमामें घिरी हुई, असमर्थ तथा पाप-पुण्य सुख-दुःख शोक-मोह आदि द्वन्द्वोंके भारसे बोझिल विचारी जीवात्मा धिधिया जाती है। हां, वह निःसन्देह धिधिया जाती है ऐसे परमेश्वरके सामने चाहे उस परमेश्वरके परमा-

नन्दरूप तथा परम दयालु होनेका आश्वासन ऐसी जीवात्माको कितना भी क्यों न दिया जाये!

इस धिधिया जानेकी बीमारीकी चिकित्सा केवल अद्वैतके उपदेशसे शक्य नहीं। केवलाद्वैतके तमाम दौद्धिक आश्वासनोंके वावजूद द्वैतका तथाकथित घोर ताण्डव व्यवहारमें कभी रुक नहीं पाता है। इस द्वैताण्डव के दृश्यपर पटाक्षेप बननेमें अपनी विफलताको स्वीकारनेके वजाय, आवरणनिवृत्तिके बाद भी कभी द्वैतविक्षेपकी अनुवृत्ति तो कभी उपासनार्थ कल्पित द्वैतकी आहार्य वृत्तिके वहाने खोज कर, अन्तमें केवलाद्वैतोपदेशको सन्तुष्ट हो जाना पड़ता है। वैसे मान भी लिया जाये कि विदेहमुक्तिमें कभी द्वैताण्डव स्थगित हो जायेगा, तोभी इस स्थगनवश उभरी नीरसताका समाधान साधकको ऐसे आश्वासनोंद्वारा देनेको बाधित होना पड़ता है कि-

अद्वैतं न सदेहोस्ति विदेहे द्वैतमस्ति नो।

जीवन्मुक्तस्य नान्यस्य द्वैताद्वैतमहोत्सवः ॥

सबसे विचित्र तथ्य इस आश्वासनमें यह है कि यह द्वैताद्वैतमहोत्सव या तो जीवन्मुक्तके ही सौभाग्यको बात है, अर्थात् परमेश्वरके भी सौभाग्यकी नहीं! क्योंकि आवरणरूप अज्ञानके निवृत्त होनेके बाद भी जीवन्मुक्तमें विक्षेपरूप द्वैत अनुवृत्त रहता है, कर्मवश। परमेश्वर, परन्तु, या तो कर्मबद्ध न होनेके दुर्भाग्यवश अथवा आवरणहित विक्षेपके अभिशापवश द्वैताद्वैत महोत्सवसे वंचित ही रहता है। ऐसी स्थितिमें न तो परमेश्वरमें किसी तरह की परमता सिद्ध होती है और न ईश्वरता ही। जिस परमेश्वरके अनुग्रहवश साधक द्वैतभीतिसे बाहर निकल सकता है, उस द्वैतको निवृत्त करनेके उपाय परमेश्वरके पास उपलब्ध नहीं है। अतः "ईश्वरानुग्रहादेवा पुंसामद्वैतवासना महाभयकृतत्राणा द्वित्राणामेव जायते" फिरभी वह परमेश्वर आत्मानुग्रहमें असमर्थ है! फलतः जीवन्मुक्तिके समय साधकको अनुभूत होता द्वैताद्वैत एक महोत्सव होगा। परन्तु परमेश्वर, जो सर्वज्ञ होनेसे निरावरण होता है तथा

सर्वसमर्थ होनेसे जो कर्मबन्धनसे परे होता है, उसके लिये यही द्वैताद्वैत महोत्सव रूप न हो कर महाबन्धनरूप हो जाता है। क्योंकि वह सर्वज्ञ-सर्व समर्थ होनेपर भी निजेच्छासे इसे प्रवृत्त या निवृत्त करनेमें सक्षम नहीं!

दृश्यविहीन द्रष्टाको अपनी एकाकितामें अनुभूत होती अरतिसे जन्य यातना असह्य होती है। यह वृत्ति, जो द्रष्टाको दृष्टिविहीन बननेके लिये उकसाती है ऐसी विरतिवाली आत्मघातकी वृत्तिसे, किस अर्थमें - उचित है? द्रष्टाको निजमें अनुभूत होते शून्याद्वैत और निर्विशेषाद्वैतके बीच अन्तर भी शून्य-वत् है। शून्याद्वैत द्रष्टाको जैसे दृष्टिविहीन हो जानेको उकसाता है, वैसे ही निर्विशेषाद्वैत द्रष्टाको दृश्यविहीन होनेको उकसाता है। द्वैतके भयातिरेकसे पनपी शून्याद्वैतकी तथा निर्विशेषाद्वैतकी वृत्तियोंमें निर्भयताकी खोजमें रमणकी आकांक्षाको सर्वथा भुला दिया गया है! अतः निर्भय-रमणका दृश्य केवलाद्वैतके इन दोनोंमें से एक भी प्रकारमें सम्भव नहीं।

शुद्धब्रह्मवाद

परमकाष्ठापन्न अनुभूति अथवा स्थिति, विदेहमुक्तिमें प्राप्त होती है कि सदेहमुक्तिमें, यह प्रश्न उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि निर्भयरमण कैसे सम्भव है, यह प्रश्न महत्वपूर्ण है।

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके अनुसार निर्भय-रमण केवल ब्रह्मके समुचित बोधसे सम्पन्न होनेपर ही सम्भव है। जगत्के उत्पत्ति-स्थिति-लयमें कभी निरपेक्षतया तो कभी ब्रह्मसापेक्षतया, कभी उपादानतया तो कभी निमित्त-कारणतया, इस बहु-आयामी ब्रह्मतत्त्वकी तुलनामें नितान्त क्षुद्र तथा एक-आयामी तत्त्वोंकी उत्प्रेक्षाओंपर अवलम्बित होनेवाले, प्रकृतिवाद, परमाणुवाद, मायावाद, अदृष्टवाद, कालवाद या स्वभाववाद, जैसे अनेक वाद जो प्रचलित हुए हैं, वे निर्भय-रमणकी समस्त सम्भावनाओंको निःशेष कर देते हैं। तैत्तिरीयो-

पनिषद् में यह स्पष्टतया कहा गया है :

तदात्मानं स्वयमकुस्त । तस्मात् तत्सुकृतमुच्यत इति । यद्वं तत् सुकृतम् । रसो वं सः । रसं ह्येवायं लब्धवानन्दी भवति । को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्, एष ह्येवानन्दयाति । यदा ह्येवेष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते, अथ सोऽभयं गतो भवति । यदा ह्येवेष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति, तत्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य ।

अर्थ: उसने अपने-आपको सृष्टिके रूपमें घड़ा है। अतएव तो इसे उसका 'सुकृत' कहा जाता है। इस सृष्टिमें सभी कुछ उसका सुकृत है। क्योंकि रस तो वही है। उसी रसका लाभ होनेपर कोई आनन्दी बन सकता है। कौन यहां एक श्वास अन्दर लेने भरको भी जीना चाहता, यदि इस आकाशमें आनन्द भरा हुआ न होता! यही तो सभीको आनन्दित करता है। वस्तुमात्र ब्रह्मकी सत्ता तथा चैतन्य से भासित होते हैं। परन्तु ब्रह्म तो स्वसत्ता-स्वचैतन्यसे ही भासित होता है। अतः इस अर्थमें वह अदृश्य है। सब कुछ ब्रह्मात्मक हैं तथा ब्रह्मोपादानक है, परन्तु ब्रह्म अतएव अन्यात्मक नहीं, और इस अर्थमें वह अनात्म्य है। वस्तुमात्रकी निरुक्ति ब्रह्मकी सत्ता तथा ब्रह्मद्वारा स्वेच्छा परिगृहीत नाम-रूपोंके भेदवश शक्य होती है। परन्तु ब्रह्मसे इतर कुछ है ही नहीं, अतः इतरव्यावर्तक असाधारण गुणधर्मके निर्देशके शक्य न होनेसे, ब्रह्म अनिरुक्त है। सभी कुछ ब्रह्ममें आश्रित है परन्तु ब्रह्म किसीमें भी आश्रित न होनेसे अनिलयन है। ऐसे ब्रह्ममें जो अभय प्रतिष्ठा खोज पाता है, वह स्वयम् भी निर्भय बन जाता है। परन्तु जबभी कोई (ब्रह्मेतर प्रकृति परमाणु माया काल कर्म स्वभाव या पुरुष आदिकी कल्पना द्वारा) ब्रह्ममें स्वल्प भी भेद खड़ा करता है तब तो उसे भयभीत होना पड़ता है। विद्वान् होकर भी ब्रह्मको न मानना ही भय है, सबसे बड़ा भय!

अतएव महाप्रभुकी धारणा है कि प्रकृति, परमाणु, माया, काल, कर्म, स्वभाव, पुरुष आदि सभी एक-आयामी तथाकथित कारण उस अनेकायामी ब्रह्म तत्त्व

के ही अनेक रूप हैं। ब्रह्मके अलावा कोई भी तत्त्व जगत्के उत्पत्ति-स्थिति-लयका उपादान-निमित्त-आधार-कर्त्ता आदि रूप कारण बन नहीं सकता है :

मायिकं सगुणं कार्यं स्वतन्त्रं चेति नैकधा ।
तदेवैतत्प्रकारेण भवतीति श्रुतेर्मतम् ॥

सब कुछ ब्रह्म ही है, सब कुछ ब्रह्म ही था और सब कुछ ब्रह्म ही रहेगा, यही ब्रह्मवाद है। और सारी धारणायें यदि वेदान्त दर्शनके रूपमें उपस्थापित की जाती हैं तो वह केवल भ्रान्ति ही है :

आत्मैव तदिदं सर्वं सृज्यते सृजति प्रभुः ।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्यियते हरतीश्वरः ॥
'आत्मैव तदिदं सर्वं' 'ब्रह्मैव तदिदं' तथा ।
इति श्रुत्यर्थमादाय साध्यं सर्वैर्यथामतिः ॥
अयमेव ब्रह्मवादः शिष्टं मोहाय कल्पते ।

इस तरहके ब्रह्मको माया प्रकृति आदिके साच्चिव्यवश जगत्की उत्पत्ति पालन या संसार में समर्थ मानना ब्रह्मको अशुद्ध बनाने के समान है। अतएव महाप्रभु कहते हैं :

आदौ शुद्धं ब्रह्मैव अस्ति न ततोतिरिक्तं कारणं किञ्चित्, ब्रह्मैव तथा प्रादुर्भूतम् इत्यर्थः

यह शुद्धब्रह्मवाद ही वादमें शुद्धाद्वैतवाद कहलाया। शुद्धाद्वैतमार्तण्डकार गोस्वामी श्रीगिरधरजीने शुद्धाद्वैतकी परिभाषा "माया सम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते" शब्दोंमें दी है। आजकलके सभी ग्रन्थोंमें इस वचनके उद्धृत रहनेसे अधिकांश अध्येताओं एवम् विद्वानों में भी यह भ्रान्ति व्याप्त हो गई है कि 'शुद्धाद्वैत' में 'शुद्ध' पदसे व्यावर्तनीय केवल माया ही है। जबकि महाप्रभुके मतके अनुसार ब्रह्मेतरतया कल्पित सभी कारण व्यावर्तनीय होने चाहिये। परन्तु आधुनिक लेखनमें शुद्धाद्वैतकी व्याख्या देख कर कभी तो ऐसा लगता है कि यदि श्रीशंकराचार्यने मायावादका सिद्धान्त स्थापित

न किया होता तो महाप्रभु अपने सिद्धान्तका कोई स्पष्ट नाम ही निर्धारित नहीं कर पाते ! तत्त्वनिर्णयार्थ की जाती चर्चाको न्याय में 'वाद' कहा जाता है। और प्रतिवादीको पराजित करनेके लिये की जाती चर्चाको 'जल्प' कहा जाता है। महाप्रभु अणुभाष्यादि ग्रन्थोंके लेखनमें श्रौतार्थ-निर्णयके लिये प्रवृत्त हुए हैं, न कि श्रीशंकराचार्यको पराजित करने। उनकी वेदान्त-व्याख्या, अतएव, शुद्धाद्वैतवाद है, शुद्धाद्वैतजल्प नहीं ! अतः श्रीशंकराचार्यने अपना केवलाद्वैतवाद या मायावाद यदि वेदान्त-व्याख्यामें न भी मिलाया होता, तब भी महाप्रभु अपनी विचारधारा या वेदान्त-व्याख्या का 'शुद्धाद्वैतवाद' नामाभिधान कर सकते थे। क्योंकि उन्हें 'शुद्ध' पदसे केवल मायाका व्यावर्तन विवक्षित नहीं है। वे तो स्पष्ट शब्दोंमें उन सभीका व्यावर्तन मानते हैं, जो उनके सामने ब्रह्मसे भिन्नतया कारणत्वेन प्रस्तावित हैं, या भूतकाल में थे अथवा भविष्यत्कालमें प्रस्तावित हो सकते होंगे :

अयं प्रपञ्चो न प्राकृतः नापि परमाणुजन्यः नापि विवर्तित्मा नाप्यदृष्टाद्विद्वारा जातः नाप्यसतः सत्तारूपः किन्तु भगवत्कार्यः परमकाष्ठापन्न-वस्तुकृतिसाध्यः तादृशोपि भगवद्रूपः । (शास्त्रार्थ निबन्ध प्रकाश २३)

अतः महाप्रभुके मतका नामकरण संस्कार यदि शुद्धाद्वैतमार्तण्डकार गोस्वामी श्रीगिरधरजीने ही किया हो, तब भी इस 'शुद्धाद्वैत' पदसे व्यावर्तन क्या है, इस बारेमें गोस्वामी श्रीगिरधरजीके वचनोंमें भी, महाप्रभुके समग्र सिद्धान्त एवम् वचनों की संगतिके विचारवश, कुछ संशोधन-परिवर्धन तो करना ही पड़ेगा। यद्यपि महाप्रभुने दशम सुबोधिनी (१०-२-३५) में "अज्ञाननाशकं विज्ञानम् आत्मानुभवः, भेदनाशकं तु भगवद्विज्ञानम्। उभयोः साक्षात्कारे देहाद्यध्यासनिवृत्तिः शुद्धाद्वैतं च स्फुरति" कहा है। यह पद-प्रयोग, किन्तु, कितना सामान्य अर्थमें और कितना पारिभाषिक अर्थमें प्रयुक्त हुआ है यह निर्णय कर पाना दुष्कर है। स्वयम् गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमजी सुबोधिनीप्रकाश (२-१-५) में—"एतेन जीवब्रह्मभेदवादो निराकृतः विशिष्टाद्वैतवादश्च। तत्रापि विशेषणत्वेन गौणत्वानपायात् नन्वेवं सति तादात्म्येपि

किञ्चिद् गौणतासत्वात् तमपि वादं विहाय शुद्धाभेदवाद एव स्वीकार्यं... तथा च शुद्धाभेदवादोपि द्रुष्टः इति न्यायसामञ्जस्यार्थं तादात्म्यमेव अंगीकृत्य श्रुत्यर्थो निर्णयः” लिखते हैं। यहाँ बिलकुल शुद्धाद्वैत अर्थको प्रकट करने वाला ‘शुद्धाभेद’ पद शांकर वेदान्तव्याख्याके लिये प्रयुक्त हुआ है, तथा स्वमतके लिए ‘तादात्म्यवाद’ पद प्रयुक्त हुआ है। निश्चय ही यह श्रीपुरुषोत्तमजी की असावधानी नहीं लगती, परन्तु ‘शुद्धाद्वैत’ पदका स्वमतके वाचकके रूपमें सूझीका अभाव ही यहाँ हेतु लगता है।

अतः ‘शुद्ध ब्रह्म तादात्म्यवाद’ के स्थानपर ‘शुद्धाद्वैतवाद’ नामको अभिषिक्त करना हो तो, जो कुछ उत्तरदायित्व शुद्धब्रह्मतादात्म्यवाद या ब्रह्मतादात्म्यवाद नाम वहन करते थे, वे सारे उत्तरदायित्व इस ‘शुद्धाद्वैतवाद’ नाम पर भी आ पड़ेंगे।

यदि शुद्धाद्वैतवाद इस उत्तरदायित्वको वहन करनेसे कतराता है, तो इसे पदभ्रष्ट भी करना पड़ेगा! अतएव हमारा आग्रह है कि “अयं प्रपञ्चो न प्राकृतः नापि परमाणुजन्यः नापि विवर्तात्मा नाप्यदृष्टादिद्वारा जातः नाप्यसतः सत्तारूपः किन्तु भगवत्कार्यः परमकाष्ठापन्न-वस्तुकृतिसाध्यः” अंशद्वारा उपलक्षणविधया जिन-जिन अर्थोंका व्यावर्तन तथा विधान महाप्रभुने किया है वे सभी ‘शुद्ध’ पदसे भी व्यावृत्त तथा विहित हो रहे हैं ऐसे स्वीकारना पड़ेगा। अतः केवल मायाको व्यावर्तनीय माननेपर शुद्ध पद अपने गुह्यतर उत्तरदायित्वसे कतरा रहा होगा। उसी तरह “तादृशोपि भगवद्रूपः” अंशसे जो भगवद्रूपता या ब्रह्मात्मकता निरूपित हो रही है, उसे निरूपित करनेका उत्तरदायित्व ‘शुद्धाद्वैत’ पदके घटक ‘अद्वैत’ पदको सौंपना पड़ेगा। तभी ‘शुद्धाद्वैत’ पद वाल्लभ मतके नामाभिधानके सिंहासनपर आरूढ़ हो पायेगा!

इस तादात्म्यका स्वरूप ‘भेदसहिष्णुरभेदः’ कह कर समझाया गया है। एतावता यह सहज सम्भव है कि हम तादात्म्यमें भेद और अभेद का द्वन्द्व स्वीकार लें। परिणामतः शुद्धाद्वैतको भी द्वैताद्वैतवादर्थ ही मान लें। जैसा

अणुभाष्यके प्रथम मुद्रित संस्करणके मुखपृष्ठपर सम्पादकने लिख ही दिया था! परन्तु शुद्धाद्वैतवादको द्वैताद्वैतवाद नहीं मानना चाहिये। क्योंकि महाप्रभु सुस्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं: कार्यकारणयोः भेदाभेदमतनिराकरणाय पिण्डमग्निखनिकृन्तनग्रहणम् (अणुभाष्य १-४-२३)। वैसे विरुद्धधर्माश्रयतावादी हैं महाप्रभु, फिरभी द्वैताद्वैतका उनका अस्वीकार इस तथ्यको सावधानीसे हमारे दृष्टिपथमें लाना चाहता है कि ‘भेदसहिष्णुरभेद’ रूप तादात्म्य द्वैताद्वैत नहीं है।

महाप्रभुके मतमें द्वैत एकत्वका अत्यन्ताभाव नहीं और न अद्वैत द्वैत का अत्यन्ताभाव है। क्योंकि कार्यरूप जगत तथा अभिन्ननिमित्तोपादान कारणरूप ब्रह्म के बीच जो द्वित्वसंख्या प्रतीत हो रही है, वह स्वयम् ब्रह्म के बहुभवनसंकल्पसे प्रकट हुई होनेसे वास्तविक है, फिरभी वह एकत्वको निवृत्त नहीं करती। ब्रह्म जगत्का केवल निमित्त कारण होता तो बात दूसरी थी परन्तु वह तो उपादानकारण भी है, अतः जगत्की सत्ताका आश्रय ब्रह्म ही है। ब्रह्मकी ही सत्ता जगत्के नाम-रूपात्मक होनेसे उसमें अनुगत है। अतः कारणत्वरूप धर्म तथा कार्यत्वरूप धर्मका जब बुद्धि इतरेतसापेक्षतया अवगाहन करती है तो द्वित्व प्रतीत होता है। अन्यथा केवल ब्रह्म धर्मिका अवगाहन करनेवाली बुद्धिमें ब्रह्मका एकत्व ही भासित होगा। अतः द्वैतको एकत्व का अत्यन्ताभावरूप नहीं मान लेना चाहिये। और अतएव अद्वैतको द्वित्व का अत्यन्ताभावरूप नहीं मान लेना चाहिये।

एक ही ब्रह्ममें धर्मिदृष्टिसे स्वाभाविक एकत्व या अद्वैत रह सकता है। वह ब्रह्म जब अपने संकल्प तथा सामर्थ्य से द्विधा कार्य-कारणात्मना या जगद्-जगदीशात्मना विभक्त होता है तो उसमें ऐच्छिक द्वित्व भी प्रकट हो सकता है, कार्यत्व-कारणत्व अथवा जगत्त्र-जगदीशत्व रूप धर्मोंकी दृष्टिसे। अतएव इसे द्वैत और अद्वैत न मानकर वस्तुदृष्टिसे अद्वैतमें द्वैतके प्राकट्यका सिद्धान्त समझना चाहिये; तथा बोधदृष्टिसे द्वैतमें अद्वैतकी अनुभूतिके रूपमें मान्य करना चाहिये।

न द्वैत न अद्वैत और न द्वैताद्वैत ही

शांकर मतमें मिथ्यात्वका निरूपण जैसे “सद्विलक्षणत्वे सति असद्विलक्षणत्वे सति सदसद्विलक्षणत्वम्” किया जा सकता है, वैसे ही वाल्लभ मतमें शुद्धाद्वैतका लक्षण “एकत्वात्यन्ताभावरूप-द्वैतविलक्षणत्वे सति द्वैत्वात्यन्ताभावरूप - अद्वैतविलक्षणत्वे सति द्वैताद्वैतविलक्षणत्वम्” अभीष्ट है।

यह भावरूप अद्वैत है, जिसे प्रायः सभी दर्शन तादात्म्यके रूपमें मान्य करते ही हैं, यदि जगत् और ब्रह्म के सन्दर्भमें नहीं तो अन्यान्य सन्दर्भोंमें तो सही। मायावादी दार्शनिक माया तथा मायिक प्रपंच के बीच तादात्म्य न स्वीकारें तो मायाके निवृत्त होनेपर भी मायिक प्रपंच निवृत्त नहीं होगा। इसी तरह नैयायिकोंके मतमें कारण द्रव्य समवेत (कार्यद्रव्य गुण कर्म सामान्य) का अपने समवायी द्रव्यसे जो सम्बन्ध है उसे वे ‘समवाय’ कहते हैं, जबकि वाल्लभ वेदान्त उसे ‘तादात्म्य’ कहता है। विवाद, अतः नाममात्रका है। स्वयम् श्रीशंकराचार्य भी अपने पञ्चीकरणम् नामक ग्रन्थमें इस तादात्म्यको एक निषेध्य कल्पके रूपमें स्थान देते ही हैं : न भिन्नं नाभिन्नं नापि भिन्नाभिन्नं कुतश्चित् । अतएव तदनन्यत्वाधिकरणकी भामतीमें वाचस्पति मिश्र भी कहते हैं : न खलु ‘अनन्यत्वम्’ इति अभेदं ब्रूमः किन्तु भेदं व्यासेधामः (भामती २-१-१४)।

श्रीशंकराचार्य तथा वाचस्पति मिश्र जिस अभेदका अस्वीकार कर भेद का केवल निषेध करना चाहते हैं, महाप्रभु उसी अभेदको स्वीकारनेके लिये भेद अभेद तथा भेदाभेद तीनोंको अस्वीकार करते हैं। प्राचीन अनेक वेदान्त ग्रन्थोंमें भेदाभेदके समुच्चयकी, असावधानीवश, अनेकान्तवादके आरोप द्वारा निन्दा की गई है (दृष्टव्यः तत्त्वमुक्ताकलाप ३-२८ तथा भामती २-१-१४)। परन्तु अनेकान्तवादमें प्रयुक्त किसी भी एकाद कल्पको स्वीकारना यदि अनेकान्तवाद हो तो जगतके सभी मतवाद अनेकान्तवादी सिद्ध होंगे। अन्यथा

न द्वैतवादको न अद्वैतवादको न द्वैताद्वैतवादको और न द्वैताद्वैतवैलक्षण्यवादको ही अपने-आपमें ‘अनेकान्तवाद’ कहा जा सकता है ऐसी स्थिति में तादात्म्यवादपर लगाये गये वाचस्पति मिश्रके आरोप भी अविचारितरमणीय ही हैं (दृष्टव्य भामती १-१-४ तथा २-१-१४)।

तथ्य इस सन्दर्भमें यह ज्ञातव्य है कि केवलाद्वैतवादो प्रतियोगी और उसके अत्यन्ताभाव की समानाधिकरणता स्वीकारते हैं अद्वैतसिद्धिमें : स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम् । अतएव द्वैतके भी मिथ्या होनेके कारण द्वैत और उसका अत्यन्ताभाव भी ब्रह्ममें समानाधिकरणतया सिद्ध होते हैं। इस सन्दर्भमें वाल्लभ दर्शनका यह कहना है कि अत्यन्ताभाव और उसका प्रतियोगी समानाधिकरण बनते हों या नहीं, परन्तु घट और घट-भेद एक भूतलमें समानाधिकरण बन सकते हैं। जो भूतल घटसे भिन्न है उसी पर घट रखा हुआ हो सकता है। फलतः एक ही भूतलमें घट और घटभेद का सामानाधिकरण्य सिद्ध हो जाता है। इसमें न तो अनेकान्तवादका कोई प्रसंग है और न किसी विरोधाभासका ही। यहाँ सम्बन्धभेदकी कोई विवक्षा रखता हो कि भेद स्वरूपसम्बन्धसे रहता है और घट संयोग-सम्बन्धसे तो थोड़ेसे उदाहरणान्तर द्वारा भी इस बातका खुलासा दिया जा सकता है कि कालमें सभी कुछ कालिक सम्बन्धसे रहता है अतः घट और घटभेद भी रहेगा ही। और फिर संयोग भी तो अव्याप्यवृत्ति होता है।

नञ्के जो छह अर्थ दिये थे उनमें भी अन्यता एवम् विरोधिता के उदाहरणों में अमनुष्य प्राणी तथा मनुष्य एक भूतलपर रह सकते हैं। इसी तरह सुर और उनके विरोधी असुर कैलाशमें एकत्रित हो सकते हैं। गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमजीने इसे बहुत सुन्दर शब्दोंमें व्यक्त किया है : तथा च यथा अमितो न मित्रं न मित्राभावः किन्तु मित्रविरुद्धसम्पद् एवमत्राप्येतयोः अभेदो न भेदः न भेदाभावः किन्तु भेदविरुद्धसम्पत् (भावप्रकाशिका ३-२-२८)। स्पष्ट है कि यह विरुद्धसम्पद् अत्यन्ताभावरूप नहीं है। इस अभेदके नञ्को असुर के नञ्की तरह समझना चाहिये। यही गुणधर्म अमनुष्यके नञ्में भी है।

किन्तु भेदको समझानेके लिये ही पुनः भेदार्थक नब्का उपयोग करना उतना सुबोध नहीं रहता, अतएव अमनुष्यके उदाहरणको छोड़ दिया गया है।

शुद्धाद्वैतवाद महाप्रभुकी मौलिक सूझ नहीं है

यह शुद्धाद्वैतवाद न तो महाप्रभुका कोई मौलिक चिन्तन है और न ऐसे किसी दावेकी कोई ऐतिहासिक पुष्टि ही सम्भव है। महाप्रभु मौलिक या स्वतन्त्र चिन्तनार्थ अणुभाष्यके लेखनमें प्रवृत्त नहीं हुए हैं। अपितु प्रामाणिक व्याख्या-प्रकटनार्थ ही प्रवृत्त हुए हैं।

भारतवर्षमें महाप्रभुसे पूर्व, और सच कहें तो श्रीशंकराचार्यसे भी पूर्व अनेक वेदान्ती शुद्धाद्वैतवादी हुए हैं। वैसे नाम्ना 'शुद्धाद्वैतवाद' तो केवलाद्वैतके अर्थमें प्रयुक्त होता था यह अनेक ग्रन्थोंमें मिल जायेगा। यथा "ततो रज्जुसर्पवज्जगज्जीवमिथ्यात्वबोधकं शुद्धाद्वैतम् (श्रीकर भाष्य १-१-१०)"। परन्तु यहां 'शुद्धाद्वैत' पद भेदात्यन्ताभावरूप अथवा तदुपलक्षित माना गया है, जबकि वाल्लभ मतमें वह भेदविरुद्धसम्पदके रूपमें लिया गया है। इस स्पष्टीकरणको लक्ष्यमें रखनेपर ब्रह्मनन्दी भृत्यप्रपञ्च ब्रह्मदत्त प्रभृति शुद्धाद्वैती वेदान्ती अनेक हुए हैं, यह हमने शुद्धाद्वैतवाद और उसकी रूपरेखा नामक ग्रन्थमें सिद्ध किया है।

स्वयम् महाप्रभु भी अपने-आपको 'श्रीविष्णुस्वामिमतानुवर्ती' मानते हैं। यह उनके उज्जयिनीके तीर्थपुरोहितको निजहस्ताक्षरोंमें प्रदत्त पत्रके आधार पर अकाट्यतया सिद्ध होता है। महाप्रभुके समकालिक उनके भक्तकवियोंके पदसाहित्य, महाप्रभुके उपलब्ध ग्रन्थोंकी पुष्पिका तथा चरित्रग्रन्थोंके साक्ष्य द्वारा भी यही सिद्ध होता है। भाग. श्रीधरीमें उपलब्ध होते कुछ वचन जो श्रीविष्णुस्वाम्युक्त माने गये हैं, उनका भी साम्य तो महाप्रभुके सिद्धान्तसे प्रतीत होता ही है।

अतः शुद्धाद्वैतवाद महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यका कोई मौलिक चिन्तन नहीं, किन्तु प्रस्थानचतुष्टयीकी प्राचीन एवम् परम्परा-प्राप्त व्याख्याका पुनःसंकलन एवम् पुनर्लेखन मात्र है।

एतदर्थ शुद्धाद्वैतवादकी कुछ प्राणभूत धारणाओंका तथा उन प्राचीन शुद्धाद्वैतवादियोंके वचनों (जो श्रीशंकराचार्य श्रीरामानुजाचार्य पार्थसारथी श्रीवेदान्तदेशिक प्रभृति प्राचीन विद्वानोंके ग्रन्थोंमें बिखरे पड़े हैं) का संकलन एवम् तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक है। विस्तारभयसे जिसे हम यहां नहीं दे पा रहे हैं, किन्तु विशेष जिज्ञासामें हमारे उल्लिखित शुद्धाद्वैतवाद और उसकी रूपरेखा में उसके मुद्रित होनेपर देखा जा सकेगा।

शुद्धाद्वैतवादकी उन प्राणभूत धारणाओंके विमर्शसे पूर्व महाप्रभुको अभिमत प्रामाण्यवाद सम्बन्धी मान्यताओंका स्पष्टीकरण आवश्यक है।

वाल्लभ दर्शनमें मान्य प्रामाण्य-व्यवस्था

महाप्रभुके लिये शुद्धाद्वैतवाद उनका स्वयम्का चिन्तन न हो कर वेदोपनिषद् गीता ब्रह्मसूत्र तथा भागवत आदि शास्त्रावचनोंकी एकवाक्यता अर्थात् समन्वयसाधिका केवल व्याख्यामात्र है। इस बातको जरा अधिक गम्भीरतासे समझनेका प्रयास करना चाहिये।

अणुभाष्यके प्रारम्भमें महाप्रभु कहते हैं : तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि इति केवलोपनिषद्वेद्यं ब्रह्म न शास्त्रान्तरवेद्यं। तद्यदि मीमांसा स्वतन्त्रा स्यात् तज्जनितं ज्ञानं न ब्रह्मज्ञानं भवेत्.....तत्र प्रतिविधास्यामः वेदार्थब्रह्मणो वेदानुकूलविचार इति। किमत्र युक्तम्। व्याख्यानमिति। व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेः (अणुभाष्य १-१-१)।

अर्थात् जो ब्रह्मजिज्ञासा की जा रही है उसका विषय ब्रह्म उपनिषत्प्रतिपाद्य तत्त्व या पुरुष है। अतः यह ब्रह्मजिज्ञासा यदि उपनिषदादि शास्त्रोंके वचनोंकी प्रामाणिक विवेचना न होकर महर्षि वादरायणकी कोई अपनी कल्पना ही केवल हो तो वह 'ब्रह्मजिज्ञासा' नहीं कहलायेगी। और तब इस मीमांसाके स्वतन्त्र होनेसे तज्जनित ज्ञान भी ब्रह्मज्ञान नहीं रह जायेगा। अतः वेदार्थरूप ब्रह्मके बारेमें जो भी विचार करना हो वह केवल वेदादिशास्त्रोंकी समुचित

व्याख्याके रूपमें ही किया जाना चाहिये। क्योंकि शास्त्रोंके गूढ़ वचनोंका स्वारस्य विना समुचित व्याख्याके सुबोध नहीं बनता।

उदाहरणतया शांकर रामानुज या माध्व वेदान्तके प्रतिपाद्य तत्त्वका वास्तविक स्वरूप समझना हो तो, हम अपनी कल्पनापर भरोसा नहीं कर सकते हमें हठात् उनके ग्रन्थ अर्थात् उनके वचनोंपर ही केवल निर्भर होना पड़ेगा। और उनके वचनोंपर सचाईसे निर्भर होनेका मतलब यह होता है कि हम अपनी रुचिसे उन वचनोंको तोड़-मरोड़ कर अर्थ न निकालें। प्रत्युत जो अर्थ सहजतया उनसे निकलता हो तदनुसार पूर्वाग्रहदूषित अपनी धारणाओं को ही तोड़-मरोड़ दें! वेदादि शास्त्रोंके वचनोंकी अपनेको रुचिकर लगते अर्थोंके अनुरूप गौणी या लक्षणा वृत्तिसे व्याख्या करना 'औपनिषद दर्शन' नहीं कहा जा सकता। जैसे शांकर भाष्योंके वचनोंके तोड़-मरोड़ कर कोई उनकी यूरोपीय कल्पनावादी या अज्ञेयवादी दर्शनोंके अनुरूप व्याख्या कर दे, तो वह शांकर दर्शन नहीं रह जायेगा। तुलनात्मक अध्ययन दूसरी बात है। अतएव स्वयमेव श्रीशंकराचार्य भी इसी नीतिको मान्य करते हुए कहते हैं :

(१) एतदेवानुमानं संसारिव्यतिरिक्तेश्वरास्तित्वादिसाधनं मन्यन्ते ईश्वर-कारिणः। नन्विहापि तदेवोपन्यस्तं जन्मादिसूत्रे। न। वेदान्तवाक्यकुसुम-ग्रथनार्थत्वात्सूत्राणां वेदान्तवाक्यानि सूत्रैरुदाहृत्य विचार्यन्ते। वाक्यार्थ विचारणाध्यवसाननिर्वृत्ता हि ब्रह्मावगतिः नानुमानादिप्रमाणान्तरनिर्वृत्ता (शां भा १-१-२)।

(२) अपिच क्वचिद् गौणः शब्दो दृष्टः इति नचैतावता शब्दप्रमाणकैश्च गौणीकल्पना न्याय्या सर्वत्रानाश्वासप्रसंगात् (शां भा १-१-६)।

वेदान्त-दर्शन वेदादिशास्त्र वचनोंकी प्रामाणिक व्याख्या करनेका प्रयास है। जड़जगत् जीवात्मा परमात्मा या उसकी प्राप्तिके साधन आदिके स्वरूपों के बारेमें स्वतन्त्रतया उत्प्रेक्षा या विचारणा का कोई आयास नहीं है। फिर भी भारतीय दर्शनकी मूलभूत धारणाओंको जाने विना कुछ लोग केवल श्रद्धा

के कारण श्रीशंकराचार्यके मतको गम्भीर चिन्तनमूलक तथा महाप्रभुके मतको अन्धश्रद्धामूलक मानते हैं (दृष्टव्य श्रीमती मृदुला मारफतिया लिखित 'द फिलोसफी ऑफ वल्लभाचार्य, पृष्ठ १०-११ तथा ४६) वह स्वयम् उनके अज्ञानका ही द्योतन है।

महाप्रभु कहते हैं कि ब्रह्म जगत्का कर्ता है यह—“स आत्मानं स्वयमकुरुत” जैसे श्रुतिवचनोंसे सिद्ध होता है तथा वह कर्ता हो नहीं सकता ऐसा “निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्” जैसे श्रुतिवचनोंके कारण प्रतीत होता है। इस विरोधाभासके उपशमकेलिये दो तरहकी विचारनीति अपनायी जा सकती है। प्रथम तो यह कि शास्त्र, ब्रह्मका निरूपण विरुद्धधर्मोंके आश्रयतया तथा सर्वभवन-समर्थतया करना चाहता है। अतः विरोधिगुणोंसे युक्त ब्रह्मके प्रतिपादनकी इच्छावश वचनोंके विरोधाभासी वचन होनेपर भी संगति बैठ जाती है। द्वितीय यह कि उल्लिखित दो वचनोंमें जिस वचन का अर्थ हमें रुचिकर लगे उसे अधिक प्रमाण मानकर अवशिष्ट वचनका अर्थ लक्षणा या गौणी से किसी तरह तोड़-मरोड़ कर निकाल लिया जाय। इन दोनों प्रकारोंमें प्रथम प्रकार विचारका महर्षि बादरायणको मान्य होनेसे वे कहते हैं : “गौणश्चेन्नात्मशब्दात्” (दृष्टव्य अणुभाष्य १।१।५)।

वेदान्तवचनोंकी व्याख्या करनेकी यह नीति सभी वेदान्त-सम्प्रदायोंमें सर्वथा-सर्वदा मान्य रही है। महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यको भी यह नीति शिरो धार्य है। अतएव कहते हैं : वेदप्रामाण्यं तु प्रतितन्त्रसिद्धत्वात् न विचार्यते। तस्माद् ब्रह्म जिज्ञासितध्यमिति सिद्धम् (अणुभाष्य १-१-१)।

अर्थात् वेदान्तके सभी सम्प्रदायोंमें वेदादि शास्त्रोंका प्रामाण्य यदि मान्य न हो तो वे वेदार्थरूप ब्रह्मकी जिज्ञासामें प्रवृत्त ही न होंगे। अतः विविध वेदान्तसम्प्रदायोंके बीच चलती विचारणामें शास्त्रप्रामाण्य सिद्ध करना अनावश्यक है। अतः ब्रह्मकी जिज्ञासा की जा सकती है।

वेदान्त-विचारकी इस रीति-नीतिके तात्पर्यको भलीभांति समझे बिना वाल्लभ दर्शनपर लेखनी चलानेके उत्साही कुछ वाल्लभ लेखक बहुधा ऐसा भी

विधान कर देते हैं कि वाल्लभ मतमें केवल शब्दको ही प्रमाण माना गया है प्रत्यक्ष या अनुमान आदिको नहीं। परन्तु प्रत्यक्ष यदि प्रमाण न हो तो वेदके शब्द जो पढ़े या सुने जाते हैं वह प्रत्यक्ष भी प्रमाण नहीं होगा ! तब तो सत्यानाश हो गया ! स्वयम् वेदका प्रामाण्य भी वेदमूलक तो हो नहीं सकता। आत्माश्रय दोषके कारण। अतः प्रत्यक्ष-अनुमान आदि प्रमाणोंकी सहायता तो मांगनी ही पड़ेगी !

इस सन्दर्भमें ज्ञातव्य यही है कि वेदादि शास्त्रवचनोंसे प्रतिपादित अर्थ की सिद्धि या असिद्धि में प्रत्यक्ष-अनुमानको प्रमाण नहीं माना गया है। एतावता वे प्रमाण ही नहीं ऐसा निरूपण वाल्लभ वेदान्तकी बारीकियोंसे अपरिचयका द्योतन है। अतएव व्यवहारमें श्रुति प्रत्यक्ष ऐतिह्य एवम् अनुमान यों चार ज्ञानसाधनोंको प्रमाण माना गया है। तथा प्रस्थान-चतुष्टयी के वचनोंको स्वतःप्रमाण अर्थात् स्वप्रतिपाद्य विषयके बोधको पैदा करनेमें प्रत्यक्ष-अनुमानादि प्रमाणोंकी अपेक्षा रखे विना स्वतःसमर्थ होनेके रूपमें मान्य किया गया है। (दृष्टव्य प्रस्थानरत्नाकर प्रमाणपरिच्छेद)।

इस प्रामाण्यमीमांसाके बाद अब हम उन प्राणभूत धारणाओंके विचारार्थ प्रस्तुत होते हैं।

शुद्धाद्वैतवादकी कुछ प्राणभूत धारणायें

वैसे तो वाल्लभ दर्शनमें अनेकानेक सिद्धान्त एवम् वाद ऐसे हैं, जिन्हें 'प्राणभूत धारणायें' कहा जा सकता है। उदाहरणतया श्रीकृष्ण-परब्रह्मत्ववाद कृपामात्र-लभ्यत्ववाद जीवाणुत्ववाद इत्यादि इन वादोंकी महत्ता जरा भी न्यून करते ही वाल्लभ दर्शन निष्प्राण हो जायेगा। फिर भी यहां हम इनकी गणना नहीं करना चाहते हैं। क्योंकि इनकी महत्ता वाल्लभ दर्शनमें है, परन्तु शुद्धाद्वैतवादमें नहीं। वेदान्तका एक वैष्णव सम्प्रदाय होनेके कारण महा-प्रभुके चिन्तनमें श्रीकृष्णको परब्रह्म मानना एक प्रमुखतम सिद्धान्त है। परन्तु वेदान्तमें शैव सम्प्रदायी यदि शिवको परमतत्त्व मानते हों तो वह कोई

ऐसा अपराध नहीं है कि वे शिवाद्वैती नहीं हो सकते। काश्मीर शैव दर्शन, हमारा हिसाबसे, शुद्धाद्वैतवादी था और इसी तरह कर्नाटकका शैव वेदान्त भी काफी अंशमें। अतः समग्र वाल्लभ दर्शन एवम् शुद्धाद्वैतवाद को थोड़ा पृथक्तया देखनेपर ही हमारी बात समझमें आ पायेगी। जैसे श्रीरामानुजाचार्य वैष्णव हैं और श्रीकण्ठ शैव, परन्तु हैं दोनों विशिष्टाद्वैती ही।

यह वाल्लभ मत और शुद्धाद्वैतवाद की पृथक्ता जगत् और ब्रह्म की पृथक्ताकी तरह ऐच्छिक द्वैतरूपा है स्वाभाविक अद्वैत होनेपर भी ! अस्तु।

शुद्धाद्वैतवादके अन्तर्गत महाप्रभु, हमारी समझके अनुसार, कुल नौ वादोंकी विवक्षा रखते हैं।

नामत :-

(१) ब्रह्मवाद (२) विरुद्धधर्माश्रयतावाद (३) अभिन्ननिमित्तोपादान-कारणतावाद (४) सत्कारणतावाद (५) सत्कार्यवाद (६) आविर्भाव-तिरोभाववाद (७) अविकृतस्वरूपपरिणामवाद (८) कार्यकारणतादात्म्यवाद तथा अंशांशितादात्म्यवाद (९) लीलार्थ सृष्टिवाद।

इन वादोंके कारण जो कुछ सिद्ध होता है वही महाप्रभुको शुद्धाद्वैतकी स्थापनाद्वारा सिद्ध करना है। तथा इन नौ वादोंमें जो भी वेदान्ती जितने अधिक वादोंको स्वीकृति प्रदान करता है, वह उतना पक्का शुद्धाद्वैती है। जो जितने कम वादोंको स्वीकृति देता है, उतने अंशमें उस वेदान्तीके शुद्धाद्वैती दृष्टिकोण में कुछ न्यूनता है। जिन प्राचीन वेदान्तीओंको हम शुद्धाद्वैतवादी कह रहे थे उन्हें उस रूपमें पहचाननेका परिचयपत्र भी ये नौ वाद ही हैं। इस एक स्पष्टीकरणके बाद हम इन वादोंका, क्योंकि ये महाप्रभुका स्वतन्त्र चिन्तन नहीं हैं अतः इनके श्रौतसन्दर्भ तथा महाप्रभुके निष्कर्षरूप वचनोंके भी विन्यासपूर्वक विमर्ष करेंगे।

(१) ब्रह्मवाद

श्रौतसन्दर्भ : (ऋ) यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म (तैत्तिरीयोपनिषद् ३।१)।

(ख) सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तैत्तिरीयोपनिषद् २।१) (ग) किंस्विद् वनं क उ स वृक्ष आस, यतो द्यावापृथिवी निष्पतक्षु ? मनीषिणो ! मनसा पृच्छतेदुः तद् यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ? (ऋक्संहिता १०। ८१।४) । ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीद् यतो द्यावापृथिवी निष्पतक्षु ! मनीषिणो ! मनसा विव्रवीमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ! (तै ब्राह्मण २।८।१।१७) (घ) सर्वं खलु इदं ब्रह्म (छान्दोग्योपनिषद् ३।१।४।१) ।

निष्कर्ष आत्मैव तदिदं सर्वं सृज्यते सृजति प्रभुः, त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्यियते हरतीश्वरः, आत्मैव तदिदं सर्वं ब्रह्मैव तदिदं तथा, इति श्रुत्यर्थमादाय साध्यं सर्वैः यथामतिः, अयमेव ब्रह्मवादः शिष्टं मोहाय कल्पितः (सर्वनिर्णय १८३-१८४) ।

इस विषयेमें पहले भी पर्याप्त लिख चुके हैं अतः अब विस्तार अनपेक्षित है ।

(२) विरुद्धधर्माश्रयतावाद

श्रौतसन्दर्भ (क) अणोरणीयान् महतो महीयान्... आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञानुमर्हति (कठोपनिषद् १।३।२०-२१) । (ख) यदेकमव्यक्तमनन्तरूपम् (महानारायणोपनिषद् १।५) । (ग) बृहच्च तद्विव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति, दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्वहैव निहितं गुहायाम् (मुण्डकोपनिषद् ३।१।७) । (घ) यदिदं किञ्च तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्रावीशत् तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत् निरुक्तं चानिरुक्तं च निलयनं चानिलयनं च विज्ञानं चाविज्ञानं च सत्यं चानृतं च सत्यमभवत् (तैत्तिरीयोपनिषद् ३।६) । (ङ) द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामूर्तं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च (छान्दोग्योपनिषद् २।३।१) । (च) भीषास्माद् वातः पवते भीषोदेति सूर्यः भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चम इति सैषानन्दस्य मीमांसा भवति (तैत्तिरीयोपनिषद् ३।८) । (छ) नैनेन किञ्चनासंवृतं नैनेन किञ्चनानावृतं... रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय । इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप

ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेति, अयं वै हरयोयं वै दश च सहस्राणि च बहूनि चानन्तानि च, तदेतद् ब्रह्म (बृहदारण्यकोपनिषद् २।५।१८-१९) । (ज) पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते (बृहदारण्यकोपनिषद् १।१।१) । (झ) ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात् तत्सर्वमभवत् (बृहदारण्यकोपनिषद् १।४।१०) ।

निष्कर्ष ब्रह्मके विरुद्धधर्माश्रय होनेका प्रमुख तात्पर्य यही है कि ब्रह्म क्या-कसा है इसके बारेमें हम किसी तरहकी उत्प्रेक्षा न करें। प्रत्युत श्रुतिमें जैसा स्वरूप ब्रह्मका वर्णित हुआ है उसे स्वीकार लें। यदि श्रुतिके एक ही वाक्यमें या दो विभिन्न वाक्योंमें, हमें लौकिक बुद्धिवश, परस्पर विरोधी धर्मोंका निरूपण होता प्रतीत हो रहा हो, तो हमें स्वीकार लेना चाहिये कि श्रुतिके अनुसार ब्रह्ममें वैसे परस्पर विरोधी गुण हैं। क्योंकि ब्रह्म शास्त्रेतर किसी प्रमाणसे गम्य तो नहीं है। अतः सम्भव है कि लौकिक प्रमाणोंके वश परस्पर विरोधी लगनेवाले गुण-धर्मोंको ब्रह्ममें आश्रित माननेपर विरोधका उपशम हो जाता होगा। जैसे एक ही बीजसे उद्भव होनेपर भी वृक्षके पत्र एवम् फल में परस्पर विरोधी कटु और मधुर स्वाद रह सकते हैं। अतः श्रुतिके किसी वाक्यके अर्थको लोकवत् उत्प्रेक्षाके वश बाधितार्थविषयक नहीं मान लेना चाहिये। क्योंकि ब्रह्म शब्दकगम्य है। अतः अलौकिकत्वेन मान्य किसी भी शब्द या वाक्य का अर्थ लौकिक प्रमाणों अथवा तन्मूलक तर्क द्वारा बाधित हो नहीं सकता। शब्दको बाधितार्थविषयक माने बिना गौणी या लक्षणावृत्ति का सहारा लेनेकी आवश्यकता पड़ती नहीं। अतः परस्पर विरोधाभासी श्रुतिवचनोंकी विरुद्धार्थकता जहां तक तात्पर्यविषयीभूत विरुद्धधर्माश्रयता की धारणासे उपपन्न हो पाती हो, तब तक तात्पर्यको लौकिक प्रमाणाश्रित तर्कोंका अवलम्बनकर अनुपपन्न क्यों मानना चाहिये ?

अतएव महाप्रभु कहते हैं : नहि स्वबुद्धया वेदार्थं परिकल्प्य तदर्थं विचारः कर्तुं शक्यः, ब्रह्म पुनर्यादृशं वेदान्तेष्ववगतं तादृशमेव मन्तव्यम्, अणुमात्रान्यथा कल्पनेपि दोषः, स्यात् न च विरुद्धवाक्यानां श्रवणात् तन्निर्धारार्थं विचारः

उभयोरपि प्रामाणिकत्वेनैकतरनिर्धारस्याशक्यत्वात्। अचिन्त्यानन्तशक्तिमति सर्वभवनसमर्थे ब्रह्मणि विरोधाभावाच्च (अणुभाष्य १।१।१।)

(३) अभिन्ननिमित्तोपादानकारणतावाद

श्रौतसन्दर्भ (क) यथोर्णनाभिः सृजते गृह्यते च च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्..... तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते (मुण्डकोपनिषद् १।१।७-९)। (ख) सत्त्वेव सौम्य इदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति (छान्दोग्योपनिषद् ६।२।३)। (ग) यथोर्णनाभिः तन्तुनोच्चरेद् यथानेः क्षुद्राः विस्फुलिगाः व्युच्चरन्ति एवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवा सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति (बृहदारण्यकोपनिषद् २।१।२०)। (घ) तदात्मानं स्वयमकुरुत (तैत्तिरीयोपनिषद् २।७)।

निष्कर्ष नामरूपकर्मात्मक इस जगत्की उत्पत्तिमें उपादानकारण निमित्तकारण तथा कर्ता सभी कुछ केवल ब्रह्म ही है। एकमेव अद्वितीय ब्रह्मके अलावा अन्य कोई न तो जगत्का उपादानकारण न निमित्तकारण और न कर्ता ही हो सकता है। अतएव महाप्रभु कहते हैं : जगतः समवायि स्यात्तदेव च निमित्तकं कदाचिद् रमते स्वस्मिन् प्रपञ्चेपि क्वचित् सुखं यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद् यद् यथा यदा स्यादिदं भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः (शास्त्रार्थ निबन्ध ६८-६९)।

(४) सत्कारणतावाद

श्रौतसन्दर्भ (क) सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सौम्येभाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः (छान्दोग्योपनिषद् ६।८।४)।

निष्कर्ष ब्रह्म यदि एकमेव और अद्वितीय सत् है और वही इस जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान-कारण है, तो जगत्का आविर्भाव सत्कारणसे हठात् मानना पड़ेगा। सत्कारणसे ही कार्य उत्पन्न होता है असत्कारणसे नहीं।

असद् वस्तु कारणता-धर्मका निर्वाहक नहीं बन सकती। अतएव महाप्रभु कहते हैं : नाप्यसतः सत्तारूपः (शास्त्रार्थ निबन्ध प्रकाश २३)।

(५) सत्कार्यवाद

श्रौतसन्दर्भ (क) सदेव सौम्य इदमग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम् कथमसतः सज्जायेत ? (छान्दोग्योपनिषद् ६।२।१-२)।

निष्कर्ष श्रुतिमें इदंकारसे निर्दिष्ट इस प्रत्यक्ष जगत्के प्रादुर्भावेसे पूर्व भी सत् ही केवल होनेके वर्णनसे; तथा असत् होता तो उस असत्तासे जगत्का सदात्मना प्रादुर्भाव कैसे शक्य होता ? इस युक्तिसे भी सत्कार्यवाद अर्थात् उत्पत्तिसे पूर्व भी कार्यरूप नामरूपकर्मात्मक जगत्की सत्ता उपादानकारणात्मना सिद्ध होती है। अतएव महाप्रभु कहते हैं : असद्वा इदमग्र आसीदिति श्रुत्या प्रागुत्पत्तेः कार्यस्यासत्त्वं बोध्यते इति चेन्न अव्याकृतत्वेन धर्मान्तरेण तथा व्यपदेशः। कुतः वाक्यशेषात्। तदात्मानं स्वयमकुरुत इति स्वस्यैव क्रियमाणत्वात्। इदमासीत्प्रयोगाच्च (अणुभाष्य २।१।१७)।

(६) आविर्भावतिरोभाववाद

श्रौतसन्दर्भ (क) तद्वेदं तर्हि अव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत असौ नामायम् इदं रूपमिति (बृहदारण्यकोपनिषद् १।४।७)।

निष्कर्ष अपनी अव्याकृत अर्थात् उपादानकारणावस्थामें तथा नामरूप-कर्मात्मना व्याकृत कार्यावस्थामें भी जब जगत् सत् ही रहता है, श्रुतिके अनुसार, तब प्रतीयमान उत्पत्ति-विनाश और आत्यन्तिक भेद हमारी केवल कल्पनामात्र सिद्ध होते हैं। देशकृत कालकृत तथा स्वरूपकृत परिच्छेदकी, अथवा नैयायिकों की भाषामें कहें तो चतुर्विध अभावकी, प्रतीतिका आधार तत्तद् देशमें कालमें तथा तत्तद् रूपेण किसी एक वस्तुका तिरोभाव ही होता है। जिस वस्तुकी जब और जहां जैसी प्रतीति या कार्यकारिता है, वहां तब उसे उस रूपमें आविर्भूत मानना पड़ता है। अन्यथा तिरोहित। यही बात महाप्रभु समझते हैं : आविर्भावतिरोभावौ शक्तेी वै मुंरवैरिणः... सर्वाकारस्वरूपेण भविष्यामीति या हरेः, वीक्षा

यथा यतो येन तथा प्रादुर्भवत्यजः, मृदादिभगवद्रूपं घटाद्याकारसंयुतं मूलेच्छा-
तस्तथा तस्मिन् प्रादुर्भावो हरेस्तथा, तिरोभावस्तथैव स्याद् रूपान्तर-
विभेदतः (सर्वनिर्णय प्रकाश १४१-१४२) ।

(७) अविकृतस्वरूपपरिणामवाद

श्रौतसन्दर्भ (क) वाचारम्भणं 'विकारो', नामधेयं 'मृत्तिका' इत्येव सत्यम्
(छान्दोग्योपनिषद् ६।१।४) (ख) सर्वं खलु इदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त
उपासीत (छान्दोग्योपनिषद् ३।१।४।१) ।

निष्कर्ष कार्यको कारणका 'विकार' कहना वाचारम्भण-केवल कहने-
भरकी बात है। क्योंकि मृत्तिकासे बने घटका सच्चा नाम तो 'मृत्तिका' ही
होता है। किसी आकारविशेषमें उपादानके परिणत हो जानेपर भी, यदि
मूलतत्त्वके स्वरूपमें कोई विकृति या अन्यथाभाव नहीं आता तो, ऐसा
परिणाम 'अविकृत परिणाम' कहा जाता है। उदाहरणतया आभूषण या घड़ा
बन जानेपर सुवर्ण तो सुवर्ण ही रहता है और मृत्तिका तो मृत्तिका ही। इस
उदाहरणमें आकृति कार्यकारिता तथा कुछ गुणधर्मोंमें अन्यथाभाव तो प्रत्यक्ष-
सिद्ध है, परन्तु साथ ही साथ तत्त्व भी अपने स्वरूपसे च्युत नहीं होता है यह
भी प्रत्यक्षसिद्ध ही है। अन्यथा सुवर्णचोर कोई अन्य होता होगा और सुवर्ण-
निर्मित आभूषणोंका चोर कोई अन्य! आभूषणार्थी केवल सुवर्णका ग्रहण
कदाचित न भी करे। परन्तु सुवर्णार्थी सुवर्णके आभूषण और अव्यस्थिता-
कारवाले सुवर्णखण्डमें भेददृष्टि नहीं रखता। इसी तरह जागतिक
विषयार्थी ब्रह्मकी उपेक्षा कर सकता है। परन्तु ब्रह्मदर्शीके लिये जगतके सभी
विषय ब्रह्म हैं। क्योंकि नाम रूप एवम् कर्मों में परिणत होनेपर भी
ब्रह्म निजसत्तासे प्रच्युत नहीं होता है। अतएव सभी कुछ यहां ब्रह्म है। क्योंकि
सभी कुछ एक ब्रह्मके अविकृतस्वरूपका ही परिणाम है। महाप्रभुने यह बात
इसी तरह समझायी है : तदात्मानं स्वयमकुरुतेति स्वस्यैव कर्मकर्तृभावात्.....
तथापि ज्ञानार्थमुपपत्तिमाह परिणामात् परिणमते कार्याकारेणेति अविकृतमेव

सुवर्णं, सर्वाणि च तेजसानि । वृद्धेश्चालौकिकत्वात्, ब्रह्मकारणत्व एव घटते ।
पूर्वस्यान्यथाभावस्तु कार्यश्रुत्यनुरोधादंगीकर्तव्यः, वक्ष्यति च श्रुतेस्तु शब्द-
मूलत्वादिति (अणुभाष्य १।४।२६) ।

(८) कार्यकारणतादात्म्यवाद तथा अंशांशितादात्म्यवाद

श्रौतसन्दर्भ (क) त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म । ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि नामानि
विभर्ती.....ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि रूपाणि विभर्ति....ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि कर्माणि विभर्ति
तदेतन्नयं सद् एकमयमात्मा, आत्मो एकः सन्नेतन्नयम् (बृहदारण्यकोपनिषद्
१।६।३) (ख) स य एषोणिमा ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्व-
मसि (छान्दोग्योपनिषद् ६।१।४) ।

निष्कर्ष नाम-रूप-कर्मत्मक जडवस्तु सच्चिदानन्द ब्रह्मकी सदंशभूत है
क्योंकि चिदंश और आनन्दांश उनमें अप्रकट-तिरोहिततया रहते हैं। जीवात्मा
ब्रह्मका चिदंश है। अनुक्तसिद्ध होनेसे इसमें सत्ता या सदंशता उल्लेख-
नीय नहीं है। चैतन्यकी प्रधानताके कारण भी सत्ता उल्लेखनीय नहीं है।
आनन्दांश जीवात्मामें तिरोहित रहता है। सच्चिदानन्द ब्रह्मके सदंश, जब
तत्त्व नाम-रूप-कर्मके साथ व्यक्त होते हैं, तो ब्रह्म और ब्रह्मके सदंशों के
बीच, कार्य-कारणभावात्मक तादात्म्य रहता है, जैसा सुवर्ण और उससे बने
आभूषणों के बीच रहता है। इसके विपरीत सच्चिदानन्द ब्रह्मकी चिदंशरूप
जीवात्मामें, जब किसी भी प्रकारके व्यक्त एवम् निश्चित नाम-रूपोंके बिना
ही अंशात्मना ब्रह्ममें से व्युच्चरित होती हैं, तो उन्हें कार्यतया सिद्ध कर पाये
ऐसा गुणधर्म उनमें प्रकट होता नहीं है। अतएव जीवात्माको शास्त्रमें 'अज-
अमर' कहा गया है। अतः जीवात्मा और परमात्मा के बीच कार्य-कारण-
भावात्मक तादात्म्य न होनेपर भी अंशांशिभावात्मक तादात्म्य रहता है,
जैसा समुद्र और उसकी लहरों के बीच पहचाना जा सकता है। अथवा जैसे
पारेको उंगलीसे दबानेपर उसमें से झीने-झीने बिन्दु अनेक परिमाणवाले
चारों ओर विखर जाते हैं। ये झीने-झीने बिन्दु पारेके अंश होते हैं कार्य नहीं

और मिला देनेपर दुबारा अंशीकी अखंडकता सिद्ध हो जाती है। वैसे तो जड नाम-रूपोंमें भी सदंशता तो है ही, फिर भी 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' नियमके अनुसार कार्यत्वरूप धर्म सदंशमें प्रधानतया व्यक्त होता है नियत नाम-रूपोंकी अभिव्यक्तिके रूपमें। अतः उन्हें 'कार्य' कहा जाता है, जबकि जीवात्माको केवल 'अंश' ही। दोनों ही ब्रह्मके साथ तादात्म्य रखते हैं। क्योंकि एक उपादानोपादेयभाववश तदात्मक है और दूसरा अंशांशिभाववश तदात्मक है। अन्यत्र परब्रह्म और अक्षरब्रह्म के बीच धर्मधर्मि-भावमूलक तादात्म्य भी सम्भव है। इस तरह तादात्म्य भी अनेकविध सम्बन्धों में सम्भव है।

महाप्रभु कहते हैं : द्विविधा हि वेदान्ते सृष्टिः, भूतभौतिकं सर्वं ब्रह्मण एव विस्फुलिगन्यायेनैका, अपरा त्रियदादिक्रमेण, सा च अनामरूपात्मनो नाम-रूपत्वेन अभिव्यक्तिः, सा जडस्यैव कार्यत्वात्, । तस्य जीवस्य तु अंशत्वेनैव न नामरूपसम्बन्धः, अनित्ये (जडे) जननं, नित्ये परिच्छिन्ने (जीवात्मनि) समागमः, नित्यापरिच्छिन्नतनौ (भगवत्स्वरूपे) प्राकटयं चेति सा त्रिधा (अणु-भाष्य २।३।१)।

तथा—“यदा अखण्डाद्वैतभानं सुवर्णग्राहकवत् तत्त्वेनैव सर्वं ग्रहणाति तदा अवान्तरविकल्पविषयिणी बुद्धिः 'घटः-पटः' इति सा बाध्यते, सर्वत्र ब्रह्मैवेति । नतु स्वरूपतोपि घटपटादिपदार्थोपि धर्मी वाध्यते इत्यर्थः (शास्त्रार्थनिबन्ध-प्रकाश ९१)।

(९) लीलार्थ सृष्टिवाद

श्रौतसन्दर्भ (क) स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते । स द्वितीयमच्छत् सहैतावानास । यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेषापातयत् ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम् (बृहदारण्यकोपनिषद् १।४।३)।

निष्कर्ष ब्रह्म अगणितानन्दरूप होनेसे किसी भी प्रयोजनके वश सृष्टि नहीं करता है। निष्प्रयोजन सर्वथा एक लीलाके रूपमें अपने निजानन्दकी

सहज अभिव्यक्तिके रूपमें ही सृष्टि प्रकट करता है। सूत्रकार भी अतएव कहते हैं “लोकवत्तु लीलार्थकवलयम्”। महाप्रभु भी, अतएव, लीलार्थ सृष्टिवाद का स्वरूप इन शब्दोंमें देते हैं : नमो भगवते तस्मै कृष्णायाम्भुतकर्मणे रूपनामविभेदेन जगत् क्रीडति यो यतः (शा. नि. १)।

ये वाद शुद्धाद्वैतका जो स्वरूप वाल्लभ दर्शनमें अभिलषित है, उसे समझनेके लिये अनिवार्य आधारभूत धारणायें हैं। इन्हें भलीभांति समझनेपर ही शुद्धाद्वैतवादका सांगोपांग बोध सम्भव है।

'शुद्ध' तथा 'अद्वैत' पदोंके समाससे निष्पन्न 'शुद्धाद्वैत' पदका स्वारस्य इन्हीं नौ वादोंमें है। परन्तु समासविग्रह करनेके बाद 'शुद्ध' या 'अद्वैत' पद का पृथक्-पृथक् तात्पर्य क्या हो सकता है। यह अब विचारना होगा।

'शुद्ध' और 'अद्वैत' पदोंके द्वारा विवक्षित अर्थ

शुद्धाद्वैतमार्तण्डकार गोस्वामी श्रीगिरधरजीने दोनों तरहके (१) कर्म-धारय तथा (२) तत्पुरुष समास, इन दोनों पदोंके बीच शक्य माने हैं।

(१) कल्पमें 'शुद्ध' विशेषणवाचक तथा 'अद्वैत' विशेष्यवाचक पद बनता है।

(२) कल्पमें शुद्धयोः—शुद्ध जडजीवात्मक जगत तथा शुद्धब्रह्म का परस्पर अद्वैत—द्वैतप्रकारक ज्ञानका विषय न बनना 'शुद्धाद्वैत' के रूपमें परिभाषित किया गया है।

दोनों ही कल्पोंमें 'शुद्ध' पदका अर्थ 'मायासम्बन्ध से रहित होना' किया गया है।

यहां 'माया' को प्रकृति परमाणु काल कर्म स्वभाव आदि सभीका उपलक्षण मान लें तब तो कोई आपत्ति नहीं आती। अन्यथा शुद्धाद्वैतवाद जैसी गम्भीर विचारधाराका एकमात्र प्रयोजन केवलाद्वैतवादका खण्डन ही रह जाता

है। वैसे मायावाद और ब्रह्मवाद का टकराव तो है ही। अतः सभीके गले यह बात शीघ्रतया उतर भी जाती है। शान्त चित्तसे, परन्तु, इसमें विचारणीय बात यही है कि जिस विचारधाराको हम प्रस्थानचतुष्टयीमें प्रतिपादित सिद्धान्तके मुख्य नामके रूपमें प्रस्तावित करना चाहते हैं, तथा जिसे निश्चय ही श्रीशंकराचार्यसे भी पूर्वकालिक वेदान्त-चिन्तनके रूपमें सिद्ध किया जा सकता है, ऐसी विचारधाराका नाम यदि श्रीशंकराचार्यके मायावादके स्मरण किये बिना सार्थक ही न बन पाता हो तो, तब तो बड़ी असमञ्जस स्थिति बन जाती है!

यदि स्वयम् महाप्रभुका कोई निर्णायक वचन कि शुद्धाद्वैत घटक 'शुद्ध' का मायाके व्यावर्तनार्थ ही लेना चाहिये, ऐसा मिलता होता तब तो किसी संशयको अवकाश नहीं मिलता। ऐसा वचन, किन्तु जबतक न दिखलाया जा सके तबतक केवल मायाके व्यावर्तनार्थ 'शुद्ध' पद का प्रयोजन घड़ना, बहुत युक्तिसंगत नहीं लगता। अतः हम आग्रह करना चाहते हैं कि "एकमेव अद्वितीयम्" श्रुतिमें जो 'एकमेव' का अर्थ है वही 'शुद्ध' का भी लेना चाहिये तथा जो 'अद्वितीयम्' का अर्थ है वही 'अद्वैत' का भी लेना चाहिये। यह हम दिखला ही चुके हैं कि कैसे 'शुद्ध' का अर्थ, महाप्रभुके शब्दोंमें, "आदौ शुद्धं ब्रह्मैवास्ति न ततो रिक्तं कारणं (प्रकृति-परमाणु-माया-काल-कर्मादिरूपम्) किञ्जित" दिया जा सकता है। इसी तरह 'अद्वैत' का अर्थ "ब्रह्मैव तथा प्रादुर्भूतम् (माया-प्रकृति-परमाणु-काल-कर्म-स्वभावादिकारणानां रूपैः जातम्)" इत्यर्थः" किया जा सकता है।

यह भी स्पष्ट शब्दोंमें समझ लेना चाहिये कि महाप्रभुका 'अद्वैत' पद द्वैतात्यन्ताभावका वाचक नहीं है। वह तादात्म्यवाचक है। यह 'अद्वैत' पद, नव्यन्यायकी भाषामें कहें तो, "एकत्वात्यन्ताभाववदवृत्तिधर्मवत्त्व" रूप है। अतएव ऐसी कोई भी वस्तु कि जिसमें धर्मधर्मिभाव, अंशांशभाव, कार्यकारण-

१ कोष्ठकान्तर्गत शब्द प्रस्तुत लेखकके हैं।

भाव, ज्ञातज्ञेयभाव, भक्तभजनीयभाव जैसे द्वैत रहते हों, उसका यह अद्वैत असहिष्णु नहीं है। गो. श्रीपुरुषोत्तमजीने अतएव भेदाभेदस्वरूपनिर्णयवाद में इसे भेदसहिष्णुरभेदके रूपमें परिभाषित किया है।

फिरभी कुछ विद्वानोंकी धारणा है कि 'अद्वैत' पदमें त्रिषेधार्थक 'नञ्' द्वारा ही सभी तरहके द्वैतवादोंका, जो बाद प्रकृति परमाणु कर्म काल स्वभाव या पुरुष आदि तत्त्वोंकी कारणताकल्पनाके आधारपर प्रवृत्त हुए हैं, वारण हो जाता है। अतः अवशिष्ट मायाकी कारणताकल्पनापर अवलम्बित केवलाद्वैतवादके वारणके लिये ही 'शुद्ध' पदकी उपयोगिता है। किन्तु हमें यह व्याख्या शुद्धाद्वैतकी युक्तिसंगत नहीं लगती। क्योंकि वेदान्तके सभी सम्प्रदाय, उभयविध श्रुतिवचनोंकी संगति बैठानेके लिये, किसी न किसी तरहका अद्वैत और किसी न किसी तरहका द्वैत भी प्रतिपादित करते ही हैं।

यथा :-

(१) 'एकमेवाद्वितीयम्' + 'नेहानानास्तिकिचन' = शांकरमत
पारमार्थिक अद्वैत + मायिक द्वैत = केवलाद्वैतवाद

(२) 'एकमेवाद्वितीयम्' + 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्.....' = रामानुजमत
विशिष्ट अद्वैत + विशेषण विशेष्य द्वैत = विशिष्टाद्वैतवाद

(३) 'एकमेवाद्वितीयम्' + 'ज्ञाज्ञौद्वावजाविशानीशौ' = माध्वमत
औपचारिक अद्वैत + पारमार्थिकद्वैत = केवलद्वैतवाद

(४) 'एकमेवाद्वितीयम्', तदेक्षत बहुस्यां प्रजायेय' = वाल्लभमत
स्वाभाविक अद्वैत, ऐच्छिकद्वैत = शुद्धाद्वैतवाद

ऐसी स्थितिमें यदि 'अद्वैत' पदसे सभी तरहके द्वैतोंका वारण मानें तो मायिक द्वैतका भी वारण मानना चाहिये। तब तो मायाका भी 'अद्वैत' पदसे ही व्यावर्तन मानना पड़ेगा! अन्यथा 'शुद्ध' पदसे भी तो तत्तत् प्रकारके अद्वैतका व्यावर्तन तो होता ही है। अतः केवल मायाको ही व्यावर्त्य माननेपर द्वैतवादियोंको अभिमत अद्वैतोंके प्रकारोंका भी वारण ही नहीं पायेगा। ऐसी स्थितिमें बहुत क्षुद्र प्रयोजन सिद्ध होगा, 'शुद्ध' पदसे केवल मायाको व्यावर्त्य माननेपर।

मूल प्रश्न

अब इस चर्चाके तलमें अवस्थित कुछ तथ्योंका अवगाहन भी हमें करना चाहिये। क्योंकि जब हम द्वैत अद्वैत या द्वैताद्वैत की चर्चा करते हैं तो हमारे मनके किसी अंधेरे कोनेमें एक प्रश्न तो छूपा हुआ खड़ा ही रहता है कि यदि द्वैत है तो किन दो वस्तुओंके बीचमें, और यदि अद्वैत है वह कंसा ?

स्पष्ट है कि औपनिषद् दर्शनमें इन प्रश्नोंके एक छोरपर जड़—जीवात्मक जगत है तथा दूसरे छोरपर ब्रह्म। अब ब्रह्म तो शास्त्रैकगम्य पदार्थ है। अतः शास्त्रको प्रमाण ही न माननेवाले मतवादोंके साथ इस विषयमें औपनिषद् दर्शनका, न तो कोई संवाद सम्भव है और न विवाद ही। परन्तु जड़—पदार्थ और चेतन—पदार्थ के वारेमें शास्त्रीय निरूपणका टकराव उन मतवादोंके साथ हो ही जाता है, जो शास्त्रके शब्दको प्रमाण नहीं मानते। इसके अलावा केवल प्रत्यक्ष एवम् अनुमान पर अवलम्बित विचारधाराओंका भी आपसी टकराव तो है ही।

जड़—जीवात्मक जगत्सम्बन्धी इन सभी वादोंके परस्पर विवादोंमें, दो अन्तिम छोरके रूपमें हमारे सामने, एक ओर शून्यवाद आता है तथा दूसरी ओर सप्तभंगिवाद। शून्यवाद सारे विवादग्रस्त वादोंकी अस्वीकृतिका सिद्धान्त है तथा सप्तभंगिवाद उन सभी विवादग्रस्त वादोंकी स्वीकृतिका दावा करता है। यह हम इसलिए कहते हैं कि शून्यवाद अपनी अस्वीकृति परिगणित कल्पोंमें सिमित नहीं रखता, जैसा कि सप्तभंगिवाद, असफलतया, रखना चाहता है। सात कल्पोंकी स्वीकृतिके बाद भी सप्तभंगिमें शून्यताका स्वरूप कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता; तथा तीन व्यर्थ पुनरुक्ति भी लगते ही हैं, तटस्थवृत्तिसे निहारने पर। यथा—

- (१) स्याद् अस्ति—सद्वाद
- (२) स्याद् नास्ति—असद्वाद
- (३) स्याद् अस्ति च नास्ति—सदसद्वाद

- (४) स्याद् अवक्तव्यश्च—सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीयवाद
- (५) स्यादस्ति चावक्तव्यश्च
- (६) स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च
- (७) स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च

यहां हम देख सकते हैं कि जिन्हें जैन चिन्तक पाक्षिक स्वीकृतिकी मनो-वृत्तिसे उपस्थापित करना चाहते हैं उन्हीं चार भंगिमाओंके निषेधमें शून्य-वादका तात्पर्य है :

न सत् नासत् न सदसत् नचाप्यनुभयात्मकम् ।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिकाः जगुः ॥

यहां यह अवधेय है कि 'अवक्तव्य' 'अनिर्वचनीयमिध्या' 'सदसद्विलक्षण' या 'अनुभयात्मक' ये सभी पद एकार्थवाची हैं। इस चतुर्थकोटिके निषेधपर उपलब्ध होती शून्यताकोटि वही कोटी है, जिसे केवलाद्वैती 'निर्विशेष ब्रह्म' के रूपमें मान्य करते हैं, परन्तु जैन चिन्तकोंकी सप्तभंगिमामें उसे स्थान नहीं मिल पाया है, अन्तिम तीन भंगिमाओंकी पुनरुक्तिके बावजूद भी। प्रसंगोपात्त हम यह भी कहना चाहेंगे कि जो लोग शून्यको ब्रह्मोपम अथवा ब्रह्मको शून्योपम माननेसे कतराते हैं उन्हें श्रीशंकराचार्यके अधोलिखित वचनोंका भलीभांति अभ्यास करना चाहिये :

अस्तिनास्तीत्यादिकोटिभिः चतसृभिरपि अस्पृष्टो अस्त्यादिविकल्पना-
वर्जितः इत्येतद् येन मुनिना दृष्टो ज्ञातो वेदान्तेषु औपनिषदः पुरुषः, स
सर्वदूक सर्वज्ञः परमार्थपण्डितः इत्यर्थः (माण्डुक्य. भा. ४।२४)

ब्रह्म, केवलाद्वैतवादमें स्वप्रकाश शान्त अवाच्य निर्विशेष द्वैतात्यन्ताभावो-
पलक्षित माना गया है। माध्यमिक भी उनके शून्यका स्वरूप यही स्वीकारते हैं :

अपरप्रत्ययं (स्वप्रकाशं) * शान्तं प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम् (अवाच्यम्) *
निर्विकल्पमनानाथं (निर्विशेषमद्वैतम्) * एतत्तत्त्वस्य लक्षणम् ।

* कोष्ठकान्तर्गत शब्द लेखनीय हैं।

जन चिन्तक इसी शून्य या ब्रह्म को अपनी सात भंगिमाओंमें स्थान नहीं दे पाये हैं।

(१) इन चारों कोटियोंमें सद्वादिओंके अनुसार दृश्यमान जगत् सत् है, जो अंशतः सांख्यका मत है।

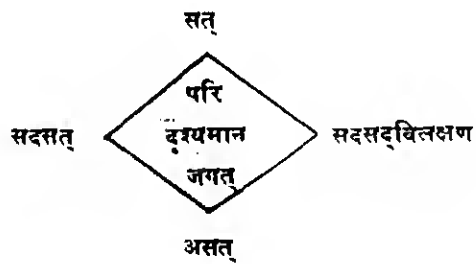
(२) असद्वादी होनेका आरोप बहुधा माध्यमिकोंपर लगाया जाता है, जिसे वे इन्कारते हैं: शून्यत्वं नास्तित्वा रूपं भवांस्तु प्ररिकल्पयन् प्रपञ्चं वर्धयन्नेव न च वेत्ति प्रयोजनम्। तुच्छता और शून्यता एक नहीं हैं निर्विशेष होनेके बावजूद, जैसे ब्रह्म और तुच्छ एक नहीं है।

(३) सदसद्वादी चिन्तक तो बहुसंख्यक हैं ही नैयायिकादि।

(४) सदसद्विलक्षणवादी विज्ञानवादी बौद्ध हैं और परवर्ती चिन्तकों में सर्वप्रथम भर्तृहरि तथा बादमें गौडपाद भी, सदसद्विलक्षणवादके समर्थक हुए थे।

इन चारों कोटियोंका निषेध बौद्धोंका शून्याद्वैतवाद है तथा वेदान्तियों का निर्विशेषाद्वैतवाद।

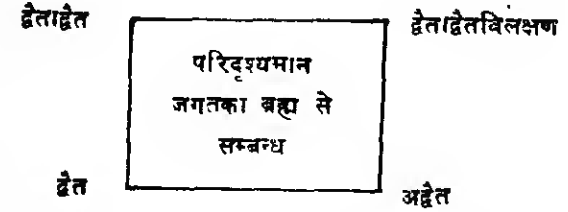
इस तरह हम देख सकते हैं कि इन चार कोटियोंमें जगतकी विवेचना वेदान्तेतर दर्शनोमें हुई है, जिसका एक चतुष्कोण अधोनिर्दिष्ट रूपमें चित्रित किया जा सकता है।



जो वस्तु सत् है उसमें देशिक परिच्छेदके कारण कहीं उसका अत्यन्ताभाव मानना पड़ता है। कालिक परिच्छेदके कारण प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव। तथा वस्तुकृत परिच्छेदके कारण अन्योन्याभाव। यह हम पहले भी दिखला चुके हैं। अतएव जो वस्तु जब जहां और जैसी है वही अन्यत्र अन्यदा या अन्यथा नहीं हो सकती है। ऐसी स्थितिमें षड्विध भाव और चतुर्विध अभाव के रूप में पदार्थकी कल्पना करना नैयायिकों-वैशेषिकोंको सदसद्वादी सिद्ध करता है। इसी तरह वस्तु स्वयम् सदसदात्मक अर्थात् उभयात्मक हो नहीं सकती, अतः अनुभयात्मकताका चतुर्थ कल्प प्रसक्त होता है।

यह जगत सत् हो असत् हो सदसत् हो या सदसद्विलक्षण, इस जगतके कारण ब्रह्ममें वस्तुकृत परिच्छिन्नता है कि नहीं; तथा ब्रह्मके कारण जगतमें वस्तुकृत परिच्छिन्नता है कि नहीं, यह प्रश्न वेदान्तके विभिन्न सम्प्रदायोंके बीच विवादका विषय बन गया। साथ ही साथ एक नया चतुष्कोण इस सन्दर्भ में उभरता हुआ देख सकते हैं।

यथा—



सभी द्वैतवादी वेदान्तिओंको, ब्रह्मका स्वरूप, जड वस्तुओंसे तथा जीवात्माओंसे परिच्छिन्न मानना ही पड़ता है। अतः ब्रह्म भी सदसदात्मक हो जायेगा। ऐसा अद्वैतवादियोंका आरोप है।

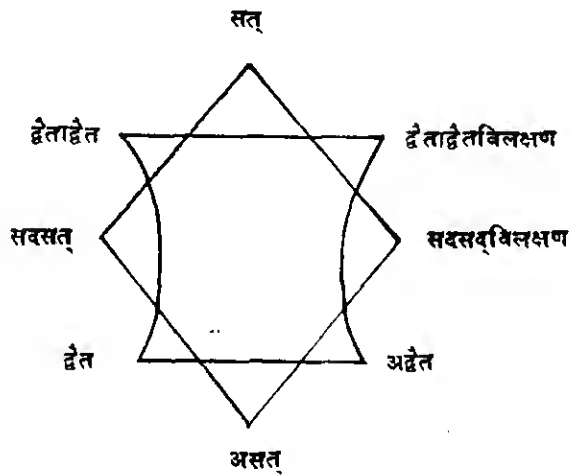
परन्तु केवलाद्वैतवादियोंके मतमें जैसे अभावरूप धर्म ब्रह्मकी निर्धर्मकताको हानि नहीं पहुंचाते हैं, ऐसे ही दश-कालकृत परिच्छेदसे रहित सत् ब्रह्ममें जडादि वस्तुकृत परिच्छेद ब्रह्मकी सत्ताको हानि नहीं पहुंचाते हैं। क्योंकि वह परिच्छिन्नता स्वस्वरूपापेक्षया न होकर अन्य

स्वरूपापेक्षया होती है। अतः ब्रह्म सदसदात्मक नहीं है। ऐसा बचाव द्वैतवादी अपने पक्षका करना चाहेंगे।

यह एक विवादास्पद विषय है जिसके विस्तारमें जाना हमारे लेखका प्रयोजन नहीं है। इसके अलावा यह समाधान भी तो प्रस्तुत किया जा सकता है कि वस्तुकृत परिच्छेद, जो जगतके कारण ब्रह्ममें प्रतीत होता है, वह कल्पित है। क्योंकि सभी वस्तु मूलतः एकमेवाद्वितीय ब्रह्मके ही अनेक नाम-रूप हैं।

ब्रह्ममें, अतः, जड़जीवरूप-जगत्कृत स्वरूप-परिच्छिन्नता है, नहीं है, कथंचित् है और कथंचित् नहीं भी, और, कहा नहीं जा सकता कि है की नहीं। ऐसे चारों कल्प यहां भी उभरते हैं। जिन्हें चतुष्कोणमें हमने द्वैत अद्वैत द्वैताद्वैत तथा द्वैताद्वैतविलक्षण के रूपमें चित्रित किया है।

उल्लिखित दोनों चतुष्कोणोंको एक-दूसरेपर जमानेपर आठ सम्भावनाओंका रूप हमारे सामने आता है। इसमें सभी सम्भावनायें वास्तविक नहीं। कुछ केवल तार्किक सम्भावनायें भी है। यह अवधेय है। अस्तु।

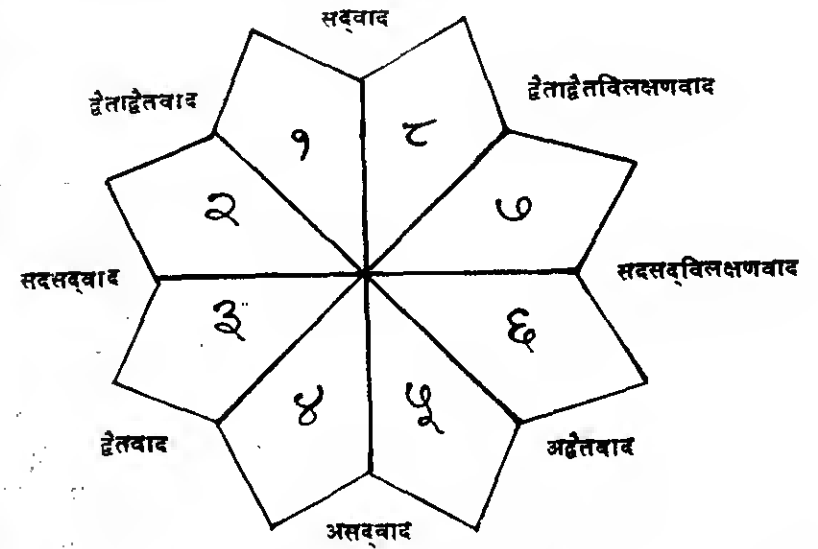


माध्यमिकोंका शून्य जैसे चतुष्कोटि विनिर्मुक्त तत्व है इसी तरह-

न द्वैतं नैव चाद्वैतं नोभयानुभयेपि वा ।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं ह्यचिन्त्यं तत्त्वमुच्यते ॥

यों सदसदादि सभी दृष्टियोंके निरसनार्थ जैसे शून्यवादकी प्रवृत्ति है, वैसे ही वेदान्त दर्शनमें भी द्वैत अद्वैत द्वैताद्वैत और द्वैताद्वैतविलक्षण सम्बन्धी चिन्तनकी सभी प्रक्रियाओंको स्थगित करनेको एक अचिन्त्य द्वैताद्वैत-वादको भी मान्य किया जा सकता है ! अस्तु।

उल्लिखित दो चतुष्कोणोंके योगसे बनी आकृतिको अब यदि अष्टदलमें रूपान्तरित कर दें तो वह और भी सुबोध बन जायेगी :



इस अष्टदलमें हम स्पष्टतया देख सकते हैं कि कैसे चार-चार वादोंके परस्पर संश्लेषणसे वेदान्तके अष्टविध वाद बन सकते हैं।

शब्दशः-

(१) सदवाद + द्वैताद्वैतवाद = भास्कर, रामानुज, श्रीकण्ठ, निम्बार्क मत

- (२) द्वैताद्वैतवाद + सदसद्वाद = श्रीपति, विज्ञानभिक्षु आदिका मत
- (३) सदसद्वाद + द्वैतवाद = माध्व मत
- (४) द्वैतवाद + असद्वाद = रिक्त दल अर्थात् केवल ताकिक संभावना
- (५) असद्वाद + अद्वैतवाद = " " "
- (६) अद्वैतवाद + सदसद् विलक्षणवाद = शांकर मत
- (७) सदसद् विलक्षणवाद + द्वैताद्वैत विलक्षणवाद = रिक्त दल
- (८) द्वैताद्वैत विलक्षणवाद + सद्ववाद = ब्रह्मन्दी भृतृप्रपंच ब्रह्मदत्त का तथा वाल्लभ मत ।

यह तो एक सामान्य स्वरूप है। क्योंकि, उदाहरणतया, प्रथम दलमें हमने श्रीभास्कराचार्य श्रीरामानुजाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य, श्रीकण्ठाचार्य तथा को स्थापित किया है, एतावता ये सभी सर्वथा एक ही मतके माननेवाले थे ऐसा हमारा अभिप्राय नहीं है। किन्तु जगत्को सदात्मक मानते हुए उसे ब्रह्मसे कथंचित् भिन्न एवम् कथंचित् अभिन्न माननेके वारेमें तीनों-चारोंका एकमत्य है। इतना ही हमारा अभिप्राय है। छठे दलमें श्रीशंकराचार्यको स्थापित करनेकी बात तो सर्वथा स्पष्ट ही है कि वे सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय मिथ्या प्रपंच, जो रजतकी तरह शुक्तिसदृश अधिष्ठानरूप ब्रह्ममें भासित हो रहा है, के द्वैतके अत्यन्ताभावसे ब्रह्मको उपलक्षित मानते हैं। अतः उनका मत सदसद्विलक्षणवाद + अद्वैतवाद है। तृतीय दलमें

श्रीमध्वाचार्यकी स्थापनाकी उपपत्ति स्वयम् उनकी इन कारिकाओंके आधार पर दी जा सकती है :

स्वतन्त्रं परतन्त्रं च प्रमेयं द्विविधं मतम् ।
स्वतन्त्रं भगवान्विष्णुः निर्दोषाखिलसद्गुणम् ॥
द्विविधं परतन्त्रं च भावाभाव इतीरितः ।
पूर्वापिरसदात्वेन त्रिविधोभाव इश्यते ॥
भावाभावस्वरूपत्वान्नान्योन्याभावता पृथक् ।
चेतनाचेतनश्चेति भादोपि द्विविधः स्मृतः ॥

आठवां तथा प्रथम दल, दोनों, सद्ववादी वेदान्तिओंके दल हैं। इनमें श्रीभास्कराचार्य प्रभृति प्रथम दलके हैं। यह उनके भाष्योंके अवलोकनसे निर्णीत होता है। विस्तारभयसे हम यहाँ उस निरूपणमें नहीं पड़ना चाहते। आठवां दल शांकर भाष्यादि प्राचीन ग्रन्थोंमें उद्धृत ब्रह्मन्दी भृतृप्रपंच ब्रह्मदत्त तथा सर्वान्तिमें महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यको अभिमत वेदान्त सिद्धान्त है। और इस तरह 'शुद्धाद्वैत' पदका विग्रह करके अर्थ समझना हो तो निष्कर्षरूपेण हम यह कह सकते हैं कि—

(१) शुद्ध = सद्ववाद

(२) अद्वैत = द्वैताद्वैतविलक्षण (तादात्म्य) वाद
= शुद्धाद्वैतवाद

(१) सद्ववादकी विचारधाराका पूर्ण अवलम्बन करके महाप्रभु प्रतीयमान जगत्का न तो उत्पत्तिविनाश स्वीकारते हैं और न अन्योन्याभाव ही। फिर भी त्रिविध परिच्छेदकी जो प्रतीति होती है वह ब्रह्मज्ञानके कारण होती है। सर्व वस्तुका ब्रह्मसे तादात्म्य है। ब्रह्म देशकृत कालकृत एवम् वस्तुकृत परिच्छेदसे रहित है। अतः ब्रह्मात्मक होनेसे मूलतः सभी वस्तुएँ त्रिविध परिच्छेदसे रहित हैं। अर्थात् सभी कुछ सर्वत्र सर्वदा विद्यमान है और सर्व सर्वमय है : सर्वं सर्वमयम्। अतः सभी कुछ मूलतः सर्वथा अपरिच्छिन्न

है। परन्तु स्वेच्छया परिग्रहीत नामरूपोंमें ब्रह्मने अपनी त्रिविध अपरिच्छिन्नता छिपा रखी है। अतः ब्रह्मज्ञानके बिना वह हमें भासित नहीं होती। प्रथम और आठवें दलमें सद्वादकी स्वीकृतिके कारण अतिशय साम्य है। क्योंकि उल्लिखित नौ वादोंमें से अधिकांश वाद सद्वादकी ही शाखा है। फिर भी अतिसूक्ष्म अन्तर दोनोंमें है। वह ब्रह्मके अद्वैतके बारेमें नहीं किन्तु जगत्से ब्रह्मके द्वैतके बारेमें है।

ब्रह्मज्ञानके तीन स्तर

महाप्रभुके अनुसार ब्रह्मज्ञान तीन स्तरोंमें प्रकट होता है :

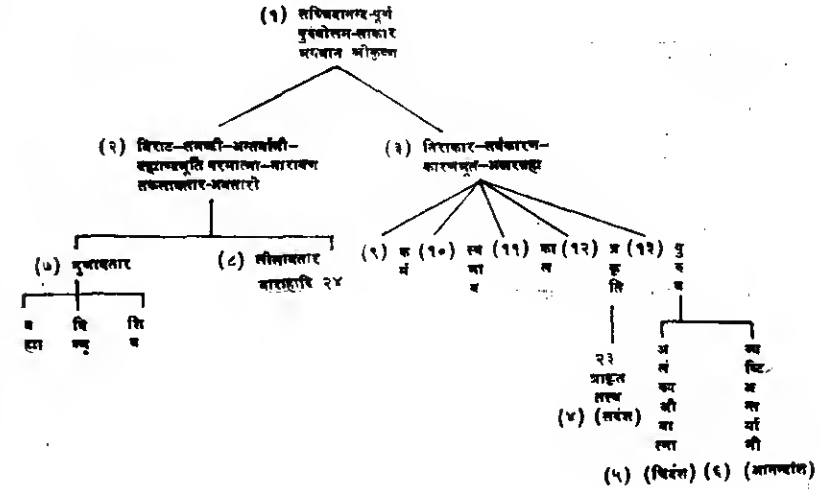
(१) तदात्मानं स्वयमकुरुत सहैतावानास स सर्वमभवद् इत्यादि श्रुतिवचनोंके श्रवण-मनन करनेपर ब्रह्म ही अनेकविध नाम-रूपोंमें व्यक्त हुआ है, ऐसा परोक्षज्ञान जब हमें होता है तब सत्ता और चैतन्य रूप दो धर्मों के कारण जगत् और सच्चिदानन्द ब्रह्म के बीच कुछ सादृश्यका ज्ञान होता है : 'इदं हि विश्वं भगवानिब' यह तादात्म्यका परोक्षबोध है।

(२) चित्तको अन्य सभी शास्त्रीय यम-नियमादि उपायोंसे शुद्ध तथा एकाग्र बनानेपर सखण्डाद्वैतका भान होता है। सखण्डाद्वैतके भानमें उद्देश्य तथा अथवा विधेयतया नाम-रूप-कर्मोंके विकल्पोंका भान होता है। "तदेतद् (नाम रूपं कर्म) त्रयं सद् एकमयमात्मा, आत्मो एकः सन्नैतत्त्वयम्" वचनके अनुसार। साथ ही साथ इनका ब्रह्मसे तादात्म्य भी स्फुरित होता है : 'इदं विश्वं भगवान्' यह तादात्म्यका सखण्डाद्वैतघटित अपरोक्ष बोध है।

(३) ब्रह्ममें चित्तकी पूर्ण एकाग्रता सिद्ध होनेपर निर्विकल्प समाधिकी तरह केवल अखण्डब्रह्माकारा चित्तवृत्ति बन जाती है। यह सिद्ध होनेपर न 'अहं ब्रह्मास्मि' का विकल्प भासित होता है, न 'तत्त्वमसि' का और न 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' का ही। अखण्डाद्वैतका भान चित्तकी परम एकाग्रतामें ही सम्भव है। जहाँ बुद्धि विकल्पोंका अवगाहन नहीं करती—न उद्देश्यतया और न विधेयतया

ही। इस तरहका भान ब्रह्मसायुज्यमें पर्यवसित हो जाता है। यह ब्रह्ममात्र का अखण्डाद्वैत-घटित बोध है।

महाप्रभु कहते हैं कि "ज्ञानाद् विकल्पबुद्धिस्तु बाध्यते न स्वरूपतः।" अर्थात् इस अनुभूतिमें वस्तुका बाध नहीं किन्तु विकल्पोंका अवगाहन बुद्धि बन्द कर देती है। जैसे निर्विकल्प समाधिके सिद्ध होनेपर अखण्डाकारा वृत्ति उभरती है कि जिसमें ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञानकरण के विकल्प भासित नहीं होते फिरभी विद्यमान तो रहते ही हैं। यह हम पहले भी देख चुके हैं। इस तरह शुद्धाद्वैतकी विवेचनाके बाद अब अतिसंक्षेपमें शुद्धाद्वैतवादाभिमत प्रमेयोंका वंशवृक्ष देकर इस विषयका उपसंहार करेंगे :



उपर्युक्त प्रमेयोंमें से कुछकी चर्चा तो इन्हीं ब्रह्मसूत्रोंमें हुई है। अवशिष्ट प्रमेयोंको महाप्रभुने श्रीमद्भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवत के आधार पर स्वीकारा है। इन सबका विस्तृत निरूपण शक्य न होनेसे ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवत की सन्दर्भसंख्या यहाँ हम लिख देते हैं, वंशवृक्ष

में दी गई संख्याके क्रमसे । विशेष जिज्ञासा होनेपर निबन्ध, प्रस्थानरत्नाकर तथा प्रमेयरत्नार्णव ग्रन्थोंका अवलोकन इस विषयमें लाभप्रद हो सकता है ।

- (१) ब्रह्मसूत्र १।१।२-१८, ३।२।२४-२८ गीता ४।९, ५।२९, ७।६-७, १५।१८ भाग १।३।२८, ३।९।१९
- (२) ब्रह्मसूत्र १।१।१९, १।२।१८ गीता-८।२२, ११।५२-५३, १५।१७, भाग १।३।२८
- (३) ब्रह्मसूत्र १।२।२१-२३, १।३।१०, ३।३।३३-३४ गीता ८।२०-२१, १२।३, १५।१६ भाग ३।१।४१
- (४) ब्रह्मसूत्र २।३।१-१६, गीता ७।४ भाग २।५।१४, ३। दशमाध्याय ।
- (५) ब्रह्मसूत्र २।३।१७-५३ गीता ७।५, भाग २।५।१४
- (६) ब्रह्मसूत्र १।२।६-८, १।२।११-१२, १।२।२८, गीता १८।६१-६२, १३।२२, भाग २।२।८
- (७) भाग १।२।२३, ३।७।२७
- (८) गीता ४।५-९, भाग १।३।२८, २। सप्तमाध्याय
- (९) गीता ८।३ भाग २।५।१४
- (१०) गीता ८।३, भाग २।५।१४
- (११) गीता ११।३२, भाग २।५।१४, ३। एकादशाध्याय
- (१२) गीता १३।१९-२१, भाग २।५।१४
- (१३) गीता १३।१९-२१, भाग २-५-१४

इस तरह शुद्धाद्वैत-सिद्धान्त और उसमें मान्य प्रमेयोंका प्रमाण निर्देश

पुरस्सर वर्णन सम्पूर्ण हुआ । अब इस अणुभाष्य ग्रन्थके बारेमें कुछ निरूपण अवशिष्ट रह जाता है ।

सर्वप्रथम इस ग्रन्थके नाम 'अणुभाष्य' के कारण ही बड़ी समस्या बनी हुई है । इस बारेमें किसी भी चर्चामें उलझनेसे पहले यह लक्ष्यमें रखना अनिवार्य है कि श्रीतेलीवालाने स्वयं प्रभुचरणोंके तथा पुरुषोत्तमजीके हस्ताक्षरवाली अणुभाष्य-चतुर्थध्यायकी तथा प्रकाशकी भी पाण्डुलिपि देखी थी । तृतीयाध्यायके तृतीयपादके अन्तमें प्रथम Editor's Note में श्रीतेलीवाला कहते हैं : "To our great delight and satisfaction we found an almost complete Manuscript of the Anu Bhāshya Adhyāya IV...in the handwriting of Vitthaleshwar himself. Puroshottamji's statement in Prakash III -2-24 इत आरभ्य प्रभुणामिति is based on a firm and reliable basis. He seems to have access to the above original of Anu Bhāshya. On the leaves of this original manuscript there are fine paper slips. On these paper slips there are remarks. These remarks, it appears to us, are in Puroshottamji's own handwriting... though the इतिश्री in the name of Vallabhacharya in Vitthalehwar's own hand would suggest..." ऐसी स्थितिमें भाष्यकी समाप्तिपर प्रभुचरण द्वारा लिखी गई पुष्पिका तथा "प्रकाश-मणुभाष्यस्य वितन्वन् पुरुषोत्तमः" यह कथन, किसी भी तरहके अवकाश बिना, इतना तो सिद्ध कर ही देता है कि 'अणुभाष्य' अभिधान प्रभुचरणके समयसे प्रचलित है । अतः रह जाती है विशेषणके पदकृत्यकी जिज्ञासा तथा एक सन्देह कि यह नाम महाप्रभु द्वारा प्रदत्त है या नहीं । कलेवर की दृष्टिसे इसे 'अणु' कहना तो निश्चय ही कुछ अतिशयोक्ति लगती है । फिर भी कई विद्वान् एक बृहद्भाष्यकी कल्पना करते हैं और कहते हैं कि प्रकाशकारने उसे अपने प्रकाशमें समाविष्ट कर दिया है । सम्प्रदायके प्राचीन किसी भी लेखनमें ऐसा उल्लिखित न होनेसे हमें तो यह कल्पना सर्वथा अस्वीकार्य ही लगती है ।

वाराणसीके पंडित रामकृष्णभट्टद्वारा लिखित तथाकथित बृहद्भाष्य के प्रारूपकी पाण्डुलिपिकी प्राप्त कर लेनेके बाद स्वयं तेलीवालाको भी अपनी धारणा बदलनी पड़ी थी कि पुष्टिभक्तिसुधामें उनके द्वारा प्रकाशित श्रीमद्भाष्य बृहद्भाष्य था। “आचार्यवाचः प्रणमाभि” कहनेवाले श्रीपुरुषोत्तमजीको यदि बृहद्भाष्य वस्तुतः मिला होता, जो श्रीविठ्ठलनाथ प्रभुचरणको भी न मिल सका था (!), तो वे निश्चित ही उसपर व्याख्या लिखते। कथमपि प्रकाशमें समाविष्ट कर देनेकी अभक्तिमयी कृतघ्नता नहीं करते।

जहां तक अणुत्वकी ग्रन्थकलेवरके अर्थमें न लेकर जीवपरिमाणके अर्थमें लिये जानेका प्रस्ताव है, तो वह पूर्वकल्पनाके अपेक्षा कुछ ग्राह्यतर लगता है। क्योंकि सर्वनिर्णय निबंधमें महाप्रभु भी कहते हैं—“वेदान्तैर्जीवस्वरूपविज्ञानम्”। क्योंकि वेदान्त-विचारका मुख्य प्रयोजन ब्रह्मके माहात्म्यका निर्भान्त ज्ञान उत्पन्न करना है। तथा जिन दो वादोंको महाप्रभु ब्रह्मके माहात्म्यके विलोपनका हेतु मानते हैं, वे हैं :

(१) जगन्मिथ्यात्ववाद (२) जीवव्यापकत्ववाद।

“प्रपञ्चमेव मिथ्या इत्युक्त्वा शुद्धं भजनं
वारयन्ति तथा अन्ये जीवं व्यापकम् उक्त्वा”

अतः माहात्म्यके असिद्ध होनेपर वेदान्तविचारसे जायमान ज्ञान माहात्म्य ज्ञान न होनेके कारण भक्तिजनक भी न रहेगा। अतएव महाप्रभु अपने सभी ग्रन्थोंमें शारीरकात्मासे परमात्माके असाधारण माहात्म्यको सिद्ध करनेको निरन्तर संनद्ध हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि श्रीशंकराचार्यके शारीरक-भाष्य अभिधानके विरोधमें महाप्रभुद्वारा ‘अणुभाष्य’ नाम रखा गया है। अतएव महाप्रभु सुबोधिनीमें भी स्पष्टतया कहते हैं :

“फलमते उपपत्तेरितिन्यायेन न केवलं ज्ञानमात्रेण फलं किन्तु श्रवणादिभिर्ज्ञानं ब्रह्मार्ण तत्फलं प्रयच्छति। तत् चेत् निघर्मकं शारीररूपं वा स्यात्, फलदाने असमर्थमेव स्यात्। (सुबो. २।१।५)

अन्य वैष्णव भाष्योंमें भी शंकरमतालोचन तो किया ही गया है। फिर भी महाप्रभु अपने अणुभाष्यमें निरन्तर मायावादकी आलोचना जैसे करते ही हैं। उसी तरह श्रीशंकराचार्य द्वारा प्रदत्त ‘शारीरक भाष्य’ नामगत ‘शारीरक’ विशेषणके प्रत्याख्यानके लिए महाप्रभुद्वारा ‘अणु’ विशेषण लगाया गया हो सकता है, अन्य वैष्णव भाष्योंके जीवाणुत्ववादी होने पर भी। परन्तु निश्चयपूर्वक हम नहीं कह सकते हैं यह अभिधान महाप्रभुद्वारा प्रदत्त है या नहीं। क्योंकि उनके जो हस्ताक्षर उनके वंशजोंमें पत्र-पत्रके रूपमें सम्पत्तिकी तरह विभक्त हो गये, उनमें भाष्यके पत्र यदि उपलब्ध होते हों तो उनके अवलोकन करनेपर ही इसका निर्णय सम्भव है अन्यथा नहीं।

परन्तु एक विचारणीय प्रश्न यहां यह है कि ‘अणु’ विशेषण यदि महाप्रभुका लगाया हुआ होता तो कहीं तो महाप्रभुके ग्रन्थोंमें वह उल्लिखित होता ही। ऐसे उल्लेखका अभाव हमें यह सोचनेको पुनः बाधित करता है कि किसी अन्य रीतिसे ही यह भाष्यके विशेषणके रूपमें जुड़ गया होना चाहिये। महाप्रभुका यह कथन कि — “श्रवणविषयत्वं न जीवपुरस्सरतया किन्तु साक्षाद् ब्रह्मणः” (सुबो. १।२।१४) भी इस तथ्यकी और संकेत करता है कि जीवप्राधान्यसे वेदान्त श्रवण या वेदान्तमनन सिद्धान्तसम्मत नहीं है। अतः जीवाणुत्वद्योतक विशेषण का विन्यास निरर्थक नहीं तो भी विचारणीय तो लगता ही है। ऐसी स्थितिमें “वेदान्तैर्जीवस्वरूप विज्ञानम्” (नि. प्र. २।८) वचनका भी तात्पर्य श्रवण-मननके मुख्य विषयतया न लेकर गौण विषयतया लेना चाहिये। अर्थात् जीव, यद्यपि गौणतया वेदान्तमें प्रतिपाद्य है, फिर भी जीवस्वरूपका निर्णय भी, ब्रह्मस्वरूपके निर्णयकी तरह वेदान्तेतर शास्त्रोंके द्वारा नहीं करना चाहिये। वह भी वेदान्तविचार द्वारा ही करना चाहिये। यही अर्थ प्रतीत होता है।

परिशेषतः ‘अणु’ विशेषणके प्रयोजनकी चिन्ताका निवारण श्रीमहाप्रभुकी भाष्यगत कारिकाओंके स्वरूपपर लक्ष्यपात करनेसे ही हमें सम्भव लगता है।

एक आकस्मिक कारण यह भी सम्भव है कि श्रीमध्वाचार्यविरचित अणु-भाष्यके द्वितीयाध्यायमें से—

“भ्रान्तिमूलतया सर्वसमयानामयुक्तितः ॥”

“न तद् विरोधात् वचनं वैदिकं शंक्यतां व्रजेत ॥”

कुल मिलाकर उपलब्ध ग्रन्थकलेवरको अणु मानकर अथवा गौणतया प्रतिपाद्य विषय जीव परिमाणके अणुत्वको लेकर महाप्रभु विरचित अणुभाष्य के “अणु” विशेषणका प्रयोजन खोजनेके बजाय, इन्हीं अन्तिम दो सम्भावनाओंमें हमें अधिक युक्तियुक्तता लगती है। पुनश्च, निष्कर्षरूपेण, यदि यह नाम स्वयम् महाप्रभु द्वारा प्रदत्त है, तो वह कारिकाओंके लिये ही प्रदत्त होगा जो कारिकायें तृतीय और चतुर्थाध्याय के प्रारंभमें आज मिलती हैं। बादमें उनका नाम गद्यात्मक भाष्यके लिये भी प्रयुक्त हो गया होना चाहिये। यदि यह “अणुभाष्य” नाम स्वयम् महाप्रभु द्वारा प्रदत्त नहीं तो फिर श्रीमद्वाचार्थकी उल्लिखित अणुभाष्यकारिका ही अपने साथ यह नाम भी वहाँ से ले आई है और उसे ही बादमें महाप्रभुविरचित भाष्यके साथ जोड़ दिया गया होना चाहिये।

वैसे तो यह भाष्य स्वयम् महाप्रभुने भी सम्पूर्ण ही लिखा था। यह सुबोधिनीमें मिलते उल्लेखोंके बलपर सिद्ध होता है। परन्तु चरित्रग्रन्थोंमें वर्णित कारणोंसे वह सम्पूर्णतया प्रभुचरणको उपलब्ध न हो पाया। फलतः महाप्रभुके विभिन्न सेवकों (नामतः दामोदरदास, कन्हैयाशाल खत्री, राणा व्यास प्रभृति) से जो भी कुछ महाप्रभुविरचित ग्रन्थसाहित्य एकत्रित हो पाया, उसमें लम्बी प्रतीक्षाके बाद भी जब ब्रह्मसूत्र ३।२।३४ से समाप्ति पर्यन्त के अवशिष्ट सूत्रोंका भाष्य न मिला होगा, तभी स्वयं प्रभुचरणने उसे पूर्ण करने की ठानी होगी। इस पूर्तिके समय सम्भव है कि आपको महाप्रभुविरचित कारिकात्मक अणुभाष्य मिल गया होगा, जिसे आधार बनाकर प्रभुचरणने समुचे गद्यात्मक भाष्यको भी अणुभाष्य कहा होगा। परन्तु जैसी क्रमबद्धता तृतीयाध्याय एवम् चतुर्थाध्याय की कारिकाओंमें है, वैसी क्रमबद्धता प्रथम-द्वितीय अध्यायों की कारिकाओंमें नहीं दिखलाई देती। क्योंकि वे गद्यात्मक भाष्यकी अंग है।

अणुभाष्यके श्रीधरपाठकवाले मूल संस्करणके परिशिष्टमें “श्रीमद् वल्लभाचार्यकारिकाः तथा श्रीमद्विठ्ठलेश्वरकारिकाः” के रूपमें इनका पृथक

संकलन किया गया है। इनमें “एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते बन्धोस्या-विद्ययानादिर्विद्यया च तथेतर” यह एक श्लोक भाष्यकारिका नहीं है। किन्तु शास्त्रवचनका उद्धारण है। अवशिष्ट प्रथमद्वितीय अध्यायकी कारिकाओंमें एक आनन्दमयाधिकरणकी प्रभुचरणविरचित कारिकाको छोड़कर शेष गद्यात्मक भाष्यकी ही, सुबोधिनीस्थित कारिकाओं जैसी, महाप्रभुविरचित कारिकायें हैं। तृतीयाध्यायके अन्तमें आई एकमात्र कारिका तथा चतुर्थाध्यायचतुर्थपादके अन्तमें उपसंहारात्मिका कारिकायें प्रभुचरणविरचित हैं। शेष तृतीयाध्याय, प्रारम्भकी तथा चतुर्थाध्यायके प्रारंभकी कारिकायें, हमारे हिसाबसे, अणुभाष्यका द्रुष्टित अंश है। जो प्रभुचरण द्वारा योजित किया हुआ होना चाहिये।

वैसे हमारे पास कोई ठोस आधार नहीं है फिर भी हृदयमें कभी-कभी एक भास होता है कि अवशिष्ट गद्यात्मक भाष्यमें आज उपलब्ध होती कारिकायें अणुभाष्यवाली न होकर सुबोधिनीस्थ कारिकाओंकी जैसी सारांश निरूपिका कारिकायें हैं। क्योंकि इन कारिकाओंमें वह क्रमबद्धता नहीं दिखलाई देती है जो तृतीयाध्याय—चतुर्थाध्यायके प्रारम्भमें उपलब्ध होती कारिकाओंमें दिखलाई देती है। तृतीय—चतुर्थके प्रारम्भमें दी गयी कारिकायें गद्यांशमें वैसी पिरोई हुई नहीं लगती, जैसी कि अवशिष्ट कारिकायें परस्पर असंबद्ध होनेपर भी तत्तद् गद्यांशसे पिरोई हुई संबद्ध लगती हैं। हमारी इस कल्पनाके तथ्यातथ्य होनेका प्रमाण हमारे पास इससे अधिक और कुछ भी नहीं है।

इन्हीं स्पष्टीकरणोंके साथ अपनी इस भूमिकाका उपसंहार करते हुए हम उन सभी महानुभावोंका हार्दिक कृतज्ञताके साथ स्मरण करते हैं नामतः श्री मूलचन्द्र तेलीवाला, श्री धीरजलाल सांकलिया आदि जिन्होंने इस ब्रह्मसूत्रभाष्य—प्रकाश—रश्मी जैसे महान् ग्रन्थका प्रथमतया इतना सुन्दर सम्पादन करके वाल्लभ सम्प्रदायके इतिहासमें गो. श्री पुरुषोत्तमजी जैसी अक्षरसेवा कर पानेका सौभाग्य अर्जित किया था। तथा उन सभी नित्य-लीलास्थित गोस्वामिमहानुभावोंका तथा धनिकोंका भी जिन्होंने तेलीवाला को उस समय सहयोग दिया था।

साथ ही साथ श्रीनाथद्वारा टेंपल बोर्डके सदस्यगण तथा उनके अध्यक्ष गोस्वामितिलकायित श्री १००८ श्री गोविन्दलालजी महाराजका, जिनके इस पुनःप्रकाशनके शुभसंकल्पके कारण, यह तेलीवालाके संस्करणका ओफसेट प्रोसेसद्वारा पुनर्मुद्रित संस्करण, आज दुवारा वाल्लभ वेदात्तके अध्यक्षताओंके हाथमें उपलब्ध हो रहा है। एतदर्थ वाल्लभदर्शनके सभी प्रेमिजन इनके हृदयसे आभारी हुए हैं। तथा सभी आशा करते है कि टेंपल बोर्ड इसी तरह भविष्यमें भी साम्प्रदायिक ग्रन्थोंके प्रकाशनमें अपने गुरुतर भारका निर्वाह करेगा। तेलीवालाके संस्करणमें विषयानुक्रमणिका नहीं दी जा सकी थी। अतः उसे यहाँ नूतनतया योजित किया गया है।

जयति श्रीवल्लभाय जयति च विठ्ठलेश्वरः प्रभुःश्रीमान् ।
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति ॥

गोस्वामी श्याम मनोहर

अधिकरणानां सूचीपत्रम् ।

	अ. पा. पृ.		अ. पा. पृ.
१ विद्यासाधिकाणम् ...	१११८	४१ स्तुत्यनवकाशदोषप्रसंग इत्यधिकरणम् ...	२१११
२ कल्याणिकाणम् ...	१११९	४२ इतरेषामित्यधिकरणम् ...	२११०
३ सनन्धवाधिकाणम् ...	१११९	४३ एतेन योग इत्यधिकरणम् ...	२१११
४ ईश्वर्याधिकाणम् ...	११२०	४४ न विद्वान्वाधिकाणम् ...	२११३
५ आनन्दमयाधिकाणम् ...	११२०	४५ असादिति चेत्यधिकरणम् ...	२११६
६ अन्तःकर्मधिकाणम् ...	११२१	४६ एतेनेत्यधिकरणम् ...	२११४
७ लक्ष्मिधिकाणम् ...	११२१	४७ भोक्तापचरित्यधिकरणम् ...	२११४
८ अतिदेशाधिकाणम् ...	११२१	४८ तदन्वयधिकाणम् ...	२११५
९ ज्योतिषधिकाणम् ...	११२१	४९ असाध्यपदेशाधिकाणम् ...	२११७
१० अनुगमाधिकाणम् ...	११२२	५० इतरव्यपदेशाधिकाणम् ...	२११८
११ सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशाधिकाणम् ...	११२१	५१ उपसंहारवर्तनाधिकाणम् ...	२११९
१२ सद्बुद्धिधिकाणम् ...	११२१	५२ सर्वोपेयाधिकाणम् ...	२११९
१३ असा चराचराधिकाणम् ...	११२१	५३ रचनानुपपत्तेरित्यधिकरणम् ...	२१२१
१४ गृहार्थप्रतिष्ठाधिकाणम् ...	११२१	५४ पुरुषात्मवदित्यधिकरणम् ...	२१२२
१५ अन्तर उपपत्तेरित्यधिकरणम् ...	११२१	५५ महर्षीवैवृत्यधिकरणम् ...	२१२३
१६ अन्तर्भावधिकाणम् ...	११२१	५६ समुदाय उभयहेतुकेपीत्यधिकरणम् ...	२१२८
१७ अद्वयधिकाणम् ...	११२१	५७ नाभाव उपलब्धेरित्यधिकरणम् ...	२१२८
१८ वैवाचिकाधिकाणम् ...	११२१	५८ नैकस्मिन्संभवादित्यधिकरणम् ...	२१२९
१९ पुण्याध्यातनाधिकाणम् ...	११२१	५९ पत्युरसामञ्जसाधिकाणम् ...	२१२९
२० मूलाधिकाणम् ...	११२१	६० उपपत्त्यसंभवादित्यधिकरणम् ...	२१२९
२१ अक्षराधिकाणम् ...	११२१	६१ न विद्यित्यधिकरणम् ...	२१३१
२२ ईश्वर्याधिकाणम् ...	११२१	६२ एतेन मातरिभेदेत्यधिकरणम् ...	२१३१
२३ दूराधिकाणम् ...	११२१	६३ अंसंभवाधिकाणम् ...	२१३३
२४ अनुकूल्यधिकरणम् ...	११२१	६४ तेजोत इत्यधिकरणम् ...	२१३२
२५ सद्वादेव प्रसिद्धाधिकाणम् ...	११२१	६५ आप इत्यधिकरणम् ...	२१३२
२६ तदुपसर्पित्यधिकरणम् ...	११२१	६६ पृथिव्यधिकारेत्यधिकरणम् ...	२१३३
२७ सुगन्धैत्यधिकरणम् ...	११२१	६७ तदभिध्यानादेवेत्यधिकरणम् ...	२१३८
२८ कल्पनाधिकाणम् ...	११२१	६८ विपर्ययेनेत्यधिकरणम् ...	२१३९
२९ ज्योतिर्वर्तनाधिकाणम् ...	११२१	६९ अन्तरा भिन्नमनसी इत्यधिकरणम् ...	२१३२
३० अर्थांतरव्यपदेशाधिकाणम् ...	११२१	७० नात्वा सुतेरित्यधिकरणम् ...	२१३५
३१ सुपुस्तुकाणोरित्यधिकरणम् ...	११२१	७१ श्रोत दूरेत्यधिकरणम् ...	२१३५
३२ आयुमामिकाधिकाणम् ...	११२१	७२ उक्तान्तिगत्यागतीनामित्यधिकरणम् ...	२१३५
३३ चमसवद्वैत्यधिकरणम् ...	११२१	७३ तद्व्यवसायाधिकाणम् ...	२१३८
३४ न संभोपसंमहाधिकाणम् ...	११२१	७४ कर्ता शास्त्रार्थवर्वाधिकाणम् ...	२१३०
३५ कल्याणपदित्यधिकरणम् ...	११२१	७५ पराशु तच्छ्रुतेरित्यधिकरणम् ...	२१३२
३६ सन्नाधिकाणम् ...	११२१	७६ अंसो नानाव्यपदेशाधिकाणम् ...	२१३३
३७ जगद्भाषित्याधिकाणम् ...	११२१	७७ तथा प्राणा इत्यधिकरणम् ...	२१३५
३८ वाक्यान्वयाधिकाणम् ...	११२१	७८ हस्तादव इत्यधिकरणम् ...	२१३६
३९ प्रकृतिभेदेत्यधिकरणम् ...	११२१	७९ अणवभेदेत्यधिकरणम् ...	२१३६
४० स्वल्पनाधिकाणम् ...	११२१	८० श्लेषेत्यधिकरणम् ...	२१३७

	अ. पा. पृ.		अ. पा. पृ.
८१ चक्षुरादिवर्षाधिकरणम् ...	२।७।१८६	१२३ व्यतिरेकाधिकरणम् ...	३।३।११२
८२ ज्योतिराद्यधिकरणम् ...	२।७।१८७	१२४ भूक इत्यधिकरणम् ...	३।३।११८
८३ प्राणवर्षाधिकरणम् ...	२।७।१८८	१२५ नागा शकृदादिमेवादिव्यधिकरणम् ...	३।३।१२२
८४ तद्विभूतयामि तत्रापदेसादिव्यधिकरणम् ...	२।७।२०७	१२६ विकल्प इत्यधिकरणम् ...	३।३।१२४
८५ संशयार्थकृतिस्त्वधिकरणम् ...	२।७।२०८	१२७ काम्यादिव्यधिकरणम् ...	३।३।१२५
८६ मांसादिभौमव्यधिकरणम् ...	२।७।२११	१२८ अज्ञेयव्यधिकरणम् ...	३।३।१२६
८७ तदन्तरप्रतिपत्ताव्यधिकरणम् ...	३।१।११	१२९ समाहाराधिकरणम् ...	३।३।१२८
८८ कृताव्यधिकरणम् ...	३।१।१२	१३० न धा तत्सहभावाभ्युत्पत्तेरिव्यधिकरणम् ...	३।३।१२९
८९ भूमिदादिकारिणामिव्यधिकरणम् ...	३।१।१४	१३१ पुरुषार्थोत् इत्यधिकरणम् ...	३।३।१३३
९० विद्याकर्मणोरिव्यधिकरणम् ...	३।१।५१	१३२ सर्वोपेक्षेय्यधिकरणम् ...	३।३।१८०
९१ शब्दावरोधाधिकरणम् ...	३।१।५६	१३३ विहितत्वात्कर्मकर्मत्वधिकरणम् ...	३।३।१८४
९२ अन्वयाधिकृत इत्यधिकरणम् ...	३।१।६१	१३४ तद्वृत्तस्त्वधिकरणम् ...	३।३।१९४
९३ रेतःसिन्धोवाधिकरणम् ...	३।१।६४	१३५ न आधिकारिकमित्यधिकरणम् ...	३।३।१९६
९४ योनेः शरीरमित्यधिकरणम् ...	३।१।६७	१३६ बहिस्तुभयमेत्यधिकरणम् ...	३।३।१९७
९५ संध्याधिकरणम् ...	३।२।७५	१३७ सहकार्यन्तराधिकरणम् ...	३।३।१९८
९६ तदभावो नादीव्यधिकरणम् ...	३।२।९०	१३८ गृहिणोपसंहार इत्यधिकरणम् ...	३।३।५०५
९७ अतः प्रबोध इत्यधिकरणम् ...	३।२।९५	१३९ एवं मुक्तिकलाभिधम् इत्यधिकरणम् ...	३।३।५१३
९८ उभयलिङ्गाधिकरणम् ...	३।२।१०५	१४० आवृत्त्यधिकरणम् ...	४।१।८
९९ अक्षयवदेव हीत्यधिकरणम् ...	३।२।११३	१४१ आत्माधिकरणम् ...	४।१।१३
१०० अक्षयवदग्रहणादिव्यधिकरणम् ...	३।२।१२५	१४२ आदित्याद्यधिकरणम् ...	४।१।२९
१०१ तदभ्यक्तमाह हीत्यधिकरणम् ...	३।२।१३७	१४३ अत्रैकाग्रताधिकरणम् ...	४।१।३०
१०२ प्रकाशादिव्यधिकरणम् ...	३।२।१४०	१४४ आ प्रायणाधिकरणम् ...	४।१।३३
१०३ प्रकाशाभयवहेत्यधिकरणम् ...	३।२।१४५	१४५ तदधिगमाधिकरणम् ...	४।१।३९
१०४ परमतः सेतुभावोत्पत्त्यधिकरणम् ...	३।२।१७९	१४६ अतोम्याधिकरणम् ...	४।१।४०
१०५ फलमत इत्यधिकरणम् ...	३।२।१८९	१४७ वाकानोत्रिकरणम् ...	४।२।५५
१०६ सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणम् ...	३।३।१९३	१४८ श्रुताधिकरणम् ...	४।२।५६
१०७ आत्मगुटीत्यधिकरणम् ...	३।३।२५५	१४९ समानाधिकरणम् ...	४।२।७३
१०८ कार्याभ्यामाधिकरणम् ...	३।३।२५८	१५० अविभवाधिकरणम् ...	४।२।८२
१०९ पुरुषविद्यामिव्यधिकरणम् ...	३।३।२७३	१५१ तदोक्तोधिकरणम् ...	४।२।८५
११० वेधाद्यधिकरणम् ...	३।३।२७५	१५२ रश्म्यधिकरणम् ...	४।२।८८
१११ संपरायाधिकरणम् ...	३।३।२८९	१५३ निर्यधिकरणम् ...	४।२।९०
११२ गतेर्यवत्त्वमित्यधिकरणम् ...	३।३।२९५	१५४ बहिःराद्यधिकरणम् ...	४।३।९७
११३ उपपत्ताधिकरणम् ...	३।३।३०६	१५५ आतिवाहिकाधिकरणम् ...	४।३।१०८
११४ अनियमाधिकरणम् ...	३।३।३१३	१५६ कार्याधिकरणम् ...	४।३।११४
११५ आधिकारिकाधिकरणम् ...	३।३।३१५	१५७ अप्रतीकाधिकरणम् ...	४।३।१४०
११६ अक्षरविद्यामित्यधिकरणम् ...	३।३।३१८	१५८ विदोपाधिकरणम् ...	४।३।१४८
११७ अन्तरा श्रुतग्रामवदित्यधिकरणम् ...	३।३।३३१	१५९ संप्रत्याभिर्वाधिकरणम् ...	४।३।१५५
११८ सैव हीत्यधिकरणम् ...	३।३।३३९	१६० ब्राह्म्याधिकरणम् ...	४।३।१५९
११९ आदरादित्यधिकरणम् ...	३।३।३४५	१६१ तदवभावाधिकरणम् ...	४।३।१८६
१२० तद्विधोराधिकरणम् ...	३।३।३५१	१६२ प्रदीपाधिकरणम् ...	४।३।१९२
१२१ प्रदानवदित्यधिकरणम् ...	३।३।३५६	१६३ जगत्प्रादाधिकरणम् ...	४।३।१९७
१२२ लिङ्गभूषण्यधिकरणम् ...	३।३।३६३		

अ. पा. पृ.	अ. पा. पृ.
३६ अनारम्भकार्ये क्व तु पूर्वे तद्वधेः ...	४।१।४४
३७ जगद्विभूतयामिव्यधिकरणम् ...	४।१।५०९
३८ जगद्विभूतयामिव्यधिकरणम् ...	४।१।५०९
३९ अनिबन्धः सर्वासाधिविरोधः शब्दाभ्यु- त्पत्त्याम् ...	४।३।३३
४० अनिबन्धकारिणामपि च श्रुतम् ...	४।१।४४
४१ अनुकृतोक्तत्वं च ...	४।३।६८८
४२ अनुकृतपरिहारी देहसंख्याकर्मोत्पत्तिरिवत् ...	२।३।१३६
४३ अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ...	४।२।४५६
४४ अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद- रुद्धं तदुक्तम् ...	३।३।३९८
४५ अनुष्ठेवं वादरायणः साम्यश्रुतेः ...	३।३।४६०
४६ अनुष्ठेतेर्वादिः ...	४।२।५९७
४७ अनुष्ठेतेर्यः ...	४।२।६०
४८ जनेन सर्वगतत्वमायामवशब्दादिभ्यः ...	३।२।१८०
४९ अन्तर उपपत्तेः ...	४।२।४४४
५० अन्तरा चापि तु तद्वद्वेः ...	३।३।४६०
५१ अन्तरा श्रुतग्रामवत्त्वात्मनः ...	३।३।३३१
५२ अन्तरा विज्ञानमगती क्रमेण तद्विज्ञा- दिति चेष्टाविरोधात् ...	२।३।३२
५३ अन्तर्भाव्यादिवादिषु तद्वर्तमान्यदेसात् ...	४।२।५३९
५४ अन्तर्भाव्यसर्वज्ञता वा ...	२।२।११५
५५ अन्तर्भाव्योपदेसात् ...	४।१।३३७
५६ अन्तर्भाव्यवदेष्टो मयमित्यत्वादिविरोधः ...	२।२।१००
५७ अन्तर्भाव्यात्वात् न शृणादिवत् ...	२।२।२०
५८ अन्तर्भाव्यात्वं शब्दादिति चेष्टाविरोधात् ...	३।३।२३३
५९ अन्तर्भाव्यानुमिती च श्रुत्यादिविरोधात् ...	२।२।२६
६० अन्तर्भाव्यानुपपत्तिरिति चेष्टोपदेसा- न्तरवत् ...	३।३।३३३
६१ अन्तर्भाव्यानुपपत्तेः ...	४।३।६७७
६२ अन्तर्भाव्यादिति पूर्ववदभिलाषात् ...	३।३।६१
६३ अन्तर्भाव्यं तु जमिनिः प्रथमव्यक्त्यानाम्भा- मपि वैधमेके ...	४।३।९२८
६४ अन्तर्भाव्यात् परामर्शः ...	४।३।६८६
६५ अन्तर्भाव्यादिति चेष्ट्यादवधारणात् ...	३।३।२५७
६६ अन्तर्भाव्यात्वात्त्वान्तरात् ...	२।२।५७
६७ अपि सत् ...	३।३।४९
६८ अपि सर्वते ...	४।३।६९१
६९ अपि सर्वते ...	२।३।१३४

अ. पा. पृ.	अ. पा. पृ.	अ. पा. पृ.	अ. पा. पृ.
७० अपि स्वयंते ...	१०८ आचारदर्शनात् ...	१७५ उदासीनाणामपि चैवं तिष्ठिः ...	१७९ कामादीतरत्र तत्र भावतनादिव्यः...
७१ अपि स्वयंते ...	१०९ आतिवाहिकास्तुष्टिनात् ...	१७६ उपदेशमेवावेति चेतोमयसिद्धय- विरोधात् ...	१८० कामास्तु यथाकामं समुचीयेरत्र वा पूर्वहेतुभावात् ...
७२ अपि चेत्येके ...	११० आत्मकृतेः परिणामात् ...	१७७ उपपद्येत ...	१८१ कारणात्वेव चाकारादित्यु च्यात्त्वपदि- ष्टोके ...
७३ अपि संराचने प्रत्यक्षानुमानान्त्याम्	१११ आत्मगृहीतिरितरबहुसारात् ...	१७८ उपपद्यते चानुपपन्न्यते च ...	१८२ कार्यं चादिरस्य गत्युपपत्तेः ...
७४ अपीतो तद्रूपसङ्गादसमक्षसम् ...	११२ आत्मनि चैवं विभिन्नाह हि ...	१७९ उपपद्यते चानुपपन्न्यते च ...	१८३ कारणाभावादर्थात् ...
७५ अप्रतीकाकम्बनात्प्रतीति बाधरायण उभययादोषात्तत्कृतम् ...	११३ आत्मज्ञान्यात् ...	१८० उपपद्यते चानुपपन्न्यते च ...	१८४ कृतप्रवृत्तौ चेतोमयसिद्धय- वैभवात्तदिव्यः ...
७६ अभावात् ...	११४ आत्मा प्रकरणात् ...	१८१ उपपद्यते चानुपपन्न्यते च ...	१८५ कृतप्रवृत्तौ चेतोमयसिद्धय- वैभवात्तदिव्यः ...
७७ अभावं चादिराह शेषम् ...	११५ आत्मेति त्वपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ...	१८२ उपपद्यते चानुपपन्न्यते च ...	१८६ कृतप्रवृत्तौ चेतोमयसिद्धय- वैभवात्तदिव्यः ...
७८ अभिधोपदेशात् ...	११६ आत्मादर्शनात् ...	१८३ उपपद्यते चानुपपन्न्यते च ...	१८७ कृतप्रवृत्तौ चेतोमयसिद्धय- वैभवात्तदिव्यः ...
७९ अभिमानिधुपदेशानु विशेषानुगतिस्यात्	११७ आदिष्यादित्यतश्चाह उपपत्तेः ...	१८४ उपपद्यते चानुपपन्न्यते च ...	१८८ कृतप्रवृत्तौ चेतोमयसिद्धय- वैभवात्तदिव्यः ...
८० अभिव्यक्तिरित्याहमरथः ...	११८ आध्यात्मिक प्रयोजनान्नावात् ...	१८५ उपपद्यते चानुपपन्न्यते च ...	१८९ क्षणिकत्वात् ...
८१ अभिसंध्यादिव्यपि चैवम् ...	११९ आनन्दमयोभ्यासात् ...	१८६ उपपद्यते चानुपपन्न्यते च ...	१९० क्षत्रियत्वावगतेष्वोत्तरत्र चैत्रयेन क्षिप्रम् ...
८२ अत्युपगमेत्यर्थभावात् ...	१२० आनन्ददादवः प्रधानत्वम् ...	१८७ उपपद्यते चानुपपन्न्यते च ...	१९१ गतिज्ञानान्तर्या तथा हि षट् क्षिप्रं च
८३ अत्युपगमेत्यर्थभावात् ...	१२१ आनन्दकथमिति चेन्न तदुपेक्षत्वात्	१८८ उपपद्यते चानुपपन्न्यते च ...	१९२ गतिसामान्यात् ...
८४ अत्युपगमेत्यर्थभावात् ...	१२२ आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीर- रूपकमित्यस्यगृहीतेर्दृशयति च	१८९ उपपद्यते चानुपपन्न्यते च ...	१९३ गतेरर्थवत्त्वमुभययाभ्यया हि ...
८५ अर्चिरादिना तत्प्रवृत्तेः ...	१२३ आपः ...	१९० उपपद्यते चानुपपन्न्यते च ...	१९४ गतेरर्थवत्त्वमुभययाभ्यया हि ...
८६ अर्थकौकल्यात्तत्प्रवृत्तेः नेति चेन्न निवाक्यत्वादेवं ध्योमयत्वं ...	१२४ आ प्रायणात्तत्रापि हि इहम् ...	१९१ उपपद्यते चानुपपन्न्यते च ...	१९५ गुणसाधारण्यमुत्तरेण ...
८७ अत्युपगमेत्यर्थभावात् ...	१२५ आभास एव च ...	१९२ उपपद्यते चानुपपन्न्यते च ...	१९६ गुणाद्गोचरत्वम् ...
८८ अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपग- माद्दृष्टिं हि ...	१२६ आनमन्ति चैनमस्मिन् ...	१९३ उपपद्यते चानुपपन्न्यते च ...	१९७ गुणानुसारेणैव हि तदर्थमात् ...
८९ अवस्थितिवैशेष्यादिति काश्चिच्छब्दः ...	१२७ आखिण्यमित्यौदुकोमित्यसौ हि परि- कीयते ...	१९४ उपपद्यते चानुपपन्न्यते च ...	१९८ गुणानुसारेणैव हि तदर्थमात् ...
९० अविभागेन इहत्वात् ...	१२८ आहृणितरसकृपदुदेशात् ...	१९५ उपपद्यते चानुपपन्न्यते च ...	१९९ गुणानुसारेणैव हि तदर्थमात् ...
९१ अविभागो यच्चत्वात् ...	१२९ आसीनः संभवात् ...	१९६ उपपद्यते चानुपपन्न्यते च ...	२०० गुणानुसारेणैव हि तदर्थमात् ...
९२ अविरोधश्चानुभवत् ...	१३० आह च तन्मात्रम् ...	१९७ उपपद्यते चानुपपन्न्यते च ...	२०१ गुणानुसारेणैव हि तदर्थमात् ...
९३ अद्युद्धमिति चेन्न इहत्वात् ...	१३१ इतरपरामर्शात्स इति चेन्न संभवात्	१९८ उपपद्यते चानुपपन्न्यते च ...	२०२ गुणानुसारेणैव हि तदर्थमात् ...
९४ अहमादिवच तदनुपपत्तिः ...	१३२ इतरभ्यपदेशादित्याकरणादिविदोषप्रसक्तिः	१९९ उपपद्यते चानुपपन्न्यते च ...	२०३ गुणानुसारेणैव हि तदर्थमात् ...
९५ अद्युद्धमिति चेन्न इहत्वात् ...	१३३ इतरस्याप्येवमसंकेपः पाते तु ...	२०० उपपद्यते चानुपपन्न्यते च ...	२०४ गुणानुसारेणैव हि तदर्थमात् ...
९६ असति प्रतिज्ञोपरोचो योग्यपद्यमन्यथा	१३४ इतरतरप्रत्ययत्वादिति चेतोत्पत्ति- मात्रनिमित्तत्वात् ...	२०१ उपपद्यते चानुपपन्न्यते च ...	२०५ गुणानुसारेणैव हि तदर्थमात् ...
९७ असदिति चेन्न प्रतिनेचमात्रत्वात् ...	१३५ इतरे त्वय्येवामान्यात् ...	२०२ उपपद्यते चानुपपन्न्यते च ...	२०६ गुणानुसारेणैव हि तदर्थमात् ...
९८ असद्यपदेशावेति चेन्न धर्मात्तरण वाक्यशेषात् ...	१३६ इतरेषां चानुपपत्त्येः ...	२०३ उपपद्यते चानुपपन्न्यते च ...	२०७ गुणानुसारेणैव हि तदर्थमात् ...
९९ असंततेश्चाव्यतिकरः ...	१३७ इयदामननात् ...	२०४ उपपद्यते चानुपपन्न्यते च ...	२०८ गुणानुसारेणैव हि तदर्थमात् ...
१०० असंभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ...	१३८ ईशानिकर्मव्यपदेशात्सः ...	२०५ उपपद्यते चानुपपन्न्यते च ...	२०९ गुणानुसारेणैव हि तदर्थमात् ...
१०१ असार्पथिकी ...	१३९ ईशतेनोक्तव्युत्थं ...	२०६ उपपद्यते चानुपपन्न्यते च ...	२१० गुणानुसारेणैव हि तदर्थमात् ...
१०२ असि तु ...	१४० उत्कमिष्यत एवंभावादिस्वीदुकोमिः	२०७ उपपद्यते चानुपपन्न्यते च ...	२११ गुणानुसारेणैव हि तदर्थमात् ...
१०३ अस्मिन् च तद्योगं प्राप्ति ...	१४१ उत्कामिष्यत गन्तव्येणासीनात् ...	२०८ उपपद्यते चानुपपन्न्यते च ...	२१२ गुणानुसारेणैव हि तदर्थमात् ...
१०४ अस्मिन् चोपपत्तेरुभया ...	१४२ उत्तराधेदाविर्दुत्सकृपस्तु ...	२०९ उपपद्यते चानुपपन्न्यते च ...	२१३ गुणानुसारेणैव हि तदर्थमात् ...
१०५ आकाशच्छिद्रात् ...	१४३ उत्तराधेदात् च पूर्वनिरोधात् ...	२१० उपपद्यते चानुपपन्न्यते च ...	२१४ गुणानुसारेणैव हि तदर्थमात् ...
१०६ आकाशो चाभिव्येष्टात् ...	१४४ उत्तरवर्त्तमानत्वात् ...	२११ उपपद्यते चानुपपन्न्यते च ...	२१५ गुणानुसारेणैव हि तदर्थमात् ...
१०७ आकाशो चाभिव्येष्टात् ...	१४५ उत्तरवर्त्तमानत्वात् ...	२१२ उपपद्यते चानुपपन्न्यते च ...	२१६ गुणानुसारेणैव हि तदर्थमात् ...

अ. पा. पृ.	अ. पा. पृ.
ज	अ. पा. पृ.
२०७ जगद्राशित्वात् ...	२४२ तद्गुणसारत्वानु तद्व्यपदेशः प्राश्रवत् २।१।८०
२०८ जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितराश्व ...	२४३ तदेतुन्यपदेशाच्च ... १।१।३१०
२०९ जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोर्नित्वात् ...	२४४ तद्गतत्वं तु नावज्ञायो जैमिनेरपि नियमात्तद्व्यापारवैभ्यः ... ३।४।४९४
२१० जीवमुख्यप्राणलिङ्गाभेति चेतस्याहत्यातम् ...	२४५ तद्गतो विधानात् ... ३।४।४३८
२११ जीवमुख्यप्राणलिङ्गाभेति चेतोपासा- त्रैविष्यादाश्रितत्वादिह तपोगमात् ...	२४६ तद्विधारणानियमस्तद्वैभ्यः पृथग्व्य- प्रतिबन्धः फलम् ... ३।३।३५१
२१२ श्रेयस्त्रावचवाच ...	२४७ तद्विद्वत्स्य मोक्षोपदेशात् ... १।७।२३३
२१३ श्लोत एव ...	२४८ तन्मसः प्राण उत्तरात् ... ४।२।६३
२१४ उयोतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ...	२४९ तत्त्वभावे संध्यव्युत्पत्तेः ... ४।४।१८६
२१५ उयोतिरुपक्रमानु तथा क्षणीयत ष्टके	२५० तर्काप्रतिष्ठात्तद्व्यपदेशानुमेयमिति चेदेवमप्यविनोक्तप्रसङ्गः ... २।१।४५
२१६ उयोतिर्दशानात् ...	२५१ तस्य च नित्यत्वात् ... २।४।१८९
२१७ उयोतिश्चरणाभिधानात् ...	२५२ तानि परे तथा ह्यात् ... ४।२।८१
२१८ उयोतिषि भावाच्च ...	२५३ तुल्यं दर्शनम् ... ३।४।४४३
२१९ उयोतिषैकैकमसत्यमे ...	२५४ तृतीये शब्दावरोधः संशोकजस्य ... ३।१।५२
त	२५५ तेजोसन्तथा ह्याह ... २।३।२०
२२० तदिन्द्रियाणि तद्व्यपदेशान्यत्र श्रेष्ठान्	२५६ त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रसङ्ग ... १।४।८४६
२२१ तच्छ्रुतेः ...	२५७ न्यात्मकत्वानु भूयस्त्वात् ... ३।१।१७
२२२ तद्विद्वत्तत्त्वज्ञः संबन्धात् ...	द
२२३ तत्तु समन्वयः ...	२५८ दर्शनाच्च ... ३।१।५५
२२४ तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ...	२५९ " ... ३।२।१३२
२२५ तत्प्रत्यक्षत्वेन ...	२६० " ... ३।३।३९१
२२६ तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ...	२६१ " ... ३।३।४२९
२२७ तथा च दर्शयति ...	२६२ " ... ४।३।११७
२२८ तथा चैकवाच्यतोपबन्धात् ...	२६३ दर्शयतश्चैव प्रत्यक्षानुमाने ... ४।४।२०६
२२९ तथान्यप्रतिषेधात् ...	२६४ दर्शयति च ... ३।३।२२४
२३० तथा प्राणाः ...	२६५ " ... ३।३।२६८
२३१ तदधिगम उत्तरपूर्वाचयोरुल्लेखविनाशो तद्व्यपदेशात् ...	२६६ दर्शयति चाथो अपि कर्तव्ये ... ६।२।११९
२३२ तदधीकत्वाद्बैवत् ...	२६७ दृष्टर उत्तरेभ्यः ... १।३।६५३
२३३ तदनन्वयमारम्भज्ञानादादिभ्यः ...	२६८ दृश्यते तु ... २।१।२१
२३४ तदनन्तरप्रतिषेधो रूढिति संप्रतिष्वक्तः प्रमत्तिरूपान्मात् ...	२६९ देवाविवदपि कोके ... २।१।९१
२३५ तदभाषो वाचीतु तच्छ्रुतेरात्मनि च	२७० देहयोगाद्वा सोपि ... ३।२।८७
२३६ तदभावविचारणे च प्रवृत्तेः ...	२७१ शुभ्याद्यायतनं स्वशाब्दात् ... १।३।६०७
२३७ तदभिधानादेव तु तद्विज्ञानसः ...	२७२ द्वावशाब्दावव्युत्पत्तिर्वाद्वाच्यतोः ४।४।१८१
२३८ तदव्यक्तमाह हि ...	घ
२३९ तदापीतेः संसारव्यपदेशात् ...	२७३ धर्मं जैमिनिरत एव ... ३।३।१९०
२४० तदुपर्यपि वाद्वाच्यताः संमत्वात् ...	२७४ धर्मापपत्तेः ... १।३।६२९
२४१ तदोक्तोऽन्वयः तद्व्यपदेशात्	२७५ एतेन महिज्ञोऽपि तदुपपत्तेः ... १।३।२७०
विद्यासामर्थ्यात्तद्व्यपदेशात्तद्व्यपदेश- योगाच्च द्वावद्वयुत्पत्तेः तदाधिक्या	२७६ न्यासाच्च ... ४।१।३५
	न
	२७७ न कर्माणिभ्यामादिति चेतनादित्वात् २।१।१००
	२७८ न च कर्तुः करणम् ... २।२।११८

अ. पा. पृ.	अ. पा. पृ.
२७९ न च कर्तव्यं प्रतिपत्त्वमित्यसिंघिः ...	४।३।१३७
२८० न च पर्यायादप्यविरोधो विकारा- दिभ्यः ...	२।२।१०६
२८१ न च कर्तव्यत्वमर्थाभिहापात् ...	१।२।५५१
२८२ न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्त- योगात् ...	३।४।४९६
२८३ न तु दृष्टान्तमाहात् ...	२।१।४१
२८४ न पृथीये तयोपपत्तेः ...	३।१।५२
२८५ न प्रतीकेन हि सः ...	४।१।२०
२८६ न प्रयोक्तव्यत्वात् ...	२।१।२८
२८७ न भावोऽनुपपत्तेः ...	२।२।९४
२८८ न मेदादिति चैव प्रत्येकमतद्वयत्वात्	३।२।११०
२८९ न बहुरात्मोपदेशादिति चैव श्वात्म- संबन्धमूला कश्चिन् ...	१।१।३९४
२९० न वा तत्तद्व्यापाराद्युतेः ...	३।३।४२९
२९१ न वा प्रकरणभेदात्परोक्षीयत्वादिवात्	३।३।२३४
२९२ न वायुकिंचे पृथगुपदेशात् ...	२।४।१७४
२९३ न वा विद्वेषात् ...	१।३।२६६
२९४ न विषयद्वयुतेः ...	२।३।१
२९५ न विकल्पनत्वात्स तथात्वं च शब्दात्	२।१।१६
२९६ न संख्योपसंभ्रमादपि भानामावादिति- देकाच्च ...	१।४।८८५
२९७ न सामान्यादप्युपपत्तेर्भूयुत्त्वत्वं हि लोकापरिः ...	३।३।४०५
२९८ न स्वान्तोपि परस्वोऽन्यलिङ्गं सर्वत्र हि	३।२।१०५
२९९ नापुनरुत्पत्तेरिति चेत्येतराधिकारात्	२।३।६४
३०० नातिभिरेव विद्वेषात् ...	३।१।६०
३०१ नात्मा श्रुतेर्मित्यत्वाच्च ताम्यः ...	२।३।४५
३०२ नात्मा शब्दादिभेदात् ...	३।३।४२२
३०३ नातुमानसत्त्वच्छब्दात् ...	२।३।६४
३०४ नाभाव उपलब्धेः ...	२।२।८८
३०५ नाविरोधात् ...	३।४।४४६
३०६ नास्तोऽस्तत्त्वात् ...	२।२।८२
३०७ नित्यमेव च भावात् ...	२।२।४९
३०८ नित्योपलब्धत्वं तुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतर- नियमो वाच्यत्वात् ...	२।३।१०१
३०९ निवन्माच्च ...	३।४।४३९
३१० निर्मातरं चैके पुत्राव्ययञ्च	३।२।७६
३११ निश्चिं निति चैव संबन्धस्य भावरेह- जातिव्याहृत्येति च ...	४।२।९०
३१२ नेतरोपपत्तेः ...	१।१।३२३
३१३ नैकश्चिन् दर्शयतो हि ...	४।२।६९
३१४ नैकश्चिन् दर्शनत्वात् ...	२।२।९९
३१५ नेपमर्देनात् ...	४।२।७७
प	
३१६ पञ्चभूतेर्मोक्षव्यपदेशवते ...	४।२।१७८
३१७ पदवच्च ...	२।१।८६
३१८ परादिशब्देभ्यः ...	१।३।८२५
३१९ परादिशब्दात् ...	२।२।१०८
३२० पयोऽनुवचनेनपि ...	२।३।१३४
३२१ परं जैमिनिर्मुक्त्यात् ...	४।३।१३७
३२२ परमतः सेतुमानसंनन्दमेवद्वयपदे- शेभ्यः ...	३।२।१७९
३२३ परानु तच्छ्रुतेः ...	२।३।३२५
३२४ परानिष्पन्नात् तितोहितं ततो ह्यस्य व्यपदिष्येयी ...	३।२।८६
३२५ परामर्शं जैमिनिरुक्तं वापवदति हि	३।४।४५८
३२६ परेण च शब्दस्य तादृश्यं भूयस्त्वात्स- नुवच्यः ...	३।३।४०७
३२७ परादिशब्दात् इति चैव विद्वेषितत्वात्	३।४।४७४
३२८ पुंस्त्वादिबन्धस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात्	२।३।१००
३२९ पुंस्त्वविज्ञानात् चेत्येतराधिकारात्	३।३।२७३
३३० पुंस्त्वयोतः शब्दादिति वाद्वाच्यः	३।४।४३३
३३१ पुंस्त्वात्प्रत्ययविति चेत्यापि ...	२।२।२९
३३२ पूर्व तु वाद्वाच्यो हेतुव्यपदेशात् ...	३।३।१९२
३३३ पूर्ववद्वा ...	३।२।१५१
३३४ पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्वात्किंवामानसवत्	३।३।३७७
३३५ पृथगुपदेशात् ...	२।३।७९
३३६ पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरैभ्यः ...	२।३।२३
३३७ प्रकरणाच्च ...	१।२।४९५
३३८ प्रकरणात् ...	१।३।६१९
३३९ प्रकाशव्यापारवैध्यात् ...	३।२।११७
३४० प्रकाशादिव्यापारवैध्यात् प्रकाशश्च कर्म- व्यवस्थानात् ...	३।२।१४७
३४१ प्रकाशादिव्यापारवैध्यात् ...	२।३।१३४
३४२ प्रकाशात्प्रत्ययवद्वा तेजस्त्वात् ...	३।२।१४५
३४३ प्रकृतिश्च प्रतिष्ठात्तद्व्यपदेशात् ...	१।४।९५७
३४४ प्रकृतेरावयवत्वं हि प्रतिषेधति ततो अपीति च भूयः ...	३।२।१३४
३४५ प्रतिष्ठासिद्धेर्किंवाप्रत्ययः ...	१।४।९५३
३४६ प्रतिष्ठाहासिरस्यतिरेकाच्छब्देभ्यः ...	२।३।९
३४७ प्रतिषेधाच्च ...	३।२।१५७
३४८ प्रतिषेधादिति चैव शारीरात् ...	४।२।७८
३४९ प्रतिषेधनाप्रतिषेधानिरोधात्प्रति- विषेधात् ...	२।२।७५

अ. पा. पृ.	अ. पा. पृ.
३५० प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नधिकारिक- मन्त्रलक्षणेः ४१११९९	३८७ मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ३१३११६
३५१ प्रथमे श्रवणादिति चेन्न ता एव सुपपत्तेः ३११२४	३८८ महद्दीर्घवद्वा इत्यपरिमन्त्रलक्षणात् २१२११
३५२ प्रदानवदेव तदुक्तम् ३१३३५६	३८९ महद्वाच ३१४२६७
३५३ प्रदीपवद्वाचेनान्तराह्नि दर्शयति ... ४१११९२	३९० मांसादिभौमं यथाशब्दमितरयोश्च ... २१४२११
३५४ प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् २१३१४३	३९१ मातृवर्णिकमेव च गम्यते ३११३१३
३५५ प्रवृत्तेः २१२१९	३९२ मात्तमात्रं तु कात्त्वर्थेणानभिन्त्यक्त- स्वरूपत्वात् ३१२१७८
३५६ प्रसिद्धेः ३१३१७१	३९३ मुक्तः प्रतिज्ञानात् ४१११५७
३५७ प्राणगतेः ३११११९	३९४ मुक्तोपपत्त्यव्यपदेशात् ३१३१६१२
३५८ प्राणभृत् ३१३११७	३९५ मुग्धेऽर्धसंपत्तिः परिशेषात् ३१३१००
३५९ प्राणवता शब्दात् २१३१८६	३९६ मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ३१४१५०८
३६० प्राणस्तथानुगमात् ३११३९२	य
३६१ प्राणाद्यो वाक्चरोषात् ३१४८९३	३९७ यत्रैकप्रता तत्राविरोधात् ४११३७
३६२ प्रियशिरस्त्वाद्यप्रसिद्धपचयापचयो हि भेदे ३१३२४७	३९८ यथा च तक्षोभयथा २१३१२४
फ	३९९ यथा च प्राणादि २११८६
३६३ फलमत उपपत्तेः ३१२१८९	४०० यदेव विद्यतेति हि ४११५०
ब	४०१ यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ३१३३१५
३६४ बहिर्मुख्यथापि स्थूतेराधारात् ... ३१४१४९७	४०२ यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् २१३१९६
३६५ बुद्धार्थः पादवत् ३१२१८५	४०३ यावद्विकारं तु विभागो लोकावत् ... २१३१११
३६६ मन्त्रदृष्टिरुक्तात् ४११२३	४०४ युक्तेः शब्दास्तराच्च २११८०
३६७ साक्षात् जैमिनिरूपन्यासादिभ्यः ... ४१४१५९	४०५ योगिनः प्रति स्मर्यते स्मार्ते चैते ... ४१२१९२
भ	४०६ योगिना हि गीयते ३१४९८१
३६८ भाक्तं वाऽनात्मवित्वात्तथा हि दर्शयति ३११२८	४०७ योगेः शरीरम् ३१११६७
३६९ भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ... ४१४१८०	र
३७० भावं तु वादरायणोक्तिं हि ३१३१७२८	४०८ रचनानुपायं २१३११
३७१ भावं चोपलब्धेः २११७५	४०९ रस्यनुसारं ४१२८८
३७२ भावं जामदग्नौ ४१४१८८	४१० रूपादिमत्त्वाच्च त्वपर्ययो दर्शनात् ... २१२१५९
३७३ भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेः शेषम् ३११३८६	४११ रूपोपन्यासाच्च ३१२१५९९
३७४ भूतेषु तच्छ्रुतेः ४१२१६५	४१२ रेतःसिन्धोयोग्यं ३१११६४
३७५ भूमा संप्रसादाद्भ्युपदेशात् ३१३१६२४	स
३७६ भूतः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथाहि दर्शयति ३१३३७१८	४१३ लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्त्वपि ... ३१३३३३
३७७ भेदव्यपदेशाच्च ३११३२३	४१४ लिङ्गाच्च ४१११९
३७८ भेदव्यपदेशाच्चात्म्यः ३११३४९	४१५ लोकावत् लीलाकैवल्यम् ... २१११८
३७९ भेदव्यपदेशात् ३१३६१८	घ
३८० भेदश्रुतेः २१४२०८	४१६ वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ... ३१४८४५
३८१ भेदात्तेति चेदेकस्यामपि ३१३२०१	४१७ वक्ष्यात्तानीन्द्रप्रजापती ४१३१७७
३८२ भोक्तापत्तेरविभारात्तेति स्वालोकवत् २११४८	४१८ वाक्चान्यथावत् ३१४१६३१
३८३ भोगमात्रताम्यलिङ्गाच्च ४१४२०७	४१९ वाक्चानसि दर्शनाच्छब्दाच्च ... ४१२१५५
३८४ भोगेन विवतरे क्षपयित्वाद्य संपद्यते ४११५९	४२० वायुमन्दाद्विरोचविशेषाभ्याम् ... ४१३१३०
म	४२१ विकरणत्वाच्चेति चेत्तदुक्तम् ... २१११९७
३८५ मन्वादिभ्यसंभवाद्नधिकारं जैमिनिः ३१३१०२५	४२२ विकल्पो भित्तिफलत्वात् ३१३१४२४
३८६ मन्त्रवर्णात् २१३१३४	४२३ विकल्पापत्तिं च तथाहि स्थितिमाह ४१४१२०४

अ. पा. पृ.	अ. पा. पृ.
४२४ विकारशब्दाच्चेति चेन्न प्राचुर्यात् ... ३११३०३	४५१ स्वतितरेकत्वज्ञानाभावात्तदभावामिकापाच्च ३१३७४७
४२५ विद्यानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ... २१२११८	४५२ स एव तु कर्मात्प्रवृत्तिशब्दविधिभ्यः ३१२१६
४२६ विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ... ३११५९	४५३ संकल्पादेव च तच्छ्रुतेः ... ४१४१७८
४२७ विद्येव तु निर्धारणात् ३१३३७९	४५४ सत्त्वाचारवत् २११७३
४२८ विधिवो धाणवत् ३१४१६७	४५५ संख्ये स्मृतिराह हि ३१२७३
४२९ विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च २१३२९	४५६ सप्तगतेर्विरोचितत्वाच्च २१४१६७
४३० विप्रतिषेधाच्च २१२११९	४५७ समन्वयस्युपगमाच्च सामान्यादन- वस्थितेः २१२१३
४३१ विप्रतिषेधाच्चात्मनऽतम् २१२१२७	४५८ समाकर्मणात् ३१४१३२
४३२ विभागः सातवत् ३१४१४४	४५९ समान एव चामेदात् ३१३२९३
४३३ विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्ते- दर्शनात् ३१३१७६	४६० समाननामकपत्तादाहृत्वाव्यतिरो- दर्शनात्सूतेच्च ३१३७२१
४३४ विवक्षितगुणोपपत्तेः ३१२१४५२	
४३५ विरोधे च दर्शयति ३१३१४८	
४३६ विरोधमेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरी ३१२१६५	
४३७ विरोधनाच्च ३१२१५७	
४३८ विरोधानुग्रहाच्च ३१४१९१	
४३९ विरोधित्वाच्च ४१३१७५	
४४० विहातोपदेशात् २१३१७६	
४४१ विहितत्वाच्चात्मकर्मापि ३१४१८७	
४४२ वृद्धिदास्यभास्त्वमन्त्रभावाद्भुज- सामस्यत्वादेवम् ३१२१२९	
४४३ वेद्यधिर्भेदात् ३१३२०५	
४४४ वैद्युतेनेव तत्तच्छ्रुतेः ४१३११३	
४४५ वैधर्म्याच्च न स्वभावात् २१२१९१	
४४६ वैलक्षण्याच्च २१४२०८	
४४७ वैशेष्याच्च तद्वादसद्वादः २१४२१३	
४४८ वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ... ३१२१४७२	
४४९ वैश्वानरैर्भूषे न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति २१११९९	
४५० व्यतिरेकज्ञानाभावात्तत्त्वाच्च तूप- लक्षितवत् ३१३११२	
४५१ व्यतिरेकत्वव्यतिरेकज्ञानाभावात् २१२१७	
४५२ व्यतिरेको गन्धवत् २१३१७३	
४५३ व्यतिहातो विशिष्यति हीतरवत् ... ३१३३३६	
४५४ व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्ये- विपर्ययः २१३१११	
४५५ व्यतिरेकत्वसमन्वयस्य ३१३२४०	
दा	
४५६ दास्यविपर्ययात् २१३११६	
४५७ दास्य इति चेत्तत्तः प्रभवत्तत्त्वसा- मुदात्म्यात् ३१३७०९	
४५८ दास्यविशेषात् ३१२१६४	
४५९ दास्यज्ञानोक्तकारे ३१४१८७	

अ. पा. पृ.	अ. पा. पृ.
४६० दास्यच्च २१३७	
४६१ दास्यदिग्बन्धनःप्रतिज्ञानाच्चेति चेन्न तथाहृत्प्रवृत्तादसंभवात्तुक्त्वमपि चेन्नमधीयते ३१२१५९८	
४६२ दास्यदेव प्रथितः ३१३१६९३	
४६३ दामदमाद्युपेयः स्वात्तया तद्विभे- दप्रतया वेद्यामवश्वात्तुक्त्वत्वात् ... ३१४७८४	
४६४ शरीरभोग्येपि हि भेदेनैवमधीयते ३१२१५३	
४६५ शाब्दच्छा तूपदेशो वामदेववत् ... ३१३३९६	
४६६ शिष्टेच्च ३१३१४२७	
४६७ शुगल्य तदनादरश्रवणात्तदाहृत्त्व- त्सूच्यते हि ३१३७३८	
४६८ शेषत्वात्तुक्त्वार्थवादो यथान्येति जैमिनिः ३१४७३३	
४६९ श्रवणाभ्यवर्तार्यप्रतिषेधात्सूतेच्च ... ३१३७४९	
४७० श्रुतत्वाच्च ३१२१४७	
४७१ " ३१२१९७	
४७२ श्रुतेः ३१४१५०२	
४७३ श्रुतेस्तु सन्दृष्टत्वात् २१११९२	
४७४ श्रुतोपनिषत्कालमिधानाच्च ... ३१२१५३	
४७५ श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ... ३१३३९१	
४७६ श्रेष्ठच्च २१४१७३	
स	
४७७ संज्ञातत्त्वतुक्त्वमिति तु तदपि ... ३१३१२७	
४७८ संज्ञामूर्तिरुक्तिस्तु त्रिभुक्तुर्भूत रूपदेशात् ३१४२०८	
४७९ संयमने स्वतुभूतेतरेषामारोहावरोहो तद्विद्वान्नात् ३१३१४५	
४८० संस्कारपरमार्थतदभावामिकापाच्च ३१३७४७	
४८१ स एव तु कर्मात्प्रवृत्तिशब्दविधिभ्यः ३१२१६	
४८२ संकल्पादेव च तच्छ्रुतेः ... ४१४१७८	
४८३ सत्त्वाचारवत् २११७३	
४८४ संख्ये स्मृतिराह हि ३१२७३	
४८५ सप्तगतेर्विरोचितत्वाच्च २१४१६७	
४८६ समन्वयस्युपगमाच्च सामान्यादन- वस्थितेः २१२१३	
४८७ समाकर्मात् ३१४१३२	
४८९ समान एव चामेदात् ३१३२९३	
४९० समान एव चामेदात् ३१३२९३	
४९१ समाननामकपत्तादाहृत्वाव्यतिरो- दर्शनात्सूतेच्च ३१३७२१	

	अ. पा. पृ.		अ. पा. पृ.
४९२ समाप्ता चाख्युपक्रमानुपपत्तौ		५२६ सोम्यज्ञे तदुपगमादिव्यः	४२१६३
आनुषोष्य	४२१७३	५२७ सुतयेऽनुमतिर्वा	४२१७५३
४९३ समाहारात्	४२१७२८	५२८ सुतिमात्रमुपादानादिति चेन्ना-	
४९४ समुदाय इत्यत्र हेतुकेषु तदप्रसिः...	२२१५८	पूर्वकार्त्	४२१७७२
४९५ संपत्तेरिति जैमिनिस्तथाहि दर्शयति	१२१५९८	५२९ स्थानविधोपादानादिवत्	४२१८८५
४९६ संपत्ताभिर्भावः स्वैर वाग्दात्	४२१५५५	५३० स्थानादिभ्यपदेशाच्च	१२१५२८
४९७ संबन्धादेवमन्वत्रापि	४२१२६४	५३१ स्थित्यवधारणां च	१२१६२३
४९८ संबन्धाद्युपपत्तेः	२२१११२	५३२ स्थो हेतुकेषाम्	४२१७७५
४९९ संभूतिभ्रुवत्त्वपि चातः	४२१२६८	५३३ अरम्भित च	२२११३६
५०० संभोगप्रसिद्धिरिति चेन्न वेदोपवात्	१२१७७५	५३४ "	४२१७७५
५०१ सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्	१२१७१५	५३५ "	४२१७७५
५०२ सर्वथाद्युपपत्तेः	२२११९८	५३६ अर्थते च	४२१८८१
५०३ सर्वथापि त एवोभयलिङ्गात्	४२१७८८	५३७ अर्थतेपि च कोके	४२१७५५
५०४ सर्ववर्माणोपपत्तेः	२२११०२	५३८ अर्थमागमनुमानं स्वादिति	१२१५८८
५०५ सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोपनाद्यविशेषात्	४२११९३	५३९ स्मृतेः	१२१५९९
५०६ सर्वानुमतिश्च प्राणस्ये तद्दर्शनात्	४२१७८५	५४० "	४२१११६
५०७ सर्वोपेक्षा च यथादिश्रुतेरश्वत्	४२१७८०	५४१ स्मृत्यनवकामादोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्य-	
५०८ सर्वोपेक्षादान्यत्रेणे	४२१२४२	स्मृत्यनवकामादोषप्रसङ्गात्	२२१११
५०९ सर्वोपेक्षा च तद्दर्शनात्...	२२११९७	५४२ स्वाधैकस्य प्रज्ञाशब्दवत्	२२१३८
५१० सहकारित्वेन च	४२१७८८	५४३ स्वपक्षदोषाच्च	२२१३४१
५११ सहकार्यस्वरूपिभिः पक्षेण तृतीयं		५४४ "	२२११९६
तद्गतो विप्यादिवत्	४२१५०४	५४५ स्वशब्दोन्मानान्यां च	२२१६५
५१२ साक्षाद्योभयाज्ञानात्	४२१९७८	५४६ स्वात्मना चोत्तरयोः	२२१५८
५१३ साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः	१२१५९२	५४७ स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽ-	
५१४ सा च प्रसासनात्	१२१६४२	चिकाराच्च संबन्धश्च तत्रिचमः	४२१२०५
५१५ सामान्यापत्तिरुपपत्तेः	१२१५७	५४८ स्वाध्यायसंपत्त्योरन्यतरापेक्षमा-	
५१६ सामान्यात्	४२११८४	विच्छेदं हि	४२११९४
५१७ सामीप्यात् तद्व्यपदेशः	४२१११५	५४९ स्वाध्यायात्	१२१२३६
५१८ संपराये तर्तन्वाभावात्तथा शब्दे	४२१२८९	५५० स्वामिनः फलश्रुतेरिच्छाश्रेयः	४२१७९९
५१९ सुकृतकृते एवेति तु वादरिः	४२११४१		
५२० सुकृतकृतेऽपि वादादेव च	१२१५३०	ह	
५२१ सुकृतकृतेऽपि वादादेव च	१२१७७३	५५१ इत्यादवस्तु स्थितेऽतो वैवम्	२२११६५
५२२ सुकृतं तु तद्वैवात्	१२१८३८	५५२ ह्यतो दूषयन्तस्त्वदोषत्वात्तद्वैवा-	
५२३ सुकृतं प्रमाणतश्च तयोपपत्तेः	४२१७७५	च्छब्दः-सुसुपगामनवस्तुत्वम्	४२१२०१
५२४ सुकृतं हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदुः	४२१८८४	५५३ इत्यपेक्षया तु अनुपपत्तिकारणात्	१२१६९४
५२५ तेष हि सत्यादयः	४२१३३९	५५४ हेयत्वावचनाच्च	१२१२३४

ब्रह्मसूत्राणुभाष्ययोः प्रकाशरशेमतोकोपेतयोः

अनुक्रमणिका

विषयः	पृष्ठानि
[१] जिज्ञासाधिकरणम्	१-९२
१. प्रकाशरशेमतोः मंगलश्लोकाः	१-४
२. प्रकाशोपक्रमः	४-८
३. अथातो ब्रह्मजिज्ञासा (१-१-१) इति सूत्रम्	८
४. अणुभाष्योपक्रमः वेदान्तानां विचारः आरम्भणीयो न वेति	९
५. प्रकाशो-एतस्य व्याख्यानम्	९-१२
६. भाष्ये-नारम्भणीय इति पूर्वपक्षः	१२
७. प्रकाशो-प्रारीप्सितस्य वेदान्तविचाररूपशास्त्रस्य वैधत्वादिविषये भाट्टादिमतानां निरूपणं विमर्शश्च	१२-१९
८. भाष्ये-पूर्वपक्षव्याख्यानम्	१९-२२
९. भाष्ये-ब्रह्मज्ञानार्थं विचार आरम्भणीय इति केवलाद्वैतितमतेन समाधानप्रयासः	२२-२६
१०. भाष्ये-केवलाद्वैतितमस्य पूर्वपक्ष एव निरसनम्	२६-३७
११. भाष्ये-ब्रह्मनिरूपणे उपनिषत्सु विरुद्धवाक्यानां श्रवणात् तद्विरोध-निराकरणार्थं विचारस्यावश्यकोपपादनेन पूर्वपक्षसमाधानप्रयासः	३८
१२. भाष्ये-विरुद्धधर्माश्रये ब्रह्मणि विरुद्धवचनानां विरोधोपशमात्, उपनिषत्त्वपि बोधाभावे तपस एव उपदेशात्, वेदार्थज्ञाने व्याकरण-स्येव विचारशास्त्रस्य अंगत्वेन अश्रवणात् न आरम्भणीय इति पूर्वपक्षस्थापनम्	३८-४१

विषयः	पृष्ठानि
१३. भाष्ये—सन्देहवारणार्थं सूत्रानुसारेण विचारस्य आवश्यकतोपपादनेन सिद्धान्तोपक्रमः	४१-४४
१४. भाष्ये—सूत्रघटक—'अथ'पद व्याख्यानव्याजेन मंगलार्थकतायाः आनन्तर्यार्थकतायाः अर्थान्तरूपक्रमतायाः च निरसनेन अधिकारार्थकता मण्डनम्	४५-६०
१५. भाष्ये—'जिज्ञासा' पदव्याख्यानम्	६१-६२
१६. भाष्ये—'अतः' शब्दार्थं विचारप्रसंगेन अधिकारिस्वरूपनिरूपणं, प्रारिप्तस्य वेदान्तविचारस्य पूर्वकाण्डार्थजिज्ञासया तस्याश्च वेदान्तविचारेण न गतार्थत्वानुपयोगौ इति निरूपणम्	६३-७८
१७. भाष्ये—'ब्रह्मणः जिज्ञासा—ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यत्र न कर्मणि षष्ठी किन्तु शेषषष्ठी, तस्माद् तज्ज्ञानोपयोगि सर्वमेव विचार्यम्	७९-८२
१८. भाष्ये—वेदप्रामाण्यस्य प्रतितन्त्रसिद्धत्वात् न विचारावश्यकता	८३-८४
१९. भाष्ये—तस्माद् ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या इति सिद्धान्तनिष्कर्षः	८५
२०. प्रकाशे—शंकर-रामानुज-भास्करीय-भैक्षव-शैव-माध्वमतानां प्रस्तुतविषये विमर्शः	८६-९२

[२] जन्माद्यधिकरणम्

९३-१३८

१. भाष्ये—जिज्ञासितस्य ब्रह्मणो लक्षणप्रमाणाभ्यं निरूपणाय इदमधिकरणम् इति निरूपणम्	९३
२. जन्माद्यस्य घतः शास्त्रयोनित्वात् (१-१-२) इति सूत्रम्	९४
३. भाष्ये—ब्रह्म जगत्कर्तृ इति लक्षणं, वेदादिशास्त्रैकवैद्यत्वेन शास्त्रमेव प्रमाणमिति च लक्षणप्रमाणे न सम्भवतः इति पूर्वपक्षः	९५-९९
४. भाष्ये—वेदादिशास्त्रे जगतः उत्पत्तिस्थितिनाशानां कर्तृत्वेन निरूपणाद् ब्रह्मैव जगत्कर्तृ इति लक्षणप्रमाणे तस्य सम्भवत एव इति स्थापनम्	९९

विषयः	पृष्ठानि
५. भाष्ये—कार्यलक्षणस्य जगत्कर्तृत्वरूपस्य 'सत्यज्ञानानन्दं ब्रह्म' इति स्वरूपलक्षणेन साकं न विरोधः, नाप्येतस्मिन्निषेधे अध्यारोपापवादव्याप्यस्य युक्तत्वम् इति निरूपणम्	१००-१०३
६. भाष्ये—'जन्माद्यस्य' इत्यस्यांशस्य व्याख्या	१०३-११०
७. भाष्ये—'शास्त्रायोनित्वाद्' इत्यस्यांशस्य व्याख्या	११०
८. भाष्ये—रूपानामप्रपञ्चकर्तृत्वं योग विभागेन प्रतिज्ञाय समन्वयादि सूत्रेषु कैचित् तस्य हेतून् वर्णयन्ति इति तन्मतास्वीकारः	१११
९. प्रकाशे—शांकरमतालोचनप्रसंगेन भामतीकारमतालोचनं, 'शास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणमस्य' इति बहुव्रीहि समासमाश्रित्य व्याख्यां कुर्वतां मतस्य आलोचनं, विज्ञानभिसुमतालोचनञ्च	११२-११३
१०. भाष्ये—निरंकुशजगत्कर्तृत्वेन शास्त्रप्रतिपाद्यत्वाद् ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वशक्तिमद् इति स्थापनम्	११३
११. भाष्ये—ब्रह्मणः जगत्कर्तृत्वे सर्वोपि वेदः मानं भवति न वेति, वेदस्य पूर्वोत्तरकाण्डयोरन्यान्योपकारिता वर्तते न वेति शंकासमाधाने	११४-१२०
१२. भाष्ये—'जन्मादिसूत्रं लक्षणत्वाद् अनुमानम्' इति केषाञ्चिन्मतस्य उल्लेखः	१२१
१३. प्रकाशे—ईश्वरास्तित्वसाधकानुमानानां प्रामाण्यविमर्शप्रसंगेन भास्कर-रामानुजादि-मतानां विमर्शः	१२१-१३४
१४. भाष्ये—ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वाय श्रुत्यनुसार्यनुमानं ब्रह्मणि प्रमाणम् इत्यपरेषां मतनिरूपणं तद्दूषणञ्च	१३४
१५. प्रकाशे—'जन्मादिसूत्रं लक्षणत्वादानुमानम्' इति मतस्य, 'श्रुत्यनुत्तरकं श्रुत्यनुसार्यनुमानमिदम्' इति मतस्य च भाष्यकारेण एकहेतुया दूषणमुच्यते इति व्याख्यानम्	१३४-१३७
१६. भाष्ये—वेदैकवेद्ये ब्रह्मणि वेदस्य अनधिगतार्थगन्तृत्वात्प्रामाण्यं, चिकीर्षितस्य वेदान्तविचारस्य वेदश्रवणांगमूतमननिदिध्यासनरूपत्वात् सन्देहवारकत्वाच्चापि वेदांगत्वमेव इति निरूपेण अधिकरणोपसंहारः	१३७-१३८

विषयः

पृष्ठानि

[३] समन्वयाधिकरणम्

१३९-२०६

१. भाष्ये-ब्रह्मणः जगत्कारणत्वं किं जगतः समवायित्वरूपं, निमित्तस्वरूपं, कर्तृत्वरूपं चेति प्रस्तुतस्य अधिकरणस्य संशयपूर्वपक्षनिरूपणं तत्र निमित्तस्वरूपमेव तदिति निःसन्दिग्धं, कर्तृत्वसमवायित्वे तु सन्दिग्धे इति पूर्वपक्षः १३९
२. तत्तु समन्वयात् (१-१-३) इति सूत्रम् १४०
३. भाष्ये-अस्तिभातिप्रियत्वेन समन्वयात् (सम्यग् अनुवृत्तत्वात्) ब्रह्मैव नामरूपात्मकस्य प्राकृतस्य जगतः उपादानं कारणं, त्रिगुणात्मिका प्रकृतिरपि सच्चिदानन्दस्य ब्रह्मणः सदंशरूपा एव, जडजीवान्तर्यामिष्वेकैकाशप्राकट्याद् दृश्यमानं नानात्वं तु ऐच्छिकमेव 'स आत्मानं स्वयमकुरुत' इति श्रुत्या, तस्माद् ब्रह्मणः समवायित्वं कर्तृत्वं निमित्तत्वञ्चेति सिद्धान्तस्थापनम् १४०-१५२
४. प्रकाशे-ब्रह्मणः जगत्कारणत्वस्वरूपविचारप्रसंगेन विज्ञानभिक्षुमतविमर्शः, भट्टभास्कराचार्याणामभिमतद्वैताद्वैतनिरूपणं तत्र शांकरभाष्यभामत्यां वाचस्पत्युक्तानां दूषणानां निरसनं, रामानुजाचार्याणां च विशिष्टाद्वैतवादस्यापि विमर्शः १५३-१६६
५. भाष्ये-'शास्त्रयोनित्वाद्' इति सूत्रे उत्थितस्य पूर्वपक्षस्य समाधानार्थं 'तत्तुसमन्वयाद्' इति सूत्रस्य प्रवृत्तिरिति सूत्रव्याख्यायाः निरसनम् १६६
६. प्रकाशे-अत्र समन्वयस्वरूपविचारे रामानुजाचार्यादीनां व्याख्यानानां विमर्शः १६७-१७३
७. भाष्ये-स्वपूर्वोत्तरकाण्डार्थरूपयोः कर्मब्रह्मणोः वेदस्य प्रामाण्यं सिद्धार्थत्वेनैव, उपाख्यानानामपि प्रामाण्यमेतस्मादेव हेतोः, परस्परोपकारकत्वं च तस्मात्पूर्वोत्तरकाण्डयोः, क्रियातो ज्ञानतश्च स्वातन्त्र्येणापि पुरुषार्थसिद्धिः संभवतीति ज्ञापनाय भिन्नतया तत्तद्विचारशास्त्रयोः प्रवृत्तिः नतु पूर्वोत्तरकाण्डार्थयोः परस्पर सर्वथा निरपेक्षत्व प्रतिपादनार्थं १७४-१९०

विषयः

पृष्ठानि

८. भाष्ये-'तत्तु समन्वयाद्' इति सूत्रस्य ब्रह्मणि सर्ववेदान्तवचनानां समन्वय इति व्याख्यानं न समञ्जसं तस्येदानिमसिद्धत्वेन हेतुतयोपन्यासस्यागच्छत्वात्, तस्मात् समवायिकारणत्वमेव अनेन सूत्रेण ब्रह्मणः सिद्धयतीति प्रतिपादनम् १९०-१९५
९. भाष्ये-ब्रह्मणः समवायिकारणत्वे केवलाद्वैतिनां विप्रतिपत्तयः तत्समाधानञ्च १९५-२०५
१०. प्रकाशे-समन्वयाधिकरण-भाष्यप्रकाशस्य उपसंहारः २०६

[४] ईश्वर्याधिकरणम्

२०७-२६०

१. भाष्ये-एवं ब्रह्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय जन्मादिसूत्रद्वयेन वेदप्रमाणकं जगतश्च कर्तुं समवाय्यपि तदेवेति सच्चिदानन्दरूपस्य जिज्ञास्यस्य ब्रह्मणः संदंशविचारेण कारणत्वनिरूपणानन्तरं चिकीर्षिते ब्रह्मविचारे प्रथमं स्वरूपनिर्णयः, तदनु भतान्तरनिरासः, तदनु साधनविचारः, फलविचारश्च इति अवशिष्टग्रन्थभागस्य संगतिप्रदर्शनम् तत्र प्रथमाध्यायस्य चतुर्ष्वपि अध्यायेषु ब्रह्मणः स्वरूपनिरूपकानि श्रुतिवचनानि कार्यान्तर्याम्युपास्यप्रकीर्णकभेदेन चतुर्विधानि इति विचार्यन्ते इति संगतिप्रदर्शनेन उपक्रमः २०७-२१६
२. भाष्ये-प्रस्तुताधिकरणे संशयपूर्वपक्षयोः उपास्थापनम् २१६-२१९
३. ईश्वर्याधिकरणम् (१-१-४) इति सूत्रम् २१९
४. भाष्ये-'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति श्रुत्या सर्वव्यवहारतीतत्वाद् ब्रह्मणः चिदंशविचारेण कारणत्ववर्णनं न युक्तम् इति पूर्वपक्षस्य 'सदेव सौम्य इदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं... तदैवात् बहुस्यां प्रजायेय' इत्येवमादिषु सृष्टिवाक्येषु एकस्यैवाद्वितीयस्य ब्रह्मणः बहु भवनसंकल्पः श्रूयते इति श्रुति सिद्धाद् ऐच्छिकाद् द्वैताद् ब्रह्मण्यपि व्यवहारः सम्भवतीति न सर्वथा अवाच्यता अव्यवहार्यता वा इति समाधानम्, ततश्च ईक्षणकर्तृत्वाद् ब्रह्मणः सृष्ट्यादिप्रतिपादकानि श्रुतिवचनानि ब्रह्मप्रतिपादकान्येवेति साधनम् २२०-२३०

विषयः

पृष्ठानि

५. भाष्ये—कर्तृत्ववद् अकर्तृत्वमपि ब्रह्मणः श्रूयते तत्र द्वेषा निर्णयः सम्भवति विरुद्धसंबंधमाश्रयत्वेन अन्यतरबाधेन वा, कर्तृत्वादेः लोकसिद्धत्वेन तद्बोधकवचनानां गौणार्थकल्पनया मुख्यार्थबाधः कर्तव्य इति पूर्वपक्षः २३०	२३०
६. गौणरक्षेत्प्रकारात् (१११५) इति सूत्रम् भाष्ये—ईक्षत्यादिगुण-युक्तः परमात्मा गौणः (प्रकृतिसम्बन्धगुणवान्) इति वक्तुं न शक्यते. 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीद्...स ऐक्यत' इति श्रुती आत्मशब्दस्य ब्रह्मवाचकत्वात्, न अन्यतरबाधो योग्य इति उत्तरपक्षः २३१-२३२	२३१-२३२
७. 'ममात्मा यज्ञदत्त' इतिवद् आत्मशब्दोपि गौणः इति शंकासमाधानार्थं 'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् (१११६) इति सूत्रं तद्भाष्यं च .. २३३	२३३
८. हेयत्वावचनाच्च, स्वाप्ययात्, गतिसामान्यात्, श्रुतत्वाच्च (१११७-१०) इति पूर्वोक्तोपोद्बलकानि हेतुरूपाणि सूत्राणि तद्भाष्या-नञ्च २३४-२४३	२३४-२४३
९. प्रकाशे—अत्र एकदेशिनां मतस्य निरूपणं तद्विमर्शश्च .. २४४-२४६	२४४-२४६
१०. प्रकाशे—एतदधिकरणे भास्कराचार्यं—रामानुजाचार्यं—शैव-मठवाचार्यं विज्ञानभिक्षुकृतानां व्याख्यानानां विमर्शः २४७-२६०	२४७-२६०
११. भाष्ये—एवं चिद्रूपस्य कारणतानिरूपणेन वेदान्तानां ब्रह्मपरत्वं निरूपितम् इति ईक्षत्याधिरणोपसंहारः .. २६०	२६०
[५] आनन्दमयाधिकरणम् २६०-३३५	२६०-३३५
१. भाष्ये—सच्चिदानन्दस्य ब्रह्मणः आनन्दांशविचारेण कारणत्वोपपादनेन तद्वाक्यानामपि ब्रह्मपरत्वम् आनन्दमयाद्यष्टाभिः सूत्रैः उपपद्यते इति उपक्रमः २६०	२६०
२. भाष्ये—अत्र विषयसंशयपूर्वपक्षाणां निरूपणम् २६१-२६३	२६१-२६३
३. आनन्दमयोभ्यासात् (१११११) इति सूत्रम् .. २६३	२६३

विषयः

पृष्ठानि

४. श्रीमन्महाप्रभूणां प्रथमं वर्णकम् २६३-२६७	२६३-२६७
५. श्रीमत्प्रभुचरणानां द्वितीयं वर्णकम् २६८-३०२	२६८-३०२
६. भाष्ये—आनन्दमयस्य ब्रह्मता न शक्यते वक्तुं मयटो विकारार्थकत्वात् इति शंकायाः समाधानार्थं विकारशब्दात्तेति चेन्न प्राचुर्यात् (११११२) इति सूत्रं तद्भाष्याख्यानं च ३०३-३०९	३०३-३०९
७. भाष्ये—एवं सूत्रद्वयेन शब्दबलविचारेण मयटो विकारार्थकत्वं निरस्य अर्थबलविचारेणापि निराकरणार्थं तद्वेतुव्यपदेशाच्च (११११३) इति सूत्रं तद्भाष्याख्यानं च ३१०	३१०
८. भाष्ये—अन्नमयादिवद् उपासनापरत्वेनापि श्रुत्युपपत्तेः आनन्दमयत्व-बोधकवचनस्यापि न ब्रह्मपरत्वम् इति शंकासमाधानार्थम् मान्त्रवर्णिकमेव च गम्यते (११११४) इति सूत्रं तद्भाष्याख्यानं च .. ३११-३१९	३११-३१९
९. प्रकाशे—अत्र श्रुत्युक्तानां पञ्चकोशानां स्वरूपनिरूपणम् ३१९-३३२	३१९-३३२
१०. भाष्ये—जडजीवयोः आनन्दमयत्वमुपपद्यते न वेति जिज्ञासायां निषेधमुखेन नेतरोनुपपत्तेः, भेदव्यपदेशाच्च, कामाच्च नानुमानापेक्षा, अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति (११११५-१८) इति चतुःश्रुत्या इदमेवाधिकरणं पुनः विचार्यते ३१९-३२२	३१९-३२२
११. भाष्ये—श्रुतिसूत्रयोः विरोधमुद्भाव्य असौत्रं व्याख्यानं कुर्वतां शांकराणां मतखण्डनम् ३२६-३३५	३२६-३३५
१२. प्रकाशे—विकारार्थवादिनां शंकराचार्याणां भाष्ये 'प्रायपाठपरि-त्यागो, मुख्यतितयलंघनं, पूर्वस्मिन्सूत्रे पक्षे प्रायपाठस्य धाघनम्' इति एतादृशाभिः अतिशयिलाभिः युक्तिभिः दृढान् बोधान् समादधानो वाचस्यतिरपि व्याख्याव्याजेन दूषणं ब्रूते इति निरूपणेन उपसंहारः ३३५-३३७	३३५-३३७

[६] अन्तस्तद्वर्माधिकरणम्

३३७-३६०

१. अन्तस्तद्वर्मापदेशात् (११११९) इति सूत्रम् ३३७	३३७
२. भाष्ये—अत्र विषयसंशयसंगतिपूर्वपक्षाणां निरूपणम् ३३७-३४३	३३७-३४३

विषयः	पृष्ठानि
३. भाष्ये—'य एषोन्तरादित्ये हिरण्यमयः पुरुषः' इति श्रुतौ 'हिरण्यमय' पदं सूर्यमण्डलस्थितस्य आनन्दमयस्य परमात्मनो वाचकम् इति सिद्धान्तस्थापनम् ३४३-३४८	३४३-३४८
४. भेदव्यपदेशाच्चान्यः (१।४।२०) इति सूत्रं तद्व्याख्यानं च ३४९-३५३	३४९-३५३
५. प्रकाशे—अत्र माध्व-शैव-भिक्षुकृत-भाष्याणां विमर्शः ३५३-३६०	३५३-३६०

[७] तल्लिगाधिकरणम् ३६०-३६५

१. आकाशस्तल्लिगात् (१।१।२१) इति सूत्रम् ३६०	३६०
२. भाष्ये—अत्र विषय-संगति-संशयपूर्वपक्षाः ३६०-३६१	३६०-३६१
३. 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते....' इति वचने आकाशपदं ब्रह्मवाचकम् इति सिद्धान्तनिरूपणम् ३६२-३६५	३६२-३६५
४. प्रकाशे—अत्र भास्कराचार्य-शंकराचार्य-विज्ञान भिक्षुकृतव्याख्यानां विमर्शः ३६६-३६९	३६६-३६९

[८] अतिदेशाधिकरणम् ३६९-३७२

१. अतएव प्राणः (१।१।२२) इति सूत्रम् ३६९	३६९
२. भाष्ये—अत्र पूर्वपक्षसिद्धान्तौ पूर्ववदेवेति अतिदेशः, यथा 'यदा वै पुरुषः स्वपिति प्राणं तर्हि वागप्येति' इत्यत्र प्राणविद्याया न ब्रह्मपरत्वं तथा '.....कतमा सा देवतेति प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति.....' इत्यत्रापि न ब्रह्मपरत्वमिति प्राप्ते अतिदिशति, यत्रैव प्रकरणे ब्रह्मपरत्वे कल्प्यमाने न किञ्चिद् बाधकं तत्रैव ब्रह्मपरत्वं कल्पनीयम् अतएव तल्लिगात् प्राणशब्दवाच्य ब्रह्मैवेति अतिदेशः ३६९-३७१	३६९-३७१
३. प्रकाशे—अत्र अन्येषां भाष्याणां विमर्शः ३७२	३७२

विषयः पृष्ठानि

[९] ज्योतिश्चरणाधिकरणम् ३७३-३९२

१. ज्योतिश्चरणाभिधानात् (१।१।२३) इति सूत्रं भाष्ये अत्र विषयसंशय निरूपणम् ३७४-३८४	३७४-३८४
२. पूर्वोत्तरपक्षौ 'अथ यदतः परो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु ...' इति वचने ज्योतिःशब्देन ब्रह्मैव उच्यते इति साधनम् ३७४-३८४	३७४-३८४
३. छन्दोभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोर्पणनिगदात् तस्याहि दर्शनम् (१।१।२४) इति सूत्रं तद्व्याख्यानं च ३८५-३८६	३८५-३८६
४. मूतादिव्यपदेशोपपत्तेरेचं वम् (१।१।२५) इति सूत्रं तद्व्याख्यानं च .. ३८६	३८६
५. उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् (१।१।२६) इति सूत्रं तद्व्याख्यानं च ३८७-३९१	३८७-३९१
६. प्रकाशे—अत्र माध्वमत विमर्शः ३९२	३९२

[१०] अनुगमाधिकरणम् ३९२-४१३

१. प्राणस्तयानुगमात् (१।१।२७) इति सूत्रम् ३९२	३९२
२. उपनिषदि इन्द्रप्रतर्दनसंवादो अत्र विषयः, तत्र संशयः उपास्यत्वेन वर्णितः प्राणः किम् आसन्नो ब्रह्म वा इति 'अतएव प्राण' इत्यत्र प्राणशब्दे संशयः अत्र अर्थेपि, तत्र साधकासाधारणधर्मस्याभावाद् बाधकानां विद्यमानत्वात् न ब्रह्मत्वम् इति पूर्वपक्षः, सिद्धान्तस्तु चतुर्भिः सूत्रैः प्रतिपाद्यते, तत्र प्रथमं साधकधर्मम् आह एकेन, त्रिभिः बाधकनिराकरणम् इति पूर्वोत्तरपक्षौ ३९२-३९४	३९२-३९४
३. न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धमूमा ह्यस्मिन् (१।१।२८) इति सूत्रं तद्व्याख्यानं च ३९४-३९६	३९४-३९६
४. शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् (१।१।२९) इति सूत्रं तद्व्याख्यानं च ३९६-४०३	३९६-४०३

विषयः	पृष्ठानि
५. जीवमुख्यप्राणलिंगात्रेति चेत्रोपासार्त्रेविध्यादाभितत्वादिह तद्योगात् (१।१।३०) इति सूत्रं तद्व्याख्यानं च	४०४-४०९
६. प्रकाशो-अत्र रामानुजाचार्यस्तु प्राचीनवृत्तिकारानुसारेण उपासार्त्र- विध्यपदम् एकवाक्यत्वे हेतुत्वेन व्याख्यातं तच्च वाचस्पतिमिश्रैर्द्विधितं, तदुभयोः समालोचनम्	४१०-४१३

॥ इति ब्रह्मसूत्राणुभाष्ययोः प्रकाशरश्मिटीकोपेतयोः प्रथमाध्याय-
प्रथमपादस्य अनुक्रमणिका ॥

कारिकाः	अ. पा. पृ.	कारिकाः	अ. पा. पृ.
साङ्गे ज्येष्ठस्य हेतोः वेदः सव्याज बोधकाः ॥	१।१।१९	महाधर्मात्र वे केचित्तिदा बुक्त्वापि साधिताः ॥	१।३।०६१
निःसंश्लेषं तद्व्याजं कोकयन्त्रोत्तेः स्फुटाः ॥	१।१।१९	निर्णयकास्तोष्यन्ते चत्वारोऽपि निरूपिताः ॥	१।३।०६१
अहोकि शिको वेदाद्यो न युक्त्या प्रतिपद्यते ॥	१।१।२०	संश्लेषानां पदाधानां पौर्वापर्येण निर्णयः ॥	१।३।०६२
तपसा वेदयुक्त्या तु प्रसादात्परमात्मनः ॥	१।१।२०	न तु संश्लेषवाच्येन सर्वस्याङ्गुलीयत्वात् ॥	१।३।०६२
संदेहकारकं सात्वं बुद्धिदोषाद्युक्तम् ॥	१।१।२२	जीवप्रकरणं हेतुमुक्त्युपायोऽपि रूप्यते ॥	१।३।०६३
निरुद्धसात्त्विकसंदेहाद्वैशाख्यमिच्छन् ॥	१।१।२२	योग्यं शरीरमाकाशं गण्ठेति हरेः पदम् ॥	१।३।०६३
तथाप्युपासारेण कर्तव्यः सर्वनिर्णयः ॥	१।१।२२	अनेकस्वित्वादानां वाच्यं ब्रह्मैव गायत्रम् ॥	१।३।०६३
अन्वया प्रकृतौ स्वाध्यायान्तरात् तदादिभिः ॥	१।१।२२	वाकित्येनैव प्रयुक्ते सम्प्रदायाद्विष्णुत्वात् ॥	१।३।०६३
असंश्लेषेति वेदाद्यैः लक्षणात्मनश्चक्षते ॥	१।१।२३	आश्रित्युक्तत्वात् सर्वसमवायानुश्रुतितः ॥	२।१।३
मीमांसात्मिकैः प्राज्ञे बुद्धिस्तु कृतो ह्यत्र ॥	१।१।२३	न तद्विदोषाद्युक्तं वैदिकं साङ्गत्वं अत्रेव ॥	२।१।३
संदेहकारकं सात्वं वेदप्रमाणवशादिनाम् ॥	१।१।२५	वेदोपासार्त्रेण विपरितं तु चक्षते ॥	२।२।१०५
किंचासत्त्विकान्तरात् संश्लेषेते परस्थिते ॥	१।१।२५	तादृशं वा स्वतन्त्रं वेदुर्भवं मूलतो नृपा ॥	२।२।१०५
अल्पस्थितितान्तरात् अतः कर्तुं वेदुर्ह्य ॥	१।१।२५	अतिले जननं नित्ये परिच्छिन्ने समागमः ॥	२।३।३
वेदेन बोधितं तद्वि ज्ञान्वाया भवितुं क्षमम् ॥	१।१।२५	नित्यापरिच्छिन्नतया प्राकृत्यं चेति सा त्रिधा ॥	२।३।३
नहि बुद्धिरोचोऽपि कस्योपि न विरुध्यते ॥	१।१।२५	व्यापकत्वमुक्तित्वात् अगवत्त्वेन युज्यते ॥	२।३।५८
सर्वमानसमर्थत्वात् विन्त्येव सर्वम् नृह्य ॥	१।१।२५	आनन्दसात्मिक्योऽपि तु तत्र ब्रह्माण्डकोटयः ॥	२।३।५८
साधनं च कर्तुं वैव सर्वसाह बुद्धिः स्फुटम् ॥	१।१।२७	प्रतीचेरन्परिच्छेदो व्यापकत्वं च तस्य तत् ॥	२।३।५८
न प्रवर्तयितुं सक्तं तथा चेन्नरुचो न हि ॥	१।१।२७	विस्तुल्लिङ्गा इवात्रेहि तद्व्यतीचा विनिर्गताः ॥	२।३।१३१
प्रवर्तयितुं सर्वत्र सर्वात्मा हरिरेव हि ॥	१।१।२७	सर्वतःशक्तिवादान्तात्सर्वतोऽपि निरुक्तम् ॥	२।३।१३१
यत्र एव हि पूर्वत्र योग्यते स्वर्गसिद्धये ॥	१।१।२७	निरिन्द्रियात्त्वरूपेण तादृशादिति निश्चयः ॥	२।३।१३१
सिद्ध एव हि सर्वत्र वेदाद्यो वेदवादिनाम् ॥	१।१।२७	सदस्येन अटाः पूर्वं विदुंशेतेऽपि ॥	२।३।१३१
मन्त्रानां कर्मणां चैव पूर्ववद्व्यवसायान् ॥	१।१।२७	अन्यधर्मतिरोभावात्पुण्येच्छातोऽस्यतः ॥	२।३।१३१
बुद्धिस्तु सिद्धयुक्तत्वं वेदः स्वार्थे च संमतः ॥	१।१।२७	सर्वोपनिषदां सिद्धोऽपि विपरितोऽपि सम्भवः ॥	३।१।१
ज्ञापनार्थं प्रमाणाति संश्लेषविनिर्गतः ॥	१।१।२७	कथं बोधकत्वा तासां सा तृतीये विचार्यते ॥	३।१।१
सर्वथाऽपि पदेष्वन्वये अत्रार्थात् बुद्धिः प्रमा ॥	१।१।२७	एकं वाक्यं प्रकरणं साक्षाः सर्वाः सदैव वा ॥	३।१।२
पूर्वविचारचानुपूर्ववन्निः संश्लेषवाच्ये ॥	१।१।२७	एकां विद्यामेकां वा अन्यव्यतीति विन्त्यते ॥	३।१।२
आनन्दमदत्तानन्दसंदोहात्वापचार्यते ॥	१।१।२७	ससाधने हि युक्त्ये अन्यथा कर्मणा बुद्धौ ॥	३।१।३
संदेहकारकं सात्वं पदस्यत्वात् तु निर्णयः ॥	१।१।२७	केवले वा न्यायोपे प्रथमं तद्विचार्यते ॥	३।१।३
जीवाऽऽत्सर्वसंदेह इत्योर्वाच्येपि न क्षतिः ॥	१।१।२७	विचारपूर्वकं तस्य ब्रह्मवादादिबोध्यत्वात् ॥	३।१।३
वाचकानां बहिःश्रवणसाधकानामभावात् ॥	१।३।५०	अधिकारे ततः सिद्धा विचारवदतिस्ततः ॥	३।१।३
आचार्यमीमांसेरिति पादोऽपि नोपपद्यते ॥	१।३।५०	अन्तरङ्गविचारेण गुण्यानामुपसंश्लेषः ॥	३।१।३
वशिष्टादिवाच्ये च वाच्यार्थः सर्ववाच्यः ॥	१।३।५०	वहिरङ्गविचारेण कर्मणामिति सा द्विधा ॥	३।१।३
अर्थात्परमादिवादिनि पूर्व विचार्यते ॥	१।३।५०	फलतः साधनेऽन्यत्र प्रत्येयात् प्रमाणतः ॥	३।१।३
फलवद्वाच्येण विद्विदाः अधिकारिणः ॥	१।३।५०	विचारेणाहृद्यं तद्व्यवसायः साचक्षितुं क्षमः ॥	३।१।३
वाच्यान्तरं च तत्रत्वं विन्त्यते प्रकृत्याचक्षि ॥	१।३।५०		

श्रीमद्विद्वलेष्वरकारिकाः ।

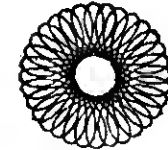
कारिकाः	अ. पा. पृ.	कारिकाः	अ. पा. पृ.
भक्तिमार्गप्रचारैकहृदयो वादरायणः ॥	३।१।५०२	अग्निहोत्रादिकं कार्यं संन्यासः फल एव हि ॥	१।१।७
मानं भागवतं तत्र तेनैवं श्रेयमुत्तमैः ॥	३।१।५०२	षोडा चेत्युक्तो व्यक्तः प्रारब्धान्ते फलं भवेत् ॥	१।१।७
समन्वयेनाविरोधात् साधनैर्ब्रह्मविधिदि ॥	१।१।१	एतावान्प्रथमे पादे निर्णयः सूत्रकृत्तः ॥	१।१।७
तस्याग्निमन्ववस्था वा सा च तुर्ये विविच्यते ॥	१।१।१	द्वितीये त्रिदशमानस्य सर्वेन्द्रियलयः पुरा ॥	१।१।७
जीवतो त्रिदशमानस्य गच्छतः सफलस्य च ॥	१।१।१	लिङ्गस्यापि शरीरस्थना ऋतोत्क्रान्तिरिहोच्यते ॥	१।१।७
अतो ब्रह्मविदा कार्यभेदमेव न चान्यथा ॥	१।१।२	दिनायनकृतो नास्य विशेषोक्तिरिति चोच्यते ॥	१।१।७
तामसीं बुद्धिमाश्रित्य ये शूद्राः सर्वविद्वजम् ॥	१।१।२	तृतीये क्रमयुक्तौ यो मार्गो यस्य श्रुतेर्मतः ॥	१।१।७
वदन्ति शास्त्रनाशाश्च सन्निः शोच्याश्च ये तु तान् ॥	१।१।२	तन्निर्दोरोन्पन्नाणां समाप्यत्वं च वर्ण्यते ॥	१।१।७
ब्रह्मविद्गमनाभावः शतांशेनापि श्रेष्ठवेत् ॥	१।१।३	गन्तव्यं च परं ब्रह्म कार्यो लोक्तस्तु नेति च ॥	१।१।७
शास्त्रमेतद्गुणा जातं सर्वस्युचिनामतः ॥	१।१।३	तुरीये पुष्टिमर्षादाभेदेन फलमुच्यते ॥	१।१।७
स्वाभ्ययस्य च संपत्तेरत्र ब्रह्मगतिश्रुती ॥	१।१।३	प्रभोरेव फलत्वं तन्निर्दोषत्वं च वर्ण्यते ॥	१।१।७
अन्यथा न श्रुतेरर्थः स्वाभेदातो वदेच्च किम् ॥	१।१।३	लीलानित्यत्वतः पूर्णगुणत्वं च ततोऽप्यलम् ॥	१।१।७
तामसीं बुद्धिमाश्रित्य या मुक्तिः कैश्चिदुच्यते ॥	१।१।३	जानीत परमं तत्त्वं यशोदोऽसंगलाहितम् ॥	१।१।२३
सा सुपुंसि श्रुतेरर्थो मोहादेवान्यथामतिः ॥	१।१।३	तदन्यदिति ये प्राहुरासुरांस्तानहो बुधाः ॥	१।१।२३
अतो ब्रह्मविदः कार्यं जीवतः पूर्वमुच्यते ॥	१।१।५	नानामतध्वान्तविनाशानक्षमो ॥	१।१।२३
आवृत्तिः श्रवणादीनां नवकृत्वोपदेशतः ॥	१।१।५	वेदान्तहृत्पद्मविकारस्ये पट्टः ॥	१।१।२३
दर्शनार्थत्वतो लिङ्गादपि क्रीडवधातवत् ॥	१।१।५	आविष्कृतोयं भुवि भाष्यभारुक्तो ॥	१।१।२३
आवृत्तौ श्रवणादीनामात्मैति स्याद् एवा मतिः ॥	१।१।५	मुधा बुधा धावत नाम्यवर्त्मसु ॥	१।१।२३
आपाततो दर्शनं सद्भेदेनापि बोध्यते ॥	१।१।५	पुरन्दरमदोऽक्षवप्रचुरवृष्टिसंपीडित ॥	१।१।२३
प्रतीकोपासनादीनां नैवंभावो हि जायते ॥	१।१।५	स्वकीयवरगोकुलावनपरायणो लीलया ॥	१।१।२३
जालन्वनार्थं तत्रापि ब्रह्मदृष्टिर्विचिन्त्यते ॥	१।१।६	स्मितामृतसुबुद्धिभिः परिपुपोष तान् यो गिरिं ॥	१।१।२३
आदित्यादिब्रह्मदृष्टेस्त्वं न स्वतन्त्रता ॥	१।१।६	दधार च स एव हि श्रुतिशिरःसु संराजते ॥	१।१।२३
मनने च निदिष्यासे विशेषोच्यतेऽनुना ॥	१।१।६	श्रीकृष्णकृपयैवायं सिद्धान्तो इति भासते ॥	१।१।२३
आसनादिष्वङ्गैस्तु चित्तं औत्तार्य एव हि ॥	१।१।६	तेनाधिकं वरीवर्ति न वक्तव्यं हरेर्नृणाम् ॥	१।१।२३
धारयेदायतेरेवं ततः सिद्धिमवाप्स्यति ॥	१।१।७	भाष्यपुष्पाङ्गलिः श्रीमदाचार्यचरणाम्बुजे ॥	१।१।२३
अर्मांश्चैभयं तस्य नास्तीवेति चित्तश्रयः ॥	१।१।७	निवेदितस्तेन तुष्टा भवन्तु मयि ते सदा ॥	१।१।२३

॥ आचार्याणां कारिकाः समाप्ताः ॥



श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्

प्रथमो भागः



श्रीकृष्णाय नमः ।
श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ।
श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीमद्रहस्यसूत्राणुभाष्यम् ।

भाष्यप्रकाश-रश्मि-परिवृंहितम् ।

अथ प्रथमोऽध्यायः ।

प्रथमः पादः

भाष्यप्रकाशः ।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

संगीतं श्रुतिमूर्धमिस्तदविदां शामाद्यतीतं विदां

रश्मिः ।

श्रीकृष्णाय नमः । साकारब्रह्मवाद्यस्थापकेभ्यः श्रीमदाचार्येभ्यो नमः ।

उद्धर्तुं ज्ञानरहितान्, मादृशानपराधिनः ।

कृतश्रम इवाभासि यतस्त्वं विद्वलेश्वरः ॥ १ ॥

जयति जगति वाणी वेदवेदान्तयुक्ता विविधमहिमशुद्धद्वैतविद्याकृतेऽलम् ।

प्रभवति खलु वादे मायिनीतीह यस्य जयति विजितमायः श्रीमदाचार्यवर्यः ॥ २ ॥

पितृचरणोदितसरणौ साकारब्रह्मस्थापिकायां तु ।

आदिमूर्तिभजनेषु प्रतिनिधीन् विद्वलान् नमामि ॥ ३ ॥

गुणत्रयातीतगुणाढ्यगेहे कृष्णाश्रयाद्याः सुरवर्यवृक्षाः ।

तदन्तरा मूलसुखार्थसारं शाखाद्विपद् शब्देसहस्रपर्णम् ॥ ४ ॥

मुक्तालिवृन्दैरभितः स्तुतं च जुष्टं रसाकाङ्क्षिशुकादिभक्तैः ।

दिव्यं पुराणं च सहस्रनामकल्पद्रुमं नौमि रसार्थकामी ॥ ५ ॥

श्रीवल्लभाचार्यपदाब्जयुग्मसंशोधितशेषविशेषबुद्धिः ।

वेदान्तिदृश्यविकीर्णनेऽलं भाष्यप्रकाशे वितनोमि रश्मिम् ॥ ६ ॥

विविधदुरितपाशं व्याहृतीकृत्य नस्त्वं प्रविश हृदयकञ्जं किञ्च योगं विधेहि ।

कथमिह खलु रश्मिर्मान्यतां पण्डितानां सदसि जलजपाणे लप्यते त्वन्यथायम् ॥ ७ ॥

भाष्यान्धिः कातिगम्भीरः कदाहं मन्दमतिस्तथा ।

तथापि यामि तत्पारं कृपानौकासमाश्रितः ॥ ८ ॥

यदि भाष्यप्रकाशीयं रहस्यं वेत्तुमिच्छथ ।

तदा पश्यत विद्वांसो रश्मि स्पष्टचमत्कृतिम् ॥ ९ ॥

अतिगूढार्थं भाष्यं विवरीतुं शास्त्रार्थत्वेनानिर्वचनीयं वस्तु निर्दिशन्ति संगीतमित्यादिना ।
संगीतमिति । शिवादयोपि गीता इति तद्व्युदसितुं समिति । तथा च शेषितया गीतमित्यर्थः ।
श्रुतिमूर्धमिरिति । वेदान्तैरित्यर्थः । 'ऋचां मूर्धानं यजुषामुत्तमाङ्गं साम्नां शिरोऽयवर्णां मुण्ड-

१. नामरूपभोर्भजने, यथा नामभजने श्रीमदाचार्यस्थाः स्वरूपभजने श्रीविद्वलेश्वराः । २. पथेति पाठः । ३. 'अकं वनं ते महिमाऽनुवर्णने' इति श्रीभागवतचतुर्थस्कन्धेऽलंयोगे चतुर्थांशे सप्तम्यापि दृश्यते ।

भाष्यप्रकाशः ।

दूरं साधनसंपदां निरूपयित्वाः सुखापं वृतैः ।
 रासोल्लासवशंवदत्रजवधूवृन्दे वसन्तं सदा
 दासकेशहरं मुदा परतरं श्रीकृष्णदेवं श्रये ॥ १ ॥
 मन्दान् वीक्ष्य जनान् विभुः श्रुतिगणं व्यसाऽथ कारुण्यतः
 स्त्रीशूद्रादिहिताय भारतमुखेनोक्त्वा तदर्थं पुनः ।
 बुद्धिं शोधयितुं चकार सुविदां यो ब्रह्मघ्नरात्मकं

रश्मिः ।

मुण्डम्' इति कौषीतिकिश्रुतेः । एतेन मुख्यं प्रमाणं प्रदर्शितम् । समन्वयरूपः प्रथमाध्यम्यार्थश्च दर्शितः । तद्विदां वागाद्यतीतमिति । वेदान्ताविदां वागाद्यतीतं, न तु सर्वथेत्यर्थः । 'यतो वाचो निर्वर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इत्युक्त्वा 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' इति श्रुतेः । 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति श्रुतेः । 'विद्वकाष्टाय मुहुः कुयोगिनाम्' इति स्मृतेश्च । तेन मतान्तरनिराकरणरूपो द्वितीयाध्यायार्थ उक्तः । विद्वामित्यादि साधनानां संपत्तयः तेषां विदां दूरमित्यर्थः । 'यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः' इति श्रुतेः । 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः' इति श्रुतेः । तर्हि किमपि साधनं नास्तीत्याकाङ्क्षायाभस्तीत्याहुः निरूपयित्वाऽहैरिति । निरूपयिः स्नेहो येषां तैरित्यर्थः । 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' इति श्रुतेः, बलं भक्तिरिति सिद्धान्तः । 'वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या' 'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः' इत्यादिस्मृतिशताच्च । किंच 'ब्रह्मविदाभोति परम्' 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति' इत्यादावपि स्नेह एवोच्यते । प्रियत्वप्रकारकशुद्धेरेव स्नेहपदार्थत्वात् । पुत्रे स्निह्यतीत्यादौ पुत्रविषयिणीं प्रियत्वप्रकारं बुद्धिं करोतीति प्रत्ययात् । तेन साधनं दर्शितम्, तृतीयाध्यायार्थश्चोक्तः । कर्मधारयपक्षे तु बहुवचनं परिकरस्यापि साधनत्वाय । तेन भक्त्यंशानां साधनत्वम्, न तदतिरिक्तानामित्युक्तम् । तत्रापि प्रेम्णि विशेषमाहुः सुन्वापमिति । अधिकारिण आहुः वृत्तैरिति । 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' इति श्रुतेस्तथेत्यर्थः । फलाध्यायार्थमाहुः रासोल्लासेत्यादि । रसानां समूहो रासस्तत्र तेन वा य उल्लासः परस्परमास्त्रिष्य क्रीडा स रासः, रससमूहत्वात्, भावे घञ् वा, उत्तरोत्तररमणेच्छा वा । तेन वशंवदे ब्रजवधूवृन्दे सदा वसन्तमित्यर्थः । सप्तम्याभिव्यापकाधारे बोध्या । 'तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिः' इति श्रुतेः, सर्वस्मिन्नात्मास्तीति लौकिकः । तादृशोपि भक्तोन्मुख इति भजनीयत्वमाहुः दासकेशहरमिति । सदेत्यत्रायन्वेति । परतरमिति । 'पुरुषात्र परं किंचित्सा काष्ठं सा परा गतिः' इति श्रुतेः । श्रीकृष्णदेवमिति । एतच्च फलाध्यायतृतीयपादे 'समान एवं चाभेदात्' इति सूत्रे उपपादितम् । अतिधुनिरत्र जातिः । शार्दूलविक्रीडितं छन्दः । 'सूर्याश्विर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्' इति तद्वक्षणात् । दासकेशहरमितिपदेनाभिव्यज्यमानस्य भक्तनिष्ठभावस्य ग्रन्थकर्तृभावपोषणात् । भावस्य भावाङ्गत्वेन प्रेयोऽलंकारः । रसो भक्तिः । स च तृतीयाध्यायतृतीयपादे 'व्यतिहारो विशिष्यन्ति हीतरवत्' इति सूत्रभाष्य उक्तः । यथास्या अतिरिक्तसत्त्वं तथोपपादितं मया भक्तिमार्तण्डस्य प्रमेयप्रकरणे, एतद्रश्मौ चैतद्वक्ष्यते ॥ १ ॥

उपहृत्तमकं स्तुवन्तो व्यासं नमन्ति युगलेन मन्दान्वीक्ष्येत्यादि । तदर्थमिति वेदार्थमित्यर्थः । बुद्धिं शोधयितुमिति 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः' इति श्रुतेरित्यर्थः । चकारेति भारतकरणसूत्रकरणयोः पूर्वापरीभावस्तु 'कृतवान् भारतं यस्त्वम्' 'जिज्ञासितमधीतं च' इति पाठक्रमात् । सोयं पूर्वतन्ने दशमस्य पञ्चमे पादे 'ऐन्द्रवायवस्याप्रवचनादा-

भाष्यप्रकाशः ।

वेदान्तार्थविकासकाद्भुतपदं शास्त्रं गुणैरुज्ज्वलम् ॥ २ ॥
 एवं सर्वहितं चरन्नपि यदास्त्रिघत्तदा नारदात्
 तत्रोपायमवेत्य खेदहतये दृष्ट्वा समाधौ हरिम् ।
 श्रीमद्भागवतेन संशयमहन् भक्तिप्रचारोद्यत-
 स्तं कृष्णं मुनिमानमामि करुणं ज्ञानावतारं हरेः ॥ ३ ॥
 सर्गादौ स्वमतं समस्य विषये यं ब्रह्मवादं जगौ
 कौन्तेयोद्भवयोः प्रकाश्य च पुनर्वेदान्तसारं हरिः ।
 तं व्यासाश्रयगोचरं प्रथयितुं यैर्माष्यमामाषितं
 तानाचार्यवराभमामि करुणान् श्रीबल्लभाख्यान् प्रभून् ॥ ४ ॥
 श्रीबल्लभप्रतिनिधिं तेजोराशिं दयाणवम् ।
 गुणातीतं गुणनिधिं श्रीगोपीनाथमाश्रये ॥ ५ ॥
 श्रीविद्वल्लेशपादाब्जनखचन्द्ररुचः सदा ।
 अलङ्कुर्वन्तु मत्त्वान्तं मायावादतमोहराः ॥ ६ ॥

रश्मिः ।

दितः प्रतिकर्षः स्यात्' इत्यधिकरणे चिन्तितः । ज्योतिष्टोमे 'उपांशन्तर्यामौ धाराग्रहौ' धारया गृह्णातीत्युक्तेर्विधाय, ऐन्द्रवायवो ग्रहस्तृतीयः 'ऐन्द्रवायवाग्रा ग्रहा गृह्यन्ते' इति श्रूयते । स न तयोः पूर्वं गृह्यते पाठक्रमान्न ह्ययमप्रताविधिः, किंतु ग्रहविधिरतः स्वस्थानस्यैवैन्द्रवायवस्य ग्रहणमिति । गुणैरुज्ज्वलमिति व्यञ्जनाकाङ्क्षाप्रभृतिभिरुज्ज्वलमुत्तममित्यर्थः ॥ २ ॥

यदास्त्रिघत्तदिति । यदास्त्रिघत्तदा नारदात् तत्रोपायमवेत्य खेदहतये भक्तिप्रचारोद्यतो जात इत्यन्वयः । तेन हेतुहेतुमद्भावाभावान्न लट्लिङ्गौ ॥ ३ ॥

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ, तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः' इतिश्रुतिमनुसंधानाः सर्वाचार्यशिरोमणित्वेन ब्रह्मवादप्रवर्तकानाचार्यान्नमन्ति सर्गादावित्यादि । यं ब्रह्मवादमिति । द्वितीयस्कन्धे नवमे चतुःश्लोक्यां ब्रह्मवित्यपाठके च प्रसिद्धम्, नृसिंहोत्तर-तापिनीये चेत्यर्थः । प्रकाशयेति व्यस्येत्यर्थः । अदृश्यत्वाधिकरणे स्फुटीकृत्येति यावत् । आचार्य-वराणिति । 'जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम्' इति सूत्रेण बहुवचनम् । एकस्मिन्नर्थे वर्तमानः शब्दो बहुनामर्थानां वचनं बोधको भवतीत्यतिदेशोऽयम् । परंतु भावप्रत्ययं विना जातेः प्राधान्येनाख्यायामेष्यते । जातौ शक्त्यङ्गीकारे चेदमेव मानम् । तथा च महाभाष्यं 'यावद्भूयादेकोर्षो वा बहुवद्भवतीति तावदेकस्मिन्बहुवचनमिति' इति शेखरे स्पष्टम् । 'एकत्वं न प्रयुञ्जीत गुरावात्मनि चेश्वरे' इति वाक्याच्च । 'अत एव प्राणाः' इति श्रीव्याससूत्रेषु प्राणपदोत्तरबहुवचनदर्शनात्प्रमाण-सूत्राच्च एवमेव प्रयोक्तव्यमस्तु ॥ ४ ॥

आचार्यज्येष्ठपुत्रानाश्रयन्ति श्रीबल्लभेत्यादि । वितानं छन्दः । 'वितानमाभ्यामन्यत्' इति लक्षणात् । आभ्यामित्युपलक्षणम् । विद्युन्मालादिभ्योऽखिलेभ्यो यदतिरिक्तमनुष्टुप्वृत्तं तदेव वितानमिति ॥ ५ ॥

मायावादतमोहरा इति । 'स्थानविशेषात्पत्रकाशादिवत्' इति सूत्राष्टकसहितसार्धाध्यायस्य श्रीमद्विद्वल्लेश्वराचार्यप्रणीतत्वादितिभावः ॥ ६ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

तत्पुत्रान् सह सन्नुभिर्निजगुरुन् श्रीकृष्णचन्द्राह्वयान्
भक्त्या नौमि पितामहं यदुपतिं तार्तं च पीताम्बरम् ।
चन्दे च ब्रजराजमन्वयमर्षिं यद्रोचिषा मादशो-
ऽप्यासीन्मूर्ध्नि कृपापरः प्रभुवरः श्रीबालकृष्णः स्वयम् ॥ ७ ॥
श्रीवल्लभाचार्यपदाम्बुजाते भक्त्या मुदाऽन्तर्हृदि संनिवेश्य ।
भाष्यप्रकाशे प्रयतेऽतिदीनो निःशाधनस्तत्करुणावलेन ॥ ८ ॥
आचार्यवाचः प्रणमामि भाष्यसुबोधिनीस्था इतराश्च यास्ताः । -
मत्स्वान्त आगत्य कृपाप्लुतास्ता मदीयवाचां रचयन्त्वलंकृतिम् ॥ ९ ॥

अथ खालौकिकानुभावप्रकटनहृदयस्य भगवत आज्ञया तदर्थमाविर्भूताः श्रीमदाचार्या-
रश्मिः ।

सर्वानेव मान्यान् नमन्ति तत्पुत्रानिति ॥ ७ ॥

ग्रन्थकरणे स्वप्रतिभाहेतुं वदन्तस्तत्करणं प्रतिजानते श्रीवल्लभाचार्येत्यादि । त्रिष्टुप्जातिः ।
इन्द्रवज्राच्छन्दः । 'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः' इति तल्लक्षणात् । भाष्यप्रकाश इति । प्रकाश-
शब्द आतपं वक्ति । भाष्यसमाप्तौ 'आविष्कृतोऽयं भुवि भाष्य भास्करः' इति भाष्यस्य भास्करत्वोक्तेः ।
निमित्तत्वं सप्तम्यर्थः ॥ ८ ॥

'मूर्तैर्मेहृद्भिः' इति न्यायेन प्रार्थयन्ते आचार्यवाच इत्यादि । उपजातिः । 'अनन्तरोदीरित-
लक्ष्ममाजौ पादौ यदीयातुपजातयस्ताः' इति लक्षणात् । गाथाच्छन्दः । वस्तुतस्तु रचयन्तु
श्रूषामिति पाठः प्रतिभाति । तथा चाख्यानकीच्छन्दः 'आख्यानकी तौ जगुरु गमोजे जतावनोजे
जगुरु गुरुश्चेत्' इतिलक्षणात् । ओजे विषमे पादे । अनोजे समे । हस्ताक्षरपुस्तके त्वयमपाङ्कः,
अन्याक्षरलिखितश्च । आगत्य कृपाप्लुता इत्यनेन वाचामाधिदैविकत्वं ध्वन्यते ॥ ९ ॥

भाष्यमवतारयन्ति अथेत्यादिना । भाष्ये परसवर्णाभावस्तु वैकुण्ठस्थतास्मोरकः, न व्याकरण-
विरोधाधायकः । सत्यलोक एव परसवर्णश्रवणात् । आकाशवाणीवत् । तथाहीति निदर्शनार्थस्यो-
ल्लेखस्तु ब्रह्मभावात् । यतः सत्यलोकमभिव्याप्यैव तथाहीति प्रयोगो मया श्रुतः पूर्ववदेव । सोपि
भाष्ये कचिदेव दृश्यते । वैकुण्ठस्थता तु श्रीमदाचार्याणां ब्रह्मभावेन सर्वरूपत्वात् स्फुटैव ।

'नमामि हृदये शेषे लीलाक्षीराब्धिशायिनम् ।

लक्ष्मीसहस्रलीलाभिः सेव्यमानं क्लानिधिम्' इति-

दशमश्रीसुबोधिनीप्रारम्भश्लोकात्, असंधिस्तु शिवादिभिरपि अकरणात् तस्याः । युक्ता सेति
सारोत्र । अथेति, अथशब्दः आरम्भार्थकः, । न त्वानन्तर्यार्थकः, आचार्यैः सूत्रपाठात् पूर्वं
मङ्गलकरणात् । तथा चादुराचार्याः सुबोधिनीयामथ व्याख्या इति । निबन्धाद्यनन्तर्यं वा तदर्थः ।
खालौकिकानुभावो ब्रह्मवादलक्षणो (पत्रावलम्बनोक्तः) मायावादव्यतिरिक्तः । स्वस्य ब्रह्मणोऽ-
लौकिको लोकोत्तरोऽनुभावो ब्रह्मज्ञानमनु पश्चाद्भावो भक्तिः प्रेम च यौगिकोर्थः, रूढो भिन्नः । कीदृ-
शित्वाकाङ्क्षायां ब्रह्मणो वादो यत्र त्वलौकिकानुभावेन 'ज्ञानी चेद्भजते कृष्णं तस्मान्नास्त्यधिकः परः' इति

भाष्यप्रकाशः ।

स्तस्यानुभावस्य सर्ववेदान्ततात्पर्यगोचरत्वज्ञापनाय वेदार्थतामरसतरणेर्भगवतो बादरायणस्य
श्रद्धाणि व्याकरिष्यमाणाः,

रश्मिः ।

निबन्धाच्छानमनु ब्रह्मभावो भक्तिः लक्ष्यते तेन लक्षणं, ब्रह्मवादो लक्षणं यस्य खालौकिकानुभावस्य
लक्ष्यस्य स तथोक्तः । अनुभावस्वरूपं प्रथमे सुबोधिन्यां सप्तदशाध्याये 'इत्थंभूतानुभावः' इत्यत्रास्ति ।
श्रुतोपि जीवन् तिष्ठतीत्यंभूतानुभावः इति । [तथा चायं निष्कर्षः । उक्ते प्रतीतस्याप्रतीतस्य
चार्यस्य स्वस्य ब्रह्मण आचार्याणां चालौकिको लोकानधिगतो योयमनुभावः । मानुषीं तनुमाश्रितस्य
सन्मनुष्याकृतेश्च जगज्जन्मादिकर्तृत्वं सकलमतनिरासपूर्वकं अध्यायद्वयप्रतिपाद्यं साधनफलत्वे च ।
आचार्याणां तत्प्रतिपादकत्वं चतुर्थे अध्यायेषु स प्रथमस्कन्धारूढो यौगिकश्चेति यौगिको ज्ञानमनुभावो
भक्तिस्तद्रूपोपि । तदुक्तं ब्रह्मभाष्ये 'तस्यैवात्मानुभावप्रकटनहृदयस्याज्ञया' इति । व्याख्यातं च
टीकाकृद्भिः] सर्ववेदान्तेति सर्ववेदान्तानां तात्पर्यगोचरत्वस्य ज्ञापनाय । अत्रेदं ज्ञेयम् ।
शक्तिलक्षणातात्वयैषु तिसृषु वृत्तिषु तात्पर्यवृत्तिगोचरत्वमित्यम् । ननु तात्पर्यवृत्तिरेव नास्ति ।
तात्पर्यानुपपत्तेर्लक्षणाधीनत्वस्य 'यशीः प्रवेशय' 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यादिषु स्पष्टतया
वृत्तेर्द्विविध्यादिति चेत्, सत्यम्, वृत्तिद्वयपक्षोप्यस्ति । परेषामालंकारिकाणां वृत्तित्रयपक्षस्तु,

'भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशालवंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य,

यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत्' इत्यादौ

व्यञ्जनावृत्तिमन्तरेण निर्वाहाभावादिष्टः । न चात्र लक्षणयैव निर्वाह इति वाच्यम् ।
राजासंबन्धिनि गजे तदयोगात् । दूषणानां यौक्तिकत्वेन 'युक्तं च सन्ति सर्वत्र भाषन्ते ब्राह्मणा
यथा' इति कृष्णवाक्यानुसृत्यायस्य बाधाद्यभावाच्च । स्फुटमन्यत्प्रस्थानरत्नाकरे । एवं च
वृत्तिद्वयपक्षेपीदं युक्तम् । तथा हि प्रस्थानरत्नाकरे द्वेषावृत्तिप्रपञ्चे व्यञ्जनास्थले तात्पर्यवृत्त्या
निर्वाहाभिधागौणीतात्पर्यरूपास्तिस्रो वृत्तय आलंकारिकरीत्या वृत्तिपदसहिता व्यवस्थापिता इति
'भद्रात्मनः' इत्यादौ अभिधामूलव्यञ्जनास्थलेऽभिधामूलतात्पर्यवृत्तिस्वीकारः । दार्ष्टान्तिके तु तात्पर्यमात्रं
न वृत्तिः । एवं च 'साद्वाचिको लाक्षणिकः शब्दोत्र व्यञ्जकस्तथा' इत्यत्र 'साद्वाचिको लाक्षणिकः
शब्दस्तात्पर्यवास्तया' इत्येवं रादान्तिकपाठेपि 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति श्रुत्याऽस्यापि शब्दस्य
निवृत्तेः । अतो मूले तात्पर्यमात्रमुक्तं, न वृत्तिपदम् । नन्वेवमप्यभिधामूलव्यञ्जनास्थले अभिधैव
व्यापारो नातिरिक्ता व्यञ्जनेत्यादि उपपाद्य यथासंभवं तात्पर्यवृत्त्यर्थः धर्माभिधास्वन्तमावात्रातिरिक्ता
व्यञ्जनेति पठनाद् 'भद्रात्मनः' इत्यादिस्थलेऽभिधादिवृत्तिप्राप्त्या दार्ष्टान्तिकेऽप्यभिधादिवृत्त्यावश्यकत्वात्
त्रिविधशब्दस्य यच्छब्दार्थमूलब्रह्मणो निवृत्तिरिति चेत् भैवम् । ['यतो वाचः' इत्यस्या
इदमित्यतया तत्स्वरूपे निरूपणनिषेधेन परत्वमत्रैव भाष्य ईश्वर्यधिकरणे चाशब्दत्वनिषेधेन
सामान्यतो यच्छब्दार्थे ब्रह्मणि निर्गुणानन्दमात्रयच्छब्दाभिधायाः स्वीकारात् । नन्वेवं सति तात्पर्य-
गोचरत्वज्ञापनायेति मूलशुद्धिरिति चेत्, न, सर्ववेदान्तपदपरत्वान्मूलस्य । एकापेक्षया बहुनाम-
नुग्रहस्य न्याय्यत्वात् । 'उभ्रत्सदिति निदर्शो ब्रह्मणश्चिद्विधः' इति गीतावाक्यादोमादाय सर्वाभि-
धादानं रमसात् । 'इदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्' इति श्रुतानुपपसर्गणे पूर्वोक्तार्थादरणात् । यत उपे-

भाष्यप्रकाशः ।

‘सूत्रार्थो वर्णयते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः ।

स्वपदानि च वर्णयन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः’ ॥

रश्मिः ।

स्य समीपार्थकत्वम् । अन्यथा यत् इति श्रुतिभाष्यविरोधापातः । नन्वेवं सति विराजि नारायणादिरूपेषु ‘नारायणादिरूपाणि’ इत्यादिवक्ष्यमाणा वेदस्य वेदान्तानां चाभिधावृत्तिर्विराजि प्रमेयम् । ‘मां विषत्तेऽभिघत्ते मां विकल्प्यापोहते ह्यहम् । एतावान् सवेवेदार्यः’ इत्येकादशे निरुक्तात् जगद्ध्यापार्वर्जाधिकरणे यद्रूपसुक्तम्, तनु परं मावं जानतां तात्पर्यं, तदगोचरत्वं च । तत्र नूनं परस्मिन्मावेऽभिधावृत्तिर्गौणी बोद्धारोपव्याख्यानरूपत्वात्, सर्वस्य शब्दजातस्य घटादौ शक्तिसंकोच इत्याद्युपपादयिष्यते त्वया । किंच, तात्पर्यानुपपत्तिरूपबीजस्य सत्त्वालक्षणया भवितव्यमिति चेत् न । परस्मिन्वृत्तिद्वयासंगतेः । ‘यतः’ इति श्रुत्येदमित्यतया वागप्राप्ये तद्ध्यापारद्वयासंभवादिदमित्यतांशे । एवं च भाष्यप्रकाशोक्तवाक्येषु मूर्त्या तस्य परं पदे श्रीमहाविष्णावभिधया वृत्त्या प्रवृत्तानां वैदिकानां शब्दानां परब्रह्मनिर्गुणानन्दमात्राधिपदशक्त्यै तेषां

‘संयोगो, विप्रयोगश्च, साहचर्यं, विरोधिता, ।

अर्थः, प्रकरणं, लिङ्गं, शब्दस्थान्यस्य संनिधिः ॥

सामर्थ्यमौचित्यं, देशः, कालो, व्यक्तिः, खरादयः’ इति

काव्यप्रकाशोदितैः प्रकरणादिभिः विशेषस्मारकैः परस्मिन्तात्पर्येणान्येषां पदानां वैदान्तिकानां पुरुषोत्तमे प्रवृत्तिः । यथा ‘भद्रात्मनः’ इत्यादौ वारणपदसामर्थ्येन तात्पर्यव्यापकेनाभिधया वृत्त्या राज्ञि प्रवृत्तानामपि तात्पर्यवृत्तिर्वारणे इति । ननु व्यञ्जनावृत्तिर्वारणे न तात्पर्यवृत्तिः, सा तु ह्यभिहितान्वयवादिनां मतम् । आकाङ्क्षायोग्यतासंनिधिवशाद्दक्ष्यमाणानां पदानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोपि वाक्यार्थः समुल्लसति । तत्रेति ये ‘घटमानय, गामानय, शुक्लं दण्डेन देवदत्त’ इत्यादौ पदानि स्वार्थमभिधायान्वितानि भवन्तीति वदन्ति तेऽभिहितान्वयवादिन इति चेत् न । यत् किंचित् घटमानय दुष्टं गामानयेत्यादौ यत्किंचित्वांशे दुष्टत्वांशे च तात्पर्यवृत्त्या पूर्वोक्त्यैव निर्वाहात् । नन्वेवं सति जिज्ञासालक्षणसमन्वयेक्ष्यधिकरणेषु सामान्येषु विचाराभावेप्यानन्दमयाधिकरणेषु न विचारकः । परन्त्वन्तस्तद्गर्भाधिकरणे सवितृमण्डलमध्यवर्तिनि शक्तिः, वैदिकानां पदानां नारायणादिरूपाणां न तात्पर्यम् । तद्विज्ञाधिकरण आकाशादिपदानां सा, न तत् । अतिदेशाधिकरणे प्राणादिपदानां सा, न तत् । ज्योतिश्चरणाधिकरणे ज्योतिरादिपदानां शक्तिः, न तत् । अनुगमाधिकरणे प्राणपदस्य सा, न तत् । तात्पर्यं तु फलाध्याये ब्रह्मणि नित्यलीलाविशिष्टेऽतः प्रारम्भेऽभिधालक्षणशक्त्या विचारात् खालौकिकानुभावस्य तात्पर्यगोचरत्वं कथमिति चेत्, सत्यम् । उपासनया शुद्धान्तःकरणानां पुसां भक्त्या पुरुषोत्तमाविर्भाव इति सिद्धान्तादुपासनाविधयाणां विमूर्तीनां भक्तिविषयस्य पुरुषोत्तमस्य अभिधया प्रतिपाद्यत्वेपि बाधकभावात् । लौकिकानुभावत्वात् । नित्यलीलायां भक्तमनोरथपरकस्य स्वरूपस्य श्रीपुरुषोत्तमस्य तात्पर्यगोचरत्वमलौकिकानुभावत्वात् । यद्वा । निर्गुणात् सृष्टिरिति राद्धान्तात्तात्पर्यगोचरत्वमेवातिव्याप्तिवारणायैतराण्यधिकरणातीति निर्गुणत्वात् तेषां वाच्यांशे तात्पर्यगोचरत्वमेव । ननु सर्वैरेव भाष्यकृद्भिरेव व्याख्यानान्

भाष्यप्रकाशः ।

इति भाष्यलक्षणात् सूत्रोपन्यास एवानुसरणसिद्धेः स्वकृतेरादित एव भाष्यत्वाय सूत्रीरश्मिः ।

कथं खालौकिकानुभावप्रकटनमिति चेन्मैवम् । तैः सगुणब्रह्मणः सकाशात् सृष्टिरिति निरूपणाच्च तात्पर्यविषयत्वम्, किंतु ह्यभिधेयत्वमिति, लौकिकत्वात् । तत्र ब्रह्मनिर्गुणादिपदानामभिधामूलं तात्पर्यम्, ब्रह्मणि नारायणादिपदानां कथम् तात्पर्यं, लक्षणाया अप्यभावेन लक्षणासंख्येयतापरपर्यायतात्पर्यस्याप्यभावादिति चेन्न । जन्यजनकभावसंबन्धस्य शक्यसंबन्धस्य सत्त्वेन लक्षणा गौणीरूपा भविष्यति, सति प्रमाणे तात्पर्यं त्वलौकिकपरमोत्कृष्टत्वे, यथा ‘गङ्गायां घोष’ इत्यत्र शक्यस्य प्रवाहस्य संबन्धः संयोगः, तस्य तीरे सत्त्वातीरे लक्षणा, शैत्यपावनादौ तदभावात्, तात्पर्यवृत्तिरालंकारिकाणां तथा तात्पर्यम् । फलं तु बृहद्ब्रह्मनपुराणे उतरखिले च शब्दं बोधरूपम् ।

‘श्रुतय ऊचुः-नारायणादिरूपाणि ज्ञातान्यस्माभिरच्युत ।

सगुणं ब्रह्म सर्वेदं वस्तुबुद्धिर्न तेषु नः ॥ १ ॥

मद्येति पठ्यतेऽस्माभिर्यद्रूपं निर्गुणं परम् ।

वाङ्मनोगोचरातीतं ततो न ज्ञायते तु तत् ॥ २ ॥

आनन्दमात्रमिति यद्ददन्ति हि पुराविदः’ इति ।

अत्रायं नारायण इत्यादौ ह्यभिधावृत्त्याऽखिलभागवतोक्तधर्मवत्त्वेन नारायणज्ञानमीप्सितम् । परं तु नराणां समूहो नारं तदयनं यद्येति सगुणनारायणपदविग्रहाभावे नारा आपः ता अयनं यद्येति विग्रहे, ब्रह्मेदमित्यादौ न तथापि तु ब्रह्मत्वेन ज्ञानमिति ह्यशेषतत्त्वधर्मवत्त्वेनाज्ञानमेव । तात्पर्यवृत्त्या तु ज्ञानमेव । ‘कोकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्’ इत्यत्र दध्युपघातकज्ञानवत् । प्रस्थानरत्नाकरे तु स्वमतनिरूपणावसरे यदुक्तमभिधामूलव्यञ्जनास्थलेभ्यभिधैव व्यापारो नातिरिक्ता व्यञ्जना । वक्त्रा स्वविवक्षितबोधोत्पादनाय संयोगाद्यस्तस्या एकत्र नियमनेभ्यभिधेयान्तराभिधाविषयकसंस्कारस्य सदृशादिभिरुद्धे तयैवाभिधेयान्तरस्फूर्तिरिद्धौ वृत्त्यन्तरकल्पनस्य व्यसनमात्रत्वात् । न च संयोगादीनां संस्कारोद्धेयप्रतिबन्धकत्वं शक्यवचनम् । ‘अस्याननं योनिरुदारवाचाम्’ इत्यत्र पदान्तरसाहचर्येप्यल्लीलानुसंधानजन्यलुगुप्साया अनुभूयमानत्वादिति । ततु ‘भद्रात्मनः’ इत्यादौ विलक्षणबोधस्य गजाशेऽनुभूयमानस्य तथाङ्गीकारमाश्रित्य, पूर्वोक्तं तु तमाश्रित्येति ज्ञेयम् । प्रकृतमुच्यते । द्वेषावृत्तिपक्षेपि बुभुत्सितावांचकत्वे तत्सृतीतिजनकत्वस्य तात्पर्यवृत्तिलक्षणत्वात् फललक्षणादिव्यञ्जनान्तानां तात्पर्यवृत्तावेवाभिनिवेशेन शक्तिगौणीरूपं वृत्तिद्वयमस्माकं शक्तिरूपध्यात्मकं तु परेषाम् । परंतु तात्पर्यसाभिधायामन्तर्भावे, अनन्तरभावे तु वृत्तित्रयम्] इति भाष्यलक्षणादिति । अत्र सूत्रानुसारित्वे सति यद्वाक्यपठकं स्वपदवर्णकं तत्त्वं भाष्यलक्षणं पर्यवसन्नम् । तच्च ‘साङ्गोऽध्ययः’ इत्यादि स्तोक्तस्य ‘अर्थज्ञानार्थम्’ इत्यादिना वर्णनादत्र समन्वितम् । महाभाष्येपि ‘अथ शब्दानुशासनम्’ इत्यादिस्तोक्तस्य ‘अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः’ इत्यादिना वर्णनात् समन्वितम् । पुरञ्जनोपाख्यानेऽतिव्याप्तिवारणाय सत्यन्तम् । वृत्तावतिव्याप्तिवारणाय विशेष्यम् । सूत्रानुसारित्वं च न सूत्रानुगुणत्वम् । तथा सति ‘अर्वाग्विलक्ष्मस ऊर्ध्वबुध इतीदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्विलक्ष्मस ऊर्ध्वबुधः’ इत्यादिश्रुतौ ‘चमसवदविशेषात्’ इति सूत्रानुगुणायामतिव्याप्तिः, अतः सूत्रानुसारिव्याख्यानत्वं तदर्थः । प्रसिद्धश्रुतावपि ज्ञेयम् । ‘ब्रह्मविदाप्रोति परम्’ इत्यादौ । तथा च सूत्राणां

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ १ ॥ (१-१-१)

भाष्यप्रकाशः ।

याथशब्देनैव मङ्गलसिद्धेश्च सूत्रमेवादौ पठन्ति अथातो ब्रह्मजिज्ञासेति । नच मङ्गलाचरणान्तरादर्शनाच्छिष्टाचारविरोधः शङ्कनीयः । महाभाष्ययोगभाष्ययोर्ग्रन्थकृतकृतस्याशब्दातिरिचिमः ।

श्रुत्यनुसारित्वात्तात्पर्यासिः आर्थिकार्थस्पर्शध्यासभाष्येपि न सेति । यतु शंकराचार्यैः 'शास्त्रयोनि-त्वात्' इति सूत्रांशं प्रथमान्तत्वेनानन्दमयाधिकरणं च भङ्गत्वोत्सूत्रं व्याख्यातम्, 'भावे चोपलब्धेः' इति सूत्रं 'भावाच्चोपलब्धेः' इति पाठं भित्त्वा व्याख्यातम्, माध्वराभाजुजभास्कराचार्यैः 'साभाव्याप-त्तिरूपपत्तेः' इति सूत्रं 'स्वाभाव्यापत्तिः' इत्येवं पाठं भित्त्वा व्याख्यातम् तत्राव्यासिर्न दोषाय, अन्यत्र तु गौण्या निर्वाहः । सूत्रमेवेति । सर्वतः सारभूतार्थबोधकत्वे सूत्रकत्वे च सति स्वल्पाक्षरपदत्वमिति सूत्रलक्षणम् । 'खल्वहं ब्रह्म सूत्रं' सूचनात्सूत्रम्' इत्याख्यश्रुतेः ।

'लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षरपदानि च, ।

सर्वतः सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिणः' ॥

इति स्मृतेश्च । वस्तुतस्तु यत्राभियुक्तानां सूत्रत्वव्यवहारस्तानि सूत्राणीति । अतो महति 'अचतुरविचतुर' इत्यस्मिन्पाणिनीये सूत्रे नाव्यासिः ॥

अथातो ब्रह्मजिज्ञासेति इति ॥ १ ॥ प्रतीकमिदम्, क्रियाविशेषणं तृतीयान्तव्यतिरिक्तम् । तृतीयान्तं तु करणमिति विवेकः । ननु ब्रह्मपदेन किमुच्यते प्राणो वा ब्रह्मैव वा । तथाहि 'एष उ एव बृहस्पतिः' इति श्रुतेः प्राण एष प्राण इत्यर्थात् । न च प्राणेत्यनया श्रुत्या बृहस्पतित्वं विहितम्, न ब्रह्मत्वमिति वाच्यम् । 'ब्रह्म वै देवानां बृहस्पतिः' इत्याख्यकसमाप्ति-ग्रन्थस्थश्रुतेरिति चेत्, मैवम् । द्वितीयाध्याये चतुर्थचरणे 'श्रेष्ठश्च' इत्यधिकरणे 'न वायुक्रिये पृथ-गुपदेशात्' इति सूत्रे प्राणस्योपपादिततत्त्वान्तरकत्वात् । न च ब्रह्मपेक्षया ब्रह्मणस्पतिजिज्ञासा प्रस्तोतव्येति शङ्क्यम् । बृहदारण्यके 'एष उ एव ब्रह्मणस्पतिर्वाग्भै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्माद् ब्रह्मणस्पतिः' इतिश्रुत्योर्ब्रह्मपदेन वाग्रहणेनादोषात्, तत्त्वान्तरत्वाच्चेति । अत एव जिज्ञासासूत्रे ब्रह्मपदेन वेदान्ता गृहीताः । 'वाग्भै ब्रह्म' इति श्रुतेः । न च शुकादिप्रभृतीनां जिज्ञासा जैमिनि-सूत्रानुसारेणाधिकतेव्येति वाच्यम् । पौर्वतश्रीयत्वात् । 'न च वेदादृते किञ्चिच्छास्त्रं ब्रह्माभिधा-यकम्' इति महाकौर्म्यात् । 'नन्वेवमपि स दोषस्तदवस्था एवेति चेत्, न । जैमिनेर्भगवतो व्यासस्य शिष्यत्वाच्छास्त्रभेदाच्च । न च वेदजिज्ञासाधिकर्तव्या नामाख्यातोपसर्गनिपातादिभिर्धर्मजिज्ञासाया षड-ङ्गैरितराङ्गैश्च तस्या निराकाङ्क्षात् । इतरत् सर्वं साधनाध्यायतुर्यपादेऽचीकूपन्नाचार्याः अतस्ततोऽवधे-यम् । शङ्कनीय इति तर्कितव्य इत्यर्थः । आङ्पूर्वसाध्ययमर्थः । ग्रन्थकृतकृतस्येति । तत्र ग्रन्थो नाम संबन्धप्रयोजनज्ञानाधीनशुश्रूषाजन्यश्रुतिविषयः, संदर्भः ।

'सिद्धार्थं सिद्धसंबन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तेते ।

शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः संबन्धः सप्रयोजनः' ॥

१. अस्मात्सविधे द्वित्राणि रश्मेः पुस्तकानि सन्ति, तेषां रश्मिकारसंशोधितं पुस्तकं शुद्धं समीचीनं च । तत्र इत आरम्भ एकोनविंशतिः पत्राणि न लभन्ते तदर्थमस्तीव प्रयत्नैरेषि तत् संपादने न सफलप्रयत्नवयम् । ग्रन्थान्तराणि तु अशुद्धिपुन-रुक्तिबहुलाणि न विश्वसनीयानि तथापि तदवच्छेदनेन ग्रन्थसंशोधने कृते बहुनिस्खलितानि नवनपयातिथीनि भवन्ति तानि विद्विः संशोधयन्ति इत्यभ्यर्थ्यते बुद्धिकृदिः ।

इदमत्र विचार्यते । वेदान्तानां विचार आरम्भणीयो न वेति ।

भाष्यप्रकाशः ।

रिक्तस्य मङ्गलस्यादर्शनेन, शाबरभाष्ये च 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इति सूत्रमेवोपन्यस्य भाष्या-रम्भदर्शनेन च विरोधाभावादिति । अस्मारम्भसूत्रत्वाद्नाधिकारिविषयसंबन्धप्रयोजननिरूपण-द्वारा शास्त्रारम्भः समर्थनीयः । शास्त्रप्रवृत्त्यावश्यकत्वहेतुरूपा संगतिश्च निरूपणीया । अन्यथा श्रेक्षावत्प्रवृत्त्यभावेन शास्त्रवैयर्थ्यं स्यात् । शास्त्रस्य वैधत्वमपि विचारणीयम् । अन्यथा वेदान्तानु-पयुक्तत्वं, प्रामाणिकानादरणीयत्वं च स्यात् । तदिदं सर्वं हृदि कृत्वा भगवता श्रीवादरायणाचा-र्येणैदमधिकरणरूपं सूत्रं प्रणीयते, न तु ब्रह्मविचारप्रतिज्ञामात्रमत्र क्रियत इत्याशयेनाहुः इदमित्यादि ।

विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम् ।

संगतिश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेधिकरणं स्मृतम्' ॥

इति लक्षणाद् विषयादिपञ्चकघटितं वाक्यमधिकरणम् । तेनास्मिन् सूत्रे, इदं वक्ष्यमाणं बुद्धित्वं विचार्यते । अग्रिमसूत्रेषु वेदान्तानां विचारणीयत्वादुपोद्धातेन चिन्त्यत इत्यर्थः । विषयादि-कमाहुः वेदान्तानामित्यादि । नन्वत्रायं विषयाद्युपन्यासो न युक्तः, असौत्रत्वात् ।

रश्मिः ।

इत्युक्तेः शुश्रूषायाः संबन्धप्रयोजनज्ञानाधीनत्वम् । तर्ह्येति मङ्गलेनापि भाष्यं तत्राहुः शाबरभाष्ये चेति । अन्यथेति वैधत्वाभाव इत्यर्थः । प्रणीयत इति । स्मेति शेषः । उपोद्घातेनेति । तेनोपोद्घातोत्र संगतिरित्युक्तम् । तत्त्वं च प्रकृतसिद्धानुकूलचिन्ताकाळाव-च्छेदेन प्रकृतानुकूलत्वं प्रकृतोपपादकत्वं वा । एवमपि विशेषलक्षणसमन्वयेपि सामान्यलक्षणस्यान-न्तर्याभिधानघटितत्वेनास्य सूत्रस्य च प्राथम्यात् नैयायिकलक्षणसमन्वयः । किंतु, अधिकरणस्य पञ्चावयवत्वेन 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति सावधानपुरुषप्रयुज्यमानवाक्यप्रयोजनकप्रकृतोपपाद-कत्वावच्छेदकेन ब्रह्मभक्तिविचारत्वेन रूपेण स्मृतस्य ब्रह्मभक्तिविचारस्योपेक्षानर्हत्वमित्येवं संगति-सिद्धान्तलक्षणसमन्वय इति बोध्यम् । इदं चेक्षत्यधिकरणे संगतिग्रन्थनिरूपणावसरे स्फुटमुप-पाद्यम्, इयं चाध्यायानां पादानां च संगतिः । त्रिपदं जिज्ञासासूत्रं अथातो ब्रह्मजिज्ञासेति । तत्र अतःशब्दार्थः स्वयमग्रे वक्तव्यः । तस्याधिकरणरचनानुपयोगात् । ब्रह्मशब्दार्थो वेदान्ता-नामिति । जिज्ञासाशब्दार्थो विचारः । अधशब्दार्थः आरम्भः । कर्तव्यादिपदाध्याहारोपेक्षयारम्भो धजन्तादित्त आरम्भणीयो रभिनीयस्त्ययान्तः । अत उक्तं वेदान्तानां विचार आरम्भणीयो न वेति । अत्र प्रतीतार्थप्रदिलवादी तु शङ्कते नन्वचेति । असौत्रेति । सौत्रः प्रतीतार्थः तद्विज्ञत्वात् । तद्विषयादिकमाहुः विषयादिकमाहुरिति । सूत्रे ब्रह्मपदस्य वेदेपि वृत्तिदर्शनेन तत्संबन्धि-वेदान्तानां सूत्रेण ब्रह्मपरत्वेपि ब्रह्मजिज्ञासेति शेषपष्ठथा समासस्य वक्ष्यमाणत्वेन च जिज्ञासा-पदस्य विचारार्थकत्वस्य च तथात्वेनाथशब्दस्वारम्भापरपर्यायाधिकारार्थत्वस्यापि तथात्वेनाथमेव विषयादिरित्याशयेन विषयादिकमाहुरित्यर्थः । वेदान्तानां विचार आरम्भणीयो न वेति भाष्यात् । आरम्भार्थ उद्यम एवोत्तरश्रानुवृत्तिरूपाधिकारनिवेशाच्चेति । तथाहि, उद्यमत्वे-सत्युत्तरश्रानुवृत्तिरसमन्तात् तादृशारम्भार्थः । भाष्ये विचार इति । सूत्रैर्वस्तुतत्त्वपरीक्षण-मित्यर्थः । प्रीमासेति यावत् । शेषे षष्ठी । अन्यथा, 'स्मृतेश्च' इत्यादिसूत्रेषु स्मृतीनां विचारकर्मता

भाष्यप्रकाशः ।

किंतु ब्रह्मजिज्ञासा कार्या न वा, ब्रह्म जिज्ञास्यं न वा, इत्येवं सूत्रानुसरणाद् युक्त इति चेन्न । तद्योप-
न्यासे, 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व' इति श्रुत्या तपस एवोपदेशात् तद्विहाय व्यासपादैः किमिति
वेदान्तवाक्यानि विचार्यन्ते, तपः कुतो नोपदिश्यत इत्याशङ्का स्यात्, श्रुतिविरुद्धत्वं च
भायात् । एवमुपन्यासे त्वधीतवेदस्य, 'वेदान्तविज्ञानमुनिश्चितार्थाः' इति श्रुतिस्फुरणादस्यां
च श्रुतार्थनिश्चयं प्रति वेदान्तविज्ञानस्य हेतुताकथनात् तस्य च विचारसाध्यत्वात् तत्स्फूर्त्या-
शङ्कानुदयाद् युक्त इति ।

किंच । जिज्ञासापदस्य च यौगिकार्थ एव प्रायः प्रसिद्ध इति ब्रह्मज्ञानेच्छा कर्तव्या न
वा, ब्रह्म ज्ञानेच्छाविषयं कार्यं न वेति प्रथमतो बोधे, ततस्तावन्मात्रस्यापुरुषार्थत्वात् तत्रानु-
पपत्तौ भातायां पश्चाद् विचारं लक्षयित्वा ततस्तत्कर्तव्यत्वादिकं विचार्यम् । तदपि वेदान्तैरेव
वक्ष्यमाणरीत्या विचार्यम् । अन्यथाकस्मिकता स्यात् । अत आवश्यकत्वादपि युक्तः ।

रश्मिः ।

न स्यात् । स्मृतयो विचार्यन्त इति । कर्मषष्ठ्या स्मृतीनां विचारकर्मत्वात् । तथाच
कर्मषष्ठीपरिग्रहे प्रतिज्ञाहान्याख्यनिग्रहस्थानापत्तिः । प्रकृते किंतु ब्रह्मेति । ब्रह्मपदेन
वेदान्ताः । अन्वयानुपपत्त्या अध्याहारनिवृत्तये वा पक्षान्तरमाहुः ब्रह्म जिज्ञास्यं न वेति ।
तपसेति । नन्वियं श्रुतिः ब्रह्मप्रत्यक्षात्मकज्ञानसाधनविचारसाधनं तपः संतापात्मकमाह,
द्वितीयस्कन्धनवमाध्याये तयोक्तेः । वेदान्तवाक्यानि तूपाङ्गत्वेन विचार्यन्त इति उपाङ्गविषयत्वा-
भावादिति चेत् तत्राहुः इत्याशङ्केति । तथा च तर्कस्यान्यथाज्ञानत्वादुपाङ्गविषयेपि प्रत्यक्षसाधक-
विचारसाधनतपःप्रतिपादकश्रुतिस्फुरणमिति भावः । विचार्यन्त इति । सूत्रान्तरेषु विचार्यन्त इत्यर्थः ।
श्रुतिस्फुरणादिति । नन्वितिकरणाभावात् कथं वेदान्तानामिति पदस्य 'वेदान्तविज्ञाने'ति श्रुतौ
वेदान्तानामित्यन्तर्वर्तिविभक्तिमाश्रित्य वाक्यप्रतीकत्वमिति चेन्नैवम् । 'यावद्ब्रह्मसपत्सकाल्यकवपु-
यीवत्कराह्वयादिकम्' इत्युपक्रम्य 'सर्वं विष्णुमयं गिरोङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ' इति प्रक्षिप्त्वाध्या-
यश्लोके सर्वं विष्णुमयमिति पदद्वयस्येतिकरणाभावेपि सर्वं विष्णुमयं जगदिति वाक्यप्रतीकतायाः
श्रीधरैः स्वीकारात् । आचार्यैरप्येवमिति । नन्वेवमपि सूत्रेण 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व' इति श्रुति-
स्फुरणस्य दुर्वीरत्वेन तस्यां च तपसो ब्रह्मजिज्ञासाकारणतोपन्यासेन वेदान्तश्रुतिस्फुरणात्,
तस्यां चार्थविचारस्य वेदान्तज्ञानकारणता, एवं चोभयोरर्थयोः स्फुरणमधिकम्, न तु शङ्कानुदय
इत्यरुच्याहुः किंचेति । ब्रह्म, ज्ञानेच्छाविषयं कार्यं न वेति । क्रियाविशेषणत्वाद्द्वितीयान्तम्,
आदि पचतीतिवत् । सार्थकप्रत्ययान्तधातूपस्थाप्यक्रियाविशेषणानां कर्मत्वमिति व्युत्पत्तेः । उभय-
लिङ्गता वा विषयपदस्य । तत्रेति यौगिकार्थ इत्यर्थः । लक्षयित्वेति स्वसाध्यत्वाख्य-
संबन्धेन लक्षयित्वेत्यर्थः । नन्वेवमपि स्फुरितश्रुतिविरोधो नापैतीति चेत् न । तपो न मुख्य-
साधनमित्यानन्दमयाधिकरणे वक्ष्यमाणत्वादिति, करणाभावश्रुतेरस्फुरणमेव वा । न्यायस्य काचि-

१. अन्यथेति पाठः ।

भाष्यप्रकाशः ।

किंच । व्यासप्रवृत्तिबीजबोधनार्थत्वेनापि युक्तः । तथाहि । प्रथमस्कन्धे चतुर्थाध्याये
'द्रापरे समनुप्राप्ते' इत्यारभ्य, 'एवं प्रवृत्तस्य सदा भूतानां भेषसि द्विजाः' इत्यन्तेन सर्वेषां
श्रेयोऽर्थं प्रवृत्तिव्यतिरिक्तकरणानामुक्ता । पञ्चमे च, 'जिज्ञासितमधीतं च यत्तद् ब्रह्म सनातनम्' इति
नारदेन ब्रह्मविचारान्तायाः कृतेस्तथात्वं बोधितम् । तथाच ज्ञानविधिनार्थज्ञानार्थं प्रवृत्तानपि
यदा जैमिनीयादिदर्शनेरेकदेशीयविरुद्धज्ञानवतो दृष्ट्यास्तदा भारतकरणोत्तरमत्र प्रवृत्तः
वेदार्थनिश्चयो वेदान्तार्थनिश्चयं विना न भविष्यतीति । अत एवात्राग्रे वेदान्तवाक्यैरेव ब्रह्म-
विचारदर्शनं ब्रह्मणि सर्ववेदार्थत्वस्याग्रे स्यात्पत्वाच्च । तदर्थं वेदान्तविचारवश्यकत्वमवश्यं
साधनीयम् । तेन तत्र हेत्वाकाङ्क्षोपशमात् । अतस्तदुपोद्घाततयायं विचारोऽपि शेषवच्यन्त-
ब्रह्मपदादेव बोध्यत इति सूत्रत्वाद् युक्त इति ।

रश्मिः ।

कत्वात् । वस्तुतस्तु निबन्धे विद्यापर्वसु विचाररूपतपोग्रहणादाह तपसा ब्रह्म विजिज्ञास-
सेति । अनशनादेर्विचारसाधकत्वात् । तस्मान्न विरोध इति । तत्त्वं तु तपसेति श्रुतिः प्रत्यक्षज्ञान-
साधनं तपोरूपसंतापमाह । द्वितीयस्कन्धे नवमाध्याये यद्ब्रह्म कृतं नोपाङ्गरूपवेदान्तविचारोपयुक्तं
किंचिदाह । 'अन्नं ब्रह्मेति व्यजनात्' इत्यादौ प्रत्यक्षज्ञानस्वीकारादत्र तु शब्दमिति न 'तपसा' इत्यस्याः
श्रुतेर्विषय इति । तथाप्यसौत्रत्वपरिहारे वेदान्तविचारस्येति पक्षान्तरमाह किंचेति । ज्ञानविधि-
नेति । ज्ञेयश्वेतनेनेत्यर्थः । वेदार्थेत्यादि । तथा च संहितातुक्कर्मणिकायां ।

'रहस्यमूलं ऋक्पणो यजुःपुष्पप्रवालवान् ।

—यज्ञकर्मफलः श्रीमान् विप्रभ्रमरसेवितः ॥

छन्दःस्कन्धः शाखाशाखो ब्राह्मो वृक्षः साक्षादेवः ।

यत्तं विद्यान् महर्षिर्विप्रवर्यं स स्वर्गं गच्छेदात्वा कीर्तिम् ।' इति । रहस्यं वेदान्ताः ।

तत्रेति । अग्रिमसूत्रेषु वेदान्तविचार इत्यर्थः । युक्त इतीति । उपलक्षणमेतत् । ब्रह्म वेद-
वेदान्तौ, जिज्ञासा विचार इत्येवं सौत्रत्वस्य । एवं च 'जिज्ञासितमधीतं च यत् तद् ब्रह्म सना-
तनम्' इति वाक्यात् सूत्रेण वेदान्तानां विचार आरम्भणीयो न वेति ब्रह्मपदाद् वेदवाचकादेव
लभ्यते संशयः । वेदान्तत्वेन ब्रह्मोपादाने तु द्वितीयकोटौ बीजाभावमापद्येत । यद्यपि ब्रह्मशब्दो
वेदे प्रयुक्तः उक्तवाक्ये, तथापि वेदपदमपहाय यद् ब्रह्मपदमुक्तं तेनार्थरूपब्रह्मजिज्ञासापि ध्वन्यते ।
तद्विधिनार्थमादाय भाष्यप्रकाशे संदर्भः क्रियान्प्रवृत्तो रश्मेरुतरोपि । इत्थं च यस्मात् कर्मा-
दिभ्यो ज्ञानं माहात्म्यैक्यज्ञानरूपां भक्तिं व्यापारीकृत्य यद्वा गीतोक्तं ज्ञानं पुरुषार्थस्य दुःखा-
भावस्य सुखस्य च साधनमतः कारणान्माहात्म्यैक्यरूपज्ञानायाथवा गीतोक्ताय ब्रह्मणां वेदान्तानां
विचारः, वेदान्तानामिति शेषे षष्ठी, तथा च वेदान्तप्रतिपाद्यवस्तुत्वपरीक्षणमिति वेदान्तप्रति-
पाद्याभिन्नविचार इति बोधः । प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावसंबन्धे षष्ठीति सर्वं सुष्ठु । विचारान्तःप्रविष्ट-
वस्तुरूपार्थमादायोत्तरः संदर्भो रश्मेः प्रपत्स्यते इति । पूर्वतन्नासिद्धं विषयलक्षणमाहुः

१. आरम्भणीयानारम्भणीयविचारः ।

किं तावत् प्राप्तम् । नारम्भणीय इति । कुतः ।
साङ्गोऽध्येयस्तथा ज्ञेयो वेदः

भाष्यप्रकाशः ।

तत्र विषयो नामापाततः प्रतिपन्नः संदिग्धोऽर्थः । तादृशश्चात्र वेदान्तविचारो न तु वेदान्ताः । तेषामग्रिमसूत्रेषु विचार्यत्वात् । विशयः संशयः । एकधर्मिकविरुद्धकोटिद्वयावगाहि ज्ञानम् । तदाकारश्चात्र, आरम्भणीयो न वेत्यनेनोक्तः । पूर्वपक्षः प्रतिवादिमतम् । तदाहुः नारम्भणीय इति । तत्र पृच्छति कुत इति । 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः' इति श्रुतावर्थनिश्चयं प्रति वेदान्तविज्ञानस्य हेतुतावोधनाद् विचारं विना च तदसंभवात् स आवश्यक इति कुतो नेत्युच्यत इत्यर्थः । एवं प्रश्ने प्रतिवादी अनारम्भणीयतामुपपादयन् गृह्णाति साङ्ग इत्यादि । अयमर्थः । वेदान्तविचारस्यारम्भणीयत्वं वदता सिद्धान्तिना विधिप्रयुक्तयारम्भणीयत्वं वक्तव्यम् । तत्र विचारे प्रत्यक्षविधेरदर्शनात् कथंचिद् कुतश्चिद् वैधत्वं साधनीयम् । ततश्च कर्मादिविधिभ्यस्तस्मिन्संभवादध्ययनादिविधिभ्यः साधनीयम् । तत्र, 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इत्येकः । 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयति तमध्यापयति' इत्यपरः । 'साङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इत्यन्यः । एते त्रयः पूर्वकाण्डस्थाः । 'श्रोतव्यः' इत्यादिरुत्तरकाण्डस्थेतरः ।

तत्र भाट्टास्तावदेवं मन्यन्ते । अध्ययनविधेरक्षरग्रहणमात्रपर्यवसानेऽदृष्टकल्पनापत्तेरर्थज्ञानरूपदृष्टफलार्थैव युक्ता । न च विमतं वेदाध्ययनमर्थज्ञानहेतुरध्ययनत्वाद् भारताध्ययनवदित्यनुमानेनाध्ययनस्य स्वाध्यायसंस्कारद्वाराऽर्थज्ञानहेतुत्वप्राप्तेर्न तावत्पर्यन्तं विधिव्यापारो युक्त इति वान्यम् । विमतं वेदाध्ययनं नार्थज्ञानहेतुर्वेदाध्ययनत्वादाधुनिकाध्ययनवदिति प्रत्यनुमानेन तद्बाधात् । न च लोकेऽवगतसामर्थ्यानां शब्दानां वेदेऽपि बोधकत्वाह्लिखितपाठादिनाऽप्यर्थज्ञानसंभवाच्चार्यबलादेव तत्प्राप्तेरर्थज्ञानांशे तस्मात्पूर्वविधित्वाभावाच्च तत्पर्यन्तं विधिव्यापारो युज्यत

रश्मिः ।

तत्र विषय इत्यादि । वेदान्तविचार इति । 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यारभ्य 'अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्' इत्यन्तसूत्रजातं ब्रह्मविचारशास्त्रं तत्तादृशमित्यर्थः । वेदान्तविज्ञानेति बुद्धिर्विज्ञानं मन्तव्यमिति प्रसिद्धश्रुतिमहाय श्रुत्यन्तरोपन्यासोनेकश्रुत्यनुगृहीतत्वात् । तदसंभवादिति । वेदान्तविज्ञानजन्यनिश्चितार्थं सुष्ठु (असंदिग्धोपि वेदार्थ इति भाष्येऽप्याह) तस्मात्संभवादित्यर्थः । गृह्णातीति हेतुत्वं संगृह्णातीत्यर्थः । यदि च प्रतीकमत्र कर्मत्वेनान्वेति तदा तु शेषोपि पूरणीयः । प्रथमप्रतीकेषु सूत्रविशेषणं भवितुमर्हति प्रतीकं 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति सूत्रमेवादौ पठन्तीति । तथा च त्रेधाऽन्यः प्रतीकस्य कर्मत्वेनाऽभेदेन करणत्वेन चेति सिद्धम् । तत्र स्वाध्याय इत्यादि । अत्रार्थं वाक्यं तैत्तिरीयब्राह्मणस्यम्, अन्यद्वाक्यद्वयं शाखान्तरीयम् । अध्यापयतिस्वाध्यापयेदिति केचित् पठन्ति, तृतीयं च 'ब्राह्मणेन निष्कारणः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इति पठन्ति । स्वाध्यायसंस्कारद्वारेति । 'अपहृतपाप्मा स्वाध्यायो देवपवित्रमिति' श्रुतेरपहृतपाप्मत्वमादिपदोक्तमयातयात्वं च तद्रूपसंस्कारद्वारेत्यर्थः । अथवा स्वाध्याय एव संस्कारस्तद्वारेत्यर्थः । अध्ययनं वेदे स्वाध्यायतासंपादनं यदर्थज्ञानहेतुरिति यावत् । विधिव्यापार इति शब्दो प्रवर्तनेत्यर्थः । दृष्टान्तवैषम्यान्नियमविधिमाक्षिपन् शङ्कां निषेधति

भाष्यप्रकाशः ।

इति वाच्यम् । अर्थज्ञानांशेऽस्य नियमविधित्वाङ्गीकारात् । न च यथाऽवघातनिष्पन्नैरेव तन्मूलैर्दर्शपूर्णमासापूर्वसिद्धिर्न पेषणादिनिष्पन्नैस्तथाऽध्ययनावगतेनैवाथेन क्रत्वपूर्वसिद्धिर्न तु प्रकारान्तरावगतेनेति फलांशे नियमविधित्वं न युक्तम्, अनारम्भाधीतत्वेन श्रुत्याद्यभावेन च क्रत्वर्थताया अशक्यवचनत्वादिति वाच्यम् । वैदिकशब्दानां विलक्षणत्वेन पूर्वोक्तरीत्या सम्यगर्थज्ञानामावे गृहस्थादीनां द्रव्यादियज्ञासिद्धेः सर्वधर्मलोपप्रसङ्गात् । अतः पूर्वोक्तदूषणेनापूर्वविधित्वनियमविधित्वयोरशक्यवचनत्वेऽपि, 'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयति' इत्यादिवाक्येषु द्वितीयानिर्देशेन तेषां संस्कार्यत्वावगमात् संस्कारस्य च कार्यान्तरयोग्यतासंपादनरूपत्वाद्दुपनयनसंस्कृतानां त्रैवर्णिकानां कार्यान्तरापेक्षत्वेन तत्संनिधिपठितस्याध्ययनस्य चानिर्दिष्टकर्तृकतया कर्त्रपेक्षत्वेन परस्परकाङ्क्षासंनिधियोग्यत्वैवैवर्णिकानां यज्ञरूपकार्यान्तराधिकारनियमार्थत्वस्याध्ययनविधौ सुखेन संभवात् । एवं चाधानाग्निहोत्रादिविधयस्त्रैवर्णिकेषु विद्वत्सु सत्सु तानेवाधिकुर्वन्ति । अन्यथा चतुर्थ्यादेरप्याक्षिपेरन् । सोऽयमधिकारो वक्ष्यमाणेऽपशुद्राधिकरणेऽध्ययनविधिप्रसादलभ्य इत्यध्ययनविधिरर्थज्ञानपर्यवसायीति ।

प्रामाकरास्तु, 'समाननोत्सज्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः' इत्याचार्यकरणे विहितेनोपनयतीत्यात्मनेपदेनोपनयनरूपस्य माणवकसंस्कारस्वाचार्यत्वसिद्धिप्रयोजनताप्रत्ययेऽपि, रश्मिः ।

न च यथेति । दर्शपूर्णमासापूर्वसिद्धिरिति । अवान्तरापूर्वद्वारेण दर्शपूर्णमासपरमापूर्वसिद्धिरित्यर्थः । श्रुत्याद्यभावेनेति । निरपेक्षो रवः श्रुतिः । आदिना लिङ्गादयः । वैदिकेत्यादि । स्वरादिकृतं वैलक्षण्यम् । स्फुटं प्रस्थानरत्नाकरे इदम् । द्रव्यादियज्ञासिद्धेरिति । 'द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञाः' इति गीतोदितास्त इत्यर्थः । सर्वधर्मलोपप्रसङ्गादिति । अतोऽनारम्भाधीतत्वेपि क्रत्वर्थतावक्ष्यमस्युपेयत्यर्थः । अत इति । क्रत्वर्थत्वादित्यर्थः । सर्वधर्मलोपप्रसङ्गादित्यर्थो वा । एतच्च यज्ञरूपेत्यादिनान्वेति । पूर्वोक्तदूषणेनेति लिखितपाठादिनार्थज्ञानसंभवरूपेण दृष्टान्तवैषम्यरूपेण चेत्यर्थः । संस्कार्यत्वावगमादिति । आप्यत्वोत्पाद्यत्वयोरसंभवेन तथात्वावगमादित्यर्थः । यज्ञरूपकार्यान्तरंति । स्वाध्यायब्राह्मणे 'यत्स्वाध्यायमधीयीतैकामप्यृचं यजुः साम वा तत् ब्रह्मयज्ञः संतिष्ठते' इत्युपक्रम्य 'तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' 'यं यं क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्टं भवति' इति तदुत्तरश्रुतेरिति भावः । एवं चाधानाग्निहोत्रादिविषय इति । 'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयति', 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति', 'यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' इत्येवमाद्या विषय इत्यर्थः । तानेवाधिकुर्वन्तीति । उक्तविषयस्तावद्विधाजैनमाक्षिपन्त्यनुपपत्त्या । यदा तु स्वाध्यायविधिविहिताध्ययनोपात्तविधा द्विजन्मानो लभन्ते तदा तैरेव लब्धत्मानो न चतुर्थस्य विद्यामाक्षिपन्ति, अनुपपत्तिश्चात् । यद्यपि चैवं विहितोपायसिद्धज्ञानवत् एव विषयोऽधिकुर्वन्ति, तर्हि तदेव ज्ञानमकर्मकालोपात्तमप्यग्निवत् क्रत्वङ्गमिति तच्छून्यस्य स्वाच्छन्देन विद्यामर्जयताः शूद्रस्वाधिकारो न सिद्ध्यतीति त्रैवर्णिकानेवाधिकुर्वन्तीत्यर्थः । अन्यथेति अध्ययनविध्याक्षिप्तत्वाभावे इत्यर्थः । चतुर्थ्यादेरिति । अधिकारमिति शेषः । संभवंसामान्यविवक्षया षष्ठी वा । इदमत्र श्रीवैश्विन्यमिप्रायं निश्चितं संमत्यर्थमाहुः सोऽयमित्यादि । अपशुद्राधिकरण इति । इद-

भाष्यप्रकाशः ।

‘उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते’ ॥

इति स्मृतौ क्त्वाप्रत्ययेनोपनयनस्याध्यापनाङ्गताप्रतीतेस्तत् कथमध्यापनस्योपकरोतीत्यपे-
क्षायां, ‘शिष्यम्’ इति, ‘तमध्यापयेत्’ इति च द्वितीयोक्तकर्मत्वलिङ्गादुपनेयासप्तद्वारेति निश्चीयते ।
उपनीतोऽपि नाकिञ्चित्करोऽङ्गमिति तद्व्यापारापेक्षायां वाक्यान्तर उपनयनं प्रक्रम्य विहितं
वेदाध्ययनमेवाध्यापनोपकारकत्वादुपनीतव्यापारतयाऽध्यवसीयते । तदेवं स्वाङ्ग्युपनयनं प्रयुञ्जा-
नोऽध्यापनविधित्तद्द्वारेणाध्ययनं प्रयुञ्जते । ततश्चाध्ययनस्यापि प्रयोजने विचार्यमाणे स्वसमवेत-
त्वेनान्तरङ्गत्वादर्थज्ञानमेव तथात्वेन निश्चीयते, न त्वाचार्यत्वसिद्धिर्बहिरङ्गत्वात् । न च प्रथमा-
वगतत्वेनाचार्यत्वसिद्धिरेवाध्ययनप्रयोजनं, न तु पश्चादवगतमर्थज्ञानमिति वाच्यम् । तत्सिद्धि-
विनाऽध्ययनानुष्ठानसंभवेन प्रथमं तदनवगमात् । न च शब्दादवगतो नियोग एव प्रयोजनम-
स्त्विति वाच्यम् । अर्थज्ञानस्यापि प्रतीयमानत्वेन त्यागायोगात् । नचैवमध्ययनस्यार्थज्ञानार्थत्वे-
ऽध्ययनविधिनैवार्थज्ञानप्राप्तिः किमिति नाद्रियत इति शङ्क्यम् । अध्ययनविधेरधिकारशून्यत्वादा-
चार्यकरणविधिप्रयुक्त्याप्यात्मलाभानङ्गीकारे विश्वजिदादिवन्नियोज्यकल्पनापत्तेः । अतोऽध्या-
पनविधिप्रयुक्तमेवाध्ययनमर्थज्ञानं च, नाध्ययनविधिप्रयुक्तमित्याहुः ।

एवं मीमांसकमतद्वयेऽप्यर्थज्ञानस्य वैधत्वात् तदाश्लेषविचारस्यापि वैधत्वम् ।

रामानुजाचार्यास्तु, अध्ययनविधिना स्वाध्यायारूपस्य वेदस्याक्षरारोप्रहणं विधीयते । तत्रे-
तिकर्तव्यताकाङ्क्षायामध्यापनविधिना,

‘श्रवण्यां प्रौष्ठपद्यां वा उपाकृत्य यथाविधि ।

युक्तश्छन्दांसधीयीत मासान् विप्रोऽर्धपञ्चमान्’ ॥

रश्मिः ।

मधिकरणं षष्ठस्य षष्ठेति । द्वितीयोक्तकर्मत्वलिङ्गादिति । तत्सामर्थ्यादित्यर्थः । खेत्यादि ।
स्वमात्मास्मन्मते मनस्तत्समवेतत्वेन स्वत्वापेक्षत्वरूपान्तरङ्गत्वादित्यर्थः । बहिरङ्गत्वादिति प्रयो-
गोपाधित्वेन तथात्वादित्यर्थः । तथाहि, संमाननेत्याद्युक्तसूत्रे उत्सृज्यज्ञानव्ययविगणनानि नयते-
र्वाच्यानि । इतरे तु प्रयोगोपाधयः । उत्सृजने दण्डमुन्नयते उत्क्षिपतीत्यर्थः । ‘ब्राह्मणमुपनयीत’
विधिनात्मसमीपं प्रापयेदित्यर्थः । उपनयनपूर्वकेणाध्यापनेनोपनेतरि ह्याचार्यत्वं क्रियत इति ।
आत्मलाभानङ्गीकार इति अधिकारिस्वरूपलाभानङ्गीकार इत्यर्थः । विश्वजिदादिवदिति ।
एतच्चतुर्थस्य तृतीयपादे ‘चोदनायां फलाश्रुतेः कर्ममात्रं विधीयत नह्यशब्दं प्रतीयते’ इत्यधि-
करणे ‘विश्वजिता यजेत’ इत्यत्र फलाश्रवणेपि अध्याहृतफलान्वयमङ्गीकृत्य तत्किमित्यपेक्षायां ‘सः स्वर्गः
स्यात् सर्वान् प्रत्यविशेषात्’ इत्यधिकरणे स्वर्गः फलमिति चिन्तितं, तेन स्वर्गकामो नियोज्य इति सिद्धं,
तद्वदित्यर्थः । अत इति । प्रयोगोपाधिनाप्याचार्यत्वकामात्मलाभेन लाववादित्यर्थः । तदाश्लेषेति ।
अविचारिताश्च शब्दा नार्थं प्रत्याययन्तीति भाष्यात् । ‘येन विना यदनुपपन्नं तद् तेनाश्लेष्यते’
इति । प्रौष्ठपद्यामिति भाद्रपद्याम् । उपाकृत्येति उपकारं कृत्वेत्यर्थः । उपाकर्मं कृत्वेति वार्थः ।
अर्धपञ्चमानिति । अर्धपञ्चमः पौषो माघो वा येषु भाद्रपदाश्विनकार्तिकमार्गशीर्षेषु आश्विन-

भाष्यप्रकाशः ।

इत्यादिभिश्चापेक्षितानि विधीयन्ते । तेनाचार्योश्चरणान्धारणरूपमध्ययनमक्षरारोप्रहण-
फलकमित्यवगम्यते । तत्र चतुर्वर्गफलस्य विधिवाक्ये कर्मत्वेन बोधितस्य स्वाध्यायस्य कार्यान्तर-
योग्यतासंपादनरूपः संस्कारः । तेनाध्ययनविधेरक्षरग्रहणमात्रपर्यवसायी । अध्ययनगृहीतं च
स्वमावादेवार्थबोधकमिति स्वाध्यायस्यापि तथात्वात् तत्रापाततोऽवगम्यमानानामर्थानां स्वरूप-
प्रकारविशेषनिर्णयाय वेदवाक्यविचाररूपमीमांसाद्वयश्रवणेऽधीतवेदः पुरुषः स्वत एव प्रवर्तते ।
तत्र कर्मस्वरूपनिरूपणे तेषामल्पस्थिरफलत्वं दृष्ट्वाऽध्ययनगृहीतस्वाध्यायैकदेशोपनिषदाक्येषु
चाऽमृतत्वरूपानन्तस्थिरफलापातप्रतीतेस्तन्निर्णयफलकवेदान्तविचाररूपशारीरकमीमांसायामधिकरो
तीत्याहुः ।

शैवस्तु, अध्ययनविधेरक्षरग्रहणमात्रपरत्वमङ्गीकृत्याध्ययनेनाऽऽपाततोऽर्थप्रतीतेस्तदनु ब्रह्म-
स्थूलोपासनभूतज्योतिष्टोमादिविधायकानां सूक्ष्मोपासनभूतदहरादिविधाविधायकानां चैतरेतर-
विरोधाभासं पश्यंस्तद्विचारे पुरुषार्थाकाङ्क्षी पुरुषः स्वयमेव प्रवर्ततेऽतो नानिबन्धनो विचार
इत्याह ।

मद्वमास्कराचार्यास्तु स्वाध्यायविधेरर्थावबोधपर्यवसितत्वेऽपि ब्रह्मज्ञानं तेनाक्षेपुं न शक्यम् ।
‘यज्ञेन दानेन’ इति, ‘शान्तो दान्त उपरतस्तिष्ठुः श्रद्धाचितो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्येत्’ इति
श्रुत्या ब्रह्मज्ञानस्योपायान्तरसापेक्षत्वात् । कर्मावबोधनसमर्थेषु पुरुषेष्वध्ययनविधेः कृतार्थत्वेनो-
पायान्तराक्षेपाक्षमत्वात् । ‘श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः’ इत्यादिश्रुतेर्ब्रह्मणो दुर्ज्ञेयत्वाच्च । अतो
ब्रह्मजिज्ञासा न तत्कारिता किंतु, ‘श्रोतव्यो मन्तव्यः’, ‘सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः’,
‘तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्’ इत्यादिवेदान्तविधिकारिता वास्त्वित्याहुः ।

तत्राध्ययनविधेरर्थज्ञानार्थत्वकल्पनमसंगतम् । ‘यं यं क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्टं
भवति’ इतिवाक्येनाक्षरग्रहणमात्रेऽपि फलबोधने तदतिहाय फलान्तरकल्पनस्यायुक्तत्वात् ।

रश्मिः ।

कार्तिकमार्गशीर्षेषु वा तादृशान् मासानित्यर्थः । चतुर्वर्गे तत्र बहुमीहिः । विधीति । ‘स्वाध्यायोऽ-
ध्येतव्यः’ इति वाक्ये । गृहीतं चेति शास्त्रमित्यर्थः । इत्याहुरिति । तेनात्राक्षरग्रहणमधिक-
मिति पूर्वस्माद्विशेषः । विरोधेत्यादि । ‘आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास इष्यते’ इत्यलंकारं
लक्षयित्वा ‘विनापि तन्वि हारेण वक्षोर्जा तव हारिणौ’ मनोहारिणौ इत्युदाहरणम् । ‘षटाद्विना
घटीयो धनेशः संराजतेऽधुने’ति चोदाहरणम्, तत्र प्रष्टेष्टादाभासः । एवं चैकशास्त्राद्विरोधः । साधन-
योरेकत्र सहानवस्थानलक्षणः आभासो विरोधस्यैवं कर्माणि ज्ञानप्रयोजकतया मोक्षे समुचीयन्त इति
वक्ष्यन्ति । भंगवांश्चैवाचार्य इति गुणकर्मत्वादङ्गत्वं ज्योतिष्टोमादीनामिति । इत्याहुरिति । तेनैतन्मते
विचारसार्थक्यमात्रम्, न तु तस्य वैधत्ववैधत्वविवेचनमिति । ग्रामं गच्छतीत्यादौ ग्रामसंयोगोऽवान्तर-
संयोगान् गृह्णातीति तदनुसारेणाध्ययनस्याक्षरग्रहणमात्रं फलमित्याशयेनाहुः तत्रेति । दूरान्वयदोषोपि
मीमांसकमते यः सोपि न । अक्षरग्रहणमात्र इति । दृश्यमाने इष्ट इत्यर्थः । इदानीं ‘लभ्यमाने
फले दृष्टे नादृष्टफलकल्पना । विधेस्तु नियमार्थत्वाज्ञानार्थक्यं भविष्यति’ इति वाक्यात् । स्वर्गब्रह्मज्ञानादि
तु साधनान्तरयागविज्ञानादिभिरिष्टत्वेनोक्तं भवति ।

भाष्यप्रकाशः ।

वाक्यबलेनाऽदृष्टद्वारकत्वस्याप्यदृष्टत्वात् । तेन तेन कत्वध्ययनेनास्याध्येतुरिष्टं भनोवाञ्छितं भवतीति दृष्टफलार्थत्वस्यापि शक्यवचनत्वाच्च । नच प्रत्यक्षविरोधः । इदानीन्तनाध्ययनस्य व्यङ्ग्यत्वेनादोषात् । नच व्यङ्ग्यत्वे मानाभावः । स्वाध्यायपदस्य वेदे योगरूढ्या सुष्ठाममन्तादध्यायो यस्येति योगस्यापि ग्राह्यत्वे देशकालगुरुशिष्यनिष्ठानां शोभनगुणानां पाठार्थानुष्ठानेषु शङ्काराहित्यरूपस्य समन्तत्वस्य च ग्रहणेन स्वाध्याय इति समाख्याया एव तत्र मानत्वात् । नचैवं सत्यर्थज्ञानस्यापि प्राप्तेः कथं तदर्थत्वकल्पनस्यासंगतिरिति शङ्क्यम् । तैस्तस्य माणवकाधिकार-
रश्मिः ।

ननु तत्रापीत इत्यध्ययनस्य स्वर्गब्रह्मज्ञानपर्यन्तमस्थानादिष्टपदोक्तसाध्यसाधनभावव्याहतिरित्याशङ्काहुः वाक्यबलेनेत्यादि वाक्यं यं यं क्रतुमिति । अभ्युपगम्याहुः तेन-तेनेति दृष्ट-
फलार्थत्वेन । दृष्टफलार्थत्वस्येष्टार्थत्वस्येति यावत् । इति योगस्यापीति । पूर्वकाण्डविषयत्वेन रूढे शब्दे । देशकालेत्यादि । यज्ञाद्यनुष्ठानात् देशादयः । पूर्वतन्त्रे एकादशस्य द्वितीये पादे 'एकदेशकाल-
कर्तृत्वं' इत्यधिकरणे समे दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत पूर्णमासां पूर्णमासा यजतीति समत्वपूर्णमासीत्वे देशकालयोरुणौ चिन्तितौ । गुरुशिष्ययोस्त्वत्रैव स्पष्टा इति । समाख्याया इति । यौगिकस्य शब्दस्येत्यर्थः । तन्मतमनुस्मृत्य दूषयन्ति तैस्तस्येति । मीमांसकैरित्यर्थः ।

सिद्धान्तस्तु प्राथमिकमध्ययनमध्यापनविधिप्रयुक्तम्, माणवकोपनयनस्याध्यापनाङ्गत्ववद-
ध्ययनाङ्गत्वेपि तस्य बालत्वेन स्वतोध्ययने प्रवर्तनादर्शनात्, किंच 'द्वितीयं प्राप्यानुपूर्व्यां जन्मोपनयनं द्विजः' इत्युपनीतमुपक्रम्य 'आचार्यं मां विजानीयात्' इति तस्याचार्ये भगवद्बुद्धिकरणं विहितम् । तथा 'गच्छेदाचार्यसंसदि' इति स्मृत्यन्तरे चाचार्यसंसद्रमनं च विहितम् । तदुभयमपि श्रीडना-
सक्तस्य बालस्य न संभवति । तस्माच्छ्रुतिचोदितोऽध्ययनज्ञानयोर्विधिर्न माणवकमधिकरोति । अपि च । त्रैवर्णिकाः कर्तव्यमपेक्षमाणा अध्ययनं च कर्तारमपेक्षमाणसुभये सापेक्षा अन्योन्यं भवन्ति । तत्र विद्वत्सायण्यतदयोग्यौ कर्तारवपेक्षतेऽध्ययनम् । नाद्यः । फलोपधायकयोग्यमपेक्षमाणं न माणवकमपेक्षेत्, नेतरः तादृशफलानिष्पत्तेः । न चैवं त्रैवर्णिकाधिकारनियमभङ्ग इति वाच्यम् । अष्टवर्षवाक्ये उपनयनाध्यापनयोः संनिधानादध्ययनं विना चाध्यापनासिद्धेस्तदाक्षिप्तैर्नैवाध्यय-
नेनोक्ताधिकारनियमसिद्धेः । न च स्वाध्यायवाक्यवैयर्थ्यमिति शङ्क्यम्, वेदस्य स्वाध्यायत्व-
बोधनेन तस्य कृतार्थत्वात् । एतेनाध्ययनविषयभावे माणवकस्याध्ययनार्था प्रवृत्तिर्न स्यादिति प्रत्यु-
क्तम् । स्वस्याचार्यत्वसिद्धाधियुगैव तेऽध्यापनीया इति । न च किमनेन निर्बन्धेन अध्ययन-
विधिरेव माणवकं प्रवर्तयत्विति शङ्क्यम्, विधिव्यापारकौण्ड्यप्रसङ्गात् । यत्तुपनीतव्यापारपेक्षायासु-
पनयनमुपक्रम्य विहितमध्ययनमध्यापनोपकारकत्वेन तदङ्गं नार्थज्ञानाङ्गं साध्यद्वयसंक्रान्तसंभवा-
दित्युक्तं तदपि न । एकस्यापि वाहनकरणकयानस्य सुष्ठोदेशदेशप्राप्त्योरङ्गत्वात् । तदप्यध्या-
पनाक्षिसमध्ययनं लौकिकमेवोपकारीक्यम्, तावताप्यध्यापनसंभवात्; विहितस्यापि तत् एवाङ्गी-
कारे तद्वैशमाभावात् ततो नापूर्वं सिध्येदित्युक्तम्, तदपि तथा । लौकिकेन तेनाचार्यत्वासिद्धेः । वेदाध्ययनेनैव तस्मरणात् । न चापूर्वासिद्धिरिति वाच्यम्, आचार्यकृतोद्देशेनापि तत्सिद्धेः । पूर्वतन्त्रीयचतुर्थतन्त्रीयस्य 'फलसंयोगस्त्वचोदिते न स्यादशेषभूतत्वात्' इत्यधिकरणचिन्तितजातेष्टौ पितृ-
कृतोद्देशवदिनि दिक् ।

भाष्यप्रकाशः ।

त्वेनाङ्गीकारात् । वेदस्य गुरुमुखाद् ग्रहणदशायां तं प्रति स्वाध्यायत्वस्य भावित्वेन तदानी-
मभावात् । 'वेदमनुच्याऽऽचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति, सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमद',
इति तैषिरीयाणां शिक्षोपनिषद्भृत्या तथानिश्चयात् । आधानाधिदोत्रादिविधीनामपि तत्र
तदाक्षेपकत्वस्याध्ययनविधिप्रसादलभ्यत्वोपगमेन प्रसादस्य च माणवके सामर्थ्याभावादभावेन
तेषामप्याक्षेपकतायां कौप्याच्च । आश्रिते चैकवाक्यत्वे, ज्ञेयत्वेति विध्यन्तरस्यापि संग्राहत्वात्
तद्वलादेवार्थज्ञानमङ्गीकार्यम् । अन्यथा तद्वैयर्थ्यादिति । अत एव प्राथमिकाध्ययनस्यापि
तदर्थत्वमसंभवंतम् । किंत्वध्यापनप्रयुक्तत्वं यदुक्तं तन्मात्रं युक्तम् । ज्ञातुर्नियोज्यस्याचार्यत्व-
कामिनस्तत्रैव विधौ सत्त्वेन लिङ्गप्रयोगेण च तत्र विधित्वस्यासंदिग्धत्वात् । कृत्यानां त्वाव-
श्यकार्थेऽप्यनुशासनात् । वयसा जातस्यातस्याणां त्रैवर्णिकानामध्ययनस्यावश्यकत्वबोधनेन
याक्यसार्थक्यसिद्धेः । एवं च यद्यध्यापनविधावध्यापनमात्रं युतं, तथापि, 'साङ्गो वेदोऽध्येयो
ज्ञेयश्च' इतिश्रावणाद् गुरुणाङ्गापाठनेर्थाज्ञापने च तदसिद्ध्या वैयर्थ्यं वाक्यस्य प्रसक्ते तद्वारणाय
तथाध्यापनमङ्गीकरणीयम् । आचार्यलक्षणस्मृतौ वेदस्य 'सकल्पं सरहस्यं च' इति विशेषणाच्च ।
रश्मिः ।

प्रकृतमनुसरामः । दूषणमाहुः वेदस्येत्यादि । अभावादिति । तथा च माणवकं
प्रति स्वाध्यायसमाख्यासामर्थ्यविरहेणार्थज्ञानस्याप्यनुपलब्धेर्न तदर्थत्वकल्पनमिति भावः । ननु
स्वसाक्षाधारण्येन पितृपितामहादिपरंपराप्राप्ता शाखा स्वाध्याय इति योगस्य सायणीयेऽङ्गीकारात्,
पूर्वाक्तं न साधीय इति शङ्कामपनुदन्तो वेदे स्वाध्यायत्वस्य भावित्वं श्रौतमित्याहुः वेदमनु-
च्येत्यादि । तथानिश्चयादिति वेदे स्वाध्यायत्वस्य भावित्वनिश्चयादित्यर्थः । अन्यथा
स्वाध्यायमनुच्येत्येव वेदेदिति भावः । तदाक्षेपकत्वस्येति विद्वत्त्रैवर्णिकाक्षेपकत्वस्येत्यर्थः । आक्षे-
पकनायामिति अर्थज्ञानाक्षेपकतायामित्यर्थः । अतः परमवशिष्टमर्थज्ञानांशे नियमविधित्वम्, तदपि
प्राभाकरमतदूषणेन दूषितं भविष्यतीत्याशयेनाहुः आश्रिते चेति । इतीति । अयमत्र प्रकर्षं
कृते । तथा च विधिवैयर्थ्यं प्रकृत्यो हेतुरित्यर्थः । प्रत्यक्षश्रुतिलभ्यत्वसंभवे चोदकप्राप्तत्वस्वीकार-
स्यानुचितत्वादित्यपरः । एतच्च पूर्वतन्त्रे द्वादशस्य चतुर्थे पादे 'विप्रतिपेधे परम्' इत्यधिकरणे चिन्ति-
तम् । यत्रात्विय्याजमानयोः कर्मणोर्युगपदात्मलाभस्तत्र ये यजमानास्ते ऋत्विज इति विहित-
मार्त्विज्यं चोदकप्राप्तयाजमानाद् वलीय इति । विधाविति उपनयीतेति विधावित्यर्थः । पूर्व-
तन्त्रे अपूर्वत्वोपात्ताक्षादध्ययनविधिप्रयोजनमाहुः कृत्यानामित्यादि । अनुशासनादिति ।
'आवश्यकाधमर्णयोर्णिनि' इत्येतदनन्तरं 'कृत्याश्च' इत्यनुशासनादित्यर्थः । वाक्यसार्थक्यसिद्धेरिति ।
तेन नात्र नित्यानुवादगन्धोपीत्याशयः विधिपक्षेऽप्युपादेय इति वक्ष्यन्ति । न चैवमनधीयाना प्राप्ता
भवन्तीति वाक्यवैयर्थ्यम् । 'तयोरेव कृत्यक्तवर्थाः' 'प्रेषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च' इत्यादिसूत्रेने-
कार्येषु प्राप्तस्य तस्यस्वावश्यकार्थत्वावेदकत्वात् । वाक्यत्रयैकवाक्यतया यत्सिद्धं तदाहुः एषं
चेत्यादि । विशेषणाञ्चेति । अनेनाध्यापनविधौ नियोज्याभावादध्यापनसमभिव्याहृतोपनयी-
तेत्यात्मनेपदेनाचार्यकरणत्वमे तत्कामिना नियोज्याकाङ्क्षा पूरणीया । तथा सत्यध्यापनस्याचार्यत्व-
सिद्धिः प्रयोजनं नत्वर्थज्ञापनमपि, ततश्च सिद्धे आचार्यत्वे तस्यार्थज्ञापनस्यावश्यकत्वान्माणव-
३ ३० स० २०

भाष्यप्रकाशः ।

एवं साङ्गेष्वधीते ज्ञाते च तस्य स्वाध्यायः सिद्ध्यति । तदोक्तं फलमपि संपद्यत इति वाक्यत्रयैक-
वाक्यतयावसीयते तस्मात् प्राथमिकाध्ययनमध्यापनप्रयुक्तम्, अर्थज्ञानं च प्रत्यक्षश्रुतिलभ्य-
मिति भाट्टप्राभाकरयोः पूर्वोक्तकल्पना असंगतैव । कृत्यप्रत्यययोर्विध्यर्थकत्वपक्षेऽप्युक्त एव
प्रकारो युक्तः । अन्यथा विधिकौण्ड्यप्रसङ्गात् । एवंच रामानुजाचार्यैरध्ययनविधेरक्षरग्रहणपर्य-
वसायित्वं, स्वाध्यायस्य च स्वभावादर्थबोधकत्वं यदुक्तं तदप्युक्तदिशैव युक्तम् । नत्वन्यथापि ।
एवमेव भास्कराचार्योक्तं स्वाध्यायविधेरर्थबोधपर्यवसितत्वेऽपि बोध्यम् । त्रैवस्तु विचारसार्थक्य-
मात्रमाह, न तु शास्त्रप्रयोजकं कंचन विधिमपीति तन्मते वैधत्वमेवापाति । तेन तद्बुदासीनप्रा-
यम् । एवं वेदान्तस्यविधावपि श्रवणपदेन शब्दग्रहणं मननपदेनावबोधोऽन्वेषणविजिज्ञासापदाभ्यां
वेच्छा विधीयत इति बोद्धव्यम् । नचेच्छाया अविधेयत्वम् । 'तिस्रः खलु एषणा एवित्य्याः'
इति चरके पतञ्जलिनाऽभिधानात् । अतः शंकराचार्यादृतस्तद्विजिज्ञासस्य तद् ब्रह्मेति विधिरपि
तथा । एवंच मैश्वरे ये विधय उक्ताः, 'आत्मेत्येवोपासीत,' 'स म आत्मेति विधात्' 'तमेव
धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः' इति । तेषुपि ज्ञान एव, न विचारे । ये चापि मध्वाचार्यैर्विज्ञा-
साद्यन्ते, 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च' इति तेषुपि सर्वे ज्ञान
एव पर्यवस्यन्ति ।

यत्तु शौचः । किमयं श्रोतव्य इति विधिर्नियमः परिसंख्या वा । नाद्यः । वेदान्तश्रवणं

रश्मिः ।

कस्याविद्वत्तायां यज्ञाद्यनधिकार इत्याद्यज्ञापास्ता । फलमिति 'तेन तेनास्येष्टं भवति' 'अग्नेर्वायो-
रादित्यस्य वा सायुज्यं गच्छति' इति फलमित्यर्थः । वाक्यत्रयैकवाक्यतयेति । सा चेत्यम् ।
अष्टवर्षमिति वाक्योक्तमध्यापनप्रयुक्तमध्ययनं स्वात्मलाभाय 'साङ्गः' इति वाक्योक्तसाङ्गत्वज्ञेयत्वा-
सक्तमवगम्यते । तदनु शङ्काद्यपनुत्या स्वाध्याय इति । सिद्धमाहुः तस्मादिति । उक्त एव प्रकार
इति वाक्यत्रयैकवाक्यताप्रकार एवेत्यर्थः । विधिकौण्ड्यप्रसङ्गादिति 'स्वाध्यायो' 'ज्ञेयश्च' इति
विधिकौण्ड्यप्रसङ्गादित्यर्थः । एवं चेति । 'ज्ञेयश्च' इति प्रत्यक्षविधेरकौण्ड्यस्यावश्यकत्वे चेत्यर्थः ।
विचारेति आपाततः प्रतीतार्थं तत्पोषकविचारः युक्तत्वायुक्तत्वपोषणनिरासाभ्यां युक्तत्वायुक्तत्वार्थान्यां
सह वर्तमानो विचारः सार्थकः, तस्य भावः सार्थक्यम्, सार्थक्यमेव सार्थक्यमात्रम् । शास्त्र-
मिति शास्त्रं वेदान्तरूपं तदुपाङ्गं मीमांसा सापि शास्त्रमवयवी अनङ्गीकारात् । तस्य प्रयोजको
विधिस्तम् । अवैधत्वमिति । न च श्रोतव्य इत्यत्र ब्रह्मवाचकपदानां ब्रह्मणि शक्तितात्पर्यनिर्धारः
श्रवणमिति कथं अवैधत्वमिति शङ्क्यम्, अस्य विधित्वस्य तैरनङ्गीकारात् । सोऽत्रैवामे स्फुटः
संप्राप्तत्वात् । भास्करमतीयमविरुद्धमयं व्याकुर्वन्ति एवं वेदान्तस्येति । तथेति इच्छाविधायकत्वेन
प्रकारेणेत्यर्थः ।

श्रोतव्य इत्यस्य विधित्वं निर्णेतुं तावच्छैवमतं प्रसङ्गादाहुः यत्तु शौच इति । विधिरिति
अपूर्वविधिरित्यर्थः । प्रमाणान्तरेण यस्य यदर्थत्वमप्राप्तं तदर्थत्वेन तस्य विधिः सः । 'यजेत स्वर्ग-
कामः' इति, यथा प्रमाणान्तरेण यागस्य स्वर्गार्थत्वानवगमाल्लक्षणसंगतिः । नियम इति पक्षे, अप्रा-
प्तस्य विधिः सः । श्रीहीनवहन्ति इति । यथा नखविदलनादिना पितृवीकरणपक्षेऽप्राप्तस्यावहन-
नस्य विधानात् । स चाप्राप्तांशपूर्णात्मकः परिसंख्येति । उभयस्य युगपत् प्राप्तौ इतरव्या-

शब्दाश्च बोधकाः ।

निःसंदिग्धं तदर्थान् लोकवद् व्याकृतेः स्फुटाः ॥

भाष्यप्रकाशः ।

स्वविषयमाश्रयगतिसाधनं शास्त्रश्रवणत्वाद् वैद्यकशास्त्रश्रवणवदित्यनुमानेनापि प्राप्ततयाऽपूर्वत्वा-
भावात् । न द्वितीयः । अवघातवद् दृष्टफलस्योपायान्तरस्याप्राप्तत्वात् । नेतरः । तथा सति
श्रोतव्या एव वेदान्ता नाध्येया इति स्यात् । ततश्च विचारस्याप्ययोगात् पुरुषार्थसंभवः ।
एवं च वेदाध्ययनादिरपि निवर्ततेति महानवानयः स्यादिति विकल्पितवान् । तत्तुच्छम् ।
हेतोः साधारणत्वेनानुमानतोऽप्राप्तावपूर्वविधित्वस्य स्थिरत्वात् । कथं साधारणतेति चेद् वेदान्त-
श्रवणं न स्वविषयावगतिसाधनं शास्त्रश्रवणत्वाद् सन्नश्रवणवदित्येवमवधेहि । किंच, श्रवणपदं
शब्दग्रहणमात्रपरं वा, वाक्यार्थज्ञानपरं वा । आद्ये विधिवैध्यापत्तिः । स्वाध्यायविधिर्नैव
चारितांध्यात् । नचाध्ययननियमाभावाय पुनर्विधानमिति वाच्यम् । आचारविरोधात् ।
त्रैवर्णिकाधिकारस्यापि त्यागापत्तेश्च । द्वितीये तु निराबाधं विधित्वम् । अन्यथा वाक्यवैय-
र्थ्यापत्तेरिति ।

अतः पूर्वोक्तविधेरर्थज्ञानमात्रार्थत्वेनोत्तरकाण्डेयस्यापि ब्राह्मणश्रमणन्यायेन विशेषे-
षार्थतया विचारस्यावैधत्वात्तन्ममणीयः । ननु संदेहाभावायाध्ययनादिविधौ विचार आक्षेप्य
इत्यत आह शब्दाश्चेत्यादि ।

रश्मिः ।

वृत्तिपरो विधिः सा, पञ्च पञ्चनखा मक्ष्या इति । यथा । भक्षणस्य रागप्राप्तत्वात् पक्षेप्राप्तत्वाभावाच्च
नापूर्वनियमोऽन्यपञ्चनखभक्षणनिवृत्तिपरत्वात् पञ्चनखापञ्चनखभक्षणस्य युगपत् प्राप्तत्वात् परि-
संख्या । अत्र श्रुतस्य पञ्चनखभक्षणस्य हानाच्छ्रुतहानिः । अपञ्चनखभक्षणनिवृत्तिकल्पनादश्रुत-
कल्पना । अपञ्चनखभक्षणस्य बाधनात् प्राप्तबाध इति दोषत्रयवती । ततश्चेति अध्ययनाभावा-
चेत्यर्थः । अनुमयस्य युगपत्प्राप्तावितरव्यावृत्तेरित्यर्थः । एवं चेति । पूर्वोक्तपरामर्शेनाध्यापनवि-
धावपि परिसंख्यापत्त्येत्यर्थः । श्रवणपदमिति । इदं तव्यान्तप्रकृतिरूपं ज्ञेयम् । विधिवैध्यापत्ति-
पत्तिरिति श्रोतव्य इति विधिवैध्यापत्तिरित्यर्थः । चारितांध्यादिति शब्दग्रहणस्यैवाध्ययन-
पदार्थत्वेन तथात्वादित्यर्थः । न चेत्यादि । श्रोतव्य इति पुनर्विधानं श्रवणेध्ययनानन्तर्यनियमा-
भावायेत्यर्थः । तथैवाचारमाशङ्क्य हेत्वन्तरमाहुः त्रैवर्णिकेत्यादि । अध्ययने त्रैवर्णिकाधिकारात् तस्य
चामावाञ्छ्रवणविधिः सर्वानप्यधिकुर्योदित्यर्थः । निराबाधमिति । वाक्यार्थज्ञानस्याध्ययनविधि-
नानुपलब्धेर्निराबाधं श्रोतव्य इत्यस्य विधित्वमित्यर्थः । द्वितीयाध्यादेरे युक्तिमप्याहुः अन्यथेति ।
ब्राह्मणश्रमणन्यायेनेति । ब्राह्मणाश्चेत् श्रमणास्तेन न्यायेनेत्यर्थः । यथा ब्राह्मणः सन् श्रमणो
भवति, पश्चाद्भूतपूर्वगत्या श्रमण इत्युच्यते तथा । विशेषार्थेति । वेदान्तार्थज्ञानपरतयेत्यर्थः । एता-
वता 'साङ्गोऽध्येयस्तथा ज्ञेयः' इति भाष्यं हेतुदयसमर्पकं विवृतम् । शब्दाश्चेति । शब्दाश्च
निःसंदिग्धं बोधकाः लोकवद् व्याकृतेर्व्याकरणात्तदर्थान् स्फुटा इत्यर्थः । व्याकरणत्वं च
महाभाष्ये लक्ष्यलक्षणसमुदायत्वम् । लक्ष्याः प्रयोगाः सुधुपासादयः । लक्षणानि सूत्राणि अइउणि-
त्यादीनि वृद्धिरादौजित्यादीनि च । एवं लौकिकशब्दविषयं व्याकरणम् । अलौकिकशब्दविषयं तु
विकल्पनादिविधिमल्लक्ष्यलक्षणसमुदायरूपम् । ननु ये एव लौकिकाः शब्दास्ते एव वैदिका इति
सावरभाष्ये शब्दाभेदाल्लक्षणभेदः कृत इति चेद् न । निबन्धटीकायां वैदिकशब्दानां खरादिना

अर्थज्ञानार्थं विचार आरम्भणीयः । तस्य च ब्रह्मरूपत्वात् तज्ज्ञाने पुरुषार्थो भवतीति न मन्तव्यम् । विचारं विनापि वेदादेव साङ्गादर्थप्रतीतिः ।

भाष्यप्रकाशः ।

विशेषबोधनाय स्रोतं विभजते अर्थज्ञानेत्यादि । सर्वेऽपि प्रयोजनमुद्दिश्य कार्यमारभते । तत्रास्य विचारस्य प्रयोजनं वेदार्थज्ञानं वाऽन्यद् वा । तत्रान्यस्यादर्शनाद्, 'वेदान्तविज्ञानसुनि-
धितार्थाः' इतिवाक्यबोधितमाद्यमेवादर्थव्यम् । तत्रापि तस्य स्वतोऽपुरुषार्थत्वात् प्रयोजनान्तर-
मेष्टव्यम् । तच्च प्रयोजनमनन्तविधमप्यैहिकामुष्मिकपुरुषार्थेऽन्तर्भूतत्वात् पुरुषार्थरूपम् । तच्च
वेदार्थज्ञानेन भवतीति तदर्थं विचार आरम्भणीयो, न तु स्वतःपुरुषार्थत्वात् । वेदार्थश्च,
'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इति, 'वेदेषु सर्वैरहमेव वेद्यः,'

'वेदास्त्रिकाण्डविषया ब्रह्मात्मविषया इमे, परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं च मम प्रियम्'

इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिर्ब्रह्मरूपः । नच 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' इत्यादिस्मृतिभिर्धर्मरूप इति
वाच्यम् । 'यज्ञो वै विष्णुः' इति, 'धर्मो यस्यां मदात्मकः' इति श्रुतिस्मृतिभ्यां धर्मस्यापि
ब्रह्मरूपत्वबोधनात् तद्वैपैवार्थत्वात् । ब्रह्मणस्तु ज्ञानादेव पुरुषार्थसिद्धिः । 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'
'आनन्दं ब्रह्म' इत्युपक्रम्य, 'य एवं वेद प्रतिष्ठति, अन्नवानन्नादो भवति महान् भवति प्रजया
पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन महान् कीर्त्या' । दहरविद्यायां दहरपुण्डरीकवैरमस्थितस्वाकाशस्यैतदमृतमभय-
मेतद् ब्रह्मेत्यनेन ब्रह्मत्वमुक्त्वा, एवंवित् स्वर्गं लोकमेतीत्येवंविधेषु वाक्येष्वैहिकामुष्मिकपुरुषार्-
थस्य ज्ञानमात्रेणैव श्रावणात् तावतापि पुरुषार्थसिद्धेर्ब्रह्म न मन्तव्यं न विचार्यमित्यर्थः ।

रश्मिः ।

भेदकथनात् । महाभाष्येपि 'व्यत्ययो बहुलम्' इति योगविभागेन 'सर्वे विषयश्छन्दसि विकल्पन्ते'
इति परिभाषासाधितोक्तवेदेषु विकल्पनादिविधिमलक्ष्यलक्षणसमुदायसत्त्वे शब्दाद्भेदे आयात्येव । तथा
वेदेषु योगरूढिः, वेदान्ते तु योगः । तदुक्तं पत्रावलम्बने

'लौकिको वैदिकश्चैव व्यवहारो द्विधा मतः ।
लोकसिद्धं पुरस्कृत्य वैदिको बोध्यते यथा ॥
लोके शब्दार्थसंबन्धो रूपं तेषां च यादृशम् ।
न विवादस्तत्र कार्यो लोकोच्छित्तिस्तथा भवेत् ॥
ब्रह्मवादे निरुक्तिस्तु न वक्तव्यैव कुत्रचित् ।
वस्तुतो ब्रह्म सर्वं हि व्यवहारस्तु लोकतः ॥
ये घातुश्चन्दा यत्रार्थ उपदेशे प्रकीर्तिताः ।
तथैवार्थो वेदराशेः कर्तव्यो नान्यथा क्वचित् ॥

इति योगकथनात् । पूर्वमीमांसाकारिकासु तु 'लौकिकवैदिकव्यवहारकथनावसरे 'जलाप्रयोरिव संरञ्जा
तयोः कार्यो मनीषिभिः' इत्युक्तम् । 'विचारो योगरूढितः' इत्यपि तत्र । स्वोक्तमिति खेन कारि-
कयोक्तमित्यर्थः । प्रयोजनमिति फलमित्यर्थः । तस्य इति वेदार्थज्ञानस्येत्यर्थः । तस्य चेत्या-
दिभाष्यं विवृण्वन्ति वेदार्थज्ञानेत्यादि । मीमांसकाश्चात्मनूद्य निषेधन्ति न चेत्यादि । तज्ज्ञानं
इत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति । ब्रह्मणस्त्विति । सांख्यान्तरेण प्राप्तं ब्रह्मविचारं प्रत्यास्मानि

नचार्थज्ञानमविहितम्, अविचारिताश्च शब्दा नार्थं प्रत्याययन्तीति वाच्यम्,
ज्ञेयश्चेति विधानात् ।

'गीती शीघ्री शिरःकम्पी तथा लिखितपाठकः ।

अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च पठेते पाठकाधमाः'

इति बाधोपलब्धिश्च । शब्दश्चक्षुरादिवन्न संदिग्धार्थप्रतिपादकः । तदर्थश्च

भाष्यप्रकाशः ।

न च श्रोतव्य इति विधिना श्रवणं विधाय तदर्थमननाय मन्तव्य इति विध्यन्तरदर्शनादवबो-
धसामान्यस्य तदर्थत्वेनाशक्यवचनत्वाद् युक्तिभिरनुचिन्तनमेव मननपदार्थो वक्तव्य इति विचा-
रोऽपि प्राप्त एवेति वाच्यम् । तस्य शरीरपरत्वात् । प्रियत्वलिङ्गेन तथा निश्चयात् । नच वाक्यार्थः
शरीरः परमात्मा वेति संदेहे लिङ्गादिभिस्तन्निश्चितार्थबोधार्थमेव विचार आक्षेप्य इति वाच्यम् ।
वेदे साङ्ग इति विशेषणादधीतनिगमनिरुक्तव्याकरणस्य विचारं विनापि तैरेव तत्संभवात् । तेषु
श्रुतीनामेवोदाहृतत्वात् । न च मास्तु वाक्यार्थज्ञानार्थं विचारापेक्षा । पदार्थज्ञानार्थं त्वावश्यकः ।
शब्दानां प्रायशोऽनेकार्थत्वेनानेकवृत्तिकत्वेन च कया वृत्त्या कथमर्थं बोधयन्तीति निश्चया-
भावात्, तदर्थज्ञानस्य चाविहितत्वेन तदविचारादिति शङ्कनीयम् । ध्येयत्ववत् साङ्गस्य ज्ञेय-
त्वविधानेन गुरुत्वादेव पदार्थज्ञानस्यापि सिद्धेः । नच विध्यमावाद् गुरुणार्थो न वक्तव्य इति शङ्का
कार्या । वाक्यान्तरे बाधोपलब्धेः । तदिदमुक्तं, नचार्थेत्यादिना । नापि संदेहाभावाय
तदपेक्षा । शब्दस्य निःसंदिग्धार्थबोधकत्वात् । न हि गौरित्युक्ते सत्त्वान्तरबोधो भवति ।

रश्मिः ।

न चेत्यादि । तस्येति । 'आत्मा वा अरे' इति वाक्यस्येत्यर्थः । अत्रोपक्रमं नियामकं करोति
प्रियत्ववेति । मैत्रेयीब्राह्मणे 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो
भवति' इत्यात्मानमुपक्रम्यास्य निर्देशेन शरीरपरत्वनिश्चयादित्यर्थः । अत्र मैत्रेय्याः कृत्वेन तदवि-
कारानुसारेण जीवोपक्रमात्तस्य पूर्वपक्षग्रन्थत्वाच्च वाक्यान्यवाधिकरणविरोधः । तत्संभवादिषि
शरीरः परमात्मा वेति संदेहानुपपत्तिसंभवादित्यर्थः । तेष्विति निगमनिरुक्तव्याकरणेष्वित्यर्थः ।
स्पष्टम् । यदा तु समाहारद्वन्द्वात्, निगमे व्याकरणं यथा, अत्र च 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः'
इति निगमस्तत्र । न च जीवो द्रष्टव्यः श्रोतव्यः, कर्तृत्वात्, आत्मनश्च कर्मत्वादिति व्याकरणम् ।
एवमन्यत्रापि ।

'अहमात्मात्मनां घातः प्रेष्टः सन् प्रेयसामपि ।

अतो मयि रतिं कुर्यादेहादिर्यत्कृते प्रियः' इति ।

मयवद्वाक्यमभ्युपलक्षणविषया ज्ञेयम् । न चार्थज्ञानेत्यादिभाष्यमवतारयन्ति न च
मास्तिविति । कारिकासं तत्रापदं विवृण्वन्तो 'ज्ञेयश्च' इति विधानादिति भाष्यार्थमाहुः अध्ये-
यत्ववदिति । 'गीती शीघ्री' इति भाष्यमवतारयन्ति न चेति । वाक्यान्तरे पाणिनीयसिद्धा-
स्यम् । यद्वा 'ज्ञेयश्च' इति वाक्यादन्यद्वाक्यं गीतीति वाक्यान्तरम् । बाधेति अधमत्वावहनं
बाधः । बाधश्च विपरीतमेति नैयायिकाः । भेदवादमाहुः । अधमत्वनिवृत्त्यर्थं गुरुणार्थो वक्तव्य
इति प्रमाया विपरीतप्रमा । तद्विद्वन्ति । न च मास्तिवत्यारभ्य विवृतमित्यर्थः । शब्दश्चक्षुरि-
त्यादिवाक्यमवतारयन्ति नापीति । नहीति । यथेति भाष्यतात्पर्यम् । तदर्थश्चेत्यादिभाष्यं

व्याकरणादिना निश्चीयते । यथा लौकिकवाक्ये तथा वेदेऽपि । न च तद्विरुद्धं निर्णेतव्यम् । अप्रामाणिकत्वप्रसङ्गात् । तस्माद् वेदार्थज्ञानार्थं विचारो नारम्भणीयः ।

स्यादेतत्

भाष्यप्रकाशः ।

अतोऽनेकार्थत्वादिसंकरेण व्याकरणोक्तस्वरादिना सुप्तेन तभिरासात् । किंच । लोके प्रत्यक्षादि-संक्रमात् तथा व्याकरणपेक्षेति तद्विरुद्धमपि क्वचिभिर्णीयते । अत एव लौकिकशब्दार्थनिर्णय-कत्वेऽपि न तत्र तेषामङ्गत्वप्रसिद्धिः । वेदे तु तेषामङ्गत्वस्य शास्त्रप्रसिद्धत्वात् प्रमेयस्य चास्त्यन्ता-लौकिकत्वेन विचारवादिनोऽपि तेषामाश्रयणीयत्वात् तद्वेतुन्यायेन तैरेवार्थज्ञानसिद्धेः कृतमजाग-लस्तनप्रायेण विचारेणेति । तदिदमुक्तं नचेत्यादिना ।

अत्रैकदेशी स्वमतेन विचारकर्तव्यतामुपपादयति स्यादेतदिति वक्ष्यमाणप्रकारेण विचार-रश्मिः ।

विवृण्वन्ति अत इति । व्याकरणेत्यादि । तथा च शिक्षायाम् ।

‘मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा भिष्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।

स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोपराधात्’ ॥ इति ।

यथा दत्त इत्युक्ते, प्रत्ययार्थसहितं दानं संज्ञाश्चेति । संकरे आद्युदात्तत्वात्संज्ञाशब्दोऽयमिति तथा च सूत्रम् ‘निष्ठा च द्व्यजनात्’ इति । अथवा ‘इन्द्रशत्रो’ इत्यत्र स्वरेण समासनिर्णय आद्युदात्तत्वाद् बहुव्रीहिरिति, आदिना पदान्तरसमभिव्याहारादि पदान्तरसमभिव्याहार आदियेषां साम-ध्यादीनां, पदान्तरसमभिव्याहारसादयः पदान्तरसमभिव्याहारादयः संयोगादयः, ते च ते तेषां समाहारः पदान्तरसमभिव्याहारादि, तेन ‘सशङ्खचक्रो हरिः’ इत्यत्र हरिशब्दो विष्णुवचन इति । न चेत्यादिभाष्यतात्पर्यमाहुः किंचेति । क्वचिदिति घटपटकालीनादिप्रयोगेषु इत्यर्थः । व्याकरणे तु घट चेत्यभासचलनपरिमाणेषु, पट गतिभासप्रभृतिषु, कालाद्वञ्ज इति । तेषामिति । छन्दःकल्प-शिक्षानिरुक्तज्योतिषव्याकरणानामित्यर्थः । तद्वेतुन्यायेनेति । ‘हेतुहेतुमतो हेतौ तदहेतोरिव हेतुता’ इत्यर्थः । तदिदमिति । किंचेत्यारभ्य विवृतमित्यर्थः । अस्मिन्नर्थहेतोः प्रहाणायामैकत्वविद्याप्रति-पत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्त इति वदन्तो विष्णुवादिनो निरसितुमिदमित्याहुः । यद्वा । केवल-वैदिककृतपूर्वपक्षे षडङ्गनिर्वाहः, परंतु ‘स्वाध्यायोऽध्येतव्यः’ इति श्रुतिविरोधः, वक्ष्यमाणभा-ष्यार्थाध्ययनाभावात् । इति केवलवैदिकं प्रति वैदिकश्चेत् मीमांसकः, स एकदेशी तस्याक्षेपस्त-माहुः अत्रैकदेशीति । ब्रह्मपुच्छश्रद्धालुत्वाध्यासी पूर्वमीमांसको वैदिकैकदेशीति वार्थः ।

न वेदार्थज्ञानमात्राय विचारः । किंतु ब्रह्मज्ञानाय । तस्य चात्मरूपत्वात्

भाष्यप्रकाशः ।

स्यारम्भणीयत्वमुपपद्यतामित्यर्थः । तदाह न वेदार्थेत्यादि । तस्येति ब्रह्मणः । ‘पटोलपत्रं पित्तमं नाडी तस्य कफापहा’ इत्यादिषु विशेषणमात्रस्यापि तत्पदेन ग्रहणदर्शनात् । अयमर्थः । अनुपपद्यमानत्वान्मास्तु वेदार्थमात्रत्वेन ब्रह्मज्ञानाय विचारः, परं त्वात्मत्वेन ब्रह्मज्ञानाय रश्मिः ।

न वेदार्थेत्यादीति । अत्र न वेदार्थज्ञानमात्राय विचार इति भाष्ये । अयं षडङ्गमात्रेण वेदार्थकर्ता वैदिकः । अस्य भेदः मीमांसकपूर्वकषडङ्गैर्यकर्ता वैदिकः । उक्तास्यो विषयो वेदे यद्यपि, तथापि ‘स्युतेष्व’ इति सूत्रभाष्ये वेदान्तानामपि वेदत्वोक्तेः वेदान्तेषु समानाः । अत एव वेदान्तमीमांसायां वेदविधिविचारः । अत एव वेदान्ती यस्य मन्तव्य इति विधेस्त्यागः द्रष्टव्य इति प्रथमविधेः दर्शनानन्तरं प्रवर्तते । किंतु ब्रह्मज्ञानायेति भाष्ये वेदान्ते ब्रह्मोक्तं तस्य ज्ञानाय तत्र ब्रह्मणि प्रकारद्वयम् । श्रुत्युदासीनात्मत्वं वेदार्थभूतात्मत्वं चेति भाष्यार्थो मविष्यति । तत्पदस्य पूर्वपरामर्शकत्वेन ब्रह्मज्ञानस्येत्यर्थेन भाष्यमित्याकाङ्क्षायां दृष्टान्तमाहुः पटोलपत्रमिति । वेदार्थमात्रत्वेनेति । पूर्वमीमांसका अङ्गीकुर्वन्ति वेदार्थमात्रत्वश्रुत्युदासीनात्मत्ववेदार्थभूतात्म-त्वानि ब्रह्मणि धर्मान्, परंतु औपाधिकास्ते । तथाहि । पूर्वमीमांसाकारिकासु वैदिका उक्ताः, तैत्तिरीये अलक्षा विमर्शिनः, पूर्वं उक्तास्ते पूर्वमताङ्गिकाः श्रद्धाऽभावात्, पद्मपुराण तर्कानादरात् । तत्रापि व्याकरणपदपर्ययकज्ञानवन्तः । ‘अलौकिको हि वेदार्थः’ इति सिद्धान्तात् । श्रुत्येकशरणाः पूर्वमीमांसां नकृतवन्तः । मीमांसायाः पूर्वं जैमिनिसूत्रमात्रत्वाच्छ्रवराचार्यप्रभृतिभिः करणात् । ते हि मीमांसा-रहितषडङ्गाद्योपाङ्गपरिशिष्टविचारकाः पुरःस्फूर्तिकनिर्गुणं स्वीकुर्वन्तोपि वेदार्थमात्रत्वमङ्गीकुर्वन्ति । अन्यथा ब्रह्मज्ञानप्रसङ्गात्त्रापि व्यक्तिशक्तिमङ्गीकुर्वन्ति, प्रस्थानरत्नाकरस्याधुनिकत्वात् । अन्ये पुनर्मीमांसां कुर्वन्तस्तर्कं मीमांसायुतं कुर्वन्ति । तदा श्रुत्युदासीनात्मत्वमङ्गीकुर्वन्ति । माहृदीपिकायां मन्मथ्येव देवता, प्रातिपादिकार्यस्तु यः कश्चिद्भवतु । मम तु वदतोऽप्येवं वाणीं दूष्यतीत्युक्तत्वात् । शांकरादीनां वेदान्ते तु ‘यतो वाचो निवर्तन्ते’ इति श्रुत्या तथा, अन्यासामर्थवादत्वाङ्गीकारात् । किंच, वेदार्थे न निष्पन्नात्मत्वं स्वीकुर्वन्ति निर्गुणत्वेपि । पूर्वं तादृशकुचोद्याभावात् । औपाधिकत्वप्रसिद्धेरेवमुपपा-द्यमानत्वादिति । माहृनेयायिकाश्च भाष्यं भाष्यप्रकाशे सुषोधिन्त्यनुसारेण विवृण्वन्ति । सुषोधिनी तु ब्रह्मत्वं ब्रह्मेति निर्विकल्पकज्ञानं ब्रह्मत्वविशिष्टब्रह्मेति ज्ञानं, सविकल्पकमालेत्युच्यते । तत्र पूर्वं निर्विकल्पकं, केवलवैदिकत्वात् । पश्चात् सविकल्पकं, मीमांसाया सत्त्वात् । तदुक्तं पूर्वम्, तथा च वेदार्थमात्रत्वावच्छिन्नब्रह्मत्वं ब्रह्मेति स्यादेतदित्यस्मात्पूर्वभाष्यस्य विषयः । मीमांसास-हितस्य साङ्गोपाङ्गपरिशिष्टवेदार्थत्वावच्छिन्नब्रह्मत्वविशिष्टब्रह्मेति ज्ञानमात्मा स स्यादेतदित्यादि-भाष्यविषयः । अनुपपद्यमानत्वादिति । षडङ्गैरेव वेदार्थसंभवात् मीमांसाप्रयोजकत्वेन उप-पद्यमानो वेदार्थत्वेन ब्रह्मज्ञानाय विचारः । न च वेदार्थत्वं षडङ्गसाध्यत्वं तज्ज्ञानमात्राय विचारः ।

भाष्यप्रकाशः ।

विचारो न प्रतिक्षेपुं शक्यः । नच संदिग्ध एव विषये विचारस्य प्रवृत्तेरात्मनश्चाहंप्रत्ययगो-
चरत्वेनाहंप्रत्ययत्वदेवमप्यविचार्यत्वमेवेति शक्यम् । अहंप्रत्ययस्य स्थूलोऽहं कृशोऽहं बधितो-
ऽहं गच्छाम्यहं श्वसिम्यहं जानाम्यहमित्यादौ देहाद्युपाधिगोचरत्वेन विपर्यस्तत्वात् तेन
रदिमः ।

न प्रतिज्ञातत्वेपि चरममीमांसापाद्यकत्वाभावादिति भाष्यार्थे संभवात्मास्तु वेदार्थमात्रत्वेत्यादिः
कुत इति वाच्यम् । वेदा वेदान्तास्तदर्थज्ञानं तदपि ब्रह्म 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' इति वाक्यात् ।
तथा च वेदार्थमात्रत्वेन ज्ञानमात्राय ब्रह्मज्ञानाय विचारः इत्यर्थः संपन्नः । यद्वा, जैमिनिर्व्या-
सशिष्य इति धर्मजिज्ञासाया भाविनीत्वाद्देवार्थकाल्लेन ज्ञानमात्ररूपाय ब्रह्मज्ञानीत्येत्यर्थः । अयमेव
भाष्यार्थः । कर्ममार्गस्यापि भाष्ये दर्शनात् । यथा व्याकरणकात्स्न्यं निरुक्ते तथा वेदार्थकात्स्न्यं
ब्रह्मज्ञाने तस्मै विचार इत्यर्थः । व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेर्न हि संदेहादलक्षणमिति महाभाष्यात् ।
इदमपि मास्तु ह्युद्देशसत्त्वेपि पूर्वमीमांसावत् सर्वविचाराभावात् । न चैतावदेव विचारः
विस्तृतविचारस्य पूर्वमीमांसायां दर्शनेनोत्तरमीमांसाविचारमात्रायैतावतोऽसंभवात् । किंतु ब्रह्मे-
त्यादिभाष्यार्थमाहुः परंत्विति । नन्वत्रापि प्रतिज्ञातब्रह्मज्ञानायैति भाष्यार्थः संभवतीति चेत् न ।
ब्रह्मशब्दः सोपि वेदान्तरूपः सोपि ब्रह्म, तद्व्यावृत्त्यर्थत्वादिद्याहुरात्मत्वेनेति । ब्रह्म आत्मा,
तस्य चात्मरूपत्वादिति भाष्यात् । ब्रह्म ब्रह्मत्वमिति निर्विकल्पज्ञानं ब्रह्म, ब्रह्मब्रह्मत्वब्रह्म-
त्वस्वरूपसंबन्धावगाहि ज्ञानमात्मा । तथा च ब्रह्मणो वेदार्थत्वेपि तत्त्वेन ज्ञानं नासंभाव-
नाविपरीतभावनानिवर्तकं मीमांसासहितमात्मत्वेन, ब्रह्मज्ञानं तु ह्यसंभावनाविपरीतभावनानिवृ-
त्युत्तरत्वेन तन्निवर्तकम् । आत्मत्वेनेति 'आत्मा देहो मनो ब्रह्म' इति विश्वात् ब्रह्म प्रोक्तम् ।
तथाध्यात्मदेवजातिषु स्मृतिरिति च । अहंप्रत्ययेति । सुखी अहमिति प्रत्ययगोचरत्वेनेत्यर्थः ।
अहंप्रत्ययस्याहंकारविषयत्वमपि यतः कर्ताहमिति प्रत्ययात् । स चिदचिद्वन्धिरूपः । देहादीति ।
स्थूलोऽहं कृशोहमिति... देहाध्यासः; बधिरोहमिति इन्द्रियवैकल्यम्, गच्छाम्यहमिति कार्याध्यासः,
श्वसिम्यहमिति प्राणाध्यासः, त एत आत्माधिष्ठानकाः । जानाम्यहमिति अहंकारे चिदध्यासः
आत्मनो ज्ञानाश्रयत्वात् । 'कामः संकल्पः' इति बृहदारण्यकात् । जीवेऽन्तःकरणाध्यासो वा
तदायमप्यात्माधिष्ठानकः । अहंकारानतिरिक्तजीववादिमतेनाह । जगदान्ध्यापत्तिभिया नायमहंकार-
मात्राश्रयः । अहंकारमात्राश्रयत्वे जडत्वेनाहंकारस्य तथा जडाश्रितस्य गोलकाश्रितव्यतिरिक्तसाप्रकाश-
कत्वनियमात् । यद्वा, अहंकारस्य 'आत्मा मनसा संयुज्यते' इत्यादिप्राणायामभावात्, तेन जानाम्यहमित्यत्र
ज्ञानकर्ताहमिति बुद्धिर्नतु ज्ञानाश्रयोऽहमिति । अन्यायाः प्रत्यगात्मविषयत्वात् । पूर्वस्याहंकारवि-
षयत्वात् । विपर्यस्तत्वादिति । 'शङ्खः पीतः' इतिवत् 'घटो भ्रमति' इतिवच्च करणदोषविषय-
दोषजन्यसंप्रयुक्तभिन्नार्थमात्रप्रतिपादकत्वाद्ब्रह्मज्ञानत्वादित्यर्थः संशयः । स्मृत्योर्बर्णाय मात्रब्राह्मणपदे ।
तत्र विषयदोषजन्यत्वं त्यक्तं शक्यम् । आवश्यकत्वलाघवाभ्यां तावतैव सिद्धेरिति सिद्धान्ते विशेषः ।
क्वचिद्विषयदोषोभ्युपेयते, यथा जीवपरमाण्वोरध्यासो दोष इति । एतच्च द्वितीयाध्याये तर्कपदे
'उभयथा' न कर्मातस्तदभावः' इति सूत्रभाष्यप्रकाशे 'चरमः सद्विशेषाणाम्' इति श्लोकार्थकथनावसरे

तस्य चाविद्यावच्छिन्नत्वाद् देहात्मभावदृष्टप्रतीतेस्तदतिरिक्तस्य ब्रह्मणोऽभावाच्च

भाष्यप्रकाशः ।

संदेहनिवृत्तेरभावात् । नच देहादिरेवात्मेति युक्तम् । देहस्यावस्त्रामेदेषु परिणामान्तरदर्शनेन
नश्वरत्वनिश्चयात् । अहंविचित्तिवेद्ये त्वात्मनि, यः कृशः पूर्वं स इदानीं स्थूल इति पूर्वापरकाले
ऐक्यमानेन तदभावात् । नच सोऽहमिति प्रत्यभिज्ञया देहादेरात्मत्वं वक्तुं शक्यम् । प्रत्यभि-
ज्ञायाः सोऽयं दीपस्तदिदं जलमितिवत् सजातीयविषयत्वेन पूर्वापरकालकतदैक्यानिश्चयकतया
तदविषयत्वात् । एवं तत्तदिन्द्रियनाशोऽपि जीवनदर्शनाच्छ्वासोच्छ्वासयोर्बहिरागच्छतः प्राण-
स्यापि ज्ञानादर्शनेनाचेतनत्वनिश्चयाद् बुद्धिमनसोरपि करणत्वेन सिद्धतया कर्तृत्वेनासिद्धत्वाद्
विषयपार्थक्यस्य सर्वानुभवसाक्षिकत्वात् सर्वेषामिदंकाराऽऽस्पदत्वाच्च । नचेदंकारास्पदानामात्मत्वं
युज्यते । पुरोऽवस्थित एव विषये तथाप्रयोगदर्शनात् । आत्मनश्च प्रत्यग्विचित्तिवेद्यत्वेन तथात्वा-
भावात् । नचैवं सिद्धे देहादिभ्यो विवेके संदेहाभावादजिज्ञास्यत्वम् । तस्याविद्यावच्छिन्न-
त्वाद् विदुषां शास्त्रपरिपक्वबुद्धीनामप्यहंप्रत्यये विविकृतत्वस्वरूपस्यागोचरत्वात् सुखदुःखादीनां
रदिमः ।

वक्तव्यम् । गृह्यमाणारोप इति केचित् । स च परेण गृह्यमाणस्योत स्वयं गृह्यमाणस्य । आवेऽति-
प्रसङ्गो, ज्ञानस्य शिक्षणावस्थायित्वस्वीकारात् । द्वितीये तस्यैव बाधादिति । अन्यत्र गृह्यमाणसारोप
इति चेत्, न । आन्यत्रिकग्रहणस्य तदानीं विरहाद् गृह्यमाणत्वस्याशक्यत्वात् । न च देहादि-
रिति । प्राणेन्द्रियक्रियाबुद्धिमनोविषया आदिशब्दवाच्याः । आत्मनोऽभेदे प्रत्यभिज्ञां प्रमाण-
यन्ति अहंविच्छितीति । प्रत्यभिज्ञाया ऐक्यनियामकत्वे साम्यशङ्कामादाय निषेधन्ति न च
सोऽहमिति । नेत्याह प्रत्याभिज्ञाया इति । पूर्वापरैति । पूर्वापरौ कालौ यस्य
देहस्य तस्यैक्यानिश्चयकतया पूर्ववदैक्याविषयत्वाच्च साम्यमित्यर्थः । तेन व्यक्त्यवलम्बना
प्रत्यभिज्ञा ऐक्यमवगाहते 'सोऽयं घटः' इतिवत् । या तु जातिमवलम्बते न सैक्यमवगाहते, प्रवाहे तदिदं
जलमितिवदित्युक्तम् । तेन च देहो नास्तेत्युक्तम् । तर्हीन्द्रियनिकुरम्बः प्रत्येकमिन्द्रियं वा प्राणा-
दिर्वात्मा भविष्यति तत्राह एवमिति । सकलेन्द्रियनाशोऽपेरर्थः । करणत्वेनेति । बुद्ध्या पदार्थान्
जानातीति प्रत्ययेन, सुखसाक्षात्कारः सकरणकः, जन्यसाक्षात्कारत्वात् । चाक्षुषसाक्षात्कारवदि-
त्यनुमानेन च बुद्धिमनसोः करणत्वेन सिद्धतया ज्ञानाश्रयत्वेनासिद्धत्वादित्यर्थः । विषयेति
ध्यानाभावादिपार्थक्यस्येत्यर्थः । साधारणं हेतुमाह सर्वेषामिति । नासावालोदंकारास्पदं पुरोवस्थि-
तत्त्वाभावादित्याह आत्मनश्चेति । प्रत्यग्विच्छितीति । प्रातिलोभ्येन जडादिसर्ववैलक्षण्येन सच्चि-
त्सुखात्मतयाश्च प्रकाशत इति प्रत्यक् जीवः, श्रीधर्या तथा व्याख्यानं तृतीयस्कन्धे, तद्वि-
चित्तिवेद्यत्वेनेत्यर्थः । सा चाहं प्रत्यगिति । तस्य चाविद्यावच्छिन्नत्वादिति भाष्यमवतारयन्ति न
चैवं सिद्ध इति । विविकृतत्वस्वरूपज्ञाने हेतुमाहुः अगोचरत्वादिति । सुखदुःखादीनामिति ।

निबन्धे 'तस्यासावपि नो मुक्तिर्जाग्रत्स्वप्नदुःखः ।

अविद्याविषयोस्तस्माद्भजनं सर्वथा मतम्' । इति शास्त्रार्थे

वेदमात्रादसंभावनाविपरीतभावनानिर्वर्तकं ज्ञानमुत्पद्यते । प्रत्युत देहात्मभाव-
हृत्प्रतीतिः श्रुतेरुपचरितार्थत्वं स्तुतित्वं वा कल्पयिष्यतीति ।

मैवम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

प्रादेशिकत्वस्य चाभिमानेन तथा निश्चयात् तेषामपि देहात्मभावहृत्प्रतीतेरविद्यासंबन्धरहितस्य
केवलस्यात्मनः प्रत्ययामावेन दर्शनान्तरेऽपि व्यापकतया प्रतिपन्नस्य तस्यैव बृहत्त्वेन बृहत्त्वेन च
तदतिरिक्तस्य ब्रह्मणोऽभावाद् विविक्ततत्त्वरूपज्ञानाय विचार आवश्यकः । नच वेदमात्राद्
विविक्तात्मस्वरूपविषयासंभावनाविपरीतभावनानिर्वर्तकं ज्ञानं सिद्ध्यति ।
प्रत्यक्षापेक्षया शब्दस्य निर्बलत्वात् । प्रत्युत प्रबलप्रमाणेन देहात्मभावहृत्प्रतीत्या शब्द-
पङ्कबुद्धिरपि दर्शनान्तराभिमानेन विविक्तात्मस्वरूपबोधिकायाः श्रुतेः कल्पनोपदेशतयोप-
चरितार्थत्वं वा, उपासनाशेषतया स्तुतित्वं वा कल्पयिष्यति । अतोसंभावनाघपनयनेन-
श्रुतावुपचारादिनिवृत्त्यर्थं वेदार्थभूतात्मत्वेन ब्रह्मज्ञानाय विचार आवश्यक इति ।

एवमुक्तमेकदेशिमत्तं चोदकः प्रतिक्षिपति मैवमिति । यदुक्तं, न वेदार्थज्ञानमात्राय विचारः,
रश्मिः ।

तत्रासौ विद्याप्राप्तौ, तथा चाविद्योद्भवेनागोचरत्वात् आत्मगुणानाम् । प्रादेशि-
कत्वस्येति प्रदेशे भवत्वस्येत्यर्थः । अध्यात्मादेराकृतिगणत्वाद्बुद्धिः । तथेति अविद्योद्भवत्वस्य
निश्चयात् । न चाणोर्जावस्य धर्माणां प्रादेशिकत्वेऽप्यंशतिरिति शङ्क्यम् । परमात्मविचाराद्बुद्ध्या
त्वेपि । देहात्मत्वादि । न च सुखदुःखजनकपूर्वजन्मीयधर्माधारतया तस्य शरीरातिरिक्तत्व-
सिद्धिरिति वाच्यम् । मयूरचित्रादिवत् तयोरपि स्वामाविकतया तज्जनकधर्माधारसिद्धौ तदाचार-
स्वात्मनोऽप्यसिद्धेरिति प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनो लोकायतिका आहुः, तेनाविद्यास्वरूपमन्युक्तम् । अभि-
मानस्याविद्याकार्यत्वेनाज्ञानरूपं तत्स्वरूपमुक्तम् । दर्शनान्तर इति शैवमते मास्कराचार्यमते च ।
विविक्तेति । सच्चिदानन्दं ब्रह्म स्वेच्छया सदानन्दरूपं, तस्य जगज्जन्मादिकर्त्री शक्तिः चिच्छक्तिर्व्या-
पिका, तस्या व्याप्योद्दिता शक्तिरित्येवमिच्छायाः पूर्वमुत्तरं च विविक्ततत्त्वरूपज्ञानाय । तेन अविद्यास्व-
रूपमन्युक्तम् । न वेदमात्रादिति भाष्यं विवृण्वन्ति न च वेदेति । असंभावना देहातिरिक्तात्मा-
संभावना । विरुद्धसर्वधर्मानाधारत्वभावना विपरीतभावना 'अज्ञानमन्यथाज्ञानं ब्रह्मणं विनिवार्यते ।
कृष्णगमपीति भावः । मीमांसकास्तु प्रातिपदिकार्थः कश्चिदस्तु शब्दमयी देवतेत्याहुः ।
निर्बलत्वादिति । न हि शब्दशतेनापि दृश्यमानो घटो वारयितुं शक्यते । प्रत्युतेति भाष्यं
विवृण्वन्ति प्रत्युतेति । श्रुतेरिति तत्त्वमस्यादिश्रुतेरित्यर्थः । कल्पनेति कल्पनोपदेशस्ये
स्पष्टम् । उपासनेति मनोव्यापारविशेषो रामानुजाचार्यमतेत्यत्रापि । स्तुतिरुक्तार्थावयवगुण-
वर्षणम् । अत्र पक्षे नोपचारः । वेदार्थभूतात्मत्वेनेति स्वबुद्ध्या वेदार्थं परिकल्प्य तादृश-
वेदार्थभूतात्मत्वेन । [अत्रैव श्रुत्युदासीनात्मत्वेन ब्रह्मज्ञानाय विचारोप्येव भाष्यप्रकाशेनूच नोद-
कप्रतिक्षेपे दूषयिष्यन्ति । अपस्तनरश्मौ तु तुर्यपक्षौ । अपस्तनरश्मौ व्यवहारे वयं भाट्टा इति
वदन्ते मते भाट्टीयब्रह्मज्ञानाय] । चोदक इति । केवलवैदिकः साङ्गोपाङ्गसपरिशिष्टवेदैः कृतमर्थ
प्रतिक्षिपदेकदेशिमत्तम् । सिद्धान्त्येकदेशीत्यर्थः । तस्य च सच्चिदानन्दात्मकं ब्रह्म निराकारमेव,

अलौकिको हि वेदार्थो न युक्त्या प्रतिपद्यते ।
तपसा वेद्युक्त्या तु प्रसादात् परमात्मनः ॥

भाष्यप्रकाशः ।

किंतु ब्रह्मज्ञानायेति । तत्र किं दर्शनान्तरबृहत्पुदासीनात्मत्वेन ब्रह्मज्ञानाय वेदान्तवि-
चारः । तत्रच वेदार्थज्ञानमात्रपङ्क्तिमिति तव मनीषितम्, उत वेदार्थभूतात्मत्वेन तदर्थं स
इति । तत्राप्यस्तु दर्शनान्तरेरेव सिद्धो, न विवक्षितपदवीमधिरोहति । द्वितीयमेतत् तदापि तत्र
संगच्छत इत्यर्थः । उक्तरूपस्यात्मनो वेदार्थत्वाभावे हेतुं कारिकाया गृह्णाति अलौकिक इति ।
हिमन्वो हेतौ । अलौकिकत्वादित्यर्थः । किं तेनेत्याह न युक्तयेति । कथं तर्हि तत्रप्रतिप-
त्तिरित्यत आह तपसेत्यादि । तपोऽनशनादिरूपम् । वेदोक्ता युक्तिर्वेद्युक्तिः न्यप्रोचक-
कमाहरेत्यादिरूपा । परमात्मप्रसादो मुख्यं साधनम् । अन्यथा 'तेषां प्रकृतिवैभिन्न्याधिप्रा-
रश्मिः ।

सर्वमवबनसामर्थ्यसंपृक्तं निमित्तान्तरमन्तरेणैवांशतो धर्मरूपेण, तदनु क्रियारूपेण, ततः प्रपञ्चरूपेण
संभवतीति मतम् । तदेतत् 'अरूपवत्' सूत्रे तृतीयाध्याये वक्ष्यते । तेनात्रैवं ज्ञेयम् । भाष्ये आधि-
दैविकादिभेदेन नारम्मणीयः, स्यादेतत्, मैवमित्यादिग्रन्थैः श्रेषा पूर्वपक्षः । केवलवैदिककृतो
नारम्मणीय इत्यादिग्रन्थविषयः । मीमांसकश्चेत् पूर्वोक्तस्तत्कृतः स्यादेतदित्यादिग्रन्थविषयः ।
सिद्धान्त्येकदेशिकृतो मैवमित्यादिग्रन्थविषयः । प्रथमपूर्वपक्षी वेदार्थमात्रत्वमङ्गीकरोति । द्वितीयः
श्रुत्युदासीनात्मत्वमङ्गीकरोति । स्वबुद्ध्या वेदार्थं परिकल्प्य तादृशवेदार्थभूतात्मत्वं च । तृतीयस्तु
वेदार्थभूतात्मत्वेन 'नाहं वेदैः' इत्यादिभिः वेदार्थभूतस्य 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' इति स्वेच्छया
विरुद्धसर्वधर्माधारत्वेन वा वेदार्थभूतात्मत्वमङ्गीकरोति, स एव सिद्धान्तः । प्राज्ञादप्याधिक्यात् ।
मुख्यमतं कृष्णमतमित्युपनिषदोत्तरत्र [चिन्मनातेपि अमतमित्यत्र मते रुचप्रचिचीति मानं ज्ञेयम् ।]
प्रतिक्षिपतीति षडङ्गवेदविचारितब्रह्मोदासीन्येन स्वबुद्धिपरिकल्पितवेदार्थभूतात्मत्वे ब्रह्मज्ञान-
मापततीत्यरूप्या भ्रान्तत्वेन प्रतिक्षिपतीत्यर्थः [प्रतिक्षिपतीति । मीमांसाया अपि न स्वातन्त्र्यं
येन देवताप्रतिपादिकोर्धो यः कश्चिदस्तु हीति युज्यतेऽपि तु 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति
श्रुतेस्तर्कैः अप्रतिपाद्यवेदानुकूलमीमांसायुततर्कैः प्रतिपाद्यरूपवेदार्थभूतत्वेन प्रतिपाद्यमित्येवं प्रति-
क्षिपतीत्यर्थः] दर्शनान्तरवदिति । कणभक्षाक्षचरणशास्त्रवद्युक्त्या वेदान्तविचार इत्यन्वयाजीवः
परामिद्धः सच्चिदानन्दरूपत्वात्परमात्मवदित्यनुमानसाध्यात्मत्वेनेव साध्यार्थातिरिक्तार्थवादश्रुत्युदासी-
नात्मत्वेनेत्यर्थः । अत्राहमसि प्रिये जानामीति प्रतीतिः सच्चिदानन्दलक्षणो जीवः, शांकराणामपि अहं
ब्रह्म इत्यनुमितिः अहं पराभिन्न इत्यनुमितिः । आनुषङ्गिकमिति । स्वबुद्ध्या वेदार्थान् परिकल्प्य तद-
र्थविचारे तदनुषङ्गेण दीप्यतीत्यानुषङ्गिकं 'तेन दीप्यति खनति जयति जितम्' इति उक् । वेदार्थेति ।
स्वबुद्ध्या वेदार्थं परिकल्प्य तादृशवेदार्थभूतात्मत्वेनेत्यर्थः । श्रुत्युदासीनात्मत्वेन ज्ञानं निरीश्वरहृतमिति
सांख्ययोगनैयायिकमाह्लादीनाम् । न चिचक्षिन्तेति । वेदवेदान्तदर्शनपदवीं नाहतीत्यर्थः । विचारान्त-
रतां नाहतीत्यर्थः । न संगच्छत इति यांक्तिकत्वाच्च संगच्छते । आचार्यमतत्वेपि तपआ-
दिरहितं न संगच्छते, पक्षगीतं विना न संगच्छत इत्यर्थः । अनशनादीति । आदिना वेदा-
र्थत्वेति उक्तवेदार्थत्वाभावे (चिकाय) वेदार्थत्वं त्वस्यैव गीतोक्तम् । न्यप्रोक्षेत्यादि । छान्दोग्ये

न हि स्वबुद्ध्या वेदार्थं परिकल्प्य तदर्थं विचारः कर्तुं शक्यः ।

भाष्यप्रकाशः ।

वाचः स्रवन्ति हि इतिन्यायेनान्यदेव बुद्ध्येतेति । एतदेव विभजते न हीत्यादि । अयमर्थः । भवान् हि श्रुतीनामनुपचरितार्थत्वात् दर्शनान्तरे आत्मगमकत्वेन स्वीकृतस्याहंप्रत्ययस्य प्रादेशिकग्राहकत्वं प्रदर्श्य तस्याविद्याख्योपाध्यवच्छिन्नात्मग्राहकत्वेन भ्रमत्वं च प्रदर्श्य तेन तन्निश्चयाभावात् कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यंशेऽपि तस्य भ्रमत्वं साधयितुं चिदेकरमस्यात्मनो ज्ञानाविषयत्वं च साधयितुमध्यासभाष्यद्वयितां विषयत्वेन जडत्वेन व्याप्तिमङ्गीकृत्यैवमाह । अहंविचौ प्रकाश-
रश्मिः ।

‘भूय एव मा भगवान् विज्ञापयतु’ इति पुत्रेण श्वेतकेतुना पृष्ट आरुणिः ‘तथा सोम्येति होवाच न्यग्रोधफलमाहरेतीदं भव इति भिन्धीति भिन्नं भगव इति किमत्र पश्यसीत्यप्य इवेमा धाना भगव इत्यासामेकैकां भिन्धीति भिन्ना भगव इति किमत्र पश्यसीति न किंचन भगव इति तः होवाच यं वै सौम्यैतमणिमानं न निभालयसे एतस्य वै सौम्यैषोणिग्न एव महान्यग्रोधस्तिष्ठति श्रद्धत्स्य सौम्येति स एषोणिग्नैदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो’ इत्येवंरूप इत्यर्थः । भगव इति संबोधनं, निभालयसे पश्यसि । मुख्यमिति वरणद्वारापि । न्यायेनेति एकादशस्कन्धोक्तेन तेनेत्यर्थः । प्राज्ञश्च केवलवैदिकदेशी त्वचोदकश्च तेषां वाचकानि पक्षाणि, तैरुपात्तान् तान् प्राज्ञकेवलवैदिकदेशिपदोपात्तान् । एकदेशीयवस्तुसूचितशांकरं प्रत्याह । तप-
आदीनि वेदार्थभूतात्मवादी । भवानिति शंकरः कश्चित् । अनुपचरितेति । अनुपचरितार्थत्वं यथाशास्त्रदृष्टार्थत्वं तेन अर्थवादत्वेन पूर्वोक्तपक्षे अनुपचरितार्थत्वाभावेपि अरुचिः । शंकराचार्यमतेऽपि व्यवहारे भाट्टप्रतारणादर्शवादत्वं वक्ष्यमाणपक्षेऽनुपचरितार्थत्वं तस्मा इति वा । दर्शनान्तर इति वैदिकशास्त्रादान्यस्मिन् शांकरादिशास्त्रे । प्रादेशिकेति । मुख्यमिति द्वैतेशे भगवत्त्वस्याग्राहकत्वम् । अविद्योपाध्यवच्छिन्नविषयग्राहकत्वेन भ्रमत्वम् । तेन तन्निश्चयाभावादिति भ्रमात्मकेनाहंप्रत्यये-
नात्मनिश्चयाभावादित्यर्थः । कर्तृत्वेत्यादि । प्राकृतिकं कर्तृत्वादिकमात्मन्यारोपितमिति तथा । अध्यासभाष्यसूचितामिति अध्यासभाष्यस्य तत्त्वमस्यादिवाक्यावेदितैक्यविद्याप्रतिपत्तिप्रयो-
जनाहितमडमिथ्यात्वमवगमयितुमात्मनि अस्मत्प्रत्ययमात्रगोचरे जडतद्दर्माध्यासः कल्पितः, शुक्तौ रजतमिव । स चाविद्यास्वरूपो वस्तुस्वरूपावधारणेन विद्यारूपेण नश्यतीति । अधिष्ठानावधारणे रजतमिव । अस्यानर्थस्य प्रहाणाय वेदान्तरम्भ इति वाच्योऽर्थः । व्याप्तिस्तु संभावनापेण न चायमस्ति नियमः पुरोवक्षित एव विषये विषयान्तरमध्यसितव्यमित्यादिभाष्येण तात्पर्यरूपया व्यञ्जनयोज्यत इत्यर्थः । सिद्धान्ते च बुभुत्सितार्थावाचकत्वे तत्प्रतीतिजनकत्वम् । तत्प्रतीति-
च्छयोपचरितत्वं तात्पर्यमित्यालंकारिकाः, वृत्तेर्विध्यात् । तेन फललक्षणार्थव्यञ्जनान्तानां तात्पर्ये निवेशः । एवमिति वक्ष्यमाणप्रकारेणेत्यर्थः । अनर्थप्रहाणफलका वेदान्तास्ताह-
शारम्भकत्वे अध्यासभाष्यशक्यार्थः । अत्रानर्थप्रहाणे जडो विषयत्वात् मिथ्याजडत्वादित्यनुमानयोः प्रविष्टत्वेनैतत्प्रतीतिच्छयोचरितत्वमनर्थप्रहाणकलङ्कोद्यमरूपारम्भे वर्तते । अन्यथा तत्प्रहाणे जडमिथ्यात्वमवगमयितुमिति जातो, धर्माध्यासः कल्पित इति न वदेत् । अयं बुभुत्सितोर्थोपि भवति, तदवाचिकत्वे तत्प्रतीतिजनकत्वमपि तादृशार्थप्रतीतिजनकत्वमपि । ननु रूपारम्भे तत्प्रतीतिजनकत्वं नास्ति, किन्तुनर्थप्रहाणवाचकभाष्ये इति चेन्न, न ह्यारम्भः पृथगेव वाच्यः, किंतु

भाष्यप्रकाशः ।

शमानस्यात्मनो ज्ञानान्तरविषयत्वेन जडत्वापत्तिः । सर्वास्वर्थविचिषु प्रकाशाश्रयत्वेन सिद्ध-
स्यात्मनो घटमहं जानामीत्यादौ विषयत्वायोगः । चैत्रो ग्रामं गच्छतीत्यादौ क्रियाफलस्य
संयोगस्योभयनिष्ठत्वेऽपि ग्रामादौ परसमवेतक्रियाफलशालित्वस्य कर्मत्वेन स्वसमवेतक्रियाफल-
शालिन आत्मनः परत्वाभावेन आत्मानमहं जानामीत्यादौ ज्ञानविषयस्यात्मनः कर्मलक्षणा-
नाक्रान्ततया कर्मत्वायोगः । तस्य कर्तृभेदाङ्गीकारे कर्मभूतस्य तस्यानात्मत्वप्रसङ्गः । अप्रका-
शमानत्वस्यैव जडत्वेन स्वसिद्धप्रकाशमानतयापि जडत्वापत्तिः । अनुभवबलेन कर्मकर्तृविरोधे
परिहृते सिद्धे चाभेदे प्रकाशाश्रयरूपकर्तृत्वेनैव प्रकाशत इत्यङ्गीकारेऽपि यस्मिन्नर्थान्तामनौ प्रका-
शते तस्य ज्ञानरूपप्रकाशस्य स्वयमप्रकाशमानतया जडत्वे विषयाप्रकाशकत्वप्रसङ्गः । तस्या-
रश्मिः ।

तस्यानर्थस्य प्रहाणेन सहैकीकृतस्यार्थजातस्य वाचकभाष्यस्य नयतीति जघन्यत्वात् । अध्यास-
भाष्यसूचितामिति भाष्यप्रकाशात् । एवं च काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्यत्र दध्युपघातकत्वस्य काकेषु
सत्त्वाद्भद्रात्मनः इति काव्यप्रकाशस्य वरवारणस्येत्यत्र समासान्तरस्य सत्त्वात्तद्भद्रात्प्राप्यध्यासभाष्ये
तादृशारम्भत्वसत्त्वेपि अवगमयितुमित्यनेन ज्ञानबोधनेपि जडमिथ्यात्वादिपदसमभिव्याहारेणानुमिति-
सूचनादशु(म)मिति । विशिष्टत्वसत्त्वमयीति तेन रूपेणाध्यासभाष्यस्यानुमितिविशिष्टे लक्षणा
तादृशभाष्येऽनुमितिविशिष्टायां व्याप्तौ चानुमितिसत्त्वादिति । एवमिति अवधारितमाहेत्यर्थः ।
तमाह अहंविचिताविति अहं ब्रह्मास्मीत्याकारिकायामित्यर्थः । जडत्वापत्तिरिति आत्मा
जडो विषयत्वात् घटवदित्यनुमानेन तथात्वापत्तिरित्यर्थः । प्रथमान्तानीमानि पदानीत्यतः फलरूपां
संवित् स्वयंप्रकाशाभ्युपेतव्यत्वेनानुपपत्तिः । स्वप्रकाशकं घटमहं जानामीत्याकारकं च सर्वमेव
ज्ञानं घटादिकमिव स्वात्मानं स्वाधिकरणमात्मानं च गोचरीकुर्वत् त्रिपुटीप्रत्यक्षतां प्रचादयति ।
मितिमातृमेयविषयत्वात् स्वस्येति । प्राभाकरमतमाक्षिपन्ति सर्वास्विति । अहं घटं जानामि घट-
ज्ञानो घटं ज्ञातवान् ज्ञातो घट इत्येवंरूपासु घटविषयकज्ञानाश्रयोऽहमित्यादिबोधत्वात् प्रकाशाश्र-
यत्वेन सिद्धस्येत्यर्थः । विषयत्वायोग इति । स्वर्गमिच्छतीत्यादौ कर्तृस्तथात्वादर्शनात्तयेत्यर्थः ।
नैयायिकादीनाक्षिपति चैत्र इति । उभयनिष्ठत्वेपीति कर्तृकर्मनिष्ठत्वेपीत्यर्थः । तथाच क्रिया-
फलशालित्वस्य कर्मलक्षणस्यातिव्याप्तत्वमिति भावः । तन्निवृत्तये परसमवेतविशेषणविशिष्टलक्षण-
मित्याह ग्रामादाविति । तच्चाव्याप्तमित्याह स्वसमवेतेति । परत्वाभावेनेति । कर्मभू-
तात्मास्मदर्थोप्यस्तात्मनोरैक्यात्तयेत्यर्थः । ननु ‘आत्मानमात्मना वेत्ति’ इतिबहुपेपघतामित्यत
आह तस्येति । अनात्मत्वप्रसङ्ग इति जीवद्वयाङ्गीकारस्य नियौक्तिकत्वेनानात्मप्रसङ्ग इत्यर्थः ।
जडत्वापत्तिरूपं तत्फलमाह अप्रकाशेति । स्वस्मिन्निति । स्वविषयकप्रकाशकर्तृत्वाभावेनापि ।
अनुभवबलेनेति प्रमाणीभूतेनेत्यर्थः । प्रकाशत इति । कर्मापीति शेषः । यस्मिन्निति अहं
जीव इत्यस्मिन् बुद्ध्याद्युपाधिप्रकारकात्मविशेष्यके ज्ञाने इत्यर्थः । स्वयमिति अर्थरूपविषय-

भाष्यप्रकाशः ।

प्रकाशमानत्वेऽपि निलीयचक्षुरादिवत् प्रकाशकत्वे यत्फलस्यैतत्फलस्यैव स्वयम्प्रकाशताया
आल्लेयतयाऽस्य जडत्वापत्तिः । पूर्वज्ञानफलस्यैतस्य जडत्वे एतज्ज्ञानफलसाग्रिमस्यापि जडत्वा-
पत्तिः । परंपराङ्गीकारेऽनवस्था जगदान्ध्यापत्तिश्चेत्यतः फलरूपा संविद् स्वयंप्रकाशाऽभ्युपे-
क्ष्या, न तु निलीयचक्षुरादिवत् प्रकाशिका । तत्र स्वयंप्रकाशत्वस्यैव चेतनत्वेन तदाश्र-
यतया प्रकाशमानस्यात्मनो विषयत्वेन जडत्वापत्तिस्तदवस्था । नचार्थात्मानौ विना केवलायाः
संविदः प्रकाशमावात् संविदर्थ्यात्मनां परस्परप्रकाशकत्वमेवेति परतःप्रकाशत्वमेव चेतनत्वम्,
तत्र संवितुल्यत्वाभात्मनोऽपि जडत्वमिति शङ्क्यम् । तथा स्वयर्थस्यापि चेतनत्वापत्तेः । अथ
संविदर्थ्यात्मनां परस्परविनाभावाभावात्तन्तमेद इति विभाव्यते, तदा तु संविदे इव तयोरपि
स्वयंप्रकाशत्वं सिद्धमित्यर्थात्मनोः संविदतिरेकेणानिर्वाच्यत्वात् संविदेव केवला सिद्ध्यति, न
रश्मिः ।

जनकत्वेन संसर्गजन्यत्वेन च स्वयमप्रकाशमानतयैत्यर्थः । निलीयचक्षुरिति । लीड् क्लेषणे
निपूर्वः । ल्यबन्तस्तु न भवति । 'अचो यत्' शक्ति लिङ्ग इति सूत्रे चकारेण शक्यार्थविधानात्
नितरां लातुं शक्यं चक्षुरित्यर्थः । गुणभावस्तु चिन्त्यः । यद्वा । अव्ययमिति योगविभागाध्य-
वन्तेन समासः । विषयेण नितरां संबध्य यच्चक्षुस्तद्वदित्यर्थः । अत्रापि यत्तदोरप्याहारो लक्षणा
वा । निलीयेति विशेषणं तु अतयामृतस्य चक्षुषो दृष्टान्तार्थकत्वात् । यद्वा । निलीय विषयतामप्राप्य
चक्षुः आदिना श्रोत्रादि तद्वदित्यर्थः । प्रकाशकत्व इति । अभिमत इति शेषः । तत्फलस्येति
चक्षुःफलस्य जन्यज्ञानस्यैतत्फलस्यार्थात्मविषयकस्याहं जीव इति ज्ञानस्य यत्फलमनुव्यवसायरूपं
तस्यैव स्वयंप्रकाशता स्यात् । अस्मार्थात्मविषयकज्ञानस्य जडत्वसंविद्यकाश इति ततश्च स्वयंप्रका-
शत्वस्यैव चेतनत्वेन तदाश्रयतया प्रकाशमानस्यात्मनो विषयत्वेन जडत्वापत्तिस्तदवस्था । नच-
ार्थात्मानौ विना केवलायाः संविदः प्रकाशमावात् संविदर्थ्यात्मनां परस्परप्रकाशकत्वमेवेति परतः
प्रकाशमेव चेत् संविद्यकाश इति नैयायिका विरुद्धं मन्यन्ते । ननु जडत्वं नाम प्रकाशकतावच्छे-
दकं चक्षुरादौ व्यभिचारादित्याशङ्काह जडत्वापत्तिरिति । पूर्वज्ञानफलस्येति । इदं हि
विशिष्टं ज्ञानम् । विशेषणज्ञानापीनं दण्डीतिज्ञानवत् । तथा च बुद्ध्यादिज्ञानफलस्याहं जीव इति
ज्ञानस्य जडत्व एतज्ज्ञानफलस्य बुद्ध्यादिनाहं ज्ञानाश्रय इत्यादिज्ञानसाग्रिमस्य जडत्वापत्तिः ।
पूर्वसजातीयत्वलिङ्गकानुमानादित्यर्थः । जन्यं ज्ञानं विषयात् पूर्वं न भवतीत्यर्थात्मविषयकं ज्ञानं
पूर्वज्ञानशब्देन (न) गृहीतम् । जगदान्धयेति । ज्ञानस्यापि जडत्वे प्रकाशमावात् तयैत्यर्थः ।
इत्यत इति । जडत्वापत्तेर्जगदान्ध्यापत्तेश्चेत्यर्थः । फलरूपेति अन्तःकरणपरिणामनिवृत्तावरण-
करूपा संविदित्यर्थः । तदुक्तं 'अहं ब्रह्मास्मि' 'ब्रह्मैवाहमस्मि' इत्यखण्डाकारवृत्तितया वृत्त्यविज्ञाने
निवृत्तेऽप्रबलपरोक्षत्वादीनां निवृत्तत्वात् प्रत्यगात्मनोऽखण्डानन्दस्वरूपावस्थितिर्भवतीति । ननु
निलीयेत्यादि । स्वयं स्वाप्रकाशतामावहन्ती प्रकाशिकेत्यर्थः । इदानीं तस्याः स्वप्रकाशत्वाय यतते ।
तत्तच्छेति । परतः प्रकाशादित्यर्थः । तथा सतीति परतः प्रकाशत्वस्य जडत्वनिवर्तकत्वे
सतीत्यर्थः । नैयायिका ज्ञानं निर्विषयकं न मन्यन्ते तद्रीत्याह अपेति । विभाष्यते नैया-
यिकवद्विभाष्यते । संविदतिरेकेणेति संविद्रूपकारणसत्ताव्यतिरेकेण । तयोरर्थात्मनोरनिर्वाच्य-

भाष्यप्रकाशः ।

त्वर्थात्मिन्यां संविता । वस्तुवस्तु संविदोऽर्थसहभावोऽपि न नियतः, अतीतानागतत्वले
व्यभिचारात् । नच तत्राभाव एव विषय इति वाच्यं, तस्यासत्त्वात् । नच सोऽपि सत्त्विति वाच्यं,
सत्त्वस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात् । सत्त्वं हि सत्ताख्यसामान्यं समवायो वा, अर्थक्रियाकारित्वं वा
प्रकाशमानत्वं वाऽभ्युपेयम् । तत्र नाद्यौ । सत्तायां सत्तासमवायामावेन अर्थक्रियाकारित्वेऽर्थ-
क्रियाकारित्वाभावेन च तयोरसत्त्वे तद्योगिनोऽप्यसत्त्वसिद्धेः । सत्तान्तराद्युपगमेऽनवस्थापातात् ।
न गृहीतः । मरुमरीचिकादेरपि तोयाघात्मना सत्त्वापातात् । नच मरुमरीचिकादीनां तोयाघा-
त्मना असत्त्वेऽपि स्वरूपेण सत्त्वात् प्रकाशमानत्वं नानुपपन्नमिति वाच्यं तथापि सत्त्वस्य प्रका-
शमानत्वातिरिक्तधर्मान्तरत्वेन प्रकाशमानत्वस्य तत्त्वाभावात् । अथ भावधर्म एव सत्त्वम् ।
अभावोऽपि भाव एव 'भावान्तरमभावोऽन्यो न कश्चिदतिरूपणात्' इति भावस्यैव भावान्तरा-
त्मनाऽभावरूपत्वादिति विभाव्यते । तदापि स भावधर्मः को वा । व्यवहारयोग्यत्वमिति चेत् ।
को नाम तत्र व्यवहारः । अमिलाप इति चेत् । तद्योग्यत्वस्य स्वपुष्पेऽपि तुल्यत्वात् । अतोऽ-
भावस्य स्वपुष्पतुल्यत्वेनातीतानागतत्वलेऽर्थवियुक्तैव संविद् । एवमर्थसहभावानियमे सिद्धे यत्र
सहभावमिमानस्तत्राप्यर्थसत्ताया निर्वक्तुमशक्यत्वादर्थस्त्वानिर्वाच्यत्वमेव । तयैवात्मनो व्याप-
कत्वेनाहंमत्ये प्रादेशिकत्वस्यूलत्वकृशत्वादिना भासमानस्य चन्द्रसद्भावे चन्द्रान्तरवद् मानात्
तस्याप्यनिर्वाच्यत्वम् । तत्र सती वाधाभावादसतश्चाभानात् सत्त्वासत्त्वयोरेकत्र विरोधेन सद-
सद्रूपताया अशक्यवचनत्वात् सदसद्विलक्षणत्वमेव । तथाच सति विषयत्वेन भासमानानां
मरुमरीचिद्योपतुल्यत्वात् संविदेव केवला सती सिद्ध्यतीति सैवात्मा । तस्या अविषयत्वेऽपि
तयैव कर्तृत्वभोक्तृत्वादयोऽऽप्यसन्ते, अप्रत्यक्ष आकाशे मालिन्यवदिति ।

रश्मिः ।

स्वभावविषयकत्वेन स्वपुष्पादिवदनिर्वाच्यत्वं तस्मात् । एवं संविदोऽर्थसहभावं दृष्टं अङ्गीकृत्य
तस्याध्यस्तत्वमन्तरेण स्वयंप्रकाशतासंभवात् स्वयमर्थो मियेत्युक्तम् । इदानीमर्थाभावेपि संवित्प्रकाश
इति मन्यते वस्तुतस्त्विति । न च तत्रेति । घटो भविष्यति, घटो ध्वस्त इत्यादिप्रत्यये
इत्यर्थः । अभावोऽस्तीति प्रतीत्याशङ्क्य पराकरोति न च सोपीति । सत्तायामिति ।
अनङ्गीकारादसंभवात् । तत्र तयोरभावेन तयोः सत्ताख्यसामान्यसमवायार्थक्रियाकारित्वयोरसत्त्वेन
तद्योगिनोऽभावस्याप्यसत्त्वसिद्धिरित्यर्थः । तयोः सत्ता स्वीक्रियत इत्यत आह सत्तान्तरेति ।
भावान्तरमिति । अभावो भावान्तरम्, नान्यः कश्चित्, अनिरूपणादित्यर्थः । तच्चेति अनि-
र्वाच्यमित्यर्थः । सैवात्मेति । श्रुत्युदासीनात्मत्वेन वेदार्थभूतात्मत्वस्वरूपेणालेत्यर्थः । अर्था-
स्यन्त इति । परत्र परावभासोऽध्यासः । आरोप्यात्मन्ताभाववत्त्वं परत्वमधिकरणत्वं त्वलोऽर्थः ।
अवभासते इत्यवभासो रजतादिः । एवं चैकावच्छेदेन स्वसंसृज्यमाने स्वात्मन्ताभाववति अवभा-
सत्वमिति बुद्धिनिष्कर्षः । कपिसंयोगीत्यत्र संयोगेऽतिव्याप्तिवारणायैकावच्छेदेन इति । तस्य
स्वसंसृज्यमाने स्वात्मन्ताभाववति इतरावभासत्वेपि स्वभावावयोर्मूलाभावच्छेदकमेदेनैकावच्छेदक-
त्वाभावात् । पूर्वं स्वाभाववति भूतले पश्चादानीतो घटश्चास्तीति घटेऽतिव्याप्तिवारणाय स्वसंसृ-
ज्यमान इति अभावकाले प्रतियोगिसंसर्गस्य वर्तमानत्वं तदर्थः । भूत्वावच्छेदेनावभासे गन्धेऽ-

भाष्यप्रकाशः ।

तदसंगतम् । विषयत्वेन जडत्वेन व्याप्तेः प्रत्यक्षबाधितत्वात् । आत्मनश्चेतनत्वस्योभय-
संमतत्वात्, तस्य च प्रत्यग्विचिद्यत्वात्, प्रत्यग्विचिद्योचरत्वेन विषयत्वस्य व्यापकतया जड-
त्वेन विषयत्वेन व्याप्तेरेव प्रत्यक्षसिद्धत्वाच्च । नच प्रत्यग्विचिद्येदेकरसात्माग्राहकतया तदवि-
षयत्वमेवेति वाच्यम् । तेन रूपेणाविषयत्वेऽपि प्रत्यक्षवादिना रूपान्तरेण विषयत्वात् । अन्यथा
विषयाभावेन तद्विचिलोपप्रसङ्गात् । 'सन्मात्रो नित्यः शुद्धो बुद्धः सत्यो युक्तो निरञ्जनो विशु-
द्धय आनन्दः परः प्रत्यग्रसः प्रमाणैरेतैरवगतः' इति तापनीये प्रत्यक्षस्यापि तत्प्रमाणत्वेनैव
श्रावणाच्च । नच तत्राहंकारस्यैव विषयत्वं, नात्मन इति वाच्यम् । न्यायादिमते आत्मन एव
तथा भानात् । सांख्यादिमते च तस्य जडत्वेन तस्यां प्रतीतावहंतत्वचैतन्ययोः सामानाधिक-
रण्याभानप्रसङ्गात् । भासमाने च सामानाधिकरण्ये तस्यामहंकारविषयताया निवृत्तत्वात् प्रत्य-
रश्मिः ।

तिव्याप्तिरिरासाय स्वात्यन्ताभाववतीति । शुक्ताविदंत्वावच्छेदेन रजतसंसर्गकालेऽत्यन्ताभावोऽस्तीति
नाव्याप्तिरिति व्याख्यानम् । नच बन्धस्य ज्ञाननिवृत्तयेऽध्यासवर्णना व्यर्थेव नित्यस्यापि नाशसंभ-
वादिति वाच्यम् । पापादेः श्रद्धानियमादिसंपृक्तज्ञानानामनाशयत्वेन ज्ञानमात्रनाशबन्धेऽत्र मूल-
सैवामूलत्वादिति । तदेतन्निरसति वेदार्थभूतात्मत्वेनात्मनो विचारकः तदसङ्गतमिति ।
प्रत्यग्विचितीति । तथा च यदि विषयत्वं जडत्वं निवृत्तसामानाधिकरणं स्यात् प्रत्यग्विचिती विषये
जीवे जडत्वं भायात्, यतो न भाति ततो हि प्रत्यक्षबाधिता सेत्यर्थः । विषयत्वमपि साधारणो हेतु-
रित्याहुः प्रत्यग्विचिद्योचरत्वे चेति । आत्मन इत्यर्थः । एवेति 'व्याप्यस्य वचनं पूर्वं व्याप-
कस्य ततः परम्' इति ह्यभिलापात् । व्याप्तेरिति सा च नियतधर्मसाहित्ये उभयोरेकतरस्य वा व्याप्ति-
रिति सांख्यप्रवचनसूत्राद्धेतोर्नियतसामानाधिकरण्यरूपा तदेव व्यापकसामानाधिकरण्यमिति व्याप्तेः
स्वरूपं मुक्तावल्यामित्यलमतिप्रसङ्गेन । विशेषस्तु प्रस्थानरत्नाकरे उपपादितः । हेतोः साधारणतां
वारयन् शङ्कते न चेति । विषयत्वरूपहेतावपि विषयत्वमेवेति साध्यवदन्यवृत्तित्वाभावात् सा-
धारणत्वं विषयत्वरूपहेताविति भावः । अविषयत्वमेवेति साध्यवदन्यवृत्तित्वाभावात् न साधा-
रणता इति भावः । तत्प्रमाणत्वेनेति प्रमापयति विषयत्वेन प्रमां जनयतीति प्रमाणं प्रत्य-
क्षादि । नन्वादित्याहुः । आत्मविशेष्यकप्रमाप्रकारत्वेनेत्यर्थः । प्रमीयतेऽनेन प्रत्यक्षत्वेनेति करणत्वो-
पचारो वा । यद्वा, तस्याः प्रत्यग्विचिद्येः प्रमाणत्वेन प्रत्यक्षत्वस्य शब्दस्य श्रावणादित्यर्थः । प्रत्यग्वि-
चिलोपप्रसङ्गां पराकरोति न च तत्राहमिति । अध्यासस्योक्तत्वात्तस्य

'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते' ॥

हतिवाक्योक्तत्वात्त्रिम्बिकाचार्यसंमतत्वादेवेकारः । न्यायादिमत इति । अध्यक्षो विशेष-
गुणयोगत इति न्यायमतम् । आधिपदेन शांकरमते माध्वमते च । तथा च निम्बार्कमतं
न्यायादितर्कहंतं मध्वाचार्यानाभिमतं चेति निम्बार्कमतं सांप्रतं निर्धूलमिति नेति भावः । तस्येति
अहंकारस्येत्यर्थः । सामानाधिकरण्येत्वादि । ननु चैतन्यसामानाधिकरण्ये किं मानमिति चेत्

भाष्यप्रकाशः ।

कृत्वेनेतराविषयतया पारिशेष्यादात्मविषयत्वस्यैव सिद्धेः । नचैवं सति तत्स्वरूपयाथात्म्यभान-
प्रसङ्गः । साधनान्तरवैकल्येन तथाऽऽपादयितुमशक्यत्वात् । लोकेऽपि मणिपरीक्षादौ तथा
निर्णयात् । अन्यथा सांख्यादिशास्त्रतो नित्याऽनित्यवस्तुविवेकस्याप्यसंभवे त्वदभितविचारा-
धिकारस्याप्यसंभवापत्तेः । अतोऽनिच्छतापि प्रत्यग्विचिद्येद्यत्त्वमात्मनोऽङ्गीकार्यम् । नचैवं परतः-
प्रकाशत्वेन जडत्वापत्तिः । इदानीं तथात्वेऽपि, अत्रात्मा स्वयंज्योतिर्भवतीति श्रुतेः स्वप्न एव
तस्य स्वतःप्रकाशत्वेन जाग्रति तदभावेऽपि भस्मच्छन्नाग्निवददोषात् । जाग्रति तथाऽभ्युपगमस्यो-
क्तश्रुतिविरुद्धत्वाच्चैते मते चित्स्वरूपत्वे सति स्वयंप्रकाशसंविदाश्रयत्वस्यैव चेतनत्वात्, तेनै-
रश्मिः ।

अहमित्यस्याभिमाने योगाद् ब्रह्मणि रुदिरिति माध्वोक्तेः । वस्तुतस्तु असन्नित्वकृतः पुरुष-
विषयाहमिति सत्तारूपधर्मेणाविर्भावः । अस्तेभुवोर्धेकस्य शतरि कृते रूपमिदमिति । तर्हि अहमिति
सत्ताकृतं स्वरूपं सत्तानित्यत्वे तत्कारणेच्छायां व्यापारः । व्यापारः कर्म स्वयमेवेति ब्रह्मणि योगः
इति वेदान्तत्वादुपपन्नतरः । भीमासाकारिकासु वेदान्ते योगमात्रादरात् । अहंकारेत्यादि अहंकारो
विषयो यस्याः सा अहंकारविषया तस्याः भावो अहंकारविषयता तस्या इत्यर्थः । प्रत्यक्षत्वेन
रूपेण ज्ञानता कर्तृत्वादयो ये इतरे ते विषया यस्याः सेति पूर्ववत् । एवं सतीति
आत्मविषयिण्या अभ्रमत्वे सतीत्यर्थः । साधनान्तरेति । मनः करणं 'एवो अणुरात्मा चेतसां
वेदितव्यः' इति श्रुतेः, योगेन साधितमेव पश्यति, 'अन्तरेव च पश्यति' इति श्रुत्यन्तरात् 'अयं
हि परमो धर्मो ययोगेनात्मदर्शनम्' इति स्थितेश्च योगादिसाधनान्तरवैकल्येनेत्यर्थः । तथेति
भाने प्रकारस्य याथात्म्यसेत्यर्थः । नासौ न भ्रमः । अग्रे बाधादिति । तथा निर्णयादिति ।
वज्रयोगानन्यमनस्त्वादीनि साधनान्तराण्यत्र । अन्यथेति प्रत्यग्वित्यविषयत्वे प्रकारे ।
नित्यानित्येति नित्यानित्यवस्तुविवेकः शमदमादि वैराग्यं मुमुक्षुत्वं चेति साधनचतुष्टयवानवि-
कारी तत्र प्रकारो नित्यानित्येति, अविकारिशरीरे विशेषणत्वेन निविष्टस्येत्यर्थः । सिद्धमाह अत्र
इति । एतावता व्याप्तेर्वैपरीत्यमङ्गीकारितमधुना दूषयितुमुपक्रमः । उक्तज्ञानान्तरविषयत्वे
जडत्वापत्तिरित्यनुवदति न चेति । भस्मच्छन्नेति । भस्मस्थानीयं अविद्यादेहादि । उक्तश्रुतीति ।
अत्र आत्मा स्वयंज्योतिरिति श्रुतिविरुद्धत्वात् । एवं आत्मसंविदोः स्वयंप्रकाशत्वेन प्राप्तं तौल्यं
निषिद्धम् । 'सत्यं ज्ञानम्' 'यः सर्वज्ञः' इति श्रुतिद्वयसिद्धं लक्षणमाह श्रौते मते इति । जीव-
जडयोरित्यव्याप्तिवारणाय दत्तव्यम् । स्वयंप्रकाशत्वासां संविदाश्रयत्वेति कर्मधारयः ततः षष्ठीतत्पु-
रुषः । तेनैवेति -संविदि विशेष्यशून्यत्वेन संविदात्मनोरर्थयोस्तौल्यस्य परिहारादित्यर्थः । यत्तु
प्राभाकरमतमाक्षिप्तं तत्तु इष्टमेव । एकसत्त्वे द्वयं नास्तीति प्रतीत्याध्यापनविधिप्रयुक्ताध्ययनस्य सिद्धान्ते
सत्त्वादिति । अर्थज्ञानस्य अध्ययनविधिप्रयुक्तत्वाभावात् स्वाध्यायादिनिधिप्रयुक्तत्वस्यार्थज्ञाने सत्त्वात् ।
प्राभाकरमते ज्ञानविषययोरर्थः कश्चिद्भवतु । किंच ज्ञातता मष्टमते प्रत्यक्षेण, मुरारिमिश्रमते तु व्यव-
सायज्ञानेन ज्ञातता भवति तत्रानुव्यवसायानुक्तिः । किंच नात्मनश्चाध्याप्यक्षविषयता आकाशे
चाक्षुषग्रहवारणायोद्भूतरूपस्य कारणत्वात् । तस्य चात्मन्यभावात् । अपि च ज्ञानेन ज्ञानप्राप्ता-
प्यग्रहीतिरपि न सांप्रतम् । तथा सति दूराहितज्ञाने प्राप्ताप्यसंशयानुदयप्रसङ्गात् । ज्ञानस्य ज्ञात-
त्वेन तन्निष्ठप्राप्ताप्यस्यापि ग्रहादिति । ज्ञातत्वाभावे च धर्म्यज्ञानात् संशयानुदय इति । अतो

भाष्यप्रकाराः ।

वार्थत्वेऽप्यपरिहारात्, कर्मकर्तृविरोधस्यानुभवबलेनैव परिहृतत्वाच्च । एवमाश्रयाश्रयिभावेन सिद्धेः मत्संविदोर्भेदे विषयत्वेनार्थोऽपि भिन्न एव । नच सत्त्वस्यानिर्वाच्यत्वात् तद्योगिनोस्तयोरनियत्वं शक्यं, सत्त्वनिर्वचनस्य तवाप्यावश्यकत्वात् । अन्यथा संविदोऽप्यसत्त्वापातात् । प्रकाशसत्त्वमेव सत्त्वमिति चेत् सिद्धमेव तर्हि तद्योगित्वादात्मनः सत्त्वं, अमत आश्रयत्वायोगात् नच तत्प्रकाशस्वरूप एवात्मा, न तु तद्योगीति वक्तुं युक्तम् । प्रत्यक्षस्य तत्राभावात् । ई जानामीति, ज्ञानवानहमित्येवमात्मधर्मत्वेनैव तस्य भावाच्च । एवं सिद्धं प्रकाश-भिन्नसत्त्वम्, सिद्धं चानारोपितरूपेण विषयत्वादर्थस्यापि सत्त्वम् । असतोऽविषयत्वाद् ।

रश्मिः ।

पुरुषोत्तमत्वेनैवात्मनः प्रकाशत्वात् । स्वतो ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यं स्वतो ग्राह्यमिति । सिद्धान्ते तु 'अयमानं केच्यत्वं पुरुषोत्तम' इति वाक्यमपि । नैयायिकमतक्षेपं वारयन्ति कर्मकर्त्रिति । वचलेनैवात्मानमहं जानामीत्यत्र कर्मलक्षणसंगतिमिति भावः । पुनर्जडत्वापत्तिस्तु ततोऽसन्नयात्मानाविति ग्रन्थमाक्षिपन्नाह एवमिति । भेदे इति । नैयायिकास्तु संविदोर्भेदेऽपि ज्ञानत्वाभावः, सविषयत्वेऽपि जगतो विषयतोऽप्यस्यकस्यचित् । आद्ये सर्वज्ञतापत्तिः । निगमकाभावः, सुषुप्तिरपि निर्विषया न स्यात् । तदानीं निराकारचित्संततिस्वीकारस्तु प्रकाशत्वे प्रमाणाभावं द्रवयति । निर्विषयिण्या ज्ञानत्वे घटादीनामपि ज्ञानत्वापत्तिरतस्मिन्न इत्याहुः । आत्मद्रव्यज्ञानं बुद्धिर्गुणः । ननु प्रकृतेऽपि परिहरणीयमेतन्न इत्याह विषय-दि । ब्रह्मत्वेनाभेदादवच्छेदकोक्तिः । सर्वभवनसमर्थत्वादचिन्त्यशक्तेश्च जातार्थो भिन्न-तथा च नित्यज्ञानस्य प्रपञ्चविषयत्वे न सार्वज्ञ्यम् । अनित्यस्य यो विषयस्तद्विषयक-सौ सामग्रीपरिहाराददोष इति न पूर्वोक्तं किंचिदिति भावः । अथवा । ननुक्तं विषयादि-विदो अहं जीव इत्याद्याकारिकाया जडत्वापत्तिरिति, तत्राह विषयत्वेनेति । तथा चिद-तस्तु आविर्भावः विपरीतव्याप्तेन । एतेन पूर्वज्ञानफलस्येत्यादिनोक्ता जडत्वापत्तिर्जग-श्च निरस्ता । संविदोऽपि कैवल्यं नास्त्येवेति विषयाविनाभावं नन्दयति । तेन वस्तु-नोक्तमर्थविशुक्तैव संविदिति तदप्युक्तप्रायम् । अहंविचौ सत्ताया इवान्यत्र दृश्यमान-रूपितुमशक्यत्वादिति । ब्रह्मैव तदाकारतया चकास्तीति चेन्न अपसिद्धान्तापत्तेः । नीयां स्यातिमाश्रय निषेधति न च सक्थस्येति । तयोरेति आत्मार्थयोरित्यर्थः । माह प्रकाशेति । अहं इत्याह सिद्धमेवेति । असत् इति अनिर्वाच्यस्येत्यर्थः । तत्रेति ईः । आत्मनि सत्त्वस्याप्यमातत्वमाश्रयाह अहं जानामीति । ज्ञानानुकूलव्यापारवा-सत्त्वलयगोचरस्यात्मनो धर्मः सत्तास्मिच्छब्दे रूढः । तत्कर्तृसमभिव्याहारे अहंकारो योगा-रा इति तस्य सत्त्वस्य भावात् । अहंकारस्य सत्तासमभिव्याहारताकथनस्य सत्त्वमत्त्वेव न रूपप्रतीतित्वरूपप्रत्यक्षत्वभावात् विशेष इति भावः । सिद्धमाह एषं सिद्धमिति । तदर्थ- । ब्रह्मकार्यत्वादिति भावः । युक्तिमाह असत् इति । संहितायामित्यधिकारात्साध्याना-दसंधिः । तदुक्तम्—

1. वैति श्लो ।

भाष्यप्रकाराः ।

स्वपुष्पं-पश्याम्यनुभवामि प्रत्येमीत्याद्यप्रत्ययाद् मरीचितोयादीनां चारोपितरूपेण विषयत्वात् ।

रश्मिः ।

‘संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः ।

नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते’ इति ।

असतोऽपि तोयादेर्विषयत्वं दृश्यते इति चेत्तत्राह मरीचीति । आरोपितरूपेणेति । अयं भावः । माहास्तावद्भ्रमः सृष्टेर्नातिरिच्यत इत्यख्यातिं वदन्ति, संस्कारजन्यत्वाविशेषात् । न च तत्तास्फुरणापत्तिरिति शक्यम् । कर्तृदोषेण तत्प्रमोषात् । दोषाभावे तु रजतस्फूर्तिर-धिष्ठानस्फूर्तिर्वा भवेत् । दोषाश्च रागादयः कश्चित्प्रबललोकादिना विवेकासामर्थ्यं कश्चि-दन्यचित्तत्वेवमादयो अननुगतास्तथातथादशीनादुन्नेयाः । अतः प्रमुष्टतत्ताका सृष्टिरेव भ्रमस्थले ज्ञेया । प्राभाकरास्तु रजतमनुभवामीत्यनुव्यवसायबाधं स्मरामीत्यनुव्यवसायापत्तिं च पश्यन्तो ग्रहणस्मरणालोकं ज्ञानद्रव्यमगृहीतासंसर्गकमत्र स्यातिरूपमिति वदन्ति । सृष्टि-प्रमाणभेदेन ज्ञानस्य द्वैराश्यात् । न चानुव्यवसायद्वयापत्तिरिति वाच्यम्, स्मरणाभिमानस्य दोषेण प्रमोषात् । तस्माद्विद्विक्तज्ञानद्वयाङ्गीकारे न कोपि दोष इति । अत्राप्येकज्ञानतौल्येन ज्ञानद्रव्यस्याशक्यवचनत्वात् । न च तौल्यं नास्तीति वाच्यम् । यद्यगृहीतासंसर्गकं ज्ञानद्रव्यं स्यात्, एकज्ञानतुल्यता न स्यात्, यदि न स्यात् सा व्यवसायानुव्यवसाययोर्नोपलभ्येतेति तर्केण तन्मूलमनुव्यवसायानुव्यवसायाभ्यां चैकज्ञानतुल्यत्वनिश्चयात् । अपि च, ज्ञानद्वैराश्याग्रहेणात्र ज्ञानद्वयाङ्गीकारे सवेत्र विशिष्टज्ञानोच्छेदः । घटोयमिति प्रमायामप्यगृहीतासंसर्गकवद्गृहीतज्ञानद्रव्यस्य शक्यवचनत्वात् । द्वैराश्या मूलस्य चिन्त्यत्वाच्चेति मतद्वयेऽपि दोषान् पश्यता भवतानिर्वचनीया स्यातिराधता । इत्थं हि त्वदीयं व्युत्पादनम् । प्रमा द्वेषा । तत्र तत्त्वमस्यादिवाक्योक्त्या पारमा-र्थिकी, संसारप्रमा प्यावहारिकी । साचेत्थं एकैव संविद्यातुर्विध्यं धत्ते । तत्रान्तःकरणवैशिष्ट्येन प्रमातृताम्, अन्तःकरणवृत्तिवैशिष्ट्येन प्रमाणताम्, घटादिवैशिष्ट्येन विषयताम्, अन्तःकरणवृ-त्त्यभिव्यक्तत्वेन फलतामिति । पूर्वमिन्द्रियार्थसन्निकर्षः, ततश्चान्तःकरणस्य चक्षुरादिद्वारा विषय-देशगमनम्, तेन संयोगस्तदाकारेण परिणामो वृत्त्यात्मकः । यथा तडागोदकं छिद्राभिर्गत्य कुल्याद्वारा केदारं प्रविश्य चतुःकोणाश्रकोणं परिणमते । तत्र परिणामे विषयसंविद्यतिफलं भवति । तदैकदा वृत्तिविषययोरवस्थितरेकदेश इति तत्रयुक्तभेदस्याकिंचित्कारत्वात् तत्संविदोरेक्यम् । तदिदं प्रत्यक्षप्रमा तथा च वृत्त्यावरणसंहिताज्ञाननिवृत्तिः । ततोऽन्तःकरणविशिष्टसंविदा विषयस्फुरणमिति । यदा तु इन्द्रियविषययोर्दोषः, तदा भ्रमः । न च सदसद्विलक्षणत्वादननिर्वचनीय इति ।

तदिदं स्वबुद्ध्यासमात्रम् । आरोपितरूपेण बुद्धिरूपेण विषयत्वात् । तथा हि । अहंकार-भेदरूपा बुद्धिः सिरा मूर्ता सच्चिदानन्दब्रह्मभिन्ना स्यायत इति अन्यस्यातिरेकोचितेति । एतद्वै-शिष्ट्यज्ञानप्रनाडीनां द्वितीयाध्यायोपान्ते 'प्राणवता शब्दात्' इत्यधिकरणे विस्तृतनिरस्ती वक्तव्ये इति ते अत्र नोच्येते । नन्वभावे सत्त्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्तदतीतानागतस्थलेऽर्थवियुक्तैव संवित्तद्द-र्तमानकाठेऽप्यर्थो मिय्या दृश्यत्वाच्छुक्तिरतवदिति अनुमानेनार्थोऽनिर्वचनीय इति नार्थं नियाम-कतेति शक्यते न चेति । ननु चाभावत्वेन प्रत्ययात्सोतिरिच्यत इति चेत्, न । घटे ध्वस्ते तद्द्रव्यं

भाष्यप्रकाशः ।

न चाभावे सचाप्यभिचारः । तस्यापि भावत्वात् । भावान्तरात्मना अननुभूयमानप्रतियोगि-
रूपेणैव तत्राभावव्यवहारत् । अन्यथा निष्प्रतियोगिकत्वेनापि तस्य प्रत्ययापत्तेः । नचैवं संविदो-
ऽर्थाद्यविनाभावेऽर्थं विना संविदप्रकाशात् स्वतःप्रकाशत्वहानिः । दीपादेस्तेजोरूपत्वस्यैव संविदः
प्रकाशस्वरूपत्वस्यैव स्वतःप्रकाशपदार्थत्वात् । अत एवात्मनोऽपि तथात्वात् । नचात्मनो व्यापक-
त्वेन सर्वत्र सत्त्वात् तत्रारोप्यमाणस्य शरीरादेर्मरीचिकादावारोप्यमाणतोपादेरिव सत्त्वदेशस्या
शक्यवचनत्वादसत्त्वमास्थाय प्रतीयमानत्वमात्रेण सदसद्विलक्षणत्वमनिर्वाच्यत्वं चास्थीयत इत्यपि
सांप्रतम् । वस्तुपरिच्छेदास्यातुर्भते तत्समवाय्यादीनां सत्त्वेन तेषामेव देशत्वसिद्धेः । तदन-
स्यातुर्भते च ब्रह्मकार्यत्वाद् ब्रह्मण एव तथात्वसिद्धेः । एवं सिद्धे देशे शरीरादीनां च सिद्धत्वे
तेषामात्मन्यारोपोऽपि सुकरः । अन्यथा खपुष्पादेरिव दुष्करः स्यात् । अप्रत्यक्ष आकाशे मालि-
न्याध्यासवदप्रत्यक्ष आत्मनि शरीराद्यध्यासोपपादनमप्यसंगतम् । बालानामवकाशरूपेण बुद्धानां
वस्तुत्वभावेनैव चाकाशस्यापि प्रत्यक्षत्वात् । अतः कल्पनाया असंगतत्वात् 'तदेवां प्राणानां विज्ञान-
नेन विज्ञानमादाय' इति, 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा' इत्यादिश्रुतिविरोधाच्च, न कर्तृत्वभोक्तृ-
त्वादिरहित आत्मा । नच स वेदार्थः । ब्रह्मणो वेदार्थत्वात् । किंतु स्वबुद्ध्या तथा कल्पित इति,
न तदर्थं विचारः शक्यवचनः । तदिदमुक्तं न हीत्यादि ।

रश्मिः ।

कपालत्वेनावतिष्ठते संज्ञानिर्वृत्तिमात्रं परम्, एवं कपाले ध्वस्ते तच्छकलात्मता ततोपि चूर्णीभावः
ततश्च बहिःप्रक्षेपे पृथिव्यामेकीभावः, पुनः कपालं घटश्चेत्येवं भ्रमणेनानुभूयमानप्रतियोगिरूपेण
कपालादिनाप्यभावप्रत्ययनिर्वाह इति । प्रत्यक्षविरोधस्य सहने फलाभावादिति । न चेह घटो ध्वस्त
इत्याधाराधेयभावव्याघातः । घटाभावे घटाभाव इतिवदुपपत्तेः । तदाह भावान्तरात्मनेति ।
'यदस्ति यन्नास्ति तदेव विष्णुः' इति विष्णुरूपभावान्तरात्मत्वमभावस्य, न अनुभूयमानोऽननुभूयमान-
स्तादृशः प्रतियोगी संबन्धनिरूपको यस्येति । मुख्यधर्मणैव व्यवहार इत्यत्र युक्तिमाह अन्यथेति ।
निर्गतः प्रतियोगी यस्मात् तत्त्वं भावान्तरधर्मस्तेन रूपेणेत्यर्थः । 'इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य' इति षत्वम् ।
तद्रहितपाठस्तु ग्रामादिकः । तेन खपुष्पेऽभिलाषयोग्यत्वेपि अस्त्यादिक्रियान्वितत्वरूपसत्त्वाभावेन
तदतौल्यमपि सूचितम् । तथैवात्मनेत्यादिनिरुक्तमनुवदन्तीं शब्दाप्रपाकुस्ते न चात्मनं इति ।
सदसद्विलक्षणत्वमिति । अनिर्वचनीयत्वमेव सदसद्विलक्षणत्वमास्थीयत इति योजना । दृष-
यति अस्तिवति । वस्तुतो ब्रह्मणो वैश्वानराधिकरणे प्रादेशत्वाभिमानत्वरूपाङ्गीकारेणैव परिच्छे-
दास्यातुर्भगवतो व्यासस्य भते शरीरादिसमवाय्यादीनामित्यर्थः । तदनास्यातुरिति प्रस्तुत
एकदेशिनो मते इत्यर्थः । ब्रह्मण इति सर्वशक्तिमतो ब्रह्मण एकदेशत्वसिद्धेरित्यर्थः । -त्वा-
प्येवमावश्यकमित्याह एवं सिद्ध इति । तथा चानिर्वाच्यत्वनिश्चितिर्निष्प्रयोजनेति भावः । दृष्टा-
न्ताप्रसिद्धिमाह बालानामिति । आकाशस्यापीत्यादि । इदं चाप्रे व्युत्पद्यम् । तदेषामिति
श्रुत्यर्थस्तु, विज्ञानमयस्य सुप्तस्य विज्ञानराहित्ये अजातशत्रुणा हेतुरुच्यते तदेषामिति । एषा-
मात्मप्राणादीनां विज्ञानं स्वविषयप्रकाशनसामर्थ्यं विज्ञानेन स्वचैतन्येन जीव आदायोपादाय इदया-
काशे शत इति । न च स वेदार्थ इति स्वात्मा न वेदार्थ इत्यर्थः । यदप्यध्यासलक्षणं
तदप्यध्यासम् । न चेदंत्वावच्छेदेन तदत्यन्ताभावोऽस्तीति रजतत्वाभाववति रजतत्वप्रकारकं

ब्रह्म पुनर्यादृशं वेदान्तेष्ववगतं तादृशमेव मन्तव्यम् । अणुमात्रान्यथा-
कल्पनेऽपि दोषः स्यात् ।

'योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ।

किं तेन न कृतं पापं चौरैणात्मापहारिणा' ॥

'नैषा तर्केण मतिरापनेया' इति श्रुतेश्च ।

भाष्यप्रकाशः ।

अथ 'सत्त्वं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म,' 'अस्थूलमनणु' इत्यादिश्रुतिभ्योऽधिगत इति वदति तत्राह
ब्रह्मेत्यादि । यथा हीदमस्थूलत्वादिकं वेदान्तेषुच्यते, तथा 'सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः, विश्व-
तश्चक्षुस्त विश्वतोमुखः' इत्यादिकमप्युच्यते इति तादृशमपि मन्तव्यं न तु निर्विशेषमात्रम् । न
च तत्र स्वस्थान्यथाकल्पनं युज्यते, प्रतिज्ञाहानिदोषात् प्रतारकत्वापत्तेः । नच श्रोतुर्मन्दत्वे
कश्चिदुपायो विधेय इति तदर्थं किञ्चित्कल्पनेऽप्यदोष इति वाच्यम् । तथा सति श्रुत्यभिप्रेत-
त्वस्वरूपाज्ञानेन श्रोतुः 'योऽन्यथा सन्तम्' इतिश्रुत्युक्तदोषापत्तेः । तथा वक्तुरपि, नैषा तर्केणेति
श्रौतनिषेधातिक्रमदोषापत्तेः । श्रुतिविरोधदोषापत्तेः । तदिदमुक्तम् अणुमात्रान्यथेत्यादि । ननु

रश्मिः ।

ज्ञानं तत्राल्यन्ताभावो निविष्टः, भावोऽस्तीति नाध्यासिरिति वाच्यम् । इदंत्वस्य पुरोवर्तित्व-
रूपस्य शुक्तिनिष्ठत्वे सदसत्त्वस्यात्यापत्तिः, अनुभवविरोधश्च । विशेषणानुभवो रजत इति । रज-
तनिष्ठत्वे तु प्रतिबन्धकोऽत्यन्ताभावं विषटयिष्यतीति । बन्धस्य नित्यता तु 'बन्धोस्याविषया-
नादिः' इति वाक्यादविद्याकार्यत्वेन मिथ्यात्वात् । व्यावहारिकी माध्वैर्बन्धमिथ्यात्वखण्डने खण्डि-
तेति । ननु कारणान्तरसमवधानाच्च बन्धस्य विद्यामात्रनिवर्त्यत्वमिति चेन्न, एकेनैव दण्डादिना
घटनाशदर्शनेन दृष्टान्तसंभवाच्च । 'असंदिग्धोपि वेदार्थः' इत्यत्र अस्य पक्षस्य संग्रहात् । सिद्धा-
न्तपक्षमाहुः तादृशमपीति । निर्गुणमेव पश्चादनारोपितगुणसंप्रकृतमित्यर्थः । इदमुभयव्यपदेशाधिकरणे
तृतीयाध्याये स्पष्टीभविष्यति । अणुमात्रेत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति स्म न च तत्रेत्यादि । ब्रह्मणि
धर्मिणामप्यस्तत्वकल्पनमित्यर्थः । कुतः, अणुमात्रान्यथाकल्पनमपि नेष्यत इत्यर्थः । प्रसि-
द्धेति 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति निर्गुणब्रह्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय 'जन्माद्यस्य यतः' इति वदतो व्यासस्य
प्रतिज्ञाहानिदोषादित्यर्थः । अप्यस्तत्वेपि लक्षणतोपपत्तेराह प्रतारकत्वेति । केवला संवित्त्वि-
त्यस्ययतो भगवतो व्यासस्य तत्त्वापत्तेश्चेत्यर्थः । अत एव द्वितीयस्य नवमाध्याये इच्छानन्तरं
सदानन्दस्य जगत्कर्त्री शक्तिः, चित्तस्तु व्यामोहिका शक्तिरिति विभाग उक्तः । अणुमात्रेत्यादि
भाष्यमवतारयन्ति न च श्रोतुरिति । मन्दत्व इति तावदवधानशून्यत्व इत्यर्थः । योऽन्यथा
सन्तमिति । अत्र प्रतिपद्यत इत्यस्य जानाति, प्रतिनिधिं पद्यते गच्छति प्रतिपत्तिं शरणगतिं कुर्वते
इति त्रयोऽर्थाः । प्रतिनिधिः कृष्णः प्रतिकृतिश्च । तदुक्तं सुबोधिण्यां 'नैश्चिन्त्वं वाचि पूर्ववत्'
इति कृष्णविषये, प्रतिकृतिविषये तु 'इरिभूर्तिं प्रियां कृत्वा' इति । पुरुषोत्तमनिष्ठायां गोस्वामि-

नच विरुद्धवाक्यानां श्रवणात् तन्निर्धारार्थं विचारः । उभयोरपि प्रामाणिकत्वेनैकतरनिर्धारस्याशक्यत्वात् । अचिन्त्याऽनन्तशक्तिमति सर्वभवनसमर्थे ब्रह्मणि विरोधाभावाच्च ।

अत एवोपनिषत्सु तत्तदुपाख्याने बोधाभावे औपाधिकबोधे च तपस

भाष्यप्रकाशः ।

विरुद्धवाक्यश्रवणे श्रोता संदेहि । संदेहे चावश्यमनिष्टम् । 'अज्ञश्चाश्रद्धानश्च संशयात्मा विनश्यति' इति स्मरणात् । 'यस्य स्यादद्वा न विचिकित्सा' इति इति श्रुतेश्च । अतस्तन्निवारणार्थं निर्धार आवश्यकः । स च विचारार्थीन इति तदर्थं स कार्य एवेत्यत आह नचेत्यादि । विचारः कथं कार्यः किमेकतरभाधेन, किंनोमयसामञ्जसेन । यद्यद्यः पक्षस्तदा तदुपाधनायाः प्रामाणिकत्वं तस्य वक्तव्यम् । तथा सत्यन्यत्रापि तदापात इत्युपचारनिवृत्त्यर्थं यत्तमानस्याऽ-प्रामाणिकत्वापत्त्या वृत्तिक्रमिया फलायमानस्य विषमाशीविषमुखे निपातः । अथ द्वितीयस्तदा, 'परास्य प्रक्तिर्विविधैव श्रूयते,' 'स हैतावानास' इत्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्मसामर्थ्येनैव विरोधस्य परिहारे विचारस्य वैफल्यमेवेति युक्त्या वेदार्थः सर्वथा न प्रतिपत्तुं शक्यः, इत्यतो वेदार्थज्ञानायाः पायान्तरेष्वप्यव्यम् । तदपि श्रुत्यविरुद्धम् । तत्र प्रमाणमाह अत एवेत्यादि । तैत्तिरीये भृगो-बोधभावात् वरुणेन 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व' इति, छान्दोग्ये इन्द्रप्रजापतिसंवादे इन्द्रस्यौ-पाधिकत्वात् प्रजापतिना, 'वस द्वात्रिंशत् वर्षाणि ब्रह्मचर्यम्' इति साधनान्तरस्य तपस एवोपदेशः

रश्मिः ।

नोपि 'तपः श्रीपुरुषोत्तमात्मकतायां जातायां स्वरूपे भगवान् श्रीगोकुलेशः श्रीकृष्णोयमिति बुद्धिः कर्तव्या, न स्वरूपादिबुद्धिः' इत्याहुः । नैषा तर्केणेति भाष्यं विवृण्वन्ति तथा वचुरिति । एवेति विविधयिणीत्यर्थः । अयमर्थः । द्वितीयाध्यायेऽणुकारप्रवादे वक्ष्यते । काठके इयं श्रुतिः । सा च अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान् न ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात्, 'नैषा तर्केण मतिरापनेया श्रोक्तान्येना सुज्ञानाय प्रेष्ठ' इत्यादिः । अनन्यः आचार्यः । 'अत एव चानन्याधिपतिः' इति सूत्रात् । अन्येन प्रामाणिकतायाः । 'नाहं किंचित्करोमि' इति वाचयात् । न अन्यो भिन्नो विद्यते यस्ये-त्तागमाभिज्ञान । तदिदमिति । न च तत्रत्यादिना विवृतमित्यर्थे इति । न च श्रोतुरित्यादिना विवृतमित्यर्थः । आरणे 'अन्वो मणिमविन्दत् तमनङ्गुलिवावयत् । अग्नीवः प्रत्यमुञ्चत् । तमजिह्व असश्चत' । 'जर्ध्वमूलमवाक् छावं वृक्षं यो वेद संप्रति । न स जातु जनः श्रद्धान्वात्' इति मृत्युर्मां प्राप्तात्' इति । 'अणोरणीयान्महतो महीयान्' इति वेदान्ते । अविन्दत् ज्ञातवान् । १०-सं-पदात्, अध्वान्वा विरुद्धधर्माश्रय उक्तः । तमनङ्गुलिरिति 'अपाणिपादो जवनो भट्टीता' इत्युक्तः । अग्नीव इति । सर्वतो हि शिरोमुखमित्युक्तः । तमजिह्व इति लिह आखादने आखादक-र्तुरहितः । 'निर्गुणो गुणभोक्ता च' इति गीतोपबृंहिका । श्रुतिविरोधेति । यस्य स्यादद्वेति । यस्य विचिकित्सा संशयो नास्ति तस्याद्वा प्रत्यक्षं स्यादित्यर्थः । नस्येति उभयोरैकतरस्येत्यर्थः । त्रिषमाशीविषमुख इति । विषमाशीविषः सर्पविशेषः । एतन्नता 'अलौकिको हि वेदार्थः' इत्य-र्थकारिका व्याख्याता । उत्तरार्थं विवरीतुं संबन्धार्थमाह इत्यत इति । बोधाभावाच्च इति । अत्र-ब्रह्मज्ञानात्तरं 'तद्विज्ञाय पुनरेव च वरुणं पितरं उपससार अवीहि भगवो ब्रह्मेति, तद्देवाच्च तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व' इति बोधाभाव इत्यर्थः । औपाधिकबोध इति । छान्दोग्ये च दशम-

एवोपदेशः । नच तपःशब्देन विचारः । तस्य पूर्वानाधिक्यात् तप एव । नचोपा-ख्यानानां मिथ्यात्वम् । तथा सति सर्वत्रैव मिथ्यात्वं भवेत् विशेषाभावात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

कृत इत्यर्थः । ननु तप संताप इतिवत्, तप आलोचन इत्यपि धातुरिति तन्निष्पन्नोऽयं शब्दो विचारार्थक एव मन्तव्यः । तथा सति श्रुत्यैव विचारस्य प्राप्तिरित्यत आह नच तप इत्यादि । तप एवेति तप एव तपःशब्देनोच्यत इत्यर्थः । अयं भावः । विचारो हेकतरभाधेन वा, ब्रह्मणः सामर्थ्यादिप्रदर्शनेन वा साधनीयः । न तु श्रोतरि तेन कोऽपि विशेषः संपाद्यः । तथा सति पठितवेदस्य साधनान्तरश्रवणं विनाऽपि विचारं वेदार्थः स्फुरेदेवेति पूर्वानाधिक्यमदुपस-दनवैयर्थ्यापत्तिः । गुरुवाक्योत्तरं विचार इत्यङ्गीकारे गुरोः खलत्वापत्तिः । उपसदनोत्तरमपि तस्यैवायातोपदेशेन दयाराहित्यप्राकट्यात् । तपसोऽङ्गीकारे तु तेन शिष्ये विशेषाधानादधिकार-संपत्तौ साङ्गवेदवाक्येभ्य एव स्फूर्तिर्नैव कोऽपि पूर्वोक्तदोष इति तपःशब्दो रूढ एवादर्-णीयः । तदेतदुक्तं, तप एवेति । अन्यथा छान्दोग्यविरोधस्यापरिहार इत्यपि बोधयितुं साव-धारणमुक्तम् । ननु सत्यमुपनिषत्सु तप उपदिश्यते, तथाप्युपाख्यानेषु न तु ज्ञानसाधनत्वेन ह्यपि पृथग् बोधयते । उपाख्यानाणि तु विद्यास्तुत्यर्थमसदपि बोधयन्तीति, न तदनुरोधे निर्वन्धः कार्य इत्यत आह नचोपेत्यादि । तथाच श्वेतकेतुपाख्यानस्ययुक्तीनां त्रिवृत्करणादीनां

रश्मिः ।

प्रपाठके ब्रह्मविज्ञानसुभ्यामिन्द्रविरोचनान्यां नोदितः प्रजापतिस्वाच 'साधलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ मूलोदशरावेऽवेक्षयाम्' इति । ततश्च तथा कृते 'एष आत्मेति होवाच ततस्तौ शान्तहृदयो प्रवव-जतुः' । तयोस्मिन्स्तु शरीरालंकारनाशप्रतिना तस्मात्साधनुसंधाय, 'नाहमत्र भोग्यं पश्यामि' इति पुनः प्रजापतिमुपजगामौपाधिकबोधे इत्यर्थः । तस्य विचारस्य श्रोतरि पूर्वोपेक्षया विशेषरूपाधिक्या-संपादकत्वात् तपःशब्देनानशनादिसं विशेषाधायकं तप एवोच्यते इत्याशयमभिसंधाय विवृ-ण्वन्ति अयं भाव इति । तेनेति विचारेणेत्यर्थः । ननु विचारेणाप्युत्तरोत्तरं प्रतिभास्यो विशेषः संपाद्य एवेति चेत्, तत्राहुः तथा सतीति । इति पूर्वानाधिक्यादिति इति हेतोः पूर्वोप-सदनापेक्षया ब्रह्मोपसदनविषये विशेषरूपाधिक्यासंपादकत्वात् । विशेषभावादिब्रह्मबोधानु-त्पत्त्येव । ननु विचारेणैव वक्तुं शक्यमित्यत आह उपसदनेति । भृगोर्वरुणोपसरणवैयर्थ्या-पत्तिः । विचारेणैव विशेषाधानादुरेणप्रयोजकत्वादित्यर्थः । शिष्ये विशेषाधानादिति । 'अत्र ब्रह्मेति व्यजानात्, प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्, मनो ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इत्येवमुत्तरोत्तरं फलवैजात्यात् साधनवैजात्यात् शिष्ये विशेषाधानाव-श्यकत्वादित्यर्थः । तदुक्तं—

'अलौकिको हि वेदार्थो न युक्त्या प्रतिपद्यते ।

तपसा वेदयुक्त्या तु प्रसादात्परमात्मनः' ॥ इति ।

तपःशब्द इति । तपःशब्दः अरूढ इति पदच्छेदः । 'तप संतापे' इति धातुपाठान् ।

तेन वेदान्ते योगाङ्गीकारस्य न विरोधः । यद्वा तपःशब्दो रूढः शक्तिसंकीचवान् । अत्र तपो भगवानिति द्वितीयस्कन्धनवमाध्याये निरूपणान्न विचारः । ततः 'स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्स्य त्वं पुरुषोत्तम' इति वाक्यात्तप एव । 'तदुक्तं तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व', 'तपो ब्रह्म', इति । 'अलौकिको हि वेदार्थो न युक्त्या प्रतिपद्यते । तपसा वेदयुक्त्या तु प्रसादात्परमात्मनः' इत्यत्र तप उक्तम् । न च वेदयुक्तिविचारः । अस्तु तथा, परंतु द्वितीयसुबोधिन्यां तपसंतापस्वीकारात्, 'स्वयमेवात्म-

न ह्यप्रमाधिकोक्ते विधौ वा उपाख्याने वा ब्रह्मस्वरूपे वा कस्यचिदपि विश्वास्तो यथा लोके । तस्माद् वेदे अक्षरमात्रस्याप्यसत्यार्थं (ज्ञान)स्याभावाद् वैदिकानां न संदेहोऽपि किं पुनर्विरुद्धार्थकल्पना । विद्यासु च तदश्रुतेः । यदि वेदार्थज्ञाने विचारस्योपयोगः स्यात्, अङ्गत्वेन व्याकरणस्यैव विद्यासु भ्रवणं स्यात् । स्वातन्त्र्ये च पुराणादेरिव मीमांसाया अपि प्रकारभेदेन प्रतिपादकत्वं स्यात् । 'तं त्वौप-निषदं पुरुषं पृच्छामि' इति तु तेषां निषेधः । अन्यथाज्ञानं नोपनिषदुक्तं कलं समर्पयति । तस्मात्प्रारम्भणीय एव ब्रह्मविचारः ।

भाष्यप्रकाशः ।

च मिथ्यात्वं स्यात् । तथाच सर्वो वेद एवोच्छिद्येत्यर्थः । तत्र हेतुमाह न हीत्यादि । सिद्धं वदन् खोक्ते प्रत्यक्षसंवादमप्याह तस्मादित्यादि । वैदिकानामिति प्राज्ञवैदिकानाम् । प्रकारान्तरेणापि विचारानर्थक्यमाह विद्यास्त्रित्यादि । खोक्तं व्याचष्टे घदीत्यादि । चरणच्युद्धे, शिक्षा कल्पौ व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति षडङ्गान्युक्त्वा, 'तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते' इत्येवोच्यते । तस्मात् 'साङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इति विधावपि नाक्षेपो युक्त इत्यर्थः । एवं विधिव्येऽपि विचाराक्षेपस्याशक्यवचनत्वाद् विधिप्रयुक्त्यारम्भणीयत्वं निवारितम् । ननु मास्त्वङ्गमध्यपातस्तथापि पुराणादिवत् स्वातन्त्र्येणैवारम्भणीयः । नचाऽप्रामाणिकत्वम् । प्रतिपद-मनुषदं, छन्दो, भाषा, धर्मो, मीमांसा, न्यायसर्क इत्युपाङ्गानीति तत्रैवोपाङ्गेषु पाठात्, स्मृतावपि ।

'पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।

वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश' ॥ इति ।

विद्यासु गणनाश्चेति चेत्प्राह स्वातन्त्र्ये चेत्यादि । तस्मादिति वेदार्थज्ञानार्थं ब्रह्म-ज्ञानार्थं चाऽनुपयोगात् ।

रश्मिः ।

ना' इति वाक्यात् विचारस्याप्राप्तिः, अभगवत्त्वात् । तथा च तस्य विचारस्य अभगवत्त्वेन पूर्वस्मात्सं-तापात्मकात्तपसो भगवद्रसादसानाधिक्यात्तपःसन्तापात्मकमेव ग्राह्यमिति भाष्यार्थः । आधिक्यं स्वयं प्रकाशाविषयकत्वम् । एकरसत्वं वा एकरसत्वेन पूर्वस्मादनाधिक्यं वा । मुख्यं हेतुमाह अन्यथेति तपसो विचारार्थकत्व इत्यर्थः । अपरिहार इति अपरिहारो मुख्यो हेतुरित्यपि बोधयितुमित्यर्थः । उपाख्यानानीति । एतच्च पूर्वतन्त्रे द्वितीयस्य द्वितीयपादे चिन्तितम् । त्रिवृ-त्करणवादीनामिति । 'यथा नु खलु सोम्येमास्त्रिभ्यो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति । अन्नमश्नितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्वविद्यो धातुः तस्युरीषं भवति, यो मध्य-मस्तन्मांसम्, योऽण्णित्स्तन्मनः, आपः पीताश्लेषा विधीयन्ते, तासां यः स्वविद्यो धातुस्तन्मूत्रं भवति, यो मध्यमस्तल्लोहितम्, योऽण्णित् स प्राणः, तेजो अश्नितं त्रेधा विधीयते, तस्य यः स्वविद्यो धातुस्तदस्थि भवति, यो मध्यमः स मज्जा, योऽण्णित् स वाक्, अन्नमयं हि सौम्य मनः, आपोमयः प्राणः, तेजोमयी वागिति' त्रिवृत्करणश्रुतिः । भाष्ये । असत्येति । न च सर्वरस इति श्रुति-विरोधे रस शब्द इति धातुपाठात् शब्दस्यासत्यर्थादिति शक्यम् । क्षराक्षरपुरुषोत्तमभेदेनासत्यार्थ-

अनेन धर्मविचारोप्याक्षिप्त एव । न खेतभिराकर्तुः सोऽयमतिभार इति पूर्वःपक्षः ।

सिद्धान्तस्तु ।

भाष्यप्रकाशः ।

ननु मास्तु ब्रह्मविचारस्वारम्भणीयत्वं, धर्मविचारे तु दोषाभावात् तदारम्भे को दोष इत्यत आह अनेनेत्यादि । 'स तृतीयमतप्यत, स एतं दीक्षितवादमपश्यत्' इत्यादौ तपस एव कथने-नेत्यर्थः । नन्विदमपि शास्त्रमृष्युक्तत्वात् प्रामाणिकमतः कथं निराक्रियत इत्यत आह नही-त्यादि । गुरोर्मते एव निराकृतो शिष्यस्य का वा गणनेत्यर्थः । एवं च यथा मीमांसाकरणात् पूर्व-मङ्गैरेव संदेहनिवृत्तिस्तथेदानीमपि भविष्यतीति व्यर्थं तत्करणमिति केवलवैदिककृतः पूर्वपक्षो निरूपितः ।

उत्तरं वजुं गृह्णन्ति सिद्धान्त इत्यादि । ननु शब्दस्य निःसंदिग्धमर्थप्रतिपादकत्वात् रश्मिः ।

वाचकानां क्षराक्षरसंबन्धित्वेन पुरुषोत्तमनिःश्वासे वेदे असत्यार्थस्याभावात् । तेजो घृतादि । अर्थविपुराणां वैदिकानां धर्म्यज्ञानात्संशयो न घटत इति विशिषन्ति प्राज्ञेति । प्राज्ञ एव प्राज्ञः ते वेदार्थमृतात्मत्वज्ञाः । पूर्वमीमांसाकारिकाणां भावार्थपादभाष्यस्य च तद्विषयकविचारो लघवा-दत्रैव युक्त इत्याशयेनानेन इत्यादि भाष्यमित्याशयेन विवृण्वन्ति स्म स तृतीयमिति । इयं श्रुतिः संहितातृतीयाष्टकेऽस्ति । स प्रजापतिस्तृतीयं तपो अतप्यत तदन्वेतं दीक्षितवादं ज्ञातवानित्यर्थः । पूर्वं प्राज्ञेति स्वयं विशेषणोक्तेः । ननु मीमांसकान्तरोत्थापकग्रन्थाभावात् पूर्वपक्षोपन्यासोऽयं दुर्बोध इति चेन्न, नात्र ब्रह्मपदेन प्रमितव्यम् । ब्रह्मपदस्य 'जिज्ञासितमधीतं च यत्तद्ब्रह्म' इत्यत्र वेदे प्रयुक्तत्वात् । वेदत्वेन वेदान्तविचारेऽपि संहतमेतच्छारीरकं जैमिनीयेन षोडशलक्षणेनेति वदतां ब्रह्मसूत्राणां प्राचीनवृत्तिकृतां वेदगतिप्रदर्शनार्थं ब्रह्मपदग्रथनस्य सत्त्वान्न ग्रन्थाभाव इति । सिद्धान्तग्रन्थमवतारयन्ति उत्तरमित्यादि । गृह्णन्तीति पूर्ववत् । भाष्ये संदेहवारकमिति द्वितीयाधिकरणे—

'संदेहवारकं शास्त्रं वेदप्रामाण्यवादिनाम् ।

क्रियाशक्तिज्ञानशक्ती संदिश्येते परस्थिते' ॥

इति वक्ष्यते । तत्र ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्ती किञ्चिद्वे इति विशेषजिज्ञासाजनकत्वात् विशेषवेदार्थ-जिज्ञासा भवति । तर्हि कोऽत्र वेदार्थः यत्र संशयोदयः । ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्ती संदिश्येते परस्थिते इति भाष्यात् ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिविषयकः संशयः तस्योदय इत्यर्थः । अत्र ज्ञमः ।

'श्रुतिवृन्दैः सदा जुष्टं श्रुतिवृन्दैः सदाद्भुतम् ।

श्रुतिवृन्दैः सदा सन्तं श्रौतं श्रीकृष्णमाश्रये' ॥

इत्युक्तम् । ब्रह्म पुनर्यादृशमित्यादिः फलिष्यति । 'शतं शुक्राणि यत्रैकं भवन्ति, सर्वे वेदा यत्रैकं भवन्ति, सर्वे होतारो यत्रैकं भवन्ति, स मानसीन आत्मा जनानाम्, वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं आदित्यवर्षं तमसस्तु पारे । सर्वोणि रूपाणि विचित्र्य धीरः नामानि कृत्वाभिवदन्त्यदास्ते' इत्यत्र पूर्वस्यां शुक्रवेदज्योतिषामुत्पत्त्यादिमतां यत्रैकीभावः, स आत्मा जनानां, मनसि भव इति निरुक्तेर्मानसीनत्वस्य च रसानतिरिक्तानन्दलिङ्गत्वमित्यानन्दो ब्रह्म । द्वितीयस्यां चानन्दस्यैव पुरु-

संदेहवारकं शास्त्रं बुद्धिदोषात् तदुद्भवः ।
विरुद्धशास्त्रसंभेदादङ्गैश्चाशक्यनिश्चयः ॥
तस्मात् सूत्रानुसारेण कर्तव्यः सर्वनिर्णयः ।
अन्यथा अग्रयते स्वार्थान्मध्यमश्च तथादिमः ॥

परंपरया पाठवदर्थस्यापि गुरुमुखादेव श्रवणेऽपि मन्दमध्यमयोः संदेहो भवेत् समानधर्मदर्शनात् पदादिपाठवत् । तत्र यथा लक्षणानामुपयोग एवमेव मीमांसाया अपि ।

भाष्यप्रकाशः ।

संदेह एव कथमित्यत आहुः बुद्धीत्यादि । तन्निवृत्तिर्व्याकरणदिभिरेव भविष्यतीत्यत आहुः विरुद्धेति । सर्वनिर्णय इति पूर्वोत्तरकाण्डार्थनिर्णयः । कथमिदमित्यपेक्षायां व्याचक्षते परंपरयेत्यादि । समानधर्मदर्शनादिति अर्थे समानधर्मदर्शनात् । यथा 'अक्ताः शर्करा उप-
दधाति' इत्यत्राञ्जनकण्ठत्वं घृततैलवसादिषु समानम् । तथाच यथा संहिताव्ययनदशायां, 'देवाय ते यजमानाय शीकाय ते स्वाहा' इत्यादौ संदेहाभावेऽपि पदादिपाठकाले, देवाय ते शीकाय त इति ह्यत्रुत्या संदेहे, अथादाबुत्तरे विभागे इत्यव्यञ्जनपर इत्यधिकारस्थस्य, देवाशीकेत्यादेः ।

रश्मिः ।

षत्वनिर्णयित्वतेजोनिचयत्वरूपधर्मवत्त्वं तस्य साकारस्य तमसस्तु पार इत्यनेन निरविधाजराधिकरणकत्वनिर्वचनेनाविधास्पर्शगन्धविरहं निरुच्य उत्तरार्धे सर्वरूपविचयननामकरणतदभिवदनानामभिवदने स्थितेश्च श्रावणाद्रूपविचयादिलीलानां तत्संबन्धनां तत्कर्तुर्महापुरुषस्य स्थितिं महत्त्वेन रूपदीनां तदभिवृत्तं, धीरत्वेनाधिकारं, तुना कर्तृकर्मकरणानुसंधानरहितता । अयमर्थो द्वितीयनवमाध्याये चिन्मात्रोहं इति भावना तथा च ब्रह्मभावलक्षणो मोक्ष इति मायावादनिर्स्तं च श्रावयति । तथा तैत्तिरीयोपनिषदि ब्रह्मवित्प्रपाठके रसरूपस्यैव आनन्दस्य परब्रह्मत्वं श्रुतम् । 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वति ब्राह्मणः । नानुध्यायाद् बहून् शब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत्' इति सर्वात्मनां विदधती साधनमाह । तथा छान्दोग्ये नारदमनकुमारसंवादेऽप्येतदेव साधनमाह । तथा च तेजोमयो व्यापक आनन्द एव रसः कमनीयः साकारो अचिन्त्यानेकशक्तिवृत्तः सर्वाश्रयः पुरुषः परब्रह्म सर्वात्मभाववद्भक्ते स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितो रूपादिविचयादिलीलां चरीकुर्वन्वरीवतीति । यथायमर्थः सर्वेषां वेदान्तानां तथासां ब्रह्ममीमांसायां विशदयिष्याम इति । तन्मतेऽवस्थिते विरुद्धेति विरुद्धानां योगसांख्यवैष्णवतन्त्राणां नैयायिकशांकररामानुजशास्त्राणां संभेदान्मिश्रणादित्यर्थः । एवं च वेदार्थभूतात्मत्वेन ब्रह्मणि ज्ञानशक्तिक्रियाशक्तिय्यापकत्वादेरिति संदेहः । तद्विज्ञं तु विशदशास्त्रसंभेदः तेन ज्ञानशक्तिक्रियाशक्ती स्तः न स्तो वा, व्यापकोऽध्यापको वेति । 'समानधर्मं चाभेदात्' इति सूत्रभाष्येऽध्यापकत्वमुपपादितम् । अयमर्थो द्वितीयनवमाध्यायेविरोधेन स्फुटमन्त्रप्रतिपादितमिति संक्षेपः । प्रकृते । परंपरया पाठवदित्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति तथा च यथेति । देवाशीकेत्यादि । पृष्ठयन्तमिदं तस्येत्यध्याहरणीयम् । सूत्रविशेषणत्वादिति प्रतिपाति । यथा रसोऽस्येनेनावेति । सूत्रस्य भाष्यम् । आदौ पदादे उदात्ताकारे पदान्ते च वर्तमानः संहिताया यो दीर्घः असौ पदविभागपदसमे व्यञ्जनपरः सन् इत्यव्यञ्जते । व्यञ्जनपरत्वं यथा

तदुक्तम् ।

असंदिग्धेऽपि वेदार्थे स्थूणाखननधन्मतः ।

मीमांसानिर्णयः प्राज्ञे दुर्बुद्धेस्तु ततो द्वयम् इति ॥

भाष्यप्रकाशः ।

'त्रपुश्च मे मिथुश्चान्तं सुश्चन्द्रदम्' इत्यादेः पदपाठे, त्रपु च मिथु चरन्तं, सुचन्द्रेति पाठात् संदेहे, त्रपुमिथुपूर्वः शर्कारश्च परः, सुपूर्वश्चन्द्रपर इति । उत खानासो दिविषः तु, आपो हि द्वा मयोद्भव इत्यादेः पदपाठे, उत खानासः, दिवि सन्तु, आपः हि स्थ इति पाठात् संदेहे, खानासो दिव्यापोहीत्यादिद्वयस्योपयोग इति लक्षणानां प्रादिशाख्यसूत्राणां संदेहनिवृत्तावुपयोगः । तथाऽर्थश्रवणेऽपि वाजिम्यो वाजिनमित्यत्र किमामिक्षाऽन्नवन्तो विश्वेदेवा वा वाजिनानामान्ये वा वाजिनयागदेवताः । गायत्र्यां सविता, सूर्यो वा परब्रह्म वा । आकाशादेव सस्युत्पद्यन्त इत्यत्र भूताकाशो वा ब्रह्म वेति संदेहः समानधर्मदर्शनान्मन्दादीनां भवेदिति । तन्निवृत्त्यर्थं मीमांसाद्वयस्याप्युपयोग इति ज्ञानविधातुपाङ्गभूतयोस्तयोरप्याक्षेपो युक्त एवेत्यर्थः ।

अस्मिन्नर्थे प्राचां संमतिमाहुः तदुक्तमित्यादि । द्वयमिति संदेहाभावो दाढ्यं चेत्यर्थः ।

रश्मिः ।

संहितास्यं ज्ञेयम् । व्यञ्जनमस्मात्परं इति व्यञ्जनपर इति । देवाशीकासुस्त्राष्वतायमुनाहृदयोत्याशुद्धेति सूत्रे अत्र भाष्यम् । देवाशीका इत्यादिषु ग्रहणं । अवग्रहेषु अन्यस्वरो विभागे ऋस्व आपद्यते यथा देवाय त इत्यादि । यथा वा शीकाय ते स्वाहा शीकाय त इति शीकाय ते स्वाहा इदं सप्तमाष्टके स्तुभ्रयन्तो हवामहे इत्यादिषु लक्षणम् । त्रपुमिथिविति इति सूत्रं, उपयुक्तं इति शेषः । यद्वा इति च सूत्रस्योपयोग इत्युत्तरधान्यः । त्रपुमिथु पूर्वो यस्य, चकारः परो यस्यैतादृशः शकारो भवति, सुः पूर्वो यस्य चन्द्रः परो यस्य तादृशः शकारो भवतीति सूत्रार्थः । त्रपुमिथुभ्यां परस्य चस्य सोः परस्य चन्द्रस्य च सुण् न भवतीति फलितोर्थः । अन्यत्र तु तृतीयेऽध्याये चन्द्रे सुशकारेणेति सूच्यते चन्द्रे प्रत्यये सुशब्दशकारेणाव्यवधीयत इति च । भाष्ये । उपयोग इति । संतुस्थयोः सकारस्य शकारे उपयोग इत्यर्थः । मीमांसाद्वयस्याप्युपयोग इति । तत्राक्ताः शर्करा इत्यत्र तु तेजो वै घृतमिति वाक्यशेषोपयोगः । अर्थवादत्वेपि विशेषार्थतया विध्यविरुद्धत्वान्नामाण्यमिति पूर्वतन्त्रे प्रथमाध्यायोपान्ते 'संदिग्धेषु वाक्यशेषात्' इत्यधिकरणे चिन्तितम् । तस्ते पयसि दधानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा, वाजिम्यो वाजिनम्' इत्यपि, द्वितीयस्य द्वितीये पादे 'गुणश्च न पूर्वसंयोगे वाक्ययोः समत्वात्' इत्यधिकरणे चिन्तितम् । घनीभूतपिण्ड आमिक्षापदार्थः, जलं वाजिनपदार्थः । तत्र वाज आमिक्षाद्रव्येषामस्तीति वाजिनो विश्वेदेवास्तदनुवादेन वाजिनद्रव्यरूपो गुणो विधीयते । आमिक्षाद्रव्येषामस्य समुच्चयो विकृत्यो वेति प्राप्तम् । तत्रोत्पत्तिशिष्टामिक्षया निवृत्तान्यकाङ्क्षे वैश्वदेवभागे उत्पन्नशिष्टं वाजिनद्रव्यं प्रवेशमलभमानं वाजिशब्दस्य देवतान्तरार्थतां वक्ति । एवं च द्रव्यदेवताभेदाहितकर्मन्तरतासेति । यथा 'निष्कलं निष्क्रियं' 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इति संदेहे जन्माद्यधिकरणम् । यथा गायत्र्यामित्यादिसंदेहे स्तेः सवितृप्राप्तिः तत्र इत्यन्त्रेवान्तस्तेऽर्थाधिकरणे उक्तं भविष्यति । आकाशादेवेत्यादेस्तु तल्लिङ्गाधिकरण इति । ज्ञानविधाविति । ज्ञेयश्चेत्यस्मिन् स्वाध्यायविधां वेशाय । उपाङ्ग इति । प्रतिपदमनुपदं चन्दो भाषेति

तथाच निर्णये येन केनचिद्वक्तव्ये हरिः स्वयं व्यासो विचारं चिकीर्षुस्तत्कर्तव्यतां बोधयति । ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्येति व्यासोक्तत्वादिपि कर्तव्यता । कर्तव्यपदाध्याहारे स्वातन्त्र्यं न भवति । अन्यथा, 'अथ योगानुशासनम्' इतिवत् स्वतन्त्रता स्यात् । तथाच ज्ञानानुपयोगः । तथाहि । 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति केवलोपनिषद्वेद्यं ब्रह्म, न शास्त्रान्तरवेद्यम् । तद् यदि मीमांसा स्वतन्त्रा स्यात् तज्जनितं ज्ञानं न ब्रह्मज्ञानं भवेत् ।

भाष्यप्रकाशः ।

एतेन शास्त्रप्रयोजनमारम्भसमर्थनायोक्तम् । विचारकर्तव्यतासमर्थनेनोपोद्धाररूपा अधिकरणसंगतिरपि बोधिता । अतः परं प्रयोजनवत्त्वेऽपीदं शास्त्रं कया संगत्या आगतम् । श्रुतौ च तपस उपदेशात् तदेव च कृतो नोक्तमित्याकाङ्क्षायां शास्त्रसंगतिं वदन्त एव सूत्रार्थराणि व्याकुर्वन्तः प्रथमतो वाक्यार्थमाहुः तथाचेत्यादि । उक्तरीत्या वेदार्थनिर्णयस्यावश्यकत्वात् तन्निर्णये येन केन चिद्वक्तव्ये यदा कालवशात् तपआदीनामसंभवं व्यङ्ग्यतया तेषामसाधकत्वं च दृष्टव्यं तदा जगद्गुःखदूरीकरणार्थं हरिः स्वयं व्यासरूपेणावतीर्य वेदव्यासादिकार्यं कृत्वा सर्ववेदार्थनिर्णयार्थं ब्रह्मविचारं चिकीर्षुस्तत्कर्तव्यतां बोधयति ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्येति । धर्मादिवद् व्यासोक्तत्वादिपि कर्तव्यता । अत इदानीं तपो न वेदार्थज्ञानसाधनं किञ्चित्त्वमेव साधनम् । किञ्च तापसानामृषीणामपि स्वभावमेदाहोकारानां संदेहं यदा दृष्टव्यं तदा करुणया कृतवानिति तदुक्तरीत्या प्रथमते प्रसादोऽपि भविष्यति, तेन वेदार्थबोधश्चेति नास्य गतार्थत्वम् । कृपैव च संगतिरित्यर्थः । ननु सूत्रे कर्तव्यपदाभावादध्याहारस्य च दोषत्वात् किमित्येवं व्याख्यायत इत्याकाङ्क्षायांमाहुः कर्तव्यपदेत्यादि, भवेत् इत्यन्तम् । अत उक्तदोषनिवृत्त्यर्थमध्याहृत्य व्याख्यायत इत्यर्थः । अत्र सर्वसंमतत्वादेवमध्याहारपक्ष उक्तो वाक्यार्थश्च ।

रश्मिः ।

चरणोपाङ्गेष्वष्टसु मीमांसकोक्तेः । तयोरिति मीमांसयोरित्यर्थः । भाष्ये । वेदार्थं इति । ननु वेदार्थं ज्ञानक्रियाशक्तिरूपे वेदार्थभूतात्मरूपे उक्ताः संदेहाः संभवन्ति । तदन्वसंदिग्धो वेदार्थो भवति । सामान्ये अर्थे विशेषार्थे शतशुक्राणीत्याद्युक्ते तु मीमांसानिर्णयः कथमिति चेन्न । असंबोधो मोक्षो निःसंबोधो मोक्षो वेति संदेहे संप्रदाविर्भावादिसूत्राणि वाक्यशेषरूपाणीति मुख्यः संबोधो मोक्ष इति मीमांसानिर्णयसत्त्वात् । स्थूणास्वननवदिति । स्थूणा हि शङ्खः सीम्नि निखन्यते निखातापीति तद्ददित्यर्थः । प्रकृते । शास्त्रप्रयोजनमिति । संदेहाभावरूपं दार्ढ्यरूपं चेत्यर्थः । उपोद्धान्तरूपेति पूर्वोक्ता तु अध्यायादेः संगतिरिति न पुनरुक्तिः । स्वयमिति । पाक्षिकप्रामाण्यप्रदानायैदम् । वाक्यानि त्वग्रे वक्तव्यानि । ननु वेदार्थविचारेऽजौक्तिको हि वेदार्थ इत्यस्योपस्थित्या कालवरणतपआदीनामित्यत्र आदिशब्देन वेदशुक्तिः परमात्मप्रसादश्चेत्युच्यते ग्राह्यम् । तदा तपआदीनामित्यत्र बहुवचनं विरुद्धम् । साधनान्तरग्रहणगौरवम् । वेदार्थं उक्तसाधनान्तरिकसाधनग्रहणापत्तिश्चेत्युच्यतेऽहः किं चेति । दृष्टवानिति वक्ष्यमाणपुराणप्रसिद्धम् । असंदिग्धमिति सूत्रविशेषणात् तापसानां ऋषीणामपि स्वभावमेदाहोकारानां संदेहं विना विश्वणानुपपत्तेः । करुणयेति तपसा चेत्यपि द्रष्टव्यम् । कृतवानिति वेदोपयुक्तं मीमांसाशास्त्रं कृतवान् । कृपैवेति एतत्प्रथमस्कन्धे चतुर्थेऽहः । 'न्यासं ऋषयस्तत्सलः' इति । एतच्च

अथवा, अध्याहारकरणापेक्षयाशब्द एवाधिकारे व्याख्येयः । वेदाध्ययनानन्तर्यं तु सिद्धमेव । न खनधीत एव विचारमर्हति तत्रैतत् स्यात् स्वतन्त्रतेति । तत्र प्रतिविधास्यामः । वेदार्थब्रह्मणो वेदानुकूलविचार इति । किमत्र युक्तम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

अतः परं पदानामर्थं वदित्यन्तः पूर्वोक्तः पक्षो वक्ष्यमाणदोषप्रासादात् साधुरित्याशयेन पक्षान्तरमाहुः अथवेत्यादि । अधिकारो नाम नियमविशेषः इति, केचित् । यथा, 'आफहारादेका संज्ञा' इति । प्रारम्भ इत्यन्ये । यथा, 'अथ योगानुशासनम्' इति । प्राधान्येन निरूपणमित्यपरे । प्रस्ताव इति कैयटे, 'अथ शब्दानुशासनम्' इत्यत्र व्याख्यातः तत्रेदृशनियमस्य पूर्वप्रकृतसं-पेक्षत्वात् पूर्वं च कस्याप्यप्रकृतत्वात् सोऽत्र न युज्यते, अतः प्रारम्भादेः प्रस्तावाव्यतिरेकात् प्रस्तावे व्याख्येयः । तथाच ब्रह्मजिज्ञासारूपं शास्त्रमधिक्रियते प्रस्तुयत इति व्याख्याने कल्पनाराहित्यादिदं तदपेक्षया ज्ञाय इत्यर्थः । नन्वधिकारार्थत्वे आहते कर्तव्यपदाध्याहाराभावेन ब्रह्मजिज्ञासाया विध्यनाक्षिप्तत्वाद् वैदिकाधिकारिणोऽप्यप्राप्तेः शूद्रादिरनधीतवेदोऽपि ब्रह्मजिज्ञासायामधिकुर्यादिति कथं ज्ञाय इत्यत आहुः वेदेत्यादि । अग्रे वेदवाक्यानामेव विचारदर्शनादेतद्विचारकसेदानीन्तनस्यापि वेदाध्ययनानन्तर्यं त्वर्थादेव सिद्धमिति न वैदिकाधिकारिणोऽप्राप्तिरित्यतो ज्ञाय इत्यर्थः । ननु तथापि विध्यनाक्षिप्ततया पुराणादिवत् स्वातन्त्र्यं तु सिद्धम् । तथा सति पूर्वोक्तो ज्ञानानुपयोगरूपो दोषस्तु स्यादित्याकाङ्क्षायां, तत्रैतत् स्यादित्यादिना तदनुद्य प्रतिविधानप्रकारमाहुः तत्रेत्यादि । अनुपदमेव वक्ष्याम इत्यर्थः । ननु प्रक्षालनपङ्कन्यायेनैतदपेक्षया तदादरणमेव युक्तमित्यत आहुः वेदार्थेत्यादि । वेदार्थभूतं यद्ब्रह्म

रश्मिः ।

संगतिलक्षणोपपादनावसरे ईश्वरधिकरणे स्पष्टम् । भाष्ये । न भवतीति वेदवेदान्तसंदेहवारणाय ब्रह्ममीमांसा कर्तव्येति विध्याक्षिप्तत्वेन पृथगारम्भान्नावात् न भवतीत्यर्थः । अन्यथेति आरम्भार्थकत्व इत्यर्थः । स्वतन्त्रतेति प्रकारभेदेन प्रतिपादकतया वेदज्ञता स्यादित्यर्थः । तथा च वेदाङ्गत्वमस्मात्तत्र वेदानङ्गत्वं स्वातन्त्र्यमिति हृदयम् । प्रकृते । वक्ष्यमाणदोषप्रासादिति अधिकाराङ्गत्वादिदोषचतुष्टयप्रासादित्यर्थः । आक्षेप्यबोधनायावतरणमाहुः नन्वधीति । अधिकुर्यादिति अधिकारं प्राप्नुयादित्यर्थः । अत्र वैदिकानां वेदाध्ययनानन्तर्यमिति संशक्तकानां मीमांसा सदितोच्यते तदग्रे अपाकरिष्यते । वक्ष्याम इति वयमित्यध्याहारः । 'अस्मदो द्वयोश्च' इति सूत्रेण एकत्वेपि बहुवचनम् । प्रतिविधानं वक्ष्यामः । प्रक्षालनपङ्कन्यायेनेति 'प्रक्षालनादि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' इति न्यायेनेत्यर्थः । एतदपेक्षयेति अधिकारोप्याहारादरण्यपेक्षया । तदादरण्यमध्याहारादरणं युक्तमङ्गत्वे विधेः । एव इति न्यायानुरोधादेवकारः । इत्यत आहुः इत्यतः शङ्खापूर्वाङ्गत्वादाहुरिति । ईश्वरमीमांसा, सार्वविभक्तिकस्तसिः । इत्यतः शङ्खा । ननु दोषतौल्ये कृतत्वाददरण्यमिति चेन्न । शङ्खाग्रन्थत्वात् । भाष्ये । वेदार्थशब्दो न वेदार्थत्वेन ब्रह्मज्ञानाय विचार इत्याद्युक्तः प्रथमवैदिकपूर्वपक्षोक्तार्थवाचकः । गौणमुख्यन्यायविरोधात् । अतो वेदार्थो मुख्यपूर्वपक्षोक्तः । वेदप्रदस्य 'सृतेश्च' इति सूत्रे वेदान्तपरत्वोक्तेरत आहुः वेदार्थमुख्य-

भाष्यप्रकाशः ।

तत्संबन्धी सपरिकरतज्ज्ञापकी वेदानुकूलो वेदवाक्यानां विशेषपरिहारादिना तेषूपचारादिदोष-
निवर्तको विचारो भीमांसारूप इति हेतोः । अत्र हि सर्ववेदार्थत्वेन ब्रह्म जिज्ञास्यम्, अन्यथा
वेदवेदान्तयोरैकशास्त्रं न स्यात् । तदभावे च जैमिन्याद्युक्तदिशा मुमुक्षुप्रश्नप्रतिषाते शास्त्रवैय-
र्थ्यमापद्येत । विचारस्य च यदि वेदानुकूल्यं न स्यात् तदाप्यास्तिका न प्रवर्तेरन् । अत आबश्य-
कत्वात् स्वातन्त्र्येऽपि विरोधामावादानुकूल्येन तज्जनितज्ञानस्य ब्रह्मज्ञानरूपत्वात् प्रतिविधानमेव
युक्तमित्यर्थः । अयं प्रकारो भाष्यानामपि संमतः तद्बोधकस्कान्दवचनोपन्यासादवगन्तव्यः ।
अध्याहारपक्षेऽप्येवं वक्तुं शक्यत्वात् । तदुपायासं मन्यमानोऽनुयुक्तं किमत्र युक्तमिति । स्वतन्त्र-
रश्मिः ।

मिति । सर्ववेदार्थत्वेनेति च । मुख्यपूर्वपक्षोक्तं मुख्यपूर्वपक्षार्थत्वेनेति चार्थः । सपरिकरेति
विशेषणं निःसंबोधमोक्षनिरासाय आत्मनो मोक्षत्वात् । विरोधनिराकरणादिरपि परिकरः । वेदान्त-
रूपपदं व्याचख्युः वेदवाक्यानामिति । आदिशब्देन साधनं मुख्यत्वादिकं फलं च संबो-
धत्वं चेति गृह्यते । तेन विरोधपरिहारोक्तोऽध्यायद्वयार्थः । आदिशब्दोक्तोऽध्यायद्वयार्थश्चेत्यध्याय-
चतुष्टयार्थः । तेष्वित्यध्यायेषु चतुर्षु । आदिशब्देनाकाङ्क्षायोग्यतासंनिधयः । इति हेतोरिति ।
न तदादरणमेव युक्तं, अध्याहृत्याध्याहारशेषनिवर्तनात् । दोषनिवर्तनं ततोपि अध्याहारदर्शना-
त्सर्वत्र । सर्ववेदेति । ननु वेदार्थत्वेनापि विद्यात्वत्वेन पूर्वस्य पुराणेषु सत्त्वात् द्वितीयस्यापि
निरीश्वरमीमांसाविषयत्वात् । अत्र सूत्रे ब्रह्मपदेन वेदोक्तवेदार्थत्वेन ब्रह्म जिज्ञास्यम्, वेदार्थो
ब्रह्म इति प्रतीतेः । यथा घटः पृथ्वीत्वेन घटप्रतीतेः । तथा च वेदार्थो ब्रह्म तस्य न तु पुराणार्थः
पृथ्व्यर्थब्रह्मणो वेदानुकूलविचार इति भाष्यार्थः । ब्रह्मशब्देन वेदमात्राग्रहणे युक्तिमाहुः अन्य-
थेति । ऐकशास्त्रमिति । तच्चाग्रे भाष्ये वक्ष्यते । श्रुत्योरप्युक्तम् । 'यदेव विद्यया करोति' इति ।
'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' इति च । वृत्तिकृद्बोधायनोप्याह 'संहतमेतच्छरीरकं
जैमिनीयेन षोडशलक्षणेन' । जैमिन्याद्युक्तदिशेति । यथाहुः 'चोदनालक्षणार्थो धर्मः' इति
सूत्रे कार्यरूप एव वेदार्थः, न तु सिद्धरूपः इति, द्वितीयपादे च 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थ-
क्यमतदर्शानां तस्मादनित्यमुच्यते' इत्यधिकरणेऽर्थवादानां क्रियार्थत्वाभावेन स्वार्थे तात्पर्यविधु-
राणां स्तायकत्वमिति धर्मनिर्णयः । चतुर्लक्षण्या चोपासनात्मकधर्मनिर्णय इति । न च ब्रह्मज्ञाने
उपयोग इति वाच्यम् । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः,' 'अयं हि परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्'
इति, श्रुतिस्मृतिभ्यां तस्य धर्मत्वात् । न च सृष्ट्यादिवाक्यार्थं निर्णेतुमपेक्षत इति वाच्यम् ।
'ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मा तं दर्शपूर्णमासयोर्वृणीते' इति कल्पसूत्रात्

'इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरास्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या ।

दृढत्वमेतद्विषयः प्रबोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन ॥

इत्युक्तविध्यैकवाक्यतयार्थवादत्वात् । किंच नवमे तृतीयचतुर्थयोः 'फलदेवतयोश्च' 'देवता
वा प्रयोजयेदतिथिवद्भोजनस्य तदर्थत्वात्' इत्यधिकरणयोर्न देवता विग्रहवती, किंतु शब्दमात्रं
देवता । अयंस्तु प्रातिपदिकानुरोधश्चेतनो वा कश्चित्स्वीक्रियते, न तु विग्रहादिमान् । उपासनादौ परं
ध्यानमात्रमध्याहार्यमिति । अनया दिशेत्यर्थः । आदिना क्षणिकवादी प्राहः । युक्तमित्यर्थ इति ।
वैधत्वस्य 'ज्ञेयश्च' इति विधिना प्राप्तत्वादिति भावः । तद्वोधकेत्यादि । स्कान्दे वचनानि त्विमानि ।

व्याख्यानमिति । व्याख्याननो विशेषप्रतिपत्तेः । यथा कर्मणि 'दर्शपूर्णमासौ
तु पूर्वं व्याख्यास्यामः' । 'अधातो दर्शपूर्णमासौ व्याख्यास्यामः' इति ।

अप्यवैतर्हीमानि सिद्धयन्ति प्रयोजनानि । अधिकाकाङ्क्षा न भवेत् । अध्या-
हारश्च । पुरुषार्थश्च सिद्ध्येत् । उच्छेदश्च न भवेदिति । कथम् । अथशब्दोऽर्थव-
तुष्टये वर्तते, मङ्गले, अधिकारे, आनन्तर्ये, अर्थान्तररोपक्रमे च । तत्र श्रुतिमात्रेणैव

भाष्यप्रकाशः ।

ताप्रतिविधानसाध्याप्यपेक्षितत्वेन प्रतिपत्तिगौरवदोषसाध्यापि सत्त्वाद् अध्याहारकरणाथशब्दव्याख्या-
नपक्षयोर्मध्ये किं युक्तं, तद्वक्तव्यमित्यर्थः । तत्रोत्तरमाहुः व्याख्यानमिति । अथशब्दव्याख्या-
नपक्ष एव युक्त इत्यर्थः । तत्र हेतुमाहुः व्याख्यानत इत्यादि । ननु कात्र विशेषप्रतिपत्तिरित्यत
आहुः यथेत्यादि । तथाच यथा कल्पसूत्रेण प्रयोगप्रकारादिबोधनात् तत्तत्पदार्थसंदेहनिवृत्तिस्त-
थानया भीमांसया ब्रह्मणीति, तत्र यथाऽधिकारेऽथशब्दस्तथाप्रापीति कल्पसूत्रतौल्यरूपविशेषस्य
प्रतिपत्तिरित्यर्थः ।

नन्वध्याहारपक्षेऽपीदं सुवचमतः सर्वसंमतत्वाद् अध्याहारपक्ष एव युक्तो नाऽथशब्दस्याधि-
कारव्याख्यानपक्ष इत्यत आहुः अथवेत्यादि । एतर्हीति व्याख्यानपक्षे । अत्र चोदयति कथ-
मिति । स्रोक्तं विभजन्ते अथेत्यादि । तत्र मङ्गले,

'ॐकारश्चाथशब्दश्च द्रावेतौ ब्रह्मणः पुरा ।

कण्ठं भित्त्वा विनिष्क्रान्तां तेन माङ्गलिकावुभौ' ॥ इति ।

अधिकारे, यथा, 'अथैष ज्योतिः' इति वेदे । 'अथ योगानुशासनम्' इत्यादि च
रश्मिः ।

'नारायणाद्विनिष्पन्नं ज्ञानं कृतयुगे स्थितम् । किञ्चित्तदन्यथा जातं त्रेतायां द्वापरे खिलम् ॥

गौतमस्य ऋषेः शापात् ज्ञाने लज्जाननां गते । संकीर्णबुद्धयो देवा ब्रह्मरुद्रपुरःसराः ॥

शरण्यं शरणं जग्मुर्नारायणमनामयम् । तद्विज्ञापितकार्यस्तु भगवान् पुरुषोत्तमः ॥

अवतीर्णो महायोगी सत्यवत्सां पगशरान् । उत्सन्नान् भगवान् वेदानुजहार हरिः स्वयम् ॥

चतुर्धा व्यभजत्तान् चतुर्विंशतिधा पुनः । शतधा चैकधा चैव तथैव च सहस्रधा ॥

कृष्णो द्वादशधा चैवं पुनस्तस्मार्थव्रित्तये । चकार ब्रह्मसूत्राणि येषां सूत्रत्वमजसा ॥

अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् । अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥

निर्विशेषितसूत्रत्वं ब्रह्मसूत्रस्य चाप्यतः । यथा व्यासत्वमेकस्य कृष्णस्यान्ये विशेषणात् ॥

सविशेषणसूत्राणि ह्यपराणि विदो विदुः । मुख्यस्य निर्विशेषण शब्दोऽन्येषां विशेषतः ॥

इति वेदविदः प्राहुः शब्दतत्त्वार्थवेदिनः । सूत्रेषु येषु सर्वेषु निर्णयाः समुदीरिताः ॥

शब्दजातस्य सर्वस्य यत्प्रमाणम् निर्णयः । एवंविधानि सूत्राणि कृत्वा व्यासो महायशाः ॥

ब्रह्मरुद्रादिवेषु मनुष्यपितृपशुषु । ज्ञानं संस्थाप्य भगवान् क्रीडते पुरुषोत्तमः' ॥ इति ।

अधिकारे अथैष ज्योतिरिति । एतच्च पूर्वतन्त्रे द्वितीयस्य द्वितीये पादे 'संज्ञा चोत्पत्ति-
मयोगात्' इत्यधिकरणे यन्तितम् । तत्र ज्योतिष्टोमं प्रकृत्येदं श्रूयते । अथैष ज्योतिरथैष विश्व-
ज्योतिरथैष सर्वज्योतिरेतेन सहस्रदक्षिणेन यजेतेति । तत्रैतच्छब्देन प्रकृतं ज्योतिष्टोमं परामृष्यत

मङ्गलसिद्धेरर्थान्तरस्य च पूर्वोक्तस्याभावात्तत्र तत्कल्पनम् । अथाऽवशिष्यते आनन्तर्ये वाऽधिकारे वेति । आनन्तर्ये त्वध्ययनस्य स्वतःसिद्धत्वादधिकाकाङ्क्षा भवति । तथा सति तदभावात् विचारः सिद्धोत् ।

भाष्यप्रकाशः ।

लोके । आनन्तर्ये यथा, वृत्त्वा अथ व्रजतीति । अर्थान्तरपक्रमे यथा, पूर्वं किंचिदुक्त्वा पुनर्विकल्पान्तरे क्रियमाण उच्यते, अथायमाशय इति । यद्यपि कोशे,

‘मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्वर्येष्वथ’ इति

‘अथाथो संशये स्यातामधिकारे च मङ्गले ।

विकल्पानन्तरप्रश्नकार्त्वर्यारम्भसमुच्चये’ ॥

इत्यर्थान्तरमप्युक्तम् । गौडो भवान् अथेति ब्रूम इति प्रतिज्ञायामपि दृश्यते । तथापि प्रच्छकस्य संदेग्धुश्च कस्याप्यनुक्तत्वेन अथ शक्तोऽसि भोक्तुमित्यादिवात् प्रश्नसंशयव्यञ्जकवाक्याभावेन च प्रश्नसंशययोर्वक्तुमशक्यत्वात् स्वसंशयस्य स्वतोनिवृत्त्यभावेन, स्वसंशयस्य, ‘अविज्ञातं विजानताम्’ इति श्रुतेः कृत्वस्य ब्रह्मणो विचारयितुमशक्यत्वेन कार्त्वर्यस्य च प्रकृतविरुद्धत्वाद् विकल्पस्य पक्षान्तरात्मकत्वेनारम्भस्योपक्रमात्मकत्वेन चार्थान्तरपक्रमानतिरेकाद् समुच्चयनियमरूपाधिकारयोरप्यर्थान्तरसापेक्षत्वेन विकल्पतुल्यकथत्वादुपयुक्तविचारकार्त्वर्यप्रतिज्ञयोरपि प्रस्तावाव्यतिरेकादथशब्दोऽत्रार्थचतुष्टये संभावितो वर्तते । तत्रान्यार्थकृतस्य षट्शुद्धिद्वन्द्विध्वनेरिवाथशब्दस्यापि श्रवणमात्रेण मङ्गलसिद्धेः स्मृतिव्याकोपपरिहारात् तस्याः स्वरूपश्रवणरदिमः ।

इत्याशङ्कायां अथशब्देन प्रकृतव्यवच्छेदोत्पत्तिसंयोगात्संज्ञया कर्मान्तरमिदमिति । एष इति तु प्रतिज्ञायमानकर्मान्तरवाचक इति । सुषुप्त्युत्कान्त्योर्भेदेनेति सूत्रे विशिष्य वक्तव्योयम् ‘त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च’ इति सूत्रे मध्वाचार्याः । ‘अविज्ञातप्रार्थनं वा प्रश्न इत्यभिधीयते’ इति वाक्यात् अविज्ञातप्रार्थनं प्रश्नः । तुः प्रतिज्ञायमानकर्मान्तरवाचक इति । (तथा च एष याग इत्यर्थः ।) अथेत्यस्य अधिक्रियत इत्यर्थः । लोक इति छन्दोवत्सूत्राणि भवन्तीति, लोके इत्यसंगतमिति यद्यपि तथापि चतुर्थचरणे सांख्यस्यावैदिकत्वमुक्तं ‘एतेन योगः प्रत्युक्तः’ इति चोक्तमतो लोक इति संगतम् । आदिशब्दार्थो द्रष्टव्यः । अथ व्रजतीति भोजनानन्तरं व्रजतीत्यर्थः । अधापमिति अर्थान्तरपक्रमादयमाशय इत्यर्थः । तथा च एष याग इत्यर्थः । येषां यथायथमसंभवान्तर्भावाभ्यामवक्तव्यत्वमाहुः तथापीति । अथ शक्तोसीति । तृप्तं प्रति तुप्त्यनन्तरं भोक्तुं प्रवर्तमानं प्रति च वचनम् । प्रश्नसंशयेति परेच्छाप्रतिपत्तिफलकं वाक्यं प्रश्नः । स्वरसतो अथशब्दस्य प्रश्नसंशयार्थताभावात् तद्व्यञ्जकवाक्येत्युक्तम् । स्वत इति प्रतिज्ञातसंशयविषयग्रन्थात् । स्वसंशयस्येति वक्तुमशक्यत्वादिति पूर्वोक्तान्वयः । ननु कृत्वार्थको अथशब्दो विचारान्वयी न तु ब्रह्ममात्रान्वयीत्यत आहुः उपयुक्तेति । तत्र श्रुतीत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति स्म तत्र अन्यार्थमिति । वृत्त्यान्यार्थम् । अथशब्दस्येति अधिकारार्थं कृतस्य । स्मृतीति शिष्टाचारप्राप्तस्मृतीत्यर्थः । स्वरूपेति स्वरूपं मङ्गलश्रवणविषयः तदेव मङ्गलम् । मात्रचा प्रतिपाद्यत्वयोग्यवच्छेदः क्रियते, न तु प्रतिपाद्यत्वेन यन्मङ्गलं तदाचरणेन तन्मात्रं कार्य-

भाष्यप्रकाशः ।

मात्रकार्यत्वेन मङ्गलसार्थान्तरस्योपनाप्रतिरोधकत्वाच्च न तन्मात्रकल्पनं युक्तम् । पूर्वं कस्याप्यर्थस्यानुक्तत्वादर्थान्तरपक्रमस्यापि कल्पनं न युक्तम् । यत् पुनरानन्तर्यप्रस्तावरूपमर्थद्वयमवशिष्यते, तत्रानन्तर्ये यस्य कस्यचिदानन्तर्यं तु स्वभावादेव प्राप्तमिति, न तस्य वक्तव्यत्वम् । यदि च शाबरमाप्योक्तमध्ययनानन्तर्यमङ्गीक्रियते, नह्यनधीतषेदो विचारेऽधिकरोतीति । तदा तस्य विचारार्थकजिज्ञासापदेनैवार्थात् सिद्धेरथशब्दोक्तानन्तर्यप्रतियोगिनोऽधिकाकाङ्क्षा भवति, अध्ययनातिरिक्तात् कस्यादनन्तरं ब्रह्म विचारयितव्यमिति । तस्यां च सत्यामध्ययनातिरिक्तस्य कस्यापि तन्मतेऽदर्शनात् प्रकृतविचारसिद्धिरित्यर्थः । ननु ‘संहतमेतच्छारीरकं जैमिनीयेन षोडशलक्षणैर्’ इति वदद्भिः प्राचीनवृत्तिकारैर्द्रयोर्भासायोरैकशास्त्रमङ्गीकृतम् । तत्राश्रेयादिषट्कमेवदध्यायमेवदवावान्तरप्रमेयमेदेन भेदेऽपि प्रयोजनैक्यात्, ‘अथाऽतो धर्मजिज्ञासा’ इत्यारम्य ‘अनावृत्तिः शब्दात्’ इत्यन्तमेकं शास्त्रमतः कर्मविचारानन्तर्यमस्वेति रामानुजाचार्याः ।

आराधनाराध्यभूतयोर्धर्मब्रह्मणोः प्रतिपादकत्वेनैकशास्त्रं । ‘अथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासा’ इति पृथगारम्भस्त्वथातः शेषलक्षणमित्यादिवदवान्तरपरिच्छेदार्थं इति तदेकदेशी नव्यः श्लेषः ।

पूर्वं धर्मजिज्ञासा कार्या, पुरुषमात्रविषयत्वात्, ब्रह्मज्ञानं तु कस्यचिदेव मुमुक्षोरिति धर्मविचारानन्तरं चतुर्णां प्रतिपन्नाश्रमान्तराणां सा । ‘सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्वत्’ इति द्रव्यतः द्रव्यकारस्यापि ज्ञानकर्मसमुच्चयादेव मोक्षप्राप्तिरभिप्रेतेति ज्ञायते, अपरिज्ञाते, च कर्मणि केन समुच्चयः, केन नेति न ज्ञातुं शक्यम्, ज्ञाते तु तस्मिन् नित्यकाम्यनिषिद्धानां हेयोपादेयविभागविज्ञानात् काम्यनिषिद्धे हेये, नित्येन समुच्चय इति सुखेन ज्ञातुं शक्यते । किंच । तृतीये, कर्मसमृद्ध्यर्थानामुद्गीथाद्युपासनानां चिन्तनात् तेषां च कर्माधिकृतपुरुषमात्रविषयत्वात् कर्माविज्ञानेन तच्चिन्ताया अप्यनुपपत्तिरतोऽपि तदानन्तर्यमिति मद्भास्कराचार्याः ।

रदिमः ।

मवश्यं कार्यं यस्याः तत्त्वेन इत्यर्थः । अर्थान्तरेति । मङ्गलस्य विचारकर्तव्यत्वरूपे वाक्यार्थे कर्तृत्वादिनान्वयाभावादिति शंकरभाष्योक्तहेतुसंग्राहकश्चकारः । एवं मङ्गलविधिरधिकारपक्षेपीति ज्ञेयम् । मङ्गलस्य शक्यार्थत्वे वाक्यभेदश्च स्यात् । अर्थान्तिसिद्धेरिति आक्षेपात्सिद्धेरित्यर्थः । अथशब्दोक्तेति अथशब्दोक्तानन्तर्यनिरूपकस्येत्यर्थः । आकाङ्क्षास्वरूपमाहुः अध्ययनातिरिक्तादिति । तथा सतीति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म तस्यां वेति । कस्यापीति आनन्तर्यनिरूपकस्येत्यर्थः । षोडशलक्षणैर्नेति द्वादशलक्षणान्यध्यायाः कर्मकाण्डे, चत्वारोऽध्यायाः उपासनाकाण्डे इत्येवं षोडशलक्षणैर्नेत्यर्थः । प्राचीनवृत्तिकारैरिति । बोधायनश्रुतिभिरित्यर्थः । प्रमेयेति प्रमाणभेदशेषत्वप्रयुक्तिक्रमाधिकारसामान्यातिदेशविशेषातिदेशोद्भाषतप्रसङ्गरूपप्रमेयं पूर्वतन्ने । उत्तरतन्ने तु समन्वयविरोधनिराकरणसाधनफलरूपमिति ज्ञेयम् । प्रयोजनेति आराधनाराध्यभूतयोर्धर्मब्रह्मणोः प्रतिपादनरूपप्रयोजनैक्यात् । ऐकशास्त्र्यमिति तत्र पूर्वोक्तैकशास्त्रनिष्ठम् । अथातः शेषलक्षणमिति इदं च पूर्वतन्ने तृतीयाध्यायस्यारम्भसूत्रम् । अथानन्तरपरिच्छेदार्थं इति अथानन्तरविचारविशेषार्थं इत्यर्थः । कर्मसमृद्धिरिति । तमेतमिति वचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्तीति श्रुतिरत्रानुसंधेया । तदानन्तर्यम् धर्मविचारानन्तर्यम् । ‘यस्त-

तथा हि, न तावद्धर्मविचारानन्तर्यम् । विपर्ययसंभवात् ।

भाष्यप्रकारः ।

किंच, 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः' इति श्रुतौ तर्कोपकरणेन शब्देन परमात्मानं मन्यन् गृह्यत्वा प्रज्ञास्यभावनाविधानात्, पतञ्जलिनाऽपि, 'स तु दीर्घकालादनैरन्तर्यमत्काराऽऽभवेवितो दृढभूमिः' इति सूत्रयता दीर्घकालासेवितस्याव्यवधानासेवितस्य ब्रह्मचर्यतपःश्रद्धायज्ञादिरूपमत्कारासेवितस्य योगस्य दृढभूमित्वकथनाच्च क्रियमाणाया भावनाख्योपासनाया दृढत्वाय यज्ञोपयोगः कैश्चिदिष्यते ।

तत्तत्फलार्थं विहितानामपि कर्मणां, 'तमेतं वेदानुवचनेन' इत्यादिश्रुत्या, 'एकस्य तूभयत्वे संयोगात्प्रवृत्तम्' इति न्यायेन क्रत्वर्थखादिरत्वस्य वीर्यार्थत्ववृद्धब्रह्मभावनाथत्वं कैश्चिदिष्यते ।

तथापरैः श्रेयःपरिपन्थिकत्वमपनिर्वहणद्वारा यज्ञोपयोग इष्यते ।

अन्यैः पुनः 'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः,' 'यस्यैतेऽष्टाचत्वारिंशत् संस्कारा' इति न्याया यज्ञादिसंस्कृतस्य पुरुषस्य दीर्घकालादनैरन्तर्यैर्ब्रह्मभावनामासेवमानस्य समूलकापमविद्यारूपसनानिवृत्त्या प्रत्यगात्मवैशद्यत् पुरुषसंस्कारद्वारा यज्ञोपयोग इष्यते ।

तथेतैरैः 'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेद्' इति स्मृत्या ऋणत्रयापाकरणेन कर्मणां ब्रह्मज्ञानोपयोग इष्यते इति नाना मतानि वाचस्पत्ये लिखितानि । अतः कर्मज्ञानसमुच्चयम् बहुवादिसंमतत्वात् पूर्वोक्तरीत्या धर्मविचारेणाधिकाकाङ्क्षापूर्णसंभवात् तदनन्तरं सुखेन ब्रह्मविचारसिद्धिरित्याकाङ्क्षायामाहुः तथाहि, नेत्यादि । तदुक्तरीत्या समुच्चयाङ्गीकारेऽपि धर्मविचारात्तर्यं नोपपद्यते कुतः विपर्ययसंभवात् । 'हृदयस्याग्नेऽव्यवति अथ जिह्वाया अथ वक्षसः' इति वेदवेदान्ताध्ययनक्रमनियामकप्रमाणाभावात् । नच कर्त्रैक्यात् क्रमनियमः शङ्क्यः ।

रदिमः ।

केणा 'वृत्ते' इति 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति श्रुतिहृदयमनुकूलयन्ति तर्कोपकरणेन शब्दोक्तिः । इत्यादिश्रुत्येत्यादि तेन उपसर्पति इति शेषः । ब्रह्मपावनमिति वचनेत्यादिश्रुत्या । 'एकस्य तूभयत्वे' इति पूर्वतन्त्रेण न्यायश्रुतुर्थस्य तृतीयपादे चिन्तितः । एकस्योभयशेषतामिति पृथक् संयोग इति न्यायार्थः । स यथा खादिरैः श्रीपोमीयपशुध्वोत्तयनन्तरं खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्वीत' इति पृथक् श्रुतिसंयोगाद्वीर्यार्थत्वे तद्वदित्यर्थः । समूलकापमित्यादि । वासना लक्षणं तु—

दृढभावनया त्यक्तं पूर्वापरविचारणम् ।

यदादानपदार्थस्य वासनेति प्रकीर्तिता ॥

प्रत्यक्षमात्मा जीवः । ऋणत्रयेति देवपितृमनुष्याणामृणत्रयेत्यर्थः । हृदयस्येत्यादि इदं पूर्वतन्त्रे चतुर्थपादे प्रथमे पादे चिन्तितम् । अग्नीषोमीयं पशुमालभेतेति प्रकृत्य श्रुतम् । इतिवदिति इत्यत्र संख्यारूपस्थानं क्रमनियामकं यथा तद्वत् । नच कर्त्रैक्यादिति । अत्र वयं 'अथातो धर्मविचारासा' इत्यारभ्य 'अनावृत्तिः शब्दात्' इत्यन्तमनेककर्तृकमपि परंतु वेदान्त्रासितुः कृष्णावतारानेन वेदान्तानामपि निश्चितकर्तृकत्वमित्येककर्तृकं शास्त्रमिति मन्मदे । क्रमनियम इति न्यायेन स्थानेन नियम इत्यर्थः । स्थानं क्रमपयाधिकम् । तदुक्तम्

'क्रमो हि द्विविधैवेष्टो देशसामान्यलक्षणः ।

पाठानुकारसादेत्याद्विनियोगस्य कारणम्' इति ॥

भाष्यप्रकारः ।

आधारदर्शपूर्णमासवत् कर्मब्रह्मविचारयोरेकाङ्किप्रयुक्ताङ्गत्वेन वा, पञ्चप्रयाजवदेकाङ्किप्रयुक्तानेकाङ्गत्वेन वा, गोदोहनादिवदधिकृताधिकारत्वेन वा, पद्यागवत् फलेक्येन वा कर्त्रैक्यं येन

रदिमः ।

स्थाने पठनीयक्रमपाठः । स्थानं च यथासंख्यपाठः संनिधिपाठः अनुष्ठानसादेयं च । प्रकृते तु यथासंख्यपाठरूपं स्थानम् । तथा च प्रथमस्य धर्मविचारस्य प्रथमप्राप्तिः । द्वितीयस्य ब्रह्मविचारस्य पश्चादित्येवं विनियोगः । न च अयशब्दः शास्त्रं विभज्यन्पूर्वोक्तं कर्त्रैक्यं विघटयिष्यतीति वाच्यम् । अथातः शेषलक्षणमिति तृतीयाध्यायसूत्रवत् अयशब्दस्य अविभाजकत्वात् । संनिधिपाठरूपं स्थानं च वैकृतान्यङ्गानि यत्र प्राकृताङ्गाननुवादेन विहितानि तेषां विकृतौ विनियोजकम् । तेषां कैमर्ध्याकाङ्क्षायाः मूलसिद्धविकृत्यविकृतिप्रीतादेवतासंबन्धेन पूर्वसंबन्धेनैवोपशमात् । अनुष्ठानसादेयरूपं स्थानं तु पशुधर्माणामग्नीषोमीयार्थत्वं प्रयोजयति । औपवस्येहनि अग्नीषोमीयः पशुरनुष्ठीयते तस्मिन्नेव दिने ते धर्माः पठ्यन्ते, अतस्तेषां कैमर्ध्याकाङ्क्षायामनुष्ठानसादेयत्वेन उपस्थितं पशुः पशुप्रीतदेवता च पशुदेवताप्रीतिरेव वा अपूर्वमेव भाव्यत्वेन संबध्यते इति । तत्रापि तथेति भाष्यं विवृण्वन्तः कर्त्रैक्ये प्रमाणाभावमाहुः आधारैत्यादि । षष्ठ्यन्तादिति । 'आधारमाधारयति । ऊर्ध्वमाधारयति । ऋजुमाधारयति' । 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इति श्रुतयोरेवाङ्गीप्रयुक्ताङ्गत्ववदित्यर्थः । आधारइदमग्निहोत्राधिकरणे द्वितीयस्य द्वितीयपादे चिन्तितम् । दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्टा सोमेन यजेतेति तु सोमद्रव्यस्य दर्शाङ्गतामश्रुवन्दर्शादिकालः सोमे विधीयत इति चतुर्थस्य तृतीये पादे 'उत्पत्तिकालविशेषे कालः स्याद्वाक्यस्य तत्प्रधानत्वात्' इत्यधिकरणे चिन्तितम् । पञ्चप्रयाजवदिति । द्वितीयस्य द्वितीयपादे दर्शपूर्णमासयोः श्रूयन्ते 'समिधो यजति,' 'तमूनपातं यजति,' 'इडो यजति,' 'बर्हिर्यजति,' 'खाहाकारं यजति,' इति पञ्चप्रयाजाः तेषां यजत्यभ्यासाद्भेद इति चिन्तितम्, तद्वदित्यर्थः । गोदोहनादिवदिति । चमसेनापः प्रणयेदिति दर्शपूर्णमासाङ्गमपां प्रणयनमाश्रित्य गोदोहनेन पशुकामसेति विहितस्यापां प्रणयनेधिकृताधिकारकस्य गोदोहनेनसेवेत्यर्थः । तदिदं चतुर्थे 'यस्मिन्प्रीतिः पुरुषस्य लिप्सार्थलक्षणाविभक्तत्वात्' इत्यधिकरणे चिन्तितमन्यैः । षड्यागवदिति । त एवं द्वितीयस्य द्वितीयपादे, 'प्रकरणं तु पूर्णमासां रूपावचनात्' इत्यधिकरणे चिन्तित आग्नेयादयः षड्यागाः । 'य एवं विद्वान्पौर्णमासी यजेत य एवं विद्वानमावासां यजेत' इत्यान्नातम् । तत्र यदाग्नेयोष्टाकपालोमावासायां च पौर्णमासां चाच्युतो भवतीति । तावद्भूतामग्नीषोमीयाज्यस्य एवं तादुपांशु पौर्णमासां यजन्ति । ताभ्यामेकमग्नीषोमीयमेकादशकपालं पौर्णमासे प्रायच्छदिति । ऐन्द्रं दध्यमावासायामिति । ऐन्द्रं पयोमावासायामिति प्रकृताः षड्गृह्यन्ते । तत्राप्याग्नेयोपांशुयाजाग्नीषोमीयाणां पौर्णमासीकालविहितानां सह प्रयोगः । एवमितरत्रापि । एतौ ससुदायौ पौर्णमास्यमावासापदाभ्यामुपलक्ष्येते इति नानुवादकतानुपपत्तिः । तेषां सर्वेषां दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेतेति वाक्येन फलसंबन्धः । तदिदं वाक्यं चैकादशे 'प्रयोजनाभिसंबन्धात्पृथक्सत्तां ततः स्यादैककर्म्यमेकशब्दाभिसंयोगात्' इत्यधिकरणे । अत्र श्रुतं फलं सत्तां यागानां प्रयुगुत्सन्नतया पृथगेव फलाभिसंबन्धात्प्रत्येकं संबध्यत इति पूर्वपक्षं संगृह्य दर्शपूर्णमासरूपैकशब्दाभिसंयोगा-

भाष्यप्रकाशः ।

बोध्येत तादृशप्रमाणस्याप्यनुपलम्भात् । न च, विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह, 'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा' इत्यादिश्रुतिरेव क्रमे प्रमाणमिति वाच्यम् । यमुच्चयमात्रबोधनेन चारिताध्यात् । किंच । धर्मो न यथाकथञ्चिज्जातो विद्यया समुच्चयेऽपि तु निर्णीतस्वरूपः । निर्णयस्तु यथा कर्मस्वरूपविषयकः पूर्वतन्नात्, तथा कर्मशेषभूतपुरुषस्वरूपविषयकस्तदाराध्य-भूतब्रह्मस्वरूपविषयकश्चरतन्नात् । अतोऽभ्यर्हितत्वात् पूर्वं वेदान्तविचारेण तदवगन्तव्यम् । नानावादैरात्मस्वरूपे ब्रह्मस्वरूपे च विप्रतिपन्ने वैदिकानां वेदवाक्यैरेव तन्निराससावश्यकत्वात् । ज्ञाते तयोः स्वरूपे कर्मणि मुखेन प्रवृत्तिसंभवादिति । नचाध्ययनादिविधेः कर्मावबोधनसमर्थेषु पुरुषेषु चरितार्थत्वेन, शान्तो दान्त इत्यादिश्रुत्युक्तसाधनान्तरसापेक्षब्रह्मज्ञानोपायभूत-शमायाश्लेषासामर्थ्यात् पूर्वं धर्मविचारस्यैव प्राप्तिरिति वाच्यम् । शान्तो दान्त इति श्रुतौ पश्येदितिपदाच्छमादीनां दर्शनसाधनत्वेन विचारे तदपेक्षाभावात् । प्रह्लादकव्यादिपदाबाल्यान्मुमुक्षुश्चाश-मादिमन्सु तदप्रवृत्तौ तेषां विचारमात्राप्रसक्तैर्यथाकथञ्चित् प्रवृत्तौ वाऽभ्यर्हितस्यैव प्राप्त्या नियम-भङ्गाच्च तदेतदुक्तम् ।

रश्मिः ।

दैककर्म्यं समुदितस्यैव फलमिति चिन्तितं तद्वदित्यर्थः । अत्र क्रियत इति व्युत्पत्त्या कर्मफलं ऐककर्म्यमेकफलत्वम्, क्वचित्तु सूत्रे पृथक्त्वं ततः स्यादिति पठ्यते । सत्तामिति न पठ्यते । नचेत्यादि । अविद्यां कर्मरूपमित्यर्थः । ज्ञानमेवेच्छां प्रयुञ्जानो यत्नं संपादयतीत्यालोच्याहुः किंचेति । कर्मशेषेत्यादि । एतच्च तृतीये 'द्रव्यगुणसंस्कारेषु आदरिः' इत्यधिकरणे चिन्तितम् । पूर्वमिति 'अभ्यर्हितं च' इति सूत्रेणेत्यर्थः । ननु मीमांसायाः न किमपि प्रयोजनं पश्यामः, आदि-ज्ञानमभ्यास्यत एव संभवादित्यत आहुः नानावादैरिति । विप्रतिपन्न इति विविधप्रकारैर्ज्ञात इत्यर्थः । वेदवाक्यैरिति वेदवेदान्तवाक्यैः विचारविषयैः मीमांसासूत्रविषयवाक्यैरित्यर्थः । तन्निरासस्येति विप्रतिपत्तिगतसंशयनिरासस्यापि । प्रवृत्तीति, इच्छाद्वारा प्रवृत्तिसंभवात्, जानाति इच्छति यत इति नैयायिकप्रवादात् । दृष्टानुवादिनीं 'शान्तो दान्तउपरतस्तिक्षुश्रद्धान्वितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्' इति श्रुतिमनुसृत्य विषययाभावशङ्का तामपाकुर्वते न चाध्ययने-त्यादि । पूर्वं धर्मविचारस्यैवेति । वैधत्वादिति भावः, अन्यथा श्रुतिविरोध इति भावः । विचारितधर्मेण विशेषचित्तशुद्धिः शमदमादिकारणम् । तदपेक्षाभावादिति शमाद्युपेतत्वेपि दर्श-नानपेक्षत्वादित्यर्थः । तेन शमदमाद्युपेतसूत्र(श्रुत्यविरोधात्)विरोधः । तथा च श्रुतिविरो-धाद्वेदविचारविधिस्तदन्तेपि प्रवर्तते, न तु विध्यन्तरमादरणीयं संभवेपीत्याशयः । तदप्र-वृत्ताविति । शान्त्यादिकमुत्पाद्य आत्मानं पश्येदिति श्रुतिस्फूर्तेः शान्त्याद्युत्पादनाय विध्यप्रवृत्ता-वित्यर्थः । सत्तामात्रभवत्यर्थादेव पूर्वोक्तनिरास्ति मन्यमाना आहुः यथाकथञ्चिदिति । भक्तिमार्गी-याणां स्वत एव शमादिसत्त्वेन वैधशमादिसत्तामात्रं भवत्यर्थात्भक्तिमार्गीयाणां शमादिविधिप्रवृत्तौ । नियमभङ्गाच्चेति । धर्मब्रह्ममीमांसयोः पूर्वापरीभावनियमभङ्गाच्चेत्यर्थः । तदेतदुक्तमिति । तथा हि न तावद्धर्मविचारानन्तर्यम्, विषययसंभवादिति भाष्येणेत्यर्थः । तत्रापि तथा

नच पाठतो नियमः । तत्रापि तथा । नचाऽऽचाराद् व्यवस्था । तत्राप्यनि-यमसंभवात् । प्रत्यवायाश्रवणात् । संभवेपि न वक्तव्यत्वमध्ययनवत् । तथाच ततोऽप्याकाङ्क्षा भवेत् । नच वैराग्यशमदमादिः पूर्वसिद्धः ।

भाष्यप्रकाशः ।

ननु पूर्वं धर्मकाण्डं पठ्यते, अनन्तरं ज्ञानकाण्डमिति पाठस्य क्रमनियामकत्वमस्त्विति चेत् तत्राहुः नचेत्यादि । पाठक्रमे विद्यमानेऽपि पूर्वकाण्डं न सर्वैरदित आरभ्य पठ्यते । अपि तु यतःकुतश्चित् । अतोऽवान्तरकाण्डक्रमानियमवज्ज्ञानकाण्डक्रमानियमस्यापि शक्यवचनत्वात् तत्रापि तथेत्यर्थः । ननु पाठः शिष्टाचारादनियतोऽस्तु, न तु विचारोऽपीत्यत आहुः नचा-चारेत्यादि । प्रत्यवायाश्रवणस्योभयत्र तौल्यात् तथेत्यर्थः । ननु धर्मस्य ब्रह्मबोधहेतुत्वात् तद्वि-चारोपयुक्तानां श्रुतिलिङ्गादीनां वेदचोदनाथेवात्स्युत्पादिप्रामाण्यप्रतिपादनानां ब्रह्मविचारोप-युक्तत्वाच्च धर्मविचारानन्तर्यं ब्रह्मविचारस्य नियमेन संभवतीति चेद् तत्राहुः संभवेपीत्यादि । स्फुटार्थमेतत् ।

ननु तर्हि, नित्यानित्यवस्तुविवेकः, ऐहिकामुष्मिकभोगविरागः, शमदमादिसाधनसंपन्मु-क्षुत्वं चेति शंकराचार्यादृतं साधनचतुष्टयानन्तर्यमाद्रियतामित्याशङ्कायां, भास्कराचार्यैर्यद्यपि शमदमादयोऽन्तःकरणधर्माः पूर्वं न प्रकृताः स्वशब्देन चानिर्दिष्टा इति सूत्रकारस्य न विवक्षिता इत्येव दूषणं दत्तम् । रामानुजाचार्यैश्चैषां पूर्वमीमांसोक्तकर्मफलकरणैतिकर्तव्यताधिकारिविशेषा-निश्चयानन्तरभावितदनित्यत्वज्ञानाऽऽत्मनित्यत्वज्ञानाधीनतया शास्त्रद्रव्यविचारोत्तरमावित्वं दूष-णमुक्तम् । तथापि तत्र तथा स्फुटमिति प्रकारान्तरेण दूषणमाहुः नचेत्यादि । तदानन्तर्यं तदा

रश्मिः ।

इत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति स्म ननु पूर्वमिति । तत्रापि तथेत्यर्थ इति पाठतो नियमेपि विषययसंभवादित्यर्थः । तेन तत्रापि तथेति भाष्यमपि विवृतम् । उभयत्रेति पाठे विचारे चेत्यर्थः । ब्रह्मविचारेति । यथानिरपेक्षो रवः श्रुतिः साच 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यत्र विप्रहृदशायां ब्रह्मण इति शेषषष्ठीश्रुत्या ब्रह्मसंबन्धिनां जिज्ञासार्थत्वमिति विनियोगः । 'आकाशस्त-लिङ्गात्' इत्यत्र लिङ्गं, 'वाक्यान्वयात्' इत्यत्र वाक्यं, 'प्रकरणाच्च' इत्यत्र प्रकरणं, देशकालौ प्रकरणमिति निबन्धकारिकाविरोधेन, स्थानं द्रष्टव्यं, 'स्वपीति इत्याचक्षते स्वमपीतो भवति' इति अत्र अतिदेशसामान्यरूपात्स्थानात् स्वमित्यस्य स्वमपीतोऽर्थः, न तु स्वापनिमित्तकारणरूपकर्तव्यत्वार्थः । समाख्या यौगिकश्च शब्दः सापि 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यत्र बृहत्त्वात् बृहणत्वाच्च ब्रह्मेति योगात् यौगिकः शब्दः । स्ववाक्यस्वरूपलक्षणोक्तपदार्थानां ब्रह्मणश्च संनिधि कल्पयति संनिहितयोः परस्परकाङ्क्षयोरेकवाक्यत्वं प्रकल्प्य सामर्थ्यं चालोच्य ब्रह्मणा सत्यादिपदानां सामानाधिकरण्यं कुर्यादिति श्रुतिकल्पनेन ब्रह्मयौगिकार्थस्य तदपदार्थक्यं बोधयति । स्फुटेति अनन्यलभ्यस्य शब्दार्थत्वात् । अत्र अथशब्दार्थत्वेन वक्तव्यधर्मेत्याक्षेपलभ्यत्वादित्येवं स्फुटार्थम् । भाष्ये । तथा च ततोपीत्यादि आक्षेपलभ्यत्वे च तं श्रुतिलिङ्गादिकमानन्तर्यनिरूपकमुपलभ्याप्यधिकाकाङ्क्षा भवेदित्यर्थः । प्रकृते । स्वशब्देन चेति शमादिवाचकशब्देन चेत्यर्थः । पूर्वमीमांसेत्यादि पूर्व-मीमांसोक्ताः कर्म च फलं च करणं चेति कर्तव्यता चाधिकारिविशेषश्चैतेषां निश्चयानन्तरभाविनी यद्

तेषामेवाभावात् । न च यदैव संभवस्तदैव तत् कर्तव्यमिति वाच्यम् । तदसंभवापत्तेः । तथाहि । ब्रह्मणः परमपुरुषार्थत्वे ज्ञाते तज्ज्ञानस्यैव साधनत्वेष्ववधाने तच्छेषत्वे च यागादीनामवगते तदर्थकर्मकरणे चित्तशुद्धौ सत्यां वैराग्यादि । इदं च वेदान्तविचारव्यतिरेकेण न भवतीत्यन्योन्याश्रयः ।

भाष्यप्रकाशः ।

युज्येत यदि तत्सत्ता पूर्वं स्यात् । सा त्वतिदुर्लभा । न हि नित्यानित्यवस्तुविवेकमन्तरेणोद्घातार्थमोगात् पुरुषो विरज्यते । न वा सांख्यदर्शनात्यन्ताभ्यासतदुदितसाधनाद्यन्तरेण तादृशविवेक उदेत्युदिते वा सर्वः शाम्यति दाम्यति वा । दुर्वासःप्रभृतिष्वपि तदभावस्य स्मरणात् । कथंचित् किंचित् कस्यचित् कदाचित् संभवेऽपि न सर्वसाधनानि तथा । तदेतदुक्तं, तेषामेवाभावादिति । तथाच समुदितसाधनचतुष्टयसंपदत्यन्तदुर्लभेति तदानन्तर्यमत्र न शक्यवचनमित्यर्थः । सांख्याद्यभ्यासाभावेऽपि लौकिकदुःखादिना विरज्यमाना दृश्यन्ते । किंचित्कामनयापि शाम्यन्ति दाम्यन्ति चेत्युक्तविवेकरहितवैराग्याद्यानन्तर्यमप्यत्र न युक्तम् । तदपायस्य भूयोदर्शनादित्याशयेन वैराग्यादीनामेव ग्रहणम् । ननु केषांचित् पूर्वं वैराग्याद्यभावेऽपि पश्चात् तानि दृश्यन्ते इति तदानन्तर्यादरणे को दोष इत्यत आहुः न च यदैवेत्यादि । तदसंभवापत्तेरिति वैराग्यादेर्विचारस्य चासंभवापत्तेरित्यर्थः । कथमिदमित्याकाङ्क्षायामेतदेव विभजन्ते तथाहीत्यादि । दर्शान्तराभिमानिनां ज्ञानकर्मसमुच्चयवादात् तदुक्तज्ञानानां च भिन्नविधत्वात् तत्तदभिमतरीत्या साधनीभूतयागाद्यनुष्ठाने विवक्षितविचारोपयोगिचिदुद्भवभावात् रदिमः ।

आत्मवैरिक्तानित्यत्वज्ञानात्मनित्यत्वज्ञाने तदधीनतयैत्यर्थः । कथंचिदिति ज्योतिषपञ्चाङ्गादिप्रकाशम् । कस्यचिदिति । नित्यानित्यवस्तुविवेकादौ यस्यकस्यचित् । कदाचिदिति अस्मदादिर्दृष्टान्तः । तथेति सर्वत्वेन प्रकारेण संभवन्तीत्यर्थः । नन्वाशङ्कामाष्ये न च नित्यानित्यवस्तुविवेकवैराग्यशमदमादिरिति वक्तुं युक्तम्, प्रथमतयागे मानाभावादित्याकाङ्क्षायामभूतपूर्वोक्तविवेकवैराग्यादिरपि नानन्तर्यनिरूपक इति बोधयितुं तयोपन्यास इत्याहुः सांख्याद्यभ्यासेत्यादि । कामनयेति शमजन्यफलकामनया, दमजन्यफलकामनया च । भूयो दर्शनादिति । अस्मदादिर्दृष्टान्तः । तानीति वैराग्यादीनीत्यर्थः । असंभवेति अन्योन्याश्रयस्य द्विनिष्ठत्वात् द्वयस्यासंभव उक्तविकल्पेन । इदमिति पूर्वोक्तम् । एतदिति समीपतरवर्तिभाष्यम् । विभजन्ते व्याकुर्वते । धर्मविचारस्य ब्रह्मशब्दसूचितस्य भाष्ये विचारात् समुचये स्फुरति तेन सहैवाहुः दर्शनेति । भिन्नविधत्वादिति । स्मृत्यात्मकं ज्ञानं भक्तिरूपं साधनमिति रामानुजाचार्यमतम् । मध्वमते ज्ञानं भक्त्यात्मकम् । नैयायिकेस्तु 'द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषप्रमद्वयानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानं निःश्रेयसहेतुः तत्रेश्वरनोदनाभिष्यक्ताद्बर्मादेवेत्युच्यते' इति भिन्नविधत्वादित्यर्थः । साधनीभूतेत्यादि । अयमर्थः । चित्तशुद्धिकारणता यागादेर्न सामान्यरूपेण तथा सति विलक्षणचित्तशुद्ध्यनुत्पत्तिप्रसङ्गोपि तु नृणारणिमणिन्यायेन तत्तच्चित्तशुद्धिजनकत्वमप्येति तत्तन्मतीयविचारोपयोगिचित्तशुद्ध्यदयात् सिद्धान्तविचारोपयोगिचित्तशुद्ध्यभावादिति एवमेव विचारचित्तशुद्धोरपि कार्यकारणभावः । विवक्षितेति । 'यदेकमव्यक्तमनन्त-

निर्धारिते तु वेदान्ते विचारो व्यर्थ एव । नच साक्षात्कारस्तत्फलम् । तस्य शब्दशेषत्वेन तत्कल्पनायां प्रमाणाभावात् । 'दशमस्त्वमसि' इत्यादौ प्रत्यक्ष-

भाष्यप्रकाशः ।

ब्रह्मणः परमपुरुषार्थत्वज्ञानार्थं, ज्ञानस्य केवलस्यैव साधनत्वज्ञानं चावश्यकमिति तदर्थं चैकदेशिना वेदान्तविचारः पूर्वं मृग्यः । तथा सत्युक्तीत्या तत्करणमिति चक्रकान्योन्याश्रय इति तदसंभवापत्तिरित्यर्थः । नन्वध्ययनदशायां गुरुमुखात् साधनान्तराद्वा वेदान्तार्थे निर्धारिते मुखेन तत्संभवाभ्यासोऽप्येति शङ्कायां दूषणान्तरमाहुः निर्धारित इत्यादि । विचारो ह्यर्थनिर्धारार्थः अर्थनिर्धारश्च वैराग्यादिप्रयोजकतया यदि पूर्वमभ्युपेतस्तदा फले जाते निःप्रयोजनत्वाभिःसंदिग्धविषयत्वाच्च स व्यर्थ इत्यर्थः । एवकारेण तदर्थकप्रवृत्तिविधातोपि संगृह्यते । नन्वर्थे निर्धारितेऽपि न विचारवैफल्यं, तस्यात्मसाक्षात्कारार्थत्वादित्यत आहुः न चेत्यादि । विचारस्यार्थज्ञानजनकतया शब्दाङ्गत्वेन तदुपकारकत्वस्यैव प्रत्यक्षसिद्धत्वेन तस्यात्मसाक्षात्कारफलकत्वकल्पनायां प्रमाणाभावादित्यर्थः । ननु दशमस्त्वमसीत्यादेः शब्दादपि दशमोऽहमित्याकारकात्मसाक्षात्काररूपं फलं विचारद्वारा दृश्यत इति तथा कल्पनायां दृष्टमेव प्रमाणमस्तीति कथं प्रमाणाभाव इत्याकाङ्क्षायां दृष्टान्तवैषम्यं स्फुटीकुर्वन्ति दशम इत्यादि । अयमर्थः । उक्तवाक्यदृष्टान्तेन विचारद्वारा आत्मसाक्षात्कारः कस्यापाद्यते । किं देहविशिष्टात्मवेदिनो वा देहात्मवेदिनो वा । तादृशस्यापि चक्षुष्मत्वोऽप्यस्य वा विविक्षात्मवेदिनो वा । तत्र नाद्यः । व्यामुग्धादिषु परेण बोध्यमानस्य दशमत्वस्य बाह्यत्वेन तद्विशिष्टस्य बाह्यस्यैव देहादेस्तथात्वसिद्धोक्तीत्या तस्य ज्ञानस्यात्मविषयकत्वाभावात् । अत एव न द्वितीयः । अन्धस्येतराऽज्ञारदिमः ।

रूपम्' इति श्रुतेस्तत्तन्मार्गाधिज्ञानानामनन्तरूपान्तर्गतत्वे तस्य मार्गाप्रविष्टस्यानन्तरूपान्तरूपान्तराविष्टकतया स्वात्मप्रविष्टविवक्षितविचारेत्यादिः । एकदेशिनेति । उक्ताथमेतत् । चक्रकान्योन्याश्रय इति । वेदान्तविचारेण साक्षात् वैराग्याद्याश्रीयते, वैराग्यादिभिस्तु साक्षात् परंपरयेति चक्रकम् । तौल्ये त्वन्योन्याश्रय इति भावः । भाष्ये तु विशेषो नाभ्युपगत इति बोध्यम् । साधनान्तराद्वेति तपधादिरूपात् व्याकरणादिरूपाद्वा तस्मादित्यर्थः । तस्यात्मसाक्षात्कारार्थत्वादिति । 'तत्त्वमसि' आदिवाक्यस्य ब्रह्मविचारस्य वा 'अहं ब्रह्मासि' इत्याकारकाक्षात्कारफलकत्वादित्यर्थः । इत्यत्र आहुरिति इतीदमाशङ्क्य प्रतिविधानमाहुरित्यर्थः । आशङ्काभाष्यस्याभास एव विवृत्तत्वात् तस्येत्यादिप्रतिविधानभाष्यं विवृण्वन्ति विचारस्येत्यादि । शब्दाङ्गत्वेनेति । आकाङ्क्षायोग्यतासंनिधिवत् । 'अविचारिताश्च शब्दा नार्थं प्रत्यायन्ति' इति भाष्यात् । दशमेति । दशम इति वक्तव्यं दशमेति प्रतीकमुभयसाधुतायै । दृष्टमिति साक्षात् कारणत्वेन दृष्टं शब्दरूपम् । तत्र नाद्य इति । चक्षुष्मतो देहविशिष्टात्मवेदिनो देहात्मवेदिनो वापाद्यत इति न वक्तुं शक्यमित्यर्थः । व्यामुग्धादिष्विति । कस्तावदस्मात्तु दशम इत्येवं तथाभूतेष्वित्यर्थः । बाह्यत्वेनेति चाक्षुषत्वात् तथात्वेनेत्यर्थः । उक्तीत्येति भाष्योक्तीत्येत्यर्थः । तद्धिं चक्षुष्मतो देहस्य प्रत्यक्षीकरणादस्तु तज्ज्ञानस्यात्माविषयकत्वम्, अन्धेन तु तथा करणात् तज्ज्ञानस्यात्माविषयकत्वं दुर्वारमित्यत आहुः अत एवेति । दशमत्वस्य चाक्षुषत्वेन बाह्यत्वादेवान्धस्य देहविशिष्टात्मवेदिनो देहात्मवेदिनो वापाद्यत इत्यपि न वक्तुं शक्यमित्यर्थः । अन्धस्येत्यादि । न तानाहं दृश्यत एव स्वस्मिन् दशमत्वबुद्धिरिति भावः ।

सामग्र्या बलवत्त्वाद् देहादेः प्रत्यक्षत्वात् स्वदेहमपि पश्यन् दशमोहमिति मन्यते । न तथा प्रकृते । मनननिदिध्यासनविधीनामानर्थक्यप्रसङ्गात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

नात् । तस्य प्रज्ञाचक्षुष्टेन तथा ज्ञायमानस्यापि चाक्षुषकल्पत्वाच्च न तृतीयः । तस्यात्मविस्मृत्यभावेन तत्र शब्दस्याऽकारणत्वात् । न च पूर्वविकल्पोक्तानामात्मनिष्ठमान्तरमेव दशमत्वं शब्दाद् भासत इति वाच्यम् । दशमत्वस्य वक्रपेक्षाबुद्धिजन्यत्वेन तस्यां च बुद्धौ संख्याघटकानां परात्मनां भानामावेन स्वस्यापि दशमत्वाभानप्रसङ्गात् । अतो नवमत्वादिवद् दशमत्वस्यापि ब्रह्मत्वमेव । कृशोहमितिवद् दशमोहमितिप्रत्यग्विचर्यापि देहस्यैव वेद्यत्वाच्च । प्रकृते विचारे तु वेदान्तवाक्यैर्ब्रह्मत्वेनात्मसाक्षात्कारस्य तवाभिप्रेतत्वेन न तथा धर्मधर्मिणोरुभयोरप्यान्तरत्वाच्च दृष्टान्तसाम्यम् । न हि समीपवर्तिभिरिन्द्रियैर्ग्राह्य आत्मा तद्ग्राह्येण बाह्येन शब्दप्रमाणेन ग्राहयितुं रक्षिः ।

ननु स्वर्शेनानुमानेन वा नवान्यान् ज्ञासतीति, तत्राहुः तस्येत्यादि । प्रज्ञा लिङ्गपरामर्शो व्याप्तिज्ञानं वा । चाक्षुषकल्पत्वाच्चेति । त्वाचत्वेनानुमितित्वेन च त्वदिष्टाभावादीषदूनचाक्षुषत्वादित्यर्थः । अन्यथान्धस्य पुरोवस्थितो घटोऽस्तीति शब्दात् घटासाक्षात्कारापत्तिः । शब्दस्य कारणत्वे ततः पूर्वमात्मविस्मृतिः स्यादिति शब्दो न कारणमित्याहुः तस्यात्मेत्यादि । अभ्युपगमवादेनाशङ्कां निषेधन्ति न च पूर्वत्वादि । चक्षुष्मतो देहविशिष्टात्मवेदिनोऽन्धस्य तथावेदिनो विविक्तात्मवेदिनश्चेत्यर्थः । भानाभावेनेति । परमनोव्यावृत्तमनस एवात्मप्रत्यक्षजनकत्वोपगमात् तथेत्यर्थः । देहस्यैवेति । ननु नापेक्षाबुद्धेः सजातीयविषयत्वनियम इति चेत्, तत्राहुः कृशोऽहमित्यादि । अन्यथात्मनो दशमत्वकृशत्वाद्यापत्तिरिति भावः । तेन दशमादेरहमो विशेषणत्वाद्दस्यच्छब्दवाच्यात्मन एव दशमत्वमित्यपि निरस्तम् । न तथा प्रकृत इति भाष्यं विवृण्वन्ति प्रकृत इत्यादि । विषयत्वेन प्रकृते वेदान्तीये 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' इति श्रुतावतिप्रविष्टे च विचारे वाक्यैः 'आत्मा वा अरे' इति 'दशमस्त्वमसि' इत्यादिभिरित्यर्थः । न तथेति भाष्यानुवादं वर्णयन्ति धर्मधर्मिणोरिति ब्रह्मत्वात्मनोरित्यर्थः । तद्ग्राह्येणेति श्रोत्रग्राह्येणेत्यर्थः । अत्र भाष्ये । प्रत्यक्षसामग्र्या इति । अयमर्थः । अत्र दशमोहमिति प्रतीतौ शब्दसामग्र्याः प्रत्यक्षसामग्र्याश्च सत्त्वेपि शब्दसामग्र्यैव प्रत्यक्षं किं न स्यात् । शब्दात् प्रत्येमीत्यनुव्यवसायात् न भविष्यति । घटं पश्यन् घटशब्दं शृण्वन् घटं पश्यामीत्यनुव्यवसायं प्राप्नोतीति सार्वजनीनम् । तथा च प्रत्यक्षसामग्री शब्दसामग्रीः प्रतिबध्नातीति मन्तव्यम् । यथा समाने विषये एकदा लौकिकप्रत्यक्षसामग्रीसत्त्वेऽनुमितिसामग्रीसत्त्वे लौकिकप्रत्यक्षमेवोत्पद्यते । तदनन्तरं साक्षात्करोमीत्यनुव्यवसायात् । अतः समानविषयेऽनुमितिं प्रति लौकिकप्रत्यक्षसामग्र्याः प्रतिबन्धकता । समानविषयत्वं च पर्वतोद्देश्यकसंयोगसंसर्गकवह्निविषयकानुमितिं प्रति पर्वतोद्देश्यकसंयोगसंसर्गकवह्निप्रकारकलौकिकप्रत्यक्षसामग्रीत्वेन प्रतिबन्धकत्वम् । स्फुटमेतत् सामग्रीवादे । तथा च दशमः क इति संदिहानेषु दशमोहमिति पश्यत्सु दशमत्वानवच्छिन्नदेहमात्रं पश्यत्सु दशमस्त्वमसीति शब्दसामग्री प्रतिबध्यते । एवं च शब्दसामग्रीत्वेन समानविषयकप्रत्यक्षसामग्रीत्वेन प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावात् प्रत्यक्षसामग्र्या बलवत्त्वादिति । शब्दात् प्रत्येमीत्यनुव्यवसायस्तु प्रमः । व्यामुग्धेषु दशमस्त्वमित्यस्य शब्दस्य दशमत्वसंवेदवारकत्वेन दशमत्वात्तत्रेपि चाक्षुषसं-

नचाधिकारिभेदः कल्पनीयः । शब्दज्ञाने तत्कल्पनार्था प्रमाणाभावात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

शक्यते । अथ दर्शनाव्यवधानेन श्रवणस्य विधानाच्छक्यत इत्युच्यते तदा मनननिदिध्यासनविधिवैयर्थ्यम् । तथाच दृष्टान्तवैयर्थ्यान्मनननिदिध्यासनविधिविरोधाच्चात्मसाक्षात्कारस्य न श्रवणफलत्वं विचारफलत्वं वा वक्तुं शक्यमित्यर्थः । ननु मुख्यधिकारिणः शब्दादपरोक्षं भवति, न तु मन्दादेरिति तादृशेषु मननाद्युपयोगाच्च तद्दिध्यानर्थक्यमिति चेत्तत्राहुः न श्वेत्यादि । शब्दजन्ये ज्ञानेऽधिकारिभेदस्तदा कल्प्यो यदि स विधिवैयर्थ्यं समादध्यात् । न तु तथा । मन्दस्य पदशक्त्यादिज्ञानशून्यतया मननाद्यसामर्थ्येन, मध्यमस्य च विदितपदपदार्थसंसर्गतायाऽऽकाङ्क्षादिवलेन दशमादिवदपरोक्षमवनसौकर्ये मननाद्यनुपयोगेन ताभ्यां तदसमाधानात् । तत्कल्पनार्था श्रुतार्थापत्तिरूपप्रमाणाभावादित्यर्थः । ननु विदितपदपदार्थसंसर्गस्यापि वाक्यतात्पर्याज्ञाने दशमादिवदित्यर्थः ।

रक्षिः ।

शयात् । ननु 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इति श्रुत्यनुकूलं शब्दापरोक्षमित्येवमाशङ्कामुखेन मननेत्यादिभाष्यमवतारयन्ति अथ दर्शनेत्यादि । शक्यत इति शब्दादपरोक्षं शक्यते । आशङ्काप्रतिविधानभाष्यं विवृण्वन्ति नन्वित्यादि । तादृशेष्विति भिन्नाधिकारिष्वित्यर्थः । न चेत्यादीति । न चाधिकारिभेदः कल्पनीय इत्यादिर्यस्येतदुपसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । समाधानभाष्यं व्याकुर्वन्ति शब्दजन्य इत्यादि । ननु तथेति । अधिकारिभेदो विधिवैयर्थ्यं तु न समादधातीत्यर्थः । ताभ्यामिति मन्दमध्यमाभ्याम् । मननादिविध्यानर्थक्यासमाधानादित्यर्थः । श्रुतार्थापत्तिरूपेति । प्रत्यक्षेण शब्देन वा प्रमितस्यार्थस्यार्थान्तरमन्तरेणानुपपद्यमानस्योपपत्तयेऽर्थान्तरकल्पनमर्थापत्तिः । सा च प्रमाणान्तरमिति मीमांसकाः । लघवादानुमानमिति नैयायिकाः । अर्थान्तरकल्पनया समाधेयत्वेनोच्यमानस्य प्रमाणसिद्धस्यार्थस्य मिथः प्रतिघातरूपान्यथानुपपत्तिसत्र कारणम् । तात्पर्यवृत्तावन्तर्भाव इति मम प्रतिभाति । जीवन्देवदत्तो गृहे नास्तीत्यस्य बहिःसत्त्वप्रतीतीच्छयोच्चारितत्वाद् गृहाधिकरणको जीवनविशिष्टबहिःस्वितदेवदत्तप्रतियोगिको भाव इति सुखेन बोधात् । अथवा । गृहाधिकरणकजीवनविशिष्टबहिःस्वितदेवदत्तनिष्ठा सत्ता तत्प्रतियोगिको भावस्तन्निष्ठा सेति बोधः । एवं पीनो देवदत्तो दिवा न भुञ्जे इत्यत्रादृशार्थानुपपत्तावपि पीन इत्यस्य नक्तं भोजनानुपपन्नकपीनत्वे तात्पर्यात् न दोष इति । तस्मादन्यथानुपपत्तावर्थापत्त्यां निवृत्तायां प्रमितयोः संसृष्टबुद्धिः प्रमेयप्रमारूपा भवतीति ज्ञेयम् ।

तथा च 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यत्र प्रमाणसिद्धस्य आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः इति अंशस्यार्थान्तरकल्पनया समाधेयत्वेन उच्यमानस्य मन्तव्यो निदिध्यासितव्य इत्यस्यांशस्य च मिथः शेषशेषिभावे प्रतिघातः, श्रवणेनैवात्मदर्शनात् । इत्यमन्यथाऽनुपपत्तावर्थापत्तिकारणमृतायां प्राप्तायामत्र मन्तव्यो निदिध्यासितव्य इतिशब्देन प्रमितस्य मनननिदिध्यासनरूपस्यार्थस्य भिन्नाधिकारिरूपार्थान्तरमन्तरेणानुपपद्यमानस्योपपत्तये भिन्नाधिकारि-

१. जीवनसंबन्धवृद्धाधिकरणकाभावबोधिः प्रतिघातः । २. दर्शनस्य न श्रवणशेषित्वं शब्दाऽपरोक्षपत्तेः, किंतु प्रेमशेषित्वं प्रेम्णा दर्शनमिति । ३. मननस्य मीमांसारूपस्य न निदिध्यासनशेषित्वं किंतु अन्वयाभावाभावापत्तिरभावात् निवर्तकत्वात् तच्छेषित्वम् ।

अत्यन्तासत्यप्यर्थे शब्दस्य ज्ञानजननात् प्रमाणसंकरापत्तिश्च ।

भाष्यप्रकाशः ।

वा- इत्यपरोक्षदर्शनात्मननादिना तज्ज्ञाने च तद्दर्शनात् तात्पर्यज्ञानश्चेनाधिकारिणा तत्समा-
धा- शक्यत एवेति कथं प्रमाणाभाव इत्यत आहुः अत्यन्तेत्यादि । शब्दस्येति षष्ठा करणत्वं
नो- त् । तथाच खपुष्पं सुरमीत्युक्तेऽत्यन्तासतोऽपि ज्ञानं जायते । एवं गुर्वादिनोक्तवेदान्तवाक्ये
अ- तस्याप्यात्मनस्त्वदभिमतं ज्ञानं भविष्यतीत्युक्तविधिवैयर्थ्यं दुर्वारमतः प्रमाणाभाव इत्यर्थः ।
ननु- वेधिवलादेव ज्ञायते सर्वेषां न भवतीत्यतो न तदभाव इत्यत आहुः प्रमाणेत्यादि । संकरो
म- मन्नेन जायमानं कार्यम् । यथा वर्णसंकर इति । तथाच तत्र यथा न वर्णत्वमेवमत्रापि
द- त्वमसीतिवाक्यस्य युष्मत्पदसारितपदार्थोच्छेदनेनासत्पदार्थविषयकज्ञानजनने तस्य ज्ञानस्य
प्र- त्वं न स्यादिति तादृशज्ञानोपपादनप्रयासवैफल्यम् । किंचैवं भ्रमायां प्रमाणशर्यादायां तं
रश्मिः ।

क- २ । तेन दर्शनमननादिरूपयोः प्रमितयोः शेषशेषिभावेन संसृष्टबुद्धिरिति सम्भवयः ।
से- रकारिणि मननादिविधानार्थक्यस्य परिहर्त्येव भवति तादृशस्य तु प्रकृतोऽलामाच्छ्रुतार्था-
परि- प्रमाणाभावादित्यर्थः । तज्ज्ञान इति तात्पर्यज्ञाने चापरोक्षदर्शनादित्यर्थः । तदिति
वि- त्थक्यमित्यर्थः । शब्दस्य ज्ञानजननादिति पाठं भ्रवा आहुः षष्ठ्येत्यादि । फलानां तृप्त
इति- धान्तः । ज्ञानं जायत इति । अत्रैवं ज्ञेयम् । वाक्यं च सिद्धार्थं साध्यार्थं च यद्यपि
सर्व- वाक्यं सिद्धार्थं भवति । भावित्वभूतत्वयोर्धर्मत्वेन निराश्रयत्वासंभवाद्वर्तमानकाले भावि-
भूत- र्स्तुनोः सत्ता स्वीकार्येति । न च कालस्तादाश्रयो भवतीति शङ्कम् । भावी काले भूतः
क- इति प्रतीत्यापत्तेरित्यादिकं स्थितं विद्वन्मण्डलम् । तथापि कारणकलापनिष्पाद्यव्यवहार-
नि- तोयं साध्यत्वव्यवहार इति वाक्ये द्वैविध्यम् । तत्र सिद्धार्थस्य वाक्यस्य संनिष्ठे विषये
प्र- उद्धारित्वात् प्रत्यक्षहेतुत्वमेव । विप्रकृष्टविषये तु तदानींनानार्थसत्तायाः संदिग्धत्वेन संभा-
व- कस्यैव ज्ञानस्य शब्दत्वेन संदिग्धमेव प्रामाण्यम् । घालादिवाक्येपि तथा । प्रतारक-
वा- तु श्रोतुर्विश्वासजाड्यं प्रामाण्यबुद्ध्युत्पादकं न तु शब्दः । वक्तुरनामत्वेन तत्र शब्दत्व-
वि- १ । भ्रान्तः सन् प्रतारको यद्वाक्यं प्रयुक्ते तत्र यथा प्रवृत्तिसामर्थ्ये तु वक्तुप्रतारकत्व-
बु- त्वहेतुका प्रामाण्यधीः प्रमेयबलेन श्रोतुर्जायत इति विश्वामजाड्यकृतत्वं तत्रेति । तस्य प्रतारक-
त्व- नन्तरं तु या प्रवृत्तिः सापि न शब्दकालाभ्यां किंतु अनुसुगतादेव कारणविशेषादिति न
सा- तामाण्यावेदिका । भ्रान्तवाक्यस्य तु शब्दत्वेऽपि न तत्रत्यं ज्ञानं प्रमाणं, वक्तुदोषात् ।
अ- सेद्धार्थानि वाक्यानि गौणमेव प्रामाण्यं विप्रति । साध्यार्थे तु वाक्यार्थो बुद्धिपरिकल्पितः ।
सं- ग्याः क्रियायास्तादानीमभावेन तत्संसर्गस्याप्यभावात् । तस्माद्बुक्तुर्दृष्टार्थवादित्वाभावेन तदा-
का- प्रामाण्यं यद्यपि तथापि प्रवृत्तिसामर्थ्यात् प्रमेयबलेनैव प्रामाण्यमिति । अत एव 'अत्यन्तासत्यपि
ज्ञ- शब्दः करोति हि' इति अभियुक्तोक्तिः । प्रमाणत्वं न स्यादिति । शब्दबोधे पदजन्य-
पदा- स्थितेः तत्रत्वादितिभावः । न च तत्र विपरीतलक्षणयैवौपस्थितिरिति वाच्यम् । यथा
'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम् ।
विदधदीदृशमेव सदा सखे । सुखितमास्स ततः शरदां शतम्' ॥

मनसा तज्जननेऽपि तथा । तस्मात् प्रथमं शाब्दमेव ज्ञानमिति मन्तव्यम्,
अनुभवसिद्धत्वात् । इदानीन्तनः नामपि शमादिरहितानां निर्विचिकित्सितवेद्यार्थ-
ज्ञानोपलब्धेः । संन्यासानुपपत्तिश्च ।

भाष्यप्रकाशः ।

घटमानयेत्यत्रापि वाक्यार्थज्ञानं प्रत्यक्षं स्यात् । आत्मन इव घटस्यापि पूर्वमनुभूतत्वात् । चीत्कारेण
गजानुमितिरपि न स्यात् । यद्वा, प्रमाणे ज्ञानेऽनुव्यवसीयमानयोः प्रत्यक्षत्वपरोक्षत्वयोर्जातित्व-
बाधकसंकरापत्तिः स्यात् । नचेष्टापत्तिः । व्यपहारे भट्टनयमुपगच्छतस्तथा वक्तुमयुक्तत्वात् ।
भारत आजगरेऽपि,

'जातिरत्र महासर्प मनुष्यत्वे प्रहामते ।

संकरात् सर्ववर्णानां दुष्परीक्षेति मे मतिः' ॥ इति ।

युधिष्ठिरेण ब्राह्मणत्वजातिबाधकन्या संकरस्योपगतत्वाच्च । अतोनेकदूषणप्रासादधि-
कारिभेदशब्दापरोक्षयोः कल्पनमेवायुक्तमित्यर्थः । ननु मास्तु शब्दादपरोक्षं, तथाऽपि दशम-
स्त्वामितिवाक्यसहकृतचक्षुषा दशमोऽहमित्तिधन्मनसेवानुद्वेष्य इति श्रुतेस्तत्त्वमस्यादिवाक्यसहकृ-
तमनसैव विचिकित्तामसाक्षात्कारो भावीत्यादिकारिभेदो नायुक्त इति चेत्तत्राहुः मनसेत्यादि ।
वाक्यसहकृतमनसा यदि सर्वेषां साक्षात्कारस्तदा मननादिविधिवैयर्थ्यम् । यदि कस्यचिद् तदा
यस्य न साक्षात्कारस्तस्य वेदान्तार्थनिर्धार एव विचारफलत्वेन वाच्यस्तथा सत्युक्तरीत्या वैराग्या-
दिसंपादकत्वेन तस्य प्रागेवापेक्षितत्वात् पूर्वोक्तान्योन्याश्रयादिदोषतादवस्थमित्यर्थः । सिद्धमाहुः
तस्मादित्यादि । मन्तव्यमिति सर्वेषां भवतीति मन्तव्यम् । अनुभवसिद्धत्वं विशदयन्ति
इदानीमित्यादि । तथाच पूर्वोक्तं दूषणं दुरुद्धरमित्यर्थः । उक्तदाढ्याय दूषणान्तरमाहुः संन्यासे-
त्यादि । 'गृहाद्वा प्रव्रजेद् वनाद्वा प्रव्रजेद्' इतिश्रुतौ तत्तदाश्रमानन्तर्यकथनाद् दृढं वैराग्यं
रश्मिः ।

इत्यपकारिणं प्रति विपरीतलक्षणयोक्तिः । अपकारिणि उपकारित्वरूपेण मुख्यार्थे बाधिते
सति विरोधरूपसंबन्धेन अपकारित्वलक्षणमिति वाच्यम् । तथा सति पारोक्ष्यापत्त्या प्रतिज्ञा-
व्याहतेः । वाक्यार्थज्ञानमिति वाक्यार्थस्य घटानयनस्य ज्ञानं प्रत्यक्षात्मकं स्यादित्यर्थः ।
पुरोवर्तिवाक्यार्थस्य ज्ञानं निशामनं भवतीति परोक्ष्याचित्पदेन घटो विशेष इति ज्ञेयम् ।
गजानुमितिरिति । शब्दापरोक्षप्रतिज्ञा भवन्तान् देश इत्यनुमितिरित्यर्थः । किंतु गजप्रत्यक्षं
स्यादिति भावः । परस्परालन्ताभावसमाधापिपरयोर्धर्मयोरेकत्र समावेशः संकरः इति नैयायिकेके
लक्षणमनुस्यूताहुर्गृह्णा इति । प्रतीयत इति प्रमाणमिति । भावव्युत्पत्तिमत्त्वमाहुः प्रमाणे ज्ञान
इति अहं ब्रह्मास्मीति ज्ञाने इत्यर्थः । अनुभवव्यवसीयेति ब्रह्म अहं जानामीति अनुव्यवसीय-
मानयोरित्यर्थः । अत्र ज्ञानानुभूते व्यापार इत्यत्र ज्ञानस्य शाब्दत्वप्रत्यक्षत्वाभ्यां बोधः, न ज्ञान-
त्वेन प्रकारेण अन्येप्रमाणे ज्ञानत्वस्य तत्रैव फलसागान् । अयुक्तत्वादिति आकृत्यधिकरणविरोधेन
तथात्वादित्यर्थः । यदा न भावव्युत्पत्तिः । तस्मादनुभूतिरेव । तथा च व्यवसायज्ञानस्यानुव्यवसा-
यकारणत्वात् प्रतीयतऽनेन व्यवसायेन । तत् प्रमाणं ज्ञानं ब्रह्म इत्याकारकं तस्मिन् सति अनुव्यवसी-
यमानयोरनुव्यवसायप्रत्यक्षत्वपरोक्षत्वप्रकारकत्वात् विषयतासंबन्धेन तस्य कर्त्रोः । अत्र धात्व-
र्थफलमात्रं कृतिमत्त्वं कर्तृत्वं फलानुकूल्यकारणत्वमेकम् । भाष्ये इदानीमिति । 'अलौकिको
हि वेद्यार्थः' इति श्रुत्युक्तमायनवतामिति विदधेऽप्यम् । निर्विचिकित्सेत्यादि । विचिकित्सा
तु संशयः । प्रकृते । पूर्वोक्तमिति अत्र विरोधरूपमित्यर्थः । तत्तदाश्रमानन्तर्येति ।

किंच । अध्याहारश्च कर्तव्यः । स च कर्तव्यादिपदानाम् । यदि तत् स्वार्थं, व्यर्थमेव वाक्यं स्यात् । परार्थत्वे त्वशक्यं, न हि तैर्विचारः कर्तुं शक्यते । स्वकृतिवैयर्थ्यं च । असंगतिश्चास्य सूत्रस्य भवेत् ।

किंचाधिकारपक्षे पुरुषार्थः सिद्ध्यति, नानन्तर्यपक्षे उक्तन्यायात् ।

किंच, तादृशस्याधिकारिणः श्रवणमात्रेण कृतार्थस्य समाधिनिरतस्य प्रवचनसंभवाच्छास्त्रोच्छेदः शास्त्रविरोधश्च । साधनानामग्रे स्वयमेव वक्तव्यत्वात् । अतोऽनेकदोषदुष्टत्वादधिकारार्थ एव श्रेयान् ।

भाष्यप्रकाशः ।

संन्यासाङ्गमिति ज्ञायते । श्रुत्यन्तरे च 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः' इति वेदान्तार्थनिश्चयोत्तरं संन्यासस्योक्तत्वात् तदङ्गभूतवैराग्यस्य वेदान्तार्थनिश्चयोत्तरत्वमेवायाति । ततः पूर्वभावित्वं च विचारस्येति तत्तदभावे दृढवैराग्याभावात् संन्यासानुपपत्तिः । तथाचानन्तर्यपक्षे तन्निरूपकस्य वक्तुमशक्यत्वात् किमनन्तरमित्याकाङ्क्षायाः कथमपि न पूरणमित्यर्थः ।

द्वितीयं दूषणं विवृण्वन्ति किंचेत्यादि । तदिति विचारकरणम् । तथाच स्वयमेव मनसि विचार्यमिति स्वार्थत्वे शास्त्रानर्थक्यमित्यर्थः । अशक्यमिति अशक्योपदेशरूपम् । तथाच फलाऽभावाद् वैयर्थ्यमित्यर्थः । असंगतिरिति परैः कर्तव्यमिति प्रतिज्ञाया अग्रिमद्वितीयस्वयंकृतिविरुद्धत्वादसंगतिरित्यर्थः ।

तृतीयं विवृण्वन्ति किंचाधिकारेत्यादि । उक्तन्यायादिति तदसंभवापचरित्यनेनेोक्तक्यायात् । विचारव्यतिरेकेण ब्रह्मणः परमपुरुषार्थत्वज्ञानाद्यभावात् तदभावे चित्तशुद्ध्याद्यभावेन विचाराभावात् तथेत्यर्थः ।

चतुर्थं विवृण्वन्ति किंच, तादृशस्येत्यादि । तादृशस्येति साधनचतुष्टयसंपन्नस्य । साधनानामिति वैराग्यादिसाधनानाम् । अग्रे इति, तृतीयाध्याये । तथाचानन्तर्यनिरूपकतया पूर्वसिद्धानां पुनः कथनानर्हत्वात्, कथनेन च पूर्वं तदभावनिश्चयात् सिद्धत्वाङ्गीकारे व्याख्याय-शास्त्रविरोध इत्यर्थः । एतेन यन्माञ्चैर्जातिकृतं गुणकृतं च ब्रह्मविद्यायामधिकारत्रैविध्यमङ्गीकृत्य तदानन्तर्यमथशब्दार्थो, न त्वध्ययनमात्रानन्तर्यमिति साधनाध्यायानुसारेणाङ्गीक्रियते, तदपि रदिमः ।

'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवते गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्' इति आश्रमक्रमेण संन्यासः । गृहाद्वेति श्रुतौ तु अनियततत्तदाश्रमानन्तर्यकथनेनाश्रमा न संन्यासाङ्गानि अपि तु आश्रमानियमात् 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्' इति श्रुत्यन्तराच्च दृढवैराग्यमित्यर्थः । तदङ्गभूतेति । हेतुगर्भं विशेषणमिदं तेन संन्यासाङ्गभूतत्वादित्यर्थः । एवायातीति । यथा भुक्त्वा पयः पिब-तीत्यत्र पयःपानोपयोगिप्राप्तमपि भोजनोत्तरमेवायाति तद्वदित्यर्थः । तत्त इति वैराग्यादित्यर्थः । तत्तदभावे इति विचारवेदान्तविज्ञानाद्यभाव इत्यर्थः । द्वितीयमिति । अध्याहारश्चेति भाष्योक्तमित्यर्थः । अशक्येत्यादि । वैराग्याद्यनन्तरं साक्षात्काराभिनिष्पत्तये ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्येति तथाविधित्वं न स्यादिति भावः । तथा च सांख्यप्रवचनसूत्रं 'नाशक्योपदेशविधि-रुपदिष्टेऽनुपदेशः' इति । न च मात्र भूद्विधिरिति वाच्यम् । स्वाध्यायोध्येतव्य इत्यत्र भाट्टै-रङ्गीकारेण तवाप्यावश्यकत्वात् । तृतीयमिति । पुरुषार्थश्च सिद्ध्येदिति भाष्योक्तमित्यर्थः । न्यायादिति अन्योन्याश्रयादित्यर्थः । तमेवाहुर्विचारेत्यादि । चित्तशुद्ध्यादीति । आदि-

नच ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा नाधिकर्तुं शक्येति वाच्यम् । जिज्ञासापदस्य विचारार्थत्वात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

प्रत्युक्तम्, विचारब्रह्मविद्ययोरेक्याभावात् । अतो न तदुपन्यस्तश्रुतिस्मृतीनामपि विरोधः ।

एवमथशब्दार्थं निर्णाय जिज्ञासाशब्दार्थं निश्चेतुमधिकारार्थविरुद्धं मतान्तरीयं तदर्थमन्यद परिहरन्ति न चेत्यादि । ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासेति 'धातोः कर्मणः' इति धातुवाच्यस्यार्थस्येप्सित-त्वस्मरणाज्ज्ञानप्रधानेयमिच्छा प्रस्तोतुमशक्येत्यर्थः । विचारार्थत्वादिति जिज्ञासितं सुसंपन्नमपि ते महद्भुतम्' इति, 'जिज्ञासितमधीतं च यत्तद् ब्रह्म सनातनम्' इति, 'अजिज्ञासितमद्भर्मो गुरुं मुनि-क्षुपात्रजेत्' इति, 'जिज्ञासायां संप्रवृत्तो नाद्रियेन कर्मचोदनाम्' इत्यादिषु जिज्ञासितजिज्ञासापदयोरि-ष्टेच्छावाचकत्वे वाक्यार्थेऽनन्वयेन तत्र विचारार्थकत्वनिश्चयेन तथात्वात् । तथाचैवंविधस्यैवाक्य-रदिमः ।

पदेन वैराग्यशमदमादिः । चतुर्थमिति । उच्छेदश्च न भवेदिति भाष्योक्तमित्यर्थः । सिद्ध-त्वेत्यादि । आनन्तर्यनिरूपकत्वाङ्गीकारे साधनाध्यायविरोध इत्यर्थः । जातिकृतमित्यादि । ब्राह्मण्यादिजातित्रयकृतं सेवा(वैराग्या)दिगुणत्रयकृतं चेत्यर्थः । अधिकारश्चोक्तो भागवततन्त्रे ।

'मन्दमध्योत्तमत्वेन त्रिविधास्त्वधिकारिणः ।

तत्र मन्दा मनुष्येषु य उत्तमगुणा मताः ॥

मध्यमा ऋषिगन्धर्वा देवास्तत्रोत्तमा मताः ।

इति जातिकृतो भेदस्तथान्यो गुणपूर्वकः ॥

भक्तिमान्परमे विष्णौ यस्त्वध्ययनवाञ्छरः ।

अधमः शमादिसंयुक्तो मध्यमः स उदाहृतः ॥

आब्रह्मस्तम्यपर्यन्तमसारं चाप्यनित्यकम् ।

विज्ञाय जातवैराग्यो विष्णुपादैकसंश्रयः ॥

स उत्तमोऽधिकारी स्यात् संन्यस्ताखिलकर्मवान् ॥

इति स्मृतयो माध्वभाष्ये । ऐक्याभावादिति । हेतुहेतुमद्भावेन तथात्वादित्यर्थः । तदुपन्यस्तेति । 'शान्तो दान्त उपरतः' इति 'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान्' इति 'नास्त्यकृतः कृतेन' इति 'यमेव' इति 'यस्य देवे' इति श्रुतयः । स्मृतयस्तुक्ताः । विरोध इति । ब्रह्मविद्यापरत्वादिति भावः, भागवततन्त्रे विचाराभावात् । मतान्तरीयमिति । शंकराचार्यादि-मतीयजिज्ञासापदार्थमन्य इत्यर्थः । अथशब्द आनन्तर्यार्थः परिशुद्धते नाधिकारार्थः ब्रह्मजिज्ञा-साया अनधिकार्यत्वादिति । ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा इति च तद्भाष्यम् । अत्र भाष्याशयवर्षकः । जिज्ञासापदं ज्ञानेच्छां वक्ति विचारं लक्षयति वा । नाशः । अथशब्दस्मारमार्थत्वे ब्रह्मज्ञानेच्छाया अनारभ्यत्वात्सुप्राध्यायसंगतिः । प्रत्यधिकरणविचारकरणेनेच्छाकरणाभावादिति । नापरः । कर्त-व्यपदाध्याहारं विना अन्ययानुपपत्त्यभावेन विचारलक्षकत्वायोगात् । तदध्याहारे तु अथशब्द-वैयर्थ्यम् । तेनैवारम्भोक्तेरिति भाष्याशय इति एतदुभयमालोच्याहुः धातोः कर्मण इति । 'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा' इति सूत्रम् । 'इषिकर्मणः इषिकैककर्तृकाद्धातोः सन्प्रत्ययो वा स्यादिच्छायाम्' इति वृत्तिः । असंदेहाय पुष्कलवाक्यान्याहुः जिज्ञासितमित्यादि । वाक्यार्थ इत्यादि । नारदकृतव्यासाभिन्नन्दनरूपे भारतादिकरणरूपस्वाभाविकधर्मेषु विशेष-

अत एव जिज्ञासितुमिच्छेदिति पुराविदां वचनानि । जिज्ञासापदेन चैत-
ज्ज्ञानमप्यपि ब्रह्मज्ञानं पुरुषार्थसाधनत्वादिष्टम् । तदिच्छापुरणाय विचार आरभ्यत
इति । यस्मात् कर्मादिभ्यो ज्ञानमेव पुरुषार्थसाधनमित्यतस्तज्ज्ञानाय विचारोऽधि-
क्रियते इति

भाष्यप्रकाशः ।

ग्राह्यं रुढिमनादत्य वृथा यौगिकादरणमप्रयोजकमित्यर्थः । अत्र शाबरभाष्यसंमतिमाहुः अत
एवेत्यादि । ननु विचारे प्रारम्भणीये, अथातो ब्रह्मविचार इत्येव कृतो नोक्तमित्याशङ्क्यामाहुः
जिज्ञासापदेनेत्यादि । भृगुप्रपाठके, 'अधीहि भगवो ब्रह्म' इति श्रुतेर्ब्रह्मज्ञानेच्छयोपसम्भवात् भृगवे,
'यतो वा इमानि' इति ब्रह्मलक्षणकथनपूर्वकं तद्विजिज्ञासस्वेतिपदेन तदिच्छापुरणाय विचारोपदे-
शादिविषयि तथैव विचार आरभ्यत इति ज्ञापयतीत्यर्थः । नचात्र तपोऽनुपदेशाच्छ्रुतिविरोधः
शङ्क्यते । तपस इदानीमसाधनतायाः प्रागुपपादितत्वात् । नच विचारस्याश्रौतत्वं शङ्क्यम् । लक्षण-
वचनद्वययोगस्य प्रागुपपादितत्वात् । नच मन्तव्यादिप्रत्यक्षविधिभूलकत्वं परित्यज्य किमिति
ज्ञानमिच्छायाक्षिप्तमङ्गीक्रियत इति वाच्यम् । तथा सति तत्रात्मादिपदात् तावन्मात्रत्वेनैव विचार्य-
त्वापत्त्याऽग्निमहत्वाणां विरोधाद्यापत्तेः । तस्मादेतावदेवात्रार्थत्वेन ग्राह्यमित्येव युक्तम् । एवं जिज्ञा-
साशब्दार्थं निश्चित्य सिद्धान्तरीत्या सिद्धं वाक्यार्थं वदन्तोऽतःशब्दार्थमाहुः यस्मादित्यादि ।
अत्र ज्ञान, क्षमः सुभिक्षोऽयं देशोऽतोहमस्मिन् वसामीत्यादौ श्लोक्तस्य गम्यमानस्य वा वृत्तस्य
हेतुभवेत् अतःशब्दप्रयोगदर्शनात् प्रकृते च कर्मज्ञानं पूर्वं वृत्तमिति तस्य हेतुत्वमतःशब्दोऽत्रोपदि-
शतीत्यहुः । अन्ये तु बृहदारण्यकीयसप्तमब्राह्मणस्थायाम्, 'अथाऽतो व्रतमीमांसा' इत्यादिश्रुतौ,
'अथाऽतो गोभिलोक्तानामन्येषां चैव कर्मणाम् ।
अस्पष्टानां विधिं सम्यग् दर्शयिष्ये प्रदीपवद्' ॥ इति ।

गत्यननादिस्मृतौ चातःशब्दस्य पूर्वार्थो प्रयोगदर्शनादत्राप्यतःशब्देन पूर्वार्थेवोच्यते ।

रश्मिः ।

रूपेण त्वेवमादौ वाक्यार्थे इच्छेच्छाया अभिनन्दनाय साधकतयाऽनन्वयेनेत्यर्थः । यौगिकादरण-
मिति । ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा इत्यत्र आकृतेरजहलक्षणया फलभूतज्ञानलक्षकत्वम् । प्रत्ययस्य
इच्छायाविचारलक्षकत्वं कर्तव्यपदान्वयानुरोधादिति शांकराचार्यनमित्यर्थः । एवंविध आस-
वादात्तत्रापि प्रयोगो दृश्यते इत्याहुरत्र शाबरेति । तदिच्छापुरणायेति ब्रह्मज्ञानविष-
यिण्य इच्छायाः पूरणेत्यर्थः । शाब्दं चैतज्ज्ञानमिति वेदितव्यम् । लक्षणचदिति प्रातिशाख्यसूत्र-
वदिति । तथासति तत्रेति । 'आत्मा वा अरे' इत्युपक्रम्य श्रोतव्यमन्तव्यादिविधावित्यर्थः ।
अत्रिसूत्राणामिति ब्रह्मविचारकाणामग्निमसूत्राणां विरोधादनुपयोगापत्तेरित्यर्थः । एतावदेव
इति अत्रविचारमात्रमित्यर्थः । अत्र केचनेति रामानुजशंकराचार्यादय इत्यर्थः । अत्र इति
तादृशत्वादित्यर्थः । श्लोक्तस्येत्यादि । क्षेमदेशसंबन्धिनः सुभिक्षदेशसंबन्धिनश्च सुखिनो वयं जाता
भवितुं इत्यादिवत्सुभिक्षदेशस्येत्यर्थः । कर्मज्ञानमिति उपलक्षणं चैतत् । अथशब्दार्थस्तु साधन-
चतुष्टयपदः । पूर्वार्थवदिति । अथोपासनोक्त्यनन्तरं यतो जिज्ञासाया सच्चमत एषां पागा-
दीनां ध्ये कस्य कर्म व्रतत्वेन धारयितव्यमिति मीमांसा प्रवर्तत इत्यर्थात्तथात्वादित्यर्थः ।

अतःशब्दार्थः ।

भाष्यप्रकाशः ।

तथाच, अतः-अस्मात्कामादारभ्येत्यर्थमाहुः । अत्र पूर्वसिन् मते देशदृष्टान्ताद्धर्मज्ञानस्य न तेन
रूपेण हेतुत्वं, किंतु वृत्तत्वेन वाच्यम्, अतःज्ञानन्तर्यपक्षदूषणादेवापास्तम् । धर्मज्ञानत्वेन हेतुत्वं
तु प्रत्यक्षबाधितम् । द्वितीये तु, स्मृतौ कर्मणामस्पष्टत्वेन विशेषितत्वात् तदेवातःशब्देन गोचरी-
क्रियते, न तु पूर्वार्थधिरनुक्तसिद्धत्वात् । एवं श्रुतावपि पूर्वं, त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ता
इत्यनेन ब्राह्मणां ब्राह्मणः प्राणानां सामर्थ्योपादानदूषणसत्केन कस्य कर्म व्रतत्वेन धार्यमित्यपेक्षायां यस्य
व्रतमुत्कृष्टं तन्निश्चयनार्थं व्रतमीमांसायाः स्थानितत्वेन तदुत्कर्षज्ञापनमेव हेतुत्वेनाभिप्रेयते, न तु
पूर्वार्थधिरिति बोध्यम् । तेन मतद्वयमायुक्तमितिज्ञापनायोक्तमिति । अतःशब्दार्थ इति तथाच

रश्मिः ।

अस्मादिति कर्मज्ञानाधिकारादित्यर्थः । धर्मज्ञानस्येति । यद्यपि कर्मज्ञानमुक्तं पूर्वं 'देवो वः सविता
प्रापयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे' इति यजुःसंहिताश्रुतेः, तथापि 'धर्मं चर' इति शिक्षाश्रुतेः धर्मज्ञानं
पूर्वमित्याशयेनोक्तमत एव 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इत्युक्तम् । 'कर्मैके तत्र दर्शनात्' इति सूत्रं त्वमे ।
न तेन रूपेणेति दृष्टान्ते देशत्वरूपेण हेतुत्वाभावादत्रापि न कर्मज्ञानत्वरूपेण हेतुत्वं किंतु क्षेम-
त्वेन सुभिक्षत्वेन च तद्दृष्ट्यापि पूर्ववृत्तत्वेन वाच्यमित्यर्थः । आनन्तर्यपक्षदूषणादेवेति ।
अथातः साङ्गशिरसो वेदस्याधिगतात्वात्स्थिरफलके फलकर्मज्ञानतया संज्ञता मोक्षाभिलाषस्थानल्पस्थिर-
फलब्रह्मजिज्ञासास्यनन्तरभाविनीति तथात्वमित्यर्थः । तथा यदुक्तं 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्य-
याजिनः सुकृतं भवति' इति धर्मशास्त्रे प्रत्यफलमवगच्छतो विवेकाद्यसंभवादानन्तर्यसंभावनां
भूते अतःशब्द इति । तथा चोक्तश्रुतिः 'यथैह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवायमुत्र पुण्यजितो
लोकः क्षीयते' इति श्रुतिबोधितेति । अतो विवेकादिसंभवादित्यर्थः । तस्यापि तथात्वादिति प्रत्य-
क्षबाधितमिति । धर्मजिज्ञासाया आत्मपि अधीतवेदस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेस्त्येत्यर्थः ।
कर्मत्वं तु क्रियासाधारणधर्मत्वं च चोदनालक्ष्योपे इति विभेदः । सूचीकयहन्यायेनाहुः द्विती-
ये तु । स्मृताविति । तदेवेति अस्पष्टत्वमित्यर्थः । अन्यथा विशेषणवैयर्थ्यापत्तिरिति भावः । ते
एत इति वाङ्मनःप्राणा इत्यर्थः । कर्म व्रतत्वेनेति व्यापारो व्रतत्वेनेति निश्चयविषयत्वेनेत्यर्थः ।
इत्यपेक्षायामिति । एतदत्रे यस्य व्रतमुत्कृष्टं तन्निश्चयनार्थमित्यपि दृश्यते । तदुत्कर्षेति यस्य
व्रतमुत्कृष्टं तदुत्कर्षज्ञापनमित्यर्थः । तथा अत इत्यस्योत्कर्षज्ञापकत्वादित्यर्थः । उत्कृष्टश्च प्राणः
'यतश्चोदेति सूर्यः अस्तं यत्र च गच्छति' इति, 'प्राणाद्वा एष उदेति प्राणैस्तमेति' इति श्रुतेः । भाष्ये
ज्ञानमेवेति । सर्वात्मभावार्थः सधैर्यं धिगाहभावहेतुकमज्ञानुभवादिकार्यकः प्रियत्वानुभव
इत्यर्थः । अयमेव स्नेहः । एतच्च 'अनुकथादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद् दृष्टश्च तदुक्तम्' इति सूत्र-
विचारे साधनाध्याये स्पष्टयितव्यम् । अत्रिन्द्रियान् इति । अधिकार उत्तरत्रानुवृत्तिः । अत एव
'उक्तमिष्यत' इति सूत्रगम्यालङ्कितानुवृत्त इति । ननु तथाप्येवं सति भाष्ये एवं स्फुटमुक्तं
स्यात्, मैवम् । जिज्ञासापदज्ञापितस्य अन्वयसाधनयोगोचरस्य ज्ञानस्यैतादृशस्योहेत्वात् । 'पुरु-
षार्थोतःशब्दात् इति पादरायणः' इति एतत् । अतः सर्वात्मभावात् । नच प्राणो वै बलमिति
चेदत्र प्रवीमि । स्मृतित्वानधीकारात्, न च श्रुतेर्विरोधस्तदङ्गत्वात् । न च प्रमाणाभावः 'मत्तया

भाष्यप्रकाशः ।

धर्मो यशःप्रदः सुखदश्चातः करोमीत्यादाविष्टेऽप्यतःपदप्रयोगदर्शनादयमेवाधो न त्वन्यविध इत्यर्थः । नन्वस्य प्रथमद्वयत्वादन्यत्र प्रेक्षावत्प्रवृत्तिसिद्धयर्थमधिकारिविषयसंबन्धप्रयोजनानि रश्मिः ।

संज्ञानया भक्त्या' इति वाक्यानुभवात् । न च प्रमाणाभावः 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' इति श्रुतित्वात् । बलं भक्तिरिति भाष्यम् । न च प्राणो वै बलमिति शङ्क्यम्, अप्रकरणित्वात् । न च ज्ञानं तत्, 'ब्रह्मविदाप्नोति' इति श्रुतेः । मैवम् । 'भक्तिरहस्यभजनं तदिहामुत्र फलभोग-नैराशयेनामुष्मिन्मनःकल्पनम्' इति उद्देश्यविधेयभावात् । ज्ञानत्वेन सर्वात्मभावमुद्दिश्य ज्ञानंतु गीतायां विहितमिति । किं च 'भक्त्याहमेकया ब्रह्मः' इति स्मृतिर्वेदविरोधाभावात्स्वमूलं श्रुतिं ज्ञापयिष्यति । ननु 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' 'तमेव विदित्वा' इत्यादिप्रत्यक्षश्रुतिविरोधात् न ज्ञापयिष्यति । एतद्भक्तौ निवेशयिष्यामहे, रसत्वानु तस्याः । वैपरीत्यमिति चेन्नैति ब्रवीमि, अरसत्वात्तस्य । ऐक्यमिति चेन्नैति ब्रवीमि, 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इति भेदात् । आनन्दादुच्यते, नैष दोषः । 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' इत्यैक्यं श्रूयते । अपि च 'तस्य प्रियमेव शिरः' इति श्रूयते । एवं तर्ह्युपासेत्युच्यते । नेति ब्रवीमि 'सर्वेषां मनुपासनम्' इति प्रकृत्यं 'भक्तिं विन्दते' इति अरसत्वाच्चेति । तदानीं वैपरीत्यं प्रवर्त्यामहे । अरसत्वात्तस्या नेति ब्रवीमि । प्रज्ञेति चेन्न, स्मरणात्मकत्वेन तन्निवर्त्यत्वात् । अद्वेति चेन्न, साधारण्यात् । शाण्डिल्यसूत्रार्थस्तत्र स्पष्टः । अतो भक्तिरेव साधनमिति प्रतिज्ञायते यत्सुसंश्लिष्टम् । द्वेषादीनामप्येतर्हि तत्संश्लिष्टानां तदिति च । तत्संश्लिष्टानां मनःकल्पनरूपभक्तिसंश्लिष्टानाम् । प्रमेयबलं चैतत् । आनन्द्याधिपत्यात् 'यस्य देवे परा भक्तिः' इति साक्षाच्छ्रुतिं चोत्पश्यामः । न च 'योगाख्यः' इति भाष्यविसंवादः । अहीनन्याये एतदुक्तं बहुकर्तृके सत्रे यजमानेषु यः कोऽपि शुक्रग्रहं स्पृशतु विशेषस्यावधारयितुमशक्यत्वादिति । न चात्र द्वादशचतुर्थपादीयाहीनन्यायेनाचार्य-प्रवृत्तिमिति संभावयामः । स्मृतेर्निर्णयित इति 'प्रेम्णोऽन्यत्साधनं लोके नास्ति' इति सर्वनिर्णयः । गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्यय इति न्यायेन वाक्ये भक्तिर्मुख्या गृह्यते । ज्ञानं वा मुख्यं चतुःश्लोकीप्रोक्तं गृह्यते, भगवानेवाग्रे मध्ये पश्चात्तेत्याकारकं, तयोरपि भार्गव्यात् । सर्वात्मभावो मुख्यभक्तिः । भजनानन्दः फलम् । श्रवणादिभक्तिमार्गो ज्ञानमार्गश्च तदपेक्षया गौणः । विशेषस्मृतिहेतुभिः संयोगविप्रयोगसाहचर्यादिभिः काव्यप्रकाशोक्तैर्वाच्योर्थः । तत्त्वज्ञानं तु भक्तिफलं, 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' इति वाक्योक्तम् । एवं सति दृष्टानुवादः सुष्ठु संगच्छते इत्यलम् । अथवा दृष्ट एव स्नेह इत्युपपत्तेर्ज्ञानमेव भक्तिसाधकम् । अतस्तज्ज्ञानाय इत्यर्थः । तत्र शान्दं माहात्म्यविषयकमैक्यविषयकं च ज्ञानमिति ज्ञेयम् । व्यापारीमृतभक्तिसाधकमित्यर्थः । यद्वा कर्मादिभ्य इति वेदपञ्चरात्रसांख्ययोगप्राशुपतमत्तरूपञ्च-शास्त्रोक्तैः कर्मादिभ्यः । ज्ञानं त्रिविधम् । तथाहि । 'यत्र नान्यत्प्रयति नान्यच्छ्रुणोति नान्यद्वि-जानाति स भूमा' इति श्रुत्युक्तं सर्वात्मभावरूपम् । 'भक्त्या जानाति चाख्यम्' इति श्रुत्युक्तम्, 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति श्रुत्युक्तं च । 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्यत्र भक्तेर्व्यापारत्वं ज्ञानस्य व्यापारित्वमत एवकारः । प्रकृते । प्रेक्षावदिति सूत्रमदृष्टिमत्प्रवृत्तिसिद्धयर्थमित्यर्थः ।

१. भावना । २. दृष्टस्य सर्वनिर्णयवाक्यस्यानुवादः । ३. इत उपलभ्यते रश्मिकारणां हस्ताक्षर लिखितो ग्रन्थः । ४. पण्डित ।

अधिकारी तु त्रैवर्णिक एव । न हि वेदविचारस्य वेदाधिकार्यतिरिक्तः शक्यते कल्पयितुम् । न हि मन्दमनेर्वेदो नायातीति त्रैवर्णिके मतिमत्त्वमधि-कारिविशेषणं कल्प्यते । अन्धपङ्कवादीनामिव कर्मणि, गृहाद्यासक्तस्य मननाथ-संभवात् साक्षात्कारो न भविष्यति ।

न च धर्मन्यायेन गतार्थत्वमस्य । अप्रतिज्ञानादनुपलब्धेऽप्यत्र । न च जगत्कारणं परमात्मा वा प्रकृतिर्वा परमाणवो वेति संदेहे किंचिदधिकरणमस्ति ।

भाष्यप्रकाशः ।

वाच्यानि । तत्रानन्तर्यपक्षे विचारितधर्मो वा शमादिमान् वाधिकारी प्राप्यते । अधिकारपक्षे तु तदप्राप्त्या शास्त्रस्थानर्थक्यप्रसङ्गः, सर्वाधिकारकत्वं वा स्यादित्याशङ्कयामाहुः अधिकारी त्वित्यादि । तथाच ब्रह्मणो वेदार्थत्वात् तद्विचारेऽधिकृते ब्रह्मजिज्ञासापदादेव तत्प्राप्तेन पूर्वाक्तो दोष इत्यर्थः । नन्वेवं त्रैवर्णिकाधिकारोपगमे तेषां सर्वेषामधिकारप्राप्त्या, शान्तो दान्त इति श्रुति-विरोधात् तत्संकोच आवश्यक इति शमाद्यानन्तर्यपक्ष एव श्रेयानित्यत आहुः नहि मन्वेत्यादि । तथाच तत्र यथा मतिमत्त्वस्यार्थात् प्राप्तिस्थथात्राप्युपयुक्तस्य विशेषणस्य प्राप्तिरिति संकोचस्यानाव-श्यकत्वादधिकारो न दुष्यतीत्यर्थः । ननु यद्येवं स्याच्छ्रुतिः किमिति वदेदित्याकाङ्क्षयामाहुः अन्धेत्यादि । तथाच तेषां यथाज्यावेक्षणविष्णुक्रमक्रमणादिकरणाशक्त्या तत्कृतकर्मणो व्यङ्गत्वात् फलाजनकत्वं, तथैतदीयशाब्दज्ञानस्यापि व्यङ्गत्वात् साक्षात्काराजनकत्वमिति बोधयितुं फलोपका-राय वदति, आत्मन्येवात्मानं पश्येदिति । अतो विचारे स्वरूपोपकारार्थं शमाद्यनङ्गीकारेऽपि न श्रुतिविरोध इत्यर्थः । ननु यदि त्रैवर्णिकाधिकारोपगमादध्ययनानन्तर्यसिद्ध्या तदर्थं वेदार्थभूतब्रह्म-विचारः प्रतिज्ञात इत्यायाति तदा शास्त्रवैयर्थ्यापत्तिः । धर्मजिज्ञासेत्यत्र धर्मशब्दस्य वेदार्थमात्रो-पलक्षकतया पूर्वतन्त्रन्यायेनैव वेदार्थज्ञानसिद्धेरित्यत आहुः नचेत्यादि । धर्मन्यायेनेति पूर्वमीमांसया । अप्रतिज्ञानादिति जैमिनिना ब्रह्मविचारस्याप्रतिज्ञानात् । अनुपलब्धेरित्यस्यैव विवरणम्, न च जगदित्यादि ।

रश्मिः ।

प्राप्यत इति यथायथं रामानुजशंकराचार्यगते प्राप्यत इत्यर्थः । तत्प्राप्तेरिति त्रैवर्णिकाधिकार-प्राप्तेर्गतीक्तजिज्ञासुप्राप्तेऽर्थः । अधिकारो नाम ब्रह्मानन्दज्ञातृत्वम् । 'मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपहृताः' इति श्रोतुर्विशेषणान्मतिमत्त्वम् । 'शान्तो दान्तः' इति श्रुत्युक्तमित्यादि-शब्दः तृतीयाध्याये विचारयिष्यते । तत्संकोच इति त्रैवर्णिकानामधिकारविशेषसंकोच इत्यर्थः । तथा च तत्रैति पूर्वतत्र इत्यर्थः । अर्थादिति ज्ञानिनो विधेयत्वेन भक्तस्य स्वतःसिद्धत्वेन शमादय इति तत्रैवोक्तम् । एवं चाक्षेपादित्यर्थः । एवं स्यादिति अनावश्यकत्वं स्यादित्यर्थः । तेषां यथाज्येत्यादि । इदं पूर्वतत्रे पठे 'फलार्थत्वात् कर्मणः शास्त्रं सर्वाधिकारं स्यात्' इत्यधिकरणे चिन्तितम् । व्यङ्गत्वादिति भावनाद्यसंभवाद्ब्रह्मत्वाद् 'अनियमः सर्वासाम्' इत्यधिकरणे महन्माहात्म्यवत्सां भक्तेरन्वङ्गं साधनत्वोक्तेः साक्षात्कारो न भविष्यतीत्यर्थः । न श्रुतिविरोध इत्यर्थ इति दर्शनविधिशेषत्वात्तस्या इत्यर्थः । तथा च शमादिसङ्कृतमन-नादित्वेनात्मसाक्षात्कारत्वेन कार्यकारणभावः । विचारत्वेन शान्दत्वेन च कार्यकारणभाव इति भावः । ननु मुख्यफलाभावे व्यर्थो विचार इत्याशङ्का तु अग्रे फलकामनाया अनुपयोगादिति भाष्य-

स्यादेतत् । अथातो धर्मजिज्ञासेति धर्मविचारं प्रतिज्ञाय नोदकवाक्यार्थस्य धर्मत्वशुक्त्वा प्रामाण्यपुरःसरं सर्वे संदेहा निवारिताः । तत्र ब्रह्मज्ञानस्यापि धर्मत्वम् 'आत्मेत्येवोपासीत' 'आत्मानं श्लोकमुपासीत' 'तद् ब्रह्मेत्युपासीत' 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादिनोदनावाक्यार्थत्वात् । 'अयं हि परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्' इति स्मृतेश्च । सृष्ट्यादिवाक्यानां स्वर्थत्वात्त्वम् । आरोपाप-

भाष्यप्रकाशः ।

एवमानन्तर्यपक्षे निरस्ते पूर्वमीमांसकोऽस्यास्त्रैवर्णिकाधिकारकत्वं सर्ववेदार्थज्ञानार्थत्वं च श्रुत्वा प्रत्यवतिष्ठते स्यादेतदित्यादि । यदि त्रैवर्णिक एवाधीतवेदोऽधिकारी, यदि च सर्ववेदार्थ एव ज्ञातुमिष्टस्तदा इत्यप्राणमेवाङ्गीकार्यमित्यर्थः । प्रामाण्यपुरःसरमिति औत्पत्तिकपक्षे शब्दस्यान्यानपेक्षप्रामाण्यव्यवस्थापनपूर्वकम् । सर्व इति शब्दस्वरूपविषयकास्तदर्थविषयकाश्च । ननुक्तं, जगत्कारणविचारो न कृत इति तन्निश्चयनार्थत्वात् गतार्थत्वमिति तत्राह सृष्ट्यादीत्यादि । तथाच पूर्वमीमांसकानां मते प्रवाहनित्यतोपगमेन जगतः स्वातन्त्र्यात् कर्तुरभावेनोपासना-

रश्मिः ।

विवरणे स्वयमेवापाकरिष्यते । गतार्थत्वं निविध्य बोधायनवृत्त्या परस्परानुपयोगं निषेधतीत्याशयेन भाष्यमवतारयामासुरेवमिति । निरस्त इति धर्मन्यायेन गतार्थत्वे निरस्ते इत्यर्थः । मीमांसक आधुनिको ज्ञेयः । सर्ववेदेति जिज्ञासासूत्रे ब्रह्मशब्दादिति भावः । प्रत्यवतिष्ठत इति ब्रह्मजिज्ञासेत्यत्र वेदवाचकब्रह्मशब्दप्रयोगात् प्रत्यवतिष्ठते । तदुक्तं बोधायनवृत्तौ 'संहतमेतच्छब्दं जैमिनीयेन षोडशलक्षणेन' इति । अत्रार्थविचारेण ब्रह्मशब्दो वेदान्तपरो नतु वेदपर इति फलिष्यति । अतो वेदान्तानां विचार आरम्भणीयो न वा इति भाष्यस्य दुर्बोधत्वं न । वेदान्तशब्दं विहाय ब्रह्मशब्दस्तु सर्ववेदसूचकः । तेन 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्वत्' इत्यादौ नाप्रतिज्ञातार्थत्वम् । 'समवप्रविभ्यः स्वः' इति सूत्रेणात्मनेपदम् । यदि च असंहतेभ्य एव परस्य स्व आत्मनेपदं तदा तु 'प्रकाशनस्येयाख्ययोश्च' इत्यनेनात्मनेपदम् । आशयं प्रकाशयतीत्यर्थः । पूर्वपक्षिणा पूर्वमाक्षिप्तमीमांसाद्वयस्य परस्परमङ्गीकारभावं सिद्धान्ते प्रकाशयितुं 'संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः' इत्यत्र स्येयाख्ये, कर्णादीन् निर्णेतृत्वेनाश्रयतीत्यर्थात् । औपत्तिकस्तुत्र इति । 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन संबन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकस्यार्थेऽनुपलब्धेस्तत्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्' इति सूत्रे शब्दस्यार्थेन समं संबन्धः औत्पत्तिको नित्यः । तस्य प्रत्यक्षादिभिरनवगतस्याभिहोत्रादिलक्षणस्य धर्मस्य निमित्तम् । कथं उपदेशो हि भवति, विशिष्टस्य शब्दस्योच्चारणमुपदेशः । अव्यतिरेको ज्ञानस्य । नहि तदुत्पन्नं ज्ञानं विपर्येति यच्च नाम ज्ञानं न विपर्येति न तच्छक्यते वक्तुम् । नैतदेवमिति तस्मात्तत्रमाणपेक्षत्वात् नद्येवं सति प्रत्ययान्तरमपेक्षितस्य पुरुषान्तरं वा स्वयं प्रत्ययो ह्यसौ शुक्तिका रजतबलकांशते यतस्तेन हि प्रत्यक्षं व्यभिचरति तन्मूलत्वाच्चानुमानादीन्यपि । तत्रापरीक्ष्य प्रवर्तमानोऽर्थाद्दिह्येत । अनर्थं च प्राप्नुयात् कदाचित्तदेवं बल्यलक्षं तत्र व्यभिचरति यद्यभ्यभिचरति तत्र प्रत्यक्षमिति । बादरायणग्रहणं बादरायणस्येदं मतं कीर्त्यते । बादरायणं पूजयितुं नात्मीयं मतं पर्युदसितुमित्यर्थाच्छब्दस्यान्यानपेक्षेत्यादि । शब्दस्वरूपविषयका इति । 'कर्मैके तत्र दर्शनात्' इत्यधिकरणे शब्दस्य नित्यताव्यवस्थापनाच्चेत्यर्थः । तत्र शब्दे प्रयत्नानन्तर्यदर्शनात्कर्म क्रिया तस्मात्प्रत्य इत्यर्थः । अनित्यतेति यावत् । इत्येके वदन्तीति सूत्रार्थः । तदर्थविषयका इति । आकृत्यधिकरणे आकृतिवाचकत्वव्यव-

वादविषयधर्मप्रतिपादकत्वेन विधेयोपासनाविषयस्तावकत्वात् ।

नच ज्ञानादीनामविधेयत्वं प्रमाणवस्तुपरतत्त्वेनाकृतिसाध्यत्वाविति वाच्यम् । न हि सर्वात्मना असाध्यम् । प्रकारमेवस्त्वप्रयोजकः । सर्वस्यापि कारणेषु पुरुषव्यापृतिः । तदत्र वृत्तिसंपादने प्रमाणासंपादने वा पुरुषकृतिसाध्यत्वम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

विषयस्यात्मनः प्रसंसार्थं कश्चित् कर्तृत्वमारोप्यते, अन्यत्र च तदपौघते । कश्चित् सर्वकामत्वादिकं प्रतिपाद्यते, अन्यत्रापौघते । यदि तद्वास्तवं स्यात्प्रोद्येतेति तर्कणारोपापवादविषयो यः कर्तृत्वादिधर्मस्तत्प्रतिपादकत्वेन तेषां विधेयत्वावकत्वनिश्चयात् । सिद्धेऽर्थवादत्वे तेषां स्वार्थे तात्पर्याभावेन ब्रह्मणि विरुद्धधर्माधारत्वादिकल्पनस्याप्रयोजकत्वात् । तदर्थत्वेऽपि गतार्थत्वमित्यर्थः । ननुपासनावाक्यशेषाणामस्त्वर्थवादत्वं, न तु ज्ञानवाक्यशेषाणामपि । ज्ञानस्य प्रमाणवस्तुभ्यां जायमानत्वेन तदर्थं कृत्यपेक्षामावेन तस्य विध्यर्थत्वाभावात्, कृतिसाध्यत्वस्यैव विध्यर्थत्वात् । नच तस्यविरोधः आवश्यकार्थेऽपि जायमानत्वात् । अतस्तच्छेषाणां स्तावकत्वाभावेन तद्विचारस्यावश्यकत्वाभावात् गतार्थत्वमिति । शमाधानान्तर्यवादिनः शङ्कायामाह नचेत्यादि । आदिपदेनेच्छाप्रयत्नौ । तेन 'तदन्वेष्टव्यम्', 'तद्विजिज्ञासितव्यम्', 'मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यादीनां संग्रहः । तद् दूषयति नहीत्यादि । सभिकर्मादिजनककृत्यपेक्षायास्तत्रापि सत्त्वात् तथेत्यर्थः । ननु तथापि कर्मवत् साक्षात्कृतिसाध्यत्वाभावात् कथं ज्ञानादीनां विधेयत्वमित्यत आह प्रकारेत्यादि । ज्ञानादेरविधेयत्वसाधनार्थैव प्रकारभेदो यः कल्प्यते सत्वविधेयताप्रयोजको न भवति । यतो धर्मस्यापूर्वात्मकत्वेन तस्य सर्वस्यापि कारणीभूते क्रियाकलाप एव यन्नात्मा पुरुषव्यापारो दृश्यते, न तु साक्षात् । तत्तस्मादत्र ज्ञानादौ वृत्तिसंपादने बुद्धिजन्यायाः पदार्थान्तररूपाया बुद्धयवस्थाविशेष-

रश्मिः ।

स्थापनात्तथेत्यर्थः । अयं हीति निश्चयेन । परो मीयते ज्ञायते येन तादृशो धर्मः स कः ययोगः स च कर्मसु कौशलं ब्रह्मसेवारूपं भगवता स्वैश्वर्यस्य निर्विषयत्वपरिजिहीर्षया जीवाय दत्तं तेनात्मदर्शने ब्रह्मबोधनमिति योजना, इदमवान्तरफलं मुख्यमन्यदिति, सिद्धान्तमुक्तावल्यां स्फुटम् । कश्चिदिति 'यतो वा इमानि' इत्यादावित्यर्थः । आरोप्यत इति अध्यस्त इत्यर्थः । अन्यत्रेति निष्कलं निष्क्रियमित्यादावित्यर्थः । कश्चिदिति सर्वकाम इत्यादावित्यर्थः । अन्यत्रेति अकाम इत्यादावित्यर्थः । विधेयस्तावकत्वेत्यादि विधेया उपोपासना तद्विषयीमृतात्मस्तावकत्वनिश्चयादित्यर्थः । ननु न प्रतीतं निषेधमत आह तदर्थत्वेऽपीति । विरुद्धधर्माधारत्वात्त्वेऽपि, अर्थवादत्वेन गतार्थत्वमित्यर्थः । ज्ञानवाक्यशेषाणामिति । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्याद्युक्तानां ज्ञानानां वाक्यशेषा 'मैत्रेय्यात्मनो वा दर्शनेन श्रवणेन मया विज्ञानेन इदं सर्वं विदितम्' इत्याद्यास्तेषामित्यर्थः । प्रमाणवस्तुभ्यामिति इन्द्रियविषयान्यामित्यर्थः । शङ्कायामाहेति शङ्कायां प्राप्तायां न चेत्यादिनिषेधमाहेत्यर्थः । तथेति सर्वात्मना असाध्यत्वाभावनिश्चय इत्यर्थः । तदित्यव्ययमित्याशयेनाहुः तत्तस्मादिति । वृत्तिसंपादनेति पूर्वोक्तमाप्यं व्याकुर्वन्ति बुद्धिजन्याया इति । पदार्थान्तरेत्यादि । व्याख्यातमेतत् । सांख्यैराहंकारिके तत्त्वान्तरूपत्वमङ्गीक्रियते इति पदार्थान्तररूपायाः । तृतीयसुबोधिन्यनुसारेणाहुः बुध्यवस्येति ।

अन्यथा सिद्धान्तेऽपि मननादिशास्त्रवैफल्यापत्तेः । साधनप्रतिपादकश्रुति-
विरोधश्च । येनापि सर्वक्रियाफलत्वं निराकार्यं तेनापि गुरूपसत्त्यादिना यतित-
व्यमेव ज्ञानार्थं । तस्माद् यत्रापि विध्यश्रवणं, तत्रापि विधिं परिकल्प्य तत्रत्यानां
तच्छेषत्वं कल्पयामिति, नार्थोऽनया भीमांसया । अन्यथा विरोधोऽपि ।

स्यादेतत् । ब्रह्मविचार एवारम्भणीयो, न धर्मविचारः । सर्ववेदव्यासकर्त्रा
वेदव्यासेनाकृतत्वात् तुच्छफलत्वाच्च । कल्पोक्तप्रकारेण निःसन्दिग्धं करण-

भाष्यप्रकाशः ।

रूपाया वा तस्या उत्पादने प्रमाणसंपादने वा, 'आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्' इति, 'अतो निर्विषयं
नित्यं मनः कार्यं सुसुक्ष्णम्' इत्यादिश्रुतेस्तादृशचक्षुरादिसंपादने वा तथात्वमिति, न ज्ञानादेरविधेय-
त्वमिति तद्योऽपि विधवेवेत्यर्थः । अविधेयत्वोपगमे दूषणमप्याह अन्यथेत्यादि । साधनप्रति-
पादकश्रुतयस्तु, 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व,' 'वसाऽपराणि पञ्च वर्षाणि,' 'शान्तो दान्तः' इत्याद्याः ।
तत्रत्यानामिति वाक्यानां ब्रह्मादिपदानां चेत्यर्थः । अन्यथेत्यादि विध्यकल्पने ऐक्यार्था-
भावेन वाक्यभेदापचायैकशास्त्रविरोधः । अपिशब्दात् कर्मप्रतिपादनतन्निन्दनकृतो विरोधो
वेदोऽखिलो धर्ममूलमित्यादिस्मृतिविरोधश्च संगृह्यते । अत्रैकदेशी वितण्डया प्रत्याह स्यादेतद्ब्रह्मे-
त्यादि । सर्ववेदेत्यादि । तथाच जैमिनिस्तच्छिष्यः सामगो, न सर्वज्ञ इति तदुक्तं न प्रमाण-

रश्मिः ।

तस्या इति वृत्तेर्नयनान्तरभूतायाः । नैयायिकास्तु नयनकिरणानां निर्गतेन न विषयसंनिकर्षाज्ज्ञानं
तेन यावता संस्काराख्यं गुणान्तरं चरमस्मृतिनारयमात्मन्यङ्गीकुर्वन्तो वृत्तिपदार्थमेव नेच्छन्ति ।
प्रमाणसंपादनेति भाष्यमिदं अग्रे व्याख्यातम् । तथात्वमिति परंपरया कृत्यसाध्यत्वम् ।
भाष्ये अन्यथेत्यादि परंपरयापि कृतिसाध्यत्वाभावे । द्रष्टव्य इति उपक्रम्य पठितस्य युक्तिभिरनु-
चिन्तनरूपमननादिशास्त्रस्य वैफल्यापत्तेरित्यर्थः । श्रवणेनैव दर्शनाङ्गीकाराद्विरोध इति प्रोक्तम् ।
स्वयमर्थवादत्वस्य विधिवान्यातिरिक्तेऽङ्गीकारादपिपदम् । येनापि सर्वक्रियाफलत्वमिति ।
शब्दमात्रेण साक्षात्कारमङ्गीकुर्वतापि वैयाकरणेनापीति वा सर्वविधियापारसाध्यत्वमित्यर्थः ।
यनितश्चमिति तथा चानिच्छतापि अनुभवबलात्परंपरया कृतिसाध्यत्वं स्वीकार्यमिति भावः ।
अन्यथासिद्धत्वं तु नैयायिकमते न तु भीमांसकमते 'इमामगृह्यत्रशनामृतस्येत्वाभिधानीमादत्ते' ।
यत्रापीति । 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वन्त ब्राह्मणः' इत्यत्र विधिश्रवणेपि यत्र मैत्रेयीब्राह्मणे
'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादौ तत्रापि तव्यादि विधावङ्गीकृत्य 'न वा अरे पर्युः कामाय पतिः
प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति' इत्यादीनामर्थवादत्वम् । आत्मा यत्र प्रियः
किमुत वाच्यमात्मनोऽपि आत्मा प्रिय इति प्रियत्वाच्छीप्रफलदाता स श्रोतव्य इत्येवं तत्रत्यानां
तच्छेषत्वं विधिशेषत्वं कल्पयामित्यर्थः । प्रकृते, ऐकार्थ्याभावेनेति । उभयोर्भीमांसयोरित्यर्थः ।
तथा चायं भीमांसकत्वोक्तिं न संगच्छतीत्यर्थः । संहतमेतच्छारीरकं जैमिनीयेन षोडशलक्षणेनेति
बोधायनसूत्रात् । तन्निन्दनेति कर्मविच्छेदकस्य निन्दनं दुर्ग्राहणत्वादिरूपं तत्कृत इत्यर्थः ।
अत्र तत्सदं कर्मपरामर्शविच्छेदकं लक्षयति । अत्र चितण्डयेति वादभेदेन स्वपक्षदोषमनुद्धृत्य
परपक्षदोषदानरूपेण प्रतिकूलभाहेत्यर्थः । सामग इति 'सामगो जैमिनिः कविः' इति वाक्यादि-

संभवाच्च । आचारपरंपरयापि करणसम्भवाच्च । एतर्ह्यपि संदेहे सूत्रभाष्यया-
ज्ञिकानामेवानुवृत्तिः क्रियते, न भीमांसकस्य । तस्मात् साङ्गवेदाध्येतुर्निःसंदेह-
करणसंभवाच्च पूर्वयाऽपि कृत्यम् ।

किंच परमकूपालुर्वेदः संसारिणः संसारान्मोचयितुं कर्माणि चित्तशुद्ध्यर्थं
बोधितवानिति कूपेऽन्धपातनवदप्रामाणिकत्वभियावसीयते । विपरीतबोधिका
तु पूर्वभीमांसा तस्मादपि न कर्तव्येति ।

मैवम् । किं विचारमात्रं न कर्तव्यं, पूर्वकाण्डविचारो वा । नायः । तुल्यत्वात्
समर्थितत्वाच्च ।

द्वितीये सामान्यन्यायेन संदेहे निवार्ये लक्षणवत्तदुपयोगः । अनिष्टतया
निरूपणं न भीमांसादोषः । किंतु विचारकाणां स्वभावभेदात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

मित्यर्थः । उपासनायामनुपयोगमाह आचारेत्यादि । सूत्रभाष्येति कल्पसूत्रभाष्येत्यर्थः ।
पूर्वयापीत्यत्रापिशब्दः पूर्वपक्षिगर्हार्थः । शेषमतिरोहितार्थम् ।

एवं केवलवैदिकरीत्या विचारे आक्षिप्ते पूर्ववादी समाधत्ते मैवमित्यादि । पूर्वयापि
न कृत्यमिति न वक्तव्यम् । कुत इत्याकाङ्क्षायामपिशब्दस्य समुच्चायकत्वं मन्वानः पक्षद्वयं विकल्प्य
प्रथममुभयनिपेधाभावे हेतु आह तुल्यत्वादिति । 'यत्रोभयोः समो दोषः' इति न्यायेन परिहार-
साम्यात् तवापीष्टसिद्धेरभावेन दूषणसाम्याद्वा, अप्रतिज्ञानादित्यादिभिस्त्वया समर्थितत्वाच्चेत्यर्थः ।
सामान्यन्यायेन संदेह इति 'अक्ताः शर्करा उपदधाति,' 'निर्मन्ध्येनेष्टकाः पचन्ति' इत्यादौ
घृततैलवसानां चिरनिर्मथिताऽचिरनिर्मथितप्रभृतीनां चाञ्जनपाककरणयोग्यतादेः सामान्येन
जाते संदेहे । ननु तुच्छफलत्वानुपयोग इत्युक्तं तत्राह अनिष्टतयेत्यादि । स्वभावभेदादिति
रश्मिः ।

त्यर्थः । अनुपयोगमिति चतुर्लक्षण्या अनुपयोगमित्यर्थः । पूर्वपक्षीति उभयोः
करणाक्षेपादाब्धिसंदेहयोरभावानिवृत्तिभ्यां तथेत्यर्थः । भाष्ये कूपेऽन्धपातनवदिति । कूपेन्ध-
पातनवद्विषयेषु विषयिपातनादप्रामाणिकत्वं तत्संबन्धिनी भीमंतया परमकूपालुर्नित्यावसीयते
इत्यर्थः । प्रकृते । केवलवैदिकेति श्रुत्वा केवलवैदिकरीत्या । केवलवैदिकस्य रीतिः पूर्वमङ्गीकृता
इति । अपिशब्दस्य न पूर्वयापि कृत्यमित्युक्तं तत्रत्यापिशब्दस्येत्यर्थः । यत्रोभयोरिति ।

'यत्रोभयोः समो दोषः परिहारश्च तत्समः ।

नैकः पर्यनुयोज्यः सात्तादगर्थविचारणे ॥'

इति न्यायेनेत्यर्थः । तथा च तत्र पूर्ववादिनोपि विचाराकर्तव्यतापत्तिः 'स्वाध्यायोऽध्ये-
तव्यः' इति श्रुतिविरोधादिति तु नोक्तम् । पुनः पूर्वोक्तयोरुभयत्र मण्डनखण्डनयोः प्राप्तेः । सम्-
र्थितत्वाच्चेति उभयोः समर्थितत्वाच्चेत्यर्थः । निर्मन्ध्येनेत्यादि । पूर्वतत्रे प्रथमस्य चतुर्थे तथा
निर्मन्ध्येत्यधिकरणे चिन्तितम् । निर्मन्ध्यपदं वह्नित्वे रूढं यौगिकं योगरूढं वेति संशये निष्पन्नायौ
योगव्यभिचारः तदानीं निर्मन्धनकर्मभावात्, भूतपूर्वयोगस्यापि प्रतिक्षणमन्यायत्वाद्ब्रह्मै प्रवृत्त्य-
सामर्थ्यं, निर्मन्धननिष्पन्नसाप्तेतदैव नाशात् आकृतेस्त्वव्यभिचाराद्ब्रह्ममिति प्राप्ते लौकिकनिर्मथनेन

किंच । आवश्यकत्वावपि । निवृत्तानामपि यागाविज्ञानस्यावश्यकत्वं चित्तशुद्धयर्थत्वात् । परमाश्रमभेदेन प्रकारभेदः कायिकादिभेदात् । तत्राद्यस्य वाचिको द्वितीयतृतीययोः कायिकअतुर्यस्य मानसिक इत्याश्रमिणाम् । तस्मादेकेनैव चरितार्थत्वात् किं द्वितीयेनेति प्राप्ते । उच्यते । उपासनाया धर्मत्वेऽपि न ब्रह्मणो धर्मत्वं ज्ञानरूपत्वात् । धर्मस्य च क्रियारूपत्वात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

'तेषां प्रकृतिवैचित्र्यात्' इत्येकादशस्कन्धीयवाक्योक्तरीतितात् तस्मात् । अनुपयोगरूपं दूषणदुत्तर-मीमांसायां हृदि कृत्वाह किंचेत्यादि । आवश्यकत्वं विवृणोति निवृत्तेत्यादि । तथाच त्रैवर्णिकाधिकारपक्षे शास्त्रवैयर्थ्यस्वापरिहार्यत्वात् तद्विहाय पूर्वतन्त्रमेवादर्शनीयमित्यर्थः ।

अत्र समादधते उच्यते । उपासनाया इत्यादि । त्रैवर्णिकाधिकारपक्षे स्यातां ब्रह्ममीमांसाया गतार्थत्वानुपयोगौ, यद्युत्तरकाण्डस्य मुख्यतयोपासनारूपधर्मप्रतिपादकत्वं स्यात् । तदेव तु न । किंतु ब्रह्मप्रतिपादकत्वं, ब्रह्मण एव सर्ववेदार्थत्वात् । 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति,' 'वेदास्त्रिकाण्ड-विषया ब्रह्मात्मविषया इमे', मां विधत्तेऽभिधत्ते माम्' इत्यादिवाक्येभ्यः । किं बहुना, धर्मोऽपि ब्रह्मात्मकत्वेनैव प्रतिपाद्यः । 'धर्मो यस्यां मदात्मकः' इति वाक्यात् । जैमिनिस्तु पुरःस्फूर्तिक-रहिमः ।

चिरमधेनेन च उत्पन्नमग्निं निषेद्धुं पङ्कजपदवद्योगरूढम् । नावनीतवत् । यथा घृतं प्राचीनं नवं च नवनीतोत्पन्नमपि नवमेव नावनीतत्वेनोच्यते । चिरनिर्मथितस्त्वाधानकाले निर्मथ्य गार्हपत्ये घृतो वह्निः अलौकिकमथनेन सद्यः संभृतोचिरनिर्मथितः । भूतपूर्वमपि योगं निमितीकृत्य प्रयोग इति । अत्र प्रभृतीनामित्यारभ्य आदिशब्दान्तस्य किं प्रयोजनमिति चेच्छृणु । अनेककोट्यवगाहि-ज्ञानस्य संशयत्वेन विवक्षितत्वात्प्रभृतीनामित्युक्तम् । तथा च चिरनिर्मथिताचिरनिर्मथितवह्निवह्नित्व-लौकिकालौकिकभेदभिन्नानां च । एतेषां संदेह इत्यनेनान्वये विषयत्वं घृतादीनां स्यात्तदविवक्षितं, किंतु तत्संबन्धि अन्नं च पाककरणं च तयोर्योग्यतादिशब्देन भावस्तयोः संदेहविषयत्वं विवक्षितं तदाहुरन्ननेत्यादि । तेषामन्ननादियोग्यतादेः संदेहे जात इत्यन्वयः । घृतं वसा तैलं वेत्यादयः संदेहाकाराः । अत्र दूरत्वस्थानापन्नमाहुः सामान्येनेति । यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वा इत्यत्र दूरत्वं तथात्र समानत्वं संदेहकारणं, भाष्ये तु सामान्यं न करणं ज्ञानिनामखण्डब्रह्मभाने तस्य घटपटादिसाधारण्यादतो विचारे सखण्डब्रह्मभाने सामान्यस्य यो न्यायो रीतिस्तेन न्यायेनेति करण-त्वोपपादनम् । भाष्ये लक्षणवदिति उक्तार्थमेतत् । प्रकृते । आहृति उपयोगमाहेत्यर्थः । शास्त्रवैयर्थ्यस्येति उत्तरमीमांसावैयर्थ्यस्येत्यर्थः । भाष्ये । एकेनेति पूर्वकाण्डविचारेणेत्यर्थः । प्रकृते । गतार्थत्वेति । गतः पूर्वमीमांसाया प्राप्तः अर्थः उपासनारूपः यथा । यज्ञाद्युपासनायाः मनोव्यापाररूपाया उप समीपे स्थित्वा यथायोग्यकरणरूपाया वा पूर्वया प्राप्तत्वात् । उपासनायाः पूर्वमीमांसायां स्वमते शेषे वेदरूपसंकर्षणे प्रतिपादके विषयिणीत्वात् । 'स सर्पानसृजत्' इति तृतीयाष्टके 'तस्मात् समानाः प्रजाः प्रजायन्ते' इति संहितायाम् । अतो नोपासनायां प्रतिपाद्यवृक्ष-पक्षिवृषमाणां विषयताप्रतिपादकत्वरूपेण मुख्याब्रह्मत्वेपि कृष्णाजिनं ब्रह्मेति संहिता । कृष्णाजिनस्य शेषत्वं दृष्टम् । अत उपासनायां ब्रह्ममीमांसाया अनुपयोगः । मुख्यतयेति । विषयत्वाभावादिति भावः । किंतु ब्रह्मेति । विषयत्वेन मुख्यत्वादिति भावः । पुरःस्फूर्तिकमिति यथा 'यत्पत्यसुहृदा-

भाष्यप्रकाशः ।

मेवोवाचेति न दोषः । ब्रह्म च न शरीरमात्रं, येन सृष्ट्यादिवाक्येषु वाचो घेनुत्ववत् तस्मिन् जगत्कर्तृत्वादीनामसंभवतां धर्माणामारोपावदादिभिर्विधेयोपासनाविषयस्तावकतयोपासनाशेषता संभवन्ती गतार्थत्वानुपयोगौ हृदीकुर्यात् । किंचोपासनाविषये आत्मनि निरदुःखजगत्कर्तृत्वादयो ये धर्माः स्तुत्यर्थमारोप्यन्ते, ते किमत्यन्तासन्तः स्वपुण्यवद्, उत क्वचित् सन्तो रजतवत् । तत्राद्ये आरोप एव वाधितः । द्वितीये तु सिद्धमतिरिक्तेन ब्रह्मणा । तत्र पूर्वकाण्डे परोक्षवादत्वात् स्फुटं प्रतिपादितमिति तत्प्रतिपादकस्वरकाण्डं न धर्मप्रतिपादकम् । अत उपासनाया धर्मत्वेऽपि नोत्तर-मीमांसाया गतार्थत्वमित्यर्थः । नन्वस्त्वेवं, तथापि सृष्ट्यादिवाक्यानां विधिमन्त्रादिरूपत्वाभावा-दर्शवादत्वमेव वक्तव्यम् । ततश्च ब्रह्मस्तावकत्वात् तेषां न स्वार्थेऽप्राप्त्यमिति तद्विचारशास्त्रस्य रहिमः ।

मनुवृत्तिरङ्ग' इति श्लोकोक्तो धर्मः । अत एव धर्मजिज्ञासां चकार न तु कर्मजिज्ञासाम् । 'देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे' इति संहितोक्तत्वेपि निरोधलक्षणग्रन्थोक्ताधिदैविकश्रवणादिरूप-मर्यादासेवात्वेन श्रुत्यधिकारिधर्मत्वात् । यथा 'अस्त्वेवमङ्ग उपदेशपदे त्वयीशे' इत्युक्त्वा 'प्रेष्ठो भवान् तनुभृतां खडु बन्धुरात्मा' इति श्रुत्यधिकारि यद्वाक्यं तदुक्तो धर्म आधिदैविकः । तथा च यथा 'धर्मं चर' इत्याचार्योपदेशेन भक्ता अपि भगवद्वाक्यानि पूर्वपक्ष्याञ्चकुस्तथाचार्योपदेशेन धर्मजिज्ञासां चकार । कर्मणस्तुक्तस्य सर्वानधिकारान्मुख्यत्वेऽपि कर्मणे न कर्मजिज्ञासा इत्युवाच । अत्रे 'कर्मके तत्र दर्शनात्' इति सूत्रं चकार । तथा चाध्यात्मिकमेवोवाचेत्यर्थः, आध्यात्मिकस्तु 'धर्मः प्रोच्छ्रितकैतवोऽत्र' इति वाक्यादेकादशैकोनविंशत्याध्यायोक्तश्रवणादिसरणिरूपो धर्मः । गतेति । ब्रह्ममीमांसा यतः । वाधित इति । तादृशस्यादर्शनादिति भावः । अतिरिक्तेनेति सद्-मार्श्रयस्य वक्तव्यत्वात्तयेत्यर्थः । परोक्षवादत्वादिति 'परोक्षवादो वेदोयम्' 'परोक्षं च मम प्रियम्' 'परोक्षप्रिया इव हि देवाः' इति वाक्यनिकुरम्भात् । न धर्मप्रतिपादकमिति । अपूर्व-प्रतिपादकं नेत्यन्ये । सिद्धान्ते धर्मसेव फलपर्यन्तावस्थानोपगमात् । एतदेवाग्रे पूर्वखण्डने स्फुटि-प्यति । तथाचोक्तम्-

'किं विधत्ते किमाचष्टे किमनुष्य विकल्पयेत् ।

एतस्या हृदयं लोके नान्यो मद्देह कश्चन ॥

मां विषत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोद्यते ब्रह्मम् ।

एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम् ॥

मायामात्रमनुधान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति' ॥ इति

नच वेदो मां स्वव्यापारावधिं कृत्वा भिदां मायामात्रमित्यनुष्य 'नेह नानास्ति किंचन' इति प्रतिषिध्य भेदं, प्रसीदति निवृत्तव्यापारो भवतीति निरुणद्धि इति वाच्यम् । सर्वसामर्थ्यस्य ब्रह्मणो मायाकृतां विपर्यस्तबुद्धिकृतां नेदं ब्रह्मकार्यमित्याकारिकां भिदामनुष्य प्रतिषेधति कार्यमावात्पूर्वं रूपं वक्तव्येकदेशिनः । विरुद्धसर्वधर्माश्रयस्य आनन्दस्य प्रतीयमानां भिदां मायामात्रं क्रीडार्थां माया यां मुख्या शक्तिस्त्वन्मात्रं, नतु आविद्यकमित्यनुष्य प्रतिषेधति । ब्रह्मैव सर्वं, भेदो बुद्धिदोषाकृतीति सिद्धान्तः । प्रकाशाश्रयाधिकरणे स्फुटमिदम् । न च मायाविषययोरेकीभाव इति सांप्रतम् । 'विष-याऽविषया शक्त्या मायया च निषेवितम्' इति वाक्येन भेदावगमात् । भाष्ये । ज्ञानरूपत्वादिति

रश्मिः ।

क्रियारूपत्वखण्डने तात्पर्यादेवमुक्तम्, आनन्दस्यैव त्रिषु मुख्यत्वात् । न च द्वैतापत्तिः । द्वैतं हि द्वयोर्भाव उच्यते 'प्रज्ञादिभ्यश्च' इत्याणा, ब्रह्मैव सर्वमिति क द्वौ । न ह्येकस्मिन्दीपे द्वाविति प्रतीतिरस्ति । तदुक्तम्—

'कार्यकारणवस्त्वैक्यमर्शनं पटतन्तुवत् ।

अवस्तुत्वादिकल्पस्य भावाद्वैतं तदुच्यते' ॥ इति सप्तमस्कन्धे ।

यदपि द्वयोर्भावो द्विता तत्र भवं द्वैतं संशयरूपं ज्ञानं, द्वाभ्यामितं प्रकारद्वयेन विरुद्धत्वाद्भिन्नाधारवर्तिना युक्तं वस्तु द्वैतं तत्र भवं द्वैतं तदेव संशयज्ञानमिति कैयटानुरोधे त्वद्वैतं संशयाभावः । अतश्च ब्रह्मैव सर्वमिति निश्चय इति तदप्यविरुद्धम् । अथवा यथाश्रुतोर्यः एकादशस्कन्धे सांख्यनिरूपणे स्फुटत्वात्, भाष्ये तु स्तुत्यानन्द आनन्दमये विश्रान्त इत्यदोषः । तत्र ज्ञानं दशधा इति तृतीयसुबोधिन्यां 'अथ ते तदनुज्ञाता' इत्यत्र निरूपितम् । एतच्च ज्ञानं 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति श्रुतेर्ब्रह्मात्मकम् । तल्लक्षणं तु 'त्रितयं तत्र यो वेद स ह्यात्मा स्वाश्रयाश्रयः' इति वाक्ये आधिदैविकादिक्रियव्यतिरिक्तत्वे सति तद्विषयज्ञानत्वमिति सिध्यति । स्वाश्रयश्चासौ आश्रयः इति कर्मधारय एवोद्देश्यविधेयभावात्स्वरूपकथनपूर्वकं लक्ष्यनिर्देशः, तच्च भावनयाभिव्यच्यते 'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः' इति श्रुतेः । जीवानामपि अत्रैवाभिनिवेशः सजातीयत्वात् । तद्वृणोऽपि चैतन्यं तत्रैव निविशते तदविनाभूतत्वात् 'जीवस्यानुस्मृतिः सती' इत्युत्तरार्धे तत्स्वरूपमुक्तम् । पूर्वापरानुसंधानरूपा स्मृतिश्चैतन्यमिति । व्युच्चरणत्पूर्वमभेदेन, व्युच्चरणोत्तरमविद्यासंबन्धात्प्राक्कालवर्तिनो ज्ञानस्य सोहमिति पूर्वापरानुसंधानरूपस्यैव सिद्धत्वात् तत्त्वमस्याद्युद्देशोत्तरमपि तथैव प्रतिसंधानादजपायामपि तथात्वात्तदशत्वनिश्चयः । अयमेव स्वरूपलाभो विद्यया संपाद्यः विस्मृतकण्ठमणिन्यायात् । तथापि नित्यम् । 'सत्त्वगुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः' इति श्रुतेः । पूर्वोक्तमेव ज्ञानं धर्मात्मकप्रकाशरूपेणाविर्भवद् भगवद्गुणतां श्रयति सूर्यप्रकाशवत् । तदनित्यमपि 'तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्' 'युक्तं भगैः स्वैरितरत्र चाधुवैः' इत्यादिवाक्येभ्यः । चैतन्यमप्यत्रैव वा निविशते इति द्वितीयं, तृतीयं तु वेदशरीरं दधद्भवति ।

'स एष जीवो विवरप्रसृतिः प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः ।

मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं मात्रा स्वरो वर्णं इति स्थविष्ठः ॥'

इत्येकादशस्कन्धात् सृष्ट्यै भगवन्मनोमयादिसरण्या दधाति, तथाहि ब्रह्मणो हृदयाकाशे स्वयं ब्रह्म आसन्नेन कारणतामापन्नेन नादरूपं दधदाविर्भवति, तदुक्तं घोषेण गुहां प्रविष्टः इत्यन्तेन । स पूर्वमव्यक्त एव ततो नानावर्णादिसंकल्पकमनोमयं सूक्ष्मरूपमुपेत्य ब्रह्ममुखतः प्रकटः सन्मात्रास्वरवर्णात्मना स्थूलरूपेण शब्दब्रह्मात्मकर्वेदरूपश्चास्ति । स च नादोऽस्मदादिष्वपि प्राणघोषरूपेण वर्तते व्यापकत्वात्, श्रावणस्तदनुभवस्तु श्रोत्रवृत्तिनिरोधसंपाधो भगवतैव कृत्वा जीवेन । नान्यः प्रकारः श्रावणे जीवानुभवे । जीवानुभवस्तु भगवतैव निरुद्धद्वारनिष्ठजीवो न कार्यं करोतीति । अयमेव नादः स्फोट इत्युच्यते स्फुटति वागनेनेति व्युत्पत्तेः । तदुक्तम्—

रश्मिः ।

'समादितात्मनो ब्रह्मन्ब्रह्मणः परमेष्ठिनः । हृद्याकाशादमुद्गादो वृत्तिरोघादिभाष्यते ॥
शृणोति य इमं स्फोटं सुप्तश्रोत्रे च शून्यदक् । येन वाग्व्यज्यते यस्य व्यक्तिराकाश आत्मनः ॥
स्वधास्रो ब्रह्मणः साक्षाद्वाचकः परमात्मनः । स सर्वमत्रोपनिषद्देवीजं सनातनम् ॥ इति ।

तेन स्फुटत्यर्थोऽनेन इति स्फोट इति वैयाकरणोक्तं प्रत्युक्तम् । नैयायिकास्तु स्फोटं नाद्रिपन्ते । तथा हि । घट इत्युक्ते घकाराकारटकाराकारविसर्जनीयैरर्थप्रत्ययाभावाद्दर्शानां क्रमिकत्वेन पदवाक्यरूपवर्णसमुदायमावेन ततोऽप्यर्थाप्रत्ययात्पूर्वपूर्ववर्णानुभवजन्यसंस्कारसहकृतान्तिमवर्णादप्यनेकादशसंस्कारकल्पनागौरवप्रस्तादर्थप्रत्ययाभावाद्दर्शानां भिव्यक्तोऽतिरिक्तः स्फोटारूपः शब्दार्थं प्रत्याययति । एवं पदस्फोटो वाक्यस्फोटश्च । इति प्राञ्चो वैयाकरणाः । आधुनिकास्तु स एवायं पकार इति प्रत्यभिज्ञाबलाद्दर्शरूपः स्फोटः तथा पदवाक्यस्फोटावपि । न चैयमेकार्थबोधकत्वमवलम्ब्यत इति शङ्क्यम् । जलाहरणादिरूपैकार्थजनकत्वस्य सोऽयं घट इत्यादौ शक्यवचनत्वादिति मन्यन्ते तच्च, तादृशसहकारिसंपन्नोऽन्तिमवर्ण एव वाचक इति स्फोटकल्पनायामपि गौरवतौल्याच्च । अपि च वर्णव्यञ्जो यत्किंचिद्दर्शव्यञ्जो वा तावद्दर्शानां भिव्यक्तव्यञ्जो वा नेमा । क्रमिकाणामाशुविनाशिनानां यौगपद्यासंभवात् धकारमात्रोच्चारणे पदस्फोटप्रत्ययेऽर्थप्रत्ययापत्तिवर्णान्तरवैकल्याभ्यां तदसंभवाच्च । अथ पूर्ववर्णसंस्कारसहितचरमवर्णोपलम्भः तल्लक्षक इति उच्यते तर्हि स एवार्थप्रत्यापकोऽस्तु कृतं स्फोटेन । न च पदप्रतीतिः स्फोटसाधिका तावद्दर्शगोचरप्रत्ययाभावेपि तावद्दर्शगोचरसंस्कारात्समूहात्म्यनतावद्दर्शगोचरस्मरणसंभवात्क्रमविशेषवत्तावद्दर्शगोचरत्वेन स्फोटासाधकत्वात् । नहि वर्णमात्रं पदं सरोरसयोः नदीदीनयोः अविशेषापत्तेः । किंतु आनुपूर्वीविशेषाविशिष्टतावद्दर्शरूपम् । नचाप्रत्ययः घोत्तरं शृणोमीति प्रत्ययात् घोत्तरत्वं हि दृश्यानुपूर्वीति । ततः सृष्टिश्च 'शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' इति सूत्रभाष्ये स्फुटिष्यति । तादृशशरीरयुक्तमपि रूपं 'अनन्ता वै वेदाः' इति तैत्तिरीयब्राह्मणश्रुत्या अनन्तं विराडिव । तुरीयं तु इदमेव शरीरविशिष्टं भगवदाश्रितमेवं पाश्चात्यां विशिष्टशक्तिमापद्य व्यष्टय इव विकृतास्तत्रासकरवालेत्यादिरूपाः सर्वे शब्दा भवन्त्यादिसृष्टौ । तथा हि पूर्वोक्तो नादः सुषुम्णामार्गेण आधारहृत्कण्ठमुखेषु संचरन् परापश्यन्तीमध्यमावैखरीरूपेणाविर्भवतीति । एतत्प्रामाण्योपपादनावसरे स्फुटमुपपाद्यम् । एतच्चतुर्विधं नित्यम् । ततः तादृशवेदविकृतशब्दात्मकद्विविधशरीरविशिष्टमेव तल्लोके प्रकटीभवितुं समवायित्वेन प्रमातारं निमित्तत्वेन प्रमेयं चाश्रयते । न च प्रमाणविरहः शङ्कनीयः । पश्यन्त्याख्य-शब्दावस्थाबोधकश्रुतिसद्भावात् । 'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः । गुहा त्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति' इति श्रुतिः । आधारनाभि-हृदयवदनरूपाणि चत्वारि पदानि स्थानानि । तत्र परापश्यन्तीमध्यमावैखरीरूपाश्चतस्रः शब्दावस्थास्तासु त्रीणि परापश्यन्तीमध्यमाख्यानि गुहायां निहितानि । अतः नेङ्गयन्ति न जानन्ति, तुरीयं वैखर्याख्यं अत एव केषांचित् ।

'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।

अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते' ॥ इति ।

प्रमेयाश्रयत्वं तु ज्ञानस्य शब्दानुविद्धत्वाच्छब्दस्य च नित्यमर्थसंबद्धत्वाच्छब्दविशिष्टस्यैव,
१० म० सू० २०

नचार्थवादानां धर्म इव ब्रह्मण्युपयोगः कर्तुं शक्यः । उत्पत्तिप्रकारफल-

भाष्यप्रकाशः ।

कोपयोग इत्यत आहुः नचेत्यादि । स्यात् स्वार्थे अप्रामाण्यं, यदि कर्मणीव ब्रह्मण्युपयुज्येरन् । कर्मणि हि त्रेधा तेषामुपयोगः । यथा, असावादित्यो न व्यरोचतेत्यादीनां सौर्याद्युत्पत्तौ ।

रश्मिः ।

तादृशानुव्यवसायाकारात् । परमत्र शब्दोऽर्थश्च न्यग्भूतो भासते, पूर्वत्र तु ज्ञानं न्यग्भूतमिति विशेषः । न च अनेङ्गुलीयज्ञानस्य शब्दवैशिष्ट्यमिति शङ्क्यम् । अभिनयस्यैव तत्र शब्दस्यानापन्नत्वेन शब्दविशेषमनुसंधार्यैव बोधकेनाभिनयदर्शनात्परंपरया तस्यापि शब्दवैशिष्ट्यात् । इदं पञ्चमम् । प्रमातरि तु अन्तःकरणेन्द्रियाश्रयणात्पञ्चधा तत्रेन्द्रियेष्वेकधा, अन्तःकरणे चतुर्धा । मनसा जायमानं संशय इति व्यवह्रियते । संकल्पविकल्पात्मकत्वात्तस्य । अत एव शङ्कापिशाच्या उत्तरोत्तरं भिन्नभिन्नविरुद्धकोटिविधायिन्या अनिवृत्तिः । कथं तर्हि आत्मानं गृह्णाति इति चेद्दौरात्म्यनिवृत्तौ प्रमास्यति । अहंकारेण कृता शरीराभिमतिस्तु बुद्ध्याश्रया । विपर्यासनिश्चयस्थतीनां बुद्धिवृत्तित्वाद्बुद्ध्याश्रयत्वम् । यदा तु शरीराभिमतिर्मौल्यशास्त्रीयसाधनेर्नाशमेति तदा तन्मूलास्त्रेऽपि नश्यन्ति । ज्योतिर्ब्राह्मणे आत्मज्योतिष्टुपक्रम्य स समानः सन् इति अहंकारसमानत्वेन सधियः स्वप्नात्मक-बुद्ध्यावभासकतया स्वप्नात्मकत्वादहंकारो बुद्ध्या सहितः स्वापं पश्यतीति स्वप्नज्ञानमहंकाराश्रयम् । चित्तं तु सुषुप्तावात्मानं पश्यत्यैक्येन अन्यदा तु लीनमिति निर्विषयं ज्ञानं चित्ताश्रयमेवं दशधा । तदिदं षड्विधं जन्ममन्तःकरणधर्मः 'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्हीर्षीर्भी-रित्येतत्सर्वं मन एव' इति श्रुतेः । स्थिरं च घटादिवत् न च त्रिक्षणवास्त्वयित्वम् । 'प्रसन्नचेतसो ह्याद्य बुद्धिः पर्यवतिष्ठते,' 'स्थिरबुद्धिरसंगृहः,' 'ज्ञानं यथा न नश्येत्' इत्यादिवाक्येभ्यः । न चैकज्ञानं सार्वदिकं स्यादिति शङ्कं, विषयान्तरज्ञानसामग्र्या जातेन ज्ञानेन तद्भाषात् । नचैव-मस्थिरत्वं शङ्कं, संस्काराख्यसूक्ष्मरूपेणावस्थानोपगमात् । न चैवमनुव्यवसायापत्तिस्तस्येति वाच्यम् । व्यासस्यापि गन्धस्य प्राणेन ग्रह एव स्फुरणवन्मनसा तस्य ग्रहण एव स्फुरणात् । न च गन्ध-स्यागन्तुकत्वेन दृष्टान्तासाम्यमिति वाच्यं, रजसा व्यापारान्तरावेशेनोपपत्तेः । तमसा तदावरणाच्च तथा । न चैवं स्थूलजनकस्याप्यनुभवस्य स्थिरत्वापत्तिः । इन्द्रियैर्बुद्धिजननोत्तरं पौनःपुन्याद्यभावेन अदाव्यात्, ज्ञानस्य तु लोकशास्त्राहितात्सिद्धिः । न चाधिष्ठानानिर्वच्यता प्रयुक्ता तत्स्थित्यशक्य-वचनेति वाच्यम् । अन्तःकरणाधिष्ठानकत्वात् । अनिर्वचनीयत्वस्य निरस्तत्वात् । विरुद्धवृत्ति-तिरोभाष्यत्वाङ्गीकारान्न तन्नाशानुपपत्तिरिति प्रासङ्गिकं ज्ञेयम् । प्रकृते । विधिमन्त्रादीति । आदिना ब्राह्मणम् । यथाऽस्तावित्यादि । न व्यरोच्यत भेषाद्याच्छ्रोसावादित्यो न विगतदीप्तिमान्जात इति 'सौर्यं चरुं ब्रह्मवर्चसकामो निर्वपेत्' इति सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः इत्यस्योत्पत्तौ सौर्य-प्रथमज्ञस्यैव तज्जनकवाक्यस्योपयोग इत्यर्थः । इदं पूर्वतन्त्रे सप्तमस्य चतुर्थे पादे 'इतिकर्तव्यता-विधेर्यजतेः पूर्वत्वम्' इत्यधिकरणे चिन्तितम् । यदि च 'असौ आदित्यो न विशेषेण दीप्तिमान्जातः' इति पक्षोपि विभाव्यते, तदापि स एवार्थः । चरुस्तु दशमे 'चरुर्हविर्विकारः स्यादिज्यासंयोगात्' इत्यधिकरणे ओदनविशेषो न तु स्थाली, 'सौर्यम्' इति देवतासंयोगादिति चिन्तितम् । यज्ञोक्ता स्थाली चरुरिति पर्यायतावाचकं निषण्णवचनं तदपि 'हव्यपाके चरुः पुमान्' इति निषण्णन्तराद-

भेदानामभावात् । प्रकृते तु माहात्म्यज्ञानार्थं तदुपयोगः । तस्य च ज्ञानोपयोगो

भाष्यप्रकाशः ।

यथावाप वै सोमेनेजानादित्यत्राष्टाक्षरा गायत्रीत्यस्याभेयपुरोडाशीयेऽष्टाक्षपालत्वरूपे प्रकारे । यथाच, वायुर्वै क्षेपिष्ठेत्यादीनां भूत्यादिरूपे फले । न तथा ब्रह्मणि । नित्यत्वात् सदैकरसत्वात् स्वस्यैव फलत्वाच्च । अस्ति तु माहात्म्यज्ञानार्थमुपयोगः । माहात्म्यं च सदैव श्राव्यं फलाय, न त्वसत् । असत्त्वे तदधिष्ठानस्यासमर्थतायां ततः फलाभावप्रसङ्गात् । तदाहुः तस्य चेत्यादि । माहा-त्म्यज्ञानेन भक्तिद्वारा साक्षात्कारोपयोग इति फलाध्याये प्रथमपादे, 'आदित्यादिभतयः' इति तन्त्रे बहूयत् इत्यर्थः । नन्वस्तु ब्रह्मणि माहात्म्यज्ञानार्थं सृष्ट्यादिवाक्योपयोगस्तथापि तेषां विध्युप-योगोवश्यं वक्तव्यः । नोचेदुपासनादिविधीनां प्ररोचनाभावेन व्यापारकौण्ड्ये वाक्यवैयर्थ्यापत्तेः । एवं सिद्धे तेषां विधिशेषत्वे तेषु निरूप्यमाणं ब्रह्मापि तच्छेषमेवेत्युत्तरकाण्डस्य न तत्रतिपादकत्वम् ।

रश्मिः ।

विरुद्धम् । यथाचोपेति । एवं श्रूयते 'आग्नेयमष्टाक्षपालं निर्वपेद्दैश्वानरं द्वादशक्षपालमग्निमुद्गास-यिष्यन्त्यष्टाक्षपालो भवति अष्टाक्षरा गायत्री' इति । अन्यत्र च 'आप वै सोमेनेजानाद् देवताम् यज्ञश्च कामन्त्याऽग्नेयं पञ्चक्षपालमुदवसानीयं निर्वपेत् अग्निः सर्वा देवताः' इति, तथापि अप वा इत्याद्यष्टाक्षरेषु गायत्रीत्वकल्पना । यथा यदष्टाक्षपालो भवति गायत्र्यैवैवं ब्रह्मवर्चसेन पुनाति इत्यत्र अष्टत्वादि संख्यासामान्यात्पुरोडाशानां गायत्रीत्वकल्पना । प्रथमस्य चतुर्थे 'पूर्ववन्तोऽवि-धानार्थास्तत्सामर्थ्यं समान्नायः' इत्यधिकरणेऽस्ति यतोऽष्टाक्षराण्यतोऽष्टाक्षरा गायत्री अतोऽष्टा-क्षपालमिति संख्यातात्पर्यकथनेनोपयोग इत्यर्थः । यथा च वायुरित्यादि । प्रथमस्य द्वितीयपादे 'आग्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्शानां तस्मादनित्यमुच्यते' इत्यधिकरणे 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा' इत्यस्य 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' इत्युपयोग इति चिन्तितम् । अत्र प्रथमोर्थवादो निन्दारूपेण विधि-शेषभूतः प्राशस्त्येन वा विधिशेषभूतः । द्वौ प्राशस्त्येनैव विधिशेषभूतौ तथा नार्थवादलक्षणं 'प्राशस्त्य-निन्दान्यतररूपेण विधिशेषभूतं वाक्यमर्थवादः' इति मीमांसार्थप्रदीपे । न तथा ब्रह्मणीति । त्रेधा तेषामुपयोग इत्यन्वयः । अत्र हेतूनाहुर्नित्यत्वादिति । प्रथमज्ञमिष्वपि सत्यमित्यादिवा-क्येनोत्पत्तिवाक्यत्वम् । प्रथमज्ञप्तेः साध्यविषयिण्या विवक्षितत्वात् उत्पत्तिपदस्वारसात् । अत उक्तं नित्यत्वादिति । सदैकरसत्वात्प्रकाराभावः, स्वस्यैव फलत्वाच्च फलान्तराभावः । अतो न धर्म इव उपयोग इत्यर्थः । तदानीं कथमुपयोगो ब्रह्मणि इत्यपेक्षायाम् प्रकृते त्वित्यादि भाष्यं विवृण्वति अस्ति त्विति । तत्त्वमस्यादिवाक्योक्तमर्थक्यमपि माहात्म्यमिति न पृथगुक्तम् । तस्य चेत्यादि भाष्यमवतारयन्ति माहात्म्यं चेति । असमर्थतायामिति निर्गुणत्वेन फलदातृत्वरूपगुणसा-प्यभावेनासमर्थतायामित्यर्थः । तत इति फलदातृत्वशून्यादित्यर्थः । भक्तिद्वारेति इदं च तत्रै-कोपपादयिष्यते । प्ररोचनाभावेनेति अर्थवादाभावेन । यः स्तूयते स विधीयते इति नियमप्रवृ-त्त्यभावाद्द्विरूपव्यापारस्य छान्दसत्वेनान्यनिष्ठत्वरूपे कौण्ड्ये इत्यर्थः । वाक्येत्यादि उपासनादि-विधिवाक्यस्य निष्फलत्वरूपवैयर्थ्यापत्तेरित्यर्थः । तच्छेषमिति उपासनाविधिशेषमित्यर्थः । नेति ब्रह्मण उपासनायाः सकाशान्मुख्यत्वेऽनधिगतार्थगन्तृत्वाभावेनाप्रामाण्यापत्त्या नेत्यर्थः ।

यथा तथा वक्ष्यते चतुर्थे । उपासनादर्शनादिपदानां मनोव्यापारत्वमेव । विचारस्यापि यथा ज्ञानोपयोगित्वं, तथाग्रे वक्ष्यते ।

किंचौपनिषदज्ञानस्यापि कर्मोपयोगित्वम् । 'यदेव विद्यया करोति श्रद्ध-
योपनिषदा वा तदेव वीर्यवस्तरं भवति' इति । अत एव ब्रह्मविदांभ्यः जनकादीनां

भाष्यप्रकाशः ।

तत्र सिद्धान्तानुसारीमांसाया गतार्थत्वानुपयोगावित्याकाङ्क्षायामाहुः उपासनेत्यादि । अस्त्वे-
वम् । तथापि विधेयानामुपासनाज्ञानादीनां मनोव्यापाररूपतया सविषयत्वेन विषयाधीन-
त्वात् तद्विषयस्य ब्रह्मणो न मुख्यत्वं हीयते । अहीयमाने च तस्मिन्निर्प्रमाणागोचरस्य तस्य
ज्ञानागोचरकाण्डविचारस्यावश्यकत्वात् तन्मीमांसाया गतार्थत्वानुपयोगावित्यर्थः । ननु तथापि
ब्रह्मण आसंसारं प्रसिद्धानुभावत्वात् तज्ज्ञाने विचारस्यानुपयोगाद् वैयर्थ्यमस्य शास्त्रस्यानिवार्य-
मित्यत आहुः विचारस्येत्यादि । अग्रे वक्ष्यत इति तृतीयस्य द्वितीयपादे, उभयव्यपदेशाद्यधि-
करणेषु वक्ष्यते ।

उपासनाद्यर्थमेव न ब्रह्म जिज्ञासं, किंतु पूर्वकाण्डोक्तेषु कर्मणि मुख्यफलाद्यर्थं तदवश्यं
जिज्ञासामिति, नास्यागतार्थत्वानुपयोगावित्याहुः किंचौपनिषदेत्यादि । निगदव्याख्यातमेतत् ।
तथाच त्रैवर्णिकाधिकारपक्षो दोषरहित इत्यर्थः ।

रश्मिः ।

गतार्थत्वानुपयोगाविति जैमिनीयचतुर्लक्षण्यास्तथेत्यर्थः । अस्ति सप्तग्रहाणां ब्रह्मत्वोपपादिका
जैमिनीयचतुर्लक्षणी वैयासिकी वा । अस्त्वेवमित्यादि भाष्ये पदशब्दो व्यवसितौ 'पदं व्यवसित-
त्राण' इत्यमरात् । तथा च उपासनादर्शनादिनिश्चितानां 'आत्मैवेवोपासीत,' 'आत्मा वा
अरे द्रष्टव्यः,' 'य एवं वेद' इत्यादि श्रुतिनिश्चितोपासनादर्शनाज्ञानानामिति यावत् । इत्येवं भाष्यार्थं
मत्वाहुः विधेयानामिति । निश्चयेन विधेयानां न तु उप समीपे स्थित्वा यथायोग्यकरणरूपाया-
स्तस्या अविहितत्वमपीति । मन इति 'कामः संकल्पः' इत्यारभ्य 'सर्वं मन एव' इति श्रुतेः ।
न च धियो व्यापारत्वं श्रुत्या सिद्ध्यति न तु उपासनायाः उप समीपे स्थित्वा यथायोग्यकरणरूपाया
इति वाच्यं, धीवत् तस्या अपि व्यापारसापेक्षत्वात् । इतरप्रमाणागोचरस्येति । 'मनसैवानु-
द्रष्टव्यम्' इति श्रुतेस्तथेत्यर्थः । अनुमानाद्यगोचरस्येति वा । ज्ञानायेति । शेषितया शब्दज्ञान-
येत्यर्थः । वक्ष्यत इति विरुद्धधर्माश्रयत्वस्य आसंसारमप्रसिद्धस्य स्थापनं वक्ष्यत इति । तदर्थं
इदं शास्त्रं इति वैयर्थ्यं निवार्यमित्यर्थः । मुख्यफलाद्यर्थमिति 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः
सुकृतं भवति' इति श्रुतमक्षय्यं ब्रह्मलोकाख्यं फलं तदाद्यर्थमित्यर्थः । ज्ञानद्वारेति ज्ञेयम् । एतदक्षर-
धियामित्यधिकरणे वक्ष्यते । तेन न फलव्यभिचारो भक्तेः । एतेन अन्योन्याश्रयोपि नेति ज्ञापितम् ।
अनुष्ठाने तु श्रुतिभ्यामन्योन्याश्रयो वर्तत एव प्रमितानुक्तान्योन्याश्रयपरिहारोत्राप्यारोप्यः'
ब्रह्मजिज्ञासया धर्मजिज्ञासा नाश्रीयत इति धर्मविचारानन्तर्यस्य प्राक्त्वण्डनात् । निगदेत्यादि ।
निगदेन व्यक्तरवेण 'यदेव विद्यया' इत्यादिना भाष्ये व्याख्यातम् । किंचौपनिषदज्ञानस्यापि कर्मोप-
योगित्वमित्येतदित्यर्थः । तथा चेति । उभयोर्मीमांसयोरेवंविधैकशाब्दे चेत्यर्थः । दोष-
रहित इति । कर्माधिकृताधिकारित्वाद्दुत्तरमीमांसाचतुरोपि वर्णानधिकुर्यादिति दोषरहित इत्यर्थः ।

१. व्यक्तरवेण पाठमात्रेण ।

कर्मणि सर्वदेवसान्निध्यम् । अन्यथा आभासत्वमेव । नच ब्रह्मरूपात्मविज्ञाने
देहाद्यध्यासाभावेन कर्तृत्वाभावात् कर्मानधिकार इति वाच्यम् । निरर्घ्यस्तैरेव
देहादिभिः कर्मकरणसंभवात् । अत एव जीवन्मुक्तानां सर्वे व्यापाराः ।
तथाच स्मृतिः ।

'नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।

पद्मयज्जृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्नश्रन् गच्छन् स्वप्नं श्वसन् ॥

प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्निमग्नमिषमिषरूपि ।

इन्द्रियाणीन्द्रियाथेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिदाम्भसा' ॥ इति ।

अतो ब्रह्मविदामेव कृतं कर्म शुभफलं भवति । अतो धर्मविचारकाणामपि
ब्रह्म जिज्ञास्यमेव । तस्मान्न गतार्थत्वानुपयोगी ।

ननु फलप्रेप्सुरधिकारी । फलं च विचारस्य शाब्दं ज्ञानं, तस्य मननादि-
द्वारानुभवः, तस्य चानर्थनिवृत्तिपूर्वकपरमानन्दावाप्तिः । तथाच विरक्तोऽनर्थ-
जिहासुः परप्रेप्सुश्चाधिकारी कस्मान्न भवति ।

'शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात् परे यदि ।

अमस्तस्य फलं मन्ये ह्यधेनुमिव रक्षतः' ॥

भाष्यप्रकाशः ।

एवं त्रैवर्णिकाधिकारपक्षे स्थिरीकृते आनन्तर्यवादी पुनः शङ्कते नन्वित्यादि । सिद्धान्ते
ज्ञानविधिनार्थज्ञानप्राप्तेस्तत्र कैमर्थ्याकाङ्क्षायामुक्तप्रणाख्या, 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति श्रुत्युक्तपर-
प्राप्तिरूपफलार्थमिति वक्तव्यम् । अन्यथा प्रवृत्तिविधातापक्षेः । तत्कथने च सिद्धमस्यदुक्तेनाधिका-
रिणा । तदेतदुक्तं कस्मान्न भवतीति । अथ वक्तव्यं, सूत्रे ब्रह्मजिज्ञासापदात् तज्ज्ञानस्यैव फलत्वं
लभ्यत इति प्रणाडीसिद्धफलपर्यन्तता किमर्थमङ्गीकार्येति । तथा सति श्रीभागवतोक्तकेवलार्थवि-
भिन्दाशास्त्रविरोधापत्तिः । अतस्तदभावाद्युक्तफलपर्यन्तताऽवश्यमभ्युपेया । तत्र सिद्धश्रुतेनाधि-

रश्मिः ।

भाष्ये सर्वदेवसान्निध्यमिति एतच्च श्रीभागवते स्फुटम् । अन्यथेति ब्रह्मवित्त्वाभावे इत्यर्थः ।
तथैवानुभवादेवकारः । देहाद्यध्यासाभावेनेति देहेन्द्रियादित आत्मनोऽविषेकाभावेनेत्यर्थः ।
तत्त्वविदिति जीवप्रत्यक्षज्ञानवानित्यर्थः । धर्मविचारकाणामिति मुख्यफलप्रेप्सुनामित्यर्थः ।
विशेषणमिदं न त्वर्थः । प्रकृते । आनन्तर्येति । आनन्तर्यवादी व्यवहारे भाट्टः । ननु फलप्रेप्सु-
रित्यादि युष्मदुपपादितं तथा चैवंविधे सिद्धान्ते कस्माद्विरक्तोऽनर्थजिहासुः परप्रेप्सुरधिकारी न
भवतीति योजनां मन्वाना आहुः सिद्धान्त इत्यादि । कैमर्थ्याकाङ्क्षायामिति । कोर्थः
प्रयोजनं यस्येति किमर्थस्तस्य मायः कैमर्थ्यं तस्याकाङ्क्षायामित्यर्थः । वक्तव्यमिति सर्वात्मभावेन
भजनानन्दोपि वक्तव्यः । अन्यथेति फलाभावे इत्यर्थः । तत्कथने इति फलकथने इत्यर्थः । अस्मदु-
क्तेनेति वैराग्यज्ञमदमादिमतेत्यर्थः । शब्दब्रह्मणीति भाष्यमवतारयन्ति अथ वक्तव्यमित्या-
दिना । श्रीभागवत इत्यादि । श्रीभागवतोक्तं यत्केवलार्थविषयकशब्दज्ञानवतो निन्दाशास्त्रं

इति भगवद्ब्रह्मनात् केवलस्य निन्द्याश्रवणादिति चेत् । न । फलकामनाया अनुपयोगात् । अन्येनैव तत्समर्पणात् । नित्यत्वात्पर्ययज्ञानस्य न फलप्रेप्सुरधिकारी । निन्दार्थवादस्तु मननादिविधिशेष इति मन्तव्यम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

कारिणेत्यनङ्गीक्रियमाणोऽपि वैराग्याधानन्तर्यपक्षोऽधिकारिबलादापतित इत्यर्थः ।

अत्र समादधते नेत्यादि । विचाराधिकारत्वेन फलकामना तदोपपुज्येत, यदि ब्रह्म जिज्ञासापदात् प्राप्येत । तत्तु न । अनन्यलभ्यस्य शब्दार्थत्वात् । अतस्त्रैवर्णिकोऽर्थजिज्ञासुरेवाधिकारी । फलकामना तु, ब्रह्मविदाप्नोति परमित्यादिवाक्यार्थे ज्ञात उत्पद्यत इति तेन समर्पिता । फलं चार्थज्ञानस्य नैकम् । भार्गव्यां विद्यायामन्यत्र च, य एवं वेद प्रतितिष्ठतीत्यादिफलान्तराणामपि भावणात् । ततश्च भवदभिमताधिकार्यङ्गीकारेऽन्येषामनधिकारेण विचारे प्रवृत्तौ विदितायां तच्छास्त्रमेव व्यर्थं स्यात् । अतस्तदभावायार्थजिज्ञासोरेवाधिकारित्वं वक्तव्यम् । अर्थज्ञानं च नित्यम् । 'स्याणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योर्थम्' इत्यादिष्वनर्थज्ञानिन्दाश्रवणात् । अतोर्थज्ञानस्य नित्यत्वं ज्ञात्वा यो जिज्ञासति स एव मुख्योऽधिकारी । नच निन्दार्थवादविरोधः । तस्य मननविधिशेषत्वात् । शब्दब्रह्मणि निष्णातकथनोत्तरं तत्कथनेन तथार्थस्य लाभात् । विचारं विना

रश्मिः ।

शब्दब्रह्मणीत्यादि तस्य विरोधापत्तिरित्यर्थः । निष्णातोऽर्थविषयकशान्दज्ञानवान्परं साधनं निशामयेत् । अभेनुमप्रसूतिं गां रक्षतः श्रम इवेति वाक्यविषयमपदार्थः । अत इति जिज्ञासापदादित्यर्थः । एषेति 'तस्माद्गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्' इति वाक्यादेवकारः । अन्येनैवेत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति फलकामनेत्यादि । ज्ञात उत्पद्यत इति फलकामनाया फलेच्छारूपत्वेन जानाति इच्छति यतते इति ज्ञाते उत्पद्यते । एवकारसाफल्यद्युक्तिमप्याहुः फलं चेत्यादि । फलान्तराणामिति । प्रतिष्ठाव्रवत्वाद्भावादत्वादीनामित्यर्थः । अन्येषामिति परप्रेप्सोरतिरिक्तानां प्रतिष्ठादिप्रेप्सूनामित्यर्थः । तच्छास्त्रमिति । 'य एवं वेद प्रतितिष्ठति' इत्यादि फलान्तरनिरूपकं शास्त्रमित्यर्थः । युक्तिस्तु यदि अर्थजिज्ञासुरधिकारी स्यात् फलान्तरनिरूपकं शास्त्रं व्यर्थं स्यादिति । नित्यत्वादित्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति अर्थज्ञानं च नित्यमित्यादि । निन्दार्थवाद इति भाष्यं विवृण्वन्ति न च निन्दार्थवादेत्यादि । तस्य मननेत्यादि तस्य निन्दार्थवादस्य । 'नहि निन्दा निन्धं निन्दितुं प्रवर्तते अपि तु विधेयं स्तोतुम्' इति न्यायेन परं मन्वीत इत्याक्षिप्तस्य विधेः शेषत्वात् । तथा च अर्थज्ञानवतः पराद्रष्टुः श्रमः श्रमफल इति परं द्रष्टुं मन्वीतेति । यथा 'प्रातः प्रातरनृतं वदन्ति पुरोदयाञ्जुहति येऽमिहोत्रम्' इत्यस्यानुदितहोमनिन्दार्थवादस्योदितहोमस्तावकत्वं तद्वत् । ननु शब्दब्रह्मपाटी तदर्थज्ञानवान् भवेत्तदा दोष इति वदत्कथं परं व्यापृणोतीति चेत्तत्राहुः शब्दब्रह्मणीत्यादि । तथार्थस्येति उक्तार्थस्येत्यर्थः । तथा च निष्णातपदमहिम्ना परं व्यापृणोतीति भावः । नन्वेतर्हपि दर्शनविधिशेषत्वमस्तु तत्राहुः विचारमिति । तथा चावश्यकत्वान् मननविधिशेषत्वमित्यर्थः । अथवा 'आत्मा वा अरे' इति श्रुत्युक्तमननविधिशेषत्वादित्यर्थः । विधिशब्देन पूर्वं पूर्वमीमांसायां तव्यो विधौ न त्वावश्यकं, आनन्तर्यवादिनो व्यवहारे वयं भाडा इति वक्तव्यात् । भाष्ये तु

१. य एवं वेद प्रतितिष्ठतीत्यादिफलान्तरनिरूपकं शास्त्रम् ।

ननु ब्रह्मणो विचारे प्रतिज्ञाते विरोधनिराकरणादीनामप्रतिज्ञातार्थत्वम् । नचावस्तव्यत्वम् । निर्विधिकित्सज्ञानानुदयप्रसङ्गादिति चेत् । न । ब्रह्मण इति न कर्मणि षष्ठी, किंतु शेषषष्ठी । तथाच ब्रह्मसंबन्धि

भाष्यप्रकाशः ।

परनिष्णातासंबवादिति । एवमत्राधिकारी प्रयोजनं चोक्तम् ।

अतः परं विषयसंबन्धौ वक्तुमाशङ्कामुखेन मतान्तरमाहुः नन्वित्यादि । ब्रह्मजिज्ञासेत्यत्र, 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति विशेषविधानात् कर्मषष्ठ्यङ्गीकार्या यद्यपि, 'प्रतिपदविधाना षष्ठी न समस्यते' इति निषेधाद् ब्रह्मणे जिज्ञासेति चतुर्थीसमासः शङ्क्यते तथापि, 'कृद्योगा च षष्ठी समस्यते' इति प्रतिप्रसवात् समाससिद्धेरत्र कर्मषष्ठ्यां गृहीतायां ब्रह्मविचार एव प्रतिज्ञातो भवति । नच शेषषष्ठी युक्ता । यद्यपि संबन्धसामान्यपरिग्रहेऽपि जिज्ञासायाः कर्मापेक्षतया ब्रह्मणः कर्मतालाभस्तथाप्याक्षेपतः प्राप्त्यपेक्षया आभिधानिकग्रहणस्यैव ज्यायस्त्वात् । तथा सति तद्व्यतिरिक्तानां विरोधनिराकरणादीनां ज्ञानपरिकरतया सिद्धावप्यप्रतिज्ञातार्थत्वम् । प्रतिज्ञा हि साध्यविशिष्टपक्षप्रतिपादकं वाक्यम् । तदत्र प्रथमपक्षम् । तत्र च ब्रह्मणः कर्मत्वेन जिज्ञास्यतया प्रतिज्ञानात् तदन्वेषां तथात्वाभावात् । नचेष्टापत्तिः कर्तुं शक्या । तथा सति तेषामवचने निर्विधिकित्सब्रह्म

रश्मिः ।

व्यवहित्वाव्यवहितसाधारणं शेषत्वं स्वीकृत्य मननादिविधिशेष इत्युक्तमिति भावः । एवमत्रेत्यादि पूर्वोक्तसरण्याप्राधिकरणे ब्रह्मजिज्ञासापदेनाधिकारी प्रयोजनं चोक्तमित्यर्थः । मतान्तरमिति शंकराचार्यरामानुजादिमतमित्यर्थः । चतुर्थीसमास इति धर्मोय जिज्ञासा धर्मजिज्ञासा इति वदाशङ्कतेत्यर्थः । प्रतिप्रसवादिति कर्तृकर्मणोः कृतीति षष्ठीत्यस्य निषेधस्य कुण्ठितप्रवृत्तेः पुनः प्रवृत्तिजननादित्यर्थः । तथा च शेषे षष्ठी वक्तव्या सापि न संभवतीत्याहुः न च शेष इति । सामान्यतो विज्ञेयो बलीयानिति । तद्व्यतिरिक्तानामिति ब्रह्मव्यतिरिक्तांशं द्वितीयाध्यायाद्यर्थम् । विरोधनिराकरणादीनामित्यर्थः । अयमर्थः फलाध्याये परनिरूपणमप्रतिज्ञातं स्यात् । 'अक्षरं ब्रह्म परमं वेदानां स्थानमुत्तमम्' इत्यक्षरपर्यवसानात्, तथा सति अन्यमतविशेषोपि, इदमिदमित्यतायाः प्रतिपादनं साकारत्वं च निःसंदिग्धं न स्यादतोऽन्यमततुल्यत्वपरिजिहीर्षुमिराचार्यैः शेषषष्ठ्यादत्ता । अन्यथा तन्मतदूषणानि वक्ष्यमाणानि व्यर्थानि स्युः । ततश्चाधाराधेयभावो जीवैरक्षरस्योपपाद्योपपादकरूपो विरोधनिराकरणेन प्राप्यप्रापकभावः साधनेनाधाराधेयभावः परेण संभवति । अहस्यत्वाधिकरणेऽक्षराभिन्नत्वमक्षरे प्रतिष्ठितत्वं वक्ष्यमाणमिति । न चाक्षराभेदमादायापि परविचारस्य प्रतिज्ञातत्वसिद्ध्या शेषषष्ठी अक्षरत्वेन विरोधनिराकरणादीनां दृष्टानां कर्मत्वेपि भाषकामावाञ्ज युक्तेति शङ्क्यम् । भेदपक्षेऽप्रतिज्ञातत्वापत्तेः वैलक्षण्याद्वागणितानन्दत्वेन । 'नाणुरतच्छ्रुतेः' इति स्यात् । अत एव गीताप्रयोदशे ब्रह्मसप्तपदैश्चेति क्षेत्रमुत्त्वाऽध्यात्मज्ञाननित्यत्वमुक्तम् । अध्यात्मत्वं तु परस्य जीवभाव एव, ब्रह्माण्डस्यसापि जीवत्वं 'अग्नेः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः । स हरिः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराद्' इति श्रुतेः । अतो गीताऽविरोधेन शरीराणुभाष्यत्वमपि । अप्रतिज्ञातार्थत्वं पुनः स्फुटयन्ति प्रतिज्ञा हीत्यादि । न्यायप्रसिद्धमेतत् । यथाह परवतो वह्निमानिति प्रतिज्ञेति । तदत्रेति तादृशवाक्यमस्मां भीमांसायां ब्रह्मविचारे पक्षेधिकर्तव्यत्वसाधनादत इत्यन्त इति प्रथम-

भाष्यप्रकाशः ।

ज्ञानानुदयेन प्रतिज्ञावैयर्थ्यप्रसङ्गात् । तथाच कर्मषष्ठ्यङ्गीकारे द्वितीयाध्यायादीनामाकस्मिकत्वम् । शेषषष्ठ्यङ्गीकारे व्याकरणविरोधो, ब्रह्मण इतरतौल्याद् गौणत्वापत्तिश्चेत्युभयतःपाशारञ्जुरित्यर्थः ।

अत्र समादधते नेत्यादि । कृद्योगे कर्मणिषष्ठ्यनुशासनेऽपि विभक्तीनां विवक्षाधीनत्वात् समासस्य सामर्थ्यमात्रापेक्षितत्वाच्च ब्रह्मणः कर्मत्वे अविवक्षिते कर्मषष्ठ्यभावेन शेषषष्ठ्यमपि सामर्थ्यात् समाससिद्धेर्वाकरणविरोधाभावः । सर्वेषां प्रतिज्ञातत्वसिद्ध्या न कस्याप्याकस्मिकत्वम् । रश्मिः ।

सूत्रमित्यर्थः । तथा च ब्रह्मजिज्ञासाधिक्रियते इति पदार्थफलकभाष्यम् । अधिकारार्थ एव श्रेयानिति । अवश्यन इति । प्राप्त इत्यत्र ज्ञेयम् । व्याकरणविरोध इति 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति सूत्रविरोध इत्यर्थः । उभयतःपाशारञ्जुरिति उभयतो बन्धनरञ्जुरादिर्यथा उभयदेशे निवृत्तव्यापारो भवति तथा संपन्नमित्यर्थः । अथवा उभयतः पाशौ बन्धनसाधने ग्रन्थी यस्याः सोभयतःपाशा तादृशी रञ्जुर्जलाहरणविशेषादौ प्रसिद्धा कश्चित् । विवक्षाधीनत्वादिति षष्ठ्याहुः कर्मादीनामपि संबन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येवेति । सामर्थ्यमात्रेत्यादि 'समर्थः पदविधिः' इति सूत्रादित्यर्थः । समासादिवृत्त्यवृत्तित्वेन सामर्थ्यमिह व्यपेक्षा नास्ति अपित्वेकार्थीभावः । स च विशेषणविशेष्यभावावगाह्युपस्थितिजनकत्वं संसृष्टार्थं समर्थमिति भाष्योक्तेरिति शेखरे । पदविधिरिति पदमुद्दिश्य यो विधीयते समासादिः स समर्थ इत्युच्यते तथा च सामर्थ्यमित्यवसेयम् । तद्यद्विग्रहवाक्यार्थमिधाने शक्तत्वमिदमेव एकार्थीभाव इति व्यवह्रियते, व्यपक्षेति नैयायिकाः, तत्र एतौ अजहत्स्वार्थ्यां जहत्स्वार्थ्यां चान्तर्भवतः । पदानि स्वाभिधेयानि न जहति यस्यां साऽ-जहत्स्वार्थ्या सा चावगतसामर्थ्यानां शब्दानां समासघटकानां शक्तिलक्षणाभ्यां वाक्यार्थबोधोद्भवति । अत्र न समासादौ अन्या शक्तिः कुसशक्त्यैव निर्वाहात् तत्यागापत्तेश्च । इयमेव व्यपेक्षा इति । तत्र मतान्तरमिति महाभाष्यकृत् । 'सविशेषणानां वृत्तिर्न वृत्तस्य वा विशेषणयोगो न' इति वार्तिकान् न ऋद्धस्य राजपुरुष इति प्रयोगापत्तिरत्र । एतद्विपरीता तु जहत्स्वार्थ्या । तत्र वृषभयावकादिपदेषु वृषय-वादि पदवत् समासघटकपदानां पुनर्वोधकतां विहाय समासे शक्तिः तयैव च राजसंबन्धिपुरुष-बोध इति एकार्थीभावः । अन्यथा ऋद्धस्य राजपुरुष इत्यापद्यते । इत्येवंविधसामर्थ्यमात्रापेक्षित्वा-दित्यर्थः । अविवक्षित इति सर्पिषो जानीते इतिवदविवक्षित इत्यर्थः । कर्मषष्ठ्यभावेनेति । 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति श्रुतेः कारकत्वाभावादपि कर्मषष्ठ्यभावेनेत्यप्यर्थोत्र बोद्धव्यः । समास-सिद्धेरिति 'कृद्योगा च षष्ठी समस्यते' इत्यत्र शेषे षष्ठ्यपि कृद्योगेति समाससिद्धेः । सर्वेषामिति ननु सर्वेषामित्यत्र निविष्टपुरुषमुख्यत्वेऽप्यक्षरस्य वेदार्थत्वेन वेदवाचकब्रह्मपदोपादानात्स्वरः सर्वेषां प्रतिज्ञानत्वसिद्धेः परस्य पुरुषोत्तमस्य जगद्धापारवर्ज्याधिकरणस्यापि विषयस्याप्रतिज्ञानार्थत्वमिति चेन्न । ब्रह्मपदवाच्यवेदाभिधेयत्वस्याक्षर एव तात्पर्यवृत्त्या प्रतिपाद्यत्वस्य परे सत्त्वात् । 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इति श्रुतेः । तथाच ब्रह्मजिज्ञासेत्यसा ब्राह्मीभिन्ना ब्रह्मसंबन्धिनी जिज्ञासेति बोधः । तथा चोक्तम् ।

'जहत्स्वार्थ्याजहत्स्वार्थे द्वे वृत्ती ते पुनस्त्रिधा ।

भेदः संसर्ग उभयं वेति वाच्यव्यवस्थितेः' इति भूषणे ।

अर्थस्तु त्रैविध्यं वदत्यत्र भेद इत्यादि । भेदः अन्योन्याभावः । व्यर्थोयं प्रयास इति चेन्न ।

तज्ज्ञानोपयोगि सर्वमेव प्रतिज्ञानं वेदितव्यम् । नच गौणतापत्तिरजिज्ञास्यत्व-
च स्यादिति वाच्यम् । ब्रह्ममात्रे संवेदाभावात् । संदिग्धस्यैव जिज्ञास्यता ।
गौणत्वं तु शब्दत एव, न त्वर्थतः ।

भाष्यप्रकाशः ।

तर्हि गौणत्वाजिज्ञास्यत्वे त्वापद्येतामित्यत आहुः नश्चेत्यादि । केन प्रकारेणाजिज्ञास्यत्वमापाद्यते । किं ब्रह्मत्वेन, उत रूपान्तरेण । तत्राप्ये त्वोमिति ब्रूमः । अच्ययनादिदशायां, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादिवाक्यार्थवधारणादेव तत्स्वरूपे सत्तायां च संदेहाभावात् । किंतु यद् वेदे लक्षितं ब्रह्म, तत् किम् । येन वेदे नानापदार्थानां लक्षितत्वेऽप्यास्माद्यव्याख्यानरूपे भारते विवृतत्वेऽप्येत-
रश्मिः ।

राजपुरुषः सुन्दर इतिवद्राजपुरुषो देवदत्तस्य इति वारणायाम्पुगमात् । भेदस्य वाच्यत्वे तु तद्विरुद्धोयमप्रयोगः । संबन्धस्यैव सार्वजनीनत्वादाह संसर्ग इति । एतदुभयं वाच्यमस्तु विनि-
गमनाविरहादस्वामिकेपि राजपुरुष इत्यापत्तेःश्वेत्याह उभयं वेति । तथाचाराजकीयमिदं राजसंब-
न्धवांश्चायमिति बोधः । व्यपेक्षावादिनस्तु राजपुरुष इत्यत्र राजसंबन्ध्यमिदं पुरुष इति बोधः । राजपदस्य राजसंबन्धिनि लक्षणेत्यभ्युपगमात् । सविशेषणराजपदस्य सविशेषणतत्संबन्धिनि लक्ष-
णोपगमात् । न शोभनराजपुरुष इत्यादौ एकदेशे राज्ञि शोभनान्वयानुपपत्तिः । उक्तं त्विष्टमेव । एवं सति पूर्वतन्नीयो निषादस्यपतिं याजयेदित्यत्र लक्षणादोषप्रस्तो न षष्ठीसमासः किंतु कर्मचारय इति सिद्धान्तः संगच्छते इति वदन्ति । तथा च ब्रह्मसंबन्धिनी जिज्ञासेत्येव बोधः । इत्यत्र आहु रिति इति इदमाशङ्क्य प्रतिविधानमाहुरित्यर्थः । ब्रह्ममात्र इत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति केनेत्यादि । रूपान्तरेणेति वेदलक्षितत्वेन सर्ववेदार्थनिर्वाहकरूपेण सर्वविरुद्धधर्माश्रयत्वेनेत्यर्थः । तत्स्वरूपे सत्तायां चैति सत्यज्ञानानन्दाः स्वरूपभूताः 'अस्ति ब्रह्मेति चेद्देद सन्त्मेनं ततो विदुः' इति श्रुतेः सत्ता । यथा चन्द्रमसि द्वये चित्स्वरूपे आनन्दस्वरूपता, यद्यजनकं तत्तद्गुणकमिति वक्ष्य-
माणव्याप्तेः । दृष्टान्तत्वात्त्वानन्दगुणकता अत एव साकारता । तथाच श्रुत्यन्तरं 'सत्यं ज्ञान-
मानन्दं ब्रह्म' इति 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति' इति च । इदानीं शेषषष्ठीपक्षं समर्थयन्तः
संदिग्धस्येत्यादि भाष्यं विवृण्वन्त अन्यद्रूपमाहुः किंतु यदित्यादि । यद्देदे जगत्कर्तृत्वादिना
रूपान्तरेण लक्षितं ज्ञापितं ब्रह्म तदजिज्ञास्यमिति वक्तव्यमिति संशेषा योजना । किं स्थिति वितर्के ।
तथा च वेदलक्षितत्वेन रूपान्तरेण तत्राजिज्ञास्यत्वमापादनीयमित्यर्थः । अत्र पृच्छन्ति किमिति
तत्किमित्यर्थः । देहलीदीपन्यायेन तदित्यसोभयान्वयित्वात् । एवमापादनं किहेतुकमिति प्रश्नः
न संभवतीति फलितोर्थः । तत्र हेतुमाहुः येन वेदे इत्यादि । येनेत्येतज्जिज्ञासेत्यनेनान्वेति ।
तथा च वेदे नानापदार्थानामाज्ञादीनां जगत्कर्तृत्वेन लक्षितत्वेऽप्यास्माद्यव्याख्यानरूपे भारते विवृ-
त्तेषु येन हेतुनैतस्य लक्षितब्रह्मणो जिज्ञासा प्रस्तूयते अतोऽसंदिग्धत्वेन जिज्ञास्यत्वमित्यर्थः ।
तथा चास्मादि ब्रह्म आनन्दो वा ब्रह्म इत्येवं संदिग्धस्यैव जिज्ञास्यतेति भाष्यार्थः । अथवा प्रकृ-
त्यादिगतं जगत्कर्तृत्वं ब्रह्मगतं वा तत् । अथवा 'क्रियाशक्तिज्ञानशक्ती संदिग्धेते परस्थिते' इति
हृदयम् । लक्षितजिज्ञासाप्रस्तावस्तु जन्माद्यस्य यत इति सूत्राद् बोध्यः । यदीत्यादि यदि ब्रह्मज्ञानस्य
मोक्षसाधनत्वेन हेतुना एतज्जिज्ञास्यैव प्रस्तूयते इति मन्यते तर्हि कथमज्ञादिज्ञानेषु ब्रह्मज्ञानस्यैव मोक्ष-

भाष्यप्रकाशः ।

जिज्ञासैव प्रस्तूयते । यदि तज्ज्ञानस्य मोक्षसाधनत्वेन, तर्हि कथं तज्ज्ञानस्यैव तथात्वम् । यदि वेदार्थत्वेन तज्ज्ञानस्य तथात्वं, तदा धर्मविचारेणैव गतार्थता । षोडशलक्षणया सर्वस्यैव तस्य निर्णीतत्वात् । अत एव न वेदान्तार्थत्वेन । अतः सर्ववेदार्थतानिर्वाहकवक्ष्यमाणरीतिकगुणवचया जिज्ञास्यत्वं वक्तव्यम् । ततश्च तादृशगुणवच्चेनैतस्य जिज्ञास्यतासिद्धेर्नाजिज्ञास्यत्वम् । नापि गौणत्वापत्तिः । गुणजातस्य ब्रह्मसंबन्धित्वेन जिज्ञास्यतया ब्रह्मणो मुख्यत्वस्यैव सिद्धेः । शब्दतो गौणत्वं रश्मिः ।

साधनत्वमित्यर्थः । ब्रह्मण एव वेदार्थत्वाद्गुणवचनमित्याह यदि वेदार्थत्वेनेत्यादि । अतस्तज्ज्ञासैव प्रस्तूयत इति पूर्वोक्तान्वयः । अथापि नतरां जिज्ञास्यमित्याहुः तदा-धर्मैत्यादि । षोडशलक्षणेति उक्तार्थमेतत् । अत एवेति धर्मविचारेऽतया ब्रह्मविचारस्य प्रविष्टत्वाद्दुक्तहेतोर्ये-त्यर्थः । सिद्धमाहुरत इति । लक्षितजिज्ञासायाः वितर्कासंभवादित्यर्थः । वक्ष्यमाणरीतिकेति अग्रिमाधिकरणवक्ष्यमाणरीतिकेत्यर्थः । तथा च यदि कर्मणिषष्ठी परिगृह्यते तदा ब्रह्म यदि प्रसिद्धं, तर्हि जिज्ञासाकर्मतानुपपत्तिः । अप्रसिद्धं चेत्युतरां तदनुपपत्तिः । नक्षप्रसिद्धयुक्तं भवति । यदि च प्रसिद्धत्वेऽपि चैतन्यविशिष्टं देहमात्रमालेति प्राकृतलोकापत्तिकयोः प्रसिद्धिः । चेतनानीन्द्रियाणि आत्मेति तदेकदेशिनः । मन इत्यपि । तथा क्षणिकविज्ञानमात्रमित्यपि, एवं शून्यमित्यपि । देहादिव्यतिरिक्तः संसारी कर्ता भोक्तेति वैशेषिकाः, भोक्तैव केवलं न कर्तेति सांख्याः, अस्ति तद्व्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तीरिति योगिनः । एवंविधप्रतिपन्नत्वविलक्षणस्य जीवस्य स्वरूपभूतात्मनः प्रतिपत्तये विचारात्कर्मताऽविरोधान्नानुपपत्तिरिति विभाव्येत तदापि ब्रह्म नात्ममात्रमिति जिज्ञासाकर्मतानुपपत्तिः पदार्थविरोधश्च । न च 'अयमात्मा ब्रह्म' इति श्रुतेर्न स इति वाच्यमंशत्वेनोपपत्तेः, अतः शेषषष्ठी युक्ता, अन्वयोपपत्तेरिति सूक्ष्मदृशावधेयम् । तेन प्रसिद्धकर्मत्यागेऽपि न पिण्डमुत्सृज्य करं लेढीति न्यायप्रसरः । गौणत्वं त्वित्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति नापीत्यादि । न च अत्र ब्रह्मसंबन्धिनी जिज्ञासेत्यर्थात् ब्रह्मसंबन्धिसंबन्धिजिज्ञासाभावात्कथं गौणत्वापत्तिरिति वाच्यं, गुणजातस्याशेषस्य ब्रह्मत्वात् । न चैवं कर्मषष्ठीपरिग्रह एव श्रेयानित्यायातीति वाच्यं, ब्रह्मण एव ईप्सिततमत्वप्राप्त्या तच्छक्तीनां भेदपक्षेऽविचार्यतापत्तेः असंभवाच्चेत्युक्तम् । ननु कं तेषां ब्रह्मत्वमिति चेत्, न, अंशत्वादुपपत्तेः । ननु 'तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म' इति श्रुत्या ब्रह्मणः कर्मत्वात् कर्मषष्ठीपरिग्रहो ज्यायानिति चेन्न विरोधनिराकरणादीनामप्रतिज्ञातार्थत्वापत्त्या तस्याः श्रुतेरविषयत्वात् । किंतु 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इति श्रुतेर्विषयः । मनस्य पदज्ञानपूर्वकत्वात् 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इति पूर्वमीमांसाकारिकासु तदुक्तं पूर्वम् । ननु एवमपि आत्मनः कर्मत्वात्कर्मषष्ठापत्तिरिति चेन्न । जिज्ञासापदस्याकर्मकज्ञानेऽप्रकृतिकत्वात् । ज्ञा अव-षोपने । ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा इतिभावे 'घञ्' । ननु घटं जानातीति सकर्मकत्वमिति चेन्न । अत्र फलव्यधिकरणव्यापारबोधकत्वाद्स्तु सकर्मकत्वमत्र तु फलसमानाधिकरणव्यापारबोधकत्वेनाकर्म-कत्वात् । न चात्रापि फलव्यधिकरणव्यापारोस्तु इति शङ्कम् । जिज्ञासापदस्य विचारे शक्तेः । विचारस्य च युक्तिभिरनुचिन्तनरूपस्य ब्रह्मविषयत्वात् । 'ज्ञानशक्तिक्रियाशक्ती संदिद्येते परस्थिते'

१. आदिशब्देनाधोक्षजोपि । २. संबन्धिसंबन्धिनीति ।

वेदप्रामाण्यं तु प्रतिपन्नसिद्धत्वात् विचार्यते ।

भाष्यप्रकाशः ।

तु न स्वरूपमुख्यत्वविघातकम् । पुत्रः पित्रा सहागत इत्यादौ तथादर्शनादिति । नन्वस्त्वेवं, तथापि वेदार्थस्य ब्रह्मणो वेदानुकूलो विचारोऽत्र प्रतिज्ञात इति तदर्थं वेदप्रामाण्यमपि विचारणीयम् । तदत्र कृतो न विचारितम् । यतो न विचारितं, ततो न वेदार्थत्वेन विचार इति पक्षो न युक्त इत्यत आहुः वेदेत्यादि । प्रतिपन्नसिद्धत्वादिति आस्तिकं तत्रमात्रं लक्ष्यीकृत्य सिद्धत्वात् । न हि नास्तिकनिग्रहायाचार्यस्य विचारे प्रवृत्तिः, किंत्वास्तिकशिक्षणाय । ते तु सर्वे वेदप्रामाण्ये निर्विचिकित्सा इति प्रयोजनाभावात् विचार्यते । तावता न वेदानुकूलविचारत्वहानि-रश्मिः ।

इति भाष्यकारिकायाः 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति श्रुतेर्ब्रह्मणोऽसंदिग्धत्वात् । अत एव 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यधिकरणे क्रियाशक्तिर्निरूपिता । ततश्च ब्रह्मण इति शेषषष्ठी न कर्मणि । 'तद्विजिज्ञासस्व' इतिश्रुतौ जिज्ञासाया विचारार्थकत्वे तच्छब्दात्पठ्या लुक् ब्रह्मणः कर्म-त्वामावात् । किंतु ज्ञानशक्तेः क्रियाशक्तेर्वेदस्य कर्तृत्वम् । यद्वा तद्विजिज्ञासस्व इत्यर्थ-विषया अज्ञादिरूपार्थब्रह्मपरत्वात् सूत्रे वेदान्तशब्दविषये न प्रवर्तत इति । तथादर्शनादिति पित्रेति सहायतृतीयान्तशब्दस्य पितृस्वरूपमुख्यत्वविघातत्वकामावदर्शनादित्यर्थः । न वेदार्थ-त्वेनेति वेदानुकूलत्वात् वेदार्थत्वेनेत्यर्थः । न युक्त इति प्रमाणवेदार्थत्वरूपप्रतियोगिज्ञाना-भावात् युक्तः । निर्विचिकित्सा इति । अत्र वदन्ति वैशेषिकाः शब्दं हि उपनीतं मन्तव्यम् । श्रोत्रमात्रजन्यत्वात् । पदानां चोपनायकत्वात् । अन्वयधीरप्यनुमितिः एते पदार्थास्तात्यर्थविषये मियःसंसर्गवन्तः आकाङ्क्षादिमत्पदस्मारिततद्योग्यतासत्तिमत्त्वे सति संसर्गापरपदस्मारितत्वाद्देव-नुमानात् । घटोस्तीत्यत्र घटोऽस्तित्वान् तद्योग्यत्वात् पटवदित्वनुमानाद्वा । न चान्वयव्यति-रेकाभ्यां शब्दस्य कारणतेति वाच्यम् । हेतुशरीरघटकत्वेन हेतुत्वेन वान्वयव्यतिरेकानुविधानो-पपत्तेस्तसातिरिक्तकारणताप्राहकत्वाभावात् । तस्मान्न शब्दः पृथग्भ्रानं, अतो वेदस्योपनायकता-मात्रमिति । अत्र नैयायिकास्तिष्ठन्ते, स्वाशयं प्रकाशयन्तीत्यर्थः । 'प्रकाशनस्येयाख्ययोश्च' इति सूत्रेणात्मनेपदम् । बाधकप्रमाणाभावो योग्यता साच न लिङ्गविशेषणम् । प्रमाणाप्रविरहस्य सर्वत्र निषेधेतुमशक्यत्वात् । तत्संशयेऽपि शब्दादन्वयबोधोदाह । शब्दप्रामाण्ये योग्यतायाः संशयसाधारणं ज्ञानं प्रयोजकमिति शब्दप्रमाणमिति । किंचाकाङ्क्षाया हेतुशरीरनिविष्टायाः अन्वयबोधानुपूर्व-नुपूर्वपर्यवसायिन्या न भूतपूर्वत्वमतो न तद्वदितो हेतुः । नहि मियःसंसर्गाज्ञानुर्देवदत्तो ग्रामं गच्छतीति वाक्यस्यान्वयबोधानुपूर्वतायाः ग्रामं गच्छति देवदत्त इत्येवं विधानुपूर्व्यां ज्ञानमस्ति, तथायोग्यत्वहेतुकानुमानेऽपि अज्ञातस्य तस्यानुपयोगात्, स्वरूपसत्ताया अकारणत्वेन हेतुतायास्त-ज्ज्ञाने पर्यवसानात्तज्ज्ञानं लिङ्गमिति वाच्यं, तनु बाधाभावनिश्रयमात्रं जनयित्वा कृतार्थमिति न हेतुतां निर्बोद्धुमलम् । अपि च अस्तित्वव्याप्ययोग्यतावान् गौरित्वनुमानस्यान्वयशुद्धित्वे घटः कर्मत्वमि-त्यादिस्यलीयस्य घटः कर्मत्वमानयनं कृतिस्तद्व्याप्ययोग्यत्ववान् शुष्मदर्थः इत्यनुमानस्यापि शब्द-

१. मीमंसाकक्षणात्कर्मप्रमाणकक्षयविशेषणीभूतस्य प्रामाण्यस्य विशेषणान्तिविरहस्य विशेषणान्वयादिरहस्येत्यर्थः ।

रहिमः ।

बुद्धित्वापातः । किंच । योग्यतायाः संशयविषयिण्याः अप्यन्वयबुद्धिविषयकत्वाभावदर्शनादनुमिति-
विषयकत्वदर्शनाच्च वैलक्षण्यविहितो भेदः । तेनान्यान्येष्याकाङ्क्षाघटितलिङ्गकानि गौरवित्त्ववान् स्वधर्मिका-
स्तित्वान्वयबोधोधानुकूलाकाङ्क्षाश्रयपदस्मारितत्वात् घटवत् । गौरिति पदं अस्तिमद्रोज्ञानपूर्वकं अस्तिपद-
साकाङ्क्षगोपदत्वात् यत्रैव तत्रैवमाकाशवत् । लौकिकानि पदानि वैदिकपदानि वा तात्पर्यविषयस्मारित-
पदार्थसंसर्गज्ञानपूर्वकाणि आकाङ्क्षादिमत्पदकदम्बत्वात् घटमानयेति पदकदम्बवत् । इतीमान्यनु-
मानानि प्रयुक्तानि । किंच व्याप्तिज्ञप्तिविधुरेणापि शब्दबोधोनुभूयते इत्यविवादं नापि तत्र व्याप्ति-
ज्ञप्तेः कल्पनं शब्दश्रवणानन्तरं द्रागेव बोधात् । सर्वेषु शब्देषु व्याप्तिज्ञानकल्पनमिव यावदनुमिति-
स्थले पदज्ञानं कल्पयित्वा शब्दबोधस्यापि सुकरकल्पनत्वाच्च । अस्तु तर्हि श्रावणप्रत्यक्षता । मैवम् ।
हेतुसंस्कारयोरपि साकाङ्क्षपदवत् उपनायकतायाः शक्यवचनत्वेन तदुपस्थापितस्याप्युपनयमर्यादया
भानापत्तेः । न चेष्टापत्तिः आकाङ्क्षादिमत्पदस्मारितत्वादिरूपाद्धेतोः पदजन्यसंस्काराद्वा प्रत्येमीत्यापत्तेः ।
भवति तु शब्दात् प्रत्येमीत्याद्यनुव्यवसायः । ननु तत्तदर्थविषयकशब्दबुद्ध्यानुव्यवसायं प्रति शब्द-
बुद्धेस्तावत् तत्तदर्थकसाकाङ्क्षपदजन्यतत्तदर्थगोचरशब्दत्वेन विषयविषया हेतुतादित्येतेऽतः शब्दस्यै-
वोपनयमर्यादया भानं न हेतुसंस्कारयोरिति चेन्न गौरवात्, घटेन जलमाहरेत्यादौ इतरथाधलब्ध-
छिद्रेतरत्वादेरयोश्चित्तस्यापदार्थस्यापि शब्दबोधेवगाहात् प्राप्तस्य तद्विषयकानुव्यवसायस्य बाधाप्रसक्ते-
र्नवादेरिवास्तित्वादौ गत्वादेरपि भानप्रसङ्गात् । अपि च शब्दज्ञानस्य श्रवणजन्यत्वाभ्युपगमे पदा-
र्थान्वयबोधदशायामपदार्थानामपि स्वसामग्रीबलेन प्रत्यक्षतापत्तिः । ननु श्रावणप्रत्यक्षसामग्री अप-
दार्थानां श्रावणप्रत्यक्षे प्रतिबन्धिका भविष्यतीति चेन्न प्रत्यक्षसामान्यं प्रति शब्दसामग्र्याः प्रत्यक्ष-
सामग्रीकोटिनिविष्टतया प्रतिबन्धकताऽसंभवात् । न च शब्दान्यप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति तस्मा-
स्तथात्वकल्पनाददोष इति वाच्यं, गौरवात् । तदपेक्षया शब्दज्ञानस्य प्रत्यक्षभिन्नत्वकल्पनमेव
लघीय इति । अतोन्वयबुद्धेः श्रवणेन्द्रियजन्यत्वाभावाच्च प्रत्यक्षता । तस्माद्दोस्ति गामानयेत्यादौ
स्वस्वपदजन्यपदार्थोपस्थित्यनन्तरं घटादावस्तित्वाद्यन्वयविषयकस्य विलक्षणबोधस्यान्वयव्यतिरेकाभ्या-
माकाङ्क्षादिमच्छब्दकारणकस्य नोपनीतभानता । नचान्वयबोधो नास्त्येवेति व्यर्थः प्रयास इति शङ्काम् ।
अनुभवविरुद्धत्वात् तस्मासाधकत्वेऽनुमितिरपि न स्यात् । न च वक्तव्यं पदजन्यसंस्कारजन्य-
त्वात् शब्दसिद्धिः स्मृतिरूपास्तु शब्दात्प्रत्येमीत्यनुव्यवसायविरोधात् । किंच घटास्तित्वयोगो-
कर्मत्वानयनानामेवोपस्थित्या तद्विषयकस्यैव संस्कारस्य जननेऽन्वयविषयस्याजननात्सृष्टित्वं न शक्य-
वचनमतः शब्दोऽतिरिक्तां प्रमाणतां दधाति । परंतु शब्दशतादपि प्रत्यक्षविरुद्धं प्रतिपादयितुमश-
क्यमिति शब्दः प्रत्यक्षमुपजीवति तेनानासोक्ते न प्रामाण्यमिति । किंच । श्रोत्रसापेक्षः शब्दः । स्वस्व-
रूपलाभेपीतः प्रत्यक्षं प्रवळमिति । अत्रापि अयं विशेषः । शब्दस्यैव प्राबल्यमिति स्थितमाकरे । तथाहि
प्रामाण्याश्रे श्रोत्रसापेक्षताभावेन स्वरूपलाभे सापेक्षता न प्रावलयं विधटयति । श्रुतमात्रशब्दश्चरुादिति-
रस्कुर्वन्नेव पदार्थमुपस्थापयतीति । एवं च प्रत्यक्षं नोपजीवति शब्दः, वेदे तदभावात् । लोकानधि-
गतस्याप्यभिहोत्रादेर्विधानात् । न च सोपि योगिनां प्रत्यक्षः । मानाभावात् । योगादेर्मानान्त-
रेण धर्मादिप्रत्यक्षजननसामर्थ्यस्याज्ञानात् तदर्थप्रवृत्त्यनुपपत्तिश्च । न चादृष्टं प्रवर्तकं, सत्कर्मकरणे-
न तदुत्पत्तेः । परंपराप्रादिसर्गवादादवक्तव्या । अनादिसर्गवादिभिस्तु वेदोऽपौरुषेयो धर्मप्रमितिं

तस्माद् ब्रह्म जिज्ञासितव्यमिति सिद्धम् ॥ १ ॥

॥ इति प्रथमाध्याये प्रथमपादे प्रथमं जिज्ञासाधिकरणम् १ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

रित्यर्थः । सिद्धमाहुः तस्मादित्यादि । ब्रह्मसंवन्धिनां विचारेऽपि ब्रह्मणो विषयत्वस्यार्थतः सिद्ध-
त्वात् तादृशगुणकत्वेन ब्रह्म जिज्ञास्यमिति सिद्धमित्यर्थः । अपेक्षितगुणवच्यैवात्र ब्रह्म जिज्ञास्यं,
न त्वशेषविशेषजन्यतयेति शेषषष्ठ्येव युक्तेत्यत्र गमकमप्याहुः किञ्च इत्यादि, इतीत्यन्तम् । तथा च
प्रथमपदे ब्रह्मविचारं प्रतिज्ञाय ब्रह्मणो येन रूपेण वेदार्थता तानि रूपाणि प्रकारांश्च वक्तुमग्रिमे
कार्यलक्षणं प्रमाणं च ब्रह्मत्वतस्तथेत्यर्थः । एवं विषये निर्द्धारिते प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः संब-
न्धोऽप्यनुक्तसिद्ध एवेति प्रेक्षावत्प्रवृत्त्युपयुक्तं सर्वमत्र निरूपितम् । प्रकारभेदेन काण्डद्वयस्यापि ब्रह्म-

रहिमः ।

जनयतीति स्वीकाराच्च । नापि स्वभावः प्रवर्तकः । तस्यापि मूलविभर्त्से वेद एव विश्रान्तेः । ईश्व-
रेच्छयेत्यपि न युक्तं, शब्दं विना तस्मा एवासिद्धेः । तदग्रे स्फुटिष्यति । निःश्रसितश्रुतेरबुद्धिपूर्वकमे-
वाभिव्यञ्जनाश्रेष्वप्रत्यक्षोपजीवकत्वं, तेन वेदः प्रमाणम् । इदं चौत्पत्तिकसूत्रतात्पर्यार्थकथने उक्तमपि
स्पष्टप्रतिपत्तिप्रयोजनकम् । अस्मदादिमुखेनापि ब्रह्मैव क्रीडयितुं वाक्यं वदति इति सर्वाणि वाक्यानि
वेदतुल्यानि ब्रह्मवाक्यत्वादिति सिद्धान्तः । 'स एष जीवो विवरप्रसूतिः' इत्यत्र 'एवं गतिः' इति ह्यति-
देशात् । अत्र श्रोत्रं प्रमाणकं शब्दस्त्वितिग्रहः 'श्रोत्रं वै ग्रहः स शब्देनातिग्रहेण गृहीतः श्रोत्रेण शब्दा-
च्छृणोति' इति बृहदारण्यकश्रुतेः । 'चक्षुर्वै ग्रहः स रूपाणातिग्रहेण गृहीतः रूपं पश्यति' इति वेदान्तपुर्या
अभावात् । अत एव शब्दगुणकमाकाशमित्याकाशलक्षणे शब्दप्रवेशः । उष्णस्पर्शवत्त्वं तेजस्त्वमिति
तेजोलक्षणेन रूपप्रवेशः कृत इति शुभम् । न चैवं सकलवाक्येषु निर्दुष्टत्वं स्यात् । न । योग्यावय-
वैरेव वाक्यनिर्माणोपगमात्, योग्यावयवैरेव पदार्थनिर्माणवत् । अन्यथा घोटकस्य निर्मातुः शृङ्ग-
निर्माणमप्यापद्येत । क्रीडैव प्रयोजिकेति तु तत्त्वम् । एवं निःसंदेहा इत्यर्थः । यथादर्शनमाहुः ब्रह्म-
संबन्धिनामित्यादि । न च ब्रह्मपदस्य वेदान्तवाचकत्वं 'वेदान्तानां विचार आरम्भणीयो न वेति'
भाष्येण सिद्धयति । ततश्च वेदान्तानां विचार आरम्भणीय इति सिद्धमिति भाष्यमस्तु । न तु ब्रह्म-
जिज्ञासितव्यमितिभाष्यं सिद्धकथनभाष्यत्वादिति वाच्यं 'षडङ्गो वेदोऽप्येवो ज्ञेयश्च' इतिश्रुतेः । षडङ्गैरेव
निर्वाहे मीमांसाया अनङ्गत्वेन वेदान्तविचारानावश्यकत्वेऽस्य शास्त्रस्यानुपयोगेनारम्भणीयतास्य स्यात्-
त्रिवृत्त्यर्थमारम्भणीयताप्रतिपादनपुरस्कारेण वेदान्तेषु मुख्यतया प्रतिपाद्यस्फोरणाय अथातो वेदान्त-
विचारः' इत्यसूत्रयित्वा 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति सूत्रणादत्रैव सूत्रान्त इति करणसामर्थ्यात्किं-
चेत्यस्यान्यत्वेत्यर्थात् च पूर्वशेषतायाः संभवदुक्तिकत्वाद्देहलीदीपन्यायेनासामवतारयन्ति अपेक्षिते-
त्यादि । अतस्तथेत्यर्थः । उक्तग्रन्थसंवादाच्छेषषष्ठ्येव युक्तेत्यर्थः । एतेन 'तद्विज्ञासास्य तद्ब्रह्म' इति
श्रुत्येकवाक्यतायै कर्मणि षष्ठी युक्तेत्यपि प्रत्युक्तम् । स्वरूपलक्षणं परित्यज्य कार्यलक्षणकथनेन शेष-
षष्ठ्यामेव व्यासचरणानां तात्पर्यात् । प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावसंबन्ध इति मीमांसाब्रह्मधर्मयोः
स संबन्ध इत्यर्थः । अत्रेति जिज्ञासाधिकरण इत्यर्थः । प्रकारभेदेनेति क्रियाज्ञानत्वभेदेनेत्यर्थः ।

१. द्वितीयसूत्रविपरणे ब्रह्मण्यम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

प्रतिपादकत्वैकवाक्यत्वसमर्थनान्मीमांसाद्वयस्यैकशास्त्रयत्ननेन वृत्तिकाराविरोधोऽपि बोधितः ।

शांकरास्तु ब्रह्म जिज्ञास्यं न वेति संदेहे, अहंविचित्रवेद्यत्वेन प्रत्यक्षस्यात्मन एव ब्रह्मत्वात् जिज्ञास्यमिति पूर्वपक्षे कर्तृत्वादिशून्यनिर्विशेषचिदेकरसत्वेन जिज्ञास्यत्वमङ्गीकृत्य केवलज्ञानादेव मोक्षं चाङ्गीकृत्य मोक्षं प्रति केवलज्ञानस्यैव हेतुत्वाज्ज्ञानकर्मसमुच्चयं नाङ्गीकुर्वन्ति । तन्मते पूर्वोत्तरकाण्डयोः स्वर्गमोक्षरूपप्रयोजनभेदात् कर्मब्रह्मरूपामिधेयभेदाच्छेषशेषिभावाद्यभावेन परस्पराकाङ्क्षाभावाच्चैकवाक्यत्वाभावे उत्तरकाण्डस्य वेदान्त इति समाख्याया विरोधः । नापि कर्मशेषभूतकर्तृस्वरूपप्रतिपादकत्वेनापेक्षा । कर्मानुपयुक्तकर्तृभोक्तृभावशून्यात्मप्रतिपादकताभ्युपगमात् । नापि कर्मपौष्कल्यजनकविद्याप्रतिपादकत्वेन सा । 'यदेव विद्यया करोति तदेवास्व वीर्यवपुः भवति' इति वाक्यस्योद्गीथविद्याद्युपक्रम्य पठितत्वेन तन्मात्रस्य त्वन्मते तथात्वबोधकतया सर्वस्य काण्डस्य तथात्वसंपादानाक्षमत्वात् । मानवी ऋचौ धाव्ये कुर्यादितिवद् । न च वैदिकाभिधाने स्वरादिनियमयोगेनैकवाक्यत्वमिति शङ्कं अप्रयोजकत्वात्, सूत्रोक्तैकवाक्यलक्षणविरोधात् । न च रश्मिः ।

वृत्तिकारेति संहतमेतच्छरीरकं जैमिनीयेन षोडशलक्षणेनेति मुवतो वृत्तिकारस्याविरोध इत्यर्थः । आत्मन एवेति जीवस्यैवेत्यर्थः । सेति पूर्वकाण्डस्योत्तरकाण्डापेक्षेत्यर्थः । त्वन्मत्त इति अस्मन्मते तु यत्तदिति सामान्यनिर्देशस्य विवक्षितत्वान्न तथात्वमिति बोध्यम् । तन्मात्रस्येत्यादि उद्गीथविद्यामात्रस्य । कर्मपौष्कल्यजनकत्वबोधनात् न तथा सर्वस्योत्तरकाण्डस्य कर्मपौष्कल्यजनकविद्याप्रतिपादकत्वसंपादानाक्षमत्वादित्यर्थः । न च किंचौपनिषदज्ञानस्येत्यादि भाष्येऽप्ययं दोषः इति शङ्कं 'विदुषः कर्मसिद्धिः स्यात्तथा नाविदुषो भवेत्' इति न्यायमनुसृत्य श्रुतौ विद्याशब्दो न संकोचसहिष्णुरिति भाष्याशयात्, अत एवात्र त्वन्मत इत्युक्तम्' एवं च

'यदेव विद्ययेत्याह ब्रह्मा ब्रह्मिष्ठ एव च ।

तज्ज्ञानं तेषु हि प्रोक्तं कर्तृशेषा यतस्तु ते' ॥

'ज्ञाननिष्ठाया देयानि क्वानि' इति यथा तथेति पत्रावलम्बने विवरणे चास्या उद्गीथप्रकरणावरुद्धत्वेन विद्यान्तरासंग्राहकत्वं यदुक्तं तदप्युक्तदिशैव 'त्वन्मते' इति कथनादिति ध्येयम् । मानवीत्यादि इयं श्रुतिर्द्वितीयाष्टकेस्ति विकृतिरूपे सौमाराद्रे चरावतिदेशतः प्रासासु सामिधेनीषु मध्ये द्वौ धाव्यासंज्ञिकौ मत्रौ प्रक्षेपस्यौ तौ मानवी कर्तव्यावित्यर्थः । 'प्रवो वाजा अभिधव' इत्याद्या अग्निसमिन्धानाया ऋचः सामिधेन्यस्तासु द्वयोरेव मानवीऋक्त्ववद्विद्यासूद्गीथविद्याया एव कर्माङ्गत्वमिति भावः । मतान्तरमुपक्षिप्य वारयन्ति न च वैदिकेत्यादि । वैदिकानामभिधानं वेदान्तेषु वेद इति वर्तते यतस्ते स्वरपूर्वकमनध्यायादित्यजन्तः वेदान्तान्पठन्ति पाठयन्ति च । अत एकवाक्यत्वं धर्मातिरिक्तब्रह्मप्रतिपादनादिति शङ्कामित्यर्थः । अत्र हेतुमाहुरप्रयोजकेत्यादि । ब्रह्मप्रतिपादकताया उक्तत्वाद्देव इति प्रसिद्धिमात्रेण तयोरेकवाक्यताया असिद्धेस्तथात्वादित्यर्थः । अत्रापि हेतुमाहुः सूत्रोक्तेत्यादि । द्वितीयाध्यायस्य 'अयैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे स्यात्' इति सूत्रोक्तेत्यर्थः । उदाहरणं तु ।

१. किंचेति विकल्पे ।

भाष्यप्रकाशः ।

यज्ञानां विविदिषोत्यादकत्वेन पूर्वस्योत्तरकाण्डशेषतायामेकवाक्यत्वसंभव इति वाच्यम् । सन्प्रत्ययोक्तेच्छायाभिष्यमाणपर्यन्तत्वं वादेन जिगीषतीत्यादौ दृष्टं, केवलाया अपुरुषार्थत्वं चेति तावन्मात्रान्तत्वसांसगतत्वात् । इष्यमाणपर्यन्तत्वस्य चानुपगमात् । अत एवं वदता, 'वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति' इति पृथक्कसमाप्तिश्रुतेः, 'वेदाः साङ्गोपनिषदः' इति पौराणिकपृथक्निर्देशात्वात्तन्मतेद एवास्येयः । नचैवं वैदिकप्रसिद्धेर्वेदान्तशब्दो रूढ एवेति वाच्यम् । तथा सति स्वाध्यायादिविधौ तदनिवेशेन तदध्ययनार्थज्ञानविचाराणामवैधत्वापत्तेः । न च तद् विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्मेत्यादिविभिना विचारप्राप्तौ तेनाध्ययनाद्याश्लेषात् दोष इति वाच्यम् । तथा सति जिज्ञासुमात्रप्राप्तौ त्रैवर्णिकाप्राप्त्या अधिकारविरोधापत्तेः । अतस्तन्मते उपनिषदां वेदान्तत्वं न कथमपि सिद्ध्यतीत्यवधेयम् ।

रामानुजाचार्यास्तु ब्रह्मपदस्य निर्दोषपूर्णगुणपुरुषोत्तमवाचकत्वं, तस्य च स्थूलसूक्ष्मचिद्विच्छरीरविशिष्टतया वेदान्तार्थत्वेन जिज्ञास्यत्वं चोपगम्य यज्ञादीनां विविदिषोपयोगमात्रश्रावणेऽपि व्यासपादैः 'आप्रायणात्तथापि हि दृष्टम्' इत्यादिसूत्रेषु यावज्जीवं तत्करणबोधनाद् ध्रुवानुस्मृतिरूपोपासनाभक्त्यादिनामकदर्शनसमानाकारज्ञानजनकत्वेन भावनात्मकोपासनया समुच्चयमङ्गीकुर्वन्ति ।

भास्कराचार्यास्तु ब्रह्म प्रसिद्धं न जिज्ञास्यम् । अथाप्रसिद्धं नतरामिति पूर्वपक्षे, 'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्यादिषु जगत्कारणताश्रावणेन प्रसिद्धमपि ब्रह्म स्मृतिकारैस्त्रिगुणस्य प्रधानस्य परमाणूनां च तथात्वाङ्गीकाराद् विप्रतिपन्नमिति तन्निवृत्त्यर्थमत्र कारणकार्यजीवरश्मिः ।

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्रये जुष्टं निर्वापामि' इति ।

सर्वाणीमानि पदानि निर्वापप्रकाशार्थानि विभागे च साकाङ्क्षणीति । एकवाक्यत्वेत्यादि यावन्ति पदानि तानि ब्रह्मप्रकाशार्थानि विभागे च साकाङ्क्षणीति एकवाक्यत्वसंभव इत्यर्थः । तावन्मात्रेति । विविदिषेत्यत्रेच्छामात्रान्तत्वस्येत्यर्थः । तथा च वादेन विजिगीषतीत्यत्र इवेच्छाविषयपर्यन्तत्वं वाच्यं, तत्राहुरिष्यमाणेत्यादि । एवं वदतेति । 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' इत्यत्र यज्ञानां विविदिषोत्यादकत्वं वदतेत्यर्थः । आस्थेय इति, वेदवेदान्तयोरास्थेय इत्यर्थः । न चैवमिति । वैदिकाभिष्यानेत्याद्युक्तदिशेत्यर्थः । तदनिवेशेनेति । वेदस्यान्त इति योगाभावेन तथेत्यर्थः । न कथमपीति । तदुक्तं पत्रावलम्बने । ननु वेदान्तत्वं कथमिति सिद्धान्ते तु एवं लोकसिद्धस्य जगतो लोकप्रतीतिं वाधित्वा ब्रह्मत्वेनालौकिकत्वं संपाद्यत इति अर्धजरतीयन्यायात्तदन्तत्वं यथा लोकसिद्धस्य श्रीह्लादेलोकप्रतीतिं वाधयित्वा प्रोक्षणादिनाऽलौकिकत्वं क्रियते तद्वत्, प्रोक्षणवत्साधनानुत्तयाऽर्धजरतीयत्वम् । रामानुजाचार्यास्त्विति एते विशिष्टाद्वैतवादिनः । समानाकारं ज्ञानं विविदिषति विविदिषेत्यत्र सनर्थस्य तद्भाष्ये अविबक्षितत्वाद्देवनमात्रं समानाकारं ज्ञानम् । भावनेत्यादि वेदान्तोक्तया तज्जनकयज्ञादिकस्य समुच्चयम् । ध्रुवानुस्मृतीत्यादि ध्रुवानुस्मृतिरूपं यदुपासनाभक्त्यादिनामकं दर्शनेन समानाकारं ज्ञानं तज्जनकत्वेनेत्यर्थः ।

भास्कराचार्यास्त्विति । एते भेदाभेदवादिनः समन्वयाधिकरणे भेदाभेदनिरूपणेऽस्ति । विप्रतिपन्नमिति संदिग्धमित्यर्थः । ननु सांख्ये असङ्गः पुरुषः । परमाणुवादिनां स्वोपादानगोचरापरोक्ष-

भाष्यप्रकाशः ।

रूपैः वेदान्तोक्तेश्चरूपं जिज्ञास्यमित्युपगम्य पूर्ववत् समुच्चयमङ्गीकुर्वन्ति । सत्राणि च शारीरक-
पदेनोपवर्षादिमतमनुसृत्य विशिष्यन्ति । तन्मते पूर्वाचारकाण्डयोरभिधेयभेदेऽपि प्रयोजनैक्यादेकशा-
ख्यात्, 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति,' 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः,'

'वेदास्त्रिकाण्डविषया ब्रह्मात्मविषया इमे ।

परोक्षनादा ऋषयः परोक्षं च मम प्रियम् ॥

मां विधत्तेभिधत्ते मां विकल्प्यापोहते ह्यहम् ।

एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां मिदाम् ।

भायामात्रमनद्यान्ते प्रतिषिष्य प्रसीदति ॥

इति श्रुतिस्मृतिविरोधो दुर्वारः । गीतार्यां, ब्रह्मसूत्रपदैरित्युक्तेस्तद्विरोधश्च ।

भिधुभाष्ये तु, आत्मेत्येवोपासीतेत्यादिविहितज्ञानविषयं किं ब्रह्म, किं वा तस्य ब्रह्मतानि-
र्वाहकं गुणजातं, कीदृशं तस्य ज्ञानं, कीदृशं च तस्य ज्ञानस्य फलमित्यादिकं विशिष्य मुमुक्षुणां
जिज्ञासितं भवतीत्येवं जिज्ञासायुक्तेन संशयमधिकारिणं चोपन्यस्य शास्त्राभेदेन श्रुतिष्वन्योन्य-
विरुद्धार्थतायाः प्रतिभासनादिति जिज्ञासाजनकसंशयहेतुं चोपन्यस्य तन्निर्णयार्थं ब्रह्ममीमांसाशास्त्रसा-
पेक्षितत्वमुक्त्वा ब्रह्मज्ञानस्य चोदनालक्षणतया, 'अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्' इत्यादि-
स्मृत्या च धर्मत्वेऽपि न पूर्वमीमांसया ब्रह्ममीमांसाया गतार्थत्वं कल्पसूत्रवदशेषतन्निर्धारणार्थ-
त्वादित्यनेन धर्मस्य सर्ववेदार्थत्वं, ब्रह्ममीमांसायाः पूर्वमीमांसाशेषत्वं च प्रकटीकृत्य, 'सत्यं ज्ञान-
मनन्तं ब्रह्म' 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिसिद्धत्वाद् ब्रह्मस्वरूपे जिज्ञासा नोपपद्यत इत्या-
शङ्क्य, ब्रह्मस्वरूपज्ञानं किं सांख्यसिद्धं जीवचैतन्यं, किं वा चैतन्यान्तरमिति जिज्ञासासत्त्वादाकाङ्क्षितं
ब्रह्ममीमांसाशास्त्रं वेदन्यासः प्रतिजानीत इत्युक्तम् ।

तन्मतेऽपि पूर्वोक्तवाक्यविरोधो जैमिनेरकुशलत्वापत्तिश्च । किंचेदं शास्त्रं धर्मविशेषविचारार्थं

रश्मिः ।

ज्ञानचिकीर्षाकृतमानीश्वर इति । प्रधानादेः संशयकोटौ कथं निवेश इति चेत्, न असङ्गपुरुषादे-
रुक्त्याऽप्रयोजकत्वात्पूर्ववदिति, स्वभाष्ये पूर्वस्मिन्यथातयाऽयं समुच्चयोत्रैवाग्रे वक्तव्यः । एवं
च कार्यकारणजीवजिज्ञासेति सूत्रयितुं युक्तं, अन्यथा धर्मजिज्ञासया गतार्थत्वं स्यात्तत्राहुः सूत्राणि
चेत्यादि । स्फुटमिदं तद्भाष्ये । अत एव उपवर्षाचार्येणोक्तं प्रथमपादे, आत्मवादं तु शारीरके वक्ष्याम
इति रूपे, अतः-उपदेशविचारार्थत्वं संबन्धः न तु संहतत्वम् । अतः शारीरकाणि सूत्राणीति विशि-
ष्यन्ति अभिधेयभेदेऽपीति कर्मोपासनारूपाभिधेयभेदेपीत्यर्थः । गीतायामित्यादि त्रयोदशे
इत्यर्थः । 'बहुधा गीतम्' इत्यन्वयः ।

भिधुभाष्ये त्विति । अयमविभागद्वैतमङ्गीकुरुते यथा मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्तीति
अथास्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते इति छान्दोग्यश्रुतिदर्शनात् । इदं द्वितीयस्य तृतीयपादे
'यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्' इति सूत्रे वक्ष्यन्ति । अधिकरणमिति एतादृशब्रह्मजिज्ञासुमि-
त्यर्थः । श्रौतं विस्पष्टमेव ब्रह्मेत्याकाङ्क्षायामाह शास्त्राभेदेनेत्यादि । श्रुतिष्विति अधिकरणान्तर-
विषयभूतास्वित्यर्थः । जिज्ञासाजनकेत्यादि संशयो जिज्ञासाजन्मेति तथा । चोदनेत्यादि
आत्मेत्येवोपासीतेति चोदना । अकुशलत्वापत्तिरिति । निःशेषधर्मविचारस्याकृतत्वात्तत्त्वैत्यर्थः ।

भाष्यप्रकाशः ।

प्रवर्तितमुत्त ब्रह्मविचारार्थम् । आद्ये धर्मविशेषजिज्ञासा ब्रह्मज्ञानजिज्ञासेति वा प्रतिज्ञां कुर्यात् ।
प्रकरणेन एव ज्ञेयत्वेन तस्यैव प्रतिज्ञातव्यत्वात् । तदकरणेन व्यासस्याभ्यकौशलमापद्यते । द्वितीये
तु प्रतिपाद्यभेदात् पूर्वशेषत्वाभावेन कल्पसूत्रन्यायविरोधः । सिद्धान्ते तु ब्रह्मणः सर्ववेदार्थत्वा-
ज्जैमिन्युक्तं धर्मस्य तथात्वमपासितुं तथा शङ्कानिरासावापश्यकावित्यदोषः । तस्मादिदमपि पूर्वतुल्यम् ।

यत्तु शैबो रामानुजभैरवैकदेशमादायाराधनाराध्यभूतधर्मब्रह्मप्रतिपादकयोर्मीमांसाशास्त्रयोः
फलैक्यादेक्यम् । यथा हि त्रीहोत्रोक्षणं दर्शपूर्णमासोत्पत्त्यपूर्वहेतुतया स्वर्गं समुष्णीयते, तथा
कर्माणि ज्ञानप्रयोजकतया मोक्षे समुष्णीयन्तेऽतो गुणकर्मत्वाद्ब्रह्मत्वं ज्योतिष्टोमादीनाम् । नच
नित्यविधिप्राप्तानां तेषामितिकर्तव्यताविरोधात् कथं संस्कारतासिद्धिरिति शङ्क्यम् । करणतया स्व-
तन्त्रविष्यन्तरविहितसौत्रामणीवृहस्पतिस्वादेरग्रिचयनवाजपेयाद्यङ्गत्ववदुभयविधिष्वलादुभयसिद्धेः ।
अतो ज्ञानोदयावधि कर्माणि कर्तव्यानि । नच विविदिषन्तीति श्रुत्या विविदिषोत्पत्तिपर्यन्तत्वं
कर्मणां शङ्क्यम् । इच्छाया अपुरुषार्थत्वात् । अतः पूर्ववदेव शास्त्रैक्यमित्यङ्गीकृत्य ततो रामानुजा-
चार्यघृतेषु वाक्येषु परीक्ष्य लोकान् कर्मचितानित्यादिवाक्यत्रयं विषयत्वेनोपन्यस्य ब्रह्म विचारार्हं
न चेति संदेहे, अयमात्मा ब्रह्मेतिश्रुतिरहंविच्चिप्रत्यक्षसिद्धमात्मानं ब्रह्मेत्युपदिशतीति संदेहा-
भावात् । किंच, विचारफलं विषयपरिच्छेदः । वेदान्तविचारजन्यं ज्ञानं चेद् ब्रह्म परिच्छिनति तदा
परिच्छेदातीतत्वभङ्गप्रसङ्गः । यदि न परिच्छिनति, तदा प्रकाशाभावाद् ब्रह्मविषयज्ञानस्यासंभवः ।

रश्मिः ।

कल्पसूत्र इत्यादि बौधायनकल्पसूत्रन्यायस्य दृष्टान्ततायां विरोध इत्यर्थः । ननु सिद्धान्ते कथ-
मित्यत आहुः सिद्धान्ते त्वित्यादि । जैमिन्युक्तमिति वैशेषिकाद्यन्तर्गतपुराणप्रसिद्धजैमिन्युक्त-
वैशेषिकादितुल्येश्वररूपस्य धर्मस्य तथात्वं सर्ववेदार्थत्वमित्यर्थः । शङ्क्यादि 'जैमिनीये च वैष्यासे न
विरोधोस्ति कश्चन' इतिपुराणोक्तवेदाविरुद्धजैमिनिमतस्थापनाय भगवद्भिक्तशङ्कानिरासौ आवश्यक-
विति । तस्मादिति प्रयोजनैक्यादेकशाख्यात् । पूर्वतुल्यमिति 'सर्वे वेदाः' इत्यादिपूर्वोक्तवाक्य-
विरोधब्रह्मसूत्रपदैरितिगीताविरोधाभ्यां धर्माभ्यां भास्कराचार्यमतसदृशमित्यर्थः । शैब इति अयमपि
विशिष्टाद्वैतवादी शिवो ब्रह्मेति । तदाह यथा ह्रीत्यादिना । एतच्च पूर्वतप्ते द्वितीयाध्याय उक्तम् ।
दर्शपूर्णमासाभ्यामुत्पत्तिर्यस्यापूर्वस्य तद्देतुतयेत्यर्थः । गुणकर्मत्वादिति त्रीहीनवहन्तीतिवत्संस्कारक-
त्वादित्यर्थः । तेषामित्यादि प्राशस्त्यज्ञानस्य शाब्दभावनायामितिकर्तव्यत्वात् ज्योतिष्टोमादीनामर्थ-
भावनायां करणत्वेन तद्विरोधात् कथं 'आत्मेत्येवोपासीत' इति भावनायामितिकर्तव्यत्वरूपसंस्कारकर्म-
तासिद्धिरित्यर्थः । उभयविधिष्वलादिति ज्योतिष्टोमविधिः 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति'
इति उभयविधिष्वलात् ज्ञानस्वर्गोभयरूपफलसिद्धेः करणतासंस्कारतयोर्वा सिद्धेरित्यर्थः । पूर्ववदेवेति
फलैक्यादेवेत्यर्थः । वाक्येष्विति 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवागुत्र पुण्यचितो लोकः
क्षीयते' 'अन्तवदेवास्य तद्भवति' 'न ह्यधुवैः प्राप्यते ध्रुवम्' 'इवा बोते अट्टा यङ्गुराः' 'परीक्ष्य लोकान्
कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वंदमायान्नास्त्वकृतः कृतेन' 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः
श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् । तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमाप्चिताय । येनाश्वरं पुरुषं वेद
सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्' 'ब्रह्मविदामोति परम्' 'न पुनर्भृत्ये तदेकं पश्यति' 'न पश्यो
मृत्युं पश्यति' 'अकर्मपश्यो न स्वराद् भवति' 'तमेवं विद्वानश्रुत इह भवति' 'तमेव विदित्वातिष्ठत्यु-

भाष्यप्रकाशः ।

तस्मान्न विचार्यमिति पूर्वपक्षमुक्त्वा, विचारयोग्यं ब्रह्म, 'अयमात्मा ब्रह्म' इति श्रुत्याऽङ्कारबद्धस्य संसारिण आत्मनो ब्रह्मत्वाभिधानादेव संदेहसंभवात् । निरस्तसमस्तोपपन्नकलङ्कस्य निरतिशयज्ञानानन्दादिशक्तिमहिमातिशयवत्त्वं हि ब्रह्मत्वम्, अनाद्यज्ञानवासनावष्टम्भविजृम्भितविचित्रकर्मफलभोगानुगुणबहुशरीरप्रवेशनिर्गमव्यापारपरवशनिःसीमतापसहिष्णुत्वं जीवत्वमिति तयोर्लक्षणेनेतर-तरभेदनिश्चये तयोरेक्यदौर्घ्यस्फूर्तेः । किञ्च । अत्रं ब्रह्म, मनो ब्रह्म, विज्ञानं ब्रह्म, आदित्यो ब्रह्म, नारायणं परं ब्रह्म इत्यादयोऽन्यमन्यमर्थं ब्रह्म इत्याहुः । तत्रं किं ब्रह्मेत्येवं संदेहादपि विचारार्हं ब्रह्म । नचापरिच्छिन्नत्वाद् ब्रह्मणस्तद्विषयं ज्ञानं न संभवतीति शङ्क्यम् । ईदृगिदमिति ब्रह्मणः परिच्छेदासंभवेऽपि लक्षणमुत्वेनेतरव्यावृत्ततामात्रेण परिच्छेदसंभवात् लक्षणेन परिच्छेदो हि सर्वत्र लक्ष्यविषयकेतरव्यावृत्तताज्ञानरूप एव दृष्ट इत्यदुष्टः । अत उपदिष्टस्य ब्रह्मणो लक्षणे वेदान्तवाक्यैर्निरूपिते परीक्षिते च सति तद्व्यवस्थान्येभ्यः सजातीयविजातीयेभ्यः सर्वेभ्यो व्यावृत्तं ब्रह्म विज्ञायत इति तदर्थं युक्तः शास्त्रारम्भ इत्याह । एतन्मतेऽपि तेषां वाक्यानां विरोधः पूर्ववदेव । जीवलक्षणं तु जीवप्रकरणे दूषयिष्यामः । किञ्च । 'ज्ञान्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति,' 'ईशं तं ज्ञान्वा अमृता भवन्ति,' 'तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्,'

'आत्मानमरणं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।

ध्याननिर्मथनादेव पाशं दहति पण्डितः' ॥

'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' इतिश्रुत्युक्तमोक्षप्राप्तिलिङ्गेन शिवस्य परब्रह्मत्वं यत्तेनोपगतं, तदप्यसंगतम् । 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति तदुपन्यस्ते फलवाक्ये, नारायणं परं ब्रह्मेति श्रुत्युक्तनारायणरूपग्रहणस्यैव युक्तत्वात् । उभयत्रापि परब्रह्मपदोपबन्धसाम्यात् । लिङ्गापेक्षया

रश्मिः ।

मेति नान्यः पन्था अयनाय विद्यते' 'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्तत्स्तेनामृतत्वमेति' इति वाक्येष्वित्यर्थः । अहंकारबद्धस्येत्यादि अयमित्यस्य तात्पर्यकथनमिदम् । निरस्तसमस्तेति आधाराभिधानमिदम् । अनादीति अनादिरज्ञानवासना सैवावष्टम्भः प्रारम्भः तेन विजृम्भितं उजृम्भितं चेष्टितमुत्फुल्लं वा यच्चित्रकर्मफलं तस्य भोगः साक्षात्कारः तस्यानुगुणानि बहूनि शरीराणि तेषु प्रवेशनिर्गमौ तावेव व्यापारौ ताभ्यां परवशस्य निःसीमतापः निरवधितापः तस्य सहिष्णुत्वम् । लक्ष्यविषयकेत्यादि । यमाकाशमितरव्यावृत्तमित्याकाशलक्षणेन ज्ञायते इति परिच्छेदो हीतरव्यावृत्तताप्रकारकलक्ष्यविषयकज्ञानरूप एवेति । जीवप्रकरण इति द्वितीयाध्याये तृतीयपाद इत्यर्थः । आत्मानमित्यादि मनसि प्रणवस्य भावनादेवं ज्ञात्वा मुच्यत इति फलितोर्थः । मोक्षप्राप्तीत्यादि । यदि शिवः परं ब्रह्म न स्यात्तर्हि तज्ज्ञानेन मोक्षो न स्यादिति मोक्षप्राप्तौलिङ्गं सामर्थ्यं तेनेत्यर्थः । नारायणमित्यादि नारा आपस्ता एवायनं यस्येति जलशायिनमित्यर्थः । दृष्टं यथा-वर्षजलशायिसूर्यमण्डलस्थं ब्रह्म यथा वा वर्षजलशायिर्भ्रंशो गर्जति तथा ब्रह्म । अत उक्तं युक्तत्वादिति । हेत्वन्तरमाहुः उभयत्रेत्यादि । ननु लिङ्गस्य का गतिरत्राहुः लिङ्गापेक्षयेत्यादि ।

१. विष्टुत् ।

भाष्यप्रकाशः ।

श्रुतेर्बलिष्ठत्वात् । 'ऋतं सत्यं परं ब्रह्म' इतिवाक्यस्यापि संदिग्धत्वात् । शिवेशादिपदानां च भगवद्वाचकत्वमेवेत्यादिकमस्माभिः प्रहस्ते निपुणतरमुपपादितम् । पुनत्रेऽपि तत्र तत्रोपपादयिष्यते ।

माध्वास्तु शास्त्रे प्रवर्तनीया ब्रह्मजिज्ञासा विषयः, कर्तव्या न वेति संदेहः । तत्र प्रमाणाभावेन जीवव्यतिरिक्तस्य ब्रह्मणोऽभावाजीवस्य स्वप्रकाशत्वाद्द्विविधौ प्रकाशमानत्वात् तस्यापि ज्ञायमानत्वेनानुभवान्तरान्धेषुऽनवस्थाप्रसङ्गाद् क्वचिद् विश्रान्त्यङ्गीकारे आत्मन्येव तथात्वौचित्यात् । न च स्वप्रकाशसंविदाश्रयतयाऽऽत्मा भासत इति युक्तम् । औपरिकानुस्मृतिसिद्धसौषुप्तिकानुभवामावप्रसङ्गात् । तत्र संविदाश्रयत्वेनात्मप्रतीतेरभावात् । अतः स्वप्रकाशात्मानतिरिक्तस्य ब्रह्मणः संदिग्धत्वाभावेनाविषयतया तज्जिज्ञासाया अपि तथात्वात् कर्तव्येति पूर्वः पक्षः । सिद्धान्तस्तु, भवेदेतदेवं, यदि स्वप्रकाशजीवाभिन्नं ब्रह्म स्यात् । न त्वेवम् । जिज्ञास्ये ब्रह्मपदप्रयोगात्, तद्विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्मेति ब्रह्मशब्दस्य गुणपूर्णतां वक्ति । 'अथ कसादुच्यते ब्रह्मेति, बृहन्तो ब्रह्मिन् गुणाः' इति श्रुतेः । तथाच कथं तस्य जीवामेदः । जीवस्याल्पगुणत्वेनानुभवात् । न च ब्रह्मणि गुणाध्यासः । परमार्थतोऽब्रह्मत्वप्रसङ्गात् । न च देशाद्यपरिच्छिन्नत्वं ब्रह्मत्वम्, उक्तश्रुतिविरोधात् । देशाद्यपरिच्छेदेनापि जीवामेदसिद्धेः । जीवाणुत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् । जीवस्य स्वप्रकाशत्वेपि तद्विज्ञानब्रह्मणः संदिग्धत्वाद्विषयत्वम् । अतस्तज्जिज्ञासा कर्तव्येत्याहुः । ब्रह्मशब्दश्च विष्णावेव रूढः । 'यमन्तःसमुद्रे कवयोऽवयन्ति, यदक्षरे परमे प्रजाः, यतः प्रद्यता जगतः प्रद्यती तोयेन जीवान् व्यचसर्ज भूम्याम्' इत्युक्त्वा, 'तदेवर्तं तदु सत्यमाहुस्तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम्' इति श्रुतौ समुद्रान्तःस्यत्वलिङ्गिते जगत्कर्तारि परब्रह्मत्वविधानात् । 'यो देवानां नामधा एक एव' इति श्रुतावेवकारेणैकस्य सर्वनामधारकत्वमुक्त्वाऽग्रे, 'अजस्य नाभावञ्चेकमर्षितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तत्सुः' इति विश्वाधारपक्षस्य नाम्यर्षितत्वश्रावणात् ।

रश्मिः ।

बलिष्ठत्वादिति । एतच्च तृतीयस्य तृतीयपादे 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्घ्यमर्थविप्रकर्षात्' इत्यधिकरणे चिन्तितम् । 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इत्युदाहरणम् । ननु परब्रह्मपदोपनिबन्धः शिवपरेपि वाच्ये दृश्यत इत्यत आहुः ऋतं सत्यमिति । कथं तर्हि ज्ञात्वा शिवमित्यादि तत्राहुः शिवेत्यादीत्यादि । द्वितीये वादे वस्तुतः सर्वेषां शब्दानां सर्वार्थत्वस्य महामाध्यायमिमतत्वेन ब्रह्मवाचकत्वसैवाभिप्रेतत्वात् । प्रतिनियततावन्मात्रकार्यकरणेन भगवदनुकारितया व्यवहारार्थमेव शक्तिसंकोचेन शिवादिषु रुद्रवाचकत्वदर्शनेपि ब्रह्मवाचकत्वसापर्यवश्येयत्वात् । इत्येवं निपुणतरमुपपादितमित्यर्थः । महाभाष्ये पस्पशाह्निके । आदिपदोक्ते वाक्यपदीये तु

'संबन्धिभेदास्तस्यैव मिद्यमाना गवादिषु । जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यनस्थिताः ॥

तां प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते । सा नित्या सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः' ॥ इति स्फुटम् । इति तद्दीकायाम् ।

माध्वास्त्विति एते भेदवादिनः । नन्वहंविधौ विषयत्वेन प्रकाशमानस्य कथं स्वप्रकाशत्वं तत्राहुः तस्यापीत्यादि । तथात्वौचित्यादिति स्वप्रकाशत्वौचित्यादित्यर्थः । औत्तरिकेत्यादि सुषुप्त्यौत्तरिकेत्यर्थः । तादृशानुस्मृतिः न किञ्चिद्वेदिषमित्याकारिका तथा कार्यभूतया सिद्धो वः कारणात्मा । 'सुखमहमस्वाप्सम्' इत्याकारकः सौषुप्तिकानुभवः तस्याभावप्रसङ्गात् । तत्रेति सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिद्वेदिषमित्यौत्तरिकानुस्मृतावित्यर्थः । तथात्वादिति अविषयत्वादित्यर्थः ।

भाष्यप्रकाशः ।

‘वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा ।

आदावन्ते च मध्ये च विष्णुः सर्वत्र गीयते’ ॥

इति हरिवंशवाक्याच्चेत्याहुः । तन्मतेऽपीज्यत्वेनैव वेदार्थत्वाङ्गीकारान्मां विषय इतिवाक्यविरोधः । यत्तु कर्मविधात्री श्रुतिर्मां प्रत्येव तद्विषये, इन्द्राद्यभिधात्री च मामभिषन्ते, चत्वारि वागिति श्रुत्या अहं विविधरूपत्वेन कल्प्यो, न सुरां पिबेदित्यादि श्रुत्याहमेवाप्रियादपोष इति व्याख्यातम् । तदप्यप्याहारश्रुतिसंकोचलक्षणादोपसंभवाच्चिन्त्यम् - प्रकृतमनुसरामः । एवंचात्र सूत्रे शेषषष्ठ्या ब्रह्मसंबन्धिनां जिज्ञासताबोधनेन साधारणाधिकारे ज्ञानकर्मसमुच्चयः उक्त्याधिकारे च भक्तिमार्गायः सर्वात्मभावः साधनमिति बोधितम् ॥ १ ॥

इति प्रथमं जिज्ञासाधिकरणम् ॥ १ ॥

रश्मिः ।

इज्यत्वेनैवेति विष्णुत्वेनैव न तु कर्मत्वेन । ‘यज्ञो वै विष्णुः’ इति श्रुतेः । अस्वरसमाहुः तदप्यधीत्यादि । तद्विषय इति कर्माध्याहारः । इन्द्राद्यभिधात्रीणां भगवदभिधाने वृत्तिसंकोचः । चत्वारि वागित्यादौ वागादिलक्षणेत्वेन ज्ञेयम् । पादसेवनन्यायेन भक्तिमीमांसेयमिति बोधयितुं सूत्रनिष्कर्षार्थमाहुरेवं चेति । ब्रह्मणोऽजिज्ञास्यत्वेन शेषषष्ठ्यामेव व्यासचरणतात्पर्यं चेत्यर्थः । विरोधनिराकरणस्यामुख्यसाधनसंबद्धत्वात्साधनाध्यायान्ते साक्षाद्ब्रह्मसंबन्धिन आहुः साधारणेत्यादि । ज्ञानकर्मसमुच्चयः ‘यदेव विद्यया’ इति ‘तमेतम्’ इति श्रुतिभ्यामुक्तः । द्वितीयः सर्वोत्तममार्गे कर्मणा चित्तशुद्ध्या भक्तिरिति । सर्वात्मभाव इति तन्निर्धारणाधिकरणे व्युत्पाद्यम् । अयमर्थः । सच्चिदानन्दस्य ब्रह्मणः सदंशस्य धर्मः कर्म, चिदंशस्य ज्ञानं, आनन्दस्य प्रेमा, आनन्दमयमुपक्रम्य ‘तस्य प्रियमेव शिरः’ इति श्रुतेः । तथा च सर्वात्मभावप्रतिज्ञासूत्रमिदं पूर्वाध्याये भक्तेर्विषयरूपं ब्रह्म प्रतिपाद्यते समन्वयप्रतिपादनद्वारा, द्वितीये तत्परिशोधः कियते, तृतीये प्रतिज्ञातः सर्वात्मभावो बोध्यते, चतुर्थे तत्फलमिति भक्तिमीमांसेयमिति सूत्रनिष्कर्षः । अथातो भक्तिजिज्ञासेति सूत्रयितुं युक्तं यद्यपि तथापि विषयस्य कारणत्वात्पुरःसरं प्रतिज्ञातं वेदितव्यमिति । किंच न भक्तिज्ञानकर्मभिरैव मोचयति किंतु अवतारदशायां स्वरूपेणापीति सकलरूपब्रह्मसंबन्धिनां जिज्ञासार्थं ब्रह्मजिज्ञासा इत्येव युक्तमिति शुभम् । अत्र ‘नानामतध्वान्तविनाशन’ इति भाष्यान्ते वक्ष्यमाणत्वात् नानामतान्मुक्त्वा ध्वान्तनाशनं कृतमिति ज्ञेयम् ॥ १ ॥

इति प्रथमं जिज्ञासाधिकरणम् ॥ १ ॥

किंच, तत्र किं लक्षणं किं प्रमाणकमिति जिज्ञासायामाह सूत्रकारः ।

भाष्यप्रकाशः ।

एवं पूर्वाधिकरणे वेदार्थभूतब्रह्मणो जिज्ञास्यत्वे साधिते कथं जिज्ञास्यमिति प्रकारविशेषाकाङ्क्षायां समन्वयाविरोधाभ्यां तस्य वक्तव्यत्वात् तद्बोधकप्रथिमस्यभवतारयन्ति तत्रेत्यादि । तेषु वक्तव्येषु तदुपजीव्यतया उक्तजिज्ञासायां लक्षणप्रमाणात्मकं प्रकारद्वयं पूर्वमाहेत्यर्थः ।

रश्मिः ।

पूर्वाधिकरणे ब्रह्मजिज्ञासापदेन त्रैवर्णिकोर्थजिज्ञासुरधिकारी, ब्रह्मसंबन्धी विषयः, प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः संबन्धः, शब्दं ब्रह्मज्ञानं च फलम्, तस्याप्यानन्दावाप्तिः फलमित्यनुबन्धवचनद्वयमुक्तम् । अन्यत्र षडङ्गैरेव वेदार्थनिश्चयस्य संभवादधिककाङ्क्षायाश्च तपःप्रभृतिभिरैव पूरणात् वेदान्ता अजिज्ञासा इत्याशङ्क्य ऋषिप्रणीतशास्त्रार्थव्यथाहुत्वात् तच्छ्रवणे बुद्धिदोषान्मन्दानां संदेहे तन्निवृत्तये इदं शास्त्रं कर्तव्यम् । यद्यपि ‘सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति’ इत्यादिना ब्रह्मण एव वेदार्थता तथापि ‘तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि’ इति पुरुषरूपता ‘वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः’ इति वेदान्तानामर्थनिश्चायकता चाज्ञायते । तस्मात् तपःप्रभृतीनामसंभवाद् वेदान्तविचारेणैव वेदार्थभूतब्रह्मस्वरूपनिश्चय इति ब्रह्मसंबन्धिविचारः श्रीमद्वादरायणाचार्यैः प्रस्तूयत इत्युक्तम् । अतो वक्ष्यमाणानि यावन्त्यधिकरणानि समाप्तिपर्यन्तानि तावन्त्यस्यैव विषय इत्युक्तं भवति । अतो विषयविषयिभावसंगत्याधिकरणभवतारयन्ति एवं पूर्वैत्यादिना । साधित इति ‘वेदार्थ-ब्रह्मणो वेदानुकूलविचार इति’ इति भाष्येऽस्माभिः भूतपदं समावेश्य वेदार्थभूतं ब्रह्म वेदार्थ-ब्रह्म इति समस्य साधित इत्यर्थः । साधनं तु वेदार्थवेदार्थभूतत्वेपि वेदार्थभूतत्वेन ब्रह्मग्रहणाद् भक्त्येकलभ्यत्वेवेदार्थत्वम् । अवेदार्थत्वे तु वेदानुकूलविचाराविचाराविषयत्वापत्तेः । नन्वेतस्य प्रकाशे सर्वपदं समावेश्य व्याख्यानं सर्ववेदार्थत्वेन ब्रह्म जिज्ञास्यमिति ग्रन्थेनेति चेन्न, सर्ववेदार्थत्वस्य वेदार्थमात्रपर्यायत्वेन वेदार्थभूतेत्याद्यनुपदस्वीकृतप्रकाशविरोधापत्तेः । तेन सर्ववेदार्थत्वं न वेदार्थमात्रत्वं किंतु वेदार्थभूतत्वं सर्ववेदार्थत्वप्रयोजकं लक्षणयेति । एतेन ‘वेदैश्च सर्वैरेहमेव वेद्यः’ इत्यपि व्याख्यातं, सर्ववेदार्थत्वं वेदार्थभूतत्वं विना न संभवतीति । प्रकारविशेषाकाङ्क्षायामिति । सामान्यप्रकारकजिज्ञासाया विशेषप्रकारकजिज्ञासाजनकत्वात् तादृशकाङ्क्षायां सामान्यप्रकारेण बृहत्त्वबृंहणत्वरूपब्रह्मत्वेनाजिज्ञास्यत्वाद् विशेषपदोपादानम् । तस्येति प्रकारविशेषस्य कर्तृत्वलक्षणस्य । इदमध्यायद्वये स्पष्टम् । तद्विधेयकमिति लक्षणप्रमाणबोधकम् । सर्वविरुद्धधर्मो-श्रयत्वरूपप्रकारविशेषस्य वक्तव्यत्वाद् ब्रह्मणो निमित्तत्वादिबोधकमित्यर्थः । तत्रेत्यादीति । अत्र किंच तत्रेत्यादीति वक्तव्येपि अवतरणान्तराभावेनान्यत्वेत्यर्थासंभवादारम्भो वक्तव्यः, स च कर्मानध्याहारं न समर्थ इति अध्याहाराभावायैतावदेवोपात्तम् । किंचेति त्यक्तं तद्विजं पूर्वमुक्तम् । तेषु वक्तव्येषु तत्र ब्रह्मणीति पूर्वार्थः । अत्राभासे तु प्रकारविशेषेषु वक्तव्येषु इति तत्रेत्यर्थः । तेच समन्वयसूत्रादारभ्याभिन्ननिमित्तोपादानतादयो विशेषप्रकाराः । संगतिभक्तिरणयोरार्हुः तदुपजीव्यतयेति । लक्षणप्रमाणाभ्यां सामान्यप्रकाराभ्यां वस्तुसिद्धवस्तुपजीव्याश्च तन्निर्याः प्रकाराः सामान्यविशेषरूपा इति तथेत्यर्थः । सधर्मकस्य निर्धर्मकामिन्नत्वेनोक्तजिज्ञासाविषयत्वमत उक्तमुक्तजिज्ञासायामिति उक्तजिज्ञासाविषये अधोक्षजपादेपि । लक्षणप्रमाणात्मकमित्यादिः । अतस्तदुपजीव्यता प्रकारविशेषोपजीव्यता तत्कारणता तथा, तेनोपजीव्योपजीवकभावः संगतिरित्यर्थः ।

१. ‘पदज्ञानं तु कर्णं द्वारं तत्र पदार्थधीः । शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी’ इति विचारोर्थस्य ।

जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात् ॥ २ ॥ (१-१-२)

भाष्यप्रकाशः ।

जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात् ॥ २ ॥ अत्र सर्वेऽपि योगविभागेन शास्त्रयोनित्वादिति सूत्रं भिन्नमभ्युपगच्छन्ति । तत्र युक्तम् । अग्रिमसूत्रेषु साध्यहेतुनिर्देशपूर्वकमेवाधिकरणरचनस्य दर्शनेनात्रापि तथैव युक्तत्वात्, सांख्ये ब्रह्मपदस्य प्रकृतौ प्रयुक्तत्वेन तद्व्याख्याय विवक्षितब्रह्मणि शास्त्रोक्तकर्तृत्वप्रतिपादनसावश्यकत्वाच्च । नच सूत्रभेदेऽप्यधिकरणस्य सूत्रप्रत्यात्मकत्वाङ्गीकारात् प्रथमसूत्रे विशेषतः प्रमाणानुक्तावप्यथशब्देन धर्मविचारानन्तर्ये ब्रह्मविचारस्य बोधिते ब्रह्मणो वेदान्तवेद्यतोपस्थितेः सुखेनोक्तदोषपरिहारात् सूत्रैक्यं न युक्तमिति वाच्यम् । अथशब्दस्यानेकार्थत्वेनानन्तर्यस्याप्यनेकविधत्वेन धर्मविचारानन्तर्यस्योपपादनसापेक्षत्वेन चाहत्य ब्रह्मणो वेदान्तवेद्यत्वानुपस्थित्या जन्माद्यधिकरणरचनायामनाश्वासप्रसङ्गात् । अतः सूत्रैक्यमेव युक्तमिति । ये तु जन्माद्यधिकरणं, शास्त्रयोनित्वाधिकरणं च भिन्नमङ्गीकुर्वन्ति तेषां मते प्रथमस्य हेतुशून्यत्वाद् द्वितीयस्य च साध्यशून्यत्वात् साकाङ्क्षतयाऽतिरिक्तत्वेन तद्विवक्षितप्रमेयासाधकत्वं बोध्यम् ।

रश्मिः ।

जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वादिति ॥ २ ॥ अत्रापि अस्मिन् सूत्रेपि तथा । साध्यहेतुप्रतिपादकत्वप्रकारस्यैव युक्तत्वादित्यर्थः । आवश्यकत्वाच्चेति । अकारण—

‘ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् । ब्रह्मसूत्रपदैश्वर्यं हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः’ ॥

इति स्मृत्यनुग्रहः संगृहीतः । अत्र ब्रह्मसूत्रपदमुपनिषत्परमिति शंकराः । तत्र सूत्रपदप्रवृत्तिर्भूया । रामानुजानां भास्कराणां चाशङ्कामनूद्य निषेधमाहुः न च सूत्रेत्यादि । किंचेति त्यक्त्वा तत्रेत्याभासो राद्धान्ते अधिकरणं सूत्रद्वयात्मकं वा । सूत्रत्रयेति । वेदान्तवेद्यतेति धर्मस्य वेदवेद्यत्वे ब्रह्मणो वेदान्तवेद्यत्वं क्रियाकाण्डं ज्ञानकाण्डमिति समाख्याभ्याम् । उपपादनेति शंकराचार्यैः साधनचतुष्टयानन्तर्याङ्गीकारात् क्वचिदधिकारार्थताङ्गीकारादुपपादनेत्यादि । अनाश्वासेति शास्त्रान्तरेभावात् संशयात्तथा । युक्तमितीति । किंच शास्त्रयोनित्वादिस्त्वानतिप्रयोजननिवर्तकत्वेनापि सूत्रैक्यं युक्तम् । तथाहि एतस्य शंकरभाष्ये यथोक्तमृगवेदादिशास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणमस्य ब्रह्मणो यथावत् स्वरूपाधिगम इत्याद्युक्त्वा शास्त्रमुदाहृतं पूर्वसूत्रे ‘यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते’ इत्यादीति चोक्त्वा किमर्थं तर्हीदं सूत्रं यावता पूर्वसूत्र एव एवंजातीयकं शास्त्रमुदाहरता शास्त्रयोनित्वं ब्रह्मणो दर्शितमित्याशङ्क्य तत्र सूत्राक्षरेण विस्पष्टं शास्त्रस्यानुपादानात् जन्मादिसूत्रेण केवलमनुमानमुपन्यस्तमित्याशङ्क्येत तामाशङ्कां निवर्तयितुमिदं सूत्रं प्रवृत्ते शास्त्रयोनित्वादितीति । समाधानग्रन्थेनानतिप्रयोजनत्वसूचनादिति । भाष्यानां मतमाहुः ये स्थित्यादि । आसत्तिविरहादप्रमाणमित्याहुः तेषां मत इत्यादि । साध्येति जगज्जन्मादिकर्तृत्वं साध्यम् । अतीति यथाकथंचित्साधने सूत्रभेदः किमर्थः गीताविरोधश्चेत् शब्दः । तद्वीति ‘कृष्णायाम्निष्ठकारिणे’ इति श्रुतेः तस्य व्याख्यानमाह विद्ययाविद्योपमर्ददशायां जातत्वेन आचार्य-चरितत्वाभावापत्या आचार्यविवक्षितं मोक्षसाधकं यत्प्रमेयं तस्य स्मृतिसहायाजन्मरूपहेतुसाध्यकत्वा-

ननु कथमत्र संदेहो यावता, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्याह श्रुतिरेव । विरुद्धं चेत् । स्वरूपलक्षणाकथने कार्यलक्षणस्य वक्तुमशक्यत्वात् । विवादाध्यासितत्वाच्च । न हि ब्रह्मणो जगत्कर्तृत्वं सर्वसंमतम् । न चागमोदितमिति वेदमात्रस्य ब्रह्मप्रमाणकत्वं वक्तुं शक्यते ।

भाष्यप्रकाशः ।

लक्षणे शङ्कते नन्वित्यादि । यत् संदिग्धं तत् सम्यक् परिच्छेत्तुं लक्षणीयम् । अत्र ब्रह्मणि कथं संदेहः । यावतेत्यवधारणे हेत्वर्थे वा । तथाच ब्रह्मणः सत्ता स्वरूपलक्षणं च श्रुतित एव सिद्धम् । तदवधारणे ततो हेतोर्वा ब्रह्मणोऽखिलविशेषशून्यत्वेन सिद्ध्या संदेहप्रयोजकप्रकाराभावात् संदेह एव न घटत इत्यर्थः ।

प्रकारान्तरेणापि तदभावमाह चिरुद्धमित्यादि । यद्धि लोकाग्रसिद्धं तदलौकिकया श्रुत्या निर्णयम् । श्रुतिस्तु पूर्वं स्वरूपलक्षणमुक्त्वाऽग्रिमे प्रपाठके कार्यलक्षणं वक्ति । अतः प्रथममेव तत्कथनं श्रुतिविरुद्धम् । न च स्वरूपलक्षणे संदेहाभावात् कार्यलक्षणमेवोच्यत इति युक्तम् । अत्र प्राणादिष्वपि तस्यातिप्रसङ्गदर्शनेन स्वरूपलक्षणाकथने केवलतत्कथनस्याप्रयोजकत्वात् । कैश्चिन्मायाशबलस्यान्यैः शुद्धसत्त्वात्मकशरीरविशिष्टस्येतैः सत्त्वादिगुणत्रयात्मकस्य प्रधानस्यापरैर्नित्यज्ञानेच्छाप्रयत्नधर्मकस्य तथात्वाङ्गीकारेण तस्य विवादाध्यासितत्वाच्च । तदेव विभजति न हीत्यादि । ननु ब्रह्मणः कर्तृत्वस्य सर्वसंमतत्वाभावेऽपि वेदस्य प्रमाणमूर्धन्यत्वात् तदुक्तकोटैरौत्क्यात् संदेहाभावाच्च लक्षणविचार उचित इति चेत् तत्राह न चेत्यादि । चोऽवधारणे । कर्ता आगमेन वेदरूपेण

रश्मिः ।

साधकत्वमित्यर्थः । यावतेत्युक्तसंबन्धार्थं तच्छब्दघटितफक्किकामाहुः तद्वेति । अखिलेति सत्यत्वाद्यभावानामधिकरणरूपत्वेन परेषां तथा । संदेह इति संदेहे दूरत्वं कारणं स्याणुर्वा पुरुषो वेत्यत्र स्याणुत्वपुरुषत्वादिकं प्रयोजकं तद्वदत्र तदभावात् । तदभावमिति संदेहाभावमित्यर्थः । स्वरूपेत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति स्म यद्वीति । लोकाग्रेति अनधिगतार्थगन्तुत्वं श्रुतिप्रामाण्यं यतः । श्रुतिस्तिष्ठत्यादि । तैत्तिरीयाणां ब्रह्मोपनिषदीत्यर्थः । अक्षेत्यादि । ‘अज्ञाद्वेव स्वस्त्विति भूतानि जायन्ते’ इत्यादिश्रुतिभिः कार्यलक्षणस्यातिव्यासिरेवं तु स्वरूपलक्षणलक्षिते कार्यलक्षणं विवक्षितमिति नातिव्याप्तिः । अज्ञादीनां सत्यादिप्रधान्यात् प्रकटसच्चिदानन्दत्वमिति नातिप्रसङ्ग इति भावः । हेतुभाष्यमवतारयितुं शङ्कानिषेधावाहुः नच स्वरूपेत्यादि । केवलतत्कथनस्येति कार्यलक्षणकथनस्येत्यर्थः । अप्रयोजकत्वादिति । इदमशक्यत्वादित्यस्य विवरणम्, तथाहि कार्यलक्षणस्य किमन्यद् ब्रह्मज्ञानजनकमिति जिज्ञासया प्रवृत्तत्वेन जिज्ञासायाः स्वरूपलक्षणलक्षितप्रकटितत्वेन विशेषणज्ञानाभावप्रयुक्तजिज्ञासाभावात् कारणविघटनेनाकारणकत्वरूपाप्रयोजकत्वमशक्यत्वमिति । विवादेत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति कैश्चिदिति । शंकरैरित्यर्थः । अन्यैरिति रामानुजैश्च भास्करमाच्यैरित्यर्थः । इतरैरिति सांख्यैरित्यर्थः । अपरैरिति नैयायिकैरित्यर्थः । तथात्वाङ्गीकारेणेति भूतादिकर्तृत्वाङ्गीकारेणेत्यर्थः । तस्येति भूतादिकर्तृत्वसेत्यर्थः । तद्वेति विवादाध्यासितत्वमेवेत्यर्थः । तदुक्तेति वेदोक्तायाः कर्तृत्वकोटेः । लक्षणेति कार्यलक्षण-

किंच व्यर्थञ्चैवं विचारः । लक्षणप्रमाणाभ्यां हि वस्तुज्ञानं भवति । तत्र स्वरूपलक्षणेनैव भवतीति किमनेन । तस्मादयुक्तमुत्पद्याम इति ।

उच्यते ।

संदेहवारकं शास्त्रं वेदप्रामाण्यवादिनाम् ।

क्रियाशक्तिज्ञानशक्ती संदिद्येते परस्थिते ॥

न हि श्रुतिं व्याख्यातुं प्रवृत्तः सूत्रकारः किंतु संदेहं वारयितुम् । तत्र, 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्', 'नित्यशुद्धमुक्तस्वभावम्' इतिश्रुत्या कर्तृत्वादिप्रापञ्चिकधर्म-
राहित्यं प्रतीयते । 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' इति कर्तृत्वं च ।

भाष्यप्रकाशः ।

मूलशब्देणोदित इत्येतावता कृत्स्नस्य वेदस्यैव ब्रह्मणि प्रमाणत्वं न वक्तुं शक्यते । कल्पनोप-
देशस्यापि तत्र शक्यवचनत्वादनुमानस्यापि तत्र प्रमाणत्वाच्चेत्यर्थः । अत्र ब्रह्मप्रमाणत्वमिति पाठः
प्रतिभाति । अथ वेदोक्त एवाग्रहस्तदा दूषणान्तरमाह किंचेत्यादि । अयुक्तमिति सूत्रोक्तं लक्षण-
मयुक्तमित्यर्थः । शेषमतिरोहितार्थम् ।

अत्र समाधातुं शक्यते उच्यते इत्यादि । प्रकारान्तरेणात्र संशय उच्यते । वेदप्रामाण्यवा-
दिनाम् । 'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति' इति श्रुत्यनुसारेण ब्रह्मण्येव सर्वस्य वेदस्य प्रामाण्यम-
न्यत्र प्रमाणाभासत्वमितिवादिनां वेदे यः संदेहस्तद्वारकनिदं वैयासं शास्त्रम् । तत्र कः संदेह
इत्यपेक्षार्या, परस्थिते 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्यत्राप्येति कर्मभूतो यः पर उक्तस्तत्स्थिते क्रिया-
शक्तिज्ञानशक्ती स्वरूपलक्षणविरुद्धत्वाद् ब्रह्मणि संदिद्येते, स्तो न स्तो वेत्येव संदेह इत्यर्थः ।
गृहीतं विमज्जते न हीत्यादि । यदुक्तं स्वरूपलक्षणाकथन इत्यादि, तदसंगतम् । यदि सूत्र-
कारः श्रुतिं व्याख्यातुं प्रवृत्तः स्याद् यथाक्रमं प्रतिपदं च व्याकुर्वीत् । न तु तथा । किंतु संदेहं
वारयितुम् । ततश्च यत् संदिग्धं तद्विद्वृणोति, व्याख्येयसमानार्थकैरन्यैश्च पदैर्विपक्षसपक्षवाधक-
रहिमः ।

विचारः । कल्पनेनेति यथा 'वाचो धेनुमुपासीत' इत्यत्र वाचो धेनुत्वकल्पने कल्पनयोपदेशः ।
तत्रेति कृत्स्ने वेदे । प्रतिभातीति । एतेन ब्रह्मणि, प्रमाणं भावे ल्युट्, प्रमा येनेति व्यधिकरण-
पदो बहुव्रीहिः कप् साधक इत्यसूचि । 'यतो वाचो निर्वर्तन्ते' इति श्रुतेरज्ञाते कं साधयित्वा
ब्रह्मणीदमित्यतांशे ज्ञानप्रमाणकत्वं वार्थः । यद्वा केनोपनिषदि 'यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्यु-
द्यते' इति श्रावणाद्ब्रह्म प्रमाणं यसेत्येव बहुव्रीहिः । वेदोक्तेति वेदोक्तावेदोक्तयोर्वेदो-
क्तलक्षण इत्यर्थः । एवकारेण व्याख्यानव्यवच्छेदः । प्रकारान्तरेणेति प्रकारस्तु वेदोक्तस्वरूप-
लक्षणं व्याख्यानोक्तमसर्वाङ्गीकृतकर्तृत्वलक्षणं वा ब्रह्मेति । तद्विद्यत इति अपोक्षजे परे
स्थिते । अपोक्षजत्वाच्च विचारस्तस्य । अत एव शेषपट्टी । आर्थिकार्थमाहुः ततश्च यदित्यादि ।
विद्वृणोतीति विवृण्वन्ति । व्याख्येयेत्यादि । यद्यप्याचार्याः यत इत्यादौ आचार्य इवाचरणं
करोति इति व्याख्येयसमानार्थकैः पदैरेव विवरणं दृश्यते, तथापि प्रकृतोपयोगि विवरणमिदं
ज्ञेयम् । यथात्रैव सूत्रे समपदानि अन्यानि च । एवं सर्वत्राप्याये । द्वितीयाध्याये विपक्षो निश्चि-
तसाध्याभाववान् यथा सांख्यानमसंगपुरुषः भूतकर्तृत्वरूपनिश्चितसाध्याभाववान् । तस्य वाधक-

तत्र संदेहाः । किं ब्रह्म कर्तृ, आहोस्विदकर्तृ । किं तावत् ब्राह्मम् । अकर्तृ ।

भाष्यप्रकाशः ।

साधकत्वोपन्यासेन संदेहमपाकरोति । तत्र, सत्यमित्यादिके स्वरूपलक्षणे, यतो वेत्यादिकार्य-
लक्षणे, च ब्रह्मपदादेकस्यैव लक्षणद्वयमुतोमयत्र सामान्यशब्दप्रयोगेऽपि लक्ष्यस्वरूपभेदेन तदव-
च्छेदकभेदाद् ब्रह्मभेदः । तत्र यदि भेदस्तदा कस्य वेदाद्यैर्त्वं कस्य न, उत्तोमयोर्वेति पुनः
संदेहसंभव इति तद्वारणार्थमेकं ब्रह्म वक्तव्यम् । तथा सत्युक्तरीतिकार्य विरोधात् संदेह इति
प्रकारप्रभोचरत्वेन संदेहबीजमुक्तम् । स्वरूपलक्षणस्य हृदिकरणादकथनेऽप्यदोषश्च बोधितः ।
संदेहाकारमाहुः तत्रेत्यादि । तथा च परस्परविरुद्धार्थबोधकाम्यां लक्षणाभ्यामेव संदेहालक्षणकरणं
युक्तमित्यर्थः । पूर्वपक्षं विवृण्वन्ति ब्रह्मेत्यादि । अयमर्थः । शेषलक्षणे, कर्म फलार्थत्वादित्यने-
रहिमः ।

स्तर्कस्तदा सांख्यस्तुत्यनवकाशः स्यादिति तस्योपन्यासः । सपक्षो निश्चितसाध्यवान् स च
प्रकृतिसमवायिपरमाणुभिश्चरदृष्टान्तादिरूपस्वद्राधकस्तर्को वधेयं स्यात् सिद्धान्तरूपस्योप-
न्यासत्वेन । संदेहास्त्रप्रतरोक्ताः अत्रत्योऽत्रैव वाच्यसत्र सत्यमित्यादिना । यद्यपि उक्तरीतिकर्तव्योप-
न्यासो नास्ति तथापि सामान्यन्यायेन बोध्यः । अत्रत्यसंदेहमाहुः तत्र सत्यमिति । ब्रह्मपदादिति
'तद्विजिज्ञासस्व तद्रह' इति कार्यलक्षणे ब्रह्मपदं, तेन कार्यलक्षणलक्षितं स्वरूपलक्षणे परविपक्षि-
तदाम्यां परिषापितं ब्रह्म जिज्ञासासंबन्धीत्युक्तम् । तत्र जिज्ञासा विचाररूपा अपोक्षजत्वात्तरे
विपक्षिति न प्रवर्तते, यौगिकी तु प्रवर्तते विचारसाशेषधर्मसापेक्षत्वेन इदमित्यतान्नेऽभावेऽपि
आहार्यज्ञानविषयिण्या इच्छया अपोक्षजत्वेऽपि अवाधात् । धर्मत्वसामान्यप्रत्यासत्त्या सर्वे धर्मा
इति ज्ञानसत्त्वात् विचारे त्वसाप्रयोजकत्वात् । विचारस्य सर्वधर्मस्वरूपज्ञानसापेक्षत्वात् । अतः
तद्विजिज्ञासस्व इत्यत्र तदिति लक्षणीकं पदं विचारार्थपक्षे, द्वितीये तु यथोक्तम् । एकस्येति
ब्रह्मण इत्यर्थः । उभयत्रेत्यादि कार्यलक्षणलक्षिते स्वरूपलक्षणलक्षिते चेत्यर्थः । ब्रह्म-
शब्दप्रयोगेऽपि लक्ष्यस्य कार्यलक्षणनिर्णयवाक्येन 'आनन्दान्द्वेषे खल्विमानि भूतानि जायन्ते,
आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दे प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' इत्यनेन आनन्दत्वनिर्वचनलक्ष्य आनन्दः,
स्वरूपं सत्यज्ञानानन्तरूपमिति भेदेन आनन्दत्वसंबुद्धत्वरूपशक्यतावच्छेदकभेदात् ब्रह्मभेद इत्यर्थः ।
बृहत्त्वबृंहणत्वे व्यापकत्वपोषकत्वरूपेऽवच्छेदकत्वेनोक्ते । सत्यज्ञानानन्तरूपमपि स्वरूपतावच्छेदकं
ज्ञेयम् । तत्रेति लक्ष्यस्वरूपयोरित्यर्थः । एकं ब्रह्मेति विद्वन्मण्डने स्पष्टम् । तथासतीत्यादि
एकस्मिन्ब्रह्मणि कार्यस्वरूपलक्षणलक्षिते सति । एकस्यैव लक्षणद्वयमित्युक्ता रीतिर्यस्मिन् संशय-
वर्षने तस्माद्द्विरोधात्कर्तृ आहोस्विदकर्तृ इत्येवंविधसंशयगतविरोधात् । अथवा माध्योक्तरीतिक-
त्वरूपलक्षणविरोधात्कारिकोक्तः क्रियाशक्तिज्ञानशक्ती स्तः न स्तो वा इत्येवं संदेह इति । उच्यते
इत्यस्यार्थकथने प्रकारान्तरेणेत्युक्तं तत्र प्रकारप्रभो भेदप्रतियोगिप्रकारः क इति आशेषलक्ष्य-
स्तदुचरत्वेन माप्ये श्रुतेति कार्यलक्षणलक्षिकयाभावस्य श्रुतिबोधितत्वाविशेषरूपं कर्तृत्वांशे कोटि-
बीजमिति स्वरूपलक्षणविरोधरूपं च संदेहबीजमुक्तमित्यर्थः । भगवता व्यासेन स्वरूपलक्षणा-
नुक्तौ हेतुमाहुः स्वरूपेत्यादि । अपोक्षजत्वादपि स्वरूपलक्षणं हृदिकृतम् । तत्रेत्यापीति कर्तृ
ज्ञानक्रियाशक्तिमत, अकर्तृ तद्रहितं तेन ज्ञानशक्तिक्रियाशक्ती संदिद्येते इति कारिकाविरोधो न । नहि
परमस्ति न वेति संदेह उपपद्यतेऽसत्त्वप्रसङ्गात् । तथा चेति एकस्यैव लक्षणद्वयमित्येवं संशये नाकृतौ ।
पूर्वपक्षमिति अकर्तृति पूर्वपक्षमित्यर्थः । कर्म फलार्थत्वादिति । इदं सूत्रं पूर्वतत्रे तृतीयेऽस्ति ।

कथम् । 'ब्रह्मविद्यामोति परम्' इति प्रधानवाक्यम् । फलसंबन्धात् । ऋचापि विवृतम् । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् । सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' इति । फलार्थं च ब्रह्मज्ञानम् । फलं च फलवाक्योक्तधर्मज्ञानादेव, नान्यथा । कर्तृत्वं च परविवरणतयोक्तम् । परं किमित्युक्ते यः सर्वान्तर आनन्द इति । कथं सर्वान्तरमित्याकाङ्क्षायां परिषयार्थं

भाष्यप्रकाशः ।

नोपलक्षणविधया ज्ञानस्यापि फलशेषत्वे सिद्धे प्राधान्यं फलस्यैवेति तत्संबन्धाद्भक्तमेव प्रधान-
वाक्यं, न तु कार्यलक्षणवाक्यं तथा । न चैवं पूर्वकाण्डेस्तु, उत्तरकाण्डे तु किमित्युपेयमिति
वाच्यम् । ऋचापि विवृतम् । यदि तस्य प्राधान्यं न स्यात् किमिति विवेचय्यादतोऽत्रापि तदाह-
तम् । तथा सति ज्ञानं फलार्थं, फलं च फलवाक्योक्तधर्मज्ञानात् परत्वज्ञानादेव । अतः परत्वज्ञानार्थं
कर्तृत्वं परविवरणतयोक्तम् । स्वरूपलक्षणे प्रापञ्चिकधर्मराहित्यप्रतीतेर्ब्रह्मणि कर्तृत्वस्याश-
क्यवचनत्वात् । तस्माद्वा एतस्मादित्यादिना यत् कर्तृत्वमुक्तं तज्ज्ञेयात् फलरूपं परं पृथक्कृत्य
तं विवरीतमुक्तम् । ततस्तत्स्वरूपजिज्ञासायां सर्वान्तरत्वकथनपूर्वकमानन्द इति स्वरूपमुक्तम् ।
अन्यथा तन्निरूपणमसंगतं स्यात् । सर्वान्तरत्वं च तस्य परत्वनिर्वाहकतयोक्तम् । तत्रापि कथं-

रश्मिः ।

'कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात्' इति तदर्थकथनमिदम् । तथेति प्रधानत्वेनेत्यर्थः । ऋचापी-
त्यादि भाष्यमवतारयन्ति न चैवमित्यादि । न चैवमिति पूर्वतन्नीयन्यायादरणमित्यर्थः ।
यदि तस्येत्यादि यदि उत्तरकाण्डे फलसंबन्धिवाक्यस्य प्राधान्यं न स्यादित्यर्थः । अत्रापि-
त्यादि उत्तरकाण्डेपि फलसंबन्धात्प्राधान्यमाहृतमित्यर्थः । फलार्थं चेत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति
तथासतीत्यादि । कोऽसौ धर्मो यज्ज्ञानात्फलमित्यत आहुः परत्वज्ञानादिति । ब्रह्मणो विशेष-
धर्माणां चाधोक्षजत्वेन यतो वाच इति श्रुत्या चानुक्तिः । भाष्ये । एवकारेण ब्रह्मत्वेऽपि सर्वेषां
कार्यकारणभावाभावादप्यफलकारणं व्यवच्छिद्यते । भाष्ये । नान्यथेति नान्यधर्मज्ञानैः कार्यकारण-
भावाभावादित्यर्थः । प्रकृते । कर्तृत्वं चेत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति अतः परत्वत्वेत्यादि । उक्त-
मिति । 'परमे व्योमन्' इत्यन्तेन 'ब्रह्मवित्' इत्यंशविवरणं कृत्वा 'सोऽश्नुते' इत्यादि परविवरणे ब्रह्मणेति
सहाय्येऽप्रधाने तृतीयया कर्तृत्वमुक्तमशनसाप्रधानं मुख्यं तु कर्तृत्वम् । 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन
आकाशः संगतः' इत्यादिनोक्तं विवरीतुमिति 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गाः' इत्यादिश्रुत्युक्तमक्ष-
रकर्तृत्वं तु 'कदाचित्पुनरन्यथा' इति निबन्धात्परणरूपाक्षरद्वारेति फलितम् । तदेव स्पष्टयन्ति
स्वरूपलक्षणत्वेत्यादि । ज्ञेयादिति ब्रह्मविदित्युक्तादित्यर्थः । परं किमित्यादि भाष्यं विवृ-
ण्वन्ति ततस्तदित्यादि । अत्र यद्यपीति श्लेषः । परं किमिति तत्स्वरूपजिज्ञासा ज्ञातुमिच्छा । प्रच्छ
ज्ञीप्तायाम् । किमः प्रश्ने । तथा च भाष्यं जिज्ञासापदेनेत्यादि । उक्तमिति ब्रह्मवित्प्रापञ्चके उक्तम् ।
स्वरूपमुक्तमिति 'तस्माद्वा एतस्माद्ब्रह्मज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः' इति स्वरूप-
मुक्तमित्यर्थः । ननु स्वरूपलक्षण आत्मानन्दस्याभावात् कथमेवमित्याकाङ्क्षायामाह अन्यथे-
त्यादि । प्रकृते तु व्याख्येयव्याख्यानरूपा संगतिरिति ज्ञेयम् । ज्ञेयं तद्ब्रह्मविष्यतीत्याशङ्कामपा-
कुर्वन्तः कथं सर्वान्तरमित्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति सर्वान्तरत्वं चेत्यादि । तथा चानन्द एव पर

भूतमौतिककृष्टिमुक्त्वा गौणानन्तर्यं परिहृतम् । गौणोपासनाफलं च प्रधानशेष-
तयोक्तम् । तत्रान्यगतकर्तृत्वारोपानुवाचोऽपि संभवति । ततश्च भृगुर्वै वाक्यगिरित्यु-
पाख्यानेऽपि परिचायकत्वाद् गौणकर्तृत्वमेवानुयते, फलाश्रवणादिति पूर्वः पक्षः ।

सिद्धान्तस्तु ।

उत्पत्तिस्थितिनाशानां जगतः कर्तृ वै बृहत् ।

वेदेन बोधितं तद्धि नान्यथा भवितुं क्षमम् ॥

न हि श्रुतिविरोधोऽस्ति कल्पोऽपि न विरुद्धयेत् ।

सर्वभाषसमर्थत्वावच्छिन्त्यैश्वर्यवद् बृहत् ॥

भाष्यप्रकाशः ।

भावाकाङ्क्षायां तन्निष्कर्षार्थमाकाङ्क्षादीनां भूतानामोषध्यादीनां मौक्तिकानां च सृष्टिकथनेन कर्तृत्वं
प्रतिपाद्य तस्य सर्वान्तरत्वकथनेन चरमत्वाद् गौणमपर्यवसन्नं प्राणादीनामिवावन्तर्यं निवारितम् ।
'सर्वं वै तेऽन्नमाशुवन्ति येऽन्नं ब्रह्मोपासते' इत्यादिनाऽन्नब्रह्माधुपासनाफलं प्रधानशेषतया, 'अस्ति
ब्रह्मेति चेद्रेद सन्तमेनं ततो विदुः' इत्यादिनानुवाकचतुष्टयेन कथितस्य सत्त्वब्रह्मानन्दावातिसर्व-
भयाभावरूपप्रधानफलस्य शेषतया सर्वोत्कृष्टत्वज्ञापनायोक्तमिति कर्तृत्वं परस्मिन् सिद्ध्यति ।
तथापि स्वरूपलक्षणविरोधात् पूर्वकाण्डोक्तप्रजापतिगतस्य प्रकृतिगतस्य वा कर्तृत्वस्यारोपेणानु-
वाचोऽपि संभवतीति द्वितीयप्रपाठकेऽपि फलाश्रवणेनाशुख्यत्वात् तत्रान्येवं नेतव्यम् । तथाच
नास्य लक्षणत्वमिति पूर्वपक्षार्थः ।

सिद्धान्तमाहुः उत्पत्तीत्यादि । तदिति कर्तृत्वम् । अन्यथेति गौणम् । कल्प इति
कल्पद्वयम् । सर्वभावः सर्वभवनम् । तत्र समर्थत्वादकर्षेण कर्त्रित्यर्थः । गृहीतं विभजन्ते वेदेने-
त्यादि । स्यादन्यगतकर्तृत्वारोपानुवादः कार्यलक्षणे यदि स्वरूपलक्षणं विरुद्धयेत् । तदेव तु न ।

रश्मिः ।

इति भावः । लिङ्गं तु विज्ञानमयरूपजीवादप्यान्तरत्वम् । तत्रापि अन्नादिसर्वान्तरत्वेपि
मुख्यं तद्गौणं वेति कथंभावाकाङ्क्षायामित्यर्थः । गौणोपासनेत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति सर्वं
वा इत्यादि । शेषत्वं विवृण्वन्ति अस्ति ब्रह्म इति । उक्तेनानुवाकेन सत्त्वं, असदा इदमि-
त्यनुवाकेनापि सत्त्वं, भीमास्माद्वातः पवते इत्यनुवाकेन ब्रह्मानन्दावातिः, 'यतो वाचो निवर्तन्त'
इत्यनेन सर्वेषां वातादीनां भयाभावः । सर्वोत्कृष्टत्वेत्यादि सर्वेभ्य उपासनाफलेभ्यः परप्राप्ते-
रुत्कृष्टत्वेन ज्ञापनार्थम् । तथापि नेत्याहेति वदन्तस्तत्रान्येत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति तथापी-
त्यादि । आरोपेणेति परस्मिन्नित्यर्थः । ततश्च भृगुर्वा इत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति द्वितीयप्रपा-
ठक इति । यतो वा इत्यादिपु गौणं कर्तृत्वमुच्यते तद्ब्रह्मेति श्रावणेन पररूपफलाश्रवणादित्यर्थः ।
तथा चेत्यादि एवंविधेन विरोधेन प्रजापत्यादिगते कर्तृत्वेऽपि कृते न भूतादिकर्तृत्वस्य लक्षण-
त्वमित्यर्थः । गौणमिति गौणत्वेन प्रकारेण गौणम् । कल्पसूत्रमिति तत्र कर्ता कारयिता हरि-
रिति वक्ष्यमाणम् । ननु लक्षणं न बृहत्ः किंतु परस्येत्यत आहुः तत्र समर्थत्वादिति । तथा
चाक्षरस्य चरणत्वात् पुरुषविधस्य विरुद्धधर्माश्रयत्वात् न विरुद्धं जन्मादिकर्तृत्वं लक्षणमिति भावः

वेदेनैव तावज्जगत्कर्तृत्वं बोध्यते । वेदश्च परमात्मोऽक्षरमात्रमप्यन्यथा न यदति । अन्यथा सर्वत्रैवाविश्वासप्रसङ्गात् । न च कर्तृत्वे विरोधोऽस्ति । सत्यत्वादि-

भाष्यप्रकाशः ।

विवरणार्थं परस्य तृतीयान्तेन ब्रह्मपदेनैव विवृतत्वात् । न च तत्र वेदाहिरण्यगर्भब्राह्मणजातिजीवा अर्थत्वेन ब्रह्मिणुं शक्याः । परपदविवरणात् सान्तत्वादिना ब्रह्मापेक्षयोत्कर्षस्य तेष्वशक्यवचनत्वात् । परशब्दस्यान्यार्थकत्वोपगमेऽपि विवरणोक्तब्रह्मशब्दानुरोधेनैव एव परत्वेन ग्राह्याः । तत्प्राप्तिस्तु कर्मणापीति साधनान्तरेण ज्ञानेन को वा विशेषः स्यात् । अत उत्कृष्टार्थकत्वमादर्णीयम् । उत्कृष्टं च किमित्यपेक्षया विवरणानुरोधाद् ब्रह्मान्तरं कल्प्यम् । तच्चाप्रसिद्धं, स्वरूपलक्षणहीनं च । न च प्रकृतिः । सांख्यमतेऽपि ज्ञानात्मकपुरुषापेक्षया तस्या हीनत्वात् परार्थत्वात् । अश्रौतत्वस्य बन्धयमाणत्वाच्च । अतो ब्रह्मापेक्ष्यान्यस्य परत्वेन वक्तुमशक्यत्वादुक्तलक्षणविशिष्टस्यैव ब्रह्मणः कर्तृत्वं वेदेन बोध्यते । न च तदारोपितमिति शक्यवचनम् । निरङ्कुशस्य तस्याऽन्यत्रासिद्धताया अनुपदमेव बन्धयमाणत्वात् ।

किंच । वेदः परमात्त्वादक्षरमात्रमपि मिथ्या न वदति । यदि कापि तथा वदेत्, स्वर्गकामो यजेतेत्यादिविध्यंशे स्वरूपलक्षणघंशे चाविश्वसनीयः स्यात् । तत्र च सन्मार्गमात्रमुच्छिद्येत । अतो यद्यथा वदति तथेति मन्तव्यम् । तेन कर्तृत्वं वेदोक्तत्वादिनास्तवमित्येव सिद्ध्यति । न च कर्तृत्वाङ्गीकारे स्वरूपलक्षणविरोधोऽस्ति, येन तदनुरोधाद्वास्तवत्वं तस्य कल्प्येत । तदुक्तसत्यत्वादिधर्मवत् कर्तृत्वस्याप्युपपत्तेः । न च ब्रह्म यावद्दर्शयितमिति वक्तुं शक्यम् । स्वरूपलक्षणविरोधात् । तत्र ब्रह्मणि सत्यत्वादिधर्माङ्गीकारात् । न चासत्यजडसान्तव्या-

रश्मिः ।

कारिकायाम् । तृतीयान्तनेति 'ब्रह्मणा विपश्चिता' इति तृतीयान्तनेन । विविधभोगकर्तृत्वस्य सृष्टिमन्तरेणानुपपद्यमानस्य सामर्थ्याज्जगत्कर्तृत्वं न स्वरूपलक्षणविरुद्धमित्यर्थः । यत्पुननिष्पद्ये विपश्चिता मेधाविना सर्वज्ञैवेत्यर्थः इति शंकराचार्यास्तदपि सर्वमन्तरेण सार्वज्ञ्यानुपपत्त्या सर्वकर्तृत्वं द्रव्यति । न च भोगकर्तृत्वापेक्षया अज्ञानकर्तृत्वं ज्याय इति शक्यम् । अश्रुत इत्युक्तान्तरस्य भोगत्वात् । अप्राप्रधानकर्तृरिति तृतीया 'सहसुक्तेऽप्रधाने' इति सूत्रेण । क्वचिदप्रधाने कर्मादौ तथाचाप्रधान इत्यस्य विभक्त्यर्थे अप्रधाने इत्यर्थः । न च तत्रेति तृतीयान्ते ब्रह्मपदे इत्यर्थः । यद्यपि ते परत्वमाश्रयन्ते तथापि ज्ञेयब्रह्मापेक्षया नाश्रयन्त इत्याहुः सान्तत्वादिनेत्यादि । आदिना सर्वोत्कृष्टत्वम् । ब्रह्मापेक्षयेति परविवरणब्रह्मापेक्षयेत्यर्थः । ननु परस्यान्यत्रानात्मवैरिदूरेकेवलेष्वपि वृत्तिदर्शनात्तेऽर्थाः सन्तु इत्याशङ्क्य नेत्याहुः परशब्दस्येत्यादि । एत एवेति वेदादय इत्यर्थः । तथा सति ब्रह्मविदिति विशेषासम्पर्कं भवेदित्याहुः तत्प्राप्तिस्त्वित्यादि । बन्धयमाणत्वाच्चेति आनुमानिकमप्येकेषामित्यानुमानिकाधिकारणे बन्धयमाणत्वादित्यर्थः । अन्यत्र सिद्धस्यैवारोपो दृष्टः प्रकृते तु तदभावादारोपोऽशक्यवचन इत्याहुः निरङ्कुशस्येत्यादि । अनुपपदमिति अत्रैव सत्यत्वादिधर्मवदित्यादिना विशेषेण तु द्वितीयाध्यायद्वितीयपादे । वेदश्चेत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति किं च वेदेत्यादि । अन्यथेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म यदीति । न च कर्तृत्व इत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति न च कर्तृत्वेत्यादि । सर्वथेत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति न च ब्रह्मेत्यादि । ननु न सत्यत्वादिधर्मो ब्रह्मण्युपेयते अपित्वसत्यत्वादेरभावोऽधिकरणात्मकोऽप्युपेयते इति निर्धर्मकं ब्रह्मेत्याशङ्क्य निषेधन्ति न चासत्येत्यादि ।

धर्मवत् कर्तृत्वस्याप्युपपत्तेः । सर्वथा निर्धर्मकत्वे सामानाधिकरण्यविरोधः । सत्यज्ञानादिपदानां धर्मभेदेनैव तदुपपत्तेः । न च कर्तृत्वं संसारिधर्मो, देहाद्यध्यासकृतत्वादिति वाच्यम् । प्रापञ्चिके कर्तृत्वे तथैव । न त्वलौकिककर्तृत्वे । अत एवास्त्येत्याह । अस्येति पुरोचर्ता प्रपञ्च इदमा निर्दिश्यते । अनेकभूतभौतिकदेवतिर्यङ्मनुष्यानेकलोकान्द्रुतरचनायुक्तब्रह्माण्डकोटिरूपस्य मनसाप्याकलयितुमशक्यरचनस्यानायासेनोत्पत्तिस्थितिभङ्गकरणं न लौकिकम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

इतत्वेनैक एवार्थः सत्यादिपदैरुच्यत इति वक्तुं युक्तम् । व्यर्थेपौनरुक्त्यापत्तेः । तत्रज्ञेयधर्मकत्वसिद्ध्या घटकुट्यां प्रमाताश्च । अतः सत्यादिपदानां स्वार्थत्यागोऽप्यर्थ एव । तदेतदुक्तं धर्मभेदेनैव तदुपपत्तेरिति । स्फुटमग्रिमम् ।

ननु लक्षणद्रव्यैकपरत्वे सर्वासु श्रुतिष्वेकमेव ब्रह्म प्रतिपाद्यम् । तदा, अस्युलादिवाक्येष्वपि तदेव निरूप्यत इति निर्धर्मकत्वं बलादापतितमतः कर्तृत्वनिषेध एव युक्त इत्यत आहुः

रश्मिः ।

व्यर्थेत्यादि असत्यमात्रव्यावृत्त्या जडादिव्यावृत्तिसिद्ध्या तथेत्यर्थः । नैयायिकोक्तदृषणप्रासात्राभावोधिकरणानतिरिक्तः इत्याशयेनाहुः तत्तद्भेदेत्यादि । असत्यमात्रव्यावृत्त्या इत्यत्र व्यावृत्तिर्भेदः स च ब्रह्मणीति तत्रासत्यादिव्यावृत्तयस्तत्तद्भेदास्तद्भेदकत्वसिद्ध्या । न्यायमाहुः घटकुट्यामिति द्वितीयाध्यायोपान्तेस्ति ज्ञानप्रक्रियायाम् । प्रहस्ते चास्ति श्वेताश्वतरस्य शिवपरत्वखण्डने च । यथा कस्यचिद्धमतः संन्यासिनः स्तेयकृतो वा मूलमलभमानस्य घटकुट्याः समाधिभेदकुम्भदास्या इमशिरःकुम्भदास्या निर्गतस्य तत्रैव प्रभातं तथा धर्मनिषेधाय भ्रमतो धर्म एव पर्यवसितिरित्यर्थः । अत्र विश्वकोशः 'घटः समाधिभेदेमशिरःकुटकुटेषु च । कुटः कोटे घटे गेहे शिलाकुट्टकपूरुषे । स्यात्कुटीकुम्भदास्यां च सुरायां चित्रगुच्छके' इति समाधिगेहाज्जितस्येत्यर्थः । अपार्थ एवेति एवकारस्तु सर्वत्र ग्रन्थेषूपपादानाञ्चिर्धर्मकत्वव्यवच्छेदकः । तदेतदिति । न चासत्येत्यादिना विवृतमित्यर्थः । सत्यत्वादिधर्मभेदेनैव भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वे असत्यकार्यबोधकत्वरूपसामानाधिकरण्योपपत्तेरिति भाष्यार्थः । स्फुटमित्यादि तथाहि । भाष्ये । न चेत्यादि । अहन्ताममतात्मकः संसारः सोऽसास्तीति संसारी तस्य धर्मः यतोऽहं कर्तेत्यादिप्रतीत्याहंकारसामानाधिकरणं कर्तृत्वं, संसाराभावे तु अहं मुक्तो न कर्तेति असत्यत्यगोचरे कर्तृत्वतदभावौ । देहाद्यध्यासः प्रधानकार्यविगुणात्मकदेहाद्यध्यासोऽहं कर्तेति ।

'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।

अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥'

इति वाक्याद् देहादिधर्मस्यैत्यादिकर्तृत्वं स्वस्मिन्नध्यसते भोक्तृत्ववत् । भोक्तृत्वमानन्दधर्मः 'मानन्दमुक्' इति श्रुतेरित्यर्थः । शक्तिमनुमानं सत्यतिपक्षमित्याशयेनाहुः प्रापञ्चिक इत्यादि । तथा च कर्तृत्वं न संसारिधर्मः ब्राह्मत्वात् सत्यत्वादिषु इति प्रतिपक्ष इति भावः । हेतुव्याप्यत्वासिद्ध इत्यपि लौकिके कर्तृत्वमुपाधिः । सूत्रकारस्याप्ययमेव आशय इत्याहुः अत एवेत्यादि । अलौकिककर्तृत्वादेवेत्यर्थः । ब्रह्मणो भविष्यति नेत्याहुः अनेकेत्यादि । तथाच हिरण्यगर्भस्यापि स्रष्टृत्वे प्रमाणाभावोनायासेनेत्यर्थः । अतएव निरप्यस्यैरेव देहादिभिः कर्मकरणसंभवादि-
तिपाष्यम् । एवमग्रिमं स्फुटमित्यर्थः ; प्रकृते । निर्धर्मकत्वमिति श्रौतधर्मनिषेधादस्युलादि-

प्रतीतं च निषेध्यम् । नाप्रतीतं, न श्रुतिप्रतीतम् । सत्यत्वादयश्च लौकिकाः । ततः सर्वनिषेधे तदज्ञानमेव भवेत् । नच सत्यत्वादिकं लोके नास्त्येव व्यवहार-मात्रत्वात्, कारणगतमेव सत्यत्वं प्रपञ्चे भासत इति वाच्यम् । तर्हि कर्तृत्वं तथा कृतो नाङ्गीक्रियते । स्मृतिश्च स्वीकृता भवति 'कर्ता कारयिता हरिः' इति । नचारोपन्यायेन वक्तुं शक्यम् । तथा सत्यन्यस्य स्यात् । तत्र न प्रकृतेः । अग्रे स्वयमेव निषिध्यमानत्वात् । न जीवानामस्वातन्त्र्यात् । न चान्येषामुभय-

भाष्यप्रकाशः ।

प्रतीतमित्यादि । युक्तः प्रतिषेधः । परंत्वस्थूलादिवाक्ये लोकप्रतीता एव प्रतिषिञ्चन्त इत्यत्रापि प्रतीतमेव प्रतिषेध्यम् । अत एव नाप्रतीतम् । प्रसङ्गयितुमशक्यत्वेन प्रतिषेधानर्हत्वाच्च । न श्रुतिप्रतीतम् । तुल्यबलत्वात् प्रत्यायनवैयर्थ्यापाताच्च । श्रुत्युक्ताः सत्यत्वादयोऽपि यदि लौकिकत्वेनादृतास्ततो लोकश्रुतिप्रतीतसाधारण्येन सर्वनिषेधे ब्रह्माज्ञानमेव भवेत् । तथाच स्वरूपलक्षण-वैयर्थ्यं सर्वनाशश्च स्यात् । नच तदभावाय लोकस्य व्यवहारमात्रत्वात् तत्रापि कारणगतमेव सत्य-त्वमतो न तत् प्रतिषेध्यं, किं तु कर्तृत्वमेवेति वाच्यम् । तदा तु धर्मसंकोचस्य तौल्यात् कर्तृत्व-मपि तथाङ्गीकार्यम् । तेन कल्पस्मृतिस्वीकाररूपगुणोऽपि भविष्यति । नन्वगत्या सत्यत्वं तथास्तु, न तु कर्तृत्वमपि । आरोपन्यायेन तस्य शक्यवचनत्वादित्यत आहुः न चेत्यादि । अन्येषा-मिति अभावकालस्वभावभूतग्रहलोकपालादीनाम् । ननु प्रकृते फलवाक्यविचारो भवतापि रश्मिः ।

श्रुतिभिः । अत इति कर्तृत्वाकर्तृत्वयोः प्राप्ते युक्तत्वादित्यर्थः । इत्यत्रापि नित्यशुद्धबुद्ध-मुक्तस्वभावमित्यादिष्वित्यर्थः । प्रसङ्गयितुमिति अभावस्य प्रसक्तिं कर्तुम् । प्रतिषेधानर्हत्वा-च्चेति । यथाहुः अभावलौकिकप्रत्यक्षं प्रति प्रतियोगिज्ञानस्य हेतुत्वमन्यथा प्रतियोगिज्ञानशून्यकाले नेत्याकारकप्रतियोग्यमिश्रिताभावलौकिकप्रत्यक्षं स्यादिति प्राञ्चो नैयायिकाः । तुल्यबलत्वादिति ।

उपजीव्यत्वतः श्रौतवाक्यतोऽन्यपरत्वतः ।

'अन्तरङ्गत्वतश्चापि तुल्यमन्त्रोभयोर्बलम्' इत्यर्थः ।

यथाहि निर्गुणप्रतिपादिकासु आधारनिरूपकत्वेनोपजीव्यत्वं कारणत्वमत एवान्यपरत्वं निर्गुण-प्रतिपादकत्वरूपमत एवान्तरङ्गत्वं धर्मनिरपेक्षत्वेन स्वल्पापेक्षत्वरूपम् । एवं सगुणप्रतिपादिका-स्वपि विरहप्रतियोगिनिरूपकत्वेनाधारनिरूपकत्वेन चोपजीव्यत्वमन्यपरत्वं च । कार्यस्वरूपयोरैकग्रह-लक्षणत्वात् धर्मनिरपेक्षत्वस्य स्वरूपलक्षणेऽपि प्रकाशाश्रयन्यायेन वक्तव्यत्वात्कृतेऽपि तत्सं-वेनान्तरङ्गत्वं च तुल्यं, एवमप्युपपादनसौष्टवाञ्छ्रौता धर्मा निषेध्या इत्याकाङ्क्षायां हेत्वन्तरमाहुः प्रत्यायनेत्यादि । तथा सति प्रक्षालनपङ्कन्यायेन धर्मान्न प्रत्याययेदित्यर्थः । सत्यत्वादय इत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति श्रुत्युक्ता इत्यादि । सर्वनाश इति ब्रह्माज्ञाने तद्विषयकस्य दृढभक्त्यादेरुच्छे-दात्तश्चा स्यादित्यर्थः । न च सत्यत्वेत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति न च तदित्यादि । तथाङ्गीकार्य-मिति कारणगतमेव कर्तृत्वं लोकेऽङ्गीकार्यमित्यर्थः । स्मृतिश्चेत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति तेनेत्यादि । कल्पस्मृतीति भाष्योक्तकल्पस्मृतीत्यर्थः ।

भाष्ये तथासतीति आरोपोऽन्यगतधर्मस्येति कर्तृत्वस्यान्यधर्मत्वे सतीत्यर्थः । अत्र इति यथा बहिर्द्वंसदनं दामीत्यत्र बहिर्द्वनसामर्थ्यं दामीति शब्दादालोच्यनेन लवनं विदध्यादिति श्रुतिं कल्प-यित्वा लवनाङ्गत्वं मन्त्रस्य । प्रकृतेः । अभावेत्यादिअभावो नास्तिकानां, कालस्वभावौ श्वेताश्वतरे, सूतो-

निषेधादेव । तस्माद् ब्रह्मगतमेव कर्तृत्वम् । एवं भोक्तृत्वमपि । न वा काश्चि-च्छ्रुतिः कर्तृत्वं निषेधति । विरोधभानात् कल्प्या तु लौकिकपरा । फलवाक्ये-ऽप्यश्रुतानां गुणोपसंहारः कर्तव्यः । तथाचाद्यं सूत्रार्थः । जन्म आदिर्येषा-मित्यवयवसमासादतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः ।

भाष्यप्रकाशः ।

स्वीकृतत्वात् सति तद्विपरिणोक्तं भोक्तृत्वं तत्रास्तु, कर्तृत्वं तु कथमङ्गीकर्तुं शक्यमित्यत आहुः गुणोपसंहार इति ध्रुवताग्रे तथाङ्गीकारात् तथेत्यर्थः । तस्माद् ब्रह्म कर्तुं इति सिद्धम् । एवं सिद्धान्तं व्याख्याय तस्य ध्रुवाविरोधित्वं बोधयितुं ध्रुवं व्याकुर्वते तथाचेत्यादि । एवं कर्तृत्वे सिद्धे षड्यमाणरीतिकः ध्रुवार्थ इत्यर्थः । अत्र सर्वेऽपि तद्गुणसंविज्ञानं बहुव्रीहिमङ्गीकुर्वन्ति । तत्रोपसर्जनत्वेन पूर्वप्रयोगार्हस्यादिशब्दस्य परत्वाय राजदन्ताद्याकृतिगणीयत्वं कल्पनीयमित्यलुप्या प्रकारान्तरेण व्याकुर्वन्ति जन्मेत्यादि । जन्म आदिः प्रथमोऽवयवो येषां ते जन्मादि । सुपां सुलुगिति जसो लुगित्यवयवसमासादिति भावप्रधानो निर्देशः । तथाचादिपदविशेष्यकावयव-समासत्वात्तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिरित्यर्थः । न च, 'अङ्गं प्रतीकोऽवयवः' इति कोशादवयव-पदस्याङ्गवाचकत्वेनात्र च तदभावेन कथमवयवसमासत्वमिति शङ्क्यम् । एकदेशेऽप्यवयवपद-प्रयोगात् । यथा पञ्चावयवमनुमानवाक्यमिति । कैयटेऽपि, 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' इत्यत्र, एकोऽञ्ज-यस्य स एकाजिति विशिष्टावयवोपलक्षितस्यावयविन इत्यादिना, अञ्जल्विशिष्टस्य शब्दस्यैकोऽञ्ज-रश्मिः ।

न्यप्रविष्टः, ग्रहाः सूर्यादयः ज्योतिषे, एवं लोकपाला अपि । आदिशब्देन कामः 'असत्यमप्रतिष्ठं ते' इति वाक्यात् । भोक्तृत्वमिति द्वितीयाध्याये द्वितीयपादे 'रचनानुपपत्तेश्च' इत्यधिकरणेऽन्यत्र चेत्यर्थः । भाष्ये । अस्वातन्त्र्यादिति 'स्वतन्त्रः कर्ता' इत्यनुशासनात् कर्तृत्वे स्वातन्त्र्यस्य प्रयोजकत्वमिति भावः । उभयनिषेधादिति चिञ्जडनिषेधादित्यर्थः । सिद्धमाहुः तस्मादित्यादि । आन्यत्रिकत्वा-भावेनारोपाभावादित्यर्थः । अतिदिशन्ति एवमिति । अश्रुत इत्युक्तं भोक्तृत्वं मुक्तजीवीयमपि सहार्थकतृतीयान्तप्रतिपाद्यप्रसङ्गतमेवेत्यर्थः । इच्छया जीवे प्रधानीभूय भासत इत्यर्थः । कल्प्या त्विति कर्तृत्वनिषेधकत्वेन लिङ्गात्कल्प्या तु लौकिककर्तृत्वनिषेधपरेत्यर्थः । अथवा किमनया कुसृष्टेति षड्यमाणत्वाध्यायकमचिद्व्याख्यायते । प्रकृते । अश्रुत इत्यस्मात्तातीत्यर्थाङ्गोक्तत्वम् । अत्र इति तृतीयस्य तृतीयपादे इत्यर्थः । तथेति भोक्तृत्वम् । सिद्धमाहुः तस्मादित्यादि । तृतीयस्य द्वितीयपादे उभयव्यपदेशाधिकरणे स्पष्टम् । अत्रेति । पूर्वप्रयोगार्हस्येति 'उपसर्जनं पूर्वम्' इति सूत्रात्पूर्व-त्यादिः । जन्मादीतिपदे इत्यर्थः । कल्पनीयमिति पाणिनीयगणपाठे राजदन्तादिषु जन्मादिशब्दपाठा-भावेऽपि तत्त्वं कल्पनीयमित्यर्थः । तर्हि बहुवचनं स्यादित्याकाङ्क्षायामाहुः सुपामित्यादि । 'सुपां सुलुक् पूर्वसर्वर्णाच्छेयाङ्गाङ्गायाजालः' इति वैदिकीप्रक्रियायां सप्तमेऽध्याये सूत्रमुदाहरणानि च तत्रैव । भाष्ये । इत्यवयवसमासेति अवयवानां जायतेऽस्ति विपरिणमत इत्यादीनां समसनात् जन्मादीनां वा समसनात् । एवं चान्नावयवावयविनोरत्र समासाभावादतद्गुणत्वम् । प्रकृते । पञ्चावयवमिति प्रतिज्ञाहेतुदाहरणोपनयनिगमनानि पञ्चावयवाः । उक्तसूत्र इति षष्ठाध्या-यप्रथमपादस्य प्रथमाह्निकस्य उक्तसूत्र इत्यर्थः । विशिष्टावयवेति अञ्जल्विशिष्टावयवोपल-

भाष्यप्रकाशः ।

वयव इत्यङ्गीकारात् । तत्रैकस्यानो विशिष्टावयवत्ववदत्र आघादीनां समूहावयवत्वेन तद्भाषक-
पदानां समासेऽवयवसमासत्वस्य सुखेन संभवात् ।

एतस्यातद्गुणसंविज्ञानत्वं त्वेवम् । तथाहि । उक्तघ्ने कैयटेन तद्गुणसंविज्ञानपदं द्वेषा
व्याख्यातम् । तस्य अन्यपदार्थस्य गुणो विशेषणं तस्य संविज्ञानं येनेति । स वर्तिपदार्थो गुणो
यस्यान्यपदार्थस्य तस्य संविज्ञानं येनेति च । तत्रोदाहरणं तु शुक्लवाससमानयेति । तत्र शुक्लवासः-
संयुक्तपुरुषानयने पृथगचोदितान्यपि वासांसि संबन्धसामर्थ्यादानयनेन संबन्धन्त इत्युक्तम् ।
इदं च लम्बकर्णमानयेत्यादावपि तुल्यम् । एवं सत्यन्यपदार्थविशेषणस्य यत्र संबन्धासामर्थ्यात्
कार्यसंबन्धस्तत्र तद्गुणसंविज्ञानः । यत्र तस्य संबन्धसामर्थ्यात् कार्ये संबन्धाभावस्तत्रातद्गुण-
संविज्ञानः । यथा चित्रगुमानयेत्यत्र । अत्र हि पुरुषानयने समासवर्तिपदार्थभूतानां चित्राणां गर्वा
सन्निधानाभावात् कार्येण सह संबन्ध इति । एवं सति प्रकृतेऽन्यपदार्थभूतानां प्रधानानां स्थिति-
प्रलयाभिसंवेशानामेकदेशतया तद्विशेषणीभूतो य आदिस्तस्य प्रथमान्तरन्यावर्तकतया जन्म
विशेषणम् । स्वयं तु वर्तिपदार्थे विशेष्यः । तस्य धर्मरूपं यत्राप्यन्यं तदपेक्षावृद्धिजन्यम् । तस्य
निरूप्यत्वमपि स्थित्यादिजन्यमतः सोऽत्र सूत्रेऽर्थादायातायां ब्रह्मकर्तृकभवनक्रियायां न सं-
रक्षितः ।

क्षितस्य । आघादीनामिति आदेरादि जन्म आघादि, आदिरादियेषां स्थितिलयाभिसंवेशानां
त आघादयः, आघादि च आघादयश्च आघादयः तेषामाघादीनाम् । येनेतीति येनेति
तृतीयान्तान्यपदार्थकथनं तु तस्यान्यपदार्थस्य गुणो विशेषणं तस्य संविज्ञानं स वर्तिपदार्थो गुणो-
धयवो वा यस्यान्यपदार्थस्य तस्य संविज्ञानमित्यस्याग्रे सनिहितविशेषणस्यान्यपदार्थस्य विशिष्टसं-
बन्धाश्रयेण केनचिद्बहुव्रीहिणाभिधानादित्यर्थः । इत्युत्तरग्रन्थसूचितं ज्ञेयम् । शब्दरत्ने तु तस्यान्य-
पदार्थस्य गुणा विशेषणानि संज्ञायन्ते कार्थित्वादिना यत्रेति 'सर्वादीनि सर्वनामानि' इत्यत्र
व्याख्यातम् । तद्गुणसंविज्ञान इति तथाच प्रायः संयोगसमवायान्यतरसंबन्धेन संबन्धी यत्र
अन्यपदार्थस्तत्र तद्गुणत्वमिति शब्दरत्ने लक्षणं पर्यवसितं ज्ञेयम् । नैयायिकास्तु लक्ष्यता-
वच्छेदकस्य विशेष्यान्वयन्वयित्वं लक्षणमाहुः यत्र तस्येति । इदमपि संयोगसमवायातिरिक्तस्वस्वा-
मिभावादिसंबन्धेन संबन्धी यत्रान्यपदार्थः तत्र तद्गुणत्वमिति शब्दरत्ने लक्षणं नातिवर्तते ।
नैयायिकास्तु लक्ष्यतावच्छेदकस्य विशेष्यान्वयन्वयित्वं लक्षणमाहुः । अत्रैतावान् विशेषः ।
समासशक्तिवादिनां विशेषणस्य विशेष्यान्वयन्वयित्वे तदनन्वयित्वे उक्तसंबन्धो नियामकः ।
लक्षणावादिनां नैयायिकानां तु शब्दस्वभाव एव तत्रमिति । सन्निधानाभावादिति अत एव
नागयज्ञोपवीती भोज्यतामित्यादौ यज्ञोपवीतस्य कार्यत्वाभावेपि तत्सन्निधानात्तद्गुणत्वमिति हरिग्रन्थः ।
नैयायिकानां मते तु अतद्गुणसंविज्ञान एव । प्रधानानामिति विशेष्याणामित्यर्थः ।
स्थित्वादि । अभिसंवेशः सुषुप्तिस्तत्सुखमित्यर्थः । प्रथमान्तरेति जन्मतः प्रथमान्तरेत्यर्थः ।
स्वयं त्विति आदिस्त्वित्यर्थः । तस्येति आदेरित्यर्थः । अत इति प्रायम्यस्य निरूप्यत्वस्य चापेक्षा-
वृद्धिजन्यत्वेन स्थित्यादिज्ञानजन्यत्वेन च साक्षाद्ब्रह्मजन्यत्वाभावादित्यर्थः । ब्रह्मकर्तृकेत्यादि यतो

१. कार्यकारणभावसंबन्धाश्रयेण । २. अभिसंवेशः पदधर्मः 'पदशानं तु करणम्' इति भाषापरिच्छेदात् ।

३. कार्यकारणभावसंबन्धस्तृतीयान्तान्यपरं सूचयतीति ग्रन्थवृत्तम् । ४. विशेष्याण्यस्य कार्यम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

पश्यते । तदसंबन्धे तद्द्वारा जन्मनोऽपि न संबन्ध इत्यस्य समासस्यातद्गुणसंविज्ञानत्वम् । इदं च
तद्गुणसंविज्ञानस्य प्रथमलक्षणादरे बोध्यम् । द्वितीयलक्षणादरे तु तद्गुणकस्य विशेष्यस्यान्यप-
दार्थस्य संविज्ञानं समायाति । तत्र चित्रगुरित्यत्रापि वर्तते इति तद्गुणाय विशेषणसंबन्धपूर्वक
एव तस्य क्रियासंबन्धो वक्तव्यः । तदाप्यत्र विशेष्यभूतानां स्थित्यादीनां विशेषणसंबन्धपूर्वको न
क्रियासंबन्ध इति पूर्ववदेवातद्गुणसंविज्ञानत्वम् । यदि च संविज्ञानपदेन वर्तिपदार्थस्य तद्विशेष्यस्य
वा प्रव्यक्तीभाव एवाश्रित्ये तदा तु विशेष्यविशेषणयोर्जातत्वेनास्माकं तत्प्रव्यक्तीभावाभावाद्
भाववृत्तसूक्ते, 'सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद' इति श्रावणात्तद्गुणसंविज्ञानत्वमिति न कोऽपि
शङ्कालेशः । अत्रैतत्समासादरेण भाववृत्तसूक्ते, यदि वा नेतिवाक्यबोधिताऽनाघानपक्षवचना-
रश्मिः ।

जन्मादयोस्य भवन्तीति सूत्रान्वयाजन्मादिकर्तृका भवनक्रिया तथापि सूत्रे यत इति पञ्चमी 'जनिकर्तुः
प्रकृतिः' इति सूत्रादित्याशयः । तदसंबन्ध इत्यादि आदेः प्रायम्यवाचकस्यापेक्षावृद्धिजन्यत्वेन
ब्रह्मजन्यत्वाभावात् तद्वेतुकभवनक्रियायाऽसंबन्धे तद्विशिष्टजन्मनोपि संबन्धेनो न विशेषणसंबन्धाभाव-
प्रयुक्तो विशिष्टभाव इत्यस्य समासस्यातद्गुणसंविज्ञानत्वमित्यर्थः । बोध्यमिति अन्यपदार्थस्य
स्थित्यादेर्गुणो जन्म तस्यासंविज्ञानमत्रेत्येवं बोध्यमित्यर्थः । तद्गुणकस्येति समासवर्तिपदार्थगुण-
कस्यान्यपदार्थस्य स्थित्यादेरित्यर्थः । एवं कैयटोक्तलक्षणद्वयसमन्वयमुक्त्वा तद्गुणसंविज्ञान इत्य-
त्रान्यपदार्थगुणानां कार्यत्वादिना संविज्ञानमिति पक्षे संविज्ञानपदस्यान्यलक्षकत्वं लक्ष्यता-
वच्छेदकस्य विशेष्यान्वयन्वयित्वमिति पक्षेपि तथेति वक्तव्यं तथा सति तद्गुणान्वय इति वक्तव्ये
संविज्ञानपदकथनेन तस्य तद्गुणानां च प्रव्यक्तीभाव एवाश्रित्ये इत्याशयेन प्रकारान्तरमाहुः यदि
चेत्यादि । तद्विशेष्यस्य चेति वर्तिपदार्थविशेष्यस्यान्यपदार्थस्य चेत्यर्थः । वाकारश्चकारार्थः ।
एतत्पक्षे प्रकृतेऽतद्गुणे संविज्ञानत्वं निगमयन्ति तदा त्वित्यादि । षड्भावविकाररूपयोर्ब्रह्मप्रायम्य-
रूपयोर्वा विशेष्यविशेषणयोर्जनितत्वेन जगद्भवत्वेन साक्षाद्ब्रह्मणस्तद्विषयकसंविज्ञानत्वाभावादित्यर्थः ।
शांकराणां सर्वस्य मायिकत्वादस्माकमित्युक्तम् । नन्वसार्वज्ञ्यापत्तिरेवं भवेदित्यतः श्रुतिं प्रमाणयन्ति
भाववृत्तेत्यादि । इयं श्रुतिर्ब्रह्मणस्य द्वितीयाष्टकेति तत्रैतस्याः पूर्वं 'नासदासीन्नो सदासीत्त-
दानीम्' इत्याद्युक्त्वा 'तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतम् । सलिलं सर्वमा इदम्' इत्यादिना सृष्टिं च ।
ततः 'को अद्वा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः । अर्वादेवा अस्य विसर्जनाय ।
अथा को वेद यत आबभूव । इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न । यो
असाध्यश्च परमेव्योमन्' इति श्रूयते । तथा च सोऽध्यक्षो विसृष्टिं जन्म वेद यदि वा विसृष्टिं न
वेदेति जन्मनो ज्ञानाविषयत्वेनातद्गुणत्वमित्यर्थः । यदीत्यस्या यदा भगवान् सन्निदानन्दरूपो धर्मरूपे-
णाविर्भवतीत्यादिक्रमेण ततो जाता तदा तु धर्मरूपेणादधे, यदा तु स्वयमेव तयाविर्भूतस्तदा न दधे ।
सर्वस्य ब्रह्मान्तरेकादित्यर्थः । तथा च विकारान्तरज्ञानदृश्यायं जन्मनः प्रव्यक्तत्वाभावात्तदसंविज्ञानं
नैतावताऽसार्वज्ञ्यमिति भावः । न कोपीति । या तु 'यस्मिन्निरंशं च विचैति सर्वम्' इति श्रुत्या
जन्मनः सिद्धत्वेन श्रौतत्वात् तद्गुणसंविज्ञान एव युक्त इत्याशङ्का सापि नेत्यर्थः । जन्मनो ब्रह्मकर्तृक-
त्वेपि श्रौतात्सदेहाद्ब्रह्मज्ञानमुक्तम्, विरुद्धधर्माश्रयत्वेन माहात्म्यज्ञानं च द्योतितम् । अनाघानपक्षेति

अथवा जन्मप्रभृति सर्वे भावविकारा आदिशब्देन गृह्यन्ते । तथाच जन्म च आदिशब्देत्येकवद्भावः । आदिशब्दश्च धर्मवाची । स च स्वसंबन्धिनं लक्षयति । तस्योभयसापेक्षत्वादुत्पत्तोर्विद्यमानत्वादन्यानेषु भावविकारानुपलक्ष्यतीत्यादिशब्देनान्ये भावविकाराः ।

भाष्यप्रकाशः ।

जन्मस्थितिमङ्गादीनामाविर्भावविरूपत्वबोधनेन भगवानेव तच्चद्रूपः श्रीडञ्जाविस्तिरश्च भवतीति पुष्टिसृष्टिप्रकारो बोधितः । तथाच जन्म आविर्भाव आदिर्येषां प्रकाराणामित्यर्थो बोध्यः । प्रवाह-सृष्टिबोधनाय प्रकारान्तरमाहुः अथवेत्यादि । प्रभृतिशब्दः पूर्वावधिवाचकः । सर्व इति जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते नश्यतीतिप्रतीतिसिद्धा यास्कोक्ताः षट् । कथं गृह्यन्त इत्यपेक्षायामाहुः तथाचेत्यादि । सर्वोऽपि द्वन्द्वो विभाषैकवद्भवतीत्येकवद्भावः । आदिशब्दश्च प्राथम्यरूप-धर्मवाची । पूर्वतन्ने शब्दानां धर्मवाचकत्वस्य सिद्धत्वात् । स च स्वसंबन्धिनं लक्षयति । तत्र कं लक्षयतीत्याकाङ्क्षायां तस्य यथोत्पत्तावाधारता तथाग्रिमेषु निरूपकता । प्राथम्यस्योभयसापेक्षत्वात् । अत उत्पत्तेरत्र कण्ठोक्तत्वेन विद्यमानत्वादन्यानेवोपलक्ष्यतीति तथेत्यर्थः । तेन विषयवाक्यो-दितौ स्थितिमङ्गौ प्रत्याहारन्यायेनान्येषामपि बोधकौ । कालादिगतमपि कर्तृत्वं भगवदीयमेव, न तु स्वतन्त्रमिति च बोधयितुमत्रादिपदोक्तिरिति तात्पर्यं ह्यचितम् । एवं व्याख्याने आदिपदस्य लक्षणिकत्वम् । तथादिपदेन आदित्वधर्मवत्तया जन्मनोऽपि संग्रहीतुं शक्यत्वाज्जन्मपदवैयर्थ्या-

रश्मिः ।

स्वस्यैव सर्वरूपत्वेन धारणपक्षेत्यर्थः । पुष्टिसृष्टिप्रकार इति शब्दैव कार्यकारणरूप इति प्रकार इत्यर्थः । 'पुष्टिं कायेन निश्चयः' इति पुष्टिप्रवाहमर्यादाग्रन्थवाक्यात् । अत्र पक्षे सर्वस्यानन्दरूपतया विकारविरहादर्शमाहुः तथा च जन्मेत्यादि । प्रकाराणामिति । 'लोक-वतु लीलाकैवल्यम्' इति न्यायेन लौकिकभावविकारसदृशप्रकाराणामित्यर्थः । प्रवाहेत्यादि प्रवाहः प्रवहणम् । सर्गपरंपराया अविच्छेद इति यावत् । 'द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च' 'द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च' इति श्रुतिस्मृतिभ्याम् । अत्र समवायी मायामनोरूपः 'द्वे अस्य बीजे' इत्यारभ्य 'मायामयं वेद स वेद वेदम्' इति भगवद्वाक्यात् । मायामात्रस्यैव मिथ्यात्वं न सर्वस्य । प्रवाहस्य सदसद्व्यतिरूपत्वात् । संख्याधिकरणे स्फुटिष्यतीदम् । प्रभृतीत्यादि तथा च जन्मपूर्वावधिकसर्वे भावविकारा इति भाष्यार्थः । यास्कोक्ता इति निरुक्तप्रसिद्धो यास्कर्षिः । सर्वोऽपीत्यादि परिभाषेयम् । आदिशब्द इति भाष्यं विवृण्वन्तिस्स आदिशब्दश्चेति । पूर्वतन्ने इति आकृत्यधिकरण इत्यर्थः । स्वसंबन्धिनमाश्रयं, तं विना स्यातुं धर्मो न शक्नोतीति भावः । लक्षणार्थां संबन्धं वक्तुमाहुः तत्र कमित्यादि । तस्य यथेत्यादि प्राथम्यस्य यथा जन्म-न्याधारता तथाग्रिमेष्वस्त्यादिषु निरूपकता, प्राथम्यस्यास्त्यादिनिरूप्यत्वात् । उभयसापे-क्षत्वादिनि-आधारनिरूपकसापेक्षत्वादित्यर्थः । उपलक्षयतीति निरूपकतासंबन्धेनोपलक्ष्यतीत्यर्थः । ननु कथं तर्हि आदिशब्दप्रयोग इत्यत आहुः तेनेत्यादि । प्रत्याहारन्यायेनेति 'आदिरन्त्येन सहेता' इति सूत्रसिद्धेनेत्यर्थः । अन्येषामिति विपरिणामवर्धनापक्षयाणामित्यर्थः । कर्तृत्वमिति कालेन विपरिणमतीत्यादिप्रतीत्या विपरिणामादिकर्तृत्वमित्यर्थः । भगवदीयं तृतीयस्कन्धवाक्यात् कालादी-नामीश्वराधीनकर्तृत्वात् । तथा चादि जन्मादि कर्तृत्वं सूचयितुमादिपदेनास्त्याद्युपलक्षणमिति भावः ।

अथवा जन्मनो नादित्वम् । तदाधारस्य पूर्वमविद्यमानत्वात् । अन्ये स्वादिमन्तः । तदाधारस्य पूर्वं विद्यमानत्वात् । अत आदिशब्दः स्वाधारस-द्धर्मवाची तद्धर्माणामुपलक्षकः । अथवा गमनप्रवेशयोर्भेदाज्जन्म आदिर्येषामिति

भाष्यप्रकाशः ।

पधिरित्वरूप्या प्रक्रान्तरेण व्याकुर्वन्ति अधवा जन्मन इत्यादि । बहिर्विद्यमाने जन्माधारे पञ्चाज्जन्म चेतदा जन्म प्रत्याधारस्य तद्गतधर्मस्य चादिता संभवति । प्रकृते तु तन्नास्तीति जन्मनो नादित्वम् । अन्येषां तु भावविकाराणामुक्तयुक्त्यादिमतो हेतोरादिशब्दः स्वाधारसद्धर्मवाची आदि-स्वाधारभूतोऽस्तिपदवाच्यो धर्मस्तस्यान्यापेक्षया प्राथम्यात् तत्पूर्वकमेव तं वदन्नादित्वस्य सापेक्षतया तद्धर्माणां विपरिणामादीनामुपलक्षक इति न स्वार्थत्यागदोषो, नापि जन्मपदवैयर्थ्यदोष इत्यर्थः । अस्मिन् पक्षे असत्कार्यवाद आपतति । तथापि यदेतस्य कथनं तंभृत्सिंहोत्तरतापिन्यायुक्तमाधिक-सृष्टिं प्रत्यपि भगवत एव कारणत्वमिति बोधयितुं, न तु पूर्वोक्तं पक्षं निराकर्तुमिति बोध्यम् । अथ मर्यादासृष्टिसंग्रहाय तद्गुणसंविज्ञानपक्षमभिसंधायामाहुः अथवा गमनेत्यादि । गमनप्र-

रश्मिः ।

बहिरिति तेन 'सत इदमुत्पितं सदिति चेन्न नु तर्कहतम्' इत्यस्य विषय इति ज्ञापितम् । तेन

'सद्बुद्ध्या सर्वथा सद्भिर्न सेच्यमखिलं जगत् ।

भ्रान्त्या सहृद्भिरेति सन्तं कृष्णं मजेहुषः' ॥

इति तृतीयाध्याये विषयत्वेन सन् कृष्णः सिद्धः स च जगति त्वतलादिवाच्यस्तदा निरा-वरणसेवा भवति शुक्तिज्ञानवत् । जन्माधार इति आद्यक्षणसंबन्धो जन्म तदाधारे घटादावि-त्यर्थः । तदा सृष्ट्यन्तरपक्षे जन्मसंबन्धरूपजन्मस्वरूपस्योभयसापेक्षत्वात् तत्रत्याधारस्य जगतः विशिष्टे शक्त्या तद्गतधर्मो जगत्त्वादिरूपस्तस्य, चकाराजन्मनोप्यादिता संभवति । प्रकृते त्विति प्रवाहसृष्टा-वित्यर्थः । तन्नास्ति भ्रान्त्या सहृद्भिस्तद्विषयभूतं जगदाधाररूपं नास्ति ततो जन्मापि नास्तीति अस्वाधपेक्षया जन्मनो नादित्वमिति एतादृशसर्गपरंपरास्यादीनामप्यादित्वसंभवात् जन्मनो न तथात्वमित्यर्थः । उक्तयुक्तयेति हेतुभाष्योक्तयुक्तयेत्यर्थः । भाष्ये । तदाधारस्य जन्माधारस्य । प्रकृते । धर्म इति सत्तात्व्य इत्यर्थः । अत्र न विशिष्टे शक्तिः, आधारस्य सत्त्वात् । अतो-स्तिपदवाच्यो धर्मः स आत्मा वाक्यपदीयात् । 'सत इदम्' इति श्लोके पूर्वयुक्तम् । तत्पूर्वक-मित्यादि प्राथम्यपूर्वकमेव सत्तात्वं धर्मं शक्त्या वदन् लक्षणया विपरिणामादीनां निरूपकाणामुप-लक्षक इत्यादिपदस्य शक्यार्थस्वीकारेण न स्वार्थत्यागदोषो नापि जन्मपदवैयर्थ्यदोषो जन्मनो-नादित्वेनादिपदवृत्तिद्वयासंभवादित्यर्थः । अत्राजहत्स्वार्थलक्षणार्थां कृतायां यथायोग्यं तीरे घोषः प्रवाहे मत्स्य इत्यन्वयो मज्जुषायाम् । नच युगपद्द्विद्वयविरोध इति वाच्यं, गङ्गायां घोषमत्स्यौ सः इतिवदुपपत्तेः । तथा चादित्वेन सत्तारूपात्मत्वेन सता भ्रान्तिविषयसज्जन्माक्षेपोत्र नापि तु षाक्षेप्यजन्मोक्तिः । अस्मिन् पक्षे इति प्रवाहपक्ष इत्यर्थः । नृसिंहेत्यादि 'सैषाविद्या जगत्सर्वम्' इत्यादिः । अथ मर्यादेति कर्मज्ञानादितत्प्रकारनियमो मर्यादा, सा तु विभागसार्थक्यादस्ति सचै-वम् । विधिमन्त्रनामधेयनिषेधार्थवादात्मना हि विभक्तो वेद इति । तत्सृष्टिस्तु 'वचसा वेदमार्गं हि'

जात्यपेक्षयैकवचनम् । जन्म तु श्रुतत्वात् सिद्धम् ।

अथवा किमनया कुसृष्ट्या । जन्म आद्यस्य आकाशस्य यत् इति ।

भाष्यप्रकाशः ।

वेशयोः पूर्वोत्तरावधिभूतसंस्तरप्रतिसंस्तरयोर्मध्ये कार्यस्वरूपस्य कारणतो मेदाजन्मादयो भवन्तीति जन्म आदिर्येषां तत्तज्जातीयं जन्मादि । जातिरत्र विकारत्वं क्रियात्वं वा । अत्र, 'ब्राह्मणो जन्मतः श्रेयान्', 'न ब्राह्मणान्मे दयितं रूपमेतच्चतुर्भुजम्' इत्यादाविव जात्यपेक्षयैकवचनम् । तथाच यद्यपि, सुपां सुलुगिति जसो लोपे जन्मादीति सिध्यति तथापि विकारान्तरसंग्रहस्तेन न भवत्यतस्तदुपेक्षितम् । नपुंसकं तु सामान्ये । एतत्पक्षसंग्रहे बीजमाहुः जन्म तु श्रुतत्वात् सिद्धमिति । जन्म तु, 'यस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वम्' इति तैत्तिरीये श्रुतत्वाद् व्ययनात्मकबहिर्गमनरूपं सिद्धम् । तच्च सजातीयसंवलनवियोगादि संगृह्यत् समयनरूपं प्रवेशं च सारयतीति तद्गुणसंविज्ञानोऽपि युक्त इत्यर्थः ।

एवं पक्षत्रयेण व्याख्यायैतेषामत्र बोधनस्यानतिप्रयोजनत्वात् प्रतिपत्तिगौरवाच्चारुचि सूचयन्तः प्रकारान्तरेण ध्वं व्याकुर्वन्ति अथवा किमित्यादि । नन्वेवं सत्याकाशजनकत्वस्यैव रहिमः ।

इति मनःपूर्वकं वचसा वेदमार्गं सृष्टवानित्यर्थः । शब्दादर्शयतिश्च शब्द इति चेदित्यादि सूत्रभाष्ये स्फुटिष्यति । अत्र समवाय्यक्षरम् ।

'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः' ॥

'अव्यक्तोक्षर इत्युक्तः' 'अव्यक्ताक्षरकयः सर्वाः' इति वाक्येभ्यः । गमनं सच्चिदानन्दस्य भगवतो धर्मरूपेण भवनोत्तरं स्वस्मिन् लयः यत्प्रयन्तीत्युक्तः प्रवेशस्त्वभिसंविशन्तीत्युक्त इत्याशयेन गमनप्रवेशौ व्याकुर्वन्ति गमनेत्यादि । प्रतिसंस्तरः प्रतिनिधिसंस्तरः । तथा च पूर्वोत्तरावधिभूतयोः जननजीवनयोर्धौ संस्तरप्रतिसंस्तरौ तयोर्मध्ये । कारणतः ब्रह्मण इति इत्यर्थः । जन्मादय इति विकारा इत्यर्थः । न भवतीति यतो वा इति श्रुतौ जननगमनप्रवेशयोर्मध्ये स्थितिमात्रोपादानात् भवतीत्यर्थः । सामान्य इति दृढभक्तिरिति वत् । यद्यपीदमनियतलिङ्गविषयकमत एवादि पञ्चतीलेव प्रयोगस्तथापि बहुव्रीहौ त्वनियतलिङ्गत्वादुपपन्नम् । सिद्धमिति ब्रह्मणः सिद्धमित्यर्थः तथाच तद्गुणसंविज्ञाने श्रुत्यनुकूलतैव बीजमित्यर्थः । व्ययनात्मकेति व्यवहिताश्रैति रुन्दसि व्यवधानेपि प्रयोगात् समेति व्येतीत्यर्थोत्तयेत्यर्थः । संगृह्यदिति तात्पर्योपलक्षणविधयापि गृह्यत् । सारयतीति संविज्ञानस्य शक्यार्थपक्षमाश्रित्येदम् । युक्त इति अस्मिन् पक्षे विग्रहस्त्वयमेव सर्वं आदिर्येषामिति वत् । इह आदिशब्दसावयववाचित्वाद्भूतावयवभेदः समुदायः समासार्थः । उद्भूतावयवभेदत्वं चारोपितावयवगतसंख्यत्वम् । तस्य च समुदायस्य युगपत्क्रियान्वयासंभवात् तदन्तर्भूतानामवयवानामेव पृथगन्वयः । शंकराचार्यैस्तु जन्मादिर्यस्येति विशुद्धीतम् ।

एवं पक्षत्रयेणेति 'स आत्मानं स्वयमकुरुत्' इति 'सोऽकामयत बहु स्याम्, प्रजायेय' इति 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इति तैत्तिरीयोक्तपुष्टिप्रवाहमर्यादाबोधकपक्षत्रयेणेत्यर्थः । एतेषामिति पुष्टिप्रवाहमर्यादानामित्यर्थः । भाष्ये । कुसृष्ट्येति कुसृष्टित्वं तु अवयवसमासपक्षे जन्मग्रहणप्रयासः अतद्गुणसंविज्ञान एव । अवयविसमासपक्षे तु समुदायस्य युगपत्क्रियान्वयकेशः । इन्द्रे तु आदिशब्दस्य लक्षणिकत्वं जगन्मिथ्यात्वं

'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इत्येव विचार्यते । फलसंबन्धित्वात् । तेनैकत्र सिद्धः शास्त्रार्थः प्रकारान्तरेऽपि । यतो वा इमानि भूतानीत्यत्र वित्फुलिङ्गवत् सर्वोत्पत्तिः । अत्र तु क्रमेणेति विशेषः । एतेन सर्व एव प्रकाराः

भाष्यप्रकाशः ।

लक्षणत्वमायाति, न तु सर्वभूतजनकत्वस्य तत्स्थित्यादिकर्तृत्वस्य च । तथा सति वाक्यान्तरे ब्रह्ममेदापत्तिरिति शङ्कायामाहुः तेनेत्यादि । यदा, यतो वेति वाक्यं विषयत्वेनादरणीयं तदाप्ययं न्यायस्तु सर्वथाङ्गीकार्य एव । अन्यथा आकाशवाक्येऽपि ब्रह्मान्तरापत्तिः स्यात् । अतो जनन-प्रकारस्यैव मेदो न तु ब्रह्मण इति न कोऽपि दोष इत्यर्थः । यतो वेति श्रुतौ, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्तीत्यस्य भागस्य यद् ब्रह्म प्रयन्ति प्रकर्षेण सृष्टिसामयिकदुःखराहित्येन प्रलये गच्छन्ति, अभितः संविशन्ति स्वपन्ति सुषुप्ताविव सत्संपन्ना भवन्तीत्यर्थो बोध्यः । एवं पक्षत्रयेण व्याख्याने बीजमाहुः एतेनेत्यादि । श्वेते एवं श्लिष्टप्रयोगेण वेदोक्ताः सर्वे प्रकारा व्यासचरणैः संशुद्धीता ज्ञेयाः । तथाच क्वचित् साक्षात्, क्वचित् तदस्यत्वेन, क्वचित् किञ्चिद्द्वारा क्रमेणेति बोधनायासाभिरपि रहिमः ।

चापद्यत इति । न च यथा कतन्तेभ्यः कण्वादिभ्य इत्यत्र कतस्यान्तः कतन्तः शकन्वा-दित्वात् पररूपम् । कतः अन्तो येषां ते कतन्ताः कतन्ताश्च कतन्ताश्च कतन्तास्तेभ्य इत्येकशेषः । कण्व स्यादिः कण्वादिः कण्व आदिर्येषां ते कण्वादयः ततः पूर्ववेदेव बहुव्रीहि-तत्पुरुषयोरेकशेषः । तद्ब्रह्मण चादिर्जन्मादि जन्म आदिर्येषां तज्जन्मादि जन्मादिश्च जन्मादि च जन्मादि । नपुंसकमनपुंसकेनेति स्वरभिन्नानां यस्योत्तरस्वरः स सिध्यति इति वा बहुव्रीहेः शेषः । तथा च जन्मनस्तदादीनां च ग्रहणं भविष्यतीति वाच्यम् । एवं तर्हि जन्मादिरित्यत्र सारूप्यार्थमेवादिशब्द उपादीयतेत्यस्य प्रयोजनस्याभावात्, तथा च गौरवप्रसार्थबोधकत्वाद्ब्रह्मत्वमिति बोध्यम् । फलसंबन्धित्वादिति 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इति फलमुपक्रम्य पठितत्वेन तत्पदेन फलरूपपदस्यैव परामर्शेन फलसंबन्धित्वादित्यर्थः । अत्रैवं प्रतिभाति सुगमम्याख्या । अवयवसमासे येषामिति बहुवचनं विकारमिप्रायेण समर्थनीयं तदुपपन्नमभिसंविशन्तीत्यनेनोक्ताभिसंवेशस्या-विकारत्वात् सुषुप्तिमुखत्वेन विकाराणां यथायथं जन्मस्थितिभङ्गवन्तर्भावज्ञगतः स्थितिकाले संभाव्यमानत्वाच्चेत्याशङ्का इन्द्रपक्ष उक्तः । अस्मिन्नपि पक्षे जगतो नित्यत्वापत्त्या लक्षणत्वव्याघातः । अवयविसमासे च समासार्थस्य समुदायस्य क्रियान्वयकेशः इति पूर्वोक्तमेव लक्षणं समर्थयन्त आहुः अथवा गमनेत्यादि । श्रुतौ प्रयन्तीति गमनमभिसंविशन्तीति प्रवेशः तयोर्गमनसुषुप्तिरूपत्वेन मेदात् जन्म आदिर्येषां स्थितिगमनप्रवेशानामित्यवयवसमास इत्यर्थः । तथा च बहुवचनं स्यादित्याशङ्काहुः जात्यपेक्षयेति । एवं तर्हि जन्मासंग्रहस्तु स्यादतद्गुणसंविज्ञानपक्ष इत्याशङ्काहुः जन्मेत्यादि । यथा देवदत्तशालायां ब्राह्मणा आनीयतामित्युक्ते देवदत्तो यदि ब्राह्मणश्चेत्तदा सोऽप्यानीयत एव, एवं स्थित्यादिकर्तृत्वसिद्धौ जन्मकर्तृत्वमपि श्रुतत्वात् सिद्धमिति । अस्मिन् पक्षे पक्षद्वयं ज्ञेयम् । इतोपि लक्षवमाहुः अथवा किमित्यादि । भाष्ये । फलसंबन्धीति ब्रह्मवित्पपाठके 'ब्रह्म-विदाप्नोति परम्' इति फलमुपक्रम्य पठितत्वेन तत्पदेन फलरूपपरस्यैव परामर्शेन फलसंबन्धित्वात् । प्रकृते । ब्रह्ममेदापत्तिरिति जगत्कर्तृ ब्रह्म आकाशकर्तृमिदं स्यादित्यर्थः । न कोपीति एतेन जन्मस्थितिभङ्गरूपितं कारणत्वत्रयं मिलितं सदेव लक्षणमिति बोधयितुं सूत्रे समाहारो द्योतित इति परास्तमित्यर्थः । श्लिष्टप्रयोगेणेति जन्माद्यस्येति श्लिष्टप्रयोगेणेत्यर्थः । तदस्य-त्वेनेति । तल्लक्षणं तु 'ब्रह्मादिपिपीलिकापर्यन्तं सर्वप्राणिभुद्धिरष्टविशष्टतयोपलक्ष्यमाणः सर्व-

सूचिता वेदितव्याः । अत्रविचारे ब्रह्मणोऽप्यधिकृतत्वाद् ब्रह्मेत्यायाति । न त्वध्याहारः ।

शास्त्रे योनिः शास्त्रयोनिः । शास्त्रोक्तकारणत्वादित्यर्थः । शास्त्रीति शास्त्रं वेदः । सामान्यग्रहणं पूर्वकाण्डे पूर्वसृष्टिवाक्यानां संग्रहार्थम् । यथाऽस्यैव कारणत्वं, नान्यस्य तपोपरिष्ठाद् वक्ष्यामः । मतान्तरवज्रन्मादीनां न विकारित्वं किंत्वाधिर्भावतिरोभावावेव तथोत्तरत्र वक्ष्यते, तदनन्तरत्वाधिकरणे । नामलीलाया अपि न पृथक् निरूपणं प्रपञ्चमध्यपातात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

तदाशयं स्फुटीकर्तुं पञ्चत्रयेण व्याख्यातमित्यर्थः ।

नन्वत्र लक्ष्यानिर्देशात् प्रतिज्ञायां च संबन्धिविचारस्यैवाधिकृतत्वेन ब्रह्मणोऽनधिकृतत्वाद्ब्रह्मानुष्ठेयैरशक्यवचनत्वेन ब्रह्मपदं ब्रह्म वाऽप्याहार्यम् । कर्मपट्टीपक्षे तु प्रकृतत्वादेव तत्प्राप्तेर्नाशं दोष इत्यत आहुः ब्रह्मेत्यादि । तथाचार्थादेव तत्प्राप्तेर्नोक्तदोष इत्यर्थः ।

एवं लक्षणबोधकं सूत्रांशं व्याख्याय प्रमाणबोधकमंशं व्याकुर्वन्ति शास्त्रे इत्यादि । शास्त्रे इति सप्तम्या वैषयिकमधिकरणं बोध्यते । शास्त्रविषयो योनिः शास्त्रयोनिः । विषयत्वं प्रतिपाद्यत्वम् । तदेतदभिसंधायाहुः शास्त्रोक्तेत्यादि । शास्त्रीति राजवदाज्ञापयति । एतेन तद्विरोधेऽपराधोऽपि बोधितः । नन्वत्रोत्तरकाण्डार्थ एव विचार्यत इति शास्त्रशब्दस्य कुतः प्रयोग इत्यत आहुः सामान्येत्यादि । पूर्वसृष्टिवाक्यानामिति । भाववृत्तकादीनाम् । एतेन वेदार्थतयैवात्र सूत्रकृतो ब्रह्म विवक्षितमिति सूक्ते बीजं प्रदर्शितम् । ननु योनिशब्दो निमित्तवाची प्रायो दृश्यते इति साधारणेन कारणपदेन कृतो व्याख्यायत इत्यत आहुः यथेत्यादि । उपरिष्ठादिति अग्रिमसूत्रे, तथाचार्था व्याख्यात इत्यर्थः । अत्र कश्चिज्जन्मादिप्रत्ययेन यत इति पदेनैव विषयश्रुतेः सारणात् सिद्धे शास्त्रप्रमाणकत्वे, शास्त्रयोनित्वसूत्रं व्यर्थमित्याह । तत्र । यत इत्यस्य हेतुकोटौ प्रवेशे जन्माद्यस्येतिमागस्य प्रपञ्चवृत्तान्तपरतया ब्रह्मलक्षणत्वायोगेनासंगतत्वप्रसङ्गात् । नच लक्षणे प्रविष्टस्यैव यतःशब्दस्योक्तश्रुतिस्मारकत्वमित्यापि युक्तम् । श्रुतौ भूतानीति बहुवचनेन रश्मिः ।

प्राणिबुद्धिस्थो यदा तदा कृतस्य इत्युच्यते इति सर्वोपनिषदि । अष्टविशिष्टता 'भूमिरापोऽनलः' इति गीतायामष्ट तद्विशिष्टता । संबन्धीति ब्रह्मशब्देन वेदः तत्संबन्धिविचारस्य । एषकारेण ब्रह्मरूपार्थव्यवच्छेदः क्रियते । मीमांसकमतेनार्थाप्याहारमाहुः ब्रह्म वेति । तत्प्राप्तेरिति ब्रह्मरूपलक्ष्यप्राप्तेरित्यर्थः । भाववृत्तसेत्यादि ब्राह्मणस्य द्वितीयाष्टकस्थानामित्यर्थः । आविपदेन संदितोक्तानां 'प्रजापतिरकामयत प्रजाः सृजेय' इत्यादीनाम् । एतेनेति शास्त्रपदोपादानेनेत्यर्थः । निमित्तस्याचीति 'तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता' इति मातृरूपत्वबोधनादित्यर्थः । अत इति अभिन्ननिमित्तोपादानत्वादित्यर्थः । हेतुकोटादित्यादि यत इत्यादिश्रुतेरित्येवं हेतुकोटौ प्रवेशस्य प्रपञ्चस्य जन्मादि भवतीत्येवं प्रपञ्चवृत्तान्तपरतया ब्रह्मलक्षणत्वायोगेन सूत्रस्यासासेनासंगतत्वप्रसङ्गादित्यर्थः । न च यतः शास्त्रयोनित्वात् इति हेतुकोटिप्रवेशोऽस्त्विति शङ्कं परैरप्यनङ्गीकारात् । अन्यपक्षं समर्थयितुमप्याशङ्कामाहुः न च लक्षण इत्यादि । जगज्जन्मादिप्रपञ्चवृत्तान्ते आर्थिके लक्षणे प्रत्ययांशस्य प्रविष्टत्वेन यतःशब्दस्यापि प्रविष्टस्यैवेत्यर्थः । आमासोक्तपक्षे तु जन्माद्यस्य यत इति

केचित् पृथग्रूपनामप्रपञ्चकर्तृत्वं योगविभागेन प्रतिज्ञाय समन्वयादिसूत्रेष्वेव हेतुं वर्णयन्ति । अन्ययसिद्ध्यर्थं च अतति व्याप्नोतीत्यत् । शास्त्रे योनित्वं प्राप्तं तदिति नैतत् सूत्रकारसंमतमिति प्रतिभाति ।

भाष्यप्रकाशः ।

लक्षणस्य तद्विरुद्धत्वापत्तेः । नच जालपेक्षयैकवचनात् विरोध इति वाच्यम् । तथा सति वाक्यान्तरासंग्रहेण ब्रह्मभेदापत्तेः । तस्माच्छास्त्रयोनित्वादित्यवश्यं प्रणेतव्यम् । ननु तथापि साधारणशब्देन व्याख्यानमयुक्तम् । जन्मादीनामादिमत्तया असत्त्वेनाग्रिमसूत्रेऽपि तदस्यकारणताया एव सिद्धेरित्यत आहुः मतान्तरेत्यादि । न्यूनत्वरूपं प्रतिज्ञादोषं परिहरन्ति नामेत्यादि ।

शांकरमतमनुवदन्ति कैषित्वादित्यादि । तन्मते दशसूत्रं जन्माद्यधिकरणम् । तत्र द्वाभ्यां प्रतिज्ञा । तत्र द्वितीयसूत्रे पञ्चम्यनन्वयादन्वयसिद्ध्यर्थं तथा वर्णयन्तीत्यर्थः । तद् दूषयन्ति नैतदित्यादि । शास्त्रयोनिरित्येतावतैव प्रतिज्ञासिद्धावपि त्वादित्यधिककथनादग्रिमसूत्रे पुनः साध्यपरामर्शाच्च तथेत्यर्थः । यत्पुनः शास्त्रस्य योनिरिति षष्ठीतत्पुरुषमङ्गीकृत्य, महत् ऋग्वेदादि-शास्त्रस्य सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य संबन्धो, न सर्वज्ञान्यतः संभवतीत्येवं ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वं समर्थितम् । 'अस्य महतो भूतस्य निःश्रुतं यद् ऋग्वेद' इत्यादिबृहदारण्यकीयश्रुतिमादाय पुरुष-

रश्मिः ।

लक्षणे प्रविष्टस्य । उक्तश्रुतिर्वयत इति श्रुतिस्मारकत्वं न तु 'तस्माद्वा एतस्मात्' इति श्रुतिस्मारकत्वम् । लक्षणस्येति आकाशमात्रभूतकर्तृत्वस्यान्तिमलक्षणस्य श्रुतिविरुद्धत्वापत्तेरित्यर्थः । अथवा एकजगज्जन्मादिकर्तृत्वस्य वसुभूतादिजन्मादिकर्तृत्वरूपश्रौतलक्षणादानुपूर्व्यशे-विरुद्धत्वापत्तेरित्यर्थः । न च जातीति भूतत्वरूपनित्यधर्मपेक्षयेत्यर्थः । यद्वा द्रव्यत्वापेक्षया-द्यस्येत्वेकवचनादित्यर्थः । तथासतीति लक्षणवाक्ये यत इति श्रुतिसंग्रहे विस्फुल्लिङ्गवत्सर्वो-त्पादकाब्रह्मणो वाक्यान्तरे कमसृष्टिबोधके ब्रह्मभेदापत्तेरित्यर्थः । यथा पृथिवी इतरेभ्यो मिषते गन्ध-वत्त्वादेवं सर्वोत्पादकाब्रह्मणः 'तस्माद्वा एतस्मात्' इति क्रमेणोत्पादक आत्मा मिषते यत इति श्रुत्यसंग्रहात्, आद्यसाकाशस्य जनकत्वात्, इत्येवं ब्रह्मभेदो ज्ञेयः । शंकरभाष्ये तु जन्माद्यस्य यत इत्यत्र प्रदर्शितानुमानस्य स्वातन्त्र्यं मा भूदिति शास्त्रयोनित्वादित्युक्तमित्युक्तम् । तदस्य-कारणताया इति जिज्ञास्यब्रह्मणो निर्गुणत्वेन जगत्कारणत्वं कथं लक्षणं संभवतीत्याशङ्क्य यज्ज-गत्कारणं तद्ब्रह्मेति कल्पितं कारणत्वं तदस्य सदेव ब्रह्मलक्षणं यद्ब्रजतं सा श्रुतिरिति शुकैर्लक्षणं रजतं तद्दिलेवं तथेत्यर्थः । भाष्ये । उत्तरत्रेति द्वितीयाध्याय इत्यर्थः । तथा च 'आविर्भावतिरोभावौ शक्ती वै भुरवैरिणः' इति वाक्याद् ब्रह्मशक्तित्वेनादिमत्त्वाभावेनासत्त्वाभावात् तदस्यलक्षणतेति भावः । छान्तासिद्धेः । प्रकृते । न्यूनत्वरूपमिति नामप्रपञ्चकथनरूपं सूत्रे न्यूनत्वं तद्रूपमित्यर्थः । दशसूत्रमिति यच्चान्यत्रान्यथा दृश्यते तथापि शंकरभाष्ये सर्वज्ञं ब्रह्मेत्युपक्षिप्तं तदेव द्रव्यज्ञाहेति शास्त्रयोनित्वसूत्रस्य तस्मान्न ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वमिति प्राप्ते उच्यते इति समन्वयसूत्रस्येदं सूत्र-मारम्यते इति ईक्षति सूत्रस्यावतरणदर्शनाद् दशसूत्रमित्यर्थः । साध्यपरामर्शादिति तदिति साध्यपरामर्शादित्यर्थः । हेतुनां वर्णने स न स्यादिति भावः । एतच्च तद्ब्रह्मैव समवायिकारणमिति

भाष्यप्रकाशः ।

निःश्वासवद् वेदसंभवश्च तत उक्तः । तनु मध्वभाष्यव्याख्याया जयतीर्थेनैव दूषितम् । इदं शास्त्रस्य निर्मितत्वं किमर्थमुपलभ्य रचितत्वं वा, निःसृतमात्रत्वं वा, नाद्यः । कणादाक्षरणातु-सरणप्रसङ्गात्, श्रुत्यादिविरोधाच्च । न द्वितीयः । शास्त्रयोनित्वस्य सार्वश्यसाधकत्वाभावप्रसङ्गादिति । इदमपि युक्तम् । पूर्वविकल्पे वेदस्यानित्यत्वप्रसङ्गात् । द्वितीये निःश्वासस्याबुद्धिपूर्वकत्वेन तथात्वादिति । एतेन, विमतं ब्रह्म वेदगतसर्वविषयप्रकाशनशक्त्याधारः । वेदोपादानत्वात् । दीपगत-प्रकाशनशक्त्याधारदीपोपादानवह्निवदिति विवरणोक्तमनुमानं, निःश्वासात्मकवेदोपादानत्वेनाबुद्धि-पूर्वकनिःश्वासोपादानपुरुषदृष्टान्तसनाथेन प्रतिसाधनेनापास्तम् ।

यत्तु आमतीनिबन्धे, वर्णनित्यत्वपक्षेऽपि पदानामानुपूर्वीविशिष्टवर्णात्मकत्वाद् वाक्यानां च तादृशपदात्मकत्वादानुपूर्व्याश्च व्यक्तिकर्मत्वादानुपूर्व्युपगृहीतानां नित्यानामपि वर्णानां पदत्व-वाक्यत्वयोरनित्यत्वेन लोके वेदे च न तयोः पौरुषेयत्वे विवादः । किं तु वेदवाक्ये पुरुषस्वातन्त्र्या-स्वातन्त्र्ययोः । तत्र स्वातन्त्र्यकोटिः काणादादीनाम् । द्वितीया तु जैमिनीया वेदाध्ययनं प्रति गुरु-शिष्यपरंपरानादित्वेन समर्थयन्ति । वैयासास्तु, अनाद्यविद्योपधानलब्धसर्वशक्तिज्ञानस्य परमा-त्मनो वेदजनकत्वेऽपि पूर्वपूर्वसर्गानुसारितादृक्तादृशानुपूर्वीविरचनेन । अतः पुरुषास्वातन्त्र्यमात्र-मेव वेदे अपौरुषेयत्वमित्युक्तम् । तदप्यसंगतम् । वर्णवद् वैदिकपदादीनामपि नित्यत्वात् । वाचा विरूपनित्ययेति, वेदो नारायणः साक्षात् स्वयंभूरिति शुश्रुम, वेदस्य चेश्वरात्मत्वादित्यादिश्रुति-पुराणवाक्येषु वेदपदादानुपूर्वीवैशिष्ट्य एव वेदत्वेन तादृशस्यैवेश्वरात्मकत्वात् । ईश्वरस्याविद्योपधानेन सार्वश्यलब्धेरप्यभ्युपगमेकशरणत्वात् । तादृशानुपूर्वीरचनया अस्वातन्त्र्ये राजाज्ञानुवादकराजदूतव-दानुपूर्वीरचनानामात्रेणेश्वरसार्वश्यासिद्ध्या व्याख्येयग्रन्थविरोधाच्च । अतः स्थितस्य गतिचिन्तनमात्रा-यायं प्रयासः । जगत्कर्तृत्वेनैवोभयविधतत्कर्तृत्वस्य, तेनैव सार्वश्यापि सिद्धौ भाष्यकारस्याप्य-पार्थ एव प्रयास इति दिक् ।

अन्यैस्तु शास्त्रं योनिः कारणं प्रमाणमस्येति व्याचक्ष्णौर्बहुव्रीहिरङ्गीकृतः । सोऽप्युक्तः । लक्षणाप्रसङ्गात् । स्वारसिकार्थत्यागाच्च ।

रश्मिः ।

भाष्यस्य पुरःस्फूर्तिकमन्वयमाद्युक्तं ज्ञेयम् । तेन तदनुभूतं प्रसिद्धं वा ब्रह्मैव, समवायिकारणं ब्रह्मै-वेत्यन्वयः इति पक्षपरामर्शकस्य भाष्यप्रकाशस्य न विरोधः । सृष्ट तितिक्षायां जुगतिः । यत्र तु ताल-व्यान्तं तत्र मृक्ष आमर्शने तुदादिर्बोध्यः तथाचानित्यः स्यादित्याहुः कणादेत्यादि । निःश्वासितरूपस्य निरपेक्षरवस्य तत्सामर्थ्यस्य च विरोध इत्याहुः श्रुत्यादीत्यादि । आविपदेन लिङ्गम् । श्रुतिस्मृतिवि-रोधाच्चेति वार्थः । प्रतिसाधनेनेति ब्रह्म वेदगतसर्वविषयप्रकाशनशक्त्याधाराः निःश्वासात्मकवेदो-पादानत्वात् अबुद्धिपूर्वकनिःश्वासोपादानपुरुषवदित्येवं प्रतिसाधनेनेत्यर्थः । पुरुषेत्यादि । चिवाद इति संबन्धः । स्वातन्त्र्यं च कर्तृत्वं वेदवाक्यनिरूपितं पुरुषगतं कर्तृत्वमित्यर्थः । चिरूपेति विविधरूपे-त्यर्थः । चिरूपेति देवतासंबोधनं वा । व्याख्येयेति व्याख्येयग्रन्थः सांख्यादिभाष्यं व्यासकृतं, तस्य प्रथमब्रह्मपदस्य विरोधात् । अत इति सर्वत्र शैथिल्यात् । उभयविधेत्यादि रूपनामविभिन्न-जगत्कर्तृत्वस्येत्यर्थः ।

अन्यैस्त्विति रामानुजप्रभृतिभिरित्यर्थः । लक्षणेति योनिपदस्य स्वसंबन्धिनि लक्षणा तस्या अपात्तेः । नायं वैयाकरणमत इत्यत आहुः स्वारसिकेत्यादि योनेरित्यर्थः ।

तस्मात् सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं च सिद्धं निरङ्कुशजगत्कर्तृत्वेन ।

भाष्यप्रकाशः ।

विज्ञानेन्द्रभिधुणा तु शास्त्रं योनिः मूलप्रमाणं यस्मिन्निति सप्तम्यर्थे बहुव्रीहिमङ्गीकृत्यो-क्तम् । अत्र शास्त्रादिति वक्तव्ये यच्छास्त्रयोनित्वादित्युक्तं, तच्छास्त्राचिरुपलभ्यमानस्मृतियोगिप्रत्य-क्षादिसंग्रहाय । अत एवाग्रे, उपपत्तेश्चेत्यादावनुमानम् । स्मृतेश्चेत्यादौ स्मृतिः । आचारदर्शनाथे-त्यादावाचारदर्शनमुखेन योगिप्रत्यक्षादिकं च संगृहीतमिति । तदत्रैवाग्रे मया दूष्यम् ।

उक्तार्थं निगमयन्ति तस्मादित्यादि । तथाचात्र निरङ्कुशजगत्कर्तृत्वेन शास्त्रप्रतिपाद्यत्व-मिति लक्षणं सिद्धमित्यर्थः । तत्र धर्मादेवारणाय तृतीयान्तम् । प्रकृत्यादिवारणाय शेषम् । तेन लक्षणे विवादाध्यासितत्वदोषपरिहारः । प्रजापत्यादिवारणाय निरङ्कुशेति ज्ञेयम् ।

अत्रानादिस्मृतिवादिनो मीमांसका वीजाङ्कुरदृष्टान्तेन स्मृतिप्रवाहानादित्वं वदन्तस्तपोयज्ञाद्यु-पचितपुण्यविशेषलब्धशक्तीनां प्रजापतिप्रभृतीनां क्षेत्रज्ञानामेव तत्तत्कल्पेषु कारणत्वमभिमन्यमाना रश्मिः ।

तथाचात्रेति । लक्षणं निरङ्कुशत्वं चानन्याधीनत्वं निष्क्रान्तमङ्कुशादिति 'निरादयः क्रान्ता-द्यर्थे पञ्चम्याः' इति समासः । जगज्जन्मादिकर्तृत्वेनेत्युक्तावसंभव इति जगज्जन्मकर्तृत्वेनेत्युक्ता स्थितिप्रलयकर्तृत्वव्याप्तिर्जन्मादिति सौत्रादिपदासंग्रहश्चेति च दूषणप्रसरोऽतो जगत्कर्तृत्वेनेत्युक्तम् । न च कर्तृत्वं जन्मकर्तृत्वं जन्मादिकर्तृत्वं वा वाच्यमित्युभययोभयदोषतादवस्थमिति शङ्कं निरङ्कुशजगज्जन्मकर्तृत्वेन निरङ्कुशजगत्स्थितिकर्तृत्वेन निरङ्कुशजगत्कर्तृत्वेनेत्येवं प्रातिस्विक-रूपेण लक्षणघटकतृतीयान्ताङ्गीकारात् । नन्वङ्कुशप्राप्तिरीश्वरीये कर्तृत्वे कुत इति चेन्न, ईश्वरे आत्मजन्मलीलत्वात् । अङ्कुशेऽनेन, अकिं लक्षणे 'सानसिवर्णसि' इति साधुः । अङ्कुशः । धर्मा-देरिति यागज्ञानयोरित्यर्थः । ननु शास्त्राणि षट् वेदेवेदान्तसांख्ययोगपाश्चात्त्रपाशुपतानि । तत्र तृतीयान्तपददानेपि लक्षणगमनादतिव्याप्तिरिति चेन्न, इष्टापत्तेः । 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' इति 'त्वामेवान्ये शिवोक्तेन मार्गेण शिवरूपिणम्' इति । 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूपम्' इति च श्रुतिः । परमनेकरूपेष्व्याचार्या नियामकाः 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' 'आचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति' इति च । प्रकृत्यादीति प्रकृतिः स्वरूपं 'प्रकृतिमगन् किल यस्य गोपवध्वः' इति वाक्यात् । आविपदेन शिवमायाकामाः । ननु 'अचेतनत्वेपि क्षीरवचेष्टितं प्रधानस्य' इति कापिलसांख्यप्रव-चनसूत्रवृत्तेः सांख्यशास्त्रमादाय लक्षणस्य प्रकृतावतिव्याप्तिरिति चेन्न, प्रथमाध्याये प्रकृतेः कार-णत्वाभावस्योपपादनात् । 'उपरागात् कर्तृत्वं चित्सांनिध्याच्चित्सांनिध्यात्' इति सूत्रमेकार्थीभाव-सामर्थ्येपीति ज्ञेयम् । ननु निरङ्कुशपदेनैव प्रकृत्यादिवारणे किं शेषेणेत्यत आहुः तेनेत्यादि । तथा च ये निरङ्कुशजगत्कर्तृत्वं प्रकृतौ मन्यन्ते तेप्यत्र पिहितमुखा इत्यर्थः । ननु भाष्ये निरङ्कुशपदा-भावात् किं दृढभावस्यकत्वमत आहुः प्रजापत्यादीति । वेदोक्तत्वेप्युपपृंहिते वेदोक्तैर्ष्य आदरः सूचितः । 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' इति वेदान्ते प्रजापतावपि तपोरूपब्रह्मणः सष्टत्वात्, शब्दार्थयो-रमेदात् । [प्रजापत्यादीति पुराणे ।

'सृजामि तन्निश्चुक्तोहं हरो हरति तद्वशः ।

विश्वं पुरुषरूपेण परिपानि विशक्तिधृक्' इति वाक्यात् ।

१. प्रकृत्यनास्तिकाः । २. 'एकं सद्' इतिपाठः ।

ननु न सर्वो वेदो ब्रह्मणो जगत्कर्तृत्वे मानम् । तपोयज्ञादियुक्तप्रजाप-
तिप्रभृतीनामेव जगत्कारणत्वस्य पूर्वकाण्डे तत्तदुपाख्यानेष्ववगम्यमानत्वात् ।
नचावान्तरकारणत्वम् । परस्याश्रवणात् । उत्तरकाण्डे तु द्वयप्रतिपादनाद्
विरोधः संदेहश्च । मीमांसायाः संदेहनिवारकत्वेऽप्येकांशस्याप्रामाण्यं स्यात् ।
उभयसमर्थने शास्त्रवैफल्यं वा । वेदप्रामाण्यादेव तत्सिद्धेः । बाधितार्थवचनं वेदे
नास्तीत्यवोचाम ।

किंच । वेदान्ताः किं वेदशेषा, वेदा वा । नाथः । अनुपयोगात् । अनारभ्याधी-

भाष्यप्रकाशः ।

ब्रह्मणो निरङ्कुशं जगत्कर्तृत्वमसहमानाः प्रत्यवतिष्ठन्ते ननु नेत्यादि । तत्तदुपाख्यानेष्विति
'प्रजापतिरकामयत प्रजाः सृजेयेति स तपोऽतप्यत स सर्पानसृजत' इति । 'आपो वा इदमग्रे
सलिलमासीत् । तस्मिन् प्रजापतिर्वायुर्भूत्वाऽचरत्' इत्यादिषु । तथैव पौराणेष्वपीत्यर्थः । परस्येति
प्रजापत्यादिव्यतिरिक्तस्य । तथाच न पूर्वकाण्डस्य तत्र प्रामाण्यम् । ननु यथोपक्रमस्य संदिग्धत्वे
निर्णय उपसंहारेण भवति, तथात्रोत्तरकाण्डेन निर्णय इति शङ्कायामाह उत्तरेत्यादि । द्वयप्रति-
पादनादिति यतो वा इमानीत्यादौ ब्रह्मणः कर्तृत्वस्य, नित्यशुद्धबुद्धेत्यादावकर्तृत्वस्य प्रतिपादना-
द्विरोध उभयत्रापि श्रौतत्वस्य साधारण्यादेकतरपक्षपातस्याशक्यत्वेन संदेहश्चेति तस्याः प्राबल्या-
न्नोत्तरकाण्डेन तन्निरणय इत्यर्थः । तर्हि तन्मीमांसाया निर्णयोऽस्त्वित्यत आह मीमांसाया इत्यादि ।
तथाच मीमांसायाः कर्तृत्वाकर्तृत्वान्यतरप्रसाधकत्वे अप्रसाधितांशबोधकवेदान्ताप्रामाण्यापत्ति-
रुभयप्रसाधकत्वे मीमांसाया एव वैयर्थ्यमित्युभयथापि कौण्डिन्येन तस्या निर्णायकत्वमिति सर्वसिद्धयपि
वेदे निरङ्कुशं जगत्कर्तृत्वं कुत्रापि कस्यापि न सिद्ध्यतीत्यनादिसृष्टिवाद एवादरणीय इत्यर्थः ।

एवं ब्रह्मस्वरूपविचारेण जगत्कर्तृत्व आक्षिप्तेऽपि यदि तद्बोधकप्रमाणप्राबल्यं स्यात् तदानु-
पलब्धस्य धर्मस्येव तत्सिद्धिः स्यादिति वेदान्तानां प्रामाण्यमाक्षिपति किंचेत्यादि । यदि वेदशेषाः
रक्षिः ।

आदिशब्देन हरविष्णुः ।] क्षेत्रज्ञानामिति जीवानाम् । प्रजापतिरिति, इयं संहितातृतीया-
ष्टकेति । आपो वा इत्यादि, इयं सप्तमाष्टकेति । पूर्वकाण्डे तत्तदुपाख्यानेषु चावगम्य-
मानत्वादिति भाष्येऽन्वयं मत्वाहुः पौराणेष्वपीति । तत्रेति ब्रह्मणः कर्तृत्व इत्यर्थः । उपसं-
हारेणेति । यथा छान्दोग्ये 'अमित्येतदुद्गीथमुपासीत' इत्युद्गीथोपासना अमित्यपिदात् ब्रह्मोपासना वेति
संदिग्धत्व उपक्रमस्य 'स य एतमेवं विद्वानुपास्ते परोवरीय एव हास्यास्मिँल्लोके जीवनं भवति तथामु-
ष्मिन् लोके' इत्युपसंहारेण परोवरीयस्त्वस्य परमात्मत्वस्य पूर्वोक्तस्वरूपाणादेः सकाशादतिशयेन परः
परोवरीयानिति योगेन फलत्वकथकेन ब्रह्मोपासनापरत्वमुपक्रमस्य निर्णयते । एवं पूर्वकाण्डे संदिग्धं कर्तृत्वं
ब्रह्मण्युत्तरकाण्डे निर्णीयते इत्यर्थः । भाष्ये शास्त्रवैफल्ये हेतुः वेदेत्यादि । तत्सिद्धेरिति उभय-
समर्थनसिद्धेरित्यर्थः । विचारमन्तरा कथं तत्सिद्धिरित्यत आहुः बाधितार्थेत्यादि । प्रकृतेः धर्मस्ये-
वेति अधिहोत्रादेरिव कर्तृत्वसिद्धिः स्यादिति हेतोरित्यर्थः । कर्तृत्वसिद्धिस्तु वेदान्ताभावे गहना स्यात् ।

'कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः । अकर्मणोपि बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः' ॥

इति गीतासुसंधेया । आक्षिपतीति अनादिसृष्टिवादी जगत्कर्तृत्वं कुत्रापि कस्यापि न
सिद्ध्यतीत्येतदर्थमाक्षिपति वेदानामन्ताभावादित्यर्थः । अनुपयोगादिति भाष्यं विवृण्वन्ति यदि

तत्त्वेन तदुपयोगित्वे पूर्वकाण्डविचारेणैव गतार्थत्वम् । विद्याप्रवेशश्च । न द्वितीयः ।
यज्ञाप्रतिपादनात् । मन्त्रब्राह्मणत्वाभावाच्च । तस्माद् वेदोपरा वेदान्ता इति

भाष्यप्रकाशः ।

स्युत्तदा द्रष्टव्यदेवतादि प्रकाशयन्त इतिकर्तव्यता वा बोधयन्तो वेदार्ये यागे कश्चिदुपयुक्ताः
स्युः । तनु न दृश्यते । अनारभ्याधीता अपि स्मृतयो गृह्यसूत्राणि च यथा, 'मानवी ऋचौ
घात्ये कुर्याद्' 'यद् किंच मनुवदत्तद्वेषजम्' इति, 'अष्टवर्षं ब्राह्मणश्रुपनयीत तमभ्यापयीत'
इत्यादिवाक्येनाभिसमिन्धनादावुपनयनादौ चोपयुज्यमानाः शेषभावं भजन्ते । तथैते वेदान्ता
अपि, 'यदेव विद्यया करोती'त्यादिवाक्येन वेदोक्तकर्मद्वययुज्यमाना वेदशेषा इत्युच्यते तदा
पूर्वमीमांसायां तृतीये शेषशेषिभावस्याद्ये स्मृतिपादे तत्प्रामाण्यस्य च विचारितत्वात् तथैव
गतार्थत्वाद् व्यर्थैवोत्तरमीमांसा वेदान्तानां च स्मृतिवद् विद्यात्वेव प्रवेशो, न वेद इति । नापि
धर्माद्यन्यतमपुरुषार्थप्रकाशकत्वेन तत्र प्रवेशः । स्मृतावपि तौल्यात् । अत एव शिष्योपनिषदि
'वेदमनुव्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति' इति वेदानुवचनानन्तरमुपनिषदनुशासनं पठितम् । पुराणेषुपि
साङ्गोपनिषद इति वेदेभ्यः पृथक् तन्निर्देशश्चेति युज्यत इति विद्याप्रवेशश्चेति चकारेण समुचीयते ।
यदि वेदास्तदा, 'आज्ञायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्शानाम्' इति, 'तद्गतानां क्रियार्थेन समाज्ञायः'
इत्यादिपूर्वतन्त्रवाक्याद् 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' इत्यादिस्मृतिवाक्याच्च यागतच्छेषान्यतरप्रतिपादकाः
स्युः । यथा, 'अग्निहोत्रं जुहोति' इत्यादयः । 'तस्ते परसि दद्यान् यति सा वैश्वदेव्यामिक्षा', 'वारणो
यज्ञावचरः' इत्यादयश्च । ब्रह्म तु ज्ञानशेष इति नोभयरूपमिति तत्प्रतिपादकानां कथं वेदत्वम् ।

किंच । वेदो हि मन्त्रब्राह्मणसमुदायात्मकः । तत्र मन्त्रा नाम प्रयोगकालेऽनुष्ठानौपधिकार्थ-
स्मारकाणि वाक्यानि । तद्भिर् च ब्राह्मणमिति, 'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या', 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' इति
द्वयान्यां तल्लक्षणं निर्णीतम् । वेदान्तेषु तु विध्यनङ्गीकारेण प्रयोगाद्यभावात् तदाक्येषु मन्त्रत्वा-
द्यभावः । अत आर्यप्रसिद्धिमात्रेण वक्तव्ये वेदत्वे तेषामुपरभूमिवद् वेदोपरत्वेनापार्थत्वात् तेषां
रक्षिः ।

वेदेत्यादि । इतिकर्तव्यतामिति इतिशब्दः प्रकारं वदति । कर्तव्यता च क्रियाम् । तथा च
क्रियाप्रकारमित्यर्थः । सामान्यस्य च भेदको विशेषः प्रकार इति तद्विदः । तच्चिति कश्चिदुपयुक्तत्वं
त्वित्यर्थः । अनारभ्येत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति अनारभ्येत्यादि । मानवी ऋचाविति व्याख्या-
तैषा । मनोरुक्तेर्भेजत्वेन तत्स्मृतयोभिसमिन्धनादावुपयुज्यन्ते । उपयुज्यमाना इति विद्यापौ-
ष्कल्यजनकतयोपयुज्यमाना इत्यर्थः । स्मृतिवदित्यादि इतिहासपुराणमित्यपरविद्यायां श्रावणाद्
'यदेव विद्यया करोति श्रद्धया उपनिषदा वा' इति श्रुत्या तद्विद्यात्वेव प्रवेशो भवेन्न वेद इत्यापत्तिः ।
धर्मादीति, आदिपदेन ब्रह्माक्षरे, यद्वा आदिपदेनार्थकाममोक्षाः । तत्रेति वेदे इत्यर्थः । न
द्वितीय इत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति यदि वेदा इत्यादि । पूर्वतन्त्रेत्यादि प्रथमाध्यायस्यसूत्रा-
म्यामित्यर्थः । 'आज्ञायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्शानां तस्मादनित्यमुच्यते' 'तद्गतानां क्रिया-
र्थेन समाज्ञायोर्थस्य तन्निमित्तत्वात्' तेष्वेव पदायषु भूतानां वर्तमानानां पदानामित्यर्थः ।
उभयोरकतिङो दर्शनाद्वाक्यादित्युक्तम् । आमिक्षेति धनीभूतः पिण्ड इत्यर्थः । यज्ञावचर इति
यज्ञप्रचारहेतुः । इत्यादयश्चेति यागतच्छेषप्रतिपादका इत्यर्थः । नोभयरूपमिति न याग-
तच्छेषरूपमित्यर्थः । सूत्राभ्यामिति द्वितीयाध्यायस्याभ्यामित्यर्थः । प्रथमे 'शिष्यकोपे विरुद्धमिति

तेषां किं स्यादिति चेत् । मैवम् । अस्ति तावद् वेदत्वम् । अध्ययनादिभ्यः
स्मरणान् । प्रमाणं च सर्वोऽपि वेदः स्वार्थे । स च न यज्ञश्चेद् ब्रह्म भवतु । न
चैतावता अवेदत्वम् । अतिप्रसङ्गात् । शक्यते ह्यग्निहोत्रादीनामन्यतरदनन्तर्भाष्य

भाष्यप्रकाशः ।

विचारे किं फलं स्यात् । सर्वोऽपि प्रयोजनोद्देशेनैव प्रवर्तत इति फलाभावात् प्रवृत्तिविधाते
तन्मीमांसाऽप्यपर्येति तत्साधिते ब्रह्मणो जगत्कर्तृत्वेऽत्यन्तामिनिवेशो न कार्य इत्यर्थः ।

अत्र समादधते मैवमित्यादि । न वेदान्तेषु वेदोपरत्वं, किंतु वेदत्वमेव । अध्ययना-
ध्यापनज्ञानविधिभिर्वेदं पठन्तः पाठयन्तोऽर्थं चावगच्छन्त आर्याः स्वरपूर्वकमनध्यायशुद्धाऽश्रव-
णादिनियमान् पालयन्त एव तथा कुर्वन्तीत्याचारपरंपरया,

‘स्वयंभूरेव भगवान् वेदो गीतस्त्वया पुरा ।

श्रिवाद्या ऋषिपर्यन्ताः सतारोऽस्य न कारकाः’ ॥ इति

पुराणोक्तस्य स्मरणस्यात्रापि तुल्यत्वेन च तन्निर्धारणम् । किंचौत्पत्तिकेन्द्रे बादरायणग्रहणं पूजार्थं
कृत्वा अलौकिकेशैः परानपेक्षं वेदस्य प्रामाण्यं जैमिनिना प्रतिपादितम् । तत्र सोऽलौकिकोऽर्थः
को वेत्यपेक्षार्या यथा तन्मते यज्ञस्तथा व्यासमते ब्रह्म । अनुपलब्धार्थत्वस्योभयत्रापि तौल्यात् ।

किंच । यागप्रतिपादकत्वेन वेदत्वं मन्वानो भवान् ब्रूताम् । किं यावद्दयज्ञप्रतिपादकत्वं
वेदत्वम्, उत यत्किंचित्प्रतिपादकत्वम्, अथवा यथाकथंचित् तत्प्रतिपादकत्वमिति । नाद्यः ।
अग्निहोत्रादिप्रतिपादकस्य भागस्य तदितरयज्ञाप्रतिपादकत्वेनावेदत्वप्रसङ्गात् । न द्वितीयः ।
सर्वस्य तथात्वप्रसङ्गात् । मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजदित्याद्यर्थवादस्यापि तथात्वप्रसङ्गाच्च ।
द्वितीयश्चेत् सिद्धं ब्रह्मप्रतिपादकत्वेऽपि वेदत्वम् । वक्ष्यमाणरीत्या तेषामपि यज्ञार्थत्वेन तथात्वा-
दिति । तदेतदुक्तं शक्यते हीत्यादिना । अत्रान्यतममिति वक्तव्ये अन्यतरदिति प्रयोगस्तु,
महाभाष्ये ‘प्रत्ययः’ ‘परश्च’ इत्यत्र निमित्तविचारं प्रकृत्य तदुदाहरणे तद्यथा बहुष्वासीनेषु कश्चित्
कंचित् पृच्छति, कतरो देवदत्त इत्यत्रोपाध्यनङ्गीकाराद् बोध्यः ।

रश्मिः ।

चेत् ‘न, शास्त्रपरिमाणत्वात्’ इत्यधिकरणे । आचारस्यापि प्रामाण्यादाहुः अध्ययनेत्यादि । प्रमाणं
चेत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति किंचौत्पत्तिकेत्यादि । अनुपलब्धेति अनधिगतार्थगन्तुत्वं प्रमाण-
मिति लक्षणस्मारकपदम् । अवेदत्वप्रसङ्गादिति । एतेनातिप्रसङ्गादिति भाष्यं विवृतम् ।
शक्यते हीत्यादिभाष्यस्यातिप्रसङ्गादिति भाष्यविवरकत्वात् । तथात्वादिति यथाकथंचि-
द्यज्ञप्रतिपादकत्वादित्यर्थः । तदेतदिति किंच यागेत्यादिना विवृतमित्यर्थः । न चैतावता ब्रह्म-
प्रतिपादकत्वेनावेदत्वमग्निहोत्रादिप्रतिपादकत्वेदभागेषु । अतिप्रसङ्गादवेदत्वप्रसङ्गात् । यतोमिहोत्रदर्श-
पूर्णमासादीनां मन्त्रविधिनियेधनामधेयार्थवादसंबन्धिनां मध्येन्यतरद् एकतरद् वेदेनन्तर्भाष्य
वेदाद्बहिःकृत्य वेदे वेदत्वं वक्तुं शक्यतेऽपि तु न, तस्मादतिप्रसङ्ग इति भाष्यार्थः । अग्नि-
होत्रादिषु लक्षणापर्याप्तिं मत्वा न प्रति तद्देवलक्षणं न वक्तव्यमतो यथाकथंचित्प्रतिपादकत्वं
वेदत्वं तच्च वेदान्तेष्वपि फलितोर्थः । उपाध्यनङ्गीकारादिति । अत्रायमाशयः । इतरडत्-

तथा वक्तुम् । तस्माद् ब्रह्मापि प्रतिपादयन्तो वेदान्ता वेदत्वं न व्यभिचरन्तीति ।
मन्त्रब्राह्मणरूपत्वं चोत्पद्यमानः । ऋगेव मन्त्रः ।

भाष्यप्रकाशः ।

स्वरूपतः संदेहं वारयन्ति मन्त्रेत्यादि । तच्चोदकेत्यादिब्रह्मणां विचारे शास्त्रात्त्वे
सति कर्मसाधनत्वेन विधिबोधितोच्चारणकः शब्दो मन्त्रः । तथात्वे सति मन्त्रमिच्छः शब्दो
ब्राह्मणमिति तयोर्लक्षणम् । तदुभयात्मकत्वं च वेदलक्षणं सिद्ध्यति । न तु विधेयार्थस्मारको
मन्त्र इति लक्षणम् । तस्य, वसन्ताय कपिञ्जलानालभेतेत्यत्राऽव्याप्तेः । एवं मननेहेतुर्मन्त्र इत्यस्य
रश्मिः ।

मौ हि ‘कियत्तदोर्निर्धारणे द्वयोरेकस्य इतरच्’ ‘वा बहूनां जातिपरिग्रहे इतमच्’ इति सूत्राभ्यां
विहितौ तत्रैतादृशमहाभाष्यप्रयोगात् बहूनां निर्धारणेपि इतरच्: इष्टत्वात्पूर्वसूत्रे द्वयोर्ग्रहणं प्रायो-
मिप्रायम् । तथा च वार्तिकम् ‘किमादीनां द्विवहृथे प्रत्ययविधानादुपाध्यनर्थक्यम्’ इति अत्र
कैपटः द्वयोरिति जातिपरिग्रहे इति च न कर्तव्यमिति भावः । इतीति मनोरमायामुक्तम् । अन्य-
तरान्यतमशब्दौ तु स्वभावादेव द्विवहृद्विषये निर्धारणे वर्तते । तत्र हेतुस्तु कियत्तद्ब्रह्म एव तयो-
र्विधानादिति शेखरे उक्तः । तथा च सूत्रे द्वयोर्ग्रहणं प्रायोमिप्रायमिति स्वभावाद् द्विवहृद्विषये निर्धारणे
वर्तते इत्यत्रापि द्विशब्दोपादानं प्रायोमिप्रायमिति बहूनां निर्धारणेऽप्यन्यतरदिति प्रयोगः साधुरेवेति ।
द्वयोर्बहूनामिति चोपाधी तयोर्नाङ्गीकारादित्यर्थः । तथाच भागवतैकाःशे भगवद्वाक्यं

‘आसीञ्जानमयो ह्यर्थ एकमेवाविकल्पितम्’ इत्युपक्रम्य,

‘वाञ्जनोगोचरातीतं द्विधा समभवद् बृहत् ।

तयोरेकतरो ह्यर्थः प्रकृतिः सोभयात्मिका ।

ज्ञानं त्वन्यतमो भावः पुरुषः सोमिधीयते’ ।

इत्यत्र तयोरन्यतम इति । न च किमोस्मिन् विषये इतरजपीत्यनेन बहूनां निर्धारणे
किमः एव इतरजिति नियम्यत इति शङ्कम् । न तत्सूत्रं किंतुमहाभाष्यसिद्धं वाक्यमित्यदोषात् ।
स्वरूपत इति मन्त्रब्राह्मणे वेदस्य स्वरूपे ‘मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्’ इति । स्वमतं व्याकर्तुं
मीमांसकमतेनाहुः तच्चोदकेत्यादिस्त्राणामिति पूर्वतन्ने द्वितीये ‘तच्चोदकेषु मन्त्राख्या’,
‘शेषे ब्राह्मणशब्दः’, ‘अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वमात्मातेषु हि विभागः स्यात्’, इति सूत्राणां विचार इत्यर्थः ।
यद्यपि शास्त्रदीपिकायां यन्त्राभिप्युक्तानां मन्त्र इति प्रसिद्धिः स मन्त्रः अवशिष्टं ब्राह्मणमिति लक्षणं
तृतीयसूत्रे चोद्भवनामधेयानामभियुक्तप्रसिद्धभावादेवामन्त्रत्वमिति स्थितं तथापि सूत्रप्रयविचारे
त्वदेव लक्षणमिति विचारपदसामर्थ्यम् । तथाचात्मातेष्विति सूत्रभाष्यं ‘आम्नातत्वे सति
तच्चोदकेषु मन्त्राख्या तथात्वे सत्येव शेषे ब्राह्मणशब्दः’ तदाह आम्नातेषु विभागो
द्विविधः इति ‘पल्लि कति ते जाराः’ इत्यादिप्रश्नोत्तरीमूतलौकिकवाक्यानां संकल्पस्य च
मन्त्रत्ववारणाय सत्यन्तम् । अध्ययनविधिना सर्वमेवोच्चारणं प्रेरितमिति ब्राह्मणेतिव्याप्तिवारणाय
तृतीयान्तम् । विविधमनुष्ठानं यत्र विधिना बोध्यते तत्र मन्त्रस्य साधनत्वेन बोधनादनेनेदं
कुर्यादिति । तत्त्वेन चोदका इति न यास्य लक्षणस्य प्रत्यगाशीर्षादिष्वव्याप्तिः, विषयत्वेन
तेषामपि जपसाधनत्वात् । मीमांसकानां सिद्धान्तलक्षणं वक्तुं तन्मतमनुवदन्ति न चित्त्यादि

भाष्यप्रकाशः ।

ब्राह्मणेऽतिव्याप्तेः । अत्यन्तस्त्वान्त उत्तमपुरुषान्त इत्यादीनां परस्परं प्रयोगकरणभूताः शब्द इत्यस्य प्रत्यगाशीर्भे चाव्याप्तेः । किंत्वभियुक्तानां यत्र मन्त्र इति समाख्यानं स मन्त्र इति लक्षणमङ्गीक्रियते । यदि तु चरणव्यूहानुरोधेन वसन्तायेत्यादीनां ब्राह्मणत्वमङ्गीकृत्य प्रयोगकरणभूतः शब्दो मन्त्र इति सौत्रमेव लक्षणमाद्रियते, तदापि जपोपासनादिप्रयोगं प्रत्यपि प्रत्यगाशीःप्रभृतिमन्त्राणां विषयत्वादिना करणत्वमस्त्येवेत्यदोषः । तच्चकर्त्तव्यमयुःश्वेव प्रसिद्धम् । निगदादीनामपि तत्रैव निवेशः । ब्राह्मणलक्षणमप्यत एव सिद्धम् । वेदान्तेषु च, सत्यं ज्ञानमि-
रदिमः ।

अङ्गीक्रियते इत्यन्तम् । अव्याप्तेरिति अस्य मन्त्रस्य विधिरूपत्वेन विधेयार्थभिधायकत्वेन तत्त्वाभावात् । अत्यन्त इत्यादि 'त्रिगुणां शान्तिरसी'त्यसिपदान्तः, 'इषे त्वे'ति त्वान्तः, वाचा त्वा होत्रा प्राणेनोद्गात्रा चक्षुषाध्वर्युणा मनसा ब्रह्मणा श्रोत्रेणाग्नीध्रैरेतैस्त्वा पञ्चमिदैवैः ऋत्विग्भिर्ऋद्धरामीत्युत्तमपुरुषान्तः, बहिर्देवसदनं दामीति च । परस्परमिति अव्याप्तिरिति शेषः । त्रिषु परस्परमेकलक्षणप्रवेशेन लक्षणान्तराप्रवेशात् । प्रत्यगाशीरिति 'आयुर्वृतम्', 'अग्ने आयुर्मे देहि' इति मन्त्रे इत्यर्थः । अङ्गीक्रियत इति मीमांसकैरिति शेषः । दूषणं तु भावार्थपादेऽनाप्रातेष्विति सूत्रभाष्ये उक्तम् । तथा हि इदं लक्षणं प्रकरणभेदेन स्थितयोः ऋक्सामयोरेव संभवति न तु कृशरूपयजुःशाखान्तरेपि । वाजसनेयके ब्राह्मणे ब्राह्मणं वसन्ताय कपिञ्जलानालभेत ग्रीष्माय कलविङ्कानिति न मन्त्रौ । ननु कथं मन्त्रमध्ये पठितयोरमन्त्रत्वमिति चेन्न त्रिगुणपाठाय यजुष्ट्वर्थममन्त्रयोरपि तत्र प्रक्षेपात् ।

त्रिगुणं पठ्यते यत्र मन्त्रब्राह्मणयोः सह ।

यजुर्वेदः स विज्ञेयः शेषाः शाखान्तराः स्मृताः ॥

इति चरणव्यूहवाक्यादिति तद्विवरणे चैतदतिरिक्तस्थले विधायकत्वं न कापि मन्त्रे दृष्टम् । अत्र च मन्त्रत्वं संदिग्धम् । ब्राह्मणे तु विधायकत्वं प्रसिद्धमिति लिङ्गभूतं लिङ्गं च स्थानादलि-
ष्टमिति । अत उक्तमेव लक्षणं ज्याय इति । ननु कथं तर्हि चोदकेषु मन्त्राख्येति सूत्रे अतः कर्मणि यागजपादौ यः साधनभूतः शब्दः स मन्त्रः कर्मकरणः शब्दो मन्त्र इत्युक्तं भवतीति भाष्यमित्याशङ्क्य तत्रेष्टमापादयन्ति यदि त्वित्यादि । चरणव्यूहस्तु 'त्रिगुणं पठ्यते यत्र' इति वाक्यम् । आद्रियत इति द्रा कुत्सितगतौ 'धुमास्थे'तीत्वम् । जपोपासनेति आदिशब्देन किञ्चिद्ब्राह्मम् । विषयत्वादिनेति आदिशब्देनाशिष्टम् । अदोष इति तथा चोभयमपि सिद्धान्तलक्षणमिति हृदयम् । तच्चेति मन्त्रलक्षणं चेत्यर्थः । निगदादीनामिति परप्रत्यायनार्था मन्त्रा निगदाः प्रोक्षणी-
रासादयः इष्वाबाहिरूपसादयः इन्द्र आगच्छ हरिव आगच्छ इत्यादयः । आदिपदेन निवि-
न्मन्त्राः अग्ने महानसि ब्राह्मणभारतेत्येवंरूपाः । तत्रैवेति । 'यजूंषि वा तद्रूपत्वात्' इति सूत्रेण यजुष्येवेत्यर्थः । ब्राह्मणेत्यादि अत एव पत्रि कति ते जारा इत्यादिलौकिकवाक्यानां संकल्पस्य च ब्राह्मणत्ववारणस्यावश्यकत्वादेव सिद्धान्तलक्षणं सिद्धमित्यर्थः । सत्यन्ताभावे लौकिकवाक्ये संकल्पे चातिव्याप्तिरिति भावः । नापीति करणबहुलं ब्राह्मणं इत्यददाः इत्ययजया, इत्यप-
चया इति ब्राह्मणो गायेदित्यस्मिन् ब्राह्मणेन गातव्ये मन्त्रेतिव्याप्तेः । इत्याहेति वाक्योपनिबद्धं ब्राह्मणमित्यपि न । राजाविद्यं भगं भक्षीत्याह यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याहेत्यनयोरतिव्याप्तेः । आख्या-
यिकारूपं ब्राह्मणमित्यपि न, यमयमीसंवादसूक्तादावतिव्याप्तेः । नापि हेत्वाद्यन्यतमत्वं तत्त्वं, मन्त्रेष्वपि हेत्वादिसत्त्वात् । ब्राह्मणे तेन ह्यत्रं क्रियते इति हेतुः । तत्रभो दधित्वमिति निर्वचनं,

ब्रह्मप्रतिपादकं ब्राह्मणम्, तच्छेषाः सृष्ट्यादिप्रतिपादकाः । यद्यपि न विधीयते, तथापि तादृशमेव ज्ञानं फलायेति युक्तमुत्पदयामः । पूर्ववैलक्षण्यं तु भूषणाय ।

भाष्यप्रकाशः ।

त्यादीनामृचाय, अच्युतमसीत्यादीनां यजुषां, हाषु हाषु हाषु इत्यादीनां साम्नां च विधि-
मानत्वात् तान्येव मन्त्रः । ऋगित्युपलक्षणम् । तद्विभं ब्रह्मप्रतिपादकं ब्राह्मणम् । ब्रह्मप्रतिपादक-
भागशेषाः सृष्ट्यादिप्रतिपादका भागा ब्राह्मण एव निविशन्ते । तत्रश्च मन्त्रब्राह्मणसमुदायरूपत्वात् सिद्धं वेदान्तानां वेदत्वमिति । तर्हि वेदोपरत्वं कथं निर्वर्ततामित्यत आहुः यद्यपीत्यादि । तथाच वेदे वाधिगार्थवचनस्यामावादाविधीयमानमपि ज्ञानं यथोक्तं फलं जनयिष्यत्येवेति नोपरत्वमित्यर्थः । ननु पूर्वमीमांसायां विहितस्यैव फलवत्त्वं साधितमिति कथं तथेत्यत आहुः पूर्वैत्यादि । तथाच, गुणे त्वन्यायकल्पनेति तत्रैवोक्तत्वाद् वेदगुणभूतस्य जैमिनीयस्यैव निर्णयस्य हीनाधिकारिपरत्वं वेदविरोधे कल्पनीयमित्यर्थः ।

रदिमः ।

अमेध्या वै माषा इति निन्दा, वायुवै क्षेपिष्ठा देवतेति प्रशंसा, तद्विचिकित्सन् जुह्वानीति संशयः, यजमानेनेत्यादि विधिः, माषानेव मन्त्रं पचतेति परकृतिः, पुरा ब्राह्मणा अनैषुरिति पुराकल्पः, याव-
तोऽश्वात् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वारुणान् चतुःकपालाच्चिवैपैदिति विशेषावधारणकल्पना । एवं मन्त्रेपि इन्द्रवो वासुशान्ति हीति हेतुः, उदानिषुर्मेहीरिति तस्मादुदकमुच्यते इति निर्वचनं, मोष-
मन्त्रं विन्दते अप्रचेता इति निन्दा, अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिरिति प्रशंसा, अधःस्विदासीदुपरिस्विदा-
सीदिति संशयः, कपिञ्जलानालभेत इति विधिः, सहस्रमयुतं दददिति परकृतिः, यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः इति पुराकल्पः । ऋगेषु मन्त्र इति भाष्यं व्याकुर्वन्ति वेदान्तेषु चेत्यादि । ऋचामिति 'तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था' इति सूत्रोक्तमर्थवशेन व्यवस्थितपादत्वरूपं लक्षणमत्रानुस्यूतमिति ऋचामित्यर्थः । तेषामित्यस्य मन्त्राणामित्यर्थः । अर्थवशेनेत्यनेन छन्दोनुरोधेन मगणादिकृता 'पाद-
व्यवस्था व्यावर्तिता । यजुषामिति 'शेषे यजुःशब्दः' इति सूत्रोक्तमृक्सामातिरिक्तमन्त्रत्वरूपं लक्षणमत्रानुस्यूतमिति यजुषामित्यर्थः । साम्नामिति 'गीतिषु सामाख्या' इतिसूत्रोक्तं ऋक्षु यद्गानं तद्रूपत्वरूपं लक्षणमत्रानुस्यूतमिति साम्नामित्यर्थः । तान्येव मन्त्र इति मन्त्रपदोत्तरं यदेकत्वं तत्पकृत्यर्थावच्छेदके मन्त्रत्वेऽन्वेति मन्त्रत्वं च ऋग्यजुःसामनिष्ठमेकमेवेति नायोग्यता । न च पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेनेति व्युत्पत्तिविरोधः । अनेकव्रीहिव्यक्तित्वात्पर्यके संपन्नो व्रीहिरितिवाक्येप्येकवचनदर्शनेन तादृशव्युत्पत्तिसंकोचस्यावश्यकत्वादित्यन्यत्र विस्तरः । ननु भाष्ये ऋगित्युक्तेः कुतो यजुःसामोर्ग्रेहणमित्यत आहुः ऋगित्यादि । ब्रह्मप्रतीत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति तद्विभ्रमित्यादि । साधितमिति द्वितीयाधिकरणे साधितमित्यर्थः । तथाच शाबरभाष्यम् 'यः पुरुषं निःश्रेयसेन संयुनक्ति स धर्मशब्देनोच्यते' इति । तत्रैवेत्यादि पूर्वतन्त्रे नवमस्य तृतीयपादे 'विप्रतिपत्तौ विकल्पः स्यात् समत्वाद् गुणे त्वन्यायकल्पनैकदेशत्वात्' इत्यधिकरणे अदितिः पाशां प्रमुमोत्केतुं अदितिः पाशान् प्रमुमोत्केतानिति पाशमन्त्रावेकवचनान्तबहुवचनान्तौ तत्र बहुवचनान्तः किंप्रकृतत्वा-
वामीपोमीये निविशते उत बहुपाशकेषु पशुगणेषु कृष्यते नोत्कर्षः किंतु गुणे कारकगतसंख्यामिधा-
यित्वेन गुणभूते बहुवचने लक्षणाकल्पना पाशावयवगतेव बहुत्वं लक्ष्यते इति । एवमुपाङ्गेषु गणना-
द्वेदगुणमूतायां पूर्वमीमांसायामेव तत्त्वं कल्पनीयमित्यर्थः । उपलक्षणाद्वैलक्षण्यशास्त्रभेदरूपभूषणायैति

काण्डद्वयस्यान्योन्योपकारित्वाय साधारणग्रहणम् । 'यदेव विद्यया करोति' इत्यादिना पूर्वशेषत्वं सर्वस्य । 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' इत्यादिना सर्वस्योत्तरशेषत्वम् । कर्मब्रह्मणोः क्रियाज्ञानयोर्धर्मिपरत्वेनैक्यात् कर्तृवाक्येषु सर्वत्र न विरोधः । तस्माच्छास्त्रयोनित्वं सिद्धम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

एवं भाट्टादिकृतं पूर्वपक्षं परिहृत्य काण्डद्वयस्यैकवाक्यत्वबोधनाय शास्त्रपदप्रयोग इति पर्यवसितं तदर्थमाहुः काण्डेत्यादि । एकवाक्यत्वप्रकारमाहुः यदेवेत्यादि इदं चतुर्थाध्याये, 'यदेव विद्ययेति हि' इतिष्वे व्युत्पादयिष्यते । ऐक्यादिति अभिधेयप्रयोजनयोरैक्यात् । तथाच, 'यज्ञो वै विष्णुः' इति श्रुतेर्धर्मो यस्यां मदात्मकः,

'मां विद्यतेऽभिधते मां विकल्प्यापोहते ब्रह्म,
एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम् ।
मायामात्रमनुद्यान्ते प्रतिपिद्ध्य प्रसीदति' ॥

इत्येकादशस्कन्धे भगवद्वाक्याच्च ब्रह्मवादेन सर्वस्य ब्रह्मात्मत्वावगतिरूपनिषत् 'विद्यात्मनि भिदावाधः' इति वाक्याद् भेदबुद्धिबाधो विद्या तत्पूर्वकं यज्ञादिकरणे कर्मपौष्कल्यम् । ते च वेदान्ताधीने इति पूर्वकाण्डस्य वेदान्तापेक्षित्वं, वेदानुवचनयागादिसाधनैर्भगवत्प्रसादान्छुद्धे चेतसि विद्योदेतीति साधनावबोधकवेदमागापेक्षित्वं वेदान्तानाम् । यद्यप्युभयत्र पुरःस्फूर्त्या कर्म ज्ञानं च यथायथं प्रतीयते, तथापि पूर्वोक्तश्रुतिस्मृतीनां वक्ष्यमाणानां च तासां विचारे क्रियाज्ञानयोर्धर्म्यात्मकत्वेनाभिधेयस्यैक्यम् । समुचित्वाभ्यां ताभ्यां यथाधिकारं ब्रह्मभावः, परप्राप्तिश्च फलमिति प्रयोजनस्याप्येक्यमित्येवं सिद्ध एकवाक्यत्वे रश्मिः ।

न व्याख्यातम् । भाट्टादीति पूर्वमीमांसायां विहितस्यैवेत्यादिना पूर्वं कृतम् । काण्डद्वयस्येत्यादि भाष्यमारभ्य विवृतम् 'अभिधेयप्रयोजनयोरैक्या'दित्यन्तं स्फुटीकुर्वन्ति स्म तथाचेति । ब्रह्मात्मकत्वेति श्रुत्यन्तरे च 'यो वा एतदक्षरमविदित्वा गार्गी अस्मिन् लोके जुहोति ददाति तपस्यत्यपि बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवानेवास्य स लोको भवति' इति बृहदारण्यके, 'य एवास्मि स सन् यजे' इति ब्रह्मात्मकत्वावगतिर्यज्ञाङ्गम् । उप समीपे सीदतीत्युपनिषत् । ते चेति उपनिषद्विद्ये इत्यर्थः । यदेव विद्ययेति भाष्यं स्फोटयित्वा तमेतमिति भाष्यं स्फुटीकुर्वन्ति वेदानुवचनेति वेदानुवचनानि यागादीनि साधनानि तैः 'तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्' इति श्वेताश्वतरे दर्शनसाधनत्वेन प्रसाद उक्तः । स शुद्धिहेतुरित्याशयेनाहुः भगवदिति । सप्तम्यन्तचेतःपदोपादानेन दर्शनं सर्वात्मभावरूपं विवक्ष्यते तस्य 'स मानसीन आत्मा जनानाम्' इतिश्रुत्या चेतसि विद्यात्मकस्योदय इति मुख्यविद्या । सर्वत्र तु यागादिसाधनैः शुद्धमनसि ज्ञानं भक्तिर्बोदेतीति । कर्मब्रह्मणोरित्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति यद्यपीत्यादि । अभिधेयस्येति पूर्वोत्तरकाण्डाभिधेयस्य कर्मज्ञानरूपस्य धर्मिणैक्यम् । ताभ्यामिति कर्मज्ञानाभ्याम् । समुच्चयोत्र न रामानुजभाट्टाधमिमतः सिद्धान्तप्रत्ययत्वात् । तथाचोक्तभाष्योक्तसमुच्चय एवं च यथाधिकारमाधिदैविकाध्यात्मिकचित्तशुद्धी अनतिक्रम्य ब्रह्मभावः । ज्ञानद्वारा ब्रह्मत्वं, भक्तिद्वारा परप्राप्तिः । अपर्यैक्यमिति 'ते प्राप्नुवन्ति मामेव' इति गीतायाः । अक्षरप्राप्तानां स्वप्राप्त्युक्तेः । कर्तृवाक्ये-

केचिदत्र जन्मादिसूत्रं लक्षणत्वादनुमानमिति वर्णयन्ति ।

भाष्यप्रकाशः ।

सर्वत्र कर्तृत्वेनोच्यते इति न पूर्वोत्तरकाण्डयोर्विरोधः । शेषशेषिभावस्याविशिष्टत्वेऽपि पुलकर्म-फलेषु यथा आशंसायाः फले पर्यवसानात् फलमेव पूर्वकाण्डे मुख्यं तथाप्राप्तीति फलवाक्यवद् वेदान्तानामेव मुख्यत्वज्ञापनाय कौषीतिकब्राह्मणे 'ऋचां मूर्धानं यजुषामुचमाङ्गं साम्नां शिरोऽथर्वणां मृण्डमृण्डम्' इति मूर्धत्वादि श्राव्यते । तस्मात्परत्वगन्धस्याप्यभावाद् ब्रह्मणः शास्त्रोक्त-कारणत्वं निःप्रत्यूहमित्यर्थः ।

एवं सिद्धान्तशुक्त्वा आयुनिकानामन्येषां भाष्यकृतां ब्रह्मणः कर्तृत्वस्य शास्त्रैकप्रमाणक-त्वांशे विप्रतिपत्त्यभावात् तन्मतानुवादमकृत्वा केषांचिद् वैशेषिकाद्यनुसारीणां मतमनुवदन्ति केचिदित्यादि । अत्रैवं बोध्यम् । वैशेषिकादिदर्शनाभिमानिनस्तावद् बाह्यानां भीमांसकानां कापिलानां च निरासाय निखिलजगदेककर्तारमीश्वरमनुमानेनैव साधयन्ति । तथाहि । जगत् कार्य सावयवत्वाद्, महत्त्वे सति क्रियावत्त्वाद्, महत्त्वे सति मूर्तत्वाच्च घटादिवदिति जगतः कार्यत्वे सिद्धे, जगद् बुद्धिमत्कारणपूर्वकं कार्यत्वाद् घटादिवदिति साधनेन जगतस्तथात्वे सिद्धे, स बुद्धिमान् को वेत्यपेक्षायामत्र जगत्त्वेन शित्यादिवायुपर्यन्तानां विचित्राणां महाभूतानां संग्रहात् तादृशां तेषां जगत्त्वेन तदुपादानोपकरणसंप्रदानप्रयोजनाभिज्ञः कश्चिदेकः पुरुष आस्थेयः । कार्यत्वस्य तदुपादानोपकरणसंप्रदानप्रयोजनाभिज्ञकर्तृत्वव्याप्तत्वात् । एवं च क्षेत्रज्ञानां तादृशाभिज्ञत्वाभावेन प्रकृतेश्चेतनत्वाभावेन च जगत्कर्तृत्वनिवृत्तौ सुखेन जगत्कर्तृरी-श्वरस्य सिद्धिरिति । एवं प्रमाणान्तरेणेश्वरस्य तज्जगत्कर्तृत्वस्य च सिद्धौ जन्मादिष्वस्यापि लक्षणत्वात् तदितरभेदसाधने पृथिवीत्ववदीश्वरेश्चेतनान्तरव्यतिरिक्तः, जगज्जन्मादिकर्तृत्वाद्

रश्मिः ।

श्वित्यंशं व्याचक्रुः सर्वत्रेति । ब्रह्मवेति धर्म्येव । विरोध इति ज्ञानक्रियाशक्तिप्रतिपादन-विरोधः । अत्रान्योन्याश्रयाभावायाहुः शेषशेषीति । पूर्वकाण्ड इति इदं तृतीयस्य प्रथमपादे 'द्रव्यगुणसंस्कारेषु पादरिः' 'कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात्' इत्यादिसूत्रेषु चिन्तितम् । आशंसा-इच्छा तस्याः । मूर्धत्वादीति आदिशब्देनोत्तमाङ्गत्वादिः । तस्मादिति मन्त्रब्रह्मणरूपत्वे सति अविहित-ज्ञानस्य फलसाधकत्वात् । तथाच ज्ञानान्योन्याश्रयो नास्तीति भावः । वस्तुतस्तु शास्त्रमेकमेवेति नान्योन्याश्रयशङ्का । निःप्रत्यूहमिति निष्प्रत्यूहमिति पाठो भाति 'इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य' इति-सूत्रात् । निर्भिन्नस्येदुदुपधस्य वा वाच्यम् 'निःप्रत्यूहो महान् भोगः' इति सेवाफले श्रीमदाचार्यप्रयो-गात् । पौराणप्रयोगो वा बोध्यः । भाष्ये । तस्मादिति कर्तृज्ञानयोर्धर्मिरूपत्वेन ग्रहणात् । सिद्ध-मिति ब्रह्मणः । प्रकृते । वैशेषिकादीति वैशेषिकाः प्रमाणद्वयवादिनः । आदिशब्दोक्ता नैयायिकाः प्रमाणचतुष्टयवादिनः । मूर्त्तत्वाच्चेति तत्त्वं च परिच्छिन्नपरिमाणवत्त्वम् । तथात्व इति बुद्धिम-त्कारणपूर्वकत्व इत्यर्थः । तदुपादानेत्यादि तस्य कार्यस्योपादानं चोपकरणं च संप्रदानं च प्रयोजनं चेति द्वन्द्वोत्तरं षष्ठीतल्लुपेषुपि तेष्वभिज्ञ इति सप्तमीसमासः । लक्षणणेति इतरभेदसाधने हेतुः । लक्षण-त्वमितरभेदसाधकत्वमिति । तदितरेत्यादि तस्येश्वरस्येतरस्माद्भेदसाधने पृथिवीत्ववत् पृथिवी इतरेभ्यो

भाष्यप्रकाराः ।

यन्नैवं तन्नैवमित्यनुमानरूपं सूत्रमित्येकं मतम् । तदसंगतम् । जगत्कर्तृसाधकस्य कार्यत्वस्य हेत्वाभासत्वात् । यथाहुर्मत्काराचार्याः । जगत् न बुद्धिमत्कारणपूर्वकं कार्यत्वाद् बीजोत्पन्ना-
ङ्कुरवदिति साधारणो हेतुः । किं च जगता सहेश्वरसंबन्धस्यात्यन्तापरिदृष्टत्वेन साध्यस्य पञ्चधर्मत्वाभावादयं विरुद्धोऽपि । यस्यकस्यापि बुद्धिमतः साधने सिद्धसाधनत्वं च । तथा घटा-
दिदृष्टान्तबलेन कार्यत्वसमानाधिकरणस्यानीश्वरासर्वज्ञशरीरेन्द्रियादिमत्कर्तृकत्वस्य सिद्ध्या विव-
क्षितेश्वरासिद्धिश्च । तादृशजीवसिद्ध्याऽर्थान्तरत्वेनापि तदसिद्धिश्च । नचैवं घटादिदृष्टान्तेन शब्दे
कृतकत्वादनित्यत्वसाधने दृष्टान्तीयानां पाक्यत्वादीनामापत्त्याऽनुमानोच्छेदप्रसङ्गः । लिङ्गिनः
शब्दस्य प्रमाणान्तरगोचरत्वेन शब्दे पाक्यत्वादीनां निवृत्त्या तदनुच्छेदात् । अत्यन्तापरिदृष्टे
ब्रह्मणि त्वन्वयव्यतिरेकरिश्चुद्धानां तेषां निवर्तकस्याभावेन तादृशधर्मापचरेनिवार्यत्वात् । अतः
शास्त्रैकसमाधिगम्यं ब्रह्मेति ।

रामानुजाचार्यास्त्वेतेषु दूषणेषु शैथिल्यं प्रदर्श्य प्रकारान्तरेण शास्त्रैकसमाधिगम्यत्वं
रहिमः ।

भिद्यते गन्धवत्त्वात् इत्यनुमानलिङ्गवदित्यर्थः । यन्नैवं तन्नैवमिति देवदत्तवदित्यर्थः । अनुमान-
रूपमिति अस्मैति जगतो जन्मादि यत इति 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' इतिसूत्रेण पञ्चम्यन्तम् । तस्य लक्ष-
णत्वाद्देतुत्वं तत एव इतरभेदसाधकत्वमित्यनुमानरूपत्वं जगज्जन्मादिकर्तृत्वसिद्धौ हि तेन चेतनान्तर-
व्यतिरिक्तत्वं साधनीयं तस्मिद्धिस्तु जगत् बुद्धिमत्कारणपूर्वकं कार्यत्वात् घटवदित्यनुमानसाध्या ।
तदेवानुमानं दुष्टं किं तरामेन्द्रदित्याशयेनाहुः जगत्कारिण्यादि । साधारण इति साध्यवदन्यवृत्तित्वं
विपक्षवृत्तित्वं वा साधारणत्वम् । साध्यं बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वतदभावस्तद्वाद् बीजोत्पन्नाङ्कुरादिस्तदन्यो
घटादिस्तद्वृत्तित्वं कार्यत्व इति । विपक्षो बीजाङ्कुरादिः तद्वृत्तित्वं कार्यत्व इति च लक्षणसंगतिः । तथा-
चान्वयव्याख्या साध्यतदभावयोः साधकः साधारण इति फलितम् । यथा धूमवान् वह्नेरिति । तत्रायो-
गोलके साध्याभावसाधकत्वं बोध्यम् । साध्यस्येति बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वसेत्यर्थः । विरुद्धोपीति
विरुद्धत्वं तु साध्यासामानाधिकरण्यं तथाच साध्याधिकरणे बीजाङ्कुरादौ कार्यत्वस्य सत्त्वात्तदसामा-
नाधिकरण्यम् । दूषकताबीजभेदादुभयोर्भेदः । बाधितोपीति वक्तुं युक्तम् । पक्षे साध्यशून्यत्वस्य
तलक्षणत्वात् । यथा जलादिपक्षे वह्न्यभावः जलं वह्निमज्जलेत्वात् इत्यत्र बाधवत् साधारणोपि
हेतुः । साध्यवान् पर्वतादिः तदन्यो जलदृदादिस्तद्दृष्टि जलत्वं साध्यवदन्यत्वादिगतो हेतुः । ननु
दृष्टोन्वयबुद्धिमत्संबन्धो जगतीति न विरुद्ध इति चेत्तत्राहुः यस्यकस्यापीति । तथेति यथा घटादि-
दृष्टान्तबलेन कार्यत्वलिङ्गेन च बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वसिद्धिस्तथेत्यर्थः । सिध्येति जगद् अनी-
श्वरासर्वज्ञशरीरेन्द्रियादिमत्कर्तृपूर्वकं कार्यत्वात् घटवदित्येवं सिद्धेत्यर्थः । ननु नैवं सिद्धि-
र्भेदोऽपि क्षित्यादिवायुपर्यन्तानां विचित्राणां महामृतानां जगत्त्वेन तदुपादानोपकरणसंप्रदानप्रयो-
जनाभिज्ञो नानीश्वरासर्वज्ञादिरित्यत आहुः तादृशजीवेत्यादि । उपासोपचितसर्वज्ञादिशक्ति-
मतो जीवस्य सिद्धेत्यर्थः । न चैवमिति दृष्टान्तबलेन दृष्टान्तीयाशेषधर्माणां पञ्चवृत्तित्वाङ्गीकारे
इत्यर्थः । तेषामित्यादि अनीश्वरासर्वज्ञत्वादीनां श्रवणवन्नितर्कस्य चक्षुरादिप्रमाणान्तरस्याभा-
वेत्यर्थः । अत इति प्रत्यक्षस्य तन्मूलकानुमानस्य चाप्रवृत्तेः शब्दस्य पराक्रमप्रतिपादनद्वारा प्रवृ-

भाष्यप्रकाशः ।

साधयन्ति । तथाहि । सावयवत्वादिलिङ्गकैः पूर्वोक्तानुमानैः कृत्वा सिद्धत्वेन जगतः कार्यत्वं न
प्रत्याख्यातुं शक्यते । नच जगदकार्यम्, अशक्यक्रियत्वाद् अशक्योपादानादिविज्ञानत्वाच्च,
आकाशवदिति प्रतिपक्षसद्भावात् प्रत्याख्यातुं शक्यमिति वाच्यम् । आकाशे निरवयवत्वस्यानु-
कूलतर्कस्य सत्त्वेन तस्याकार्यत्वेऽपि जगद्रूपेषु महीमहीधरादिषु वाय्वन्तेषु तदभावेन तयोरप्रयो-
जकतयाकाशदृष्टान्तेन तेष्वकार्यत्वस्य साधयितुमशक्यत्वात् । एवं निरवयवत्वेनोपाधिर्नैव
क्षित्यादिवायुपर्यन्तानि अकार्याणि महाभूतशब्दवाच्यत्वाद् आकाशवदित्यपि प्रत्यनुमानं निरस्तम् ।
एवं सिद्धे कार्यत्वे शक्यक्रियत्वशक्योपादानादिविज्ञानत्वयोरपि कार्यत्वेनैव सिद्ध्या तयोरपि
प्रतिपक्षत्वमेव । तथाहि । घटमणिकादिषु कृतेषु कार्यदर्शनेनानुगतकर्तृगततर्भिर्माणशक्तिज्ञानः
पुरुषोऽदृष्टपूर्वं विचित्रसन्निवेशं नरेन्द्रमवनमालोक्य अवयवसन्निवेशविशेषेण तस्य कार्यत्वं
निश्चित्य तदानीमेव कर्तुस्तज्ज्ञानशक्तिवैचित्र्यमनुमिनोति । अतस्तु श्रवणादेः कार्यत्वे सिद्धे

रहिमः ।

तेश्चेत्यर्थः । प्रतिपक्षेति साध्याभावसाधकहेत्वित्यर्थः । 'सावयवादिहेतूनां सत्प्रतिपक्षत्वमिति
भावः । साध्याभावसाधकं हेत्वन्तरं यस्य स सत्प्रतिपक्षः । अनुकूलतर्कस्येति यद्यकार्यं न
स्यान्निरवयवो न स्यात् इति शङ्कानिवर्तकस्य निरवयवत्वं यद्यकार्यत्वव्यभिचारि स्यान्निरवयव-
वत्वमकार्यसाधकं न स्यात् इति व्याप्तिग्राहकस्य चानुकूलतर्कस्य सत्त्वेनेत्यर्थः । तदभावेनेत्यादि
निरवयवत्वरूपाणुकूलतर्काभावेनाशक्येत्यादिहेत्वोरप्रयोजकतयैत्यर्थः । तेष्विति जगद्रूपेषु महीमही-
धरादिष्वित्यर्थः । उपाधिनेति साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधित्वमत्राकाशमादाय
साधनव्यापकत्वमिति चेन्न । यद्दर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वं तद्दर्मावच्छिन्नसाधनाव्यापकत्वमुपा-
धिरिति लक्षणस्य विवक्षितत्वात् यद्दर्मः कार्यत्वत्वं तथा चाकार्यत्वत्वावच्छिन्नसाधनं नाकाशमिति
नाकाशमादाय साधनव्यापकत्वमिति भावः । यदभावेन यद्ददन्यत्वेन वा साधनवति साध्याभाव
उच्चीयते स उपाधिः लघवादिति नय्याः । स श्यामो मित्रातनयत्वादित्यत्र शाकपाकजत्वमुपाधिः
शाकपाकजत्वाभाववति घटादौ श्यामत्वसत्त्वाच्छ्यामत्वव्यापकत्वाभावेपि मित्रातनयत्वावच्छिन्न-
श्यामत्वव्यापकत्वात् । एवं प्रकृतेपि यद्दर्मावच्छिन्नाकार्यत्वव्यापकं निरवयवत्वमाकाशादौ
तद्दर्मावच्छिन्नमहाभूतशब्दवाच्यत्वाव्यापकं निरवयवत्वं पृथिव्यादाविति लक्षणसंगतिः । एवं
यथाद्रिन्धनाभावेनाद्रिन्धनवत्पूर्वताद्यन्यत्वेन साधनवति वह्निमत्ययःपिण्डे धूमाभाव उच्चीयते
इत्याद्रिन्धनमुपाधिसाद्दत्त निरवयवत्वाभावेन निरवयवत्ववदाकाशाद्यन्यत्वेन वा साधनवत्क्षित्या-
दिषु साध्यस्याकार्यत्वस्याभाव उच्चीयत इति । कार्यत्वेनेति कार्यत्वलिङ्गेन घटादिदृष्टान्तसना-
धनेत्यर्थः । तयोरपीति तयोः शक्यक्रियत्वशक्योपादानादिविज्ञानत्वयोरपि प्रतिपक्षत्वं प्राप्तत्वं
प्रागल्भ्यं चैवेत्यर्थः । तथा चाशक्यक्रियत्वाशक्योपादानादिविज्ञानत्वयोर्हेत्वोरप्यसिद्धिरिति भावः ।
घटमणिकेति मणिकः गुर्जरदेशे गृहे मिष्टजलार्थं खलं 'टांका' इत्युच्यते । कार्यदर्श-
नेत्यादि कार्यदर्शनेनानुमिते कर्तृगते कार्यनिर्माणस्य शक्तिज्ञाने येनेत्यर्थः । अदृष्टपूर्वमिति
न दृष्टं पूर्वं यत्तददृष्टपूर्वम् । विचित्रः स्थलविशेषसन्निवेशो यत्र तथाविधं चैत्यर्थः ।

भाष्यप्रकाशः ।

तावत्सर्वसाक्षात्कारतन्निर्माणादिनिपुणः कश्चित् सिद्धयत्येव । विवादाध्यासितं भूभूरादिकं स्विनिर्माणसमर्थकर्तृपूर्वकं कार्यत्वात् सार्वभौमसदनवदिति प्रयोगात् । किंच सर्वचेतनानां सुखदुःखभोगस्य धर्माधर्मसाध्यत्वेऽपि धर्माधर्मयोरचेतनत्वाच्चेतनाधिष्ठानमन्तरेण तयोः फलहेतुत्वानुपपत्तेः सर्वकर्मानुगुणसर्वफलदानचतुरः कश्चिदास्थेयः । वर्धकनिदानधिष्ठितस्य वाड्यादेरचेतनस्य देशकालाद्यनेकपरिकरसन्निधानेऽपि युपादिनिर्माणसाधनत्वादर्शनात् । तथाच प्रयोगः । धर्माधर्मौ चेतनाधिष्ठितत्वेनैव फलोपघायकौ अचेतनत्वाद् वाड्यादिवदिति । नच पूर्वानुमाने कार्यत्वस्य हेतोर्बीजोत्पत्त्याङ्कुरदृष्टान्तेन साधारणत्वं शक्यम् । अङ्कुरादौ संदेहस्थानन्याहितत्वेन पक्षसमतया पक्ष एवान्तर्भावत्वात् । एतेनैव सुखादिदृष्टान्तोऽपि प्रत्युक्तः । नच लाघवाद्दुःखवादिप्रतिपक्षक्षेत्रज्ञानामेवाधिष्ठातृत्वमत्र कल्पयितुं शक्यम् । तेषां स्रष्टृमध्यवहितविप्रकृष्टदर्शनाशक्तिनिश्चयात् । कल्पनाया दर्शनानुसारित्वस्यैव युक्तत्वात् । नचेश्वरेऽप्येतादृशशक्त्यापत्तिः । तत्र तन्निश्चयकप्रमाणाभावात् । अतः प्रमाणान्तरतो न तत्सिद्ध्यनुपपत्तिः । तथाचोक्तानुमानेन सिद्ध्यन् स्वामाविकसर्वार्थसाक्षात्कारतन्निश्चयमनसामर्थ्यसंपन्न एव सेत्स्यतीति न तस्मिन्नन्वयव्यतिरेकपरिशुद्धमप्यनैश्वर्याघापादयितुं शक्यम् । समर्थकर्तृपूर्वकत्वनियतकार्यत्वरूपहेतुबलादेव तन्निवृत्तेः । तथाहि, केनचित् क्रियमाणं किंचित् स्वोत्पत्तये कर्तुः स्विनिर्माणसामर्थ्यं स्वोपादनोपकरणविज्ञानं च निर्वाहकत्वेनापेक्षते । न त्वन्यासामर्थ्यमन्याज्ञानं वा । हेत्वभावात् । उक्तसामर्थ्योक्तज्ञानाभ्यामेवोत्पत्ताद्युपपत्त्यां संबन्धितया दृष्टानामकिंचित्कराणामन्येषां कल्पनायोगात् । अन्यथानुमानोच्छेदप्रसङ्गात् । अथ तदप्युपयोगीति चेत्, किं क्रियमाणवस्तुव्यतिरिक्तज्ञानादिकं सर्वविषयं क्रियोपयोगि, उत कतिपयविषयम् । नाद्यः । कुलालादेरपि क्रियमाणवस्तुव्यतिरिक्त-

रश्मिः ।

साधारणत्वमिति भूभूरादिकं स्विनिर्माणसमर्थकर्तृपूर्वकं कार्यत्वात् बीजोत्पत्त्याङ्कुरवदित्येवं साध्यतदभावयोः साधकत्वमित्यर्थः । संदिग्धसाध्यवत्त्वं पक्षत्वमिति लक्षणं मत्वाहुः अङ्कुरादिविति । अनन्याहितत्वेनेति कर्त्रनुपलम्भमात्रोत्पन्नतया उपाधिसत्प्रतिपक्षादिदोषानाहितत्वेनेत्यर्थः । न अन्यः पक्षभिन्नः अङ्कुरादिः पक्षरूप इत्यर्थस्वदाहितत्वेन । एतेनैवेत्यादि पूर्वोक्तरीत्या पक्ष एवान्तर्भावेन वायुपनीतचन्दनादिगन्धजन्यसुखादिदृष्टान्तोपीत्यर्थः । पक्षभिन्नत्वस्य दृष्टान्ते तत्रत्वादित्यर्थः । धर्माधर्माविति । द्वितीयानुमानेपि किंचिदाहुः न च लाघवादिति । क्षेत्रज्ञानामिति जीवानामित्यर्थः । अत्रेति धर्माधर्मयोरित्यर्थः । द्वितीयानुमाने इति वा । अत इति अनुमाननिर्दृष्टत्वात् शब्दप्रमाणादन्यत्प्रमाणमनुमानरूपम् । तत्सिद्धीत्यादि ईश्वरसिद्ध्यनुपपत्तिरित्यर्थः । समर्थत्वादि समर्थकर्तृपूर्वकत्वस्य साध्यस्य यो नियतसहचारी कार्यत्वरूपो हेतुस्तद्वलादेवानैश्वर्यादिनिवृत्तेरित्यर्थः । स्विनिर्माणसमर्थकर्तृपूर्वकं कार्यत्वात् सार्वभौमसदनवत् इति पूर्वोक्तानुमानमनुसंधेयम् । स्वोत्पत्तय इति स्वस्य क्रियमाणस्वोत्पत्तय इत्यर्थः । हेत्वभावादिति कल्पमानहेतुनामन्यथासिद्धत्वेनाभावात् । अकिंचिदिति अन्यथासिद्धानाम् । अन्येषामिति अन्याज्ञानान्यासामर्थ्यादीनामित्यर्थः । अन्यथेति अनुपयोगिसाधकत्वे घटः पृथ्वी गन्धवत्त्वादिति सद्हेतुना पृथ्वीत्ववत्तावत्परिमाणलिङ्गतत्कर्तृकत्वानां सिद्ध्यापत्त्यानुमानोच्छेदप्रसङ्गादित्यर्थः । तदपीति अन्यदप्युपयोगि सिद्ध्यतु नाम न तावत्परिमाणादीतिचेदित्यर्थः ।

भाष्यप्रकाशः ।

ज्ञानाद्यदर्शनात् । नापरः । सर्वेषु कर्तृषु तत्तदज्ञानाशक्त्यनियमेन सर्वेषामज्ञानादीनां व्यभिचारात् । नच निर्वाहकापेक्षाङ्गीकारे ईश्वरेऽपि शरीरेन्द्रियाघापचिरिति शक्यम् । संकल्पमात्रेण परशरीरगतभूतवेतालगराद्यपगमदर्शनात् । नच कथमशरीरस्य प्रवर्तनरूपः संकल्प इति शक्यम् । संकल्पस्य मनोजन्यत्वेन शरीरानपेक्षत्वात् । मनस्तस्वीश्वरेऽप्युपगमात् । पूर्वोक्तहेतुनैव ज्ञानशक्तिवन्मनसोऽपि प्राप्तत्वात् । नच मानसोऽपि संकल्पः सशरीरस्यैव, तस्यैव समनस्कत्वादिति वाच्यम् । मनसो-नित्यत्वेन देहाद्यपगमेऽपि तत्सद्भावेनानैकान्तिकत्वात् । अत ईदृशस्य विशिष्टस्य जगतो निर्माणे पुण्यपापपक्वशः परिमितशक्तिज्ञानः क्षेत्रज्ञो न समर्थ इति तद्विलक्षण ईश्वरः संकल्पमात्रेण सर्वकरणसमर्थोऽनुमानेन सिद्ध्यति । प्रयोगान्तरेण च । जगद् एकचेतनाधीनम्, अचेतनारब्धत्वाभीरोगस्वशरीरवदिति । तस्मान्न पूर्वोक्तप्रकारेण शास्त्रैकसमधिगम्यत्वं ब्रह्मणः सिद्ध्यति ।

कथं तर्हि तत्सिद्धिरितिचेद्, उच्यते । नाचेतनारब्धत्वेन हेतुना ईश्वरसिद्धिः । तथाहि । यदत्र साध्यतया निर्दिष्टं, किं तदेकचेतनाधीनत्वम् । न तावदेकचेतनायचोत्पत्तिस्थितिकत्वम् । दृष्टान्ते साध्यवैकल्यात् । अरोगस्यापि शरीरस्य पितृपुत्राद्यनेकचेतनाभोग्यत्वात् तत्तददृष्टजन्यत्वेन तदुत्पत्तिस्थित्योस्तदधीनत्वेनैकचेतनाधीनत्वाभावात् । किं च । शरीरस्य स्थितिरपि, किं स्वावयवसमवेतता, उत प्राणनम् । आद्ये अवयवाधीनत्वाच्च चेतनापेक्षा, घटादिवत् । द्वितीये क्षित्यादीनां शरीररूपत्वभावेन पक्षे असंभव इति पक्षसपक्षानुगतस्थित्यनुपलम्भः । नाप्येकचेतनाधीनप्रवृत्तिकत्वं तत् ।

रश्मिः ।

व्यभिचारादिति कुलालत्वेन घटादित्वेन हि कार्यकारणभावः तत्रान्याशक्त्यान्याज्ञाने सहकारिणी तत्रान्यपदार्थो हि पटादिस्तथा च पटादिज्ञानवता कुलालेन क्रियमाणे घटादौ अन्याज्ञानादिनियतसहचरित्वव्यभिचारादित्यर्थः । उपयोग्यभावेपि कार्यदर्शनात् । परशरीरेत्यादि तथाच संकल्प एव निर्वाहको न तु शरीरादिरतो नेश्वरे तदापत्तिरित्यर्थः । पूर्वोक्तेत्यादि स्विनिर्माणसमर्थकर्तृपूर्वकत्वनियतकार्यत्वहेतुनैवेत्यर्थः । प्राप्तत्वादिति समर्थपदेन तथात्वादित्यर्थः । तस्यैवेति सशरीरस्यैवेत्यर्थः । अनैकान्तिकत्वादिति साधारणाद्यन्यतमत्वमनैकान्तिकत्वं सशरीरः समनस्कः संकल्पवत्त्वात् क्षेत्रज्ञवत् । इत्यत्र समनस्कत्वस्य संकल्पाभाववति मुक्तत्वमपि सत्त्वात् । इत्यनैकान्तिकत्वादनुपसंहारित्वादित्यर्थः । अनुपसंहारी च तद्विद्यमानताभावप्रतियोगिसाध्यकादिः तथाचानुपसंहार्यनैकान्तिकत्वादित्यर्थः । अनुमानेनेति । अचेतनेनेति कामचीजाधारण्यत्वात् । तत्सिद्धिरिति शास्त्रैकसमधिगम्यत्वसिद्धिरित्यर्थः । उच्यते इति अस्माभी रामानुचार्यैरुच्यते । सूचीकटाहन्यायेन प्रथमतो द्वितीयमनुमानं दूषयन्ति नाचेतनेत्यादि । तत्रेति । एकचेतनायचेति आयत्ते यति प्रपन्ने आसमन्तात् प्रयत्नविषये उत्पत्तिस्थिति यस्य जगतस्तत्कत्वम् । उपलक्ष्यते लयः । साध्यवैकल्यमेव साधयन्ति अरोगस्येत्यादि । साध्यलक्षणघटकीमृता स्थितिः शरीरनिष्ठा वाच्या । तथाच यत्सिद्धं तदाहुः शरीरस्येत्यादि । असंभव इति जीवनासंभव इति सपक्षरूपनीरोगस्वशरीरानुगतजीवनरूपस्थित्यनुपलम्भः पक्ष इति बाधित इत्यर्थः । सपक्षेति निश्चितसाध्यवत्त्वं सपक्षत्वम् । अनुपलम्भ इति पक्षेऽनुपलम्भः । तदिति एकचेतनाधीनत्वरूप साध्यमित्यर्थः ।

भाष्यप्रकाशः ।

पक्षान्तभूतेषु गुरुतररथाशिलामहीरुहादिष्वनेकचेतनसाध्यप्रवृत्तिकत्वेन व्यभिचारात् । नापि चेतनमात्राधीनत्वम् । सिद्धसाधनत्वात् । किं च । उभयवासिद्वानां जीवानामेव नियामकत्वाभ्युपगमो युक्तः । लाघवात् । नच जीवानां पूर्वोक्तरीतिकोपादानादिविज्ञानतन्निर्माणशक्त्यभावः शङ्कनीयः । तपोयागादिभिस्तेष्वपि तादृशज्ञानसामर्थ्ययोरुपगमे बाधकाभावात् । एतदपेक्षयेत्साध्यपुरुषकल्पनस्य तत्र सामर्थ्यविशेषकल्पनस्य चात्यन्तापरिदृष्टत्वेनातिगुरुत्वात् । अतोऽचेतनारब्धत्वलिङ्गकानुमानेन नेश्वरसिद्धिः ।

नापि कार्यत्वलिङ्गकेन । महीमहाणवादीनां सावयवत्वेन कार्यत्वेऽप्यनेकत्वात् ते सर्वे एकदैवैकेन निर्मिता इत्यत्र प्रमाणाभावात् । न चैकघटवत् सर्वेषामेककार्यत्वं, येनैकदैवैकः कर्ता स्यात् । पृथग्भूतेषु कार्येषु कालभेदकर्तृभेददर्शनेन कर्तृकालैक्यस्य नियन्तुमशक्यत्वात् । नच जीवानां तादृशनिर्माणशक्त्यदर्शनेन तन्निर्वाच्यैव कार्यत्वबलेनैव तत्सिद्धिरिति वाच्यम् । पूर्वमशक्तानामपि पश्चात् पुण्यविशेषोपचयेन शक्तिदर्शनात्, तद्विशेषोपचयेनातिशयितादृष्टसंभावनया च तादृशविलक्षणकार्यकर्तृत्वस्यापि संभवादित्युक्तम् । किं च । युगपत् सर्वोच्छिष्टिः सर्वोत्पत्तिश्च न प्रमाणपदवीमधिरोहतः । अदर्शनात् । क्रमेणैवोत्पत्तिविनाशयोः कल्प्यमानयोर्दर्शानुगुण्येन तथा कल्पनायामपि विरोधाभावाच्च । अतो बुद्धिमदेककर्तृकत्वे साध्ये कार्यत्वस्थानैकान्तिकत्वम् ।

रश्मिः ।

व्यभिचारादिति साध्याभाववत्सु गुरुतररथादिषु स्वसमवाय्यारब्धेषु साध्यशक्त्येषु हेतुर्व्यभिचारादित्यर्थः । साधारणो हेतुरित्यर्थः । साध्यं प्रकारान्तरेण लक्षयित्वा दूषयन्ति नापीत्यादि । सिद्धेत्यादि । शरीरादौ तथात्वादित्यर्थः । अयं दोषः पक्षताविघटकः । सिपाधयिषाविरहविशिष्टसिद्धभावः पक्षता । एतच्च हेत्वाभासान्तरं जगति नायमित्यतो दूषणान्तरमाहुः किंचेत्यादि । कार्यत्वलिङ्गकं स्वरूपासिद्धत्वमित्याहुः महीत्यादि । तथाच पक्षे व्याप्यत्वाभिमतस्येश्वरसाधकस्य कार्यत्वस्य विरहात् स्वरूपासिद्धत्वमित्यर्थः । सावयवत्वं लिङ्गमपि बाधितमिति कार्यं सावयवत्वादित्यनुमानमपि दुष्टमिति भावः । पक्षे साध्याभावो बाधः इति तल्लक्षणात् । प्रतिज्ञान्तररूपं निग्रहस्थानं वा व्याख्येयम् । सर्वेषामित्यादि महीमहाणवादीनामेकस्य कार्यत्वमित्यर्थः । तत्सिद्धिरिति स्वनिर्माणसमर्थकर्तृपूर्वकत्वसिद्धिरित्यर्थः । संभवादिति यथा प्रियव्रतकृतं कर्म कोनुकुर्यादिनेश्वरम् इतिवाक्यात् । दर्शनेति न्यायशास्त्रानुगुण्येन । तथाकल्पनायामिति पुण्यविशेषोपचयेनातिशयितादृष्टसंभावनया च तादृशविलक्षणकार्यकर्तृत्वकल्पनायाम् । अत इति विवादाध्यासितं भूमधरादिकं बुद्धिमदेककर्तृपूर्वकं कार्यत्वात् । घटादिवदित्यनुमाने तथेत्यर्थः । अनैकान्तिकत्वमिति सार्वभौमसदननेति च विवादाध्यासितं भूमधरादिकं बुद्धिमदनेककर्तृपूर्वकं कार्यत्वात् सार्वभौमसदनवदित्यनेन बुद्धिमदनेककर्तृकत्वे सिद्धे एतत्साध्याभाववति भूमधरादिके कार्यत्वरूपहेतोर्वृत्तेः साधारणानैकान्तिकत्वमित्यर्थः । तथाच सार्वभौमसदनदृष्टान्तेन बुद्धिमदनेककर्तृत्वे सिद्धे एतत्साध्याभाववति भूमधरादिके कार्यत्वरूपहेतोर्वृत्तेस्तथात्वावगमात् साधारणानैकान्तिकत्वावगमादिति सार्वभौमेतिफक्किकार्थः । कार्यत्वं बुद्धिमदेककर्तृकत्वसाधकं घटनिष्ठत्वात् पटनिष्ठकार्यत्ववदित्यनुमानमपि । कार्यत्वं न बुद्धिमदेककर्तृकत्वसाधकं मद्यादिभूतसमूहनिष्ठत्वात् घटपटस्तम्भसमूहनिष्ठकार्यत्ववदित्यनुमानेन सत्प्रतिपक्षमित्याहुः

भाष्यप्रकाशः ।

सार्वभौमसदनदृष्टान्तेन तथाऽवगमात् । मद्यादिभूतसमूहनिष्ठत्वाच्च घटपटस्तम्भसमूहनिष्ठकार्यत्ववत् । साध्यतावच्छेदकराहित्येन दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वं च । सर्वनिर्माणचतुरस्रैकस्याप्रसिद्धेः । पक्षस्याप्रसिद्धविशेषणत्वं च । तादृशसाध्याप्रसिद्ध्या विवादाध्यासाभावात् । बुद्धिमत्कर्तृकत्वमात्रे साध्ये सिद्धसाध्यत्वं च । किं च । सार्वश्यसर्वशक्तियुक्तस्य कस्यचिदेकस्य साधकमिदं कार्यत्वं, युगपदुत्पद्यमानसर्ववस्तुगतं वा, क्रमेणोत्पद्यमानसर्ववस्तुगतं वा । आद्ये, आश्रयासिद्धत्वम् । द्वितीयेऽनेककर्तृकत्वसाधनाद् विरुद्धत्वम् । अपिच । सर्वेषां कार्याणां शरीराणां सुखाद्यन्वयदर्शनेन तन्मूलभूतं सत्त्वादिकमवश्याश्रयणीयम् । पुरुषस्य तद्योगश्च कर्मभिरन्तःकरणरश्मिः ।

मद्यादीत्यादि । तथाचाभासोक्तरीत्या सत्प्रतिपक्षत्वमिति भावः । साध्यतावच्छेदकेत्यादि कार्यत्वलिङ्गकानुमाने श्लिवादेः पक्षस्य विजातीयद्रव्यसमूहकत्वाद् घटादिवदिति दृष्टान्तेपि विजातीयद्रव्यसमूहसैव दृष्टान्तत्वेन प्रवेशात् । तत्र साध्यतावच्छेदकस्य कर्त्रैक्यस्य प्रत्यक्षविरुद्धतया राहित्येनेत्यर्थः । तथाच दृष्टान्ताभाव इति भावः । साध्याप्रसिद्धिरपे वाच्या । किंच कार्यत्वलिङ्गकमनुमानमाश्रयासिद्धमित्याहुः सर्वनिर्माणेत्यादि । सार्वभौमसदने सर्वनिर्माणचतुराणामनेकेषां दर्शनादेकस्याप्रसिद्धेः च विवादाध्यासितत्वाभावेन भूमधरादेः पक्षस्य तथात्वमित्यर्थः । यथा काञ्चनमयः पर्वतो वह्निमानिति तथा च पक्षे पक्षतावच्छेदकाभावात् आश्रयासिद्धत्वमिति भावः । किंच व्याप्यत्वासिद्धमपीति सूचयन्तस्तत्र हेतुमप्याहुस्तादृशेत्यादि । साध्याप्रसिद्धेति । साध्ये साध्यतावच्छेदकाभावः साध्याप्रसिद्धिः यथा काञ्चनमयवह्निमान् धूमात् इति । तथा च बुद्धिमदेकत्वस्य साध्यतावच्छेदकस्य कर्तृत्वावाह्याप्यत्वासिद्धत्वमित्यर्थः । ननु साध्ये एकपदं न निवेश्यते एवं च न साध्ये साध्यतावच्छेदकाभाव इत्यत आहुः बुद्धिमदित्यादि । सिद्धसाध्यत्वमिति बुद्धिमत्कर्तृपूर्वकत्वस्य सर्वत्र सिद्धत्वात् । आश्रयासिद्धत्वमिति युगपदुत्पद्यमानस्य सर्वस्य केनापि लौकिकप्रमाणेनासिद्धत्वात्तथात्वमित्यर्थः । किंच संदिग्धसाध्यत्वं पक्षत्वमिति लक्षणेन साध्यासदेहात्पक्षे संदिग्धत्वरूपपक्षतावच्छेदकाभावात् । पक्षे पक्षतावच्छेदकाभावरूपाश्रयासिद्धिः । तथा सिपाधयिषाविरहविशिष्टसिद्धभावः पक्षता । तस्याः पक्षेऽभावादाश्रयासिद्धिः । अनेकेत्यादि क्रमिकाणामनेककर्तृकत्वस्य प्रत्यक्षादिसिद्धत्वात्तथेत्यर्थः । विरुद्धत्वमिति साध्याभावसाधकहेतुविरुद्ध इति तल्लक्षणादिरुद्धत्वमित्यर्थः । सांख्यमतमनुसृत्य दूषयन्ति अपि श्लेत्यादि । तन्मूलभूतमित्यादि । शरीरमूलभूतं सत्त्वादियुगान्यतमं

‘अनादिराल्पा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः ।

प्रत्यग्धामा स्वयं ज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम् ॥

स एष प्रकृतिं सूक्ष्मां देवीं गुणमयीं विभुः ।

यदच्छयैवोपगतामभ्यपद्यत लीलया ॥

गुणैर्विचित्राः सृजती सरूपाः प्रकृतिं प्रजाः ।

विलोक्य मुमुहे सद्यः स इह ज्ञानगूहया ॥

एवं परामिथ्यानेन कर्तृत्वं प्रकृतेः पुमान् ।

कर्मसु क्रियमाणेषु गुणैरात्मनि मन्यते ॥

तदस्य संसृतिर्विगन्धः पारतन्त्र्यं च तत्कृतम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

विकारद्वारेण भवतीति विचित्रकार्यविशेषारम्भायैव ज्ञानशक्तिवत् कर्मसंबन्धोऽप्यवश्याश्रयणीयः । ज्ञानशक्तिवैचित्र्यस्यापि कर्ममूलत्वाच्च । इच्छायाः कर्मारम्भहेतुत्वेऽपि विषयविशेषितायास्तस्याः सत्त्वादिमूलत्वेन कर्मसंबन्धोऽवर्जनीयः । एवं सिद्धे कर्मसंबन्धे क्षेत्रज्ञा एव कर्तारः सिद्ध्यन्ति, न तु तद्विलक्षणः कश्चिदनुमानात् सिद्ध्यति ।

भवन्ति चात्र प्रयोगाः । तनुभवनादिकं क्षेत्रज्ञकर्तृकं, कार्यत्वाद् घटवत् । ईश्वरः कर्ता न भवति प्रयोजनशून्यत्वाद् शुक्तात्मवत् । तथा, अशरीरत्वात् तद्देव । न च क्षेत्रज्ञानां स्वशरीराधिष्ठाने व्यभिचारः । तत्राप्यनादेः सूक्ष्मशरीरस्य भावात् । विमतविषयः कालो न लोकशून्यः कालत्वाद् वर्तमानकालवत् । किंच । ईश्वरः किमशरीरः सशरीरो वा कार्यं करोति । नाद्यः । मनसो नित्यत्वेऽपि अशरीरेषु युक्तेषु मानसकार्यादर्शनादीश्वरेऽप्यकर्तृत्वापत्तेः । नेतरः । विकल्पासहत्वात् । तन्नित्यमनित्यं वा । न तावन्नित्यम् । सावयवस्य नित्यत्वे जगतोऽपि नित्यत्वाविरोधादीश्वरासिद्धेः । नाप्यनित्यम् । तद्व्यतिरिक्तस्य तच्छरीरहेतोस्तदानीमभावात् । नच स्वयमेव हेतुरिति युक्तम् । अशरीरस्य तदयोगात् । नाप्यन्यशरीरेण शरीरवान् । अनवस्थानात् । किंच । सव्यापारो निर्व्यापारो वा । नाद्यः । अशरीरस्य तदसंभवात् ।

रश्मिः ।

भवत्यकर्तुरीशस्य साक्षिणो निर्वृतात्मनः ॥

कार्यकारणकर्तृत्वे कारणं प्रकृतिं विदुः ।

भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषं प्रकृतेः परम् ॥

प्रकृतिस्थोपि पुरुषो नाज्यते प्राकृतैर्गुणैः ।

अविकारादकर्तृत्वान्निर्गुणत्वाज्जलार्कवत् ॥

यत्तन्निर्गुणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ।

प्रधानं प्रकृतिं प्राहुरविशेषं विशेषवत् ॥

एतद्भगवतो रूपं ब्रह्मणः परमात्मनः ।

परं प्रधानं पुरुषं दैवं कर्म विचेष्टितम् ॥

इत्यादि पुराणप्रामाण्यादवश्यमाश्रयणीयमित्यर्थः । सत्त्वाद्याश्रयेण यद्भवति तदाहुः पुरुषस्येत्यादि । ईश्वराख्यस्यात्मनः सत्त्वादियोग इत्यर्थः । अवश्येत्यादि लोके तथा दर्शनात्तथेत्यर्थः । विचित्रकार्यारम्भो न ज्ञानवैचित्र्यात् किं तु इच्छावैचित्र्यात् तस्याश्चाकर्ममूलत्वाददोष इत्यत आहुः इच्छाया इत्यादि । इच्छाया हेतुत्वेऽपि न सामान्यरूपेण तथा सति सृष्टीच्छया प्रलयः स्यादतः सृष्टिविषयिणीच्छात्वेन सृष्टिहेतुत्वमेवमन्यत्रेत्येवं आत्मप्रसादजसुखं स्यादित्येवं विषयविशेषितायास्तस्या हेतुभूतायाः सत्त्वादिरूपप्रधानाभिपत्तिमूलत्वेनेति सत्त्वादिहेतुकर्मसंबन्धो वर्जनीय इत्यर्थः । ननु सृष्ट्यादौ शरीराणामनुत्पन्नत्वात्क्षेत्रज्ञानां स्वशरीराधिष्ठानासंभवे कर्तृत्वव्यभिचार इत्याशङ्क्य पराकुर्वन्ति न च क्षेत्रज्ञानामित्यादि । प्रवाहानादित्वमभिप्रेत्य स्थूलशरीरसत्त्वासाधनायाहुः चिन्मतीत्यादि । प्रवाहानादित्वसादित्वरूपविधिमतिविषयः । मनस इति करणभूतस्य मनस इत्यर्थः । तदिति शरीरमित्यर्थः । तद्व्यतिरिक्तस्येत्यादि ईश्वरव्यतिरिक्तस्येश्वरशरीरहेतोः सृष्टिप्राक्कालेऽभावादित्यर्थः । क्षेत्रज्ञव्यतिरिक्तस्य क्षेत्रशरीरहेतोः सृष्टिप्राक्कालेऽभावादित्यर्थो वा । स्वयमिति ईश्वर इत्यर्थः । तदयोगादिति हेतुत्वयोगादित्यर्थः । अनवस्थानं शरीरस्थिति-

भाष्यप्रकाशः ।

न द्वितीयः । शुक्तात्मवदकर्तृत्वापातात् । कार्यं जगद् इच्छामात्रव्यापारिकर्तृकमित्युच्यमाने पक्षस्याप्रसिद्धविशेषणत्वम् । दृष्टान्तस्य साध्यहीनता च । अतो दर्शनानुगुण्येनेश्वरानुमानं दर्शनानुगुण्यपराहमिति शाल्वैकप्रमाणकः परमेश्वरः परब्रह्मभूतः पुरुषोचमः । शास्त्रं तु सकलेतरप्रमाणापरिदृष्टं समस्तविजातीयं सार्वभूतसत्यसङ्कल्पत्वादिभिश्चानवधिकातिशयापरिमितगुणोदारं निखिलहेयप्रत्यनीकं स्वरूपं प्रतिपादयतीति, न प्रमाणान्तरावसितवस्तुसाधर्म्यप्रयुक्तदोषप्रसङ्ग इति ।

अत्रोदयनाचार्यैरीश्वरसाधने नवानुमानानि कुसुमाञ्जलीं दर्शितानि ।

‘कार्योयोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः ।

वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः’ ॥

इति । अत्र कार्यादिपदानि भावप्रधानानि । तानि चैवं व्याख्यातानि । आयोजनं सर्गाद्यकालीनद्यप्यकारम्मकपरमाणुद्वयसंयोगजनकं कर्म । धृतिधारणं गुरुत्ववतो ब्रह्माण्डादेः पतनाभावः । आदिपदाद् ब्रह्माण्डादेर्नाशः । पदं घटादिसंप्रदायव्यवहारः । घटादिपदप्रयोगो वा । प्रत्ययो वेदजन्यं धर्मादिज्ञानम् । श्रुतिर्वेदः । वाक्यं पदसमूहः । संख्याविशेषः सर्गादौ परमाणुनिष्ठद्विवादिः संख्याजन्यं परिमाणमित्यादि । प्रयोगास्तु क्षित्यादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वाद् घटवत् । अन्ये तु जन्यत्वादित्यपि प्रयुज्यते । तथा, श्रुतिः, उपादानगोचरापरोक्षज्ञानोपायेच्छा तादृशकृतिजन्या, ज्ञानजन्या, इच्छाजन्या, कृतिजन्या वा, जन्यत्वाद् घटादिवदित्यपि । पूर्वोक्तं कर्म चेतनप्रयत्नपूर्वकं कर्मत्वाद् अस्मादादिशरीरजन्यक्रियावत् । उक्ता धृतिः, रश्मिः ।

स्तदभावादित्यर्थः । कार्यमिति हेतुगर्भं विशेषणमिदं, कार्यत्वादित्यर्थः । अप्रसिद्धेत्यादि तादृशस्य कर्तुरप्रसिद्धत्वाच्च जगतो विशेषणं कार्यं तदप्यप्रसिद्धमित्यर्थः । दृष्टान्तस्येति घटादेरित्यर्थः । तथा च दृष्टान्ताभाव इति भावः । नैयायिकानुमानानि सांख्यशास्त्रपराहतानीति वदन्तः सिद्धमाहुः अतो दर्शनेत्यादि । दर्शनं सांख्यशास्त्रम् । न प्रमाणान्तरेति शब्दादन्यत्रमाणं प्रमाणान्तरं ततोवसितं निश्चितं वस्तु ब्रह्माख्यं तत्साधर्म्यं कर्तृत्वादिना तत्प्रयुक्तो दोषः ज्ञानिनामपि श्रवणमात्रेण पातित्वं तस्य प्रसङ्गः ।

इत्यादीति इत्यादि यथा स्यात्तथाव्याख्यातानि इति पूर्वोपान्वयः । तेन पदव्याख्यानत्वात् हेतुसमुदायपतितस्यायोजनस्य पक्षत्वेपि न क्षतिः । अन्ये त्वायोजनं कर्मेत्याहुः तेन न प्रायपाठविरोधः । गोपीनाथमौनी तु परमाणुः अपरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिविषयः कार्यात् कपालवत् इति यथाश्रुतं व्याचक्रे । अत्र हेतुतावच्छेदकसंबन्धः समवायः । उक्तानुमाने साधारण्यं मन्यमानानां विजातीयद्रव्यसमूहस्य पक्षत्वे पूर्वोक्तरीत्या कर्त्रैक्यदोषत्वादेकैकं द्रव्यं पक्षत्वेन प्रयुञ्जानानां च मतमाहुः अन्ये त्वित्यादि । जन्यत्वं जननशालित्वं तत्र ध्वंसप्रतियोगित्वशालित्वं स्वीकृतं चिकीर्षासत्त्वात् अंशतः साधारणत्वमतो जन्यत्वादित्यपि प्रयुज्यते, ध्वंसस्य जन्यत्वात् तथाच ध्वंसे साधारणत्ववारणाय प्रयुञ्जत इत्यर्थः । अस्वरस्तु पक्षे ध्वंसाप्रवेशः । तथात्वे सति पक्षे पक्षतावच्छेदकध्वंसाप्रवेशादाश्रयासिद्धमनुमानमिति । उपादानेत्यादि उपादानविषयकं यदपरोक्षज्ञानं उपायेच्छा उपादानविषयिणी कृतिश्च तज्जन्येत्यर्थः । कार्यमात्रं प्रति ज्ञानत्वेनेच्छात्वेन कृतित्वेनान्वयव्यतिरेकाभ्यां पृथक्कारणत्वं यौगपद्यासंभवादित्याशयेनाहुः ज्ञानजन्येत्यादि । इत्यपीति प्रयुञ्जत इत्यन्वयः । पूर्वोक्तमिति सर्गाद्यकालिकद्व्यपुकारम्मकपरमाणुद्वयसंयोगजनकमित्यर्थः । उक्तेति गुरुत्वब्रह्माण्डादिपतनाभावात्मिकेत्यर्थः । पूर्वोक्तमिति वेदजन्यधर्मादिज्ञानरूपमित्यर्थः ।

भाष्यप्रकाशः ।

चेतनप्रयत्नपूर्विका वृत्तित्वाद् वियति विहङ्गमधृतिषत् । ब्रह्माण्डादि प्रयत्नवद्विनाशं विनाशित्वात् पाठ्यमानपटवत् । उक्तव्यवहारः स्वतन्त्रप्रयोज्यः, व्यवहारत्वाद् आधुनिकलिप्यादिव्यवहारवत् । पूर्वोक्तं ज्ञानं कारणगुणजन्यं प्रमात्वात् प्रत्यक्षादिप्रमावत् । वेदः पौरुषेयो वेदत्वाद् यज्ञैवं तत्रैवम्, आकाशवत् । वेदः पौरुषेयो वाक्यत्वाद् भारतादिवत् । मृणुकपरिमाणं संख्याजन्यं परिमाणप्रचयाजन्यत्वे सति जन्यपरिमाणत्वात् तुल्यपरिमाणकपालद्वयान्धघटपरिमाणवदिति । अत्र प्रथमे प्रयोगे कर्तृजन्यत्वं तु स्वोपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमददृष्टाद्वारकजन्यत्वम् । अत्रादृष्टाद्वारकेतिविशेषणात् जीवात्मनिरूपितादृष्टद्वारकजन्यत्वेन सिद्धसाधनमर्थान्तरं वा । जीवानां क्षित्यानुपादानीभूतपरमाण्वादिगोचरापरोक्षज्ञानभावेन तज्जन्यत्वे वाधात्र तैरपि तथा । न च क्षितिघटादिसाधारणस्यैकस्य साध्यस्याभावेन स्वपदार्थाननुगमात् कथं व्याप्तिग्रह इति वाच्यम् । स्वपदार्थाननुगमस्यादोषत्वात् । अन्यथेच्छादिना ज्ञाना-

रहिमः ।

परिमाणेत्यादि परिमाणं च प्रचयश्च परिमाणप्रचयौ ताभ्यामजन्यत्वे । प्रचयः शिथिलसंयोगः तज्जन्यं परिमाणं तुलकादौ । एवं च स्थलभेदेन परिमाणप्रचयसंख्याभिः परिमाणं जन्यते । कार्यत्वं प्रागभावप्रतियोगित्वम् । एवं सति पक्षे ध्वंसे ध्वंसप्रतियोगित्वशालित्वरूपं जन्यत्वाभावेन साध्याभाववति पक्षे तस्य लिङ्गस्य परिमाणस्य स्वोत्कृष्टपरिमाणजनकत्वनियमादेतादृशं परिमाणं नाणुपरिमाणजन्यं किंतु संख्याजन्यमित्याशयेन दृष्टान्तमाहुः तुल्यपरिमाणेत्यादि । तथाच तादृशपरिमाणं कपालपरिमाणानुत्कृष्टत्वाभावात्संख्याजन्यमिति भावः । इतीति एतस्याग्रे आश्रये सिद्धे ह्यणुकपरिमाणजनिका संख्या अपेक्षाबुद्धिजन्या, एकत्वान्यसंख्यात्वात्, अयमेकोऽयमेक इमौ द्वौ इति द्वित्वसंख्यावदित्यनुमानेऽस्मदाद्येक्षाबुद्धिजन्यत्वभावात्तादृशप्रयत्नेनेश्वरसिद्धिरित्येतावती वृत्तिरस्ति । तेन परिमाणप्रचयाजन्यत्वे सति जन्यपरिमाणत्वादित्यनुमानेनेश्वरसिद्धावपि न क्षतिः । न च ह्यणुकपरिमाणं परिमाणजन्यमेवास्त्विति वाच्यम् । ह्यणुकपरिमाणं न परिमाणजन्यं, अणुपरिमाणत्वात् परमाणुपरिमाणवदित्यनुमानेन तस्य परिमाणजन्यत्वादित्यर्थः । विशेषणादिति जन्यत्वविशेषणादित्यर्थः । जीवेति जीवश्चोपास्यासिद्धात्मा तन्निरूपितेत्यादिः । अर्थान्तरं चेति ईश्वरसाधने यतमानस्य जीवसिद्ध्यर्थान्तरमित्यर्थः । अत्र ज्ञानलक्षणासामान्यलक्षणायोगजधर्मैर्त्किंचिदुपादानगोचरत्वविवक्षणेन च तादृशज्ञानादिमतां जीवानां कर्तृत्वात् स्वोपादानेत्यादिविशेषणेन तद्धेतुत्वनिवृत्तिः । स्वोपादानेत्यादिविशेषणप्रयोजनमाह जीवानामित्यादि । तथेति । सिद्धसाधनमर्थान्तरं वेत्यर्थः । मीमांसकस्यानादिसृष्टिवादित्वात् तद्धारणयेदमुक्तम् । अभावेनेति घटादीनां कुलालादिकर्तृकत्वस्य प्रत्यक्षात् । स्वपदार्थाननुगमात् । स्वपदेन क्षित्यादिसंग्रहे दृष्टान्ते साध्यस्याभावेन घटादिसंग्रहे तु पक्षे तदभावेन पक्षनिष्ठाल्यन्ताभावप्रतिः योगिनः स्वोपादानेत्यादिसाध्यस्य हेतुः कार्यत्वमित्यनुपसंहारिकार्यत्वम् । तत्फलं च व्याप्तिज्ञानप्रतिबन्ध इति कथं व्याप्तिग्रह इत्यर्थः । न च तद्विद्युत्तन्ताभावप्रतियोगिसाध्यकादित्वमनुपसंहारिकत्वम् । एवं च स्वपदेन घटादिग्रहेलायां पक्षस्य साध्यत्वभावेन कथं तद्विद्युत्तन्ताभावप्रतियोगिसाध्यकत्वमित्यर्थः । स्वपदेन क्षित्यादिसंग्रहे तद्व्यवसत्त्वादिति । अदोषत्वादिति इच्छादिना ज्ञानानुमाने यो यदिच्छवान् स तज्ज्ञानवानित्येवं व्याप्तिग्रहे यत्त्वदाभ्यां विवक्षितमेव शृण्वते तदेवात्र स्वपदेनोक्तमिति प्रातिस्निकरूपेण व्याप्तिग्रहेऽपि विवक्षितत्वेन रूपेणानुगमाददोषत्वादित्यर्थः । अन्यथेत्यादि तस्य दोषत्वे, अयं

भाष्यप्रकाशः ।

धनुमानं न स्यात् । स्वविशेष्यकस्वत्वप्रकारकज्ञानत्वादिनैव तत्र कार्यकारणभावात् । अत्र च सकर्तृकत्वादिसाध्यकानुमाने कर्तृत्वेनैव कारणता, ज्ञानजन्यादिसाधके च ज्ञानत्वादिना । एवं कार्यतापि कार्यत्वेन जन्यत्वेन च । न च शरीरगौरवेषणाप्रयोजकत्वं शक्यम् । अवच्छेदककोटौ घटत्वादीनां प्रवेशे आनन्त्यगौरवाद्, ध्वंसस्य जन्यत्वेन तस्य च जन्याभावत्वेनावच्छेदकतया प्रवेशे शरीरगौरवात् । एवं तु विवक्षितविवेके जन्याभावत्वेकदेशस्य जन्यत्वस्यैव प्रवेश इति शरीरलाघवात् सामान्यलाघवादेकत्वलाघवात् कल्पनालाघवात्पस्थितिलाघवात् जन्यत्वेनैव कार्यता, न घटत्वादिना । कार्यत्वं च स्वसमवायिजन्यतात्वेन परंपरासंबन्धेन कृतित्वमेवेति, न तत्रापि गौरवम् । न च विशिष्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां घटत्वकुलालत्वादिना विशिष्यकार्यकारणभावस्यावश्यकत्वात् सर्वमेतद्विरुद्धमिति वाच्यम् । कार्यमात्रवृत्तीनां जातीनां कार्यतावच्छेदकत्वमिति सिद्धान्तसमुद्घोषात् । नचाङ्कुरादौ हेतोर्विपक्षगामित्वेनानैकान्तिकत्वं शक्यम् ।

रहिमः ।

स्वज्ञानवान् स्वेच्छावत्त्वात् देवदत्तवदित्यनुमानं न स्यादित्यर्थः । आदिशब्देन स्वेच्छावान् स्वयन्नाद् देवदत्तवत् । स्वविशेष्यकेत्यादि आदिना स्वविशेष्यकस्वत्वप्रकारकेच्छावत्तादृश्यत्वे प्राप्ते । अन्ये त्वेत्तदोषमिया स्वपदरहितं साध्यमङ्गीकुर्वन्ति तदुक्तं अप्रेत्यादि । पूर्वोक्तानुमानद्वयमध्य इत्यर्थः । सकर्तृकत्वं पर्यायत्वेनादिर्यस्य कर्तृजन्यत्वस्य तदादिसाध्यमस्मिन् अनुमाने । द्वितीयानुमान आहुः ज्ञानजन्यादीति । आदिना इच्छाजन्या कृतिजन्येति साध्यद्वयम् । एवमिति कारणतावदित्यर्थः । नन्वेवं सामान्यतः कार्यकारणभावे कार्यत्वं कृतिसाध्यत्वरूपं प्रागभावप्रतियोगित्वरूपं वा । जन्यत्वं जननशालित्वरूपं च कार्यतावच्छेदकद्वयं शरीरगौरवग्रस्तं कृतिसाध्यत्वस्य प्रागभावप्रतियोगित्वरूपत्वात् । जननशालित्वस्य ध्वंसप्रतियोगित्वशालित्वरूपत्वात् । कम्बुग्रीवादिसमत्वरूपघटत्वेन कार्यतायां लाघवमित्याशय निराकुर्वन्ति न च शरीरेत्यादि । आनन्त्यगौरवादिति घटत्वपटत्वादीनामानन्त्यात् कार्यतावच्छेदकानन्त्येनानन्त्यगौरवादित्यर्थः । अन्यदपि साध्य आह ध्वंसस्येत्यादि । तस्य चेति ध्वंसस्य चेत्यर्थः । अवच्छेदकतथेति साध्यतावच्छेदकतया । एवं त्विति जन्यत्वेन रूपेण विवक्षितस्य हेतोर्विवरण इत्यर्थः । विवक्षितेति कार्यता कार्यत्वेनैव चेत्तर्हि पूर्वोक्तसाधारण्यं, तन्नित्यर्थं जन्यत्वेनैव कार्यता तर्ह्यश्रयासिद्धिः पूर्वोक्तेति तदुभयनिवृत्तये कार्यता कार्यत्वजन्यत्वान्यतररूपेण विवक्षितेति विवक्षितविवेकस्तस्मिन् । शरीरलाघवादित्यादि कार्यताव्यवच्छेदकशरीरलाघवात् कृतित्वेन जन्यत्वेन कार्यत्वेन च कार्यकारणभावे यत्र जन्यत्वं कार्यत्वं च तत्र कृतित्वमिति सामान्यव्याप्तिलाघवाद् घटत्वावच्छेदकानन्त्यापेक्षया सामान्यावच्छेदकैकत्वे लाघवादित्यर्थः । कार्यत्वस्य शरीरगौरवं परिहरन्ति कार्यत्वं चेत्यादि । स्वं कृतिसत्त्वमवायी-आत्मा तज्जन्यत्वं यथा कार्यस्य तथा कृतेरपीति तादृशेन परंपरासंबन्धेनेत्यर्थः । विरुद्धमिति अनावश्यकत्वादसंगतमित्यर्थः । जातीनामिति सामान्यानां धर्माणामित्यर्थः । सिद्धान्तेत्यादि तथा च कार्यत्वेन कर्तृत्वेन सामान्यकार्यकारणभावानङ्गीकारे कार्यमात्रवृत्तिमहाशुभिवीत्वस्य कार्यतानवच्छेदकत्वप्रसङ्गेन सैद्धान्तिकनियम-भङ्गापत्तिरिति तदभावाय सोऽप्यावश्यक इत्यर्थः । विपक्षगामित्वेनेत्यादि हेतोर्ङ्कुरादौ साध्याभावप्रक्षामित्वेन । क्षितिः कर्त्रजन्या कार्यत्वाद्ङ्कुरादिवदिति विरुद्धगमितसाधारणानैकान्तिकत्वमित्यर्थः ।

भाष्यप्रकाशः ।

तत्र साध्यसंदेहस्यान्याहितत्वेन तस्य पक्षसमस्यत्वात् । नच शरीरजन्यत्वस्योपाधेर्विद्यमानत्वाच्छरीरजन्यत्वस्य प्रतिसाधनस्य सत्त्वाच्च साध्यसंदेहस्यान्याहितत्वेनानैकान्तिकत्वं सिद्धमिति शङ्क्यम् । कर्त्रादिजन्यतायामपि गुरुभूतस्य शरीरजन्यत्वस्यानवच्छेदकत्वात्पुनश्च जन्मत्वमात्रस्यैवावच्छेदकत्वेन तस्य च साधनव्यापकत्वेनानुपाधित्वे हेतोरदुष्टत्वात् । एवं च कर्त्रादिजन्यतायामिव शरीरजन्यतायामपि जन्मत्वस्यैवावच्छेदकत्वादीश्वरे नित्यज्ञानादिकमिव नित्यशरीरत्वस्याप्यङ्गीकारेण प्रतिसाधनदोषस्याप्यभावात् । अनुमानं च, क्षित्वादिकं शरीरजन्यं जन्मत्वाद् घटवत् । ईश्वरः शरीरी कर्तृत्वात् कुलालवदिति । अनुकूलतर्कश्चात्र कर्तृत्वजन्यत्वाभ्यामिव शरीरित्वजन्यत्वाभ्यामपि पूर्वोक्तयुक्तितुल्ययुक्तिकः कार्यकारणभाव एव । श्रुतिश्च, 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि, 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' इत्यादि, 'आकाशशरीरं ब्रह्म' इत्यादि च । श्रुतीनां चानुकूलतर्कविषया स्वतन्त्रतया च ब्रह्मणि प्रामाण्यमिति नवीनमतम् ।

सांप्रदायिकमते शरीरस्य कुलालशरीरत्वादिनैव कारणत्वं, नतु शरीरत्वेनेतीश्वरस्यानित्यं शरीरं लोकानुग्रहेण व्यवहारप्रवर्तनार्थम् । अतोऽस्मदाद्यदृष्टजनिते रामकृष्णादिनामके शरीरे भूतावेशन्यायेनावेशः । कार्यकरणानन्तरं च त्याग इति ।

अभिनवमते तु महेश्वरस्य विश्वमेव शरीरम् । तच्च नित्यानित्यपुञ्जघटितमित्यनित्यांशविरामेऽपि नित्यांशमादाय नित्यमेव । आकाशात्मकं च नित्यमेव । रामकृष्णादिनामकं त्वाविर्भावतिरोभावशालि भक्तानुग्रहेण कदाचित् क्वचिदाविर्भवति तिरोभवति च । अत एव तत्त्ववादिभिर्मूर्तमपि तन्नित्यं विश्वं वेत्यङ्गीक्रियते । सर्वत्र सर्वदा तथाभूतभक्तभावनया भक्तैः साक्षात्क्रियमाणत्वात् । तादृशसाक्षात्काराणां प्रमात्वे संभवति भ्रमत्वकल्पनस्यान्याय्यत्वात् । तदुक्तम्, औत्सर्गिकं धियां प्रमात्वमिति । विश्वात्मकं तु योगिप्रत्यक्षगम्यमपि विश्वरूपदर्शनादिषु श्रूयत रश्मिः ।

साधारणानैकान्तिकत्वमात्रं वा । तत्रेत्यादि विपक्षे अङ्गरादौ कर्तृजन्यत्वसंदेहस्य कर्त्रेणुपलम्भमात्रोत्पन्नतयोपाधिसत्प्रतिपक्षादिदोषानाहितत्वेनाङ्गरादेः पक्षसमत्वेन पक्षानतिरेकात् । उपाधेरिति घटादौ कर्तृजन्यत्वसाध्यवति शरीरजन्यत्वाभावाभावात्साध्यव्यापकत्वं क्षित्वादौ च साधनवति शरीरजन्यत्वाभाव इति साधनाव्यापकत्वं चात उपाधेरित्यर्थः । प्रतिसाधनस्येति क्षितिः कर्त्रेण्यया शरीरजन्यत्वात् अङ्गरादिवद् इति प्रतिसाधनस्येत्यर्थः । अनैकान्तिकत्वमिति अङ्गरादेः पक्षसमत्वाभावेन तत्र साधारणानैकान्तिकत्वमित्यर्थः । गुरुभूतस्येति पदार्थान्तरप्रवेशेन गुरुभूतस्येत्यर्थः । तस्य चेत्यादि जन्यत्वस्य च जन्यत्वरूपसाधनव्यापकत्वेनेत्यर्थः । एवं चेति लघवाजन्मत्वस्यैवावच्छेदकत्वे सतीत्यर्थः । अभावादिति तथाचैवं रामानुजोक्तं दूषणमपि निरस्तं भवतीत्यर्थः । रामानुजाचार्यैः सांख्यमवलम्ब्य दत्तं सत्कर्मसंबन्धिरूपं दूषणं परिहरन्ति श्रुतिञ्चेत्यादि । लोकानुग्रहेणेति लोकानुसारेणेत्यर्थः । रामकृष्णादीति आदिपदेन महाक्षितिजनकत्वाय चतुर्मुखादिशरीरस्य संग्रहः ।

उक्ते मते उक्तानां शरीराणां जन्यत्वादशरीरस्येश्वरस्य तदकर्तृत्वापत्त्या व्यवहारप्रवर्तकत्वासंभवात् सांप्रदायिकमतं विहायाभिनवमतं वदन्ति अभिनवचेत्यादि । तत्त्ववादिभिरिति कृष्णानुसारिभिः 'तत्त्वानुष्ठानि मे नव' इत्येकादशे । 'श्रुतिरपोऽनलः' इति गीतायाम् । औत्सर्गिक-

भाष्यप्रकाशः ।

एवं सहस्रशः । एवं श्रुत्यादिभिः शरीरेऽङ्गीकृते तदनुसारिसकर्तृकत्वानुमानं निर्दुष्टमेव । एवमेकेनेश्वरेण सकलक्षित्यादिकार्यसंभवे सति प्रमाणाभावाद् गौरवाच्च नानेकेश्वरसिद्धिः । किंचानेकेश्वराङ्गीकारे तेषामैकमत्यं वैमत्यं वा स्यात् । तत्राद्ये स्वातंत्र्याभावादैश्वर्यहानिः । द्वितीये तु कार्यासिद्धिरिति कार्यदर्शनाद्, 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिभ्यस्तादृशैः पुराणैश्चैकस्यैव सिद्धिरिति न पूर्वोक्तं किमपि दूषणम् । एवमेकेश्वरसिद्धौ कर्मत्वादिलिङ्गकान्यप्यनुमानानि तमेकमेव साध्यन्तीति न कोऽपि कापि दोष इति मैथिलभवदेवमिश्राः ।

ज्ञानेन्द्रमिक्षुस्तु, बुद्धिप्रभृतिर्कार्यम्, उपादानगोचरप्रत्यक्षजन्यं कार्यत्वाद् घटादिवत् । यदि चोपादानगोचरापरोक्षदृष्टेरेव कार्यहेतुत्वं लघवात् । न तु चैतन्यस्य गौरवादिति । तदा तु रश्मिः ।

मिति धियां ज्ञानानां प्रमात्वमौत्सर्गिकं स्वाभाविकं भ्रमत्वादि त्वनौत्सर्गिकमित्यर्थः । पुञ्जान्मदशक्तिवददृष्टपुञ्जात्क्षित्यादिकार्याङ्गीकारे बाधकमाह किं चानेकेत्यादि । साध्यन्तीति । न चान्तिमस्येश्वरासाधकत्वं शङ्क्यम् । तेन ह्यणुकपरिमाणस्य संख्याजन्यत्वे सिद्धे ह्यणुकपरिमाणजनिका संख्याऽपेक्षाः बुद्धिजन्या एकत्वान्यसंख्यात्वात् । अयमेकः अयमेकः इमौ द्वौ इति द्वित्वसंख्यावत् इत्यस्मदाद्यपेक्षाः बुद्धिजन्यत्वबाधात्तदाश्रयत्वेनेश्वरसिद्धेः । न च ह्यणुकपरिमाणं परिमाणजन्यमेवास्तु इति वाच्यम् । ह्यणुकपरिमाणं न परिमाणजन्यं अणुपरिमाणत्वात् परमाणुपरिमाणवदित्यनुमानेन तस्य परिमाणाजन्यत्वात् । मैथिलभवदेवमिश्रा इति । एवमेतेषु मतेषु कार्यत्वलिङ्गकानुमाने शरीरजन्यत्वस्य दूषणस्य प्रथमत्वात्परिहारार्थेश्वरे सशरीरत्वमावश्यकम् । शरीरस्यापि नित्यानित्यविकल्पकृतदोषपरिहाराय श्रुत्यालम्बनमावश्यकम् । अन्यथा नैयायिकादिभिरपि न तेनेश्वरसिद्धिरिति बोध्यम् । उपादानेत्यादि प्रकृते उपादानं प्रकृत्यंशरजःसत्त्वं तत्र तद्विषयकं प्रत्यक्षं यस्य तज्जन्यमित्यर्थः । तादृशप्रत्यक्षाश्रयत्वेनेश्वरसिद्धिरिति भावः । यदि चेति उपादानगोचरापरोक्षं च तदवृत्तिः कर्मधारयः । चैतन्यस्येति उक्तप्रत्यक्षाश्रयत्वेनाक्षेप्यस्य बहुव्रीहिप्राप्तस्य वा । गौरवादिति उपादानगोचरप्रत्यक्षाश्रयत्वस्य साध्यतावच्छेदकत्वे शरीरगौरवादित्यर्थः । अत्र विभाव्यते इति शेषः । तथा चानेनानुमानेनोपादानगोचरप्रत्यक्षकृतिसिद्धेनेश्वरसिद्धिरिति भावः । कार्यहेतुत्वमिति कार्यं कार्यत्वं हेतुर्यस्येति तयोक्तम् । कार्यायोजनेति कारिकया कार्यपदं दत्तम् । यद्यपि तादृशप्रत्यक्षाश्रयत्वेनेश्वरसिद्धिरनुमानान्तरेण भवति तथापि प्रकारान्तरेण साधनायानुमानान्तरमाह तदा त्वित्यादि । न च स्वरूपासिद्धिरिति वाच्यम् । उपादानगोचरप्रत्यक्षं साधिष्ठानं गुणत्वाद् रूपादिवदित्यनुमानेन तदधिष्ठानसिद्धौ तादृशाधिष्ठाने जन्यं कार्यत्वात् घटवदित्यनुमानेन तद्धारणसंभवादेवं चोपादानगोचरप्रत्यक्षपदं तादृशाधिष्ठाने गौणम् । उपादानगोचरप्रत्यक्षाधिष्ठानवृत्तीच्छाकृतिमजन्यत्वादिति हेतुः । वृत्तिः पदार्थान्तररूपा नाम् । नन्वेवमपि प्रकृतिसिद्ध्यासङ्गपुरुषे व्याप्यत्वाभिमतस्य पक्षेऽभावः स्वरूपासिद्धिः । यथा हृदो द्रव्यं धूमादित्यत्र हृदे धूमाभावः । 'अविभक्तं च मूलेषु विभक्तमिव च स्थितम्' इति गीतोक्तेः स्वरूपासिद्धिस्तदवस्थेति चेन्न, उपादानगोचरप्रत्यक्षवृत्तीच्छाकृतिमत्वस्य समवायसमवाय्युपरागान्यतरसंबन्धेन विवक्षितत्वात् । न चैवमपीश्वरे हेतोः साध्याभाववद्वित्त्वेन साधारण्यमिति वाच्यम् । स्वरूपासिद्धिनिवृत्तिमात्रप्रयोजनकत्वेन वृत्त्यनियामकसंबन्धस्य तत्र साधारण्यसंपादकत्वाभावात् । व्याप्तिप्रह्वेल्यां

अन्ये पुनः श्रुत्यनुवादकमाहुः । सर्वज्ञत्वाय श्रुत्यनुसार्यनुमानं च ब्रह्मणि प्रमाणमिति ।

तच्च, 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति केवलोपनिषद्वेद्यत्वाद्युपेक्ष्यम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

बुद्ध्यादीनि सकारणकानि, उपादानगोचरप्रत्यक्षवृत्तीच्छाकृतिमजन्यत्वाद् घटादिवदित्येवं कारणीभूतसत्त्वस्य सिद्ध्यनन्तरं, तत्कारणसत्त्वं परस्य भोग्यम्, इच्छादिमत्त्वाजीवोपाधिवदिति कारणसत्त्वभोक्तृत्वेष्ववरोऽनुमेय इत्याह ।

एवं चाभिनवोक्तरीत्याऽनुमानस्य श्रुत्यनुसारित्वेन प्रामाण्याद् व्यासचरणानां च श्रुत्यर्थनिर्णयाय प्रवृत्तत्वात् घटप्रमुमानोपष्टम्भकश्रुत्यनुवादकम् । अनुमानस्य ब्रह्मणि प्रामाण्येऽनङ्गीकृते, यतो वेत्यादिश्रुतौ केवलं कर्तृत्वस्योक्तत्वादुपादानादिगोचरापरोक्षज्ञानवत्त्वसासिद्धेः । अङ्गीकृते तु तस्मिन् कर्तृत्वस्योक्तज्ञानव्याप्तत्वात् सुखेन सर्वज्ञत्वस्य सिद्धेरिति ।

द्वितीयं मतमनुवदन्ति अन्ये इत्यादि । तदुभयभेकहेलया दूषयन्ति तत्त्वित्यादि । अयमर्थः । बृहदारण्यके शाकल्यब्राह्मणे उदानप्रतिष्ठोत्तरश्रवणानन्तरं तूर्णीभूते शाकल्ये तं प्रति याज्ञवल्क्येन, 'स एष नेति नेत्यात्मा अग्रहो न हि गृह्यतेऽशीयो न हि शीर्यतेऽसङ्कोऽसितो न सज्जते न व्यथत इत्येतान्यष्टावायतनान्यष्टौ लोका अष्टौ पुरुषाः स यस्तान् पुरुषान् व्युदुष्य प्रत्युद्घात्यक्रामीत् तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति वाक्ये मूर्तामूर्तब्राह्मणवदेतावत्तादिनिषेधपूर्वकं रक्षितम् ।

गौणमुख्यन्यायेन समवायस्यैव ग्रहणात् । इत्याहेति सांख्यादिमतमवलम्ब्याहेत्यर्थः । नैयायिकस्यान्येषां च मतेन भाष्ये यत्सिद्धं तत्सिद्धान्ते यादृक् तादृशं वक्तुमाहुः एवं चेति । अयमर्थः । भाष्ये केचिदिति नैयायिकमतमुक्त्वान्येषां मतोक्तौ संगत्यर्थं प्रकाश एवं चेत्युक्तम् । शुष्कानुमानिकपक्षस्य वेदान्तानुपयोगस्य द्वितीयाध्यायद्वितीयपादे वक्ष्यमाणत्वात् । तथा च एवं चेत्यस्य शुष्कानुमानोक्तौ सत्यां चेत्यर्थः । वेदान्तापेक्षायामन्यमतेऽभिनवोक्तरीत्या श्रुतिप्रवेशाय हेतुभाष्यस्य श्रुत्यनुसार्यनुमानमित्यादेरर्थः प्रामाण्यादित्यन्तेन प्रकाशेनोक्तः । इतिहेतौ व्याकृतः । श्रुत्यनुवादकमिति भाष्यं तु व्यासेत्यादिप्रकाशेन व्याकृतम् । आहुरित्यत्रान्वेति । अनुमानस्येत्यादिप्रकाशेन सर्वज्ञत्वादि भाष्यं व्याकृतम् । कर्तृत्वस्येति ईश्वरः उपादानादिगोचरापरोक्षज्ञानवान् कर्तृत्वात् कुलालवदित्येवं कर्तृत्वस्योक्तज्ञानव्याप्तत्वं तस्मात् । उक्तज्ञानेति उपादानादिगोचरापरोक्षज्ञानवान् कर्तृत्वात् इत्येवमुक्तज्ञानव्याप्तत्वात् । इति द्वितीयमिति एवंप्रकारकं द्वितीयमित्यर्थः । एकहेलयेति एकेनावज्ञानेन विलासेन वेत्यर्थः । तदित्यं पूर्वोक्तेषु मतेषु कार्यत्वलिङ्गकानुमाने शरीराजन्यत्वस्य दूषणस्य प्रबलत्वात् तत्परिहारायेश्वरे सशरीरत्वमावश्यकम् । शरीरस्यापि नित्यानित्यविकल्पकृतदोषपरिहाराय श्रुत्यालम्बनमावश्यकम्, अन्यथा महानैयायिकादिभिरपि न तेनेश्वरसिद्धिरिति । अत उक्तं भाष्ये उपेक्ष्यमिति । उदानेत्यादि कस्मिन्नदानः प्रतिष्ठितः इति समान इति उदानप्रतिष्ठोत्तरश्रवणानन्तरमित्यर्थः । अत्रापि समानोन्तर्यामिणि प्रतिष्ठितः सोऽप्यश्वर इत्यर्थस्योन्नेयत्वाद् ब्रह्मणः स्वरूपमाहेत्याशयेन व्याकुर्वन्ति मूर्तामूर्तत्वादि । मूर्तामूर्तब्राह्मणे हि मूर्तामूर्तं ब्रह्मणो रूपे उत्तवोच्यते 'अथात आदेशो नेति नेति' इति तत्र निषेधो 'द्वे वा व ब्रह्मणो रूपे' इति षष्ठ्या श्रावितस्य भेदस्य रूपद्वयनिराकरणे 'सर्वतः पाणिपादं तत्' इत्यादयो विरुध्येन् । तथाच रूपद्वयं त्रैवैव न तु ब्रह्मण इति सिद्ध्यति । तद्वदत्रापि नेति नेत्यनेन

भाष्यप्रकाशः ।

करणाद्यग्राहो नित्योऽसङ्को निर्दुःखः शारीराद्यानद्यौ पुरुषान् पृथिव्याद्यायतनेषु तत्तल्लोकेषु च विशेषणोच्चैः स्थापयित्वा पुनस्तत् उपसंहृत्य, योऽतिक्रान्तवानेतादृश उपनिषद्वेद्यः पुरुषः पृष्टः । तत्रागृह्यपदे यदि केवलेन्द्रियाग्राहत्वं विवक्षितं भवेत् तदानुमानादिनापि वेद्यत्वादौपनिषदपदमनतिप्रयोजनं स्यादतस्तत्र यावत्प्रमाणागोचरत्वमेवास्त्वयम् । तथासत्यौपनिषदपदे(न) प्रतिप्रसव एवोपनिषदां सिद्ध्यतीति ब्रह्मणः केवलोपनिषद्वेद्यत्वमेव श्रुतिविवक्षितम् ।

यत्तु भैक्षवे, उपनिषन्मूलप्रमाणकमुपनिषन्महातात्पर्यविषयं वा औपनिषदं, 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति', 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' इतिश्रुतिस्मृतिभ्यामित्युक्तम् । तस्मिन्नपि पक्षे अगृह्यपदोक्तप्रतिषेधस्य तुल्यत्वात्नेतः कोऽपि विशेषः सिद्ध्यति । किंतूक्तश्रुतिस्मृत्योर्मध्ये वेदपदात् पूर्वकाण्डवेद्यत्वमात्रमधिकमायातीत्यगृह्यपदविरोधः पूर्ववदेव । नचाधिकगमने केवलोपनिषद्वेद्यत्वहानिः शङ्का । 'सर्वे वेदाः' इतिवाक्यस्याप्यौपनिषदत्वेन 'मनसैवानुद्गृह्य' इत्युक्तमनोवेद्यत्ववत् सर्ववेदवेद्यत्वस्याप्युपनिषन्मात्रसिद्धत्वात् । एवं च मनसोऽपि श्रुत्युक्तसाधनैः शुद्धत्व एव दर्शनकरणत्वं, वेदानामपि वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थानामेव वेदनकरणत्वमित्युपनिषद एव मूलप्रमाणत्वमिति, न केवलोपनिषद्वेद्यत्वहानिः । अतः प्रमाणान्तरावेद्यत्वात् घटप्रत्यानुमानत्वकथनमप्रयोजकम् । श्रुतिविचारार्थमेव घटकृतः प्रष्टुचेरिति । एतदेवाभिप्रेत्य मद्भ्रमास्करादिभिरनुमानानि दूषितानीति युक्त्या विचारे ईश्वरपक्षकं पूर्वोक्तमितरव्यतिरिक्तसाध्यकानुमानमप्याश्रयासिद्धमेव ।

अथ नव्याभिनववादिमतमालम्ब्य शरीरेण ईश्वरस्य कर्तृत्वमङ्गीक्रियते तदापि नानुमानस्य श्रुत्यनुसारित्वम् । कर्तृत्वनिर्वाहकतयाज्ञानादिवच्छरीरस्यापि जगत्पूर्ववर्तिताया आवश्यकरक्षितम् ।

पूर्वोक्तैतावद्ब्रह्मनिषेधपूर्वकमित्यर्थः । शारीराद्यानित्यादि शारीरादित्यस्यवायुस्यचन्द्रस्याग्निस्वजायामयाप्रतिष्ठपुत्रमयान्पुरुषान् पृथिवीरूपाकाशकामतेजस्तमोमेतोरूपेष्वायतनेषु 'पृथिव्येव यस्यायतनं रूपाप्येव यस्यायतनं' इत्यादिश्रुतिभिः तत्तल्लोकेषु चक्षुरूपेषु सर्वत्र चक्षुर्लोक इति श्रावणात् । अग्निर्लोक इत्यादिपाठे तु अग्न्यदिरूपेषु व्युदुष्य विशेषणोच्चैः स्थापयित्वा प्रत्युद्य पुनस्तत् उपसंहृत्य अत्यक्रामीवोऽतिक्रान्तवानित्यर्थः । अगृह्यः करणागोचर इति व्याख्यां दूषयितुमाहुः तत्रागृह्येत्यादि । तत्र यावदिति अगृह्यपद इत्यर्थः । तुल्यत्वादित्यादि केवलेन्द्रियाग्राहत्वपरत्वेन तुल्यत्वान्न शांकरव्याख्यानतः कोपि विशेषः सिद्ध्यतीत्यर्थः । पूर्ववदेवेति अनुमानादिवेद्यत्वेनौपनिषदमनतिप्रयोजनं स्यादतोगृह्यपदविरोध औपनिषदपदेनेति तादृशविरोधपरकरणायास्मदुक्त एवार्थ इत्यर्थः । श्रुतिस्मृत्योर्विरोधं सिद्धान्ते पराकुर्वन्ति न चाधिकेत्यादि । मनसैवेत्यादि मनसैव मक्तिमावनादेरुत्पत्त्यादयादौ द्रष्टव्योऽयमर्थः । अप्रयोजकमिति शुष्कानुमानस्य तर्कत्वेपि वेदश्रुतित्वाभावेन मीमांसातर्कत्वे न तु प्रयोजकम् । पूर्वोक्तमिति वैशेषिकमतोपन्याससमाप्तिखल उक्तम् । आश्रयासिद्धमिति श्रुतीत्ववदीश्वर इति पक्षे पृथिवीत्ववत्त्वरूपक्षतावच्छेदकभावात् । काश्चनमव-

भाष्यप्रकाशः ।

कत्वेन तदानीं तनस्य तस्य नित्यानित्यपुञ्जात्मकविश्वरूपरूपताया वक्तुमशक्यत्वात् । नच नित्यांशमादाय सिद्धिः । तेषां नानात्वेन तेषु शरीरत्वस्य प्रत्येकपर्यायाया तद्भ्रमैः सूक्ष्मत्वानवबधत्वादिभिर्जगत्करणप्रतिबन्धापत्तेः । नच नित्यपुञ्जात्मकमेव तदङ्गीकार्यमिति वाच्यम् । यस्य पृथिवी शरीरमित्यादौ पृथिव्यादिगतैकत्वव्याकोपात् । 'सर्वतः पाणिपादं तत्' इत्यादिविरोधापत्तेः । सृष्टिप्रकरणेषु सच्चिदानन्दातिरिक्ततदनुक्त्या तद्विरोधापत्तेश्च । अतो नव्यादिमतीयानुमानस्यापि न श्रुत्यनुसारित्वम् । एतेनैव भैक्षवमपि दत्तोत्तरम् । प्रथमानुमानस्य नैयायिकतुल्यकक्षत्वात् । द्वितीयेऽपि प्रयोगे यदालम्ब्य सत्त्वस्य कारणत्वेन सिद्धिः क्रियते तेषु प्रकरणेषु सत्त्वस्य सर्वकारणताया अनिश्चायितत्वेनानुमानस्याप्रयोजकत्वात् । नच स्मृत्या तत्परिहरणीयमिति वाच्यम् । श्रुतिविरुद्धायास्तस्या एवानादरणीयत्वात् । मैत्रायणीयश्रुतौ, 'तमो वा इदमग्र आसीदेकं तत्परे स्यात् तत्परेणैरितं विषमत्वं प्रयात्येतद्रूपं वै रजस्तद्रजः खल्वीरितं विषमत्वं प्रयात्येतद्रै सत्त्वस्य रूपम्' इत्येवं परंपरेणैरजसः सत्त्वस्य च भवनकथनात् । तृतीयेऽपि प्रयोगे सत्त्वस्य परमोग्यत्वेनोपाधित्वाङ्गीकारात् तदुत्पत्तेः पूर्वं परस्य निरुपाधिकत्वेनेच्छाद्यभावात् प्रेरणस्याप्यसंभवापत्तेः । नैयायिकादिवन्नित्यज्ञानेच्छादीनामीश्वरसमवेतत्वाङ्गीकारे शरीराभावप्रयुक्तदोषतादवस्थ्यात्, सांख्यादिमतालम्बनाडम्बरवैयर्थ्याच्च । अतः श्रुत्यनुसारित्वाभावान्मानं ब्रह्मप्रमितिजननायालम् । नापि योगिप्रत्यक्षम् । 'विदूरकाष्टाय मुहुः कुयोगिनाम्' इति द्वितीयस्कन्धवाक्यात् । 'यमेवैष वृणुते' इति, 'धातुः प्रसादात्' इति श्रुतेश्च । नच गीतोक्तविश्वरूपदर्शनादिविरोधः । तस्य मूलरूपत्वाभावात् । कालोऽस्मीति तत्रैव निर्धारणात् । तत्रापि, 'रूपं परं दक्षिणमात्मयोगात्' इति वाक्येन तस्यापि भगवद्बलेनैव दर्शनेन योगस्याप्रयोजकत्वाच्च । उपपत्तेश्चेत्यादौ यदुपपत्त्युपपन्नसन्, तदपि न ब्रह्मस्वरूपज्ञापकतया, किंतु हेत्वाभासैः परान्तरशङ्कानिरासकतयेति वक्ष्यते ।

रश्मिः ।

पर्वत इतिपक्षे काञ्चनमयत्ववत् । अशक्यत्वादिति अनुत्पन्नतया तथात्वादित्यर्थः । सिद्धिरिति तदानीं तनशरीरसिद्धिरित्यर्थः । सूक्ष्मेति आदिशब्देनैक्यप्रमजनकत्वम् । नित्यपुञ्जात्मकमिति । ननु प्रत्येकपर्यायित्यर्थः । एवं सति श्रुत्यनुसारित्वमुद्घोषयतस्तव शरीरत्वस्य प्रत्येकपर्यायिबोधकश्रुतिविरोध इत्याहुः यस्य पृथिवीत्यादि । सच्चिदित्यादि । एतदतिरिक्तशरीरानुक्त्येत्यर्थः । नैयायिकेत्यादि बुद्धिप्रभृति कार्यं नोपादानगोचरप्रत्यक्षजन्यं कार्यत्वादङ्कुरवत्, इति साधारणविरुद्धत्वाम्नां हेतोस्तथेत्यर्थः । यदालम्ब्येति सांख्यमालम्ब्येत्यर्थः । अप्रयोजकत्वादिति निश्चितसर्वकारणताकसत्वातिरिक्तकारणसिद्ध्याप्रयोजकत्वादित्यर्थः । स्मृत्येति 'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः' इति स्मृत्या । तदुत्पत्तेरिति सत्त्वोत्पत्तेरित्यर्थः । इच्छाद्यभावादिति आदिना ज्ञानयज्ञौ । प्रेरणस्येति सत्त्वप्रयोजकस्य तमसः प्रेरणसेत्यर्थः । द्वितीयेत्यादि तथाच 'अनागतमतीतं च' इत्यत्रापि ब्रह्मिन्नमिति वाच्यमिति भावः । कालोऽस्मीति श्वेताश्वतरे 'कालः स्वभावो नियतियहच्छा' इत्यत्राचिन्त्यत्वेनोक्तोऽस्मीति तात्पर्येण कालकर्मस्वभावशक्तिषु श्रीभागवतोक्तासु निवेशात् । ननु 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यत्राद्वितीयत्वाय कालस्यापि ब्रह्मत्वसाधनेपि काल उपदेश इति धातुपाठयोग आवश्यकः सिद्धान्त इति कथमेवमिति चेत्तत्राहुः तत्रापीत्यादि । अप्रयोजकत्वादिति उपदेशस्य शक्तिपरत्वेपि

अनधिगतार्थगन्तृत्वात् प्रमाणस्य । मनननिदिध्यासनयोः श्रवणाङ्गत्वम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

'आचारदर्शनात्' इति सूत्रं तु कर्मविषये, न तु ब्रह्मविषय इति न किञ्चिदेतत् । अतस्तदुपेक्ष्यमेव । ननु श्रुत्युक्तं सच्चिदानन्दात्मकं शरीरमङ्गीकृत्यानुमानदोषनिरासे दोषामावात् कथमुपेक्ष्यत्वमित्यत आहुः अनधीत्यादि । तथाच सिद्धसाधनत्वाच्छ्रुत्युक्तसकलविशेषविषयकप्रमित्यजनकत्वात्प्रामाण्यमित्यर्थः । ननु 'मन्तव्यः' इति श्रुत्या मननं विहितम् । तत्र युक्तिभिरनुचिन्तनम् । युक्तयश्चानुमानरूपा इति श्रुत्यनुकूलानुमानस्य प्रामाण्यं श्रुत्यैव द्रव्यत इति कथं पूर्वोक्तमतस्योपेक्ष्यत्वमुच्यत इत्याशङ्कयाभाहुः मननेत्यादि । तथाच मननादेरङ्गत्वबोधनादनुमानादेः सहकारित्वं न निवार्यते, किंतु कारणत्वमतस्तदंशे उपेक्ष्यत्वम् नच सर्वज्ञत्वासिद्धिः । विपश्चिन्तयुतेः 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इति श्रुत्यन्तराद्य तत्सिद्धेरिति 'उपपत्तेश्च' इत्यादिदृष्टेःष्वप्यत एव रश्मिः ।

संभवेन मूलरूपत्वसाधनेऽप्रयोजकत्वात् । अतस्तदिति नैयायिकतुल्यत्वाद् भैक्षवमपीत्यर्थः । शरीरमिति आनन्दस्याकारसमर्पकत्वात्तथा । सिद्धसाधनत्वादित्यादि श्रुतिसिद्धानां साधनत्वाद्देतुष्वनुमानानां च श्रुत्युक्तसकलविषयकप्रमित्यजनकत्वात्प्रामाण्यमत् उपेक्ष्यत्वमित्यर्थः । इदं च लक्षणं वाक्यमात्रप्रामाण्यापेक्षं तेन गगनकुसुममित्यादौ वाक्येऽप्रमाणे नातिव्याप्तिः । तेनेश्वरसिद्धधीनं वेदप्रामाण्यं वेदप्रामाण्याधीनेश्वरसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयोपि व्याख्यातः । आसोक्तं वाक्यं प्रमाणमितिलक्षण एव तत्रसरत् । प्रमाणेन शब्देन श्रोत्रेण वानधिगतस्य स्वर्गादिसाधनत्वस्य यागादावर्यस्य गन्तृत्वमर्थविषयकप्रमाकरणत्वात् प्रापकत्वम् । न चैवं वैयाकरणव्युत्पत्तिविरोधः । प्रमीयते अनेनेति प्रमाणमिति करणे ल्युट् । ननु प्रमाकरणं प्रमाणमिति प्रसिद्धलक्षणं कुतो नादतम् । अन्योन्याश्रयान्नादतमिति चेद्धारणया वृत्त्यानुगमिव्यतीति चेन्न । तस्य व्याकरणादिप्रसिद्धत्वेऽपि 'परोक्षवादो वेदोयम्' इति 'परोक्षं च मम प्रियम्' इति च कथनादनधिगतार्थस्य परोक्षत्वात् । न च फलशेषे परोक्षवादो यथा 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यत्रात्मसुखमादाय स्वर्गपदेऽर्थ इति वाच्यम् । निबन्धटीकाया विष्णुस्वामिमीयत्वाद् एतस्यैकादशसुबोधिनीमतत्वाद्दोषम् । मननमित्यादीति श्रुतौ श्रवणं नाम भगवद्वाचकपदवाक्यानां ब्रह्मणि शक्तितात्पर्यनिर्धारः । स च मनननिदिध्यासने विना न संभवतीति श्रवणाङ्गत्वं निदिध्यासनद्वारा मननस्येत्यर्थः । अथवा मनननिदिध्यासननिरूपितं श्रवणस्याङ्गत्वम् । स्मरणं हि मननं श्रुतस्य भवतीति श्रवणमननयोः कार्यकारणभावबोधकस्यमाणसूत्रमाष्यात् । न तु मननमात्राङ्गत्वं श्रवणनिदिध्यासनधोरतो निदिध्यासनाङ्गं मननं न विरुद्धमित्यर्थः । न चैवं मननस्य निदिध्यासनाङ्गत्वमित्येवं भाष्येऽत्र तु मनननिदिध्यासनयोः श्रवणाङ्गत्वमिति शक्यम् । श्रवणानन्तरं मननं पुनश्च श्रवणं निदिध्यासनं चेत्यर्थेद्वारा निदिध्यासनदार्ढ्यं तात्पर्यात् तावन्मात्रोक्ते साधनसरण्या तात्पर्याज्ञानात् । द्वितीयपादेऽप्येवं वक्ष्यन्ति सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशाधिकरणे । तदंश इति कारणत्वाम्युपगमांशे इत्यर्थः । एतेन —

'अत्र मां मार्गयन्त्यद्वा युक्ता हेतुमिरीश्वरम् ।

गृह्यमाणगुणैर्लिङ्गैर्ब्राह्मणमनुमानतः' ॥

इति श्रीभागवतवाक्यमपि व्याख्यातम् । अत एवेत्यादि साधनाध्याये द्वितीयपादे सहकारि-

संदेहवारकत्वाच्छास्त्रस्यापि तदङ्गत्वमिति ॥ २ ॥

इति प्रथमाध्याये प्रथमपादे द्वितीयं जन्माद्यधिकरणम् ॥ २ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

तन्निर्देशो, न तु करणत्वेनेत्यर्थः । एतदेवोपकारकत्वं स्मृत्यादिष्वपीत्यतिदेष्टुमाहुः संदेहेत्यादि । तदङ्गत्वमिति मननाङ्गत्वम् । अत एव, 'स्मृतेश्च' इत्यादिष्वपि ।

'इतिहासपुराणान्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।

विभेत्स्वयमुत्तरेदो भामयं चालयिष्यति' ॥

॥ इत्यादिवाक्यानि च । एतस्यैव निष्कर्षो निबन्ध उक्तः ।

'वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्यासस्यपि चैव हि ।

समाधिमाषा व्यासस्य प्रमाणं तद्वदुच्यते ।

उत्तरं पूर्वसंदेहवारकं परिकीर्तितम् ॥

इति । तथाच संदेहवारकतया कल्पद्रव्यवद् व्याख्यानरूपत्वात्तदनुवादकत्वमित्यर्थः । कारिकार्यस्तु तद्विवरणग्रन्थाद् बोध्यः ।

इति द्वितीयं जन्माद्यधिकरणम् ॥ २ ॥

एवं जिज्ञास्यस्य ब्रह्मणो लक्षणं तत्र प्रमाणं च निर्णय तस्य किं ब्रह्मणः कारणतामात्रे तात्पर्यमुत तच्चद्विशेषविशिष्टायां तस्यामिति संशयमपनेतुमग्निममाधिकरणमित्याशयेन तदवतारयन्ति रश्मिः ।

त्वादेव युक्तिनिर्देश इत्यर्थः । स्मृत्यादिष्विति । आदिशब्देन गीमांसा । तदङ्गत्वमितीति शास्त्रस्य गीमांसारूपस्यापि श्रवणाङ्गत्वं भाष्यात् । अपिशब्देनेतिहासपुराणे । तत्पक्षे तदङ्गत्वपदार्थमाहुः मननाङ्गत्वमिति । स्मृतेश्चेति इमानि सूत्राणि द्वितीयपादे वक्ष्यन्ते, स्मृतिगीमांसारूपाणि । चैव हीति चकारेण जैमिनिस्मृतिः । संदेहेत्यादिभाष्यनिष्कर्षमाहुः तथा चेत्यादि । नानुवादकत्वमिति स्मृतिशास्त्रस्य जन्मादिसूत्रस्य वा नानुमानोपपद्यन्त्युत्तरानुवादकत्वमित्यर्थः । तद्विवरणेत्यादि तत्त्वदीपादावरणभङ्गाचेत्यर्थः । तत्र ननु चतुर्णां कोपयोगः एकेनैव चरितार्थत्वाच्चेत्याशङ्क्याहुः उत्तरमित्यादि उत्तरोत्तरं पूर्वपूर्वस्य संदेहवारकं प्रकर्षेण कीर्तितम् । यथा 'अपाणिपादो जवनो ब्रह्मिणी' इत्यत्र किं प्राकृतपाणिरहितं ब्रह्म आहोस्वित् सामान्यनिषेध इति संदेहे सर्वतःपाणिपादान्तमित्यादि गीतावाक्यं निर्णायकं, तथा गीतायां 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः' 'ममैवांशो जीवलोक' इत्यादिषु संदेहे सूत्रैर्निर्णयः । 'उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्' इत्यादिभिः । तथा 'जन्माद्यस्य यतः' इति संदेहे 'अन्वयव्यतिरेकतः' इति भागवतेन, निर्णय इति तत्त्वदीपे । उत्क्रान्त्यादिसूत्रैरशत्वनिर्णयः अन्वयव्यतिरेकत इति । श्रीभागवतवाक्ययोः 'अन्वयव्यतिरेकान्नां यत्स्यात् सर्वत्र सर्वदा' 'समन्वयेन व्यतिरेकतश्च' इति द्वितीयकादशस्ययोर्यक्यनम् । तथाचैतयोर्वाक्ययोर्जन्मादिसूत्रे शबलस्य ब्रह्मणो वा कार्यलक्षणमिति संदेहे निर्णायकत्वमित्यावरणभङ्गे । 'जन्माद्यस्य यतोन्वयादितरतः' इति वाक्यमपि संग्रहीतुं शक्यम् । तदुक्तं कौर्म्ये 'न च वेदाद्वे किंचिच्छास्त्रं ब्रह्ममिधायकम्' इति ।

॥ इति द्वितीयं जन्माद्यधिकरणम् ॥ २ ॥

प्रसङ्गसंगत्या हेतुतासंगत्या वाधिकरणमवतारयन्ति एवमित्यादि । तस्येति लक्षणस्येत्यर्थः । तद्विशेषेत्यादि तच्चद्विशेषः समवायित्वनिमित्तत्वकर्तृत्वरूपस्तद्विशिष्टायां कारणतायामित्यर्थः ।

तत्रैतत् स्यात् । तत्र किं समवायि निमित्तं कर्तृ वा । किमतो यथेवम् । एवमेतत् स्यात् । यथेकमेव स्यात् तदा क्रियाज्ञानशक्तयोर्निरतिशयत्वं भवेत् । श्रुवादिसाधारण्यं च स्यात् ।

मतान्तरवत् कथमेवं संदेहो यावता, 'यतो वा इमानि' इत्यादिभ्यो निःसंदेहश्रवणात् । एवं हि सः । पञ्चमी श्रूयते यत इति । पञ्चम्यास्तसिलिति । आत्मन इत्यपि पञ्चमी, निमित्तत्वे न संदेहः । पञ्चम्या निमित्तत्वकथनात् । उपादानत्वे

भाष्यप्रकाशः ।

तत्रैतत् स्यादित्यादि संदेहवारकेऽस्मिच्छास्त्रे वक्ष्यमाणं विचार्य स्यात् । तदाहुः तत्र किमित्यादि । तत्रेति श्रुतौ । मम तु तदिति प्रथमान्तपाठोऽत्र प्रतिभाति । चोदयति किमतो यथेवमिति । कारणतामात्रादरेणैव जगत्कारणीभूतब्रह्मप्रमित्या प्रमाणसाफल्ये जाते पुनः संशयपङ्क निपात्य तन्निरसनार्थकात् प्रयासात् किं फलान्तरं संपाद्यमित्यर्थः । तत्रोत्तरमाहुः एवमेतत् स्यादिति । वक्ष्यमाणेन विचारेण वक्ष्यमाणदोषनिवृत्तिरूपं फलं स्यादित्यर्थः । तदुपपादयन्ति यथेकमित्यादि । यदि कारणतामात्रादरेण प्रमितेः पूर्तिरङ्गीकार्या तदैकं निमित्तादिषु वक्तव्यम् । तत्र यदि दण्डादिवन्निमित्तं, यदि वा प्रयोज्यवत् कर्तृ, तदा यथा-यथं क्रियाशक्तेर्ज्ञानशक्तेश्च निरतिशयत्वभङ्गः । दण्डाद्यपेक्षया कर्तुरि क्रियाशक्तेः प्रयोज्यापेक्षया प्रयोजके ज्ञानशक्तेराधिक्यदर्शनात् । यदि सूत्रं समवायित्वं, यदि वा कुलालादिवत् कर्तृत्वं, तदा तत्साधारण्यं, विकृतत्वमनाप्तकामत्वं चेति । तथाचैतदोषनिरासः फलमित्यर्थः । अत्र चोदयति मतान्तरवदित्यादि सांख्यन्यायादिरूपस्य मतान्तरस्य स्मृतिरूपत्वात् तज्जनकानुभवे दृष्टत्वस्य संभावितत्वात् तत्रोचितः संदेहः । अत्र तु तदमावाञ्च तस्य संभावनेत्यर्थः । संदेहेत्यभिप्रकारमाहुः एवमित्यादि । निमित्तत्वकथनादिति 'विभाषा गुणेषुऽस्त्रियाम्' इत्यत्राकारप्रक्षेपे अगुणादपि हेतोः पञ्चम्यङ्गीकृता । यथा धूमाद् वह्निमानित्यादौ । एवं प्रकृतोऽपि

रश्मिः ।

सामानाधिकरण्येऽन्वयसौष्ठवादाहुः मम त्वित्यादि । कर्तुरपि निमित्तत्वेन पृथङ्निर्देशानुपपत्तिमाशङ्क्य तयोर्भेदसाधनायाहुः तत्र यदीत्यादि । 'स्वतन्त्रः कर्ता' 'साधकतमं करणम्' इति लक्षणमेदात् कर्ता करणं हेतुरिति संज्ञामेदात् कारकपञ्चकत्वापत्तेश्च कर्ता पृथक् । न च गौरवमिति शङ्क्यम् । 'शिक्षा कल्पो व्याकरणम्' इतिश्रुतेर्नैयायिकलाघवस्यायुक्तत्वादसमवायिकारणस्य निमित्तत्वाच्च । श्रुत्वादीत्यादि भाष्यमवतारयन्ति यदि श्रुदित्यादि । साधारण्यमेवाहुः विकृतत्वमित्यादि । एतदोषेति शृङ्खला-लादिसाधारण्यदोषनिरास इत्यर्थः । मतान्तरैति भाष्यं देहलीप्रदीपन्यायेनोत्तराणि मतान्तरे ब्रह्मणि विकृतत्वाधनङ्गीकाराद् दृष्टान्तः परत्रेति मतान्तरवत्कथमित्यादि चोदकं भाष्यमित्याशयेनावतारयन्ति अत्रेत्यादि । स्मृतिरूपत्वादिति लोकप्रमितार्थान् स्मृत्वा युक्त्या यथाशुद्धिं संशोध्य शास्त्र-प्रणयनेन तथात्वादित्यर्थः । संभावितत्वादिति कारणदोषेण बुद्धिदोषरूपेण तथात्वादित्यर्थः । तदभावादिनि श्रुत्वबलम्भान्मानसीनानुग्रहेण चक्षुरादिकरणे दोषाभावादित्यर्थः । [वस्तुतस्तु सांख्यमते प्रकृतेरिव ब्रह्मणोऽपि विकृतत्वापातः इति मतान्तरवदिति भाष्यं यथाश्रुतमेव साधीयः] भाष्ये । श्रूयत इति सूत्रविषयवाक्ययोः श्रूयते इत्यर्थः । प्रकृते । अकारेत्यादि । इदं च बाहुलकं

कर्तृत्वे च संदेहः । तद्वाचकाश्रवणात् कल्पनायां प्रमाणाभावात् । समवायित्वे पुनः सुतरां संदेहः । एवं प्राप्त आह ।

तच्च समन्वयात् ॥ ३ ॥ (१११३)

तुशब्दः पूर्वपक्षस्यावृत्त्यर्थः । निमित्तत्वस्य श्रुतिसिद्धत्वाद् मतान्तरनिराकरणत्वेनाग्रे वक्ष्यते । तद् ब्रह्मैव समवायि कारणम् । कुतः । समन्वयात्

भाष्यप्रकाशः ।

तत्कथनात् । तथाच तावन्मात्राङ्गीकारे उक्तरीत्या क्रियाज्ञानशक्त्योर्निरतिशयत्वमङ्गप्रसङ्गः । तन्निवृत्त्यर्थमुपादानत्वकर्तृत्वयोरप्यङ्गीकारे प्रमाणाभावात् संदेहः । समवायस्याग्रे दृषितत्वात् समवायित्वे विकृतत्वस्यापत्तेश्च तत्र सुतरां तथेत्येवं समवायित्वेऽत्यन्तं संदिग्धे ब्रह्मसाहेत्यर्थः । एतेनास्याधिकरणस्य पूर्वेण सह सामान्यविशेषभावः संगतिरपि दर्शिता ।

तच्च समन्वयात् ॥ ३ ॥ एवं पक्षत्रयेऽपि दोषा इति तान् विहाय श्रुत्युपपत्त्यर्थं केवलं तदस्यकारणत्वमादरणीयमित्याशयेन पूर्वपक्षयुक्तिमाहुः निमित्तत्वस्येत्यादि । ननु तुशब्दो विशेषाधारणपूजाख्यावृत्तिपादपूरणाद्यर्थहेतुषु दृष्टस्तत् कथं व्यावृत्त्यर्थं एवात्र श्रुत इत्यत आहुः मतान्तरेत्यादि । 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' इत्यादौ तथा दर्शनादत्रापि तथेत्यर्थः । तद् ब्रह्मैव समवायिकारणमिति तद् अनुभूतं प्रसिद्धं वा समवायिकारणं ब्रह्मैवेत्यन्वयः ।

रश्मिः ।

प्रकृतेस्तदनुदृष्टेरिति वार्तिकप्रयोगाद्गुणेऽस्त्रियामिति प्रायिकमित्यन्य इति शेखरे केषांचिन्मतमनुदितं तदनुसारेण बोध्यम् । तथाचाकारप्रक्षेपाद्ब्रह्माद्विमानित्यस्य अस्त्रियामित्याकारप्रक्षेपे नास्ति घटोऽनुपलब्धेरित्यस्य च प्रयोगस्य सिद्धिरित्याशयः । यद्वा उभयत्रापि अकारप्रक्षेपाप्रक्षेपाम्यां जाड्येन जाड्याद्वा बद्धः धूमाद्ब्रह्मान् नास्ति घटोऽनुपलब्धेरिति प्रयोगत्रयसिद्धिरित्याशयः । दीक्षितैस्तु हरदत्त-ग्रन्थानुसारेण विभाषेति योगं भङ्गत्वा अगुणे स्त्रियां च पञ्चमी साधितेति ध्येयम् । यथा धूमादिति धूमपदं स्वज्ञाने वद्विमतपदं स्वज्ञानविषये लक्षणिकमत्र ज्ञेयम् । हेतुहेतुमद्भावोपपत्तये । उपादानत्व इत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति तन्निवृत्तीत्यादि । भाष्ये । ननु मृदः कुलालाच्च घट इति प्रयोगात् कर्तृत्वोपादानत्ववाचकपञ्चमीश्रवणं यत इति आत्मन इति चेति कथं तद्वाचकाश्रवणमत आहुः कल्पनायामित्यादि । प्रकृते । समवायित्व इत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति समवायस्येत्यादि । अग्र इति द्वितीयाध्यायद्वितीयपादे 'समवायाम्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः' इति सूत्र इत्यर्थः । तथेति संदेहत्वेन प्रकारेण संदेह इत्यर्थः । सामान्येत्यादि प्रसङ्गस्यावान्तरभेदो हेतुतास्य इत्यर्थः ।

तच्च समन्वयात् ॥ ३ ॥ दोषा इति निमित्तत्वे क्रियाज्ञानशक्त्योर्निरतिशयत्वमङ्गः, कर्तृत्वे प्रमाणाभावः, उपादानत्वे विकृतत्वमिति दोषा इत्यर्थः । निमित्तत्वस्येत्यादीति ल्यन्लोपे पञ्चम्यत्र निमित्तत्वमात्रस्य श्रुतिसिद्धत्वमङ्गीकृत्य समवायित्वे कर्तृत्वे च ब्रह्मणो न संदेग्धव्यमित्येतत्सुशब्दआहेति वृत्त्यनुसारेणार्थः । विशेषेत्यादि समुच्चयोप्युपलक्षणीयः । तथा च विश्वः 'तुः पादपरणे भेदे समुच्चयेऽवधारणे' इति । अत्र तत्पदेन ब्रह्मपरामर्शप्रमं वारयन्तोऽधिकारसूत्रलम्पत्वात्, पर्वतो धूमादिति प्रयोगादर्शनात् वद्विमान्धूमादिति दर्शनात्, रूपादावंशतो भाषसंभवात् । समवायित्वस्य साध्यताप्रममननुमानत्वाय वारयन्ति तदित्यादि । ब्रह्मैव तत्समवायिकारणमिति योजना । समन्वयपदसमभिव्याहारात् सूत्रे सोपयु-

सम्यगनुवृत्तत्वात् । अस्तिभातिप्रियत्वेन सच्चिदानन्दरूपेणान्वयात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

ननु सम्यगनुवृत्तत्वमनारोपितानागन्तुरूपेण सर्वं लक्ष्मीकृत्य वर्तमानत्वम् । तज्जगति ब्रह्मणः कथम् । न हि जगति ब्रह्मणोऽनारोपितानागन्तुकेन ब्रह्मत्वेन रूपेणान्वयोऽवगम्यते, यथा पटे तन्तोर्घटे वा मृद इत्याकाङ्क्षायां तदाहुः अस्तीत्यादि । तेषु तेषु वस्तुषु तत्तत्पुरुषप्रतीतिविषयेणास्ति-त्वादिधर्मिणावगम्यमानात् सदादिरूपेणान्वयात् । यो हि यदन्वितः स स्वस्तिस्तद्विषयां प्रतीतिमा-धत्ते, यथा घटादिः पृथिवीत्यादिप्रतीतिम् । तथात्र सर्वमस्तीत्यादिप्रतीतिजनकत्वात् सदाद्यन्वितम् ।

रश्मिः ।

ज्येते न ब्रह्मेत्यनुवर्तते, तथा च भाष्येऽनुमानप्रतीतावपि औपनिषदत्वविघटिकेति न सोपयुज्यते । एवं मद्गु-क्तप्रकारेण योजने नानुमानप्रतीतिः । तथाहि । अत्र समवायिकारणमिति न पक्षः । तथा सति समवायिनो द्रव्यमात्रस्य ब्रह्मत्वसिद्ध्या ब्रह्मणस्तदतिरिक्तस्यापि समवायित्वासिद्धेः पर्वतो धूमादिति प्रयोगापत्तेश्च । नाप्यनुभूतं स्वप्ने तदंशस्य मायारूपस्य पक्षत्वं, अथ कार्ये प्रसिद्धं श्रुत्यादौ च प्रसिद्धं ब्रह्मैव पक्षः 'अस्तस-दिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः' इति गीताप्रामाण्यानुरोध्यागामिभाष्यानुरोधेन ततो विशेषितत्वे तु समवायिकारणस्य पूर्वसूत्रवासनया जगतः समवायिनि वक्तव्ये जगत्समवायी पक्षः । ब्रह्मत्वं साध्यम् । एवकारः प्रकृत्यादिकं व्यवच्छिन्नन्ति । पक्षत्वे त्रिषु व्याख्यानेषु मध्ये भाष्यीयं मध्यमं व्याख्यानम् । अस्तिभातिप्रियात्मकेनानागन्तुकानारोपितरूपेण सर्वत्रानुवृत्तत्वं हेतुः । यत्रानारोपितानागन्तुरूपेण समन्वितत्वं तत्र तदात्मकत्वमिति सामान्यव्याप्तिः । यथा मृदोऽनारोपितानागन्तुकेन मृत्त्वेन रूपेण समन्वितत्वात् मृदात्मकत्वं घटस्य । रूपादौ च घटादेर्वदत्त्वेन रूपेणानुवृत्त्यभावाच्च रूपादौ घटाद्या-त्मकत्वम् । अत्र स्वरूपासिद्धिं शङ्कते नन्वित्यादि । अनारोपितेत्यादि । आरोपितमप्यस्त्वम्, आगन्तुकं रूपित्वादि । यदि चाध्यस्तमप्यागन्तुकं तर्ह्येकमेवोपादत्तं, द्वितीयं त्ववस्तुत्वाद्गुपादत्तमप्यनुपादत्तम् । इदं तादात्म्येन संबन्धेन वर्तते । तदाहुरिति अनारोपितानागन्तुरूपेण वर्तमानत्वमाहुरित्यर्थः । अस्ति-त्वेत्यादि । अत्र भाष्ये इन्द्रान्ते श्रूयमाणं त्वप्रत्ययं प्रत्येकं संभ्रष्टास्तित्वादीत्युक्तम् । तत्रास्तित्वाधात्रये ब्रह्मणि सति अस्तित्वादिना समन्वयाभावाज्जगति ब्रह्मसत्त्वासिद्धेः । नन्वेकत्वात् साध्यसाधिकदेश-वृत्तित्वं व्यापकत्वान्नानुमानदोषकरमिति चेद् ब्रह्मत्वास्तिमात्यादिसमन्वययोः कार्यकारणभावोऽ-स्त्येव तस्य ग्राहकावन्वयव्यतिरेकी तयोरेवाभावात् । ब्रह्मत्वे सत्युक्तसमन्वयेऽब्रह्मत्वाभावे सति सम-न्वयाभाव इति । ब्रह्मणि तदुभयाभावान्न साध्यहेतुभाव इति दोषो न । अथवा स्वप्नप्रष्टिमायाकृतभेदव-द्व्यतिरिक्तदृष्टिदोषादानभेदे वा ब्रह्मत्वरूपसाध्याभाववति हेतोः सत्त्वात्साधारण्यम् । अत्रोच्यते धर्म-धर्मिणोरभेदात् सदादिरूपेणावगम्यमानादन्वयादिति योजना । पृथिवीत्यादि पृथ्वीत्वान्वितत्वात् पृथिवीत्वविषयामित्यर्थः । तथात्र सर्वमित्यादि सर्वमिति पक्षः, सदाद्यन्वितत्वं साध्यं, अस्तीत्यादि-हेतुः, यत्रैवं तत्रैवं स्वपुष्पवदिति दृष्टान्तः । अस्तीत्यादिप्रतीतिजनकत्वं त्वेवं साधितम् । 'अन्वय-व्यतिरेकाम्यां यस्यात् सर्वत्र सर्वदा' इत्यस्य सुबोधिन्याम् । तथाहि । घटः सन् पटः सन् भासते इति प्रिय इति च सर्वत्रैवैकस्य ब्रह्मणोन्वयः, अन्यथा एकब्रह्मदानुवृत्तिः प्रतीत्यनुगतिश्च न स्यात् । विशेषेणातिरिच्यत इति व्यतिरेकः घटादिभ्यः किमतिरिच्यते घटस्तु घटाद्यातिरिच्यते तथा पटः

१. हेतौ हेतुतास्येदकभावः स्वरूपासिद्धिः । अन्वयत्वापेक्षया समन्वयत्वस्य गुरुत्वा हेतुत्वमपेक्षकत्वाभावात्,

नीमधूलत्वम् ।

१. पक्षे रूपदो साध्याभावो बाधः । औपनिषदत्वमप्यहेतुत्वकारे ।

नामरूपयोः कार्यरूपत्वात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

ततश्च सदायात्मकं सच्चिदानन्दात्मकं च ब्रह्मेति तेन रूपेण ब्रह्मान्वयोऽवगम्यत एवेत्यर्थः । ननु जगत्प्रत्यादिप्रसन्नमन्वयो न ब्रह्मणः समवायित्वगमकः । नामरूपयोरपि समन्वयात् । नच तयोर्ना-
नात्वाभान्वय इति शङ्काम् । तयोः प्रतिनियतरूपेणानन्वयेऽप्यवच्छेदकावच्छेदेनान्वयस्य निरावा-
धानुभवात् । नच रूपस्य व्यभिचारः शङ्क्यः । तस्य व्यवहार्यत्वपरत्वात् । अवकाशादिरूपेण
व्यवहार्यत्वसाक्षादावपि सत्त्वादिति चेत् तत्राहुः नामरूपयोः कार्यरूपत्वादिति । नामरूपे
कर्मणोऽप्युपलक्षके । 'त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म' इति श्रुतेः प्रपञ्चस्यैतत्त्वयात्मकत्वम् । तथाच,
'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इति श्रुतेर्नाम्नां रूपेषु नियमने कृत एव जगतः

रश्मिः ।

पटात् किं तु सद्घटादप्यतिरिच्यते पटादपि, एवं सर्वत्र, यत्सर्वं सत्सर्वस्मादतिरिच्यते तद्वन्न ।
नन्वेकमेव ब्रह्मत्वसाधकमस्तु किं द्वाभ्यामिति चेन्न । अन्वयेन ब्रह्मत्वं न सिद्धति जगति जगतो-
प्यन्वयात् । यद्यपि घटादेर्व्यतिरिच्यते जगत्तथापि जगतो न व्यतिरिच्यते, खपुष्पादिकं तु जगतो
व्यतिरिच्यते परं नान्वेति, सज्जगतो व्यतिरिच्यते भगवतोपि सत्त्वात्, कारणसाक्षरस्यापि सत्त्वात्, अतो
यस्यान्वयव्यतिरेकौ तदेव सर्वमिति । तत्र यदि सर्वमस्तीति प्रतीतिजनकं घटोस्ति भूतले घटाभावो
स्तीत्यादिप्रतीतेर्ननु भातिप्रियत्वप्रतीतिजनकं घटो ज्ञानं घटो जानाति घटः श्रीणातीत्याद्यप्रतीतिः ।
घटो भासते इत्यत्र तु नाश्रयत्वं तर्क्यः किं तु विषयत्वमित्याद्युच्यते, तदा तु अत्रैव युक्तिनिरूपणे
भातिप्रियत्वयोरपि घटादिवृत्तित्वस्य मया व्युत्पाद्यत्वाद् घटादीनां तद्वर्त्मकत्वे सिद्धे तदप्रतीतावप्य-
क्षतिः । जीवे आनन्दांशस्य जडे चिदानन्दयोरप्राकट्यस्य वक्ष्यमाणत्वात् । अतो न पद्मसरसि भृङ्गे शङ्कति-
पराकृतमशकशुङ्कारः । हेतुघटिका प्रतीतिश्च प्रत्यक्षानुमित्यन्यतरपरा । तेन सदन्वयः प्रतीतिसाक्षिकश्चि-
दानन्दयोस्त्वानुमानिक इति ज्ञेयम् । तेनेति सच्चिदानन्दरूपेणेत्यर्थः । नन्वस्यादयो यथा ब्रह्मधर्मास्तथा
नामरूपे अपीति नामरूपरूपेणान्वयः कुतो न स्यादित्याशङ्कते ननु जगतीत्यादि । समवायित्वेत्यादि
भाष्यप्रकाशीयथाश्रुतव्याख्यानपक्षे समवायित्वस्य साध्यत्वाभावादमक इत्युक्तम् । समवायिनि
ब्रह्मत्वे सिद्धे ब्रह्मणः समवायित्वं गमयतीत्यर्थः । समन्वयादिति तथा च जगतोऽपि जगत्समवायित्वं
स्यादिति प्रश्नः । नान्वय इति घटनामरूपयोः पटे नान्वयः । तन्नामरूपयोर्भित्त्वादित्यर्थः । प्रतिनि-
यतेत्यादि देवदत्तविष्णुमित्रत्यादिरूपेण नीलत्वपीतत्वरूपेण चेत्यर्थः । अवच्छेदकेत्यादि नामत्व-
रूपत्वरूपेणेत्यर्थः । पदार्थतावच्छेदकं गुणत्वं तस्यावच्छेदो द्वैधीकरणं येन नामत्वरूपत्वरूपेण करणे
प्रत्ययः । उपदेश आद्योच्चारणमित्यत्रोपदेशपदात्प्रत्ययवत् करणनिष्ठव्यापारो वा चात्यर्थः । पचादेरा-
कृतिगणत्वाद् । व्यभिचार इति आकाशादौ रूपव्यभिचार इत्यर्थः । व्यवहार्यत्वादि
रूपवान् विशेषतो व्यवहार्यो भवतीति कार्यताख्यसंभन्धेन व्यवहार्यत्वलक्षकत्वादित्यर्थः । श्रुतेरिति
वृत्तव्यवहारकेऽस्ति नामरूपयोरानुगन्तुरूपत्वात् तयोर्ब्रह्मसमवायित्वबाधकत्वमिति वदन्तो भाष्ये
द्वयोपादाने उपपत्तिमपि वदन्ति स्म तथाचेत्यादि । नामरूपकर्मणां प्रपञ्चरूपत्वे सति । व्याकरणे-
त्यादि । अनेनेत्यादिव्याकरणश्रुतेर्जीवरूपेण प्रवेशकरणोत्तरमित्यर्थः ।

भाष्यप्रकाशः ।

कार्यत्वेन प्रतीतेस्ते एव कार्यस्य कार्यताव्यञ्जकरूपभूते । यदा हि पृथुबुभोदराकरोऽर्धो भवति
तदा तत्र तादृशं रूपं घट इति नाम च भवति । तदपि न स्वतः किंतु व्याकरणश्रुतेस्तत्करजो-
त्तरम् । यथा हि बालके जाते तदवयवानालोक्य व्यक्तौ निश्चितायां नाम नियमयति, एत-
न्नामाऽयमिति तद्वत् । अतः कर्मापि मूलवस्तुत्तरकालीनं कार्यस्वरूप एव प्रविशतीत्यागन्तुक-
त्वाच्च तत्समन्वयः, किंत्वन्वयमात्रं तेषामतो न ब्रह्मणः समवायित्वबाधकमित्यर्थः ।

ननु तथाप्यस्यादिसमन्वयस्य न ब्रह्मसमवायितागमकत्वम् । कार्यमात्रे प्रकृत्यात्मकानां
सत्त्वरजस्तमसामनुवृत्तिदर्शनात् । यथाहुः सांख्याः ।

'प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रभृतिनियमार्थाः ।

अन्योऽन्यामिभवाश्रयजननमिथुनदृचयश्च गुणाः' ॥

इति गुणानां स्वरूपं वृत्तीशोक्तत्वात्

'सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपाष्टमकं चलं च रजः ।

गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवन्मार्थतो वृत्तिः' ॥ इति ।

एतदर्थस्तु सत्त्वादयो गुणाः सुखदुःखमोहस्वरूपाः प्रकाशप्रभृतिप्रहफलका यथाक्रमं
बोध्याः । ते पुनरन्योन्याग्निभवनान्योन्याधारत्वान्योन्यजननान्योन्यमिथुनक्रियावृत्तयः स्वतः
एव सन्तो यथा वर्तितेले अग्निविरोधिनी सहाग्निना रूपप्रकाशनं कार्यं कुरुतो यथा वा वात-
पित्तकफा दोषाः परस्परविरुद्धा अपि शरीरधारणलक्षणं कार्यं कुर्वन्ति, तथैते परस्परविरुद्धा
अप्यनुवर्तन्ते, कार्यं च कुर्वन्तीति । तथाच प्रयोगः । महदादिकार्यं सुखदुःखमोहगुणक-
द्रव्यजन्यं कार्यत्वे सति सुखदुःखमोहगुणकद्रव्यत्वात् । यगैका रूपयौवनशीलवती स्त्री मर्तुः
सुखदा, सपत्नीनां दुःखदा, पुरुषान्तरस्य मोहदेति, तद्वदिति । नच सुखादीनामान्तरत्वेनानुभवात्
क्यादीनां सुखादिगुणकत्वे मानाभावः शङ्कनीयः । स्त्रीचन्दनादिजन्यस्य सुखस्य तत्तदवयवेषु

रश्मिः ।

अत इति धर्मत्वादित्यर्थः । मूलवस्त्वित्यादि क्रतुप्रयोगादिमांसपिण्डाद्युत्तरकालिकं प्रसिद्धमित्यर्थः ।
समवायित्वेत्यादि अन्वयमात्रमित्यर्थः । तदित्यं पूर्वोक्तानुमाने न ब्रह्मणि समवायित्वं सिद्धति तदप्य-
नागन्तुकानारोपितरूपेणानुवर्तनात् । जगति जगत्त्वं खलु जङ्गति परमागन्तुकरूपेणिति जगतो यथा-
न्वयेपि न तत्समवायित्वबाधकत्वमेवं ब्रह्मणोप्यन्वये तु न । समवायित्वमित्येवंविधबाधकत्वं नेत्यर्थः ।
अत्र प्रयोगः ब्रह्म न भूतादिसमवायि अन्वयात् नामरूपादिवत् इति विरुद्धरूपहेत्वाभासोत्थापनेन ।
गुणा इत्यस्यार्थमाहुः सत्त्वेत्यादि । प्रीतीत्यादेरर्थमाहुः सुखेत्यादि । प्रदीपवन्मार्थतो वृत्तवृत्तयः यथा
वर्तितेले अग्नीत्यादि अप्राकरो लेखकरदोषात्पतितः अग्राह्य पूर्वसवर्षदीर्घः । 'ईदूदेहिवचनं प्रवृष्टम्'
इति सूत्रात्प्रवृष्टसंज्ञायां प्रकृतिभावात् । अभिनेति दीपरूपेणेत्यर्थः । चकारार्थमाहुः यथा वेत्यादि ।
सुखेत्यादि । तादृशं द्रव्यं प्रकृत्यात्मकम् । कार्यत्वे सतीति प्रकृतेस्तादृशद्रव्यजन्यत्वापत्तिवारणायै-
दम् । 'प्रकृतिपुरुषयोरन्यत्सर्वमनित्यम्' इति पञ्चमाध्यायस्यसंख्यप्रवचनसूत्रात् । तथाच सत्यन्ताभावे
प्रकृतौ साधारणनैकान्तिकत्वम् । तद्वदितीति व्यतिरेके केवलचेतनवदिति दृष्टान्तः । क्यादीना-
मिति बाह्यानामाधिभौतिकानामित्यर्थः । मानाभाष इति आध्यात्मिकादीनामाधिभौतिकस्यादिधर्मत्वे

भाष्यप्रकाशः ।

बहिरेवानुभवेन तज्जनकेषु रुपादिष्वपि तस्य बहिरेव सत्त्वानिश्चयात् । नच तस्यानुभवस्य आन्तत्वं शक्यवचनम् । तथा सति देहे मे सुखं, शिरसि मे वेदनेत्याद्यनुभवान्तरस्यापि बाधप्रसङ्गात् । एवं तु स्त्रीसुखं चन्दनसुखमित्याद्यमिलापोऽपि युज्यते । आन्तरत्वेनानुभवस्तु मानसश्चैव । एवं सिद्धे तेषां बाह्यत्वे रुपादिसंसर्गेण बहिरेव तेऽभिव्यज्यन्ते । घृतद्रवत्वादिवत् । तथाच प्रयोगः । विमताः सुखादयो न साक्षादात्मधर्माः । बाह्यत्वे सत्यात्मनि प्रतीयमानत्वात् । गौरत्वादिवदिति । तथा, रुपादयः सुखादिगुणकाः सुखादिजनकत्वात् । यद् यज्जनकं तद् तद्गुणकं, प्रकाशशैत्यादिजनकवन्दिचन्दनादिवदिति च । एवं सिद्धे तेषां तद्गुणकत्वे तेषां द्रव्याणां तद्गुणात्मकत्वमप्यनुमेयम् । तथाच प्रयोगः । विमताः सुखाद्यात्मकाः, सुखाद्यविनाभूतत्वात् । तन्मात्राविनाभूतमहाभूतवत् । तथा, सुखादयो द्रव्यद्रव्यमावस्थारूपाः । तदविनाभूतत्वे सति तज्जनकत्वात् । महाभूताविनाभूततज्जनकतन्मात्रवदिति । नच प्रथमे क्षणे द्रव्यं यावद्गुणशून्यमेवोत्पद्यत इति वाच्यम् । प्रत्यक्षबाधितत्वात् । अपाकजस्य रूपादेरुत्पत्तिदृश्यामप्यनुभवात् । एवं सुखादावपि बोद्धव्यम् । पुत्राद्युत्पत्तिकाल एव पुरुषभेदेन सुखदुःखाद्युत्पत्तिदर्शनतस्तस्य बालादेस्तदानीमपि तज्जनकतया तद्गुणकत्वतदविनाभावयोर्निश्चयादिति । एवं मैत्रायणीये, 'तमो वा इदमेकमेवाग्र आसीत् तत्परे स्यात् तत्परेणैतितं विषमत्वं प्रयाति' इति । श्वेताश्वतरेऽपि, 'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः' इति तमःशब्दवाच्यायाः प्रकृतेर्गुणानां च सृष्ट्यादौ सत्ताश्रावणात् पुराणेषु मन्वादिषु

रश्मिः ।

मानाभाव इत्यर्थः । तस्येति । घृतेत्यादि वह्निसंसर्गेत्यादिः । विमता इति रुपादयः सुखादिगुणकाः आध्यात्मिकस्य सुखादेरित्यर्थः । गौरत्वेत्यादिमाखरं गौरत्वमात्मनीति दृष्टान्तः । तन्मात्रेति तेन यद् यदविनाभूतं तत् तदात्मकं इति व्याप्तिः सामान्या । तज्जनकत्वादिति द्रव्यजनकत्वात् । नच रूपादिवदन्यथासिद्धत्वमिति वाच्यम् । घटादिकं प्रति दण्डादिकस्य रूपवन्न भवत्यन्यथासिद्धत्वम् । द्रव्यस्य सुखत्वेनाकारणकत्वापत्तेः कार्यस्य । प्रथमक्षणिकद्रव्यमादाय हेत्वोरंशतः स्वरूपासिद्धत्वमाशङ्क्य पराकुर्वन्ति नच प्रथम इत्यादि । तथाच पक्षैकांशतः हृदे पर्वते चाद्यक्षणवच्छेदेन सुखाद्यविनाभूतत्वरूपहेत्वभावाद् हृदो द्रव्यं धूमादितिवत् पक्षे हेत्वभावात्स्वरूपासिद्धिः सिद्धान्तमुक्तावत्युक्ता, पर्वते सुखादिरूपे आद्यक्षणवच्छेदेन हेतुतावच्छेदकस्य तदविनाभूतत्वसमानाधिकरणतज्जनकत्वरूपस्य गौरवेणाभावात् स्वरूपासिद्धिर्मञ्जर्युक्ता । अपाकेत्यादि पाकोऽग्निप्रयोगः । निश्चयादिति तथाच प्रथमक्षणवच्छेदेनापि द्रव्यस्य सगुणत्वात् न हेत्वोः स्वरूपासिद्धत्वमिति भावः । पुराणेष्विति एकादेशे—

'तमो रजः सत्त्वमिति प्रकृतेरुभवनं गुणाः ।

मया प्रक्षोभ्यमाणायाः पुरुषानुभवेन च ॥

तेभ्यः समभवत्सूत्रं महान् सूत्रेण संयुतः ।

ततो विकुर्वतो जातो योर्हकारो विमोहनः' ॥

इत्यादिष्वित्यर्थः । मन्वादिष्विति ।

'आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।

प्रकृतेरपि स्वमते तदंशत्वात् । अज्ञानात् परिच्छेदाप्रियत्वे । ज्ञानेन बाध-

भाष्यप्रकाशः ।

तथा सरणात् सिद्धे प्रकृतेः तस्यै सर्वस्य त्रिगुणत्वेन गुणमय्याः प्रकृतेरेव समन्वयस्य सिद्धत्वाच्च ब्रह्मणः समवायित्वसिद्धिरित्यत आहुः प्रकृतेरित्यादि ।

'आसीज्ज्ञानमथो ह्यर्थं एकमेवाविकल्पितम् ।

यदा विवेकनिपुणा आदौ कृतयुगेऽयुगे ॥

तन्मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितम् ।

बाह्यनोभोचरातीतं द्विधा समभवद् ब्रह्मत् ॥

तयोरेकतरो ह्यर्थः प्रकृतिः सोमयात्मिका ।

ज्ञानं त्वन्यतमो भावः पुरुषः सोऽभिधीयते' ॥

इत्याद्येकदशस्कन्धीयमगवद्वाक्यैस्तस्या अंशत्वे जन्यत्वे च निश्चिते तद्रूपस्याप्यागन्तुकत्वेन तदन्वयस्यापि समन्वयत्वाभावाच्च तेन ब्रह्मणः समवायित्वमङ्ग इत्यर्थः । ननु भवत्वेवं, तथापि तदन्वयस्य सांख्यैः साधितत्वात् तेनैव रूपेण ब्रह्मान्वयोऽस्तु किमस्त्यादिरूपान्वयाग्रहेत्याशङ्क्यामाहुः अज्ञानादित्यादि । अयमर्थः । प्राकृती या प्रीतिः सा आज्ञानिकी, न तु वास्तवी । तत्र गमको देशतः कालतश्च परिच्छेदः । यथा कस्यचित् किञ्चित् प्रियं किञ्चिच्च । तदपि कदाचित् प्रियं, कदाचिच्च । तथा सति तस्या औपाधिकत्वम् । मैत्रेयीब्राह्मणे तथैव सिद्धत्वात् ।

रश्मिः ।

अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रमुसमिव सर्वतः ।

ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्नदम् ।

महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोतुदः' ॥

इत्यादिष्वित्यर्थः । प्रकृतेरेवेति अस्त्यादीनामपि प्राकृतत्वसंभवादेवकारः । न ब्रह्मण इति ब्रह्म न समवायि सत्त्वादिना समन्वयादिति । अस्त्यादिसमन्वयरूपहेतोः सत्त्वतिपक्षत्वात् तथा । ज्ञानमय इति 'ज्ञानमथो ह्यर्थः इत्यपि पाठः । कात्स्न्यमथोऽन्वयार्थः । अयुग इति युगेभ्यः पूर्वं प्रलये चेत्यर्थः । तन्मायेत्यादि माया तत्फलं दृश्यं सर्वं तद्रूपेणेत्यर्थः । उभयात्किमेति कार्यकारणरूपिणीत्यर्थः । तद्रूपस्येति मायारूपस्य सत्त्वरजस्तमोरूपस्य धर्मस्येत्यर्थः । समवायित्वमङ्ग इति । एतच्च चतुर्थपादे 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादध्यान्तानुपरोधात्' इत्यधिकरणे स्फुटम् । यद्यप्येवं ब्रह्मणः समवायित्वे सिद्धे परिच्छेदाप्रियत्वे विरुद्धे इत्याशङ्क्याहुः अज्ञानादिति । इत्येवं तथापि ब्राह्मणानां संतोषो न भवति सुगमव्याख्यान इति विस्तरेणाहुः ननु भवत्स्वित्यादिना । तदन्वयस्येति प्रकृतत्वान्वयस्येत्यर्थः । तेनैवेति प्राकृतप्रियत्वादिरूपेणेत्यर्थः । देशतः परिच्छेदाद्वाहुः यथेत्यादि । कालतः परिच्छेदमाहुस्तदपीत्यादि । तस्या इत्यादि प्रीतिर्धनसौन्दर्यादिशुक्लद्रव्यदेशशुद्धादुद्भेदकालरूपोपाध्याहितत्वमित्यर्थः । मैत्रेयीत्यादि । एतच्च चतुर्थपादे वाक्यान्वयाधिकरणे स्पष्टम् । तथा चाज्ञानाद्ब्रह्मात्मकानन्दे परिच्छेदोऽप्रियत्वं च लोके भवतो न तु प्राकृतं प्रियत्वमस्ति, तथाच श्रुतिः 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रासुपजीवन्ति' इति । तथा च प्राकृतप्रियत्वस्यैवाभाव इति दूरे तेन रूपेण समन्वय इति भावः । व्यतिरेकगुणत्वेन ज्ञानेन

भाष्यप्रकाशः ।

वास्तवस्य नैसर्गिकतायां वस्तुसद्भावे ज्ञानेन तद्वाधायोगाच्च । अतो वास्तवं प्रियत्वमात्मन्येवे-
त्वात्मन एव दर्शनादिकमावश्यकमिति बोधयित्वा 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इत्यनेन सर्वस्वात्मा-
भिन्नत्वं श्रावयति । तथा तैत्तिरीये, 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' इत्युपक्रम्य, 'एतत् इ वा च न तपति
किमहं साधु नाकरत्वं किमहं पापमकरत्वम्' इति 'स य एवं विद्वानेते आत्मानं स्पृणुते' इत्या-
त्मत्वानुसंधानेन तत्कृततापामावृत्तं च श्रावयति । अत एव आत्मानन्दज्ञानेन प्राकृतिकप्रियत्वाद्वा
बाधदर्शनाच्च तदुपेक्षान्वय आद्रियते किं त्वात्मत्वेन । सर्वसिद्धिरूपविप्रियत्वस्य बोधनाद्वाधि-
तेनैव रूपेण श्रुत्यविरोध इति तदन्वय एवाद्रियत इत्यर्थः । ननु यद्येवं तदा ज्ञानात्ममपि नादर-
रक्षितः ।

बाधदर्शनादिति भाष्यं विवृण्वन्ति वास्तवस्येत्यादि । भाष्ये । सुगमव्याख्या त्वेवं बोध्या ।
तथाहि । प्रतिपादितोऽस्ति भातिप्रियत्वेन ब्रह्मसमन्वयोऽनुपपन्नः परिच्छेदाप्रियत्वयोर्दर्शनादित्याद्यज्ञाहुः
अज्ञानादित्यादि । तथा च न ते वास्तवे इति तत्प्रतीतावपि न समन्वयानुपपत्तिरित्यर्थः । किंच
नायं नियमो यदुपादानधर्माणं उपादेये भानमिति । विभागेनापरिच्छेदतितोभावस्य सांख्येप्य-
ङ्गीकारात् । संयोगेन महत्त्वस्य नैयायिकैरप्यङ्गीकाराच्च । तयोरेवास्तवत्वे हेतुमाहुः ज्ञानेनेत्यादि ।
वाचारम्भणवाक्योक्तरीतिकज्ञानेन विकल्पबुद्धेर्बाधस्य श्वेतकेत्यादिषु दर्शनादित्यर्थः । प्रकृते ।
सिद्धमाहुः अत इत्यादि यतः सर्वत्रौपाधिकी सा, अत इत्यर्थः । बोधयित्वेति सहोवाचे-
त्याद्यनुवाकद्वयं 'न वा अरे' इत्यारभ्य 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो
मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्' इत्यनेन बोधयित्वा 'ब्रह्म तं
परादात्' इत्यारभ्य 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इत्यनेनाशेन सर्वस्वात्माभिन्नत्वं श्रावयतीत्यर्थः । तथाचा-
न्यत्र प्रतीयमानं प्रियत्वं तदंश इति भावः । एतमित्यादि पूर्वोक्तानन्दविदं न तपति नोद्वेजयति
समे एते साध्वसाधुनी एवं तापहेतु इति विद्वान् आत्मानं स्पृणुते स्नेहयतीत्यर्थः । स्पृ प्रीतिपालनयोः
स्वादिः । बाधदर्शनादिति 'किमहं साधु नाकरत्वम्' इत्यादिश्रुतेस्तथेत्यर्थः । बोधनादिति 'न वा
अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति' इत्यादिना बोधनादित्यर्थः ।
एवाद्रियत इति एवकारेण ब्राह्मणां सत्त्वरजस्तमसां व्युदस्तिः । तथाहि । माभूत् प्राकृतसत्त्वरजस्तमो-
रूपेण ब्रह्मान्वयः परंतु ब्राह्मतरङ्गेण तु स्यात् ।

'सत्त्वं रजस्तम इति निर्गुणस्य गुणास्त्रयः ।

स्थितिसर्गनिरोधेषु गृहीता मायया विभोः' ॥

इति बाधयात् मैवम् । एतेषामप्यागन्तुकत्वादेतस्य सुबोधिन्यां सद्रूपेण निर्गतं सत्त्वमि-
त्युच्यते, केवलचिद्रूपेण निर्गतं क्रियाशक्तिप्रधानत्वात्सदानन्दानन्दाभावाच्च रज इत्युच्यते, आनन्दां-
क्षाच्च तमः, ते भगवद्रूपा एव भगवता सृष्टाः । न च ते पूर्वं भगवति स्थिताः इति प्रतिपादनात् ।
अवाधितेन नानात्वेन धर्मेण प्रकृतेरेववात् तस्या अपि समवायित्वं निर्दुष्टमित्याद्यज्ञानुत्वेनाभासमाहुः
नन्वित्यादि । भयवा ननु यदि ब्रह्मोपादेयता प्रपञ्चे स्यात् तदा ब्रह्मण एकरसत्वेन तथे-

दर्शनात् । नानात्वं त्वैच्छिकमेव । जडजीवान्तर्यामिष्वेवैकैकांशप्राकृत्यात् ।
कथमेवमिति चेत् । न । सद्रूपे घटरूपक्रियास्त्रिषु तारतम्येनाविर्भावश्च जडेपि
भानत्वादिप्रतीतेस्तारतम्येनाविर्भावोऽङ्गीकर्तव्यः । भगवदिच्छाया नियाम-
कत्वात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

भीयम् । तस्यापि प्राकृतिकत्वादित्यत आहुः नानात्वमित्यादि । 'बहु स्वात्' इति श्रावणात् तत्र
प्राकृतिकमित्यर्थः । ननु यदीदमप्राकृतं स्यादप्रास्त्याद्यंशप्रयानुश्रुतिरनुभूयेत, सा तु न दृश्यतेऽतो
न तथेत्यत आहुः जडेत्यादि । अहे सदंशस्य, जीवे 'ज्ञानं त्वन्यतमो भावः' इति बाधयाज्ज्ञानांश-
स्यान्तर्यामिष्यानन्दांशस्य प्राकृत्यात् । तथाच प्राकृत्याभावहेतुकमदर्शनं नानुश्रुतिबाधकमित्यर्थः ।
अत्र बोधयति कथमित्यादि । सर्वत्र त्रितयसद्भावेऽपि तत्र तत्रैकैकांशप्राकृत्यं कयोपपत्त्याङ्गी-
क्रियत इत्यर्थः । अत्र समादधते नेत्यादि । एवमाक्षेपो न युक्तः । यतोऽस्तीतिप्रत्ययगोचरे सद्रूप
एकसिद्धेर्बाधे घट इति गुणित्वेन, रूपमिति तदुपसर्जनतया गुणत्वेन, क्रियेति त्रिसुभावावस्थाधि-
तयाऽऽश्रुतरविनाशित्वेन यथा सदंशस्य तारतम्येनाविर्भावस्तथा जडेऽपि भानत्वप्रियत्वयोस्तार-
तम्येनाविर्भावोऽङ्गीकार्यः । नन्वेवमङ्गीकारे का वा युक्तिरिति चेद् उच्यते । श्रीभागवते कंसस्या-
रिष्टदर्शनस्यले, 'अदर्शनं स्वशिरसः प्रतिरूपेषु सत्त्वपि' इत्यासन्नश्रुत्योः शिरःप्रतिविम्बादर्श-
नशुक्तम् । तथा द्वितीयस्कन्धे, 'प्राणं च गन्धः' इत्यादिवाक्यैरिन्द्रियाणां सजातीयग्राहकत्वं च
बोधितम् । एवं सत्युक्तस्यले यच्छिरसोऽग्रहणं तत्र हेतुत्वेन विषयस्य चक्षुषो वा आवरणं
वक्तव्यम् । तत्र न शिरसः । तस्यान्येन दर्शनात् । नापि चक्षुषः । तदानीं तेन विषयान्त-
रदर्शनात् । अत उभयोपपत्त्यर्थं विषयनिष्ठज्ञानांशस्य तच्चक्षुः प्रत्येवावरणमिति वक्तव्यम् । एवं
लोकज्ञानस्यले वैषयिकज्ञानांशवरणम् । सदंशावरणे तु स्यान्नमपि तस्य न स्यादिति । एवमेकत्र
रश्मिः ।

त्यर्थः । न प्राकृतिकमिति तथा च तेन रूपेणापि ब्रह्मण एवान्वयाच्च प्रकृतिसमन्वय इति
भावः । ऐच्छिकत्वेनागन्तुकत्वाच्च समन्वयः । अत्रेति ऐच्छिकनानात्वावच्छिन्ने जगतीत्यर्थः ।
न दृश्यत इति । किं तु सदंशमात्रस्य दृश्यत इत्यर्थः । न तथेति नानात्वप्राकृतिकं नेत्यर्थः ।
अदर्शनमिति चिदानन्दयोरित्यर्थः । क्रियेतीति कृतिजन्या क्रियेति प्रथमं भगवदिच्छाया क्रिया,
ततो द्वितीयक्षणे स्थितिः, ततस्तृतीयक्षणेऽसंयोगेनाश्रुतरविनाशित्वं ज्ञेयम् । प्रतिरूपेष्विति
दर्पणादित्यर्थः । विषयस्य न संगवतीत्याहुः तत्र नेत्यादि । चक्षुष इति करणस्य । तदानीमिति
स्वप्नकाल इत्यर्थः । उभयोपपत्त्यर्थमिति स्वस्य शिरःप्रतिविम्बादर्शनविषयकरणोभयतः अग्राह-
कत्वं चक्षुर्दोषस्तस्योपपत्त्यर्थमित्यर्थः । तच्चक्षुरिति स्वप्नदृष्टव्यमित्यर्थः । एवं लोकेत्यादि ग्राह-
कत्वेन तमन्यो न पश्यति तादृशस्यल इत्यर्थः । सर्वोपि तं न पश्यतीति शरीरावरणमेव तत्र वक्तव्यं
किं ज्ञानांशवरणकल्पनयेत्यत आहुः सदंशेत्यादि । स्पर्शानमिति प्रत्यक्षमित्यर्थः । एवं
सदंश उपपाद्य ज्ञानप्रियत्वांशयोराहुः एवमेकत्रेति सदंशे । अन्यत्र ज्ञानांशे । तथेति नित्यज्ञानरूपे
भानरूपक्रियास्त्रिषु तारतम्याभावेपि विषयताविषयकज्ञानेन ज्ञानमिति गुणित्वेन रूपमिति तदुप-

भाष्यप्रकाशः ।

ज्ञानांशसिद्धावन्यत्रापि तथा सिद्ध्यति । एवं प्रियत्वान्नेऽपि बोध्यम् । यद्वा पदार्थमात्रस्य ज्ञानेनैव प्रकाशज्ञानजनकत्वाच्च सांख्योक्तप्रकारेणैव ज्ञानाविनाभावसिद्धौ ज्ञानात्मकत्वस्यापि सिद्धिः । परंतु तत्र जडे सर्वशब्दत् प्रकटम् । सन् घटाः, सन् पट इतिवज्ज्ञानं घट इति सामानाधिकरण्याप्रतीतिः । प्रियत्वे तु ततोऽप्यप्रकटम् । तत्तदसाधारणत्वात् । जीवे तु चिदंशस्यापि प्राकट्यम् । चेतनत्वेनैव सदा प्रतीयमानत्वात् । सर्वशब्द न्यग्भूतः । विशेषणतयैव प्रतीयमानत्वात् । प्रियत्वं तु ततो न्यग्भूतम् । उक्तयुक्तेः । अन्तर्यामिणि तु प्रियत्वमेव मुख्यमन्यदुमयं न्यग्भूतम् । तद्द्रष्टृणां प्रियत्वेनैवानुभवगोचरत्वादिति । अत्र निर्यामिका तु, प्रजायेयेति भगवदिच्छैव । अन्यथा पूर्वोक्ताकारेणैव नानामावात् सृष्टिसिद्धावेतदाकारान्तररहिमः ।

सर्जनतया गुणत्वेन क्रियेति शिक्षणावस्थायित्वेन आशुतरविनाशितया ज्ञानांशस्य तारतम्येनाविर्भावः । ज्ञानस्य विषयताविषयकस्य शिक्षणावस्थायित्वात् । तदुक्तं तथा सिद्ध्यतीति । प्रियत्वेति दिशन्तिस्म एवमिति । बोध्यमिति पुत्रादौ बोध्यमित्यर्थः । आत्मनि प्रियरूपे प्रियरूपक्रियास्विव तारतम्याभावेऽपि पुत्रादौ प्रिये प्रिय इति गुणत्वेन रूपमिति तदुपसर्जनतया गुणत्वेन क्रियेति शिक्षणावस्थायित्वेनाशुतरविनाशितयाऽऽनन्दांशस्य तारतम्येनाविर्भावः । यथा सूर्ये रूपं श्यामं सूर्यत्वं च तदाच्छादिका क्रिया शिक्षणावस्थायिनी । दीपादावपि प्रसिद्धम् । अन्यव्यतिरेकाभ्यामित्यस्य सुबोधिन्यनुसारेण पक्षान्तरमाहुः यद्वेत्यादि । ज्ञानेनैवेत्यादि घटो भासत इत्यादिप्रतीतिस्वयैत्यर्थः । ज्ञानजनकत्वादिति विषयविषयेति बोध्यम् । सांख्योक्तेत्यादि । घटादयो ज्ञानगुणकाः ज्ञानजनकत्वात् प्रकाशशैत्यादिजनकवह्निचन्दनादिवदित्यनुमानेनेत्यर्थः । ज्ञानात्मेत्यादि विमता घटादयः ज्ञानात्मकाः ज्ञानाविनाभूतत्वात् । तन्मात्राविनाभूतमहाभूतवदित्येवं ज्ञानात्मकत्वस्यापीत्यर्थः । किंच चित्तं व्यापकं घटादिवृत्ति वा मुख्यब्रह्मधर्मत्वात्, सत्त्ववत् इति । पटादौ व्यभिचारवारणाय मुख्येति हेतुविशेषणम् । सत्यादित्रयान्यतमत्वं तदर्थः । तथाच मुख्यब्रह्मधर्मत्वेन व्यापकत्वेन घटादिवृत्तित्वेनानुकूलसर्क एव युक्तिः । सामान्येत्यादि भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वे सत्येकार्थबोधकत्वं सामानाधिकरण्यं तदप्रतीतिरित्यर्थः । प्रियत्वमिति प्रीतिजनकत्वदर्शनेन । घटादयः, प्रियत्वगुणकाः प्रीतिजनकत्वात्, प्रकाशशैत्यादिजनकवह्निचन्दनादिवत् । घटादयः प्रीत्यात्मकाः प्रीत्याविनाभूतत्वात् । तन्मात्राविनाभूतमहाभूतवदित्यनुमानाभ्यां घटाद्यात्मकं प्रियत्वमित्यर्थः । किंच प्रियत्वं व्यापकं घटादिवृत्ति वा मुख्यब्रह्मधर्मत्वात् सत्त्ववदित्यपि ज्ञेयम् । आनन्दो घट इत्यप्रतीतिस्तु तमस्यभावत्वाप्रतीतिवत् । सिद्धान्तमुक्तावलीटीकायां स्फुटमेतत् । तच्चदित्यादि इन्दुक्याद्यसाधारणधर्मत्वादित्यर्थः । न्यग्भूत इति गुणभूत इत्यर्थः । उक्तयुक्तेरिति तत्तदसाधारणत्वादित्यर्थः । तद्द्रष्टृणामिति 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इति श्रुतेर्भृगवादीनामित्यर्थः । भगवदित्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति अत्रेत्यादि । सा तु यथाकार्यं भगवदिच्छानुमेयेति भावः । पूर्वोक्तेत्यादि 'एकोहं बहु स्माम्' इतीच्छाकारेणैव । नानाभावात्सृष्टिसिद्धावेतदाकारान्तरकथनस्य 'प्रजायेय' इतीच्छाकारान्तरकथनस्य

भाष्यप्रकाशः ।

कथनस्य वैयर्थ्यापत्तेः । उच्चनीचभावादिनाऽऽविर्भावस्यैव प्रकर्षपदार्थत्वेन विवक्षितत्वादिति । एतेन इष्टत्वादिप्रतीतिवत्पि भगवदिच्छैव हेतुरिति न तथापि समवायित्वे दोषप्रसक्तिः । श्रीडार्थ तयैव इन्द्रपुत्रादानात् । एतदप्येकादशस्कन्धीयविशैकविंशत्तथाप्यायसैर्गुणदोषदर्शनस्य कर्मनियमार्थत्वबोधकत्वाक्यैरवसीयत इति नात्रापि शङ्कालेशः । अत एव न कश्चिदपि कुत्सितत्वं ब्रह्मविदां मासते । अत एवैकादश एवोक्तम्,

'किं वर्णितेन बहुना लक्षणं गुणदोषयोः ।

गुणदोषदक्षिणोपो गुणस्तुभयवर्जितः' इति ॥

नचैवं ब्रह्मणः समवायित्वे, 'सैवाऽविद्या जगत् सर्वम्' इत्यादितापिनीयश्रुतिविरोधः शङ्क्यः । तस्मात्प्रे, न विलक्षणत्वाधिकरणे समाधेयत्वात् । तत्रापि तस्मादात्मन एव त्रैविध्यं सर्वत्र योनि-त्वमपीतिवक्ष्यमाणत्वादिति । अत एव श्रीभागवतारम्भस्योक्तेऽपि ब्रह्मणः समवायित्वं रहिमः ।

वैयर्थ्यापत्तेरित्यर्थः । विवक्षितत्वादितीति 'गर्दभीतरामवहर्दम इतरः' इति श्रुत्यन्तरे तथादर्शनादिति भावः । इतरा शतरूपा, इतरो मनुः । भाष्योक्तहेतुसमासावितिशब्दः । एतेनेति एतादृशप्रकर्षपदार्थेनेत्यर्थः । श्रीडार्थमिति एतच्च द्वितीयेध्याये 'लोकवत्तु लीलकैवल्यम्' इति सूत्रे स्पष्टम् । कर्मनियमेत्यादि ।

'विचित्र प्रतिषेधश्च निगमो हीश्वरस्य ते ।

अवेक्षतेरविन्दाश्च गुणं दोषं च कर्मणाम्' ॥ इत्यादिना

गुणदोषदक्षिणोपो गुणस्तुभयवर्जितः' इत्युक्तमाक्षिप्तम् । ततो भगवता

'स्वै स्वेधिकारे या श्रद्धा स गुणः परिकीर्तितः ।

कर्मणां ज्ञान्यशुद्धानामनेन नियमः कृतः ॥

गुणदोषविधानेन सन्नानां त्याजनेच्छया' इति विशेषे, एकविंशे च

'शुद्धशुद्धी विधीयेते समानेष्वपि वस्तुषु ।

द्रव्यस्य विचिकित्सार्थं गुणदोषां शुभाशुभौ ॥

धर्मार्थं व्यवहारार्थं यात्रार्थमिति चानघ ।

दक्षितोयं मयाचारो धर्मशुद्धतां धुरम्' ॥

इति कर्मनियमार्थत्वबोधकत्वाक्यैः श्रीडार्थत्वमवसीयत इत्यर्थः । वाक्यार्थस्तु श्रीधर्यां स्फुटः । शङ्कालेश इति एतच्च द्वितीयाध्याये स्फुटतरमिति न शङ्कालेश इत्युक्तम् । कश्चिदिति लोके कुत्सितत्वेन प्रतीयमानेपीत्यर्थः । ब्रह्मविदामिति निरस्ताविधानां भरतादीनामित्यर्थः । साविधानां प्रतीतिस्त्वविद्याकृतेति न प्रपञ्चवास्तविककुत्सितत्वसंशयानायालम् । शङ्कादौ वास्तवपीतत्वसंशयाने सक्रमलस्य प्रतीतिरिति भावः । एकादश इति एकोनविंश इत्यर्थः । अत्रे इति द्वितीयाध्याय इत्यर्थः । तत्रापीति तापिनीय इत्यर्थः । त्रैविध्यमिति ब्रह्मविष्णुशिवरूपत्वमित्यर्थः । इतिवक्ष्यमाणत्वादिति इत्यात्मनः समवायित्वस्य वक्ष्यमाणत्वादित्यर्थः । समवायित्वमिति अभिन्ननिमित्तोपादानत्वयोर्मध्य इत्यर्थः । अतोऽभिन्ननिमित्तोपादानं जगद् ब्रह्मकारणक-

नच साधारण्येन सर्वजगत् प्रति परमाण्वादीनामन्वयः संभवति ।

भाष्यप्रकाशः ।

ग्राहयितुं, 'जन्माद्यस्य यतोऽन्वयात्' इत्यनेनान्वय एव हेतुत्वेनोक्तः । नच तत्रेतरत् इत्यनेन व्यतिरेकस्याप्युक्तत्वात् तस्मात् कुतो नोक्तिरिति शङ्क्यम् । ब्रह्मणो व्यापकत्वेनाभावरूपस्य व्यतिरेकस्याभावाद्द्विशेषेणातिरिक्तत्वरूपो व्यतिरेकः कृत्स्नप्रसक्तिवारणायात्र विवक्षितः । स त्वनारोपितानागन्तुरूपबोधकेन समुपसर्गेणैव बोधित इत्यतः पृथगनुक्तेः । एवं चतुःश्लोक्या-
भ्यन्वयव्यतिरेकाम्यामित्यत्रापि बोध्यम् । एतदेवैकादशस्कन्धीये,

'यथा हिरण्यं सुकृतं पुरस्तात् पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्यमयस्य ।

तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं नानापदेशैरहमस्य तद्वत्' ॥

इति वाक्येऽपि निष्कृष्य दृष्टान्तेन बोधितं ज्ञेयम् । प्रकृतमनुसरामः । नन्वेतादृशोपपादन-
सापेक्षब्रह्मान्वयोपगमापेक्षया तदनपेक्षः परमाणूनां भूतानां वान्वयो ज्यायान् प्रतिपत्तिसौकर्यात् । तदर्थमेव सर्वेषां प्रयत्नादित्याशङ्क्यामाहुः नचेत्यादि । परमाण्वादीनामित्यादिपदेन, 'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा' इति श्रुत्युक्तानां कालादीनां संग्रहः । जगदन्तःपातियु दिगाकाशादियु परमाणूनामन्वयाभावात् । तेषां नित्यत्वाम्युपगमेऽपि स्वभावान्वयस्त्ववश्यं वाच्यः । एवं मतान्तरे कालस्य प्रकृतेश्च वाच्यः । तथा सति विप्रतिपन्नानामनेकेषां परमाणूनां चानेकेषाम-
रक्षिः ।

मित्युक्तं भवतीति सुबोधिनीस्वारस्यात् । अत एव तथा चैवं विचारे ब्रह्मणः सर्वविधं कारणत्वं श्रुतिवाक्याभ्यां प्रमाणाभ्यां सिद्धमिति भाष्ये वक्ष्यते । व्यतिरेकस्येति निमित्तकारणत्वरूपस्ये-
त्यर्थः । व्यतिरेक इति निमित्तकारणमित्यर्थः । इतरन् निमित्तकारणमिति सुबोधिनीस्वारस्यात् । कारणत्वे सति विशेषेणातिरिक्तत्वं निमित्तस्यैवेति । स त्विति निमित्तकारणरूपो व्यतिरेक इत्यर्थः । अनारोपितेति 'विषवृद्धोपि संवर्धं स्वयं छेतुमसांप्रतम्' इत्यत्र असांप्रतमित्यस्य न युज्यते इत्यर्थान् निपातानां वाचकत्वमपीष्टमिति भावः । वस्तुतस्तु द्योतकेनेत्यर्थः । अनागन्तुकनारोपित-
रूपस्य व्यञ्जनया बोधकेनेत्यर्थात् । बोधित इति व्यतिरेके सति ब्रह्मणो जगत्सन्वयः स्यात्-
दैव समन्वयः, अस्त्यादिनान्वयः । अन्यथा तु कृत्स्नस्य ब्रह्मणो जगत्प्रसक्तिरिति समन्वयो न स्यादिति भावः । एवं चतुरिति एतच्चैतस्य सुबोधिनीयां व्याख्यातं प्रागुक्तं च । तदर्थमिति समन्वयसंपादनार्थमित्यर्थः । काल इत्यादि श्वेताश्वतरेऽस्ति । तेषामिति दिगाकाशादीनाम् । नित्यत्वेत्यादि तच्चैकं विशु नित्यं चेति तर्कसंग्रहे इत्यभ्युपगमपदम् । स्वभावान्वयो निलेष्वपि वाच्य इत्यर्थः । अन्यथा शब्दगुणकत्वं न स्यात् । मतान्तर इति व्याहृति ब्रह्मवादे सांख्ये चेत्यर्थः । व्याहृति ब्रह्म कालः द्वितीयाध्याये दशमस्य कालात्मा संकर्षण उक्तः । स वेदः । काल उपदेश इति धातुपाठात् । आत्मशब्दस्तु 'कालोस्मि' इति गीतावाक्यात् । मतं तु

'प्रथमं महतः सृष्टुं द्वितीयं त्वण्डसंस्थितम् ।

तृतीयं सर्वभूतस्यं यज्जात्वा मुच्यते बुधः' ॥

इत्यत्र व्याहृति ब्रह्म । अण्डसंस्थितं द्वितीयम् । वाच्य इति अन्वयो वाच्यः । एक-
स्मिन्नित्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति तथा सतीत्यादि । विप्रतिपन्नानामिति दीपितिकृ-

एकस्मिन्ननुस्यूते संभवत्यनेककल्पनाया अन्याय्यत्वात् । लोके कर्तृविशेषवदु-
पादानविशेषग्रहणेऽपि न ब्रह्मणि व्यभिचारः । अलीकप्रतीतेऽस्तित्वादिप्रती-
तावपि सम्यगन्वयाभावात् कार्यत्वव्यभिचारौ । तस्माद् ब्रह्मण एव समवा-
यित्वम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

न्वयकल्पनस्य न्यायविरुद्धत्वं प्रतिपत्त्यसौकर्यात् । किंत्वेकस्मिन् ब्रह्मणोऽन्वये संभवति
तस्यैवानुस्यूतस्य समवायित्वं युक्तमित्यर्थः । एकस्मिन् समवायिनीति वार्थः । नन्वेक-
समवायिकल्पनस्यान्याय्यत्वे मृत्तन्वादेरपि समवायित्वं न स्यात् । तथाच प्रत्यक्षविरोध इत्यत
आहुः लोक इत्यादि । तथाच यथा लोके कुलादीनां चतुर्भूत्वान्तानां कर्तृत्वेऽपि तत्तन्मते
प्रकृतेरीश्वरस्य च सर्वनियामकत्वात् कर्तृत्वं हीयते एवं लोके तन्वादीनां परमाण्वन्तानां
प्रकृत्यन्तानां बोधादानत्वेन ग्रहणेऽप्यसन्मते ब्रह्मणो मूलकारणत्वात् समवायित्वहानिरित्यर्थः ।
ननु शुक्तिरजतादौ स्वाभिकेषु चास्तित्वं प्रतीयत इति तेषु सदन्वयो वक्तव्यस्तथा सति तस्यापि
ब्रह्मकार्यत्वे जगत्सुखतया सत्यत्वं स्यात् । तनु विशेषदर्शनबाधितत्वादशक्यवचनम् । तत्र
न तस्य ब्रह्मकार्यत्वमपि । अतोऽकार्येऽपि सदन्वयात् तेन ब्रह्मणः समवायित्वसिद्धिरित्यत आहुः
अलीकेत्यादि । तथाचान्वयस्य न गमकत्वमपि तु समन्वयस्य । समन्वयस्त्वनारोपितानागन्तु-
करूपेणान्वयः । अलीकप्रतीतरजतादौ तु सत्ता आरोपितेति सत आरोपितरूपेणान्वयात् तस्य
ब्रह्मकार्यतागमकत्वम् । तस्यैवाभावाच्च न ब्रह्मणोऽपि समवायित्वव्यभिचार इत्यर्थः । सिद्धमाहुः
तस्मादित्यादि । नामरूपयोः कर्मणः सुखदुःखमोहानां चागन्तुकत्वेन, परमाण्वादीनां चासाधारण-
त्वेन, कालादेस्तथात्वे विप्रतिपन्नत्वेन, अलीकप्रतीतेः सत्त्वस्वारोपितत्वेन तेषामन्वयस्यासम्यक्तया
प्रकटाप्रकटानां वास्तविकानां सच्चिदानन्दानामेव समन्वयाद् ब्रह्मण एव समवायित्वं निश्चयमि-
रक्षिः ।

तापि परमाणुद्वणुकयोश्च प्रमाणाभाव इति वदता त्रसरेणावेव विश्रान्त्यङ्गीकारेण संदिग्धा-
नामित्यर्थः । यदा चकारात् विशेष्यविशेषणभावोऽतो विप्रतिपन्नानां कालादीनाम् । विप्रतिप-
त्तिर्नैयायिकप्रसिद्धा । अनेकेषामिति परमाणुस्वभावकालादीनामित्यर्थः । प्रतिपत्तीत्यादि
गौरवात्तथेत्यर्थः । कालादीनां तु किं कारणं ब्रह्म कुतोऽस्य जाता जीवाम इति कारणजिज्ञा-
सायां 'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्' इति श्रुतावेव
चिन्त्यत्वनिर्वचनादेव कारणत्वस्य निरासादिति । एकस्मिन्निति अत्र संभवतीत्यन्तेन एकस्मिन्ननु-
स्यूते संभवतीति भाष्यं विवृतम् । तस्यैवेत्यादिनामेककल्पनाया अन्याय्यत्वादिति भाष्यस्य
फलितार्थकथनमिति बोध्यम् । तत्तन्मत् इति सांख्यनैयायिकादिमत इत्यर्थः । समन्वयलक्षण-
स्यानारोपितपदकृत्यं वक्तुं हेतोर्व्यभिचारित्वं शङ्कासुखेनाहुः नन्वेत्यादि । विशेषदर्शनेत्यादि
दोषनिवृत्तौ नेदं रजतमिति नेमे स्वाभिका इति च विशेषदर्शनेत्यर्थः । तत्रश्वेत्यादि सत्यत्वा-
भावाच्चेत्यर्थः । तेनेति व्यभिचरितेन समन्वयेन हेतुनेत्यर्थः । ब्रह्मण इत्यादि उभयपक्षेपीति
बोध्यम् । आरोपितेति पूर्वमसत्त्वात्तथेत्यर्थः । तस्येति आरोपितरूपेणान्वयस्येत्यर्थः । ब्रह्म-
कार्यतेति अनुमानपक्षेनेदमुक्तम् । भाष्ये तु व्याख्यानपक्ष इति न गमकशब्दः । तेन ब्रह्मकार्य-
तासाधकत्वमित्यर्थः । न कार्यत्वव्यभिचाराविति भाष्यीयकार्यत्वशब्दं व्याकृत्य व्यभिचारशब्दं
व्याकुर्वन्तिस्य तस्यैवेत्यादि । आरोपितरूपेणान्वयस्य शुक्तिरजतादिवदभावाच्चेत्यर्थः । व्यभिचारो
हानिः । असाधारणत्वेनेति आकाशाद्यवृत्तित्वेन तथेत्यर्थः । तथात्वे इति कारणत्व इत्यर्थः ।

एतत् सर्वं श्रुतिरेवाह । 'स आत्मानं स्वयमकुरुते' इति । निमित्तत्वं तु स्पष्टमेव सर्ववाचितं मतम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

स्यर्थः । नन्वेवं वादिविसंमतप्रदे किं बीजमत आहुः एतदित्यादि । पूर्वाधिकरणोक्तं कर्तृत्वं शास्त्रप्रमाणकत्वम्, एतदधिकरणोक्तं समवायित्वं च कर्तृकर्मत्वबोधकविभक्तिभ्यामेकस्यैव श्रुतिर्वदतीत्येतदेव बीजमित्यर्थः । अन्यथा श्रुतावुपचारापत्तेः । एवं च, यत इत्यत्र हेतौ या पञ्चमी सा, 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' इत्यत्र प्रकृतिपदेन समवायिरूपं कारणं परामृश्य विहितेति निमित्तवदुपादानमपि सैव वक्तीति वाचकशब्दश्रवणमप्रत्यूहम् । तथाचैवं विचारे ब्रह्मणः सर्वविधं कारणत्वं श्रुतिवाक्याभ्यां प्रमाणाभ्यां सिद्धम् । तत्र स्वस्यैव समवायित्वेन कर्तृदोषभूतमनासकामत्वं, क्रियाज्ञानयोः सातिशयत्वं च वारितम् । कर्मणि आत्मपदेनाविकृतत्वबोधनाद् विकृतत्वं च वारितम् । तेन दोषरहिता ब्रह्मणः सर्वविधा कारणतेत्यनेनाधिकरणेन निर्णीतम् । समन्वयपदव्याख्यानेनात्र समवायस्वरूपमपि बोधितम् । अनारोपितानागन्तुकरूपेणानुवृत्तिरेव समवाय इति । इदमेव च तादात्म्यम् । आगन्तुकरूपेण भेदसहिष्णुत्वेऽप्यनागन्तुकरूपेणामेदादिति । न तु

रश्मिः ।

ऋत्विजादि ताभ्यां विभक्तिभ्यामित्यर्थः । अन्यथेति पूर्वोक्तत्रयानङ्गीकार इत्यर्थः । उपचारेति । तदिति तच्छब्दे । कर्ता वाच्यः समवायमिन्नकर्तारि लक्षणापत्तेरित्यर्थः । परामृश्येति प्रकृतिपदमुपादानमात्रपरमिति भाष्यकैव्यटमतिमिति मनोरमायामुक्तत्वात् तथेत्यर्थः । निमित्तवदिति वृत्तिकृन्मते प्रकृतिपदस्य हेतुमात्रपरत्वादिति भावः । सैव वक्तीति 'जायमानस्य हेतुरपादानं स्यात्' इति वृत्तौ हेतुपदं भाष्यकैव्यटसंमत्या स्वभावेन चामिन्ननिमित्तोपादानं वक्तीत्यर्थः । श्रुतीति यत इति विभक्तिरूपा विनियोजी श्रुतिः 'यतो वा इमानि भूतानि' इति साध्यत्वादिवाचकद्वितीयाद्यभावे वस्तुतः शेषशेषिणोः सहोच्चारणरूपसमभिव्याहारालम्कं वाच्यं ताभ्यामित्यर्थः । समवाय इति न चानारोपितानागन्तुकरूपेण घटत्वादिना रूपादौ घटादीनामनुवृत्तेरामवात्समवायित्वं न स्यादिति शङ्कं, तादात्म्यस्वीकारात् । एतच्च द्वितीयस्य द्वितीयपादे स्फुटिष्यति समवायेत्यादिसूत्रे । आगन्तुकत्वादि यथागन्तुकरूपेण घटत्वादिना मृदो भेदसहिष्णुत्वेपि अनागन्तुकरूपेण मृत्वेनाभेदात् । तथागन्तुकेन रूपेण रूपनामादिना ब्रह्मणो भेदसहिष्णुत्वेपि अनागन्तुकरूपेण सत्यत्वादिनाभेदादित्यर्थः । तथा च प्रत्ययः । मृद घटो न, घटो मृत्, ब्रह्मजगन्न, अधिकत्वात्, जगद् ब्रह्मेति भेदस्यैच्छिकत्वाच्च तयोर्विरोधः । नागोऽमद्वेषीदं लक्षणं मञ्जूषायाः मनुष्येन । शब्दार्थयोस्वादात्म्यं च तद्विज्ञत्वे सति तदभेदेन प्रतीयमानत्वम् । अमेदस्याप्यस्तत्वाच्च न तयोर्विरोधः । तत्र भेदस्योद्भूतत्वविवक्षयास्यार्थस्यायं वाचकः उजः प्रपृच्छं तस्य वाचकः प्रणव इत्यादौ षष्ठी । अमेदस्य तत्त्वविवक्षया तु प्रथमा 'वृद्धिरादैच्' 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' इत्यादिवु । अत एवायं शब्दधर्मत्वव्यवहारः । अत्यन्ताभेदेऽक्षपुरुषयोरिव तद्व्यवहाराभावात् । नाप्यत्यन्ताभेदे सः ।

भाष्यप्रकाशः ।

वैशेषिकप्रतिपन्न इति न कोऽपि विरोधः । एतस्य संबन्धत्वमेच्छिकमेदोत्तरं द्विनिष्ठत्वे विशिष्ट-शुद्धिनियामकत्वाज्ज्ञेयम् ।

विज्ञानेन्द्रमिच्छुस्तु जन्मादिसूत्रे अधिष्ठानकारणमतिरिक्तमङ्गीकृत्य, यत्राविभक्तं येनोप-ष्टब्धं च सद् उपादानकारणं कार्याकारेण परिणमते तदधिष्ठानकारणम् । यथा सर्मादौ जला-विभक्तः पार्थिवस्यैमांशास्तन्मात्राख्या जलेनैवोपष्टम्भात् पृथिव्याकारेण परिणमन्त इत्यतो जलं पृथिव्या अधिष्ठानकारणमिति । अत्र प्रमाणं तु,

'आधारमानन्दमखण्डबोधं यस्मिँल्लयं याति पुरत्रयं च' ।

रश्मिः ।

घटे स्वधर्मत्वव्यवहाराभावादिति । न कोऽपीति समवायदृषकस्य 'समवायाम्युपगमाच्च साम्यादनव-स्थितेः' इति सूत्रस्यापि न विरोध इत्यर्थः । अत्र वदन्ति तादात्म्यं न संबन्धः किं तु नीलं घटमान-येत्यादौ विशेषणीभूतनीलादिपदोत्तरं विभक्त्यर्थकर्मत्वं तस्य नान्वयः कापि । विशेषणपदोत्तरं विभक्तेः साधुत्वार्थं प्रयोगात् । अभेद एव वा विशेषणविभक्तेरर्थः । अयमेव तादात्म्यम् । अभेदस्य संसर्गमर्यादाया भावं तु समासस्थल एव । लुप्तविभक्त्यनुसंधानाभावेपि शान्दबुद्धेरानुभाविक-त्वात् । न च विशेषणविभक्तेरभेदार्थकत्वं न संभवति, घटे नील इत्यादावप्यभेदान्वय-बोधापत्तेः । धान्येन धनमस्येत्यादौ तृतीययाऽभेदबोधनात् । नाभेदप्रकारकबोधे विरुद्धविभक्तिराहित्यं प्रयोजकमिति शङ्क्यम् । द्वितीयादिनाभेदबोधने द्वितीयान्तविशेष्यवाचकपदसमभिव्याहारस्य प्रयोजक-ताभ्युपगमादिति तदमञ्जुलम् । अभेदस्य संसर्गता नीलो घट इत्याद्यसमस्तस्थलेष्वविरुद्धा गौर-वाभावात् । एवं चासमस्तस्थले विशेषणविभक्तेरभेदे शक्तिकल्पनमनुचितम् । ननु विशेषणविभक्ते-रभेदे शक्तिप्रमत्स्थलेऽभेदस्य संसर्गतावादित्येऽभेदस्य प्रकारतावादित्ये च नीलो घट इति वाक्या-दभेदप्रकारकबोधः संभवति । एवं च द्वितीयादिनाऽभेदबोधने द्वितीयान्तविशेष्यवाचकपदसम-भिव्याहारस्य प्रयोजकत्वं यदभ्युपगतं तदभेदस्य संसर्गताया शक्त्या च बोधनद्वये हेतुरिति हेतु-ताद्वयकल्पने गौरवम्, अभेदस्य संसर्गतावादिनः इत्यादीति चेन्न । अभेदे शक्तिप्रमत्स्थलेपि तत्संसर्गबोधस्यैवोपगमादभेदस्य संसर्गतावादिनेति तद्व्यक्तित्वावच्छिन्नभेदाभाव एव नीलत्वादि-प्रकारेण भासमानानां तत्तद्व्यक्तीनां स्वस्मिन्संबन्धतया भासत इति भट्टगदाधरः । तदेतदाहुः एतस्य संबन्धत्वमिति । द्विनिष्ठत्व इत्यादि ब्रह्मजगन्निष्ठत्वे जगद् ब्रह्मेति । विशिष्टशुद्धि-नियामकत्वाज्ज्ञेयमित्यर्थः । अत्रेयं लिपिबोध्या । तच्छोधितावरणमङ्गे तज्ज्ञानफलमिति दर्शनात्, तेन जकारञ्कारयोर्योगे ज्ञ इत्युच्चारणमात्रं न त्वस्य वर्णान्तरत्वमिति श्रुत्वं भवत्येवेति कथं नात्र तदिति कुबोधं निरस्तम् । अथवा मातृकाविद्यायां पञ्चाशद्वर्णा इति पक्षः । तत्र षोडश स्वराः पञ्च-विंशतिः स्वर्शाः यादयोष्टौ श्वाकारोन्तिमः । संध्यक्षरत्वेपि पृथगुपादानं मिश्रश्रुत्या जकारस्याभ्युप-लक्षकमिति शकारचवर्गयोर्योगाभावाच्च श्रुत्वम् । शिक्षोक्तचतुःषष्टिपक्षत्रिपक्षयोस्तु श्वायो-भिन्नाक्षरत्वे न संदेहः । एवमेकपञ्चाशद्विपञ्चाशत्पक्षेपि बोध्यम् । एतच्च 'पञ्चाशद्वर्णरूपम्' इति निषण्वे स्पष्टम् । अतोऽस्मिन्नङ्गे मनोरमोक्तं श्रुत्वं भवत्येवेत्येवामञ्जुलमेवेति ध्येयम् । शुद्धस्यैव कारणत्वं कुप्राकुसयोः कुसस्यैव प्राधान्यमिति वक्तुं निश्चेतुं मतान्याहुः विज्ञान इति । तन्मात्रेति गन्धाख्या । जलेन आश्रयमतेन । अत्रेति ब्रह्मणोऽधिष्ठानकारणत्व इत्यर्थः ।

भाष्यप्रकाशः ।

'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
सं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी' ॥

इति कैवल्योपनिषद्भाष्यम् ।

'यस्य यत् कारणं प्रोक्तं तस्य साक्षान्मदेश्वरः ।
अधिष्ठानतया स्थित्वा सदैवोपकरोति च' ॥

इति पुराणान्तरवाक्यं च । एतादृशकारणत्वमेवाधिष्ठानकारणत्वमिति मूलकारणत्वमिति चोच्यते । ब्रह्मणश्च स्वाविभक्तप्रकृत्याद्युपलम्भकत्वं साक्षितामात्रेणेति जगत्कारणत्वेऽपि ब्रह्मणो न विकारित्वम् । न वा प्रकृतिपुरुषादिव्यतिप्रसङ्गः । सर्गात् पूर्वमन्येषां साक्षित्वासंभवात् । अत एवाविकारिचिन्मात्रत्वेऽपि ब्रह्मणो जगदुपादानत्वं, जगदभेदशोपपद्यते । विकारिकारणवदधिष्ठानकारणस्याप्युपादानत्वव्यवहारात् । कार्याविभागाधारत्वस्यैवोपादानसामान्यलक्षणत्वात् । अविभागश्चाधारतावत् स्वरूपसंबन्धविशेषोऽत्यन्तसंमिश्रणरूपो दुग्धजलाद्येकताप्रत्ययनियामकः । तत्र समवायसंबन्धेन यत्राविभागस्तद्धि विकारिकारणम् । यत्र कार्यस्य कारणाविभागेनाविभागस्तदधिष्ठानकारणम् । यथा जलं पृथिव्या इति । न हि जलस्य पृथिवी साक्षादेव विकारः । तन्मात्राणां भूतप्रकृतित्वश्रुतिस्मृतिविरोधात् । न च इयोरेवोपादानत्वम् । विजातीयानामनारम्भकत्वात् । एवमाकाशादीनां वाय्वाद्युपादानत्वमप्यधिष्ठानतयैव द्रष्टव्यम् । संबन्धविरोधे स्मृतिप्रक्रियायां वैशेषिकसांख्ययोरुभयोरप्यत्र विरोधानौचित्यादिति । वैशेषिकादिभिरपीदृशं ब्रह्मणः कारणत्वमिष्यत एव । परंतु तैरिदमपि निमित्तकारणत्वमिति परिभाष्यते । अस्माभिस्तु समवाय्यसमवायिभ्यामुपासीनं निमित्तकारणेभ्यश्च विलक्षणतया चतुर्थमाधारकारणत्वमिति । ब्रह्मणश्च जगत्कर्तृत्वं स्वोपाधिमायौपाधिकम् । परिणामित्वरूपोपादानत्वं च प्रकृतितत्कार्याद्यौपाधिकमित्याह ।

तदसंगतम् । 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' इत्यादिश्रुतिषु दृश्यमानस्य जगतः पूर्वमात्ररूपत्वादिबोधनेनेतराभावादिद्वाविभागाख्यस्य स्वरूपसंबन्धस्य तदानीं वक्तुमशक्यत्वेन लक्षणेऽव्याप्तेः । मार्गाब्राह्मणे भूतभव्यस्याकाशे आकाशस्य चाक्षरे ओतप्रोतत्वकथनेन तादृशत्वस्य च, 'ओतप्रोतमिदं यस्मिन्तनुष्वङ्ग यथा पटः' इत्यादावुपादानतागमकत्वेन, आथर्वणानां गोपब्रह्मणारम्भे 'ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीत् स्वयं त्वेकमेव तदैक्षत महद् वै यत् तदेकमेवास्ति रश्मिः ।

अतिप्रसङ्ग इति अधिष्ठानकारणत्वसेत्यर्थः । दुग्धजलादीति आदिशब्देनोदकसंबन्धवस्थित्यादिग्रहणम् । कार्यत्यादि सामान्यलक्षणं योजयते तत्रेत्यादि । यत्रेत्यादि च । जलं पृथिव्या इति अद्भ्यः पृथिवीति श्रुतेः । भूतेति । श्रुतिस्मृतिकैवल्योपनिषत्पुराणान्तररूपे पूर्वोक्ते । इयोरेति जलतन्मात्रयोरित्यर्थः । विजातीयेत्यादि । तथाच विजातीयजलस्य पृथिव्यनारम्भकत्वमिति भावः । वाय्वादीत्यादि 'आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः' इत्यादिश्रुतावित्यर्थः । विरोधानौचित्यादिति परकारं वैशेषिकसांख्ययोरविरोधो बोध्यः । स्वोपाधिमायेति माया शुद्धसत्त्वप्रधाना । प्रकृतिः सत्त्वजलतमःसामान्यावस्त । इत्यादीति आदिशब्दार्थस्तद्भाष्ये द्रष्टव्यः । इदमग्रान्त्येति

भाष्यप्रकाशः ।

हन्ताहं मदेव मन्मात्रं द्वितीयं तदेव निर्मम' इति द्वितीयस्य ब्रह्ममात्रत्वभावणपूर्वकं सृष्टिकथनेन 'विश्वं वै ब्रह्मतन्मात्रं संखितं विष्णुमायया । ययेदानीं तथाग्रे च पश्चादप्येतदीदृशम्' ॥

इति तृतीयस्कन्धे विश्वस्य ब्रह्मतन्मात्रत्वकथनेन च द्वितीयस्य विश्वस्य च साक्षादुपादेयत्वे ब्रह्मण उपादानत्वस्यादृष्टवारितत्वाच्च । नचोक्तकैवल्यश्रुतिविरोधः । तस्या अत्रान्तरसृष्टिविषयकत्वात् । एवकाराग्रपदाद्यभावेन पुरत्रयलयलिङ्गेन च तथा निश्चयात् । नापि स्मार्तसदापदविरोधः । प्राथमिकसृष्ट्यनन्तरं तथात्वेऽप्यविरोधात् । उक्तश्रुताविवेहापि प्राथमिकसृष्ट्यारम्भकालगमकस्याभावात् । उक्तदृष्टान्तोऽप्यसंगतः । पृथिव्यादितन्मात्रस्यैव साक्षाज्जलादिजन्यत्वात् ।

'रसमात्राद् विकृर्वाणादम्भसो दैवनोदितात् ।

गन्धमात्रमभूत् तस्मात् पृथ्वी घ्राणस्तु गन्धगः' ॥

इत्यादितृतीयस्कन्धवाक्यैस्तथानिश्चयात् । विजातीयारम्भस्यात्रापि तादवस्थ्यात् । न च विजातीयानामनारम्भकत्वम् । तन्तुत्वपटत्वयोर्भेदेन तत्रैव विजातीयारम्भदर्शनात् । द्रव्यत्वादिना साजात्यस्य भवदनभिमतैऽपि सत्त्वात् । नच द्रव्यत्वव्याप्यजातिभिरैव साजात्यं विवक्षितमिति वाच्यम् । अप्रयोजकत्वाद् गोमयादिभ्यो वृश्चिकाद्युत्पत्तिदर्शनात् । चलत्यनिले द्रष्टमानलेनापि यत्र महान् दावानलस्तत्रानलावयवानां स्वल्पत्वेन ततो महानलस्याशक्यवचनतयाऽनिलेनैव तदुत्पत्तेः सार्वजनीनत्वाच्च । 'यत्र कचन स्थिद्यति शोचते वा पुरुषस्तेजस एव तदव्यापो जायन्ते' इत्यादिश्रुतिभिरपि तथा निश्चयाच्च । सांख्यवैशेषिकादीनां परस्परारवि-रश्मिः ।

पत्वं लेखकप्रमादात् । द्वितीयस्येति जगत इत्यर्थः । अदण्डेत्यादि दण्डो दुष्टगोरानयनेस्ति दोषात्तद्दुपादानत्वेपि विकारित्वादित्येववचनाच्चेति दण्डेन हेयत्वापत्त्या वारितं भवत्येव । 'वाचो धेनुयुपासीत्' इति श्रुत्या शब्दात्मनो धेनुत्वेनोपासनमत्र ज्ञेयम् । कृत्कारणभावेनैव निर्वाहेऽतिरिक्तकल्पनायां गौरत्वमिति चकारार्थः । अचान्तरेति 'तम (एवाग्र) आसीत्तमसा गृहमग्रे प्रकेतम्' इति श्रुत्यावान्तरेत्यादिः । 'आपमापामपः सर्वाः' इति श्रुतिवत् । पुरत्रयेत्यादि तमोधिष्ठातुस्त्रिपुरारोहिं लिङ्गमिदमिति, अन्यथा लोकत्रयमित्युक्तं स्यात् । स्मार्तसदेत्यादि अधिष्ठानतया स्थित्यधिष्ठानकारणं तत्कृतस्य सर्वकालबोधकस्मार्तसदापदेत्यर्थः । तथात्त्व इति अधिष्ठानतया स्थित्वा सदापकार इत्यर्थः । प्राथमिकेत्यादि अग्रपदादेरित्यर्थः । विजातीयस्यानारम्भकतामुपगम्य जलस्य न साक्षादिकारः पृथिवीत्युक्तं तत्रेत्याहुः उच्येत्यादि । यथा जलं पृथिव्या इत्युक्तदृष्टान्तः । विजातीयेत्यादि । अत्रापीति त्वयाप्यभ्युपगते गन्धरूपतन्मात्रस्य पृथिव्युपादानत्वेपीत्यर्थः । गन्धत्वपृथिवीत्वाभ्यां वैजात्यं बोध्यं पुराणे । नैयायिकः प्रत्यवतिष्ठते नचेत्यादि । तत्रैवेति प्रसिद्धयोस्तन्तुपटयोरेव । भवदित्यादि तन्तुपटयोः कार्यकारणभाव इत्यर्थः । तथाच तन्तुम्यो पटोऽनुत्पद्येतेति भावः । न च द्रव्यत्वेत्यादि पृथिवीत्वात्वादिभिरित्यर्थः । अप्रयोजकेति द्रव्यत्वव्याप्या षातिः पृथिवीत्वं तस्य तन्तुपटयोः सत्त्वेन विजातीयानारम्भासाधकत्वात् । हेतौ हेतुमाहुः गोमयेत्यादि । एतच्च गोमयस्यापृथ्वीत्वे । गोमयस्य पृथ्वीत्वादेत्वनन्तरमाहुः चलतीत्यादि । तथाच द्रव्यत्वव्याप्या जातिरनिलत्वं तेनानले साजात्याभावादप्रयोजकत्वादिति भावः । स्थित्यतीत्यादि खेदशुक्लो भवत्यश्रूणि मुञ्चतीत्यर्थः । तथेत्यादि द्रव्यत्वव्याप्यतेषस्त्वेनायां

भाष्यप्रकाशः ।

रोधाग्रहस्य प्रकृतानुपयोगित्वेन तथायासत्सापार्थत्वात् । एवं ब्रह्मणो मायौपाधिकं कर्तृत्वं प्रकृतितत्कार्यौपाधिकं परिणाम्युपादानत्वमप्यवान्तरसृष्टिविषयकमेव । 'आनन्दरूपममृतं यद् विभाति,' 'सच्चिदानन्दरूपाय' इत्यादिश्रुतिभिः 'आनन्दमात्रकरपादसुखोदरादिः' इत्यादि-स्मृतिभिश्च ब्रह्मण आनन्दाकारत्वे सिद्धे मूलरूपस्यौपाधिकत्वकल्पनाया असंगतत्वात् । न च विकारित्वादि शङ्काम् । तस्याग्रे तदनन्यत्वाधिकरणे परिहरणीयत्वात् । एवमन्यदपि यद्यद् विरुद्धमविरुद्धं वा तत्सर्वं प्रसङ्गे व्यवस्थापयिष्यामः ।

मद्भास्कराचार्यास्तु ब्रह्मण एवोपादानत्वमङ्गीकृत्य कार्यस्य जगतः कारणाद् भेदाभेदौ प्रतीत्या व्यवस्थापयन्ति । तथाहाहुः—

'एकस्यैकत्वमस्तीति प्रमाणादवगम्यते ।
नानात्वं तस्य तत्पूर्वं कस्माद् भेदोऽपि नेष्यते ॥
यत्प्रमाणैः परिच्छिन्नमविरुद्धं हि तत् तथा ।
वस्तुजातं गवाश्यादि भिन्नाभिन्नं प्रतीयते' ॥

नह्यभिन्नं भिन्नमेव वा क्वचिद् दर्शयितुं शक्यते । सत्ताज्ञेयत्वद्रव्यत्वादिसामान्यात्मना सर्वमभिन्नं, व्यक्तयात्मना तु परस्परवैलक्षण्याद् भिन्नम् । तथाहि—

'प्रतीयते चेदुभयं विरोधः कोऽयमुच्यते ।
विरोधे चाविरोधे च प्रमाणं कारणं मतम् ॥
एकरूपं प्रतीतत्वाद् द्विरूपं तत् तथेष्यताम् ।
एकरूपं भवेदेकमिति नेश्वरमापितम्' ॥

रश्मिः ।

साजात्याभावेऽप्युपादानत्वबोधनेनाप्रयोजकत्वनिश्चयादित्यर्थः । तथेति अविरोधप्रकारस्येत्यर्थः । अचान्तरेति 'माया च तमोरूपा' इति नृसिंहतापनीयात् । सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिरित्युभयथापि तमसः सृष्टिवान्तरसृष्टिस्तद्विषयकम् । व्यवस्था सर्वसंभवेत्वेवकारः । अत्र इति द्वितीयाध्याय इत्यर्थः । प्रमाणादिति चक्षुरूपादित्यर्थः । तत्पूर्वमिति एकत्वपुरःसरमतो हेतोस्तथेत्यर्थः । एकैव मृन्नानाघटाकारेण भवतीति निदर्शनमत्र बोध्यम् । यत्प्रमाणैरिति प्रमाणैश्चक्षुरादिविषय-द्रस्तु परिच्छिन्नं यद्विशिष्टं निश्चितं यथैकस्मिन् घटे द्रव्यत्वपृथ्वीत्वघटत्वादयः रूपरसपरिभाषादयश्च प्रमाणनिश्चिता इति तद्विशिष्टं घटरूपं वस्तु तच्चयैवाविरुद्धम् । निश्चितोयमर्थ इति द्विशब्दार्थः । तथैव गवाश्यादिवस्तुजातं वक्ष्यमाणरीत्या भिन्नाभिन्नं प्रतीयतेऽतो भिन्नत्वाऽभिन्नत्वावच्छिन्नमेव वस्तु-जातमविरुद्धमित्यर्थः । उपादायन्ति नहीत्यादि । एवेति अयमभिन्नमित्यत्रापि । स्वर्भूमिति अन्ये सत्तादिकं सर्वत्र मन्यन्ते । परस्परैत्यादि परस्परं घटपटाकारवैलक्षण्यादित्यर्थः । एवं भेदाभेदयोरविरोधमुत्पाद्य प्रकृते योजयन्ति तथाहीत्यादि । तत्तथेष्यतामिति तद्ब्रह्म यथाप्रतीतत्वात् श्रुत्येकरूपं तथा चक्षुषा प्रतीतत्वाद् द्विरूपमप्यनिच्छतेष्यतामित्यर्थः । नन्वेवं सति 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इतीश्वरभाषणविरोध इति चेत्त्राहुः एकरूपमपि स्यादिति । एकं एक-

भाष्यप्रकाशः ।

ननु शीतोष्णयोरेषया परस्परं विरोधस्तथा भेदाभेदयोः, किमिदमुच्यते नास्ति विरोध इति । अत्रोच्यते । भवतः प्रज्ञापराधोऽयं, न वस्तुविरोधः । कथम् । सहानवस्थानं, छायातप-वन्निभदेशवर्तित्वं वा शीतोष्णवद्विरोधो नाम । एतदुभयमिह कार्यकारणयोर्ब्रह्मप्रपञ्चयोर्नास्ति । तत उत्पत्तेस्तत्रैवावस्थितेस्तत्रैव प्रलयात् । विरोधे हि त्रयमेतन्नोपपद्यते । नहि कृशानुनाङ्कुरो-त्पत्त्यादिलक्षणः संबन्धो दृश्यते । कारणेन हि मृत्युवर्णादिना कार्यं सर्वदानुस्यूतं दृश्यते । तत्राक्षिणी निमील्य परस्परासंगतिलक्षणो विरोधो वैयात्याद् वक्तव्यो भवेत्, प्राथमिक-श्रोत्रियश्रोत्रप्रतारणार्थं वा । शीतोष्णयोर्मिन्नाधारवर्तिनोर्न कदाचिदुत्पाद्योत्पादकलक्षणः संबन्धो, नाधाराधेयलक्षण इति युक्तस्तयोः परस्परविरोधः । तस्माच्छीतोष्णवदित्युक्तं दृष्टान्ताभिधानम् । अत्र प्रागल्भ्याद् कश्चिदाह । यथा संशयज्ञानं स्याणुर्वा पुरुषो वेत्यप्रमाणं, तथा भेदाभेद-ज्ञानमिति । तदसत् ।

'परस्परोपमर्देन न कदाचित् सह स्थितिः ।
प्रमेयानिश्चयाच्चैव संशयस्याप्रमाणात्' ॥

अत्र पुनः कारणं पूर्वसिद्धं मृत्युवर्णादिलक्षणम् । ततः कार्यं पश्चाज्जायमानं तदाश्रितमेव जायते । कारणसमानार्थतया हि कार्यबुद्धिः । न कारणस्वरूपोपमर्देन देशतः कालतो वा

रश्मिः ।

रूपमेव भवेदिति श्वरमापितं न किंतु एकोहं बहु स्यामिति एकं बहुरूपं भवेदिति श्वरमापितमित्यर्थः । यद्वा । गोपालतापिनीये कथं चतुर्भिरको देवो भवेदिति त्रये एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मेत्युत्तरात्तया । कृशानुनेति निमित्तकारणेन वह्निनेत्यर्थः । कारणेनेति समवायिनेत्यर्थः । दृश्यत इति तथा च न जगतो ब्रह्मणा सहानवस्थानं नापि भिन्नदेशवर्तित्वमित्यर्थः । तत्राक्षिणी इत्यादि उभयविष-लक्षणासंभवे सति भवज्ज्ञानशक्तिं तिरोभाव्येत्यर्थः । वैयात्यादिति गत्यन्तरविरहात्तद्विरुद्धं तद-संगतमिति दर्शनाच्चेत्यर्थः । एतदपि ब्रह्मजगतोर्गवाश्यादेश्व नास्तीति तत्रयोजनमाहुः प्राथमि-केत्यादि । साङ्गोपाङ्गवेदमात्रेण वेदार्थमवगच्छन्तः पूर्वकालीनशिष्टानुयायिनः छन्दोध्येतारः श्रोत्रि-यास्तेषां श्रोत्राणि भेदाभेदबोधकशब्दानेव गृहीतवन्तीति तेषामुक्तरीत्याऽसंगतिलक्षणविरोध-प्रदर्शनेन दुर्बुद्ध्युत्पादनार्थमित्यर्थः । वक्तव्य इत्यादि पूर्वोक्तान्वेति । उत्पाद्येति ब्रह्म जगद्दि-त्यादिः । तस्मादिति विरोधलक्षणाभावेपि विरुद्धत्वादित्यर्थः । प्रागल्भ्यादिति प्रतिभातिशया-दित्यर्थः । घाट्याद्वा । गल्म घाट्ये इति । अप्रमाणा मिति भावे ल्युट्, अप्रमेत्यर्थः । अत्र भेदाभेद-वादी किञ्चिदाह तदसदिति । अप्रापि विषमो दृष्टान्त इत्याशयेनाहुः परस्परैत्यादि । स्याणुत्व-पुरुषत्वादीनां तथात्वेन तथेत्यर्थः । तथा प्रमेयानिश्चयकत्वात्संशयस्याप्रमात्वं चेत्सर्वं भावे ल्युट् विषमत्वमुपादायन्ति अत्र पुनरित्यादि । तदाश्रितमिति कारणसमवेतमित्यर्थः । दृष्टान्ते तु स्याणुत्वपुरुषत्वयोर्न कदाचित्सदस्थितिरित्यर्थः । एतद्विषयकं ज्ञानमपि प्रमात्मकमित्याहुः कारणैत्यादि । कारणं सृष्टत्समाप्तः सृष्टेनार्थो विषयत्वेन यस्यां तत्तथाहि घटो सृष्टिति बुद्धिः कार्यबुद्धिः । देशत इति एतद्देशे घटो न सृत् अस्मिन्काले घटो न सृष्टिति च न पृथग्भूतं कार्यं

भाष्यप्रकाशः ।

गृह्यभूतं कार्यं दृश्यते । तस्मान्न किञ्चिदेतत् । तदयं संग्रहश्लोकः—

'कार्यरूपेण नानात्वभेदः कारणात्मना ।

हेमात्मना यथाऽभेदः कुण्डलाद्यात्मना भिदा' ॥ इति ।

अत्र वाचस्पतिमिश्रा उक्ता कारिकाप्रणयस्याहुः—कः पुनरयं भेदो नाम, यः सहा-
भेदेनैकत्र भवेत् । परस्परभाव इति चेत् किमयं कार्यकारणयोः कटकहाटकयोरस्ति न वा ।
न चेद् एकत्वमेव वास्तवं न भेदः । अस्ति चेद् भेद एव, नाभेदः । न च भावाभावयोर-
विरोधः । सहासंभवात् । संभवे वा कटकवर्धमानकयोरपि तत्त्वेनाऽभेदप्रसङ्गः । भेदस्या-
भेदाविरोधात् । अपि च । कटकस्य हाटकादभेदे यथा हाटकात्मना कटकप्रकृतकुण्डलादयो
न भिद्यन्ते, एवं कटकात्मना न भिद्यन् । कटकस्य हाटकादभेदात् । तथाच हाटकत्वमेव
वस्तु सन्न कटकादयोऽभेदस्याप्रतिभासनात् । अथ हाटकत्वेनैवाभेदो, न कटकत्वेन । तेन तु
भेद एव कुण्डलादेः । यदि हाटकादभिन्नः कटकः, कथमयं कुण्डलादिषु नानुवर्तते । नानु-
वर्तते चेत् कथं हाटकादभिन्नः । ये हि यस्मिन्ननुवर्तमाने व्यावर्तन्ते ते ततो भिन्ना एव ।
यथा सूत्रात् कुसुमभेदाः । नानुवर्तन्ते चानुवर्तमानेऽपि हाटकत्वे कुण्डलादयः । तस्मात् तेषु
हाटकाभिन्ना एवेति । सहानुवृत्त्या च सर्ववस्त्वनुगमे, इदमिह नेदमस्माभेदमिदमिदानीं नेद-
मिदमेवं नेदमेवमिति विभागो न स्यात् । कस्यचित् क्वचित् कदाचित् कथंचिद् विवेकहेतोरभावात् ।

रश्मिः ।

दृश्यत इत्यर्थः । तस्मादिति कार्यस्य कारणाश्रितत्वेन तज्ज्ञानस्य यथार्थत्वेन च दृष्टान्तस्य
विरुद्धत्वादित्यर्थः । तदयमिति तदित्यव्ययं हेत्वर्थकम् । नानात्वमिति भेद इत्यर्थः ।
तस्य नानात्वनिबन्धनत्वात् । अभेद इति कुण्डलं सुवर्णमिति सामानाधिकरण्यप्रतीतिरभेद
इत्यर्थः । भिदेति सुवर्णं कुण्डलं नेति प्रतीतिभिदेत्यर्थः । नचेदिति कटकसुवर्णयोरन्योन्या-
भावो यदि न तर्हि एकस्मिन् घटे स्वभेदाभाववति एकत्वमिवैकत्वमेव । तथा कटकं सुवर्णमिति
प्रतीतिः सुवर्णं कटकं नेति प्रतीतिसत्त्वेपि न भेद इत्यर्थः । नाभेद इति अन्योन्या-
भाववतोर्घटपटयोरिव नाभेद इत्यर्थः । संभव इति घटतदत्यन्ताभावयोरिव संबन्धाभाव-
दशायां भेदतदभावयोः संभवे वा कटकशरावयोः परस्परभाववतोरपि कटकत्ववर्धमानकत्व-
रूपेण तथेत्यर्थः । ननु तथाप्रतीत्याभावात्तदभेद इति चेत्तत्र दूषणान्तरमाहुः अपि चेत्यादि ।
भेदस्येति हाटको न कटक इति भेदस्यात्यन्ताभावरूपस्य भेदाभावस्याभेदस्याप्रतिभासमानत्वात् ।
अयं, न कटकादय इत्यत्र हेतुः । यद्वा कटकं हाटकमिति प्रतीत्याभेदस्याप्रतिभासनादित्यर्थः ।
कुण्डलाद्येति । इति विभाव्यते तदा इति शेषः । अयमिति कटक इत्यर्थः । ननु कटकत्वं
हाटकत्वं न व्यभिचरतीति कथं भिन्ना इति चेत्तत्राहुः सहानुवृत्त्येत्यादि । अनुगम इति ।
सर्वत्रेति शेषः । इदमित्यादि इह क्षीरं इदं दधि नेदं तैलमिति संसर्गतदभावव्यवस्था न
स्यात् । तथा कुब्जादिदं पटादिकं भिद्यते इदं कुब्जमस्मात्कुब्जात् भिद्यते इत्यसंक्रो न स्यात् ।
एवमिदं कोकिलस्तमिदानीं वसन्तसमयेस्ति, इदमम्बुदध्वानं नेति व्यवस्था न स्यात्, तथेदं घटादि
एवं कम्बुग्रीवत्वादिप्रकारकं इदं पटादिकं एवं नेति प्रकारासंक्रो न स्यादित्यर्थः । उक्तास्त्वव्यवस्थासु
हेतुमाहुः कस्यचिदित्यादि । कुतश्चिदपीति ज्येयम् । अभावादिति सर्वस्यैव भिन्नाभिन्नत्वेन

भाष्यप्रकाशः ।

अपि च । दूरात् कनकमित्यवगते, न तस्य कुण्डलादयो विशेषा जिज्ञास्येत् । कनकादभेदात्
तेषाम् । तस्य च ज्ञातत्वात् । अथ भेदोऽप्यस्ति कनकात् कुण्डलादीनामिति कनकावगमेऽपि
अज्ञातास्ते । नन्वभेदोऽप्यस्तीति, किं न ज्ञाताः । प्रत्युत ज्ञानमेव तेषां युक्तम् । कारणा-
भावे हि कार्याभाव औत्सर्गिकः । स च कारणसत्तयाऽप्योद्यते । अस्ति चाभेदे कारणसत्तेति ।
कनके ज्ञाते ज्ञाता एव कुण्डलादय इति तज्जिज्ञासाज्ञानानि चानर्थकानि स्युः । तेन यस्मिन्
गृह्यमाणे यन्न गृह्यते तत् ततो भिद्यते । यथा करभे गृह्यमाणे अगृह्यमाणो रासमः करमात् ।
गृह्यमाणे च दूरतो हेम्नि न गृह्यन्ते तस्य भेदाः कुण्डलादयः । तस्मात् ते हेम्नो भिद्यन्ते ।
कथं तर्हि हेम कुण्डलमिति सामानाधिकरण्यमिति चेत् । नसाधारण्येयभावे सामानाधिकरण्ये वा
सामानाधिकरण्यमित्युक्तम् । अथानुवृत्तिव्यावृत्तिव्यवस्था च हेम्नि ज्ञाते कुण्डलादिजिज्ञासा च
कथम् । न स्वत्वभेद ऐकान्तिकेऽनैकान्तिके चैतदुभयमुपपद्यते यत् इत्युक्तम् । तस्मात् भेदा-
रश्मिः ।

तथेत्यर्थः । तस्येति हाटकसेत्यर्थः । तस्य चेति कनकस्य चेत्यर्थः । तेषामिति कुण्डलादी-
नामित्यर्थः । एवं युक्त्या भेदापवादेनाभेदं व्यवस्थाप्य श्रुत्यापि भेदं कारणत्वेन निराकुर्वन्तिस्य
अभेदो हि वास्तवो भेदोऽनिर्वचनीय इति । अथेत्यादि । कारणभावात् इति कारणं हि
'अथात् आदेशो नेति नेति' इति श्रुत्या मूर्तामूर्तापोदितं ऋष तदद्वैतमभावः, तस्मिन् हि सति कार्यं
भेदो मायामात्रं तद्रूपोऽभावः । स चेति कार्याभाव इत्यर्थः । अपोच्यत इति उक्तश्रुत्यापोच्यते ।
अस्ति चेति अभेदेऽद्वैते सति । एवं कनकाभेदे कटकादिकारणे सत्त्वज्ञेया । ज्ञाता एवेति एव-
कारस्तु एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानश्रुत्यनुरोधात् । तज्जिज्ञासेत्यादि तेषां कुण्डलादीनां जिज्ञासा
ज्ञानानि चेत्यर्थः । कार्यकारणयोरभेदाभावं सप्रमाणमुपसंहरन्ति तेनेत्यादि । अपोचं कार्यं भेदं
दर्शयन्ति स्म यथेति । कारणेपि भेदं दर्शयितुं दृष्टान्तेपि भेदं दर्शयन्ति स गृह्यमाण इति ।
दूरत इति समीपतस्तु शास्त्रदृष्टिकैर्दर्शयन्त इत्यभेदवादान्नोक्तं सूचितं परम् । कुण्डलहाटकयोर्भेदाभेदा-
वेव वाच्यौ सामानाधिकरण्यानुरोधात्, न ह्यत्यन्तभेदे तदस्ति, कुण्डलकटकयोरदर्शनात्,
अत्यन्ताभेदेपि न हेमहेमेल्यनुपलम्भादिति । भास्कराचार्योक्तमनुवदन्ति कथं तर्हीत्यारम्भ-इत्युक्त-
मित्यन्तेन । ननु न हेम कुण्डलमिति प्रतीतिरत आहुः सामानेत्यादि । भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वे सति
एकाग्रबोधकत्वं सामानाधिकरण्यं, तथा च नेयं प्रतीतिः किं तु सामानाधिकरण्योक्तिरिति मावः । यद्वा
सामानाधिकरण्यमेकदेशवृत्तित्वम् । नहीति हेमकुण्डलयोर्नाधाराधेयभावः, ऋषजगतोस्तु वर्तते इति
दृष्टान्तवैषम्यम्, घटकपालयोस्तु वर्तते आधाराधेयभावः स न दृष्टान्तः । शीतोष्णयोर्भिन्नाधारवर्तित्वेन
सामानाधिकरण्यत्वं नास्ति ऋषजगतोस्तु वर्तते 'स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः' इति वाक्यादित्याहुः सामाना-
श्रयत्व इति । उक्तं उक्तप्राम्यम् । यदि हेमः सकाशात् कुण्डलादीनां भेदाभेदो स्यातां तर्हि
तेषामनुवृत्तद्वेदः सकाशादभेदादितरेतरव्यावृत्तिर्न स्यात् साच हेम्नि निर्णीते संसय इति प्रतितीकं भियो-
विरोधात्त्वेन सामानाधिकरण्यानुरोधात् तर्क वितण्डया दूषयन्ति अथानुवृत्तित्यादि । इदमिह
नेदमित्यादिनोक्तेत्यर्थः । नन्वत्यन्ताभेदे मा मृदनुवृत्तिव्यावृत्तिव्यवस्था मा मृद हेम्नि ज्ञाते कुण्डलादि-
जिज्ञासा भेदाभेदमते ते किं न स्यातामित्याशङ्क्य पूर्वोक्तमभिन्निमग्नसुसर्गापवादं च स्मारयन्ति न
स्वत्वित्यादि । ऐकान्तिक इति भेदाभाववृत्तिनि अभेदे तदभाववर्तित्वे चानुवृत्तिव्यावृत्तिव्यवस्था
कुण्डलादिजिज्ञासा चेत्येतदुभयमित्यर्थः । स्वमतेन सामानाधिकरण्यमुपपद्यन्ति तस्मादित्यादि

भाष्यप्रकाशः ।

भेदयोरन्यतरस्मिन्नहेये । अभेदोपादानैव भेदकल्पना, न भेदोपादाना अभेदकल्पनेति युक्तम् । भिद्यमानतत्रत्वाद् भेदस्य, भिद्यमानानां च प्रत्येकमेकत्वात् । एकामावे नानाश्रयस्य भेदस्यायोगात् । एकस्य च भेदानधीनत्वात् । नायमयमिति च भेदग्रहस्य प्रतियोगिग्रहसापेक्षत्वादेकत्वग्रहस्य चान्यानपेक्षत्वाद्भेदोपादानैवानिर्वचनीयकल्पनेति सांप्रतम् । तथा च श्रुतिः, 'श्रुतिकेत्येव सत्यम्' इति । तस्मात् कूटस्थनित्यतैव पारमार्थिकी, न परिणामिनित्यतेति सिद्धमिति । तदनवधानविजृम्भितमेव । उक्ते मते भेदाभेदयोर्नानात्वैकत्वरूपतया भेदस्यान्योन्याभावरूपत्वानङ्गीकारेण तदादाय तन्मतदूषणस्य भगनकुसुमसौरभ्यकल्पत्वात् । परस्परभावरूपत्वेऽपि षटतदत्यन्ताभावयोर्षटतद्वेदयोश्च भूतल एव सहावस्थानदर्शनेन भेदस्य तदभावेनाभेदेन सह न विरोधः । अत्यन्ताभावस्य नित्यव्यापकत्वेन सर्वत्र सत्त्वात् । प्रतियोग्यानयनोत्तरं तदभावबुद्धिप्रतिबन्धमात्रपरम् । एवं सति यत्र भेदस्तत्राप्यभेदो वर्तते एवेति तयोः सहासंभवाद्बिरोधकथनस्यापि तथात्वम् । एवं, संभवे वेत्यादिना कटकवर्धमानकयोरभेदप्रसञ्जनस्यापि तथात्वम् । अविरोधस्यैक्यापादकतायाः काप्यदृष्टत्वात् । यदपि, कटकस्य हाटकादित्यादिना कटकादीनां हाटकाद् भेदच्युत्पादनं, तदपि तथा । तेषां तदवस्थारूपत्वात् । अवस्थानां चावस्थावतः सकाशतो भिन्नाभिन्नत्वात् । षट्पर्यां समुद्रतरङ्गयोस्तथात्वस्य रश्मिः ।

उभयप्रत्ययादित्यर्थः । अहेय इति तेनाभेदस्थापनेऽभिप्रायो न तु भेदखण्डने इति द्योतितम् । विरोधादन्यतरत्वापेक्ष्यभेदो बाध्य इति सौगतमतमाशङ्क्याहुः अभेदेत्यादि । नानाश्रयस्येति नानानिमित्तप्रयुक्तत्वेन तथेत्यर्थः । यथा षटः पटो न, कुड्यं पटो न, कुसूलं पटो नेत्यादि । अयोगादिति तथाचैक्यरूपाभेदतत्रत्वाद्भेदस्य न भेदोपादानाऽभेदकल्पनेत्यर्थः । एकस्य चेति भिद्यमानस्येत्यर्थः । भिद्यमानतत्रत्वं स्पष्टयन्ति नायमित्यादि । अयं षटः नायं पटो नेत्यर्थः । अनिर्वचनीयेति अध्यस्तभेदकल्पनेत्यर्थः । सांप्रतमिति युज्यत इत्यर्थः । सत्यमिति वाचारम्भणं षटादिविकार इति भावः । कूटस्थेति ब्रह्मादिपिपीलिकापर्यन्तं सर्वप्राणिबुद्धिरष्टविशिष्टतयोपलभ्यमानः सर्वप्राणिबुद्धिस्यो यदा तदा कूटस्थ इत्युच्यते इति सर्वोपनिषदुक्तकूटस्थनित्यता । परिणामीति प्रकृतिपरिणामिनित्यतेति । सिद्धान्ते अद्वैतेपि व्यासपादसंगृहीतैकदेशिमते अनुकूलमिदमिति । पूर्वतन्त्रे षष्ठस्य तृतीयपादे द्रव्यकर्मणोस्तादात्म्यं भेदाभेदावङ्गीकृत्य वर्णिताविति स्वयमङ्गीकाराच्च । मतान्तरं समर्थयन्ति तद्वनवेत्यादि । तदिति वाचस्पत्युक्तम् । अन्योन्येति ऐच्छिकमपि नानात्वमन्योन्याभावजन्यमित्युपलक्षणार्थं उक्तम् । तदादायेति भेदस्यान्योन्याभावरूपत्वमादायेत्यर्थः । भूतल इति षटवद्भूतलं षटो नेति प्रतीतेस्तथेत्यर्थः । तस्येति षटसेत्यर्थः । अभेदेनेति षटो तु भेदात्यन्ताभावेन सह तस्य भेदस्य न विरोध इत्यर्थः । अत्र हेतुं वक्तुमत्यन्ताभावेन सह प्रतियोगिनः स्थितिमाहुः अत्यन्तेत्यादि । तथा च सति षटे षटो नास्तीति प्रतीत्यापत्तिः किं न स्यात्तत्राहुः प्रतियोगीत्यादि । तदभावेत्यादि । तद्वत्तान्नस्य तदभाववत्ताज्ञानं प्रति प्रतिबन्धकत्वात् प्रतियोग्यत्यन्ताभावेत्यर्थः । एवं सतीति अत्यन्ताभावस्य नित्यव्यापकत्वे सतीत्यर्थः । अभेद इति भेदात्यन्ताभावरूपः । तथात्वमिति गगनकुसुमसौरभ्यकल्पत्वमित्यर्थः । कापीति तथा सति षटत्वद्रव्यत्वादीनामभेदापत्तिरिति भावः । तथात्वस्येति भेदाभेदस्येत्यर्थः ।

१. श्रुतिरापोऽनलोवापुरित्वात् ।

२. न्यासतया ।

भाष्यप्रकाशः ।

शंकराचार्यैरुक्तत्वात् । अतः परं सहानुष्टस्यादिनोक्तो दूषणत्वेन प्रतीतिविरोधो वक्तव्यः । स चेद् विद्यमानेऽपि कुण्डलादिना भेदे कनकत्वेनाभेदः प्रतीयते तदा न प्रतीतिविरोधोऽपि । प्रमाणेनाधिगमात् । प्रमिते च तस्मिन्, दूरात् कनकमित्यादिनोक्तानां विकल्पानामनवसरपराहतत्वादिति प्रतीयते चेदुभयमितिकारिकयैवोक्तं व्युत्पादितं च । अतो मुकुटकटकादीनामवस्थात्वेन हेमसामानाधिकरण्यस्य सामयिकत्वेन च व्यावृत्तिव्यवस्थाजिज्ञासाजनकत्वरूपपक्षेभेदस्यागन्तुकत्वमेव, न त्वनिर्वचनीयत्वम् । नच श्रुतिविरोधः । उक्तश्रुतौ परिणामिनो मृदादीनेव दृष्टान्तिकृत्य, एव सौम्य स आदेशो भवतीति दार्ष्टान्तिकेऽतिदेशेन परिणामिनित्यताया एव श्रुत्यभिप्रेतत्वात् । नचात्र कारणे सत्यत्वस्य कार्ये वाचारम्भणत्वस्य षोक्तत्वेन कार्यमिध्यात्वसिद्धौ कूटस्थनित्यत्वमेव सेत्स्यतीति वाच्यम् । षटः पट इत्यादिवाचारम्भणरूपस्य विकारस्यैव नामधेयत्वाभिधानेन नामधेयस्य विकारत्वविधानेन वा स्वरूपमिध्यात्वस्य श्रुत्यनभिप्रेतत्वात् । यदि कार्यस्वरूपस्यापि वाच्यत्वात्तत्रामभिप्रेत्याद्, वाचारम्भणं नामधेयमिति पदद्वयं न ब्रूयात् । एकैवैव चारितार्थ्यात् । इदं यथा तथा तदनन्यत्वाधिकरणे प्रपञ्चयिष्यते । सिद्धान्ते यो विशेषः सोऽपि तत्रैव व्युत्पादयिष्यते । तस्मादसिन्नंशे मास्कराचार्यमत्तमदुष्टमेव ।

रामानुजाचार्यास्तु, 'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतद् । तस्मिंश्चान्यो मायया सभिरुद्धः' ।

रश्मिः ।

'सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।

सासुद्रो हि तरङ्गः कचन ससुद्रो न तारङ्गः' ॥

इत्यनेनेत्यर्थः । तेन कार्यसमवायिनोरेव भेदाभेदावङ्गीकृतौ इति यथा करमे गृह्यमाणे इत्यादिदृष्टान्तसंगतिरपि द्रष्टव्या । प्रतीतिविरोध इति इदमिहेत्यादि विभागाभावात्तादृशप्रतीतिविरोध इत्यर्थः । तस्मिन्निति भिन्नाभिन्नत्व इत्यर्थः । तथा च प्रत्यक्षतस्तर्कस्य नैर्बल्यात् प्रतीत्यनुरोधेन भेदाभेदावेवास्तेयावित्यर्थः । व्यावृत्तीत्यादि हेतुि गृह्यमाणेपि कुण्डलाद्यग्रहणात्कुण्डलादिव्यावृत्तिर्यासां न भेदनिबन्धना, अपि तु मुकुटादीनामवस्थात्वेन हेमस्तदवस्थाभावनिबन्धना सामानाधिकरण्यस्य कार्यतासमयजन्यत्वेन तदानीं सामानाधिकरण्याभावाच्च तन्निबन्धना च । एवं कुण्डलादिविशेषजिज्ञासापि न भेदनिबन्धना एवं तयोरुपपत्तेरित्यर्थः । न त्वनिर्वचनीयत्वमिति दृष्टान्ताभावान्मानाभावात्खण्डितत्वाच्चेत्यर्थः । यदप्यभेदोपादानैवेत्यादिनाऽभेदस्य भेदानधीनत्वं भेदस्य चाभेदाधीनत्वमित्युक्तं तदपि न मञ्जुलम् । अभेदस्य भेदाभावरूपत्वेन भेदरूपप्रतियोगिसापेक्षत्वादित्यपि ध्येयम् । स्वरूपेत्यादि घटादिस्वरूपेत्यर्थः । तथा च षटः पट इत्यादिनामधेयमेव मिध्या न तु कम्पुत्रीवाचाकारोपीति भावः । एवेति पूर्वतन्त्रे षष्ठस्य तृतीयपादे द्रव्यकर्मणोस्तादात्म्यं भेदाभेदावङ्गीकृत्य वर्णितौ वैयाकरणानामपि तौ संमतावित्येवकारः । प्रकृते तु भेदाभेदौ पूर्वतन्त्र एव विधेः प्रेरकत्ववत् न त्तरतन्त्रे 'प्रवर्तकत्वं कृष्णस्य न विध्यर्थस्य कर्हिचित्' इतिवाक्यात्तदभेदः । अस्मानित्यादि नक्षत्राणामुदयो यतो भवत्यस्मात्प्रत्यक्षात् । अस्मानित्यादि शसन्तं पदं वा, अन्यः सन्निरुद्ध इत्युक्तसन्निरोधार्थम् । अन्य इति अस्मत्पदार्थो जीवः । संनिरुद्धः 'अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मावां च तदपाश्रयाम् । यया संमोहितो जीवः' इतिवाक्यान्नुगुणः । श्वेताश्वतस्स चतुर्थाध्यायस्य

भाष्यप्रकाशः ।

‘मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्’ इत्यादिश्रुतिष्वचिद्वस्तुचिद्वस्त्वीश्वराणां यथापथं भोग्यत्वभोक्तृत्वनियन्तृत्वैः स्वरूपविवेकात् त्रयोऽपि भिन्नाः । तथा, ‘यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति एष त आत्मानन्तर्याम्यमृतः’ इत्यारभ्याऽऽपोऽग्निरन्तरिक्षं वायुर्द्यौरादित्यो दिशश्चन्द्रतारकमाकाशस्तमस्तेजः सर्वाणि भूतानि प्राणा वाक् चक्षुः श्रोत्रं मनस्त्वग् विज्ञानं रेत इत्येतानि काष्णपाठेन, विज्ञानस्थाने, आत्मा लोकयज्ञवेदाश्चाधिका माध्यन्दिनपाठेन, वाजसनेयके बृहदारण्यकेऽन्तर्यामिब्राह्मणे ब्रह्मशरीरत्वेनोक्ता ब्रह्मण आत्मत्वं चोक्तम् । सुबालोपनिषदि तु वाजसनेयक उक्ताः पृथिव्यादयस्तत्रानुक्ताश्च बुद्धिचिदाव्यक्ताक्षरमृत्यवश्च शरीरत्वेनोक्ताः । ‘यः पृथिवीमन्तरे संचरन् यस्य पृथिवी शरीरं यं पृथिवी न वेद एष सर्वभूतान्तरात्मा दिव्यो देव एको नारायणः’ इत्यारभ्य ‘यस्य मृत्युः शरीरम्’ इत्यन्तेन तथोक्तम् । तेन पृथिव्यादीनां स्थूलानामव्यक्तादीनां सूक्ष्माणां च शरीरत्वश्रावणात् । स्थूलसूक्ष्मभेदेन द्विविधस्याप्यचिद्वस्तुनो ब्रह्मशरीरत्वम् । अव्यक्तादीनि त्वव्यक्ताऽक्षरतमांसि गुणत्रयसाम्यावस्थारूपायाः प्रकृतेरेव सूक्ष्मपरिणामविशिष्टानि रूपान्तराणि तेषु मूलभूतरूपं तमः । सुबालोपनिषदेव प्रलयप्रकरणे, ‘पृथिवी अप्सु लीयते आपस्तेजसि तेजो वायौ वायुराकाशे आकाशमिन्द्रियेषु इन्द्रियाणि तन्मात्रेषु तन्मात्राणि भूतादौ भूतादिमर्हति महान् अव्यक्ते अव्यक्तमक्षरे अक्षरं तमसि लीयते तमः परे देव एकीभवति’ इत्यविभागापत्तिदशायां विभागव्यपदेशानर्हिरूपेण तस्यैवावस्थानात् । शरीरकथनप्रस्तावे च तमःस्थाने मृत्योः श्रावणान्मृत्युशब्देनात्र तम उच्यते इति निश्चीयते इति तस्यापि शरीरत्वं निर्वाच्यम् । एवं काष्णोक्तविज्ञानस्थाने आत्मनः श्रावणाच्चिद्वस्तुनोऽपि ब्रह्मशरीरत्वमसिद्धिगम्यम् । एवं सर्वावस्थावस्थितचिदचिद्वस्तुशरीरतया तत्प्रकारः परमपुरुष एवेति ‘सदेव सोम्येदमग्र आसीत्’ ‘सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्’ इत्यादौ जगतो ब्रह्मत्ववादः । प्रपञ्चरूपे रश्मिः ।

श्रुतिरेव । श्रुत्यंशमायिमायापदे व्याकरोति मायां त्वित्यादि । अचिदित्यादि विश्वमित्यचित्, मायया संनिरुद्धोऽन्यश्चित्, मायीश्वरस्तेषां यथायथं श्वेताश्वतरपञ्चमाध्याये

‘बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।

भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते’ ॥

इत्युपक्रम्य कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसंपद्यते ‘स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति’ इति भोग्यत्वभोक्तृत्वे ‘सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा’ इति नियन्तृत्वं चोक्तं तैरित्यर्थः । आदिशब्दार्थभूतां श्रुतिमाहुः यः पृथिव्यामित्यादि । आपोऽग्निरित्यादि ‘योऽप्सु तिष्ठन् अपामन्तरः’ इत्यादि । एवं ‘अत्रो तिष्ठन्नग्रेन्तरः’ इत्यादि । एवमग्रेपि । बुद्धिचित्तेति यो बुद्धिमन्तरे संचरन् यस्य बुद्धिः शरीरमित्यादि । एवमग्रेपि । श्रुतिमाहुः यः पृथिवीमित्यादि । तथोक्तमिति पृथिव्यादीनि शरीरत्वेनोक्त्वा ब्रह्मण आत्मत्वं चोक्तम् । इति भोग्यभोक्तृनियन्तृत्वान्युक्तानि । तस्यैवेति तमस एवेत्यर्थः । अत्यन्तविस्मरणरूपमृत्योः कथं शरीरत्वमित्यतो मृत्योः शरीरत्वं कथयन्ति शरीरेत्यादि । अत्रेति शरीरप्रस्ताव इत्यर्थः । तस्यापीति मृत्योरपीत्यर्थः । अन्यया सुबालोपनिषत्स्यशरीरप्रस्तावप्रलयप्रकरणयोरेकवाक्यतया न सादिति भावः । सत्यं चानृतं चेति चिदाचिद्वैल्यर्थः ।

भाष्यप्रकाशः ।

शरीरे प्रलयदशायां तमःशब्दवाच्यातिवृक्षमाचिद्वस्त्वेकशेषे सति तमसि च स्वशरीरतया विनिर्देशानर्हातिवृक्षमदशापत्या स्वस्मिन्नेकतापत्ते सति तथाभूततमःशरीरं ब्रह्म पूर्ववद्, विमक्तनामरूपचिदचिन्मिश्रप्रपञ्चरूपः स्यामिति संकल्प्याप्ययक्रमेण जगच्छरीरतयाऽऽत्मानं परिणामयतीति सर्वेषु वेदान्तेषु परिणामोपदेशः । अतः स्थूलसूक्ष्मचिदचित्प्रकारं ब्रह्मैव कार्यं कारणं चेति जगतो ब्रह्मोपादानकत्वेऽपि सूक्ष्मचिदचिदीश्वरसंघातस्यैवोपादानत्वेन चिदचित्तोर्ब्रह्मणश्च भोक्तृत्वभोग्यत्वनियामकत्वरूपस्वभावासंकोऽप्युपपन्नतरः । शुक्लकृष्णरक्ततन्तुसंघातोपादानके चित्रपटे तत्तत्तनुप्रदेश एव शौकल्यादिवत् तत्र तत्र भोक्तृत्वादीनां शक्यवचनत्वात् । एतावान् परं विशेषः । तन्तुनां पृथक्संस्थितियोग्यत्वात् पुरुषेच्छया कदाचित् संघातात् कारणत्वं कार्यत्वं च कादाचित्कम् । इह तु चिदचित्तोः सर्वावस्थयोः परमपुरुषशरीरत्वेन तत्प्रकारतयैव पदार्थत्वात् सर्वदा सर्वैः शब्दैस्तत्प्रकारः परमपुरुष एव वाच्य इति । ‘अहमिमास्तिष्ठो देवता अनेन जीवेनात्माऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि’ इत्यत्र तिलो देवता इत्यनेन सर्वमचिद्वस्तु निर्दिश्य तत्र स्वात्मकजीवानुप्रवेशेन नामरूपव्याकरणवचनात् सर्वे वाचकाः शब्दा अचिज्जीवविशिष्टपरमात्मन एव वाचका इति कारणावस्थपरमात्मवाचिना शब्देन कार्यवाचिनः शब्दस्य सामानाधिकरण्यं मुख्यवृत्तमिति विशिष्टाद्वैतवादमङ्गीकृत्य चिदचिद्विशिष्टस्यैवोपादानत्वं रोचयन्ते ।

तदपि चिन्त्यम् । आदिसृष्टिप्राक्काले सूक्ष्मचिदचिच्छरीरवैशिष्ट्यस्य वक्तुमशक्यत्वात् । ‘सदेव सोम्येदमग्र आसीद्’ ‘एकमेवाद्वितीयम्’ इत्यत्रैवकारादिभिरितरन्यवच्छेदात् । न च तैः शरीर्यन्तरं मुख्यान्तरं मिषदन्तरं च व्यवच्छेद्यते, न तु शरीरममुख्यममिषद्वैति वाच्यम् । पुरुषविधब्राह्मणे, ‘आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत्’ इत्यनुवीक्षाया अन्यदर्शननिषेधस्य च विरोधापत्तेः । न च तत्राप्यन्यपदेन शरीर्येव रश्मिः ।

सच्चासचेति वार्थः । प्रलयदशायां विशिष्टाद्वैतं साधयन्ति प्रपञ्चेत्यादि । पूर्ववदिति पूर्वसृष्टिवैल्यर्थः । अन्ययक्रमेणेति पृथ्वी अप्सु लीयते इत्याद्युक्तक्रमेणेत्यर्थः । संघातादिति संघातमात्रं प्राप्येत्यर्थः । इमा इति अनुप्रवेशकर्मशब्देन स्थूलसूक्ष्मचिदचित्प्रकारब्रह्मेतिशब्देन । शब्दस्येति स्थूलसूक्ष्मचिदचित्प्रकारं ब्रह्मैव कार्यमिति शब्दस्य सामानाधिकरण्यं भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वे सत्यकार्यभोक्तृत्वरूपम् । अयं न ब्रह्माद्वैतवाद इतीमं पक्षं दूषयन्ति तदपीत्यादि । आदिसृष्टीत्यादि हिरण्यगर्मसृष्टेरादिसृष्टिः वक्ष्यमाणा । तैरिति सद्विदमग्रेकाद्वितीयपदैरित्यर्थः । तत्र सद्विदपदार्थ्यां शरीर्यन्तरं, सचेदं चैवासीदित्यर्थात् । मुख्यवाचिनैकपदेन मुख्यान्तरमद्वितीयमित्यनेन द्वितीयं, सव्यापारं वस्तु यत्र नास्तीति मिषदन्तरमिति । नत्वेत्यादि इदं जगत् सदात्मनेवासीन्न तु पृथगित्यर्थेन शरीररूपजगद्भवच्छेद्यते । एकमेवेत्यनेनामुख्यमद्वितीयमित्यनेन सव्यापारमिति नार्थ इत्यर्थः । आत्मैवेदमित्यादि । अग्रे सृष्टिप्राक्काले अनुवीक्ष्य स्वस्मिन् लयात्स्वादात्मानं वीक्ष्येत्यर्थः । विरोधेत्यादि तमोविशिष्टात्मानुवीक्षणेनान्यसत्त्वेन च विरोधापत्तेरित्यर्थः । शरीर्येवेत्यादि तथाचान्यत् शरीरं चिदचिद्विशिष्टं वा नापश्यदित्यर्थात् विरोध इत्यर्थः । एवकारेण शरीरं द्वितीयैवकारेण वैशिष्ट्यं चिदचिद्विशिष्टान्तरं वा व्यवच्छिद्यते । यथात्मनः शरीरित्वं चिदचिद्विशिष्टत्वं वा सिद्धेतदात्मनोऽन्यच्छरीरं चिदचिद्विशिष्टं वा नापश्यदित्यर्थो भवेत्

भाष्यप्रकाशः ।

विशिष्ट एव वा परामृश्यतेऽतो न विरोध इति वाच्यम् । तत्र तादृशपरामर्शस्याशक्यवचनत्वात् । तथाहि-तत्रात्मा किं स्वशरीरं विशेषणत्वेन शरीरत्वेन वा अमिषत्वेन वा परामृशत्यात्मत्वेन वा । नाद्यः । तस्य पार्थक्ये सत्यात्मानुवीक्षणस्य तदन्यादर्शनस्य च यथायथं भ्रमत्वाद्वातापादकत्वयोरापत्तेः । तमस एकीभावस्य स्वशरीरतया विनिर्देशानर्हातिष्ठस्मदशापत्तिरूपाङ्गीकारेण तदानीं पार्थक्यस्य शरीरत्वस्य वानभिमतत्वात् । न तुरीयः । आत्मत्वेन परामर्शे तेन प्रमाणज्ञानेनैवाभेदसिद्धौ भेदापादकप्रमाणाभावेन वैशिष्ट्याभावे केवलब्रह्माद्वैतवादस्यैव सिद्धेः । नच सुवाल्लोपनिषद्येषां प्रलयकथनात् तमसस्तदनुक्तवैकीभावकथनादन्येभ्यः कश्चिद्विशेषो वक्तव्यः । स च स्वरूपातिरोभावपूर्वकाविभागापत्तिरूप एव युक्तः । अन्यथा शब्दान्तरवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । सिद्धे चैवं तमःस्वरूपातिरोभावे तदानीं वैशिष्ट्यस्याविलोपादुत्पत्तौ च, 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इति प्रतिस्मृतिपूर्वतुल्यताभ्रावणेन सर्वदा स्मृतिप्रलयक्रमस्यैकरूप्ये सृष्टावपि शरीरत्वेन वैशिष्ट्याद् विशिष्टाद्वैतवादस्यैव सिद्धिर्न केवलब्रह्माद्वैतवादस्येति तदानीं विशिष्टतरादर्शनमेव तदर्थं इति वाच्यम् । उक्तश्रुत्योरवान्तरपर्याक्तित्वप्रलयसृष्टिविषयत्वेनाप्युपपत्तौ सर्वदैकरूप्यस्य नियन्तुमशक्यत्वात् । 'यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः । तथाऽध्वराद् विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र वैवापियन्ति' इति विस्फुलिङ्गन्यायेन सहोत्पत्तिप्रलयश्रावणात् । सूर्याचन्द्रमसावितिलिङ्गेनास्या अवान्तरविषयत्वावगमात् अनुवीक्षणादिश्रुत्यनुरोधेन सौवालवाक्येऽपि तथात्वस्य वक्तुं युक्तरिमः ।

तदेव पुनर्न संभवतीति वक्तुमात्मनः शरीरित्वं विकल्प्य दूषयन्ति तत्रात्मेत्यादि । चिदचिच्छरीरविशिष्ट आत्मेत्यत्र शरीरे विशेषणत्वं शरीरत्वमात्मत्वं व्यापारराहित्यं च सृष्टिप्राक्कालीनत्वादस्ति, आनन्दरूपत्वेत्वात्मत्वम् । अनुवीक्ष्येत्यस्य कर्मत्वेनार्थादात्मैवान्वेतीत्याशयेनाहुः आत्मानुवीक्षणस्येति । भ्रमत्वेत्यादि तमोविशिष्टे आत्मनि द्रष्टव्ये आत्ममात्रदर्शनस्य भ्रमत्वमात्मान्यस्य सत्त्वात् । तददर्शनेऽज्ञतेति बोध्यम् । स्वमते तु शुद्धात्मनो विषयत्वेन ज्ञानस्य विषयताविषयत्वात् तथात्वापत्तेः । तेनेति आत्मत्वप्रकारेणेत्यर्थः । प्रमाणमात्मा 'अत्र प्रमाणं भगवान्' इतिवाक्यात् । तथाच प्रमाणविषयकज्ञानेन प्रमाणेत्यत्र भावे ल्युट् प्रमेत्यर्थः । प्रमात्मकज्ञानेनेत्यर्थः । वैशिष्ट्येत्यादि वैशिष्ट्यस्य भेदनिबन्धनत्वाद्द्वैशिष्ट्याभावः इत्यर्थः । तदनुक्तवेति प्रलयमनुक्तवेत्यर्थः । अन्येभ्य इति पृथिव्यादिभ्यस्तमसि विशेषः इत्यर्थः । सचेति तमोनिष्ठो विशेष इत्यर्थः । शब्दान्तरेत्यादि लीयत इति शब्दादन्य एकीभवतीति शब्दस्तस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गादित्यर्थः । मयूरव्यंसकादेराकृतिगणत्वात्समासः पूर्वपदार्थप्रधानः । तदर्थं इति नान्यदपश्यदित्यस्यार्थ इत्यर्थः । उक्तेत्यादि पृथिव्यप्सु लीयते इत्यादिसूर्याचन्द्रमसावित्यादिश्रुत्योरित्यर्थः । अवान्तरसृष्टिप्रलयविषयत्वे हेतुनाहुः यथेत्यादि । सहेत्यादि तथाचादिसृष्टौ सहोत्पत्तिप्रलयाविति क्रमसृष्टिप्रलयाववान्तरावित्यर्थः । पूर्वाधिकरणान्तिमवर्णके क्रमसृष्टिर्ब्रह्मण उक्तेति कथमेवमित्यरुच्या हेत्वन्तरमाहुः सूर्येत्यादि । लिङ्गेनेति सामर्थ्येन शक्यार्थेनेति यावत् । अवान्तरेत्यादि अन्यथा सर्वेषां कर्मत्वयुक्तं सादित्यर्थः । अनुवीक्ष्यादि अत्रेदं हृदयम् । इदमात्मैवेत्यत्रैवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदकः विशेष्यसंगतत्वात् । तथाचात्मान्स्मिन्नित्वव्यवच्छेद आत्मनि चेदत्वं प्रतीयते । एवं चात्मातिरिक्तमिदं जगन्न भवतीति फलति । कथं तर्हि जगदन्तर्गततमःसत्तेति । एवमनुरोधेनेत्यर्थः । सौवाल्लेत्यादि तमः परे देव एकीभव-

भाष्यप्रकाशः ।

त्वात् । अस्तु वा सौवालवाक्यस्यादिसृष्टिविषयत्वं, तथापि न तदानीं वैशिष्ट्यसिद्धिः । पृथिव्यादीनां नादेयसाद्ब्रह्मसलिलैक्यवदविभागापत्तिरूपप्रलयस्य तमसश्च करकाणां जलैक्यवत् पूर्वभावापत्तिरूपस्य ब्रह्मैक्यस्य शक्यवचनत्वात् । आत्मपदस्य केवलत्वात्वाचित्वेन विशेषणान्तरसंप्रदाहमत्वात् । अन्यथा देहविशिष्टात्मप्रत्ययस्यापि प्रामाण्यापत्तेः । नच निर्विशेषत्वापत्तिः । तच्चिदानन्दरूपाकारस्य 'कृत्वः प्रज्ञानधनः', 'आनन्दरूपममृतं यद् विभाति' इत्यादिश्रुतिभिस्तत्सिद्धेः । तस्मात्, 'सदेव सोम्य' इत्यत्र सच्छब्देन केवलं ब्रह्मैव परामृश्यत इति मन्तव्यम् । आत्मपदवत् सत्यदस्यापि केवलब्रह्माभिधायित्वात् । 'ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः' इति गीतावाक्येन तथा निर्णयात् । एवं तैत्तिरीयेऽपि सत्यज्ञानादिलक्षणं ब्रह्म प्रकृत्य तत् एव सर्वज्ञादाकाशादिक्रमेण सृष्टिश्रुत्वा, उपादानतां च, 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजापतेय' इति स्थिरीकृत्य केवलस्यैवोपादानत्वाय 'तदात्मानं स्वयमकुरुत' इत्यात्मन एव कर्मत्वं कर्तृत्वं च श्राव्यते । 'सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्' इति केवलब्रह्मवाचकसत्यपदेन प्रपञ्चस्यापि ब्रह्मता विधीयत इति तत्रापि पूर्वोक्त एवार्थ इति प्रथमसृष्टौ शुद्धं ब्रह्मैवोपादानम् ।

किंच । श्रुतौ हि प्रकारद्वयेन निरूपणम् । आत्मत्वेन ब्रह्मत्वेन च । आत्मैवेदं सर्वं, ब्रह्मैवेदं सर्वमिति । इदं च पदद्वयं व्याप्तिं बृंहणत्वं चापेक्ष्य । यद्यप्युभयोः स्वरूपमानन्दस्यथापि सप्रकार आत्मा, निष्प्रकारं ब्रह्मेति भेदः । तत्रायमात्मा ब्रह्म विज्ञानमय इत्यात्मनोऽपि ब्रह्मत्वविधानाद् व्यासेनापि ब्रह्मजिज्ञासाया एव प्रतिज्ञानाच्च निष्प्रकारमेव मुख्यम् । तस्यैव चाग्रे काण्ठत्वविचारणमित्यतोऽपि तादृशमेवोपादानम् ।

किंच । अन्तर्यामिब्राह्मणे सुवाल्लोपनिषदि च, 'यं पृथिवी न वेद, यं मृत्युर्न वेद,' इत्येवं सर्वावस्थावसितस्याचिद्वस्तुनोऽवेष्टुत्वं श्रावितम् । तच्च वेदनयोग्यत्व एव घटते, यमात्मा न रदिमः ।

तीति वाक्येपि तथात्वस्यावान्तरविषयत्वस्येत्यर्थः । श्रुतित्वाविशेषाद्विपरीतं किं न स्यादित्याशङ्क्याहुः अस्तु वेत्यादि । तदानीमिति प्रलयदशायामित्यर्थः । शब्दान्तरप्रयुक्तितात्पर्यमाहुः पृथिवीत्यादि । अन्यथेति आत्मनो विशिष्टत्व इत्यर्थः । प्रामाण्यापत्तेरित्यस्य प्रमात्वापत्तेरित्यर्थः । तत्सिद्धेरिति प्रसिद्धसिद्धेरित्यर्थः । एतदानन्दमयाधिकरणे स्फुटिष्यति । तस्मादिति सकलश्रुतिस्वारसादित्यर्थः । विधीयत इति न तु सर्वावस्थावसितचिदचिद्वस्तुशरीर ईश्वर इति जगतो ब्रह्मत्वप्रवादोऽनया क्रियत इति भावः । पूर्वोक्त इति सदेव सोम्येत्यत्रोक्त इत्यर्थः । निष्प्रकारमिति एतच्चारूपवदेव हीति पञ्चस्युक्तमेकदेशितममप्यङ्गीकुर्वता व्यासेन निर्णीतं पूर्ववद्वेति सृष्टे तदनुसारेण ज्ञेयम् । तदेतत्तृतीयाध्याये स्फुटम् । अथवा भौतिकशरीरराहित्येन केवलानन्दरूपमित्यर्थः । इदं रूपद्वयं प्रयोगे । इन्द्रं न्यञ्चि पात्राणि प्रयुनक्तीति गृह्यसुत्रात् । अचिपूजने । इन्द्रं शुक्लुवादि-रूपमेवं ब्रह्मत्मेति इन्द्रम् । स्वरूपलक्षणयुक्तं ब्रह्म समष्टिः । 'सदेव सोम्य' इत्यत्र 'तदेव ऐश्वर्य' 'आनन्दाश्चैव खल्विमानि' इत्यादौ व्यष्टिः । व्याहृतिर्ब्रह्म, श्रीभागवतद्वितीयस्कन्धे । अत्रादिष्व-विरहानुभवार्थमित्यानन्दमयाधिकरणे, वायुः प्रत्यक्षं ब्रह्म । मुख्यनिष्प्रकारमिति सिद्धिस्त प्रकाराः सत्त्वादयो यस्मात् । द्वितीयस्कन्धनवमाध्याय उपपद्यमिदं मतमित्येवकारः । अत-

केचिदत्र शास्त्रयोनित्वपूर्वपक्षनिराकरणाय, तच्च समन्वयादिति योजयन्ति । तत् पूर्वपक्षसिद्धान्तयोर्द्वयोरप्यसंगतत्वादुपेक्ष्यम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

वेदेतिवत् न त्वयोग्यत्वे । घटो न वेदेत्यादिप्रयोगादर्शनात् । अतः सर्वत्र चिदन्वयोऽवश्य-
मुपेयः । सदन्वयस्तु प्रत्यक्षसिद्ध आनन्दान्दयश्चेत्यतोऽपि ब्रह्मैवोपादानम् । नच मृदन्नवीदित्यादा-
विवाभिमानिनमादाय तथोक्तिरिति वक्तुं शक्यम् । जीवानुप्रवेशकृततद्वैशिष्ट्यस्य पाश्चात्यत्वेन
पूर्वं युष्माभिस्यथा वक्तुमशक्यत्वात् । अनुप्रवेशश्रुतिविरोधेन सर्वदा वैशिष्ट्यस्याशक्यवचनत्वात् ।
सदैवाविनाभावे चिदचिदविवेकप्रसङ्गात् । आत्मा न वेदेति पृथक्निर्देशवैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च । अत
उक्तलिङ्गेनापि ब्रह्मण एव केवलस्य परिणामनिश्चयादुपादानत्वम् । नच स्वभावसांकर्यप्रसङ्गः ।
प्रजापेयेतीच्छयेवोच्चनीचादिभावसिद्धौ सांकर्याभावात् । सृष्टिप्रसङ्गाले त्वितरामावेनैवाशङ्कानुत्था-
नात् । अतो विशिष्टाद्वैतवादास्वार्वाचीनत्वात् । सर्ववस्तूनां ब्रह्मपरिणामत्वेन ब्रह्माभिन्नतयैव
पदार्थत्वात् सर्वैः शब्दैस्तत्तद्रूपं ब्रह्मैवोच्यत इति कारणावस्थब्रह्मवाचिना शब्देन कार्यवाचिनां
शब्दानां सामानाधिकरण्यमुपपादनमन्तरेणापि मुख्यवृत्तमिति राद्धान्तपन्थाः ।

प्रकृतमनुसरामः । अस्मिन् घट्टे रामानुजाचार्यादिमतमुपक्षिपन्ति केचिदित्यादि ।
ते हि पूर्वपक्षसिद्धान्तावेवमाहुः । तथाहि । यद्यपि शास्त्रयोनित्वघट्टे ब्रह्मणः शास्त्रमात्रप्रमाण-
कत्वं साधितं तथापि तन्नोपपद्यते । 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः', 'तस्य ज्ञानमुपदेशः', 'तद्भूतानां
क्रियार्थेन समान्नायः', 'आज्ञायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्शानाम्' इति जैमिनिना तत्र तत्र
रश्मिः ।

एव मुख्यमिति । अत इति प्रसक्तस्य निषेधयोगादित्यर्थः । आनन्देत्यादि स्त्रीपुत्रादयः
प्रिया इति प्रतीतेः प्रत्यक्षसिद्ध इति शेषः । तथोक्तिरिति यं पृथिवी न वेद इत्याद्युक्तिरि-
त्यर्थः । तद्वैशिष्ट्यस्येति अभिमानिवैशिष्ट्यस्येत्यर्थः । पूर्वमिति जीवप्रवेशात्पूर्वमित्यर्थः ।
ननु सर्वावस्थावस्थितं विशिष्टमिति चेत्तत्राहुः अनुप्रवेशेत्यादि । अनुप्रवेशो हि भूतपूर्वं अचिद्वस्तुनि
चित्तः पश्चात्प्रवेशः स च सर्वदा वैशिष्ट्ये न घटत इत्यर्थः । ननु तिस्रो देवता इत्यनुप्रवेश-
श्रुतौ श्रावणादेवताविशिष्टे एवाचिद्वस्तुनि जीवप्रवेशे नानोरनर्थकत्वात्सर्वदा वैशिष्ट्यं शक्यवचनमिति
चेत्तत्राहुः सदैवेत्यादि । ननु पृथिवीशरीरयोरात्मवैशिष्ट्येन मा भूदिवेकः परं तु शरीरशरीरयोस्तु
विवेको भविष्यतीति कथंचिदचिदविवेकप्रसङ्ग इति चेत्तत्राहुः आत्ममेत्यादि । पृथगित्यादि
अचित्तः पृथिव्या इत्यर्थः । तथाच पृथिवी न वेदेत्यत्राचित्त्वमेव विवक्षितमिति भावः । उक्त-
लिङ्गेनेति अचित्तोऽवेचुत्वकथनसामर्थ्येनेत्यर्थः । ब्रह्मण इति सच्चिदानन्दानां कार्ये दर्शनाद्ब्र-
ह्मण एव न त्वात्मन इत्यर्थः । स्वभावेति चित्त्वादिस्वभावित्यर्थः । सच्चिदानन्देषु क्रमेण नीचो-
च्चोच्चतरेषु सांकर्यं नीचत्वादिभ्यामुच्चतरसांकर्यं मेलनम् । परस्परालम्बनाभावसमानाधिकरणयोर्धर्मयो-
रेकत्र समावेशः संकरोप्ययम् । सांकर्येति द्रष्टृसांकर्याभावात् । इतरेति अचिदित्यर्थः । अत
इति चि(स)दानन्दयोः फलत्वात् । अर्वाचीनेत्यादि अचिदधीनत्वेन सृष्टेः पाश्चात्य-
त्वादित्यर्थः । सर्वैः शब्दैरिति 'अभित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्' इति माण्डूक्यश्रुतेः ।
तत्तद्रूपमिति 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूपम्' इति श्रुतेः मुख्यवृत्तमिति आकाशसल्लिङ्गाद्यधिकरणेषु
स्फुटमेतत् । भाष्ये । शास्त्रेत्यादि शास्त्रयोनित्वे पूर्वपक्षः शास्त्रयोनित्वपूर्वपक्षः पात्रे समिता-
दीनामाकृतिगणत्वात् 'पात्रे समितादयश्च' इति सूत्रेण समासः । सुप् सुपेति वा समासः । प्रकृते ।
त्वे हीति रामानुजभास्करशंकरशैवाचार्या इत्यर्थः । तत्र तत्रेत्यादि द्वादशलक्षण्यां प्रथमा-

भाष्यप्रकाशः ।

वेदस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिजनकक्रियापरताया एवानुकान्तत्वाद् ब्रह्मरूपसिद्धार्थपरत्वे प्रयोजनशून्य-
त्वप्रसङ्गात् । नच प्रत्यक्षादीनां वस्तुपाथात्म्यावबोधपर्यवसानदर्शनाच्छास्त्रेऽपि तथात्वमस्त्विति
शङ्क्यम् । लोके वेदे च प्रयोजनरहितवाक्यप्रयोगस्यादर्शनात् । प्रयोजनं च प्रवृत्तिनिवृत्तिसा-
ध्येष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारात्मकमेवोपलब्धम् । तदनुद्दिश्य न केनापि किञ्चिद्वाक्यं प्रयुज्यते श्रूयते
वा । अतो वेदेऽपि तथात्वं युक्तम् । नच पुत्रस्ते जातो, नायं सपौं रजुरेयेत्यादिषु लौकि-
कवाक्येषु हर्षमयनिवृत्त्यादिरूपगुरुष्वर्थान्वयदर्शनात् सिद्धार्थपराणामपि वाक्यानां प्रयोजनवत्त्वं
शङ्कनीयम् । तत्रापि वाक्यार्थज्ञानादेव तत्प्राप्तेर्वाक्यस्य प्रतारणया प्रयोगेऽपि तत्संभवाद्
वाक्यस्यार्थपरताया निश्चेतुमशक्यत्वात् । किंच । पचति गच्छतीत्यादिप्रयोगस्य प्रमाणान्तरे-
णावगमोत्तरमेव दर्शनात् । सिद्धार्थवाक्यानां गृहीतग्राहित्वात् प्रामाण्यमपि न । साध्यार्थपरा-
णां तु सामान्येत्यादीनां प्रयोजनवत्त्वमगृहीतग्राहित्वं चाविवादम् । अतो लोकवद् वेदेऽपि
वाक्यानां प्रवृत्तिनिवृत्तिपरत्वेन ज्ञानपरत्वेन वा प्रयोजन एव पर्यवसानमिति परिनिष्पन्ने
ब्रह्मणि तात्पर्याभावात् वेदान्तानां ब्रह्मणि तात्पर्यमित्येकः पूर्वपक्षः ।

तथाऽन्योऽपि । तथाहि । वेदान्तवाक्यान्वयि कार्यपरतयैव ब्रह्मणि प्रमाणभावमनु-
भवन्ति । अद्वितीयं ज्ञानैकरसं परिनिष्पन्नमपि ब्रह्म अनाद्यविद्यया सप्रपञ्चतया प्रतीयमानं
निष्प्रपञ्चं कुर्यादिति ब्रह्मणः प्रपञ्चविलायनद्वारेण विधिविषयत्वात् । स च विधिः, 'न दृष्टे-
र्दृष्टारं पश्येन मतेर्मन्तारं मन्वीथा' इत्येवमादिर्बोध्यः । तत्र द्रष्टृदृश्यभेदशून्यं ब्रह्म कुर्या-
रश्मिः ।

ध्याय इत्यर्थः । प्रथमपादे द्वितीयपादे-चेति वार्थः । तथात्वमिति सिद्धार्थब्रह्मयाथात्म्यावबोध-
पर्यवसानं प्रयोजनमस्त्वित्यर्थः । प्रवृत्तीत्यादि प्रवृत्तिनिवृत्तिभ्यां साध्यौ इष्टानिष्टयोः प्राप्तिपरिहारौ
यौ तदात्मकमित्यर्थः । अर्थार्थौ राजकुलं गच्छेत्, मन्दाग्निर्नाम्बु पिबेत्, स्वर्गकामो यजेत,
न कलञ्जं मङ्गयेदित्यादिषु द्रष्टव्यम् । तत्प्राप्तेरिति हर्षस्य भयनिवृत्त्यादेश्च प्राप्तेरित्यर्थः । तत्सं-
भवादिति हर्षमयनिवृत्त्यादिसंभवादित्यर्थः । अर्थेत्यादि प्रयोजनपरताया इत्यर्थः । प्रमा-
णेत्यादि प्रत्यक्षप्रमाणेनेत्यर्थः । अवगमत्वादि पाककर्तुर्गमनकर्तुर्भेत्यर्थः । गृहीनेत्यादि
चक्षुषा गृहीतं यत्प्रात्रज्वादि तद्ग्राहित्वादित्यर्थः । नेति अनधिगतार्थगन्तृत्वस्य प्रमाणलक्षणत्वा-
दिति भावः । अगृहीतेत्यादि अगृहीतं साध्यं गवां नयनादि तद्ग्राहित्वम् । वाक्यानामि-
त्यादि सिद्धार्थपराणां साध्यार्थपराणां च । प्रवृत्तीत्यादि व्याख्यातम् । प्रयोजन एवेति
ब्रह्मज्ञानमपि फलं साध्यमिति प्रयोजन एव तनु सिद्धमित्यर्थः । ब्रह्मणीति सिद्धार्थं ।
वेदान्तेत्यादि ब्रह्मणीत्यत्र सप्तम्या विषयत्वमर्थः । तथा च ब्रह्मविषयकप्रमाणजनकत्वं वेदान्तवाक्या-
न्यनुभवन्त्याभयन्ते धातूनामनेकार्थत्वादित्यर्थः । निष्प्रपञ्चमित्यादि द्रष्टृदृश्यरूपप्रपञ्चविलय-
द्वारेण ज्ञानैकरसं ब्रह्म कुर्यात् भावयेद् ज्ञानविषयीकुर्यादित्यर्थः । विधीत्यादि सिद्धस्यापि घटस्य
निर्जलं (सजलं) घटं कुर्यादिति विधिविषयत्ववचयेत्यर्थः । द्रष्टृदृश्येत्यादि दृष्टिमात्रं
ब्रह्म कुर्यादित्यर्थः, गुणविधिरयं ब्रह्मणः सिद्धत्वात्, दक्षा ब्रह्मोतीतिवत् । तत्र धात्वर्थस्य द्योः भाव-
नायां कर्मत्वेनान्वयः, न तु करणत्वेन । गुणकामाधिकरणे द्योन्निप्रयकामस्य ब्रह्म्यादित्वात्प्रयत्नेन

भाष्यप्रकाशः ।

दिलेवमर्थसिद्धेः । अतः स्वनिबन्धनाया उपाधिनिबन्धनायाश्च कर्तव्यतायाः प्रामाण्ये विशेष-
णामावात् सिद्धस्यापि ब्रह्मणोऽनिष्पन्नतारूपेण साध्यत्वाविरोधात् वेदान्तानां ब्रह्मणि कार्यपरत-
यैव प्रामाण्यं, न स्वातन्त्र्येणेति द्वितीयः पूर्वपक्षः ।

तथाऽपरोऽपि । यद्यपि वेदान्तवाक्यानां स्वातन्त्र्येण सिद्धरूपब्रह्मस्वरूपपरतया न प्रामाण्यं,
तथापि 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः,' 'य आत्माऽपहृतपाप्मा
सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः,' 'आत्मैत्येवोपासीत्,' 'आत्मानमेव लोकमुपासीत्' इत्यादि-
ध्यानविषयो नियोगः स्वविषयभूतध्यानस्य ध्येयैकनिरूपणीयतया ध्येयमाक्षिपन्, 'सत्यं
ज्ञानमनन्तं ब्रह्म,' 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्,' 'इदं सर्वं यदयमात्मा,' 'अयमात्मा ब्रह्म
सर्वानुभूः' इत्यादिस्वरूपतद्विशेषपरवाक्यनिर्दिष्टस्वरूपमेवात्मानमाक्षिपतीत्येषां वाक्यानां ध्यान-
विधिशेषतयैव प्रामाण्यात्, तद्विधिविषयीभूतध्यानशरीरानुप्रविष्टब्रह्मस्वरूपेऽपि तात्पर्याद्, ब्रह्म-
स्वरूपमपि सिद्धत्वेवेति चेन्न । प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजनविधुराणां वेदान्तवाक्यानां ध्यानविधि-
शेषत्वेऽपि ध्येयविशेषस्वरूपसमर्पणमात्रपर्यवसानात् तत्र स्वातन्त्र्येऽपि बालातुराद्युपच्छन्दनवाक्य-

रश्मिः ।

धात्वर्थान्वयस्वीकारेण तस्यानियतत्वात् । यद्यप्यत्र कर्मत्वबोधकद्वितीयाभावस्तथापि भावनायां
धात्वर्थं (प्रेक्षणं) संबन्धस्य प्रतीतिः स साध्यत्वेन स्वीक्रियत इति कर्मत्वेनान्वयो निराबाधः ।
द्रष्टारमित्यस्य धात्वर्थेन सहाश्रयतासंसर्गोपान्वयः द्रष्टुः प्रेक्षणश्रयामेदात् । दृष्टेरित्यत्र पञ्च-
म्या भेदोर्थः । नञस्त्वभावरूपोर्थः । दृष्टिपदं स्वविषये स्वाविनाभूते दृश्ये लाक्षणिकं सद् दृश्यमा-
त्रोपलक्षकम् । तद्वेदस्य द्रष्टृदृश्यभेदरूपस्य प्रतियोगितासंबन्धेन नञर्थेऽभावोऽन्वयः । तस्य च
स्वीयसंबन्धेन धात्वर्थोऽन्वयः । एवं न मतेर्नन्तारमित्यत्रापि द्रष्टव्यम् । तदाहुः एवमर्थसिद्धे-
रिति । एवं च दृष्टेर्न इत्यंशस्य द्रष्टृदृश्यभेदशून्यमित्यर्थः । द्रष्टारमित्यस्य ब्रह्मेत्यर्थः । चक्षुराद्यपेक्ष-
या ब्रह्मणो द्रष्टृत्वात् । परयेत् द्रष्टृदृश्याधारं परयेत् । द्रष्टृदृश्यभेदरूपाधेयशून्यं कुर्यादित्यर्थः ।
अतः स्वेत्यादि साध्यस्थले स्वनिबन्धना सिद्धस्थले तूपाधिनिबन्धना निष्प्रश्नादिधर्मनिबन्धनेत्यर्थः ।
अनिष्प्रश्नेत्यादि उक्तरीतिकज्ञानविषयत्वेन रूपेणेत्यर्थः । पूर्वपक्षस्याशङ्कते यद्यपीत्यादि ।
न प्रामाण्यमिति गृहीतप्राहित्वात्नेत्यर्थः । साध्यस्वरूपपरत्वात्नेति वा । ध्यानेति निदिध्यासनं
तन्मते ध्यानं तदेकवाक्यतया विजिज्ञासादीनां ध्यानत्वमते ध्यानविषय इत्यर्थः । नियोग इति
विधिरित्यर्थः । ध्येयैकेति ध्येय आत्मैव एको मुख्यस्तेन निरूपणीयतया, ज्ञानविशेषत्वेन घटादि-
ज्ञानवत् । श्रुतावयमात्मा जीवात्मा । तद्विशेषेति जीव इत्यर्थः । ध्यानविधीति पारार्थ्य
शेषलक्षणम् । विध्यर्थतव्यलिङ्गादीनां प्रामाण्यं तव्यादिविशिष्टवाक्यानां तु विधिशेषतयैव प्रामा-
ण्यमिति प्रामाण्यपदमुक्तमन्वयपदं विहाय । तद्विधीति आत्मविषयकं निदिध्यासनमित्यादिरूपे
ध्यानशरीरे अपिशब्दौ विधिशेषेण साकं ब्रह्मस्वरूपसमुच्चयकौ । ध्यानमनु पश्चात्त्रिरूपकतया नु-
प्रविष्टेत्यर्थः । प्रवृत्तीत्यादि द्विपदद्वन्द्वं कृत्वा प्रयोजनशब्देन कर्मधारयस्ततस्ताम्यां विधुराण-
मिति तत्पुरुषः । ध्येयविशेषेति मात्रशब्देन ध्यानव्यवच्छेदः । बालेत्यादि यथैषधकदुतायापि

भाष्यप्रकाशः ।

वज्ज्ञानमात्रेणैव पुरुषार्थतासिद्धेः परिनिष्पन्नवस्तुसत्यतागोचरत्वाभावाद् ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वं
न संभवतीति द्वितीयः पूर्वपक्षः ।

सिद्धान्तस्तु, समन्वयः सम्यगन्वयः पुरुषार्थतयाऽन्वयः । तथाच, 'यतो वा इमानि
भूतानि जायन्ते,' 'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्,' 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इति,
'तत्तेजोऽसृजत्,' 'ब्रह्म वा इदमेकमेवाग्र आसीत्,' 'आत्मा वा इदमेकमेवाग्र आसीत्,'
'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः,' 'एको ह वै नारायण आसीत्' 'सत्यं ज्ञानम-
नन्तं ब्रह्म' इत्यादिषु परमपुरुषार्थभूतस्थानवधिकातिशयानन्दस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽभिधेयतयाऽन्वया-
च्छास्त्रप्रमाणकत्वं ब्रह्मणः सिद्धत्वेवेत्यर्थः । अन्यथा सर्वप्रमाणानां यत् स्वविषयत्वबोधपर्य-
वसायित्वं, तच्छास्त्रानिवर्तमानं शास्त्रस्याबोधकत्वरूपमप्रामाण्यमादध्यात् । नच प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्व-
यविरहिणः प्रयोजनशून्यत्वं, पुरुषार्थान्वयप्रतीतिः । स्वरूपपरस्यापि पुत्रस्ते जातः, नायं सर्पो रज्जु-
रेषेत्यादेर्वाक्यस्य हर्षमयनिवृत्त्यादिरूपप्रयोजनदर्शनाच्च । अयमर्थः । अनादिकर्मरूपाविद्यावृत्तपरा-
वरतत्त्वयाथात्म्यस्वरूपज्ञानानां देवादिदूर्वान्तानां क्षेत्रज्ञानां व्यवस्थितधारकपोषकभोग्यविशेषाणां
मुक्तानां स्वस्य चाविशेषेणानुभवसंभवे स्वरूपगुणविभावपेष्टितैर्निरवध्यानान्दजननं ब्रह्मास्तीति
बोधयदेव वाक्यप्रयोजनपर्यवसायि । प्रवृत्त्यादिनिष्ठं तु यावत्पुरुषार्थान्वयबोधं न प्रयोजनपर्यव-
सायि । एवंभूतं कथं लभ्यत इत्यपेक्षयां तत्राऽयुपायतया, 'ब्रह्मविदामोति परम्,' 'आत्मानमेव

रश्मिः ।

बालादियथार्थाशनाय नेदं कटुरिति वाक्यवदित्यर्थः । पुरुषार्थेत्यादि पुरुषेणार्थेते प्रार्थ्यते इति
पुरुषार्थ आनन्दः साध्यत्वं वा तस्यान्वयप्रतीतिसिद्धेरित्यर्थः । परिनिष्पन्नेत्यादि विधिविषयभूत-
ध्यानशरीरानुप्रविष्टब्रह्मस्वरूपं परिनिष्पन्नवस्तु । सिद्धत्वेवेति अत्यन्तायोगव्यवच्छेदकैवका-
रप्रयोगः कृतः । अन्यथेति पूर्वपक्षरीतिकशास्त्रार्थत्वे । अबोधकत्वेति योग्यताविरहप्रयुक्त-
मबोधकत्वरूपं बहिना सिञ्चतीतिवाक्याप्रामाण्यवदप्रामाण्यमादध्यादित्यर्थः । न च प्रवृत्तीति
प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च स्वर्गान्वयश्च तेषामभाववतो वेदान्तस्य । पुरुषार्थेति निरवध्यानान्दान्वयस्य
प्रतीतिः । स्वरूपपरस्येति सिद्धस्वरूपपरस्य । वेदशास्त्रान्छान्तरवेदान्ते प्रवृत्तिनिवृत्त्योः स्वर्गा-
न्वयात्सिद्धाद्विद्वस्य प्रयोजनीभूतान्दान्वयस्य दुरुपादत्वादाहुः अयमर्थ इति । अनादी-
त्यादि अनादिकर्मरूपाऽविषया आवृत्तपरावरतत्त्वयाथात्म्यरूपस्य स्वस्वरूपस्य ज्ञानं येषां तेषां
मित्यर्थः । व्यवस्थितेत्यादि इदं क्षेत्रज्ञानामेव विशेषणं न मुक्तानामसंगत्वात् । अत्र धारको ब्रह्मा
ब्रह्मं पुंसि चेति सूत्रात् । पोषको विष्णुः । शिवो नोक्तः । अनुभवसंभव इत्यस्य कर्तारि षष्ठ्या ।
तमसोनुभववाक्यत्वात् शिवस्य तामसत्वात् । भोग्यविशेषा दूर्वास्तेषाम् । स्वस्येत्यादि मुक्तानां वा
स्वस्य विशेषेणानुभवसंभव इति योजना । कर्मणि षष्ठी अनुभवसंभव इत्यस्य स्वस्येत्यानुभवविषयमाहुः
स्वरूपेति । स्वरूपमालम्बनविभावः, गुणाः अनुभावा, विभावाः संचारिणो वैराग्यादयः, चेष्टित-
मुदीपनविभावस्तैः निरवध्यानान्दो रसात्मकः तस्य जननं यस्मात् ब्रह्मण इति बहुव्रीहिः । वाक्य-
मिति पुत्रस्ते जातः नायं सर्पो रज्जुरेषेत्यादिरूपम् । यावदित्यादि स्वर्गादिरूपपुरुषार्थान्वयबोधमन-
तिक्रम्येत्यव्ययीभावः । वर्तते इति शेषः । नेत्यादि न निरवध्यानान्दपर्यवसायीत्यर्थः । आनन्द-

भाष्यप्रकाशः ।

लोकमुपासीत' इति वेदनादिशब्दैरुपासनं विधीयते । यथा वेश्मनि निधिरस्तीति वाक्येन निधिसद्भावं ज्ञात्वा पश्चात् तदुपादाने प्रयतते । यथाच कश्चिद् राजकुमारो बालक्रीडासक्तो नरेन्द्रभवनाभिष्क्रान्तो मार्गश्रेष्ठो नष्ट इति राज्ञा विज्ञातः स्वयं चाज्ञातपितृकः केनचिद्विधि-तोऽधिगतवेदशास्त्रः षोडशवर्षं गुणसंपन्नस्मिष्टन् केनचिदभियुक्तेन प्रयुक्तं 'पिता ते सर्वलोकाधि-पतिः प्रशस्तगुणः पुरवरे त्वामेव नष्टं पुत्रं दिदृक्षुस्तिष्ठति' इति वाक्यं शृणोति चेत्तदानीमेवाहं तावज्जीवतः पुत्रोऽस्मत्पिता च सर्वसंपत्समृद्ध इति महाहर्षान्वितो भवति । राजा च स्वपुत्रं जीवन्तं सकलगुणसंपन्नं श्रुत्वाऽस्वाप्तसर्वार्थो भवति पश्चात्तानुभौ संगच्छेते च । यत्तु परिनिष्प-न्नवस्तुगोचरवाक्यार्थज्ञानमात्रेणापि पुरुषार्थपर्यवसानाद् बालातुराद्युपच्छन्दनुवाक्यवन्नार्थसद्भावे प्रामाण्यमित्युक्तम् । तदसत् । निश्चितेऽर्थाभावे पूर्वं ज्ञातस्याप्यर्थस्य पुरुषार्थानुपयोगात् । बालातुरादीनामप्यर्थसद्भावभ्रान्त्या पूर्वं हर्षाद्युत्पत्तावपि पश्चात् तदभावनिश्चये हर्षादिनिवृत्तिदर्श-नात् । एवमपि निषेधेऽपि वाक्येषु ब्रह्मसत्तायां तात्पर्याभावे निश्चिते पूर्वमुत्पन्नमपि ब्रह्मज्ञानं न पुरुषार्थपर्यवसायि स्यात् । तस्माद्, 'यतो वा इमानि' इत्यादिवाक्यं सौक्ष्म्यप्रकारकब्रह्मस्त्वत्वं बोधयदेव प्रमाणं भवतीति सिद्धमिति रामानुजाचार्याः ।

भास्कराचार्यास्तु प्रपञ्चप्रविलायनद्वारेण ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वं न स्वत इति पूर्वपक्षे एवं प्रत्युत्तरमाहुः । तथाहि । ब्रह्मण आत्मत्वेन नित्यत्वेन चाभ्युपगतस्य कथं कार्यत्वम् । नित्य-त्वकार्यत्वयोर्विरोधात् । नचोपाधेर्विद्यमानत्वात् तद्विलायनेनोपधाननिवृत्तेस्तद्वारा कार्यत्वमिति वाच्यम् । तथा सति धृते कृते नभसोऽपि कार्यत्वापत्तेः । नचोक्तदूषणभयात् प्रपञ्चप्रविलायनं कुर्यादिति वाक्यं कल्पनीयमिति वाच्यम् । पुरुषमात्रेण महादीनां महाभूतानां विलायनस्य कर्तुमशक्यत्वेन विधेर्वैयर्थ्यात् । समाधौ सुषुप्तौ च सर्वतिरोधानेऽपि व्युत्थानदशायां सर्वस्य पुरो-
रक्षिः ।

मीमांसायां तैत्तिरीये स्पष्टम् । एवंभूत इत्याद्युक्तदृष्टान्तमाहुः यथेत्यादि । ब्रह्मविदामोति परमित्याद्य-भियुक्तप्रयुक्तवाक्यस्थानीयम् । तृतीयपूर्वपक्षं दूषयितुमनुवदन्ति स्म यत्तु इत्यादिना । बोधय-दिति । वाक्ये शक्तेरिति भावः । रामानुजेति । अत्रैव पूर्वपक्षभर इति प्रथमद्वितीयौ पक्षौ नानूदितौ रामानुजाचार्यमते । पूर्वोक्तेषु द्वितीयं पूर्वपक्षमाहुः प्रपञ्चेत्यादि । तदद्वारेति उपधानकार्यत्व-निवृत्तिद्वारा यद्वा उपाधिद्वारेत्यर्थः । उपाधिरूपधेय उपधानं च । उपधीयतेऽनेन व्यापारेणेत्युपधानम्, करणे ल्युट्, तादृशोपधाननिवृत्तेः कार्यत्वात्तादृशयब्रह्मणोपि कार्यत्वमित्यर्थः । एवं युक्त्या प्रत्युत्तरम-नूद्य नियोगविचारेण प्रत्युत्तरमनूदितुमाहुः शङ्कां मीमांसकस्य । न चोक्तदूषणेत्यादि इमानि दूषणानि प्रथमपूर्वपक्ष उक्तानि द्वितीये पक्षे वा । प्रपञ्चेति वाक्यकल्पने विधिस्तु पूर्वोक्तो न दृष्टेर्द्वारं पर्येदित्यादिः । अत्र द्रष्टव्यभेदशून्यब्रह्मकरणे नञादीनां सामर्थ्यमालोच्य प्रपञ्चप्र-विलायनं कुर्यादित्यभिधात्री श्रुतिः कल्प्यते सा वाक्यशब्देनोच्यते । अत्र तथा नञर्थस्य भेदेनान्व-यात्तदङ्गत्वं बोध्यते । दृष्टिपदस्य लक्षणाङ्गत्वं बोध्यत इत्यर्थगतसामर्थ्यम् । शब्दगतसामर्थ्यं तु पर्येदिति शब्दात् द्रष्टव्यभेदशून्यब्रह्मकरणे सामर्थ्यमालोच्येन प्रपञ्चप्रविलायनं कुर्यादिति श्रुति कल्पयति । ततश्च दर्शनाङ्गस्य बोधनमिति । नियोज्यासंभवाद्विधिवैयर्थ्यं भवेदित्याहुः पुरुषेत्यादि । ननु दृष्टं प्रविलायनकर्तृत्वमिति चेन्नेत्याहुः समाधावित्यादि । तथा च एतादृशं प्रविलायनकर्तृत्वम-

भाष्यप्रकाशः ।

ज्वलानात् । प्रपञ्चप्रविलायने उपायाभावात् । प्रपञ्चेनैव प्रपञ्चप्रविलायनेऽनवस्थाप्रसङ्गात् । प्रपञ्चस्य साधारणत्वेन तत्प्रविलायने सर्वयुक्तिप्रसङ्गादिदानीं जगदप्रतीतिप्रसङ्गात् । अथात्मी-यबन्धकारणस्याविद्याकामकर्मलक्षणस्य नाशनमेव प्रपञ्चप्रविलायनमिति मन्यसे तत्र न विसंवादः । किंच । नियोगस्य नियोज्यसापेक्षत्वेन तदाकाङ्क्षायां यदि तादृशप्रपञ्चकर्ता नियोगकर्ता वा नियोज्यः स्यात् तर्हीदानीं नियोज्याभावाभियोगो न क्रियेत । किंचात्र प्रतीतिवेलयां प्रपञ्च-विलयोऽभ्युपगम्यते । अभिहोत्रादौ तु प्रतीतिकालोऽनुष्ठानकालश्च भिन्नस्तदप्यसंगतम् । अत्रैव तत्रापि प्रतीतिमात्रेणैव नियोगसिद्धावद्युष्ठानलोपप्रसङ्गात् । किंच प्रविलायनं व्यापारो वा अभावो वा । नाद्यः । तस्य सत्त्वेन प्रपञ्चतादवस्थ्यात् । न द्वितीयः । तस्यावस्तुत्वेन प्रति-ज्ञानाच्छेषविषाणतुल्यत्वेन तद्विषयकनियोगानुपपत्तेः । अथात्मज्ञानविषयो नियोगः परि-कल्प्यते, आत्मज्ञानं कुर्यादिति । तदप्यसंगतम् । ज्ञानस्य प्रमाणप्रमेयाधीनत्वेन क्रियावत् पुरुषे-च्छानधीनतया नियोगविषयत्वस्य तत्राशक्यवचनत्वात् । नच द्रष्टव्यादिविधिविरोधः । तस्यो-पायपरत्वात् । श्रोतव्यादिपदैस्तस्यैव विवरणात् । नचाध्ययनविधिनाऽर्थज्ञानं विधीयत इति
रश्मिः ।

प्रविलायनकर्तृत्वमित्यर्थः । ननु दण्डादिप्रपञ्चेन घटादिप्रपञ्चः प्रविलीयतामिति चेन्नेत्याहुः प्रपञ्चेनेत्यादि । अनवस्थेति बहुभिरपि कर्तुमशक्यत्वादनवस्थेत्यर्थः । यद्वाऽविलायकप्रपञ्च-विलायकप्रपञ्चकल्पनेन व्यवस्था योगसंपन्नतनुयोगेन करिष्यतीति चेन्नेत्याहुः प्रपञ्चस्येत्यादि । साधारणत्वेनेति प्रविलायकप्रविलायकसाधारणत्वेनेत्यर्थः । न विसंवाद इति । स्यादिति शेषः । नियोज्यविचारेण दूषयन्ति किंचेति । न क्रियेतेति नियोज्यस्यैव विलायनत्ववाक्यकल्पकत्वस्यापि संभावयितुं शक्यत्वान्नियोज्येनैव विलयसिद्धौ विधेर्निरर्थकत्वमित्येदानीं न क्रियेतेत्यर्थः । इदानींतनो नियोज्योऽस्त्वित्याकाङ्क्षायां दूषणान्तरमाहुः किंचात्रेत्यादि । प्रतीतीत्यादि समष्ट्या व्यष्ट्याश्च प्रतीतेः काल इत्यर्थः । भिन्न इति उदिते जुहोत्यनुदिते जुहोतीत्याद्युक्तः । न हि प्रतीतिमात्रेण नियोगसिद्धिरिहेष्यते किंतु तत्तत्तिथिवारनक्षत्रादिका स इति मित्रः । इत्थं चेदानींतन-नियोज्यं प्रत्यपि नियोगो न क्रियेत प्रतीतिमात्रसिद्ध्या नियोगसिद्धेरभावादिति भावः । तदपीत्यादि अयात्मीयेत्यादिनोक्तम् । अत्रैव तत्रापीति प्रतीतिकाल इवानुष्ठानकाले । प्रतीतीति ज्ञान-काण्डत्वादिति भावः । गीतायां ज्ञानयज्ञादिस्थितेरित्येवकारः । तथा च स्वसंभन्धनाशनस्य प्रपञ्च-प्रविलायनत्वाङ्गीकारे ब्रह्मणो निष्प्रपञ्चतायाः सिद्धिः । तथाच वेदान्तवाक्यानां कार्यपरतया ब्रह्मणि प्रमाणत्वमिति यत् प्रतिज्ञातं तदसंगतं भवेदिति निग्रहस्थानप्राप्त्यासंगतमित्यर्थः । नियोगसिद्धाविति नियोगोत्र विधिसस्य सिद्धावित्यर्थः । अयं प्रलाप इदानींतनब्रह्मविश्रियोज्यमनतिक्रम्य ज्ञेयः । सत्त्वे-नेति तादृशनाशानुकूलव्यापारस्य मुक्तात्मन्यनङ्गीकारे प्रविलायनाभावापत्त्या सत्त्वमवश्यं वाच्यं, व्यापारश्च प्रपञ्चांश इति प्रपञ्चतादवस्थ्याप्रविलयविरुद्धसत्त्वावस्थात्वादित्यर्थः । प्रलयविषयनियोग-विचारस्य वृत्तत्वात् भिन्नप्रक्रमेणाहुः अथात्मेति । आत्मज्ञानमिति द्रव्यभिन्नद्रष्टव्यविषयकज्ञानं कुर्यात्, स्वं सर्वस्वात्मविषयकं ज्ञानं कुर्यादित्यर्थः । क्रियावदित्यादि क्रियाया इव क्रिया-वदत्र जानातीच्छति यतते इति परंपरा बोध्या । तत्रेति ज्ञान इत्यर्थः । न चेत्यादि । तस्य ज्ञानस्य पुरुषेच्छानधीनत्वादिति भावः । श्रोतव्यादीत्यादि तथाच द्रष्टव्य इत्यस्यैवार्थः श्रोतव्यो

भाष्यप्रकाशः ।

शङ्काम् । तत्रार्थज्ञानरूपफलायाश्च ग्रहणरूपाध्ययनस्य विधानात् फलस्याविधेयत्वात् । किंच । नियोगविषयभूतमात्मज्ञानं यद्यनुत्पन्नं तदा यागवत् साध्यत्वाभावाद् विषयत्वसिद्ध्या तद्विषयक-
नियोगस्यासिद्धिः । यदि च श्रवणाद्युत्पन्नं तदा श्रवणादिनैवात्मज्ञानसिद्धेः किमन्तर्गडुना
नियोगेन । नच फलार्थे तदपेक्षा । 'तमेव विदित्वा' इति श्रुतौ नियोगनिरपेक्षाज्ञानादेव मुक्तेरुक्त-
त्वात् । किंच । ज्ञाननियोगयोः परस्परमसंबन्धे वाक्यानर्थक्यात् संबन्धोऽवश्यं वक्तव्यः । स च
गुणप्रधानभावेनैव दृष्ट इत्येकस्यावश्यं प्राधान्यं वक्तव्यम् । तथादि ज्ञानस्येत्युच्यते तदा नियोगस्य
वाक्यार्थतया प्राधान्यं सर्वत्र यत्प्रतिज्ञातं तद्वीयेत । यदि नियोगस्यैव तदुच्यते तदा ज्ञानस्य
नियोगार्थत्वानुत्पन्नार्थत्वं न स्यात् । तस्योभयार्थत्वे प्रमाणाभावात् । नच त्रियोगो मुक्त्यर्थः ।
अश्रुतत्वात् । तमेव विदित्वेति ज्ञानस्यैव साक्षात्तदुद्देशेन श्रुतत्वादिति । एतदग्रे च, यो रामा-
नुजमतोपन्यासेऽस्माभिः प्रथीयः पूर्वपक्ष उक्तो, यद्यपि 'शास्त्रयोनित्वात्' इत्यादिना, यश्च तृतीय उक्तो
यद्यपि वेदान्तवाक्यानामित्यादिना, तदुभयमुपन्यस्य ततः पूर्ववदेव सृष्टिवाक्यप्रभृतीनां सम्य-
गन्वयः समन्वय इति समन्वयपदार्थमुक्त्वा युक्तीरेवमाहुः । नच तेषां ब्रह्मपराणामर्थान्तरकल्पना
युक्ता । श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गात् । नच कार्य एव प्रामाण्यं प्रतिपन्नं युक्तम् । स्वरूपाव-
बोधेऽपि प्रामाण्यस्याविशिष्टत्वात् । अपौरुषेयत्वस्यैव प्रामाण्ये तत्रत्वात् । नचाश्रितोत्रादिवाक्येषु
कार्यावगतिः प्रामाण्ये तत्रमिति शङ्काम् । तस्य चैत्यवन्दनादिवाक्येषु तुल्यत्वात् । अथापौरु-
षेयत्वे सत्यनपेक्षत्वं तत्रमिति विभाष्यते । तदा तु वेदान्तेऽपि तस्य तुल्यत्वात् स्वरूपपर-
त्वेऽपि प्रामाण्यमक्षुण्णमेव । किंच । पदानां स्वार्थप्रत्यायनेऽनपेक्षत्वं लोकवेदसाधारणम् ।
वाक्यानां तु लोके परापेक्षमेव प्रामाण्यम् । अन्यथा खपुष्पं तिष्ठति पश्येत्यादीनामपि तत् स्यात् ।

रश्मिः ।

मन्तव्य इत्यादिः । दर्शनस्य प्रत्यक्षेतरत्वादिति भावः । विधानादिति न तु ज्ञानस्य विधा-
नात् । फलस्य ज्ञानस्य । अनुत्पन्नमिति श्रवणादिभिस्तथेत्यर्थः । किंतु सिद्धमिति भावः ।
श्रवणादिनेति विधिविषयेण । आत्मज्ञानसिद्धिरौषधफलवत् । अन्तरिति व्यर्थं न द्रष्टव्य
इति । नियोगेन विधिना । तदपेक्षेति नियोगापेक्षेत्यर्थः । नियोगेत्यादि विदित्वेत्यत्र लिङ्-
लोद्गतव्यादीनां विरहेण तथेत्यर्थः । असंबन्ध इति संबन्धः सहोच्चारणं असंबन्धोऽसद्वोच्चारि-
तत्वं तस्मिन् सति । आनर्थक्यमप्रामाण्यं तस्मात् । दृष्ट इति धवस्वदिरौ छिन्धीत्यत्र
धवस्वदिरादिव्यतिरिक्तस्थले दृष्ट इत्यर्थः । धवस्वदिरयोगुणप्रधानभावाभावात् । माम्भुत्त्य-
र्थत्वं ज्ञानस्य नियोगस्य तद्विषयतीत्याशङ्क्य निषेधन्ति न च नीत्यादि । निषेधे हेतुमाहुः
अश्रुतेत्यादि । तदुद्देशेनेति मुक्तयुद्देशेनेत्यर्थः । पूर्ववदिति रामानुजसिद्धान्तवदित्यर्थः ।
युक्तीरिति धर्म (ब्रह्मणि) एव समन्वये युक्तीरित्यर्थः । अपौरुषेयत्वस्यैवेति एवकारेण
कार्यावगतिव्यवच्छेदः । तत्रत्वं प्रयोजकत्वं तस्मात् । कार्यावगतिरिति श्रुतयादिति होमे
कृतिसाध्यत्वावगतिः । तस्येति कार्यावगतिरूपतत्रस्य चैत्यवन्दनं कुर्यादिति वाक्येपीत्यर्थः ।
स्वरूपेति स्वरूपावबोधकत्वेपीत्यर्थः । परापेक्षमिति आकाङ्क्षायोग्यतासंनिध्यपेक्षमित्यर्थः ।
खपटकपदार्थसत्त्वापेक्षं वा । खपुष्पमिति पश्य शृगो धावतीतिवदन्वयः । तत्स्यादिति प्रामाण्यं

भाष्यप्रकाशः ।

वेदे तु तेषामप्यपौरुषेयत्वात् प्रमाणान्तरानधिगतमूलकारणगमकत्वे तदनपेक्षमेव ।
मीमांसकमते प्रमाणान्तरानधिगतार्थगन्तव्यस्यैव प्रामाण्ये तत्रत्वाङ्गीकारात् । श्रौतानां तथैवेष्ट-
त्वाच्च । अतः प्रत्यक्षवत् सृष्टिवाक्यस्यापि प्रामाण्यं तुल्यमेवेत्यादिभिर्बहुधा नियोगपरत्वं
वाक्यानां दूषयित्वा शरीरेन्द्रियमनसामात्माधिष्ठितानां चेष्टाविशेषः प्रयत्नः सर्वधात्वर्थसाधा-
रणः । स एव च साध्यत्वाद् वाक्यार्थो लोकवेदयोः । नियोगस्तु न वाक्यार्थः । पूर्वमीमां-
साभाष्ये पूर्वोत्तरतत्रपक्षयोश्च तत्त्वचकाङ्क्षराभावात् । किंतु प्रष्टुतौ निमित्तमात्रं सः । रागादिवत् ।
भावना तु भवति वाक्यार्थः । ये प्राहुः किमपि भावयेदिति ते स्वर्गकामपदसंबन्धात् स्वर्गं भाव-
येदिति ब्रह्मरिति भावार्थाधिकरणभाष्ये स्पष्टत्वात् । कृतप्रयत्नापेक्षस्त्विति व्याससूत्रेऽपि स्पष्ट-
त्वाच्चेति वाक्यार्थविषये भावनामाद्यतन्वन्तः । यत् पुनर्वेदान्तानां कर्तृप्रतिपादनपरत्वं वा जपा-
र्थत्वं वेति नियोगवादिभिरुक्तं, तत्तु सर्वजगत्कारणस्य ब्रह्मणो नियोज्यत्वाभावाभियोज्यस्य जीवस्य
सत्ताया अहमिति प्रत्यक्षेणैव सिद्धेरात्मवादे साधितत्वाच्च न वेदान्तस्य तत्परत्वं, प्रकरणाद्यभावाच्च न
कर्मशेषजपार्थत्वमित्येवं नियोगवादिनं दूषयित्वा ततो भेदाभेदवादं स्थापयित्वा ततो मायावादिमत्वं
दूषयित्वा ज्ञानकर्मसमुच्चयं स्थापितवन्तः । एवमुक्ते मतद्वये त्रिचन्या जन्माद्यधिकरणसमाप्तिः ।

शंकराचार्यमतेऽप्येत एव पूर्वपक्षाः । सिद्धान्तस्तु मायावादेन निर्विशेषब्रह्मजीवैक्यप्रतिपाद-
नपरः । अधिकरणसमाप्तिस्तु श्रुतत्वाच्चेति दशमे सूत्रे ।

शैवमतेऽप्येत एव पूर्वपक्षाः । सिद्धान्ते तु समन्वयो नामोपक्रमादिभिरितिस्तात्पर्यनिर्णय
इत्युक्त्वा तैः शिवपरत्वं वेदान्तवाक्यानामित्युक्तम् ।

रश्मिः ।

सादित्यर्थः । तेषामिति वाक्यानामित्यर्थः । मूलकारणेति एकप्राणरूपमूलकारणवद् ब्रह्मरूप-
मूलकारणगमकत्वे । तदित्यादि आकाङ्क्षाव्ययनपेक्षमित्यर्थः । स एवेत्यादि आर्थाभावनारूपः
प्रयत्न एव शान्दीभावनासाध्यत्वादित्यर्थः । पूर्वतत्रे द्वितीयेऽप्याये यजेतेत्याख्यातान्तेनापूर्वं प्रति-
पाद्यते पदान्तरं तु तच्छेषतां भजत इति । अपूर्वं वा अर्थ इति स्थितं तदूषयन्ति नियोग
इति अपूर्वमित्यर्थः । विधिर्वा । पूर्वोत्तरेत्यादि व्यासजैमिनिस्त्रयोरित्यर्थः । नियोगेति
सर्वैः पूर्वमीमांसकैः नियोगरूपभावनायाश्चिन्तनावस्थायित्वेन नियोगो न विधिविषयः कित्त्वपूर्वमिति
नियोगवादिनः । तत्परत्वमिति नियोज्यपरत्वमित्यर्थः । तत्परत्वे चाप्रामाण्यापत्तिरिति भावः ।
'जन्माद्यस्य यतः' इत्यारभ्य श्रुतत्वाच्चेत्येवमन्तैः सूत्रैः यान्युदाहृतानि वेदान्तवाक्यानि तेषां
सर्वज्ञः सर्वशक्तिरीश्वरो जगतो जन्मस्थितिलयकारणमित्येतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वमिति भाष्यस्वारस्यादुक्त-
त्वाच्च दशसूत्रमधिकरणमिदम् । तदीयाधिकरणमालायां या ईश्वर्यधिकरणसमाप्तिरिति सूत्र
उक्ता सा स्वप्नज्ञाविलास इत्याशयेनाहुः अधीत्यादि । यद्वा ईश्वर्यधिकरणसमाप्त्या सप्तसूत्रमे-
वाधिकरणम् । मास्कराचार्यमते धीत्यादिः तथाच मास्करभाष्यम् । सांख्यास्तु त्रिगुणमचेतनं प्रधानं
जगत्कारणमनुमीय तत्रैव वेदान्तवाक्यानि योजयन्तः प्रत्यवतिष्ठन्ते । चेतनस्य ब्रह्मणो जगत्कारण-
त्वे यत्प्रतिज्ञातं शास्त्रयोनित्वं 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादिवाक्यसमन्वयात्तदसिद्धं, सच्छब्दो
वस्तुमात्रवाची प्रधानेयवकल्पतेऽतो न चेतनं जगत्कारणमिति प्राप्ते भवीति 'ईश्वरतेनांशब्दम्'
इति । सूत्रस्य दशमत्वं तु 'जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात्' इत्यनेकसूत्रमितिपक्षे । तैरिति उपक्र-

तथाहि । जैमिनिर्धर्मजिज्ञासामेव प्रतिज्ञाय तत्प्रतिपादकस्य पूर्वकाण्डस्य समन्वयमाह ।

अवान्तरवाक्यानां प्रकारशेषत्वात् । नच सर्वस्मिन् वेदे धर्म एव जिज्ञास्यः । तद्गुरुणैव व्यासेन ब्रह्मजिज्ञासायाः प्रतिज्ञातत्वात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

तत्र सिद्धान्तानामसंगतिः पश्चाद् व्युत्पाद्या । पूर्वं तु सर्वो वेदः क्रियापर इति पूर्व-
पक्षसांसर्गतिं व्युत्पादयन्ति तथाहीत्यादिना । समन्वयमिति धर्मे सर्ववाक्यानां तात्पर्यलिङ्गैः
संदेहनिरसनपूर्वकं संबन्धम् । अवान्तरवाक्यानामिति अर्थवादमन्त्रादिरूपाणाम् । साध-
कत्वमिति प्रमितिजनकत्वम् । अयमर्थः । पूर्वकाण्डे ऋषिहोत्रादीनि कर्मणि प्रतिपाद्यन्ते ।
तेषां च न तेन रूपेण तदभिधेयत्वम् । शास्त्रभेदप्रसङ्गात् । किं तु धर्मत्वेनेत्येतद् बोधनाय
जैमिनिर्धर्मजिज्ञासामेव प्रतिज्ञाय धर्मप्रतिपादकस्य पूर्वकाण्डस्य धर्मे समन्वयम्, आम्नायस्य
क्रियार्थत्वादित्यादिभिः सूत्रैराह । तत्र मन्त्रार्थवादादीनां कथं क्रियार्थत्वमित्याकाङ्क्षायां
तेषामवान्तरवाक्यानां धर्मप्रकारभूतद्रव्यदेवताकर्मस्तुत्यादिप्रकाशकत्वेन धर्मशेषत्वात् सर्वस्य
पूर्वकाण्डस्य तत्रैव समन्वयः । नच तेष्वम्नायादिपदात् सर्वस्मिन् वेदे धर्म एव जिज्ञास्य इति
शङ्क्यम् । तद्गुरुणैव व्यासेन ब्रह्मजिज्ञासायाः प्रतिज्ञातत्वात् । नच व्यासस्य तद्गुरुत्वे
संदेहः । मार्कण्डेयपुराणारम्भ एव ।

‘व्यासशिष्यो महातेजा जैमिनिः पर्यपृच्छत ।

यस्याग्रे भारताख्यानं व्यासेनोक्तं महात्मना’ । इति ॥

श्रीभागवतेऽपि द्वादशस्कन्धे व्यासशिष्यान् प्रस्तुत्य, ‘साम्नां जैमिनये प्राह तथा
छन्दोगसंहिताम्’ इति कथनात् । नच सोऽन्य एवेति शङ्क्यम् । औत्पत्तिकसूत्रे, बादरायणस्या-
नपेक्षत्वादिति पूजार्थं बादरायणग्रहणेनापि तथावगतेः । नच ब्रह्मजिज्ञासायाः ऋत्वर्थपुरुषार्थ-
जिज्ञासावदान्तरशेषविशेषविषयत्वं शङ्क्यम् । तथा सति जैमिनिरेव ऋत्वर्थादिजिज्ञासावत्
रश्मिः ।

मादिलिङ्गैरित्यर्थः । माघ्वास्तु शास्त्रयोनित्वलक्षणस्य ब्रह्मशिवानिष्वतिव्याप्तिरित्यलक्षणमिदमिति पूर्व-
पक्षे, तच्छब्दस्य विष्णुवाचकत्वमङ्गीकृत्यान्वयादुपक्रमादिलिङ्गसमुदायाद् विष्णुरेव जगज्जन्मादिकार-
णत्वेन शास्त्रयोनिर्न तु हिरण्यगर्भादिरिति सिद्धान्तयन्ति । तदेतन्मतं ‘अनुकृतेस्तस्य च’ इत्यधिकरणे
सर्वेषां ब्रह्मण्युत्करणत्वस्य व्यवसायत्वादत्रैतच्चिन्तनस्यानुपयुक्तत्वाद्वा नूदितमिति ज्ञेयम् । धर्म
इत्यादि अयं समुपसर्गार्थः । संबन्धमित्यन्वयपदसार्थः । अर्थवादेति आदिशब्देन विधिनिषे-
धनामधेयानि । प्रमितीति मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदानामधेयमिति ब्राह्मणे एव धर्मप्रमितिजनकत्वमिति नेति
भावः । जैमिनिर्धर्मजिज्ञासामित्यादि अप्रामाण्यं सादित्यन्तं भाष्यं व्युत्पादयन्ति अयमर्थ इत्यादि ।
तेनेति अग्निहोत्रत्वादिरूपेण पूर्वकाण्डामिधेयत्वमग्निहोत्रप्रतिपादकामिधेयप्रतिपादकयोर्वेदयोर्भेदप्रसं-
गात् प्रतिपाद्यभेदस्य प्रतिपादकभेदकत्वादित्यर्थः । प्रतिज्ञायैति ‘अथातो धर्मजिज्ञासा’ इति प्रति-
ज्ञायेत्यर्थः । अवान्तरेत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति तत्रेत्यादि । तत्रैवेति धर्म एवेत्यर्थः । न
चेत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति न च तेऽपि चेत्यादि सूत्रेष्वित्यर्थः । अपीति अपिर्मार्कण्डेयश्री-
भागवताभ्यामौत्पत्तिकसूत्रस्य समुच्चये । तथावगतेरिति व्यासशिष्यत्वावगतेः । ऋत्वर्थेत्यादि

संदेहमात्रवारकत्वाजिज्ञासयोः । न त्वलौकिकार्थसाधकत्वम् । तथा सति
वेदानामन्याधीनत्वेनाप्रामाण्यं स्यात् वेदजिज्ञासेत्येवोक्तं स्यात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

तामपि प्रतिजानीयात् । तस्या अपि शास्त्रपूर्वार्थमवश्यमपेक्षितत्वात् । अतः कर्तृभेदाद् भिन्ने एवोमे
अपि जिज्ञासे । ते च पूर्वोत्तरकाण्डाभ्यां प्रमिते धर्मे ब्रह्मणि च मन्दमध्यमयोर्बुद्धिदोषात्
संदेहसंभवमालोच्यैव कृते, न त्वन्योऽन्यमतदृष्ट्याय । जैमिन्युक्तानामभ्यासादीनां व्यास-
पादैरुपन्यासाद् व्यासाभिप्रेतस्यानपेक्षत्वस्य जैमिनिनोपन्यासात् । नापि धर्मब्रह्मप्रमितिजन-
नाय । यदि तथा स्यात् तदा भीमांसाऽधीने वेदस्य प्रमितिजनकत्वे उभावपि वेदस्य प्रामाण्येऽ-
नपेक्षत्वं न भूयाताम् । अत इदमपि सर्वस्य वेदस्याक्रियार्थत्वगमकम् । तदेतदुक्तं संदेहेत्यादि,
अप्रामाण्यं स्यादित्यन्तेन । अथ यदि कर्मार्थतैव वेदस्य जैमिन्यभिप्रेता स्यात् तदा बाद-
रायणमतं जानानेन तदनादराय वेदजिज्ञासेत्येवं प्रतिज्ञावाक्यमुक्तं स्यात् । अत उक्तहेतुभ्याम्
सर्वस्य वेदस्य क्रियार्थत्वं न जैमिन्यभिप्रेतम् । किं चाम्नायस्येति तु पूर्वपक्षस्य, तद्भूतस्य
क्रियार्थपदं तु तिङन्तवाचकं, न तु साध्यार्थपरम् । तेन तदर्थं जैमिनिस्त्वानुत्तरणमपार्थमेवेति ।

रश्मिः ।

चतुर्थेऽध्याये ‘अथातः ऋत्वर्थपुरुषार्थत्वयोः जिज्ञासा’ इति सूत्रेणेत्यर्थः । अवान्तरेत्यादि अङ्गविशेष-
विषयत्वमित्यर्थः । नास्तिक्यनिराकरणाय ब्रह्मत्वार्थं च कर्मणि ब्रह्मज्ञानस्यापेक्षितत्वादिति भावः ।
तामिति ब्रह्मजिज्ञासामित्यर्थः । संदेहेत्यादि ‘संदेहवारकं शास्त्रं बुद्धिदोषात्तदुद्भवः’ इति पूर्व
कारिकयोक्तम् । जैमिन्युक्तानामिति द्वितीयस्य द्वितीयपादे उक्तानामित्यर्थः । उपन्यासा-
दिति ‘आनन्दमयोभ्यासात्’ इति सूत्र उपन्यासादित्यर्थः । आदिशब्देन श्रुत्यादि । व्यासे-
त्यादि अत्रैव तृतीयपादे ‘शब्द इति चेन्न’ इत्यादिसूत्रेऽभिप्रेतस्येत्यर्थः । उपन्यासादिति
‘औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन संबन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशो व्यतिरेकश्चाथैनुपलब्धे तत्रमाणं बादरायणस्या-
नपेक्षत्वात्’ इति सूत्रे इत्यर्थः । तथा च शाबरभाष्यं बादरायणग्रहणं बादरायणस्येदं मतं कीर्त्यते
बादरायणं पूजयितुं नास्मीयं मतं पर्युदसितुमिति । न त्वित्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति नापी-
त्यादि । ब्रह्मेत्यादिः अलौकिकार्थत्वस्यार्थः । प्रमितीत्यादिः साधकत्वमित्यस्यार्थः । जिज्ञासे
इति बोध्यम् । तथेत्यादिति भाष्यं विवृण्वन्ति यदीत्यादि । उभाविति व्यासजैमिनी इत्यर्थः ।
इदमपीति भिन्नकर्तृकत्वमपीत्यर्थः । तदेतदिति न च ब्रह्मजिज्ञासाया इत्यारभ्योपपादितमि-
त्यर्थः । वेदेत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति अधेत्यादि । उक्तेत्यादि जैमिनेभ्योऽसिष्यत्वात्, भीमां-
सयोर्भिन्नकर्तृकत्वात्, अथातो वेदजिज्ञासेत्यप्रतिज्ञानाच्चेति हेतुभ्यादित्यर्थः । उक्ते धर्मे समन्वयेऽ-
धिकां युक्तिमाहुः किंचेत्यादि । तदेतद्भाष्यशास्त्रदीपिकादौ प्रसिद्धम् । सिद्धान्तसूत्रं तु ‘विधिना
त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः’ इति । तिङन्तेत्यादि ‘तद्भूतानां क्रियार्थेन समाप्तायोऽ-
र्थस्य तद्धिमितत्वात्’ इति सूत्रम् । तेष्वेव पदार्थेषु भूतानां वर्तमानानां पदानां क्रियार्थेन तिङन्तेन
समुच्चारणमर्थस्य पदनिमित्तत्वादिति सूत्रार्थः । साध्यार्थेत्यादि साध्योर्थो जन्ययागस्तत्परत्वं
नेत्यर्थः । अयमर्थः लिङ्गादिप्रयोगे ह्याख्यातत्वलिङ्गत्वाभ्यां भावनैवोच्यते । सा च भवितुर्थवनानुकूलो
भावकव्यापारविशेषः तत्र शान्दी भावना आर्या भावना च । पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलो व्यापारविशेषः
शान्दी भावना लिङ्गाभ्या, अयं मां प्रवर्तयति प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारवानयमिति लिङ्गावपे प्रत्य-

किंच ।

साधनं च फलं चैव सर्वस्याह श्रुतिः स्फुटम् ।
न प्रवर्तयितुं शक्ता तथा चेन्नरको न हि ॥
प्रवर्तकस्तु सर्वत्र सर्वात्मा हरिरेव हि ।

भाष्यप्रकाशः ।

ननु तथापि पूर्वकाण्डस्य क्रियार्थत्वे तु न विवादः । तथा सत्यैकशास्त्रयानुरोधादुत्तर-
काण्डस्यापि पूर्वशेषतैव येन केनापि प्रकारेणादरणीया । नच विपरीतमाशङ्कनीयम् । सिद्धे
ब्रह्मणि साध्यार्थानां वाक्यानामन्वयायोगात् । नच प्रापकत्वेनान्वयः । तत्तद्वाक्यगतफलो-
क्तिबाधप्रसङ्गात् । अतो वेदस्य साध्यार्थपरतां निश्चित्य तच्छेषतैवोत्तरकाण्डार्थस्यादरणीया ।
यदि चोपासनाशेषत्वं ज्ञानशेषत्वं वाङ्गीक्रियते तदापि तयोर्विधेयत्वेन धर्मत्वाद्दुत्तरार्थस्य
ब्रह्मणः प्रवर्तकश्रुतिवाक्यशेषता दुर्वर्तयैति सर्वस्य वेदस्य धर्मार्थत्वमर्थादेव सिद्धमित्यत आहुः
किंचेत्यादि । चकारद्वयं व्यापारस्य स्वरूपस्य च समुच्चायकम् । सर्वस्येति कर्मणः । सर्वस्यैव
स्फुटमाहेत्यन्वयः । सर्वत्रेति विहिते निषिद्धे च । सर्वात्मेति 'स आत्मानं स्वयमकुर्वन्'
रश्मिः ।

यात् । यथा गोशब्दश्रवणे गोत्वं प्रतीयते इति गोत्वं गोशब्दार्थः । स च व्यापारविशेषः ।
वेदे पुरुषाभावालिङ्गादिशब्दनिष्ठ एव । अतः शब्दीभावना । तस्याश्च साध्यसाधनेतिकर्तव्यतारूपां-
शत्रयोपेक्षिण्या अंशत्रयोपेताथीभावना साध्यत्वेन संबद्ध्यते, न तु संख्यादयोऽयोग्या भावयितुम् ।
एवं च साध्यार्थ आर्थाभावना तत्परत्वं नेति । क्रियार्थपदस्य प्रकृतप्रत्ययरूपतिङ्गन्वाचकत्वं, न तु
लिङ्गादिमात्रप्रत्ययार्थपरत्वमिति पर्यवसन्नोर्थः । तेनेत्यादि जैमिनिसूत्रविचार एतत्सूत्रद्वयं क्रियार्थत्व-
साधकं वक्तव्यं तस्य तु तथात्वाभावेन सर्वस्य वेदस्य क्रियार्थत्वात्त्वमित्यर्थः । किंच साधनमि-
त्यादिभाष्यं विवरीतुमाभासमाहुः ननु तथेत्यादि । क्रियार्थत्व इति साध्यविविधिना तु सर्वो
वेदः पुरुषार्थीय नीयते । तदर्थमर्थवादानां भूतार्थप्रतिपादनेन प्रयोजनविधुराणामयं प्राशस्त्यरूपो लक्ष्य-
माणोर्थः क्षिप्रदेवतासाध्यं कर्म क्षिप्रमेव फलं दास्यतीति । अन्यथा प्रयोजनवदर्थपर्यवसानं न स्यादतो
विधिना अर्थवादानां प्राशस्त्ये तात्पर्यं बोध्यते । तात्पर्याच्च लक्षणा । ततश्चैककार्यकरत्वरूपैकवाक्यत्वं
विधीनाम् । विधिमन्तरेण पुरुषप्रवर्तनासंभवात् । अतश्चार्थवादाः प्रयोजनपर्यवसायिनः स्युरि-
ति सिद्धान्तसूत्रार्थात् क्रियार्थत्वे श्रुतिर्न प्रवर्तयितुं शक्ता तथा चेन्नरको न हि' हिंतावतो हेतोः साधनं
चेत्यादिरित्यन्वयं मन्वाना आहुः वेदस्येति । विधिविषययागार्थत्वे तु न विवाद इत्यर्थः । विपरीत-
मिति पूर्वकाण्डस्योत्तरशेषतेत्यर्थः । प्रापकत्वेनेति अन्तःकरणशुद्धिद्वारा ब्रह्मप्रापकत्वेन कर्मणां ज्ञान-
भक्तयोरन्वय इत्यर्थः । तत्तदित्यादि यजेत स्वर्गकामः, तरति तरति ब्रह्महत्यां योश्मभेधेन यजेत,
इत्यादिवाक्येत्यर्थः । अन्तःकरणशुद्धिद्वारा ज्ञानमक्तिस्वर्गादिकं चेत्युभयं फलत्वं नाहेदिति भावः ।
अङ्गीक्रियत इति कर्मणोऽङ्गीक्रियत इत्यर्थः । तयोरिति ज्ञानोपासनयोः । विधेयत्वेनेति आत्मे-
त्येवोपासीतेति प्रज्ञां कुर्वीत इत्युभयोर्विधिकर्मत्वेन विध्यहेत्वेन । धर्मत्वादिति 'चोदनालक्षणयोर्ध-
र्मः' इति जैमिनिसूत्रोक्तधर्मलक्षणाकान्तत्वात् । प्रवर्तकेत्यादि आत्मेत्येवोपासीत 'आत्मा वा अरे
द्रष्टव्यः' इत्यादिवाक्यशेषतेत्यर्थः । यद्वा विधिविषयशेषता । व्यापारस्येति देवताप्रीतिरूपस्ये-
त्यर्थः । इदं तृतीयाध्याये स्फुटीकरिष्यते । स्वरूपस्येति ब्रह्मप्राप्तिफलवद् ब्रह्मणोपि फलत्वं 'भग-
वानेव हि फलम्' इति निरोधलक्षणग्रन्थात् । स्फुटमाहेति क्रियाविशेषणत्वात् । कारिका उप-

यज्ञ एव हि पूर्वत्र बोध्यते स्वर्गसिद्धये ॥

भाष्यप्रकाशः ।

इति श्रुतेः सर्ववस्तुस्वरूपोऽन्तर्यामिब्राह्मणात् सौवालश्रुतेश्च सर्वान्तर्यामी । अयमर्थः । वेदस्य
या साध्यार्थपरता त्वयाङ्गीकृता सा श्रुतेः प्रवर्तकत्वानुरोधात् । तत्र श्रुतेर्यत् प्रवर्तकत्वं तत् किं
यावदधिकारिणः प्रति साधारणं, किं वा असाधारणम् । आद्ये कस्यापि त्रैवर्णिकस्य नरको न
स्यात् । तथा राजदण्डादेरपि लोके कोऽपि विषयो न स्यात् । रोगी च नोपलभ्येत । अवि-
हिताभिषिद्धाश्च निवृत्तेरपि तत्र एव संभवात् । तदभावे नरकादेरप्यसंभवात् । अथ पूर्वकर्म-
जन्यदुरदृष्टवशादविहितादौ प्रवृत्तिः । तर्हि तादृशेन शुभादृष्टेन विहितेऽपि प्रवृत्तिसंभवाच्च
श्रुतेः प्रवर्तकत्वसिद्धिः । अथासाधारणम्, तर्हि तदसाधारण्यं स्वभावतो वक्तुमशक्यं, हेत्वन्तर-
साहाय्येन साधनीयम् । तत्र कालादेः साधारणत्वात् तत्तत्तत्तदृष्टस्य तथात्वं कल्पनीयम् ।
तथा सति तेनैव प्रवृत्तिसंभवाच्च श्रुतौ प्रवर्तकत्वनिर्धारः कर्तुं शक्यः । अथ प्रवृत्तेः शब्दश्रव-
णान्तरमावित्वदर्शनाददृष्टादेः सहकारित्वेनैव प्रवेशो, न करणत्वेनेति विमान्यते, तर्ह्यदृष्टसं-
पादितदृष्टसामग्रीसत्तायां प्रवृत्तिरकुण्ठितैव स्यात् । अवतमसे चाङ्घ्रिपददर्शनेन सहकारिदौर्बल्येऽपि
कार्योत्पत्तिनिर्धारत्वात् । अतः कौण्ड्यदर्शनात् फलमुखं प्रवर्तकत्वं न श्रुतेः शक्यवचनम् । तेन
रश्मिः ।

यादयन्ति अयमर्थ इत्यादि । साध्यार्थपरतेति 'चोदनालक्षणोऽयोर्धर्मः' इति सूत्रे कार्ये धर्मे
चोदना प्रमाणमिति कार्यपरत्वं वेदप्रामाण्यव्यापकमिति साध्यार्थपरतेत्यर्थः । प्रवर्तकत्वेत्यादि ।
अयमर्थः । 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादौ यजेतेत्यत्रास्त्वंशब्दं प्रकृतप्रत्ययरूपम् । तत्राख्यातत्वलिङ्गत्वान्यां
प्रत्ययो युक्तो भवति । ताभ्यां भावनैवाभिधीयते, विधिनियमप्रणेत्यादिशास्त्रात् । विधिः प्रेरणं, भावना
च भवितुमर्थावनानुकूलो भावकव्यापारविशेषः । सा च शब्दीभावनार्थीभावना च । तत्र पुरुषप्रवृत्त्य-
नुकूलो व्यापारविशेषः शब्दीभावना लिङ्गवाच्या । अयं मां प्रवर्तयति प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारवानयमिति
लिङ्गश्रवणे प्रत्ययात् । यथा गोशब्दश्रवणे गोत्वं प्रतीयते इति गोत्वं गोशब्दार्थः । ननु स च व्यापार-
विशेषो न विध्यर्थोऽपि तु इष्टसाधनत्वं तदर्थं इति चेन्न । यागस्तु इष्टसाधनं तस्मात्तत्त्वं कुरु इति
सहप्रयोगात् । पर्यायतायां तु सहप्रयोगो न स्यात् । स च लोके पुरुषनिष्ठः । वेदे तु पुरुषाभावा-
च्छब्दनिष्ठ एव सः । अतो वेदः प्रवर्तयति । एतादृशप्रवर्तकत्वं तु वेदस्य साध्यार्थपरत्वे, न तु सिद्धा-
र्थपरत्वे इति प्रवर्तकत्वानुरोधात्तथेत्यर्थः । साध्यार्थे प्रवृत्तिर्न तु सिद्धार्थे इति भावः । तत्र एवेति
विधित एवेत्यर्थः । तदभाव इति अविहितनिषिद्धाचरणभाव इत्यर्थः । श्रुतेरिति विधिश्रुतेरित्यर्थः ।
तथात्वमिति हेतुत्वमित्यर्थः । संभवादिति प्रवृत्तिसंभवादित्यर्थः । तर्ह्यदृष्टेति अदृष्टसंपादितदृष्ट-
सामग्रीसत्तायामित्यत्र सामानाधिकरण्यं सप्तम्यर्थः । तथाच तादृशसत्तासामानाधिकरणा शब्दश्रवणान-
न्तरं जायमाना प्रवृत्तिरकुण्ठितैव स्यादित्यर्थः । नन्वदृष्टं तथा न प्रबलमिति कुण्ठिता प्रवृत्तिरिति चेत्-
त्राहुः अथेत्यादि । अवहीनं तमः अवतमसं 'अवसमन्धेभ्यस्तमसः' इति सूत्रेणाच्च तस्मिन्नित्यर्थः ।
सहकारीत्यादि आलोकसंयोनौर्बल्येपीत्यर्थः । निर्धारदिति शब्दश्रवणमन्तरेणापि बालसादृष्ट्य-
शात् स्वनपाने प्रवृत्तिदर्शनाच्चैत्यपि द्रष्टव्यम् । फलमुखेति फलमिष्टमनिष्टं च तदुपायभूतप्रवर्त-
कत्वम् । न श्रुतेरिति अदृष्टस्य वान्यस्य वा वक्तव्यमिति भावः । पूर्वार्थे साधनं करणत्वं इत्यन्ततो
व्यापारत्वम् । फलपदं फलत्वावच्छिन्ने योगरूढमतो ब्रह्मप्राप्तिब्रह्मणि फलमित्याहुः तेनेति । द्वितीयां

सिद्ध एव हि सर्वत्र वेदार्थो वेदवादिनाम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

साधनव्यापारफलस्वरूपाणि कर्मणां श्रुतिबोधयतीत्येतावन्मात्रमङ्गीकार्यम् । नच प्रवृत्तिनिवृत्त्यनुपपत्तिः । ईश्वरस्यैव प्रवर्तकस्य निवर्तकस्य सत्त्वात् । नचात्र कल्पना । 'एष उ एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उभिनीषति, एष उ एवासाधु कारयति तं यमघो निनीषति' इत्यादिश्रुतेः । नच वैषम्यनैर्घुण्यापातः । आत्मसुष्टेरेव श्रुत्यभिप्रेतत्वेन भेदाभावादिति वैषम्यनैर्घुण्यसूत्रे व्युत्पादयिष्यामः । अतः श्रुतेः प्रवर्तकत्वाभावेन साध्यार्थपरतैवासंगता । नच तर्हि पूर्वकाण्डे यज्ञबोधनं व्यर्थमिति शङ्क्यम् । तस्य स्वर्गसिद्धयर्थत्वात् । विध्यादीनां क्रीडेच्छाव्यापारत्वाच्च तद्वैषम्यमिति कृतप्रयत्नापेक्षसूत्रे व्युत्पादयिष्यामः । एवं सिद्धे विध्यादीनां क्रीडेच्छाव्यापारत्वे तदर्थानां तत्फलानां च क्रीडाशेषतैवेति तत्प्रतिपादकत्वेनैवोभयोरैकशक्त्यर्थं, न कर्मप्रतिपादकतयेति मन्तव्यम् । पुरःस्फूर्तिक्रमादाय क्रियापरत्वाङ्गीकारेऽपि तेन पूर्वकाण्डस्यैव धर्मार्थत्वसिद्धिर्न सर्वस्य वेदस्येति तावन्मात्रस्य साध्यार्थतोपगमेन पूर्वमीमांसकमतं द्वाभ्यां दूषितम् । अतः परं पूर्वकाण्डस्यापि साध्यार्थत्वमनुपगम्य दूषयन्ति सार्धेन सिद्ध एवेत्यादि । सर्वत्रेति काण्डद्वये । पूर्वत्रेतिपाठे अपेरध्याहारः । वेदवादिनामिति सर्ववेदप्रामाण्यज्ञान-रश्मिः ।

कारिकां विवृण्वन्ति न च प्रवृत्तीत्यादि । अत्रेति ईश्वरस्य प्रवर्तकत्वे निवर्तकत्वे चेत्यर्थः । श्रुतेरिति उपलक्षणमेतत् । लोकदृष्टान्तेनेश्वरे संभवति प्रवर्तकत्वादौ शब्दे दृष्टान्ताभाव इति । यज्ञ एवेत्युत्तरार्थं विवरीतुमाहुः न च तर्हीति । साध्यो यज्ञस्तत्परत्वाभाव(काल)इत्यर्थः । स्वर्गैत्यादि न तु प्रवृत्त्यर्थत्वमिति भावः । विधिनिमग्नणेति सूत्रे पुरुषनिष्ठमेव प्रेरणं लिङ्गाभिधीयते । नन्वीश्वरोऽदृष्टद्वारेण प्रवर्तयिष्यति किं विहितप्रतिषिद्धविधानेनेति चेत्तत्राहुः विध्यादीनामित्यादि । तद्वैषम्यमिति विहितप्रतिषिद्धवैषम्यमित्यर्थः । व्युदिति द्वितीयाध्यायतृतीयपादे व्युत्पादयिष्याम इत्यर्थः । क्रीडेच्छेत्यादि तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनको हि व्यापारः । इच्छाजन्यत्वे सति व्यापारत्वमिच्छाजन्य-क्रीडाजनकत्वं, क्रीडेच्छाया व्यापारत्वम् । तदर्थानामिति विध्याद्यर्थानामित्यर्थः । क्रीडाशेषता दश-विधलीलार्थता, पारार्थ्यं शेषलक्षणमिति । तथा च क्रीडा यागादिस्तदर्थः विध्यर्थः प्रेरणादिः । एवकारस्तु, ननु यागादिर्जीवधर्मः इति जीवक्रीडा नात्मक्रीडा तच्छेषता चेन्न, परातु तच्छ्रुतेरिति ईश्वरक्रीडा तच्छेषता चेति । क्रीडा । तच्छेषतेतरव्यवच्छेदकः । यद्वा न यागादिः किंतु 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्याद्युक्ता सर्गादिवेदान्ते तच्छेषता विध्याद्यर्थे प्रेरणादौ इत्यर्थः । तत्प्रतीतिं दशविधलीला तच्छेषप्रेरणादिप्रतिपादकत्वेन । साध्यार्थपरताया दूषितत्वादेवकारः । उभयोरवेदवेदान्तयोः । एकशारुयं तु 'यदेव विद्यया करोति' इति 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' इतिश्रुतिभ्याम् । न कर्मैति साध्यार्थपरताया नेत्यर्थः । मन्तव्यमिति मननाहम् । 'क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं ते' इतिवाक्यात् । न चैवमीश्वरः प्रवर्तयतीति मतं दृष्टविरोधीति 'चोदना पुनरारम्भः' इति सूत्रस्य भाष्यविरोध इति वाच्यम् । लौकिकानुग्रहाय जैमिनेः प्रवृत्तत्वेन दृष्ट एव तेषां विश्वासात् तत्र विधेः प्रवर्तकत्वेति । यद्वा 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा वा' इति श्रुतिप्रासविकल्पोक्तानुष्ठानकरणे तथैव वर्तते । अधुना तु 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' इतिश्रुत्यानुष्ठानमिति न किञ्चिदेतच्छास्त्रभेदात् । ननु न तथा प्रतीयत इतिचेत्तत्राहुः पुर इत्यादि । तावदित्यादि पूर्वकाण्ड-मात्रस्येत्यर्थः । द्वाभ्यामिति कारिकाभ्याम् । अध्याहार इति । उत्तरकाण्डसंग्रहायेति भावः ।

मन्त्राणां कर्मणां चैव दर्शनश्रवणाच्छ्रुतौ ।

कृतिश्च सिद्धतुल्यत्वं वेदः स्वार्थे च सन्मतः ।

'प्रजापतिरकामयत प्रजायेय' इति । 'स एतदग्निहोत्रं मिथुनमपदयत्' । 'प्रजापतिर्यज्ञानसृजताग्निहोत्रं चाग्निष्टोमं च पौर्णमासीं चोक्थ्यं चामावास्यां चातिरात्रं च तानुदमिमीत याचदग्निहोत्रमासीत् तावानग्निष्टोम' इत्यादि । न ह्युपाख्यानानां मिथ्यार्थत्वं बुद्धजन्मनः पुरोक्तं युक्तं वा । तथा सति वेदानाम-प्रामाण्यमेव स्यात् । मिथ्योपाख्यानप्रतिपादकलोकवत् ।

भाष्यप्रकाशः ।

पूर्वकं तदनुसारिणाम् । चैवेति चकारो 'अपश्यत् पुरोडाशं कूर्मं भूतं सर्पन्तम्' इति द्रव्यादीनां दर्शनस्य समुच्चायकः । मन्त्राणां दर्शनं तु, 'स एतं कसर्णीरः काद्रवेयो मन्त्रमपश्यत्, स एतं दीक्षितवादमपश्यत्' इत्यादिषु बोध्यम् । स्वार्थे चेति चोऽप्यर्थे । अतः स्तुतिं समुच्चिनोति । उक्तं विभजन्तो दर्शनस्य श्रुती आहुः प्रजापतिरित्यादि । अत्राद्या तैचिरीय-ब्राह्मणस्या । अस्यामपश्यदित्यस्य ज्ञानार्थताया अपि शक्यवचनत्वात् सिद्धार्थत्वं न निःसंदिग्धं स्यादित्यतो द्वितीयस्या उपन्यासः । सा च संहिताप्रथमाष्टकस्या । तत्रोक्तस्यो-न्मानस्य कर्मणामसिद्धत्वेऽशक्यवचनत्वादिति । न हीत्यादिकं विभागभाष्यम् । तेनायमर्थः । व्यासादधीतवेदः श्रुतभारतः स्वयमृषिर्जैमिनिर्वादि धर्मरूपायाः क्रियायाः सिद्धत्वं नामिप्रे-यात् तदा भावार्थाधिकरणे, 'भावार्थाः कर्मशब्दास्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेत' इत्यनेन सिद्धाव-रश्मिः ।

कर्मदर्शनश्रुतेर्भाष्ये वक्तव्यत्वान् मन्त्रदर्शनश्रुतेश्चातुक्तत्वात् दर्शयन्ति मन्त्राणामित्यादि । भाष्ये । कृतेऽत्रेति कृतिर्यज्ञस्तस्य नित्यत्वेपि क्रीडार्थमाविर्भावतिरोभावान्यां साध्यत्वमानेपि सिद्धतुल्यत्वं, सर्वस्य नित्यत्वादिति । प्रकृते । दर्शनश्रुती इति दर्शनश्रुती इति द्विवचनान्तमि-दम् । शानार्थताया इति एवं भविष्यतीति ज्ञातवानित्येवं साध्यज्ञानार्थताया उक्तप्रकारेण वा इत्यर्थः । उक्तस्येति उदमिमीतेत्युक्तस्येत्यर्थः । इतीति । नहि साध्यस्य घटस्योन्मानं संभवतीति भावः । विभागभाष्यमिति 'वेदः स्वार्थे' इत्यादिकारिकैकदेशव्याख्याश्रुत्योर्व्या-ख्यानभाष्यम् । विभागशब्दस्तावद्वाख्यानेषु प्रयुज्यते विशिष्य तु भाष्यविभागे प्रतिविधास्यामः इति वृष्टिभेदवादे क्यनात् । अर्थपरोत्र विभागशब्दः । स्वरूपपरो यथाह 'शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्य-ञ्जयमवरं स्मृतम्' इत्यत्राव्यञ्जयममभिप्रेत्येतावदधमकाव्यलक्षणमितरद्विभागपरमिति । तथाच नहीत्यादि वेदस्वरूपपरं न भवति किंतु व्याख्यानभाष्यमित्यर्थः । तथापि स एवार्थः । यद्वा । यथा संहिता एकप्राणस्य योगः । वायुः शब्दतामापद्यते इति प्राञ्चः । तद्ब्रह्मगव्यज्ञासस्य सूत्राणि तदीयैकप्राणयोगः एकस्य विभज्य धारणार्थं विभागस्य भाष्यं युक्तमिति । अत एव शैवभाष्ये व्याख्यायते इति वक्तव्ये विभज्यत इत्युक्तम् । तेनेति एकदेशभाष्यस्य पूर्वकारिकाव्याख्यान-सापेक्षत्वेनेत्यर्थः । वेदस्वरूपेतरघट्टाख्यानं तत्परत्वेनेति वार्थः । अयमिति मीमांसकादिनिरासको वक्ष्यमाणोऽर्थ इत्यर्थः । तदर्थं सार्धकारिकार्थमाहुः व्यासादित्यादि । भावार्थेत्यादि द्वितीयाध्याये इत्यर्थः । सिद्धेत्यादि भावार्थो इत्यत्र भावशब्दस्तावद् 'भावे घञ्' इति सूत्रनिष्पन्नः

भाष्यप्रकाशः ।

स्यापन्नधात्वर्थ्याभिधायकानां नामपदानां क्रियाप्रत्यायकत्वं न वदेत् । नच तत्र भावार्थपदेन भावनार्था इत्येवोच्यत इति वाच्यम् । तथा सति कर्मशब्दपदवैयर्थ्यापत्तेः । भावार्थः क्रिया प्रतीयेतैतावतैव चारितार्थ्यात् । तथा 'सर्वेषां भावोऽर्थ इति चेत' इत्यग्निमध्वं च न वदेत् । क्रियाबोधकाख्यातपदानां भावनार्थत्वस्य सर्वजनीनत्वेन सर्वेषां भावोऽर्थ इति संदेहस्यैवानुद-यात् । तथा अग्निमध्वद्वये क्रमेण नाम्नां पुरुषानपेक्षक्रियाप्रतिपादकत्वम्, आख्यातानां तु पुरुषा-पेक्षक्रियाप्रतिपादकत्वमिति विभागं च न कुर्यात् । साध्यैकत्वभाष्यक्रियावादे पुरुषानपेक्षक्रियाया एवाभावात् ।

किंच । यागादिधर्मरूपा क्रिया यदि सर्वदा साध्यावस्यैव स्यान्न कदापि सिद्धावस्या, तदा तन्निष्पत्तेः कदाप्यभावाच्चोदनापि नोच्येत । 'चोदना पुनरारम्भ' इति लक्षणमपि तस्या न क्रियेत ।

रश्मिः ।

इति तथेत्यर्थः । मीमांसकाभिमानिशङ्कामनुद्य निषेधन्ति न च तत्रेत्यादि । भावनार्था इति । भावनार्था आख्यातशब्दास्तेभ्योऽपूर्वं प्रतीयत इति सूत्रार्थात् । यथाहुः—

'द्रव्यादिशब्दतोऽपूर्वधीर्भावार्थपदादुत् ।

द्रव्यादीनां फलार्थत्वात् तच्छब्देन ह्यपूर्वधीः' ॥

'क्रियाद्वारमृते द्रव्यं फलेन नहि युज्यते ।

भावनावाचिनोऽपूर्वमाख्यातादवगम्यते' ॥

इति 'सोमेन यजेत' 'हिरण्यमात्रेयाय ददाति' इत्यादौ भावार्थस्य यागदानादेः साध्यत्वेन फलं प्रति असाधनत्वान्नापूर्वप्रत्यायकत्वं किंतु सोमादिद्रव्यादीनामिति पूर्वपक्षः । क्रियामन्त्रेणाफल-वन्तो भवन्तो द्रव्यादयः काष्ठादिदृष्टान्तमनुरुन्धाना भावनावाचितां समर्पयन्ति । यजति ददा-तीत्यादीनामपूर्वबोधकतामाख्यातानाम् । धात्वर्थव्यतिरिक्ता सर्वधात्वर्थसंबद्धकरोत्यर्थरूपा भाव-नेति । चतुःसूत्रमधिकरणमिदं द्वितीये त्वेकसूत्रे 'चोदना पुनरारम्भ' इत्यस्मिन्नधिकरणेऽपूर्वसदसद्भावे संशयः । यागस्य क्रियारूपत्वेन त्रिषण्णावस्थायितया कालान्तरभाविफलजननासामर्थ्यान्मध्ये व्यापार-रूपमपूर्वद्वारं कल्प्यतेऽतोऽपूर्वमस्तीति सिद्धान्तयन्ति, तदिदं सूत्रं विरुणद्धि । सूत्रेष्वपूर्ववाचक-पदाभावात् न च यागस्य करणत्वानुपपत्तिः । आख्यातानां क्रियासामान्यवाचितया समानपदो-पात्तस्य धातोश्चातीन्द्रियक्रियाविशेषवाचितया तन्निष्ठस्य करणत्वस्य देवताप्रीतिरूपव्यापारेण सिद्धान्तानुपपत्त्यभावात् । साधकतमं करणमिति करणलक्षणाङ्गीकारे तु स्वरूपेण निर्वा-हात् व्यापारापेक्षात् आख्यातपदैस्तत्कल्पनस्याशक्यत्वात् । पुरुषप्रवृत्तिस्तु न यागः तदभिव्य-ञ्जकतया तदेकदेशत्वात् । यथाहि उद्यमननिपतनरूपपुरुषव्यापारसङ्कृतेन परशुनाधातात्मक-दृढसंयोगद्वारा छिदा साध्यते तथा चोदनाप्रयुक्तपुरुषव्यापाराभिव्यक्तयागेन देवताप्रीतिद्वारा फलं साध्यते, अतः प्रवर्तकत्वेनाप्यपूर्वकल्पनमशक्यमिति । एतद्वर्षणं स्फुटमिति प्रकारान्तरमाहुः तथासतीत्यादि । अग्निमेत्यादि 'येषामुत्पत्तौ स्वे प्रयोगे रूपोपलब्धिस्तानि नामानि तस्मात्तेभ्यः पराकाङ्क्षा मृतत्वात्स्वे प्रयोगे' । येषां तूत्पत्तौ अर्थे स्वप्रयोगो न विद्यते तान्याख्यातानि तस्मात्तेभ्यः प्रतीयेताश्रितत्वाद्ययोगस्य' इति सूत्रद्वये इत्यर्थः । चोदनापीति 'चोदनालक्षणोर्थो धर्मः' इति सूत्र इत्यर्थः । क्रियायाः प्रवर्तकं वचनं चोदनेत्युच्यते तस्याश्च कृदन्तत्वमिति सिद्धाव-साबोधिका सा नोच्येत धर्मलक्षणत्वेनेत्यर्थः । तस्या इति चोदनाया इत्यर्थः । न क्रियेतेति

भाष्यप्रकाशः ।

अतो जैमिनेरपि वेदस्य सिद्धार्थपरतैवाभिप्रेता । इदं यथा तथा भावार्थाधिकरणमाप्ये व्युत्पा-दितमाचार्यचरणैः । मयापि तद्विवरणे निपुणतरं प्रपञ्चितमिति नात्र लिख्यते ।

रश्मिः ।

सिद्धावस्थापन्नधात्वर्थबोधकपञ्चान्तरम्भपदेन न क्रियेतेत्यर्थः । न च स्वर्गादिरारम्भते येन तदपूर्वमारम्भः इति न घञन्तमिदमिति वाच्यं 'चोदनालक्षणोर्थो धर्मः' इत्यत्रानन्वयात् अपूर्वानङ्गीकारात् स्फुटीभविव्यति चैतदुपरिष्ठात् । न च करणत्वोपपत्तये व्यापारावश्यकतेति शङ्कम् । देवताप्रीतेर्व्यापारत्वात् । न च वैयधिकरण्यम्, विषयतासंबन्धेन यजमाने सत्त्वात्तस्याः । अत इति धर्मलक्षणं चोदना तस्याश्च पञ्चान्तरम्भपदेन विवरणादित्यर्थः । व्युत्पादितमिति अत्र स्पष्टप्रतिपत्तये तद्विवरणेन सहार्थं उपादीयते । तथाहि 'भावार्थाः कर्म-शब्दास्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेतैव ह्यर्थो विधीयते' इति सूत्रं न सर्वेषु धर्मोपि तु केषुचिदेव पदेषु इत्यत्र हेतुनिर्णयाय प्रवृत्ते । अर्थार्थः क्रियावाचिनां धातुत्वानुशासनात्सर्वधातुत्वानुगतत्वं यत्क्रियासामान्यं स भावः, सोर्थो विधेयो येषां ते भावार्थास्तादृशा ये शब्दाः ते कर्मवाचका इत्यर्थः । इदमे-वानुगतत्वं क्रियासामान्यमिति भाष्यम् । तथाच यजत्यादयो धातुत्वेन रूपेण क्रियासामान्यं यज-तित्वादिना प्रतिनियतरूपेण क्रियासामान्यव्याप्यं यागसामान्यरूपं विशेषं प्रतिपादयन्तीत्यर्थः पर्य-वसन्नः । ननु किं क्रियाया रूपद्वयनिरूपणेन पूर्वोक्त एवार्थोस्तु सूत्रस्येति चेन्न, पुरुषक्रियामात्रस्य धर्मत्वाभावात् वेदैकसमधिगम्यातीन्द्रियश्चिरयागस्यैव धर्मत्वात् । शिरत्वस्य च यजतिना यागसा-मान्यबोधन एव संभवात् सामान्यस्य च नित्यत्वात् । अतो रूपद्वयनिरूपणस्यावश्यकत्वात् । ननु क्रिया प्रत्यक्षा यजतीतिप्रत्ययाभिलाषयोः क्रियाविशेषं कुर्वाणं हृद्भव संभवादतीन्द्रियत्वं कथमिति चेन्न, द्रव्यदेवतासंबन्धो हि यागः । चतुर्थेध्याये 'यजतिचोदना द्रव्यदेवताक्रियं समुदाये कृतार्थत्वात्' इति सूत्रे द्रव्यदेवताक्रियासमुदायस्य तलक्षणत्वात् द्रव्यदेवते यागस्य रूपमिति—आभिधाधिकरणे सिद्धत्वाच्च, तयोश्च संबन्धः प्रीतिहेतुत्वेन स्वीकारः,

'देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ' ॥

इति वाक्यात् । स च देवताया अतीन्द्रियत्वात्परात्मधर्मत्वाच्चातीन्द्रिय इति । न च देवता यजतीति प्रयोगापत्तिः । तादृशस्वीकारस्य देवनिष्ठत्वादिति वाच्यम् । तादृशव्यापारस्य फलत्वेन कर्मनिष्ठत्वात् । तेन देवदत्तो वजतीति प्रयोगानापत्तिरपि द्योचरा । ऋत्विजो यजन्तीति त्विष्टमेव योधा युष्मन्तीतिवत् । प्रेषे होतैर्यजेति प्रयोगात् । अतः फलरूपो यागोऽतीन्द्रियः 'चातुर्होत्रं च सत्तम' इति क्रियायाः पुरुषावयवेषु गणनाच्च । ननु देवतोदेशेन द्रव्यत्याग एव यागोस्तु अग्नय इदं न ममेति त्यागवाक्यानुरोधादानस्यापि यजत्यर्थत्वाच्चेतिचेन्न, परस्वत्वापादनरूपदानस्याप्यतीन्द्रिय-त्वात् । लोकप्रयोगस्तु न तात्त्विकः, शास्त्रदृष्ट्यभावात् । न च 'प्रीहीनवहन्ति' 'अग्नीषोमीयं पशुमालमेत' इत्यादिक्रियाणां प्रत्यक्षत्वादेतद्दृष्टान्तेन यागोपि प्रत्यक्षो भवतु इति शङ्कम् । मन्त्रेण चावघातो, देवपश्यश्च कर्त्यः, लौकिके 'हृत्विष्कृदेहि' 'उमौ हि वै देवानाश्शमितारौ' इत्यादिभि-स्तदावाहनादतीन्द्रियत्वात् । फले संपन्नेऽलौकिकक्रियायाः कर्तुश्च तितोभावः । न च नार्हति स्वीकारो नित्यो भवितुं द्रव्यस्य व्रीह्यादेरनित्यत्वेन तन्न्यहोमोत्तरभावित्वादिति शङ्कम् । 'अप-

रश्मिः ।

श्यन् पुरोडाशं कूर्मं भूतं सर्पन्तम्' इत्याद्यर्थवादेषु द्रव्यसालौकिकत्वकथनात् । किं च पुरुषसूक्त-
विवरणाध्याये—

‘इति संभृतसंभारः पुरुषावयवैरहम् ।

तमेव यज्ञं पुरुषं तेनैवायजमीश्वरम्’ ॥

इतिवाक्याद्द्रव्यादीनामलौकिकत्वं निरावाधम् । ‘यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः’ इति श्रुतेश्च ।
ते प्रोक्षणादिसंस्कारैरिदानीं लौकिकेषु द्रव्यादिषु संनिधाप्यन्ते, मूर्तो देवतोवत् । लौकिकैरेव याग-
निष्पत्तौ तु संस्कारा व्यर्थतां गच्छेयुः । अतो ये क्षणिकत्वमदृष्टं वा कल्पयन्ति ते न यागपदार्थं
विदुः । अतःपरमेषु ह्यर्थो विधीयत इति सूत्रशेषार्थः । एष योऽतीन्द्रियत्वादिधर्मवान् सोऽर्थः ।
लौकिकस्तु संसारहेतुत्वादनर्थ इत्यर्थः । स्थिरत्वेन विद्यमानत्वादेव विधीयते चोदनया पुरुषः प्रव-
र्त्यते तत्र । प्रलये तु ‘स्वामाविकी ज्ञानबलक्रिया च’ इति श्रुतेर्नित्यक्रियाया ईश्वरधर्मत्वेन तन्निष्ठता,
तेन धर्मानित्यत्वादिना क्रियात्वादिजातौ पदशक्तिरङ्गीकार्या । सा च धर्म इति तत्स्वित्यर्थं धर्मिणः
प्रावाहिकी सत्ताभ्युपगन्तव्या । अहोरात्रन्यायेन कल्पस्य कल्पपूर्वकत्वात्तद्वारिषु प्रलये सर्वनाशात् ।
ये पुनर्जीवन्ति ते स्वापान् क्रियाप्रवाहोपरमे तस्या जातेरनाधारत्वापत्त्या कालादौ तत्स्वितिर्निराधारत्वं वा
कल्पनीयम् । शब्दबोधसमये च क्रियायाः आक्षेपलभ्यत्वं कल्पनीयं, कर्मदर्शनादिश्रुतीनां च
स्वार्थे तात्पर्यराहित्यं कल्पनीयमिति वरं धर्मनित्यत्वमित्यलम् । उक्तैरेवं शङ्कते सर्वेषां भावोऽर्थ इति चेत् ।
यदि भावार्थेभ्य एव धर्मः प्रतीयत इति उच्यते तदा सर्वे शब्दाः भावार्थाः क्रियावाचकाश्च सर्वे
धातुजाः । कृत्वत्ययेन च भावोभिधीयत इतीत्यर्थः । न सर्वे शब्दाः धर्मवाचकाः धर्मस्य पुरुषार्थ-
त्वात् । भावार्थशब्दैर्नामभिस्तु धर्मः प्रत्याप्यते परंतुदासीनतया न तु पुरुषार्थतया अतो धर्मप्रमिति-
संपादने भावार्थकर्मशब्दत्वमेव न प्रयोजकं किं तु पुरुषस्यापेक्षापीतः सापेक्षानपेक्षविभागं वदन्प-
रिहरति येषां तृप्तौ स्वे प्रयोगे रूपोपलब्धिस्तानि नामानि तस्मात्तेभ्यः पराकाङ्क्षा न भूतत्वात्स्वे
प्रयोगे, स्व इति षष्ठ्यर्थसम्भन्तं स्वीयत्वेनार्थवाचि । तथाच येषां शब्दानामर्थस्योत्पत्तौ सत्यां प्रयोग-
काले रूपोपलब्धिर्जायते तानि नामानि । निरुक्ते नामाख्यात इत्यादिशब्दविभागवचनात् । अतः स्वयं
नमन्ति कारकतया क्रियाशेषा वाक्ये भवन्ति नामयन्ति, स्वार्थमाख्यातार्थं प्रति, स्वार्थमाख्यातार्थप्र-
योजनाय शेषभूतं कुर्वन्तीति नामसंज्ञा तेषां शब्दानामर्थस्य परार्थत्वज्ञापिका । अतः परार्थत्वेन स्वात-
ह्याभावाद्वाक्यार्थबोधवसरे नामभ्यो धर्मः पुरुषार्थतया न प्रतीयत इत्ययमर्थो नामशब्दार्थकथनेन
बोध्यते । तच्छ्रवणानन्तरं पुरुषाकाङ्क्षा न भवति । यथा पचतीत्युक्ते कः इत्याकाङ्क्षा, न तथा
घट इत्युक्ते, नापि पाक इत्युक्ते । अतःपरं भूतत्वात्स्वे प्रयोगे इति सूत्रांशः, स्वप्रयोगकाले भूतत्वात्
सिद्धत्वादित्यर्थः । अतस्तन्निष्पादनार्थं न पुरुषापेक्षेति भावः । तथाच नामभ्योऽनपेक्षत्वेन स्थिरत्वे-
न धर्मप्रमितावपि पुरुषार्थत्वेन न प्रतीयत अतो भावार्थकर्मशब्दत्वं तत्स्वरूपप्रमित्युपयोग्येव न
तु पुरुषार्थरूपत्वघटितत्वमित्युपयोगीति सिद्धम् । येषां तृप्ततावर्थे स्वप्रयोगो न विद्यते तान्याख्यात-
तानि तस्मात्तेभ्यः क्रिया प्रतीयताश्रितत्वात्प्रयोगस्य । यथा नामभ्यः पुरुषार्थत्वेनाप्रवृत्तिस्तथा-
ख्यातेभ्योपीति शङ्कां वारयति तुशब्दः । उत्पत्ताविति सतिसप्तमी आनन्तर्यज्ञापिका । अर्थ इति
विषयसप्तमी । स्वप्रयोग इति शब्दप्रयोगः । तथा चायं सूत्रार्थः, येषां शब्दानामर्थोत्पत्त्यनन्तरमर्थे

भाष्यप्रकाशः ।

किं च । अर्थवादाधिकरणेषु अर्थवादानां विधेयस्तावकत्वेन प्रामाण्यकथनादपि तथा । यदि हि
बालातुराद्युपच्छन्दनवदर्थवादानां स्तावकत्वमभिप्रेयात् प्रामाण्यं तेषां न भूयात् । तदुपच्छन्द-

रश्मिः ।

प्रयोगो न विद्यते अर्थ प्रदर्श्य प्रयोगो न विद्यते यथा अयं घट इति उत्पत्तिसमये प्रयोगो
नात्र निषिध्यते तेषामाख्यात इति संज्ञा, यैर्धर्म आख्यायत इति ज्ञापनार्थम् । तस्मादविद्यमानार्थ-
त्वात्स्वनिष्पत्त्यर्थं पुरुषाकाङ्क्षाया विद्यमानत्वात्तेभ्यः पदेभ्यो धर्मः कर्तव्यत्वेन प्रतीयते । किंचाश्रि-
तत्वात्प्रयोगस्येति प्रतीती हेत्वन्तरम् । प्रयोगो ह्यनुष्ठानं तस्युपस्थापितं भवति । पुरुषप्रयत्नव्यतिरेकेण
धर्मो न निष्पद्यते । आख्यातार्थश्च भावना उत्पादनात्मिका क्रिया पुरुषधर्मः । अतः स्वनिष्प-
त्त्यर्थं पुनः पुनः प्रयोगार्थं च पुरुषोऽपेक्ष्यते इति पुरुषार्थो धर्मस्तेभ्यः प्रतीयत इत्यर्थः । नामभ्यस्त्वौदा-
सीन्येनेत्युक्तम् । एवमाख्यातस्य धर्मप्रत्यायकत्वे सिद्धे आख्यातविशेषो लिङ् तदर्थं प्रवर्तकत्वं वदन्
चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म इति पूर्वमुक्तं तत्र चोदनास्वरूपमाह ‘चोदना पुनरारम्भ’ इति न त्विदमधिकरणान्तरं
पूर्वशेषत्वात् विषयान्तरदर्शनाच्च । चोदना तु प्रथमतः प्रवृत्तिजनकत्वादारम्भ इत्यर्थः । पुनःशब्दो
हि त्वर्थः । चोदना हि प्रवर्तकं वाक्यं तेन चाख्यातपदोक्ता भावना विधीयते, अयं मां प्रवर्त-
यतीति प्रेरणया नियोज्ये प्रवृत्तिरूपारम्भजननात् । तथाच विधेयत्वेन चोदनाविषयोऽर्थो धर्म
इति । अतस्तस्य वाक्यस्य धर्मत्वज्ञापकत्वमतो भावार्थः कर्मशब्दैर्वागो दानं होम इत्यादिभिः यथा-
सिद्धत्वेन धर्मः प्रतिपाद्यते, यथा चाख्यातैर्विशेषणत्वेन यागेन भावयेदिति यजेतेत्यस्वार्थात् तथानेन
वाक्येन विशेष्यत्वेन धर्मो न प्रतिपाद्यते, पुरुषविशेषणत्वेनैव धर्मप्रमितिः विशेषणं चौदासीनप्रच्युत्या
आरम्भः पुरुषविशेषणं पुरुषधर्मस्तन्निष्ठ इति यावत् । आरम्भस्तद्योग्यो धर्म इति पुरुषविशेषणमा-
रम्भ इति । स च निष्पादनार्थं प्रवृत्तिरित्येतावान् लिङ्गं विशेषः । न च प्रवर्तकवाक्यस्य धर्म-
त्वज्ञापकत्वे धर्मोऽज्ञापकत्वाद्यासिर्लक्षणे शङ्का । आरम्भत्वेन धर्मप्रमितेरपि भवनात् । नन्वाख्या-
तत्वाविशेषेपि लिङ्गं विशेष इत्यत्र को हेतुरिति चेन्मैवं, यथाख्यातानां भावनालक्षणः क्रियारूपोऽर्थनिष्ठो
व्यापारोऽभिधेयः तथा लिङ्गोऽभिधानलक्षणः अङ्गः कर्म भावयेत् कर्मणा फलं भावयेत् इति पूर्वापरी-
भावापन्नः शब्दनिष्ठो व्यापारोऽभिधेयः । तादृशेन शब्दनिष्ठव्यापारेण पुरुषः कर्मणि प्रवर्तत इति
तस्य पुरुषे प्रेरणासंबन्ध इति । न चात्र विप्रतिपत्तव्यम् । लोके घटमानय इत्यादिशब्दश्रवणान-
न्तरभाविन्यां प्रवृत्तौ अयं मां प्रवर्तयतीति प्रतीतेस्तदनुरोधेन वेदेपि तथा कल्पनात् । न चैवं एषउ
एव साधुकर्म कारयतीति श्रुत्युक्तमीश्वरस्य प्रवर्तकत्वं कथं घटते इति शङ्कम् । ईश्वरः प्रवर्तयतीति
मतं शङ्कानुसारीति लौकिकानां दृष्टे विश्वस्तानामत्र संमुखीकरणार्थत्वात् । अतोऽस्मिन्नधिकरणे सिद्धा-
वस्थापन्नधात्वर्थरूपक्रियात्मको धर्म उदासीनो नामपदेभ्यः प्रतीयते, साध्यावस्थापन्नधात्वर्थः
क्रियात्मकः पुरुषापेक्षः पुरुषार्थरूप आख्यातेभ्यः । तत्रापि लिङ्गेशेनारम्भतया । अतः पुरुषार्थतया
तदारम्भतया च प्रतीतिजननादाख्यातपदानि भजन्ते प्रमितिजननेन मुख्यतां, नामपदानि तु सिद्धतद्वो-
धकतया तदुपकारकाणीति सिद्धम् । एवं व्युत्पादितं प्रपञ्चितं चेत्यर्थः । एवं सिद्ध एवेत्याद्यर्थकारिका
विवृता । मन्त्राणामित्यादि विवरीतुं मन्त्रादीनामर्थवादत्वमपीति तदर्थं विचारयन्ति किंचार्थेत्यादि ।
अर्थवादेत्यादि इदमधिकरणं पूर्वतन्त्रे प्रथमस्य द्वितीयपादेति । तथेति अर्थवादानां सिद्धार्थ-

भाष्यप्रकाशः ।

नस्य प्रतारणरूपत्वात् । ननुपच्छन्दनवाक्यस्य फलांश इति एव प्रतारणरूपत्वं, न प्रवर्तनांश इति, न तत्रैवात्रापि दोष इति चेन्न । स्वर्गादिरूपस्य फलस्याप्रत्यक्षत्वेन विधिवाक्योक्तफलांशेऽपि तथात्व-
प्रसङ्गात् । अत उपाख्यानानां मिथ्यार्थप्रतिपादकत्वकथनं तथागतवासनावलम्बनमेव । नच—

‘परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम् ।
कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा’ ॥ इति,
‘फलश्रुतिरियं नृणां न श्रेयो रोचनं परम् ।
श्रेयोविषयया प्रोक्ता यथा मैषज्यरोचनम्’ ॥

इतिपुराणवाक्यादुपच्छन्दनन्यायेन मिथ्यात्वमाद्रियत इति वाच्यम् । तत्रैवमर्षाभावात् । सर्वथा सन्मार्गविद्युत्त्वानां नानाकामानां सहस्रा कामानिदृष्टिमालोच्य तांस्ततो निवर्तयितुं स्वर्गादिरूपं तदमीष्टं सदेव नश्वरं फलं प्रदर्श्य तेन तेषां सन्मार्गवर्तित्वविधानेन कर्ममोक्षेऽधिकारिणः कर्तुं कुसुमरूपं तदिति तत्र मिथ्यात्वगन्धस्यापि वक्तुमशक्यत्वात् । ‘फलश्रुतिं कुसुमितां न वेदज्ञा वदन्ति हि’ । ‘पुष्पेषु फलशुद्धयः’ इत्यादिवाक्यैस्तथानिश्चयात् । अतस्तत्र विभ्रान्त्या मायावादेन वा ये भ्रान्तास्तेषामेव वेदार्थे तथा भानं, न वेदवादिनामित्यर्थवादा अपि स्वार्थप्रमितिं जनयन्त एव स्तावका इति निश्चयेम् ।

किंच । अभिहोत्रमिधुनदर्शनोत्तरं पठ्यते । ‘तदुदिते ध्येऽजुहोत्,’ ‘यस्त्वं विदुष उदिते ध्येऽभिहोत्रं जुहति प्रैव जायते’ इति । उन्मानानन्तरं च पठ्यते, ‘य एवं विद्वानभिहोत्रं जुहोति यावद-
भिहोत्रेनोपाप्मोति तावदुपाप्मोति’ इति । एताभ्यां च विद्वद्वाक्याभ्यामर्थवादभ्रावितार्थविषयकज्ञानस्य फलाङ्गता बोध्यते । यदि स उपच्छन्दनाय मिथ्या भ्रावितः स्यात् ततो विद्वद्वाक्यमपि मुधा स्यात् । एवमन्यत्रापि । ततश्च सर्वस्य वेदस्य प्रामाण्यमपि विलूयेत । अतस्तदभावाय सत्यार्थ-
कथनेनैवोपच्छन्दनमुपगन्तव्यम् । तेन श्रुतिपुराणयोरुभयोरपि सामञ्जस्यत्वात् । ततः कर्मादि-
रहिमः ।

बोधकता न तु प्रतारकतेत्यर्थः । फलांश इति कद्वनि मधुरत्वरूपफलांश इत्यर्थः । तथागतेत्यादि
तथागता बौद्धभेद इति प्रतिभाति । कर्ममोक्षायेति कर्ममोचन इत्यर्थः । तथेत्यादि पूर्वोक्तार्था-
भावनिश्चयादित्यर्थः । तत्रेति स्तुतिमात्र इत्यर्थः । स्वार्थेत्यादि अत एव आवाणः भवन्ते इत्यस्याः
सेतुबन्धे संवादोपि संगच्छते । क्वचिदेशे ग्राव्यां त्रयाणां पूजार्थं तरणेनागमनमितिभ्रुतमपि ।
प्रैवेति प्रजायते एवेत्यर्थः । विद्वदित्यादि विद्वत्तदघटितवाक्याभ्यामित्यर्थः यदि स इति
अर्थवाद इत्यर्थः । आश्रितः स्यादिति ‘वा शरि’ इत्यस्य वैकल्पिकत्वात् पक्षे ‘विसर्जनी-
यस्य सः’ इति सत्यम् । विद्वद्वाक्यमिति परोक्षवादो वेदोयमित्तिवाक्यम् । अन्यत्रापि गोअ-
श्वा एव पशवो अन्ये स्वपशवः, आदित्यो यूप, इत्यादावपि । त्रयः पशूनाहस्तादानाः पुरुषो इस्ती
मर्कटः पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत च द्विपदमित्यादिश्रुत्यन्तरेऽन्येषां पुरुषादीनामपि पशुत्वश्रावणात्
तद्विरोधेनापशवः इत्यत्र पशुपदगौण्या उचितत्वात् । एवमादित्यो यूप इत्यादिपूजयेत् । सच्चिदान-
न्दरूपयूपस्य संस्कारेण चित्वाषान्यात् । इदानींतनानां सर्ववेदादाश्रितत्वात् । ततश्चेति मिथ्या-
र्थकथनाचेत्यर्थः । तेन श्रुतीत्यादि ‘परोक्षप्रिया इव हि देवाः’ इतिश्रुतिः पुराणं तूक्तं तयोरित्यर्थः ।
एतावता प्रकृते किमायतमित्यपेक्षायामुपयोगं मन्त्राणां कर्मणामित्यत्र स्फुटयन्तः सिद्धमाहुः ततः कर्म-

१. विद्वत्त्वपठित इति. २. अग्रवास्ताः पशवः ।

तस्मात् पूर्वमीमांसानभिज्ञाः क्रियापरत्वं सर्वस्यापि वेदस्य बध्नन्तो मूर्खा

भाष्यप्रकाशः ।

दर्शनश्रुतीनां स्वार्थे प्रामाण्यमकलङ्कमिति पूर्वकाण्डस्यापि सिद्धार्थपरत्वमेव । नच जुहुयात्
यजेतेत्यादीनां साध्यकृतिबोधकपदानां व्याकोपः । सिद्धस्य कर्मणः प्रकारज्ञानपूर्वकं करणे
फलसंबन्धं बोधयता विद्वद्वाक्येनातिदेशसिद्ध्या कृतेः सिद्धतुल्यत्वेन साध्यकृतिव्यञ्जस्य
सिद्धस्यैव धर्मस्य तत्र विवक्षिततया बालोपच्छन्दनायोके साध्यार्थे तात्पर्याभावनिश्चयात् ।
एकत्र दृष्टः श्लाघार्थोऽपरत्रापि तथेति न्यायेन विद्वद्वाक्यशून्यस्यलेऽपि तथाऽवसायाच्च । अतः
पूर्वकाण्डस्य साध्यार्थपरत्वमयुक्तमेव । उत्तरकाण्डस्य तु ज्ञानादिप्रतिपादकत्वेऽपि ज्ञानोपास-
नादीनां विषयभूतमज्ञानैव स्वरूपलाभेन ज्ञानादिभिर्मरण एव प्राप्यतया फलत्वेन च तस्यैव
शेषित्वम् । पूर्वकाण्डोक्तफलस्याप्येतस्यैवानन्दस्यान्यानीतिश्रुतेस्तदश्रत्वाच्च । कर्म फलार्थत्वादि-
तिन्यायात् । इदं फलत्वमप्युपाख्यानागम्यमिति । तदेतदुक्तं नहीत्यादिना । सिद्धमाहुः
तस्यादित्यादि । यस्मादुक्तरीत्या विचारे न सर्वस्याज्ञायस्य क्रियार्थत्वं, न वा पूर्वकाण्डस्य
साध्यार्थपरत्वं तस्मात् ते तथेति तद्वाक्येन शास्त्रयोनित्वव्याकुलीभावाभावात् पूर्वपक्षोऽसंगत
रहिमः ।

स्यादि । तत इति अर्थवादानां स्वार्थप्रमितिजनयतामेव स्तावकत्वादित्यर्थः । इतीति इति हेतो-
स्तत्र साध्यस्य दर्शनायोगेन सिद्धस्य कर्मणो दर्शनात्तथेत्यर्थः । कृन्तिभ्येत्यादि भाष्यं विवरीतु माहुः
न चेत्यादि । साध्यकृतीति पुरुषनिष्ठा शब्दीभावनासाध्यार्थीभावनेत्यर्थः । अतिदेशेत्यादि ।
अन्यत्रैव प्रतीतायाः कृत्स्नायाः धर्मसन्ततेः ।
अन्यत्र कार्यतः प्राप्तिरतिदेशोऽभिधीयते ॥
प्राकृतात्कर्मणो यस्मात्तत्समानेषु कर्मसु ।
धर्मप्रवेशो येन स्यात् सोऽतिदेश इति स्मृतः ॥

इति द्विधा लक्षितातिदेशस्यान्यत्राभिहोत्रे प्रतीतायाः प्रकारज्ञानपूर्वककरणरूपायाः धर्मसन्तते-
रन्यत्र जुहुयात् सोमेन यजेत इत्यादावतीन्द्रिययागादौ कार्यतः फलसंबन्धार्थं प्राप्तेः सिद्धज्ञानश्रस्य
फलासंबन्धादास्यातबोधितकृतेः सिद्धतुल्यत्वेनेत्यर्थः । ‘यज्ञो वै विष्णुः’ इतिश्रुतेः सिद्धतुल्यत्वामावे
तया विष्णुद्रव्यसंबन्धरूपातीन्द्रिययागोऽभिव्यक्तो न स्यात् । ‘स्वयभेवात्मनात्मानम्’ इतिवाक्य-
विषयत्वात् । अतिदेशे विद्वद्वाक्यं प्रमाणमुक्तं ‘परोक्षवादो वेदोयम्’ इत्यादि । सिद्धस्येति
अतीन्द्रियस्य । तत्रेति जुहुयात् यजेत इत्यादावित्यर्थः । किमत्रातिदेशकमित्यपेक्षायामाहुः एकत्रे-
त्यादि तथाच पूर्वत्रापि न्यायेनातिदेश्यत इत्यर्थः । अत इति फलसंबन्धसाहेयत्वादित्यर्थः । तस्यै-
वेति प्रमाण एवेत्यर्थः । पञ्चप्रकृतियागानामात्मसुखमेव फलं न स्वर्गलोकास्यं ‘अक्षय्यं इ वै चातुर्मास-
याजिनः सुकृतं भवति’ इति श्रुतेः । इदं यथा तथा प्रतिपादितं सर्वनिर्णये इति तदुदिकृत्याहुः पूर्व-
काण्ड इत्यादि । कर्मैत्यादि ‘कर्मण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात्’ इति सूत्रस्यार्थकथनमिदम् । एतच्च
तृतीयाध्याये चिन्तितम् । इदमित्यादि । आनन्दस्य फलत्वमिदमुपनिषद्गम्यमिति तज्यायेन न मिथ्या-
र्थत्वमुपाख्यानानामित्यर्थः । तदेतदिति कारिकाव्याख्यानव्याख्येयमित्यर्थः । ते इति पूर्वमीमांसा-
भिज्ञा इत्यर्थः । भाष्ये । मूर्खा इति बन्धहेती प्रवृत्तत्वेन बन्धाज्ञानान्मूर्खा इत्यर्थः । ‘पण्डितो

१. कृतेत्येति पाठः २. धर्मोपदेशो येन इति पाठः ।

२४ अ० ३० २०

एव । उत्तरवादिनोऽपि पूर्वाज्ञानमङ्गीकृत्य पूर्वानुपयोगित्वं ब्रह्मज्ञानस्य वदन्तो वेदानभिज्ञा एव । 'यदेव विद्यया करोति अद्वयोपनिषदा वा तदेव धीर्यवत्तरं भवति' इत्युपनिषद्ब्रह्मज्ञानस्य श्रुतिसिद्धैव कारणता ।

भाष्यप्रकाशः ।

इत्यर्थः । एवं पूर्वपश्चात्संगतिमुद्गाढ्य सिद्धान्तासंगतिमुद्गाढ्यन्तः पूर्वं शंकरमतस्यासंगतत्वमाहुः उत्तरेत्यादि । अनभिज्ञा इत्यन्तं ग्रहणकमाप्यम् । तत्रायमर्थः । सर्वस्य वेदस्य क्रियापरत्व-मभिसंधाय शुद्धशुद्धोदासीनभूतब्रह्माभिधायके वेदान्ते भागे प्रयोजनशून्यतयाऽऽनर्थक्यं प्रत्य-क्षादिसमानविषयतया लौकिकवाक्यवदनुवादकतायामनपेक्षप्रामाण्यमङ्गं च दर्शयतां स्वाप्याय-विधिगृहीतत्वेन तत्सार्थक्याय दूरतरपश्चादिकर्मापेक्षितकर्तृदेवतादिप्रतिपादकत्वेन क्रियार्थत्वं वा, सन्निहितोपासनादिक्रियापेक्षितविषयप्रतिपादकत्वेन तादर्थ्यं वामिमन्यमानानां पूर्वेषां वादिनां तदनुसारिणां च वेदान्ताज्ञानमङ्गीकृत्य शुद्धशुद्धोदासीनस्य ब्रह्मणः प्रमाणांतरानधिगतत्वा-दितरनेरपेक्षेण तद्बोधकतया प्रामाण्यं हेयोपादयशून्यब्रह्मात्मवगाभादेवावस्तुभूताविद्यासमारो-पितसकलश्लेषनिवर्तकतया सार्थक्यं च वेदान्तेषु प्रदर्श्य तत्सिद्धस्य ब्रह्मज्ञानस्य यज्ञानुपयो-गित्वं वदन्तो वेदज्ञानरहिता इत्यर्थः । नन्वेवं युक्तियुक्तमर्थं वदन्तः कथं तथेत्याकाङ्क्षायां छान्दोग्यारम्भदेशस्यश्रुत्युपन्यासेन तदुक्तं दृश्यन्तो विभजन्ते यदेवेत्यादि प्रवृत्तिरित्यन्तम् । कारणतेति सहकारकारणता । अस्यां श्रुतौ विद्यापदेनात्मभिदावाचकं ज्ञानम् । अज्ञापदेन वेदोक्ते आस्तिक्यबुद्धेः । उपनिषत्पदेन परमात्मस्वरूपावषयकं रहस्यज्ञानमुच्यते । तेन तत्-शुक्तो यत् कर्म वेदोक्तं करोति तदेव कर्म वीथवत्तरमनश्चरफलं मोक्षपर्यवसापि भवतीत्यर्थः । यत्तु कैश्चिद् विद्या विज्ञानं, अज्ञा कर्मअज्ञा, उपनिषद् योग इति व्याख्यातम् । तत्र । विद्या-पदस्य विज्ञाने उपनिषत्पदस्य योगे च शक्त्यदर्शनात् । 'विद्याऽऽत्मनि भिदावाचः' इत्येकादश-स्कन्धवाक्येन, उपनिषद् रहस्यविधेति शंकराचार्यविद्यारण्यादिव्याख्यानेन चोक्तार्थ एव

रदिमः ।

बन्धमोक्षवित्' इतिवाक्यात् । पूर्वाज्ञानमिति पूर्वं कर्म, अज्ञानमविद्या, पूर्वयामज्ञानाख्यं कर्म वा तत्पूर्वाज्ञानं पूर्वस्य कर्मणः अनुपयोगोऽस्तीति अनुपयोगि तस्य भावस्तत्त्वम् । प्रकृते । ग्रहणकेत्यादि परमतीयत्वाद् ग्रहणकमाप्यमित्यर्थः । द्वितीयाध्याये 'स्मरन्ति च' इति सूत्रे स्मरन्ति च ऋषय इति भाष्यवत् । दृषणार्थं ग्रहणाद् ग्रहणकम् । स्वार्थे कः । गृह्यते परमते सूत्रापेक्षितं येन तद्ग्रहणं न तु व्याख्यानं 'करणाधिकरणयोश्च' इति सूत्रेण त्युद् । कस्य सूत्रांशसेदं ग्रहणमिति ग्रहणकम् । 'अज्ञाते' इति सूत्रेण कप्रत्ययो वा । प्रत्यक्षादीत्यादि अभिहिंसस्य भेषजमिति वाक्यमुदाहरणम् । स्वाध्याये-त्यादि वेदान्तानामित्यादिर्बोध्यः । वेदानामर्थे शङ्कराहिल्यांशे वेदान्तानां स्वाध्यायविधिगृहीतत्वं बोध्यम् । तद्वित्यादि वेदान्तप्राप्त्यायेत्यर्थः । 'काण्डभेदादाहुः दूरतरेति । संनिहितेति 'आत्मे-त्येवोपासीत' इत्यादीनामेकवाक्योदितेत्यर्थः । आत्मानं श्लोकमुपासीतेति । तादर्थ्यमिति क्रियार्थत्व-मित्यर्थः । पूर्वेषामिति मीमांसकानामित्यर्थः । ननु यागः क्रिया तत्र च कारणं कारणमिति कथ-मेवमित्यत आहुः सहकारीत्यादि । कारणं तु श्लोकप्रक्रमपठितप्रयाजादिकं तदाहुः अस्यामिति । भवतीति । न च 'यदेव विद्ययेति हि' इति सूत्रभाष्यविरोधः । एतद्भाष्यास्वरसेनैव तत्र पश्चान्तरोले-

नच बाधितत्वात् त्यज्यत इति वाच्यम् । ब्रह्मात्मज्ञानवत् एव वशिष्ठादे-र्यज्ञाधिकारात् । नचैवं किमनेनेति वाच्यम् । इत्थंभूतत्वाद्यज्ञस्य ।

भाष्यप्रकाशः ।

शक्तिनिश्चयाच्च । तथाच परमात्मारहस्यज्ञानात्मकब्रह्मज्ञानस्य श्रुतिसिद्धकारणताया अज्ञानाद् वेदानभिज्ञा इत्यर्थः । ननु सिद्धे फले साधनान्तरस्यानुपयोगेन, उत्कृष्टस्य निकृष्टशेषताया-श्चासंगतत्वेन तस्याः श्रुतिसिद्धाया अनादराभानभिज्ञत्वमिति समाधिं दृषयन्ति नचेत्यादि । त्यज्यत इति नाद्रियते । अधिकारपदेनात्र मुख्यधिकारो विवक्षितः । तथाच यदि ज्ञानमात्रे-णाविद्यानिवृत्त्यादि स्याद् वशिष्ठादिज्ञानी यागादिकं न कुर्यात् । यदि स ज्ञानित्वेन भवद-मिमत्तो न स्यात् तद्ब्रह्मनानि नाद्रियेरन् । अतः पुराणादिप्रसिद्धैर्भवदादृतेरपि यागादिकरणेन तत्रादरवचनात् तद्विरोधेन ज्ञानस्य सहकारितानादरे सुतरामनभिज्ञतेत्यर्थः । ननूपनिषदात्मक-ज्ञानपूर्वकेण वशिष्ठाद्यधिकारेण वेदान्तविचारे किं सिद्ध्यति, येनैवमाग्रहः क्रियत इत्याकाङ्क्षाया-माहुः न चैवमित्यादि । अयमाशयः । 'यज्ञो वै विष्णुः' इति श्रुतेर्यज्ञोऽप्येकं ब्रह्मण एव क्रियात्मकं रूपम् । नच तत्राधिष्ठातृत्वमेव बोध्यते, न तु क्रियात्मकत्वमपीति शङ्क्यम् । 'धर्मो यस्यां मदात्मकः,' 'मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोक्षते ह्यहम्, एतावान् सर्ववेदार्थः' इत्याद्येकादशस्कन्धीयमगवद्वाक्यैस्तथावत्स्यापि निश्चयात् । स च द्रव्यदेवतायजमानयज्ञावच-रादिभिरभिव्यज्यते । स वैश्वैकिकैरेवाभिव्यज्यते तदा प्रोक्षणादिसंस्कारा अवहननादीनां च नियमा शुधैव स्युः । अतो वेदोक्तफलसिद्ध्यर्थं यथा ते तथा मोक्षफलार्थमुपनिषदप्युपयुज्यते । तदभावे तु साङ्गस्य यज्ञस्य लौकिकेऽर्थेष्वध्यस्यमानत्वात् तदज्ञानां लौकिकत्वे तैराधि-दैविकयज्ञस्वरूपानाविर्भावात् । उपनिषदा त्ववगते सर्वस्य ब्रह्मत्वे ब्रह्मभूतैरङ्गैराधिदैविकयज्ञा-रदिमः ।

खात् । शक्तीत्यादि तेन विद्या उद्गीथाद्यंशमात्रविषया, अज्ञा तात्पर्यं, उपनिषद् देवताविषयोपासनेति विश्वेश्वरव्याख्यानमपि परास्तम् । मात्रशब्दपरित्यागे तु युक्तम् । यदेव विद्ययेत्यादिभाष्यविरोधा-भावात्, तथास्तिक्यबुद्धिः श्रद्धेति बहुश्लेषेण प्रसिद्धेः । तथैवोपनिषच्छब्दरूपा न तूपासनाकार्थ-रूपेणैव प्रसिद्धमिति च । उत्कृष्टस्येति आत्मज्ञानस्येत्यर्थः । तस्या इति कारणताया इत्यर्थः । समाधिमित्यादि बाधितत्वात्त्यज्यत इति समाधिमिति न च वाच्यमित्यनेन दृषयन्तीत्यर्थः । मुख्यधिकार इति । गौणमुख्यन्यायादितिभावः । तेन काम्यकर्माधिकाराज्ञानात् पूर्वं न विरुद्ध्यन्त इति बोध्यम् । नाद्रियेरन्निति द्वितीयाध्याये 'स्मरन्ति च' इति सूत्रे स्मरन्ति च व्यासादयः इति नाद्रियेरन्नित्यर्थः । तत्रेति श्रुतिसिद्धकारणतायामित्यर्थः । उपनिषदात्मकज्ञानेति अर्थे ज्ञान उपनिषच्छब्दः आशङ्कान्नन्यत्वात् । तत्रेति विष्णावित्यर्थः । तथात्वस्येति यज्ञात्मकत्वस्येत्यर्थः । अपि च अधिष्ठातृत्वबोधने लक्षणाप्यापायेत । सच द्रव्येति । यज्ञावचरो यज्ञप्रचारहेतुः । यथा त इति । यथा प्रोक्षणादिसंस्कारा इत्यर्थः । तदभाव इति 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इतिश्रुते-रुपनिषच्छब्दरूपकारणाभावे । यज्ञसावयविनः लौकिकेष्ववयवेष्वङ्गेषु । अध्यस्यमानस्येति कारणा-भावाद्यज्ञाविर्भावाभावे यज्ञ इति प्रतीतिर्ब्रह्म इत्यध्यस्यमानत्वं तस्मात् । अत्र हेतुमाहुः तदज्ञाना-

किंच । कर्मफलवद् ब्रह्मफलस्यापि लौकिकत्वात् । 'य एवं वेद प्रतितिष्ठति, अन्नवानन्नादो भवति महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्षसेन महान् कीर्त्या' इति । अत्यन्ताविद्यावतो यज्ञानधिकारात् तन्निषेधार्थं ज्ञानमुपयुज्यते ।

भाष्यप्रकाशः ।

विर्भावः । तथा तादृशां यज्ञे यज्ञाधिष्ठातृर्भगवतोऽप्याविर्भावः । यथा विश्वसृजां सहस्रसमे हिरण्य-यशुकुनिरूपस्य ब्रह्मणस्तथैव पृथुनामिप्रभृतीनां यागेषु रूपान्तरेण । तदभावादेव नेतरेषां यागेषु तदाविर्भावः । तथा यागस्य विद्योपयोग आचार्यस्यापि संमत इति तु, सर्वपिज्ञा च यज्ञादिश्रुतेरित्यादिब्रह्मप्रणयनादेव गम्यते । न च मोक्षस्य जन्यत्वम् । ब्रह्मण आप्यत्वस्य बक्ष्यमाणत्वात् । अतो य्युष्णानां यज्ञस्यावश्यकत्वात् तत्रेत्यंभूतमधिकारं बोधयितुमयमाग्रह इति । तदेतदुक्तम् । ननु य्युष्णानां यज्ञा नावश्यकः । कर्मफलस्य लौकिकत्वात् । अधिका-रिभेदेऽपि मनुष्यादिब्रह्मन्तानां शरीरवतामेव तद्भोगकथनेन तथानिश्चयात् । न च किं तेनेति वाच्यम् । 'न ह वै शरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति' इति श्रुत्या दुःखसंभेदकथनेन तस्य संसाररूपत्वबोधनात् । अतो य्युष्णानां शरीरसंबन्धस्थानाकाङ्क्षितत्वाद् यज्ञानां कारणता श्रुतिसिद्धापि नाद्रियत इत्याशङ्क्यामाहुः किंच, कर्मत्यादि । ब्रह्मफलस्येति ब्रह्मज्ञानफ-लस्य । श्रुतिस्तु तैत्तिरीयाणां भृगूपनिषदि भार्गव्या विद्यायाः समासित्या । तत्र, 'सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतितिष्ठता य एवं वेद प्रतितिष्ठति' इति । अत्र परमे व्योमि रदिमः ।

मित्यादि । यज्ञाधिष्ठातुरिति 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' इत्यत्र द्वितीयान्त्यज्ञपदोक्ताया यज्ञाधि-दैविकयज्ञाद्व्यतिरिक्तातीन्द्रिययज्ञाधिष्ठातुः । आदिना आधिदैविकयज्ञेन समुच्चयः । विश्वसृजामिति 'विश्वसृजः प्रथमाः सत्रमासत' इति श्रुतेः । हिरण्यमेत्यादि 'ततो ह जज्ञे भुवनस्य गोपाः हिरण्यमयः शकुनिर्ब्रह्मनाम' इति श्रुतेराविर्भाव इत्यर्थः । पृथुनाभीत्यादि एतच्च श्रीभागवते स्फुटम् । आधुनिकानामधिष्ठात्राधिदैविकानाविर्भावे हेतुमाहुः तदभावादेवेति उपनिषच्छब्दरूपकारणा-भावादेव नाधिष्ठात्राधिदैविकाविर्भावः । आचार्यस्येति व्यासस्य । जन्यत्वमिति जन्यत्वा-त्साध्यत्वं षटादिवत् सिद्धत्वेन जन्याप्यविकारिसंस्कार्येषु कर्मसु मोक्षरूपब्रह्मणः आप्यकर्मत्वेन जन्यकर्मत्वाभावात् जन्यत्वमित्याहुः आप्यत्वस्येति 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्यादौ परमित्यादेः क्रियाजन्यफलशालित्वरूपाप्यकर्मत्वादित्यर्थः । बक्ष्यमाणत्वादिति अधिकरणसमासावित्यर्थः । इत्थंभूतत्वादिति भाष्यं विवृण्वन्तिस्म तत्रेत्यमिति । तदेतदुक्तमिति अयमाशय इत्यारभ्य व्याख्यातं न चैवं किमेनेतिवाच्यम् इत्थंभूतत्वाद्यज्ञस्येति भाष्येणोक्तमित्यर्थः । शरीर-घत्तामिति 'अशरीरं वा च सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' इति 'विदेहं सन्तमात्मानं सुखदुःखे न स्पृशतः' इति वदन्त्याः शरीरवतामेव कर्मफलयोः सुखदुःखयोर्भोगकथनेनेत्यर्थः । किं तेनेति शरीर-वतामेव तद्भोगकथनेन किं स्यादिति प्रश्नः । दुःखेत्यादि दुःखमित्रीभावकथनेनेत्यर्थः । ब्रह्मज्ञानेति ब्रह्म च तज्ज्ञानं चेति कर्मधारयः, ब्रह्मज्ञानं च तत्फलं च ब्रह्मज्ञानफलं, तस्येत्यर्थः । परमे व्यो-ममिति 'सुपां सुलुङ्' इति सप्तम्या लुङ् । परमव्योमितीति परो मीयते ज्ञायतेऽनेनेति परमं तस्मिन् । आकाशशरीरं ब्रह्मेति श्रुतेः । श्रुतौ एकतिङ्वाक्यमिति प्रतिवाक्यमाश्रयमेद इत्याशयेनाहुः

न च देहाध्यासस्य कारणत्वम् । ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविरिथाविस्मृतेः । तस्मादन्वोन्वो-पयोगित्वे न कोऽपि दोषः ।

भाष्यप्रकाशः ।

प्रतिष्ठाकथनेनास्या विद्याया अत्युत्कृष्टत्वं दुर्लभत्वं च बोध्यते । विद्यापदोक्त्या फलेऽप्यासना-फलत्वब्रह्मो निवार्यते । तत्फलकथनमुखेन गृहस्थाधिकारश्च बोध्यते । तेनायमर्थः । कर्मणो विद्यायाश्च फलस्येतरैरवलक्षण्यं प्रददर्थं कर्मफलस्य शरीरभोग्यतया संसारात्मकत्वात् तादृशफलजनकत्वेन तस्य विद्याजनकत्वमनादृत्य यदि कर्म त्यज्यते, तदा तस्य दोषस्य ब्रह्मविद्यायामपि तौर्यात् तस्या अपि त्याज्यत्वापत्तिः । अथ यद्यधिकारजाघन्यात् त्यज्यते, तदा तत्कथ्युत्या विद्यासाहित्यबोधनेन जाघन्यस्य निवारितत्वात् कर्मणस्त्याग उचितः । यद्यपि विद्यावषेऽपि देहाध्यासस्यानिवृत्तत्वात् तस्यैव कर्मकारणत्वमिति विभाष्यते, तदा तु ब्रह्मार्पण-मित्यादिस्मृत्या, 'य एवास्मि स सन् यजे' इत्यादिश्रुत्या चाध्यासस्य कारणतानिवारणात् तासामेवं विरोध इति वेदानभिन्नत्वमनिवार्यमेवेत्यर्थः । एवं विद्यासातत्र्यवादिशांकरमतमपास्यान्येषामे-कदेशिनां संग्रहायाहुः तस्मादित्यादि । वेदानभिन्नत्वस्य विद्यासातत्र्यवादिन्यैव पर्यवसानात् कर्मणां विद्याकारणत्वस्योपनिषदश्च कर्मसहकारित्वस्य श्रुत्यैव बोधनान्मूर्खोद्भाषित हतरेतराश्रयदोषोऽपि व्यक्तिभेदादेव निवृत्तः । न च छान्दोग्य औषस्य अविदुषामपि रदिमः ।

दुर्लभत्वमिति मत्तयेकलभ्यत्वात् शुद्धभावप्रसादाच्च । उपासनाफलत्वब्रह्म इति ।

'उपास्ति मन्यन्ते मधुमयनभक्तिं निजकृता-

र्थतां तत्रोपास्यं परमपुरुषं चापि सुविदः ।

द्वयोः सारूप्यात्तद्भूमहतिकृते मानसगतं

मुदा मत्तेहंसं प्रकटमकरोद्विहलकृती ॥' इति भक्तिहंसात् ।

गृहस्थादीत्यादि प्रतिपान्नवत्त्वान्नादत्वप्रजापशुवत्त्वानि गृहस्थाधिकारं बोधयन्ति ब्रह्मवर्षसं ब्रह्मचार्यधिकारं, कीर्तिस्तु 'मोक्षकाम उदारधीः' इतिवाक्यात् वानप्रस्थसंन्यासाधिकारमिति विभागः । प्रहृदयेति तयोश्चोदनालक्षणयोरर्थानर्थयोर्धर्माधर्मयोः फले प्रत्यक्षे सुखदुःखे शरीरवाङ्मनोभिरेवोप-शुज्यमाने विषयेन्द्रियसंयोगजन्ये ब्रह्मादिस्वावरान्तेषु प्रसिद्धे । अतएवानुष्ठेयफलविलक्षणं मोक्षाख्य-मशरीरत्वं नित्यमिति भाष्येण प्रदश्येत्यर्थः । तस्येति शरीरभोग्यस्य प्रतिष्ठादेः फलस्य संसारात्मकस्य यजनकत्वं तस्येत्यर्थः । अत्यन्तेत्यादिभाष्यं विवरीतुमाहुः अथ यदीत्यादि । विवृण्वन्ति तदा स्थि-स्यादि । तदा स्वत्यन्ताविद्यावतो यज्ञानधिकारमालोच्य ज्ञानरहितस्याधिकारनिषेधार्थं यज्ञे ज्ञानमुपयु-ज्यते इति वदन्त्या उक्तश्रुत्या तथेत्यर्थः । न च देहेत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति यदि चेत्यादि । य एषे-त्यादि यः प्रकटभिक्षोऽस्मि स एव सन् यजे यागं कुर्वे इत्यर्थः । व्यक्तिभेदादिति अयमर्थः । न वयं कर्मस्वरूपज्ञाने ब्रह्मज्ञानस्य कारणत्वं ब्रूमः । न वा ज्ञानस्वरूपज्ञाने कर्मस्वरूपज्ञानस्य येन हलन्त्यमिति न्यायेनान्वोन्व्याश्रयो दोषाय भवेत् किंतु ब्रह्मज्ञाने यज्ञानां कारणत्वं यज्ञे चाल्मिदाबाषाचकं ज्ञानं जीव-स्वरूपज्ञानं सहकारिकारणमिति विषयभेदभिन्नज्ञानव्यक्तिभेदादित्यर्थः । न च जिज्ञासाधिकरणसार्किकोप-निषदेत्यादिभाष्येणासार्थस्योक्तेः पुनरुक्तिः शङ्का तस्य ब्रह्मजिज्ञासायाः आवश्यकत्वसाधनपरत्वात् । अत्र तृतरवादिदूषणाय तदुपक्षेपसावश्यकत्वाच्च । औषस्येति तृतीयप्रपाठक इत्यर्थः । चक्रसापत्युप-

क्रियाज्ञानयोः स्वातन्त्र्येण पुरुषार्थसिद्धयर्थं भिन्नतया शास्त्रप्रवृत्तिः ।

किंच । वेदान्तवाक्यानामसिद्ध्यास्त्रे समन्वय एव प्रतिपाद्यते संदेहनिराकरणद्वारा । तत् कथं सिद्धवद्वेतुत्वेन निर्देशः । अग्रिमवैयर्थ्यं च स्यात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

यजमानादीनां श्रावणात् कर्मणामविद्वदधिकारकत्वमेवेति शङ्क्यम् । तत्राप्यविद्वत्तायां मूर्धविपातश्रावणेनात्यन्ताविद्वेषामनधिकारस्यैव बोधनात् । अतः पूर्वघ्नमप्य उक्ते ज्ञानकर्मसमुच्चये न कोऽपि दोषः । तेन मायावादिव्यतिरिक्ता असिद्धेश्च सर्वेऽप्येकदेशिने वेदाविरुद्धवादिन इत्यर्थः । नन्वेवं परस्परसाक्षात्त्वे एकेश्वरमेव स्यान्न तु शास्त्रभेदः । तत्र वेदमनूच्येत्यादिपृथक्समाप्तिश्रावणव्याकोप इति शङ्कायामाहुः क्रियेत्यादि । तथा च त्रिवर्गसाधन उभयोरपि स्वातन्त्र्यात् सिद्धे शास्त्रभेदे पूर्वोक्तदोषस्य न लेश इत्यर्थः ।

एवं वेदानभिज्ञत्वं शांकाराणां बोधयित्वा सूत्रार्थानभिज्ञत्वं सर्वेषामेव बोधयन्ति किंच वेदान्तेत्यादि । अयमर्थः । शंकराचार्यैर्हि, सर्वज्ञं सर्वशक्तिं जगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणं ब्रह्म वेदान्तशास्त्रादवगम्यत इति प्रतिज्ञाय, समन्वयादिति हेतुः सर्वेषु हि वेदान्तेषु वाक्यानि तात्पर्येणैतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वेन समनुगतानीत्येवं व्याख्यातः । तत्रोक्तधर्मवत्त्वसाध्यकं ब्रह्मपक्षकं वाक्यसमनुगतत्वहेतुकमनुमानमभिसंहितं प्रतीयते ।

भास्कराचार्यैस्तु ब्रह्मस्वरूपं शास्त्रमवबोधयति, न केवलं कार्यमेव । कुतः । समन्वयात् । समन्वितानि हि ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरत्वेन सृष्टिप्रकरणगतानि वाक्यानीत्येवं हेतुर्व्याख्यातः । तेन तन्मते शास्त्रपक्षकम् । तथैव शैबस्य च मते ।

रामानुजाचार्यास्तु समन्वयः सम्यगन्वयः पुरुषार्थतयाऽन्वय इति हेतोरर्थमुक्त्वा परम-

रश्मिः ।

स्तिर्नाम तत्संबन्धिनीत्यर्थात् । यजमानादीनामिति । आदिशब्देन प्रस्तोता । श्रावणादिति 'मा भवानवोचत् कतमा सा देवतेति प्राण इति होवाच' इत्यादिश्रुतिभिस्तथेत्यर्थः । कतमा सेतिसन्देन यजमानस्याविद्वस्त्वम् । मूर्धेत्यादि 'स ह प्रस्तोतारमुवाच प्रस्तोतयां देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान् प्रस्तोष्यति मूर्धं ते विपत्तिष्यति' इत्यादिना तथेत्यर्थः । इदानीं जिज्ञासाधिकरणे उक्तोप्ययमर्थो नोपपादितोत्रोपादित इति न पुनरुक्तिरिति वदन्ति अतः पूर्वेत्यादि । दोष इति अन्योन्याश्रयदोषः । अन्योन्याश्रये गते पूर्वोक्तमितरदोषनिवारणं सूत्रमिति । न कोपीति दोषविशेषणम् । एकदेशिन इति आचार्यमतस्य सर्वोत्तमस्य सर्वोत्तमत्वे ज्ञाते न्यूनाधिकभावेनैकदेशित्वं बोध्यम् । तेन भेदाभेदमते भेदोपेक्षः । भेदमतयोर्नित्यक्रीडास्य इवार्थे भेदे प्रापञ्चिकत्वमपीत्याधिक्यम् । विशिष्टाद्वैतयोर्वैशिष्ट्यस्य पदार्थान्तरत्वादाधिक्यम् । एवमविभागाद्वैतेऽपि वैपरीत्यम् । पूर्वं यदेकमन्यक्तमनन्तरूपं पश्चादेकमेवेति नानावृक्षरसानामेकमधुवत् । त्रिवर्गेति । फलयोस्त्वङ्गाङ्गिभाव इतिभावः । पूर्वोक्तदोषस्येति आमासोक्तैकशास्त्रारूपस्य । उक्तधर्मेत्यादि सर्वशक्तिमत्त्वसाध्यकमित्यर्थः । ब्रह्म सर्वशक्तिमत् वाक्यसमनुगतत्वात् कम्बुग्रीवादिमान् घट इतिवाक्यसमनुगतत्ववदित्यनुमानम् । कार्यमेवेति धर्ममात्रमित्यर्थः । शास्त्रेति शास्त्रं ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादकं सृष्टिप्रतिपादकवाक्यानां ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरत्वेन समन्वयात् । हेतुः शोभितोऽग्रे वाच्यः । एवं रामानुजाचार्यमतेऽपि ज्ञेयम् । शैबस्य चेति

नच प्रतिज्ञागर्भितहेतुत्वम् । अनुपयोगात् । गौणमुख्यभावे परं विवादः ।

भाष्यप्रकाशः ।

पुरुषार्थभूतस्यानवधिकातिशयानन्दस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽभिधेयतयान्वयाच्छास्त्रप्रमाणकत्वं सिद्धत्वेवेति व्याचक्षुः । तत्र शांकरे व्याख्याने यथावस्थिते हेतोः स्वरूपासिद्धत्वम् । अतस्तत्रापि शास्त्रपक्षकमेवानुमानं वक्तव्यम् । तत्र वेदान्तशास्त्रं ब्रह्मस्वरूपस्य प्रतिपादकं, तद्राक्षयानामेतदर्थप्रतिपादने समनुगतत्वात् यदीयं वाक्यं यदर्थप्रतिपादने तात्पर्येण समनुगतम्, तच्छास्त्रं तस्यार्थस्य प्रतिपादकम् । क्रियार्थप्रतिपादकपूर्वकाण्डवदित्यनुमानं मतत्रयेऽपि कर्मवादिवारणाय प्रयुक्तमिति फलति । तत्रेदं विवेचनीयम् । किमयं हेतुरविप्रतिपन्नः सिद्ध उत साध्यः । तत्राविप्रतिपन्न इति तु न वक्तुं शक्यम् । तथा सति पूर्वपक्षस्यैवानुत्थानप्रसङ्गात् । नापि सिद्धः । असिद्ध्यास्त्रे संदेहनिराकरणद्वारा तस्यैव प्रतिपाद्यत्वात् । सिद्धत्वेऽग्रिमस्य समन्वयसाध्यकग्रन्थस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च । अतस्तस्य सिद्धवभिर्देशो न युक्त इति । अथ बुद्धिस्तं यथा प्रतिज्ञायते, तथा बुद्धिस्यमत्र हेतुकियत इति समन्वयसाधनप्रतिज्ञागर्भितस्य हेतोः सिद्धवभिर्देशेऽपि न दोष इति विभाव्यते तदाप्ययुक्तमित्याहुः नचेत्यादि । भवन्निर्हि भाद्र-प्राभाकरयोस्तदनुसारिण एकदेशिनश्च निराकरणायायं हेतुरेवं व्याख्यायते । तत्र प्रतिज्ञाया बुद्धिस्तत्वेन वादिनिग्रहवेलायां साधनस्याभावेन हेतोः साध्यसमतया तदनिग्राहकत्वादनुपयोगः । किं च । तेषु वेदान्तानां ब्रह्मप्रतिपादकता न स्वीक्रियते इति तु न । किं तु गौणत्वेन । तथा सति गौणमुख्यभाव एव विवादो न तु प्रतिपादकत्व इति विवक्षितासाध्यकत्वादप्यनुपयोगः । अथ सम्यक्त्वकुक्षौ मुख्यतां निवेश्य ब्रह्मणो मुख्यतया प्रतिपादनेऽनुगतत्वादित्येवं विभाव्यते, तदापि शांकाराणां शैवानां च मतमयुक्तमित्याहुः रश्मिः ।

चकारेण माध्वस्य । स्वरूपासिद्धत्वमिति समनुगतत्वस्य शास्त्रनिष्ठतया पक्षधर्मत्वाभावात्तथेत्यर्थः । तत्रापितीति शांकरमतेपीत्यर्थः । मतत्रय इति । प्रसिद्धोपात्ताभिप्रायोऽयं ग्रन्थः, कर्मवादिवारणं त्रयाणामेव वा । अयमिति समन्वयादिति हेतुः । अविप्रतिपन्न इति निःसंदिग्ध इत्यर्थः । तथास्तीति ब्रह्मप्रतिपादने निःसंदिग्धत्वे सति साध्यार्थपर एव वेदो न सिद्धार्थपर इति पूर्वपक्षस्य ब्रह्मणि समन्वयनिःसंदिग्धत्वेनानुत्थानप्रसङ्गादित्यर्थः । वेदान्तवाक्यानामित्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति अस्मिन्नित्यादि । तस्यैवेत्यादि समन्वयस्यैव साध्यत्वादित्यर्थः । अग्रिमेत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति सिद्धत्व इत्यादि । तत्कथमित्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति अतस्तस्येति । साध्यत्वात्समन्वयरूपस्य हेतोरित्यर्थः । यथेति 'वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदीयं विरच्यते' इति यथा प्रतिज्ञायते इत्यर्थः । एकदेशिन इति ब्रह्मपरित्यागादेकदेशित्वम् । साध्यसमेति हेतोः साध्यत्वेन साध्येन समता । अनुपेति उपलक्षणमेतत् । 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यत्र सूत्र एव यच्छब्दार्थे कारणे प्रकृतिर्यच्छब्दार्थः कर्तुं कारणं प्रत्ययस्य सित्यर्थः समवायिकारणं प्रकृतिप्रत्ययौ सहायं त्रुत्सयोस्तु प्रत्ययः प्राधान्येनेति नियमादनुपयोगादित्यस्य । गौणमुख्येत्यादिभाष्यं व्याचक्षते किंच तैरित्यादि । गौणत्वेनेति नियोज्यप्रतिपादकत्वात् नास्मिन्ननिराकरणाच्च धर्माङ्गतयेत्यर्थः । अनुपयोगादिति भाष्यमात्रव्याया योजयन्ति विवक्षितेत्यादि । गौणत्वेन ब्रह्मप्रतिपादकत्वासाधकत्वेन भाद्रादिनिराकरणासाधकत्वाद्देतोरनुपयोग इत्यर्थः । नन्वस्त्युपयोगः समन्वयो हि मुख्यतयानुगतत्वं न च तैर्मुख्यतयानुगतत्वमुरीक्रियते इत्याहुः अथ सम्यगित्यादि । विभाव्यत इति । हेतुस्तथेत्यर्थः । अनुपेति अनन्दमयाधिकरणसङ्गना-

नच येन रूपेण समन्वयो मतान्तरस्यैर्विचारितस्तथाग्रे सूत्रेषु निर्णयोऽस्ति ।

भाष्यप्रकाशः ।

नच येनेत्यादि । शांकरैर्हि जगत्कारणरूपे वाक्यानां समनुगतत्वं व्याख्यायाग्रे उच्यते । नच तेषां कर्तृस्वरूपप्रतिपादनपरतावसीयते, तत् केन कं पश्येदिति क्रियाकारकफलनिराकरणश्रुतेरिति । ततश्च तन्मते यावद्धर्मशून्ये रूपे समन्वयो विचारितो भवति । तेन रूपेण समन्वयविचारस्त्वाध्यायसमाप्त्याशास्त्रसमाप्तिवाचकेष्वपि सूत्रेषु न दृश्यते । सर्वत्र तत्तद्धर्मपुरःसरं कर्त्रादिरूपेणैव तेषां तेषां वाक्यानां ब्रह्मप्रतिपादकताया निर्णीतत्वात् । अतोऽपि व्याख्याताकारस्य हेतोरनुपयोगः । एवं चानुपयोगादिति शुद्धीतो हेतुरस्तीत्यन्तेन विमक्तो बोध्यः । एवं शैबमतस्याप्यसंगतिर्बोध्यः । शिवरूपेणापि निर्णयस्य घ्राणाधरेष्वनुपलम्भात् । तन्मतसर्वाचीनमित्याचार्यैर्न तदर्थं किमप्युक्तम् । मया तु प्रहस्ताख्ये भिन्दिपालाख्ये च वादे शिवतत्त्वविवेकादिग्रन्थदूषणेन निपुणतरं दूषितमिति न तदर्थमिह संरम्भः क्रियते । तथापि तत्र तत्र प्रसङ्गेन दूषयिष्यामि । तत्र तावत्, सदेव सौम्येदमग्र आसीदित्युपक्रमस्तत्त्वमसीत्युपसंहारः शिवरूपगमक इति यत् तदसंगतम् । 'ॐ तत् सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः' इति गीतायां ब्रह्मवाचकत्वस्यैवोक्तत्वेन तयोः शिवाकारगमकत्वाभावात् । नापि, 'धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्' इति, 'यः परः स महेश्वरः' इत्यनयोरुपक्रमोपसंहारयोः । उपक्रमे 'अणोरणीयात् महतो महीयान् आत्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः । तमक्रतुं पश्यति वीतशोकः' इति प्रादत्रयोत्तरं, 'धातुः प्रसादात्' इति तुरीयपादः । तत्र तमित्यनेन पूर्वोक्तं महतो महीयांसमात्मानं दर्शनकर्मतया परामृश्य तद्विभूतिरूपमीशं पश्यतीत्याह । अन्यथा पौनरुक्त्यापत्तेः । महिमपदस्य विभूतिवाचकत्वं च, 'गो अश्वमिह महिमेत्याचक्षते इतिहिरण्यं दासरश्मिः ।

च्छिवरूपप्रतिपादनाभ्यामुक्तम् । भास्कररामानुजाचार्यौ तु नानन्दमयखण्डकौ नापि शिवरूपप्रतिपादकौ अतस्तन्मते नोक्ते । क्रियेति व्यापारः, कारके कर्मकरणे फलम् । तेनेति यावद्धर्मशून्यत्वेनेत्यर्थः । आध्यायेत्यादि आशास्त्रसमाप्तीतिच्छेदः । अत्राप्यनुपयोगादिति भाष्यमावर्तयन्ति अतोपीत्यादि । अव्यवहितहेतोरपि । संरम्भ इति उद्यम इत्यर्थः । मयापि ग्रन्थविस्तृतिमिया न वितन्यते तथापि संक्षिप्तवरयुक्तयस्तु वक्तव्या इत्याहुः तथापीत्यादि । एवं प्रासङ्गिके दूषयितव्ये प्रकृतेऽपि तत्त्वं शिववाचकमिति यत्तदपि दूषयमिति तत्पदार्थस्य शिवरूपत्वं यदभ्युपगतं तदनुवदन्ति तत्रेत्यादि । तयो-रिति सत्त्वदयोरित्यर्थः । तत्रेति मद्य इत्यर्थः । अत्र विशेषणविशेष्यभावप्रतीतिश्चकारानुक्तेश्च नायमर्थः साधीयानिति शङ्कामपनेतुं महिमपदस्य महत्वावच्छिन्नमर्थं परित्यज्य विभूतिपरत्वोपवर्णने च युक्तिमाहुः अन्यथेत्यादि । अन्यथेति तथा व्याख्यान इत्यर्थः । अत्रेदं बोध्यम् । मह्यत इति महान्, शत्रु, अतिशयेन महान्, महीयान्; ईयसुन् । एवं महतीति महत इति वा महिमेति वक्तव्यं, महिमशब्दस्य ब्रह्मपरत्वं वदतां । तत्रेतिमनिचो 'हृष्टुस्तुगृभ्य इमनिच्', 'जनिगृभ्यामिमनिच्', 'वेजः सर्वत्र' इति सूत्रैर्विशेषविहितत्वेन महोः 'उणादयो बहुलम्' इति सूत्रेणैमनिच् साधनीयः । एवमप्यतिशयमात्राधिक्ये पुनरुक्तिरिति । 'धृथादिभ्य इमनिच्वा' इति 'वर्णददादिभ्यः व्यञ्ज' इति भावे विहित इमनिच् तु ध्युलनुगृहीतोऽपीत्याहुः महिमेत्यादि । तथाच महतो भावो महिमेति विभूतिरेवार्थ इति भावः । ईयसुनोऽतिशयत्वमादाय

भाष्यप्रकाशः ।

मार्गम्' इति छान्दोग्यश्रुतौ सिद्धम् । किंचेशमहेश्वरशब्दो रुद्रो शिवे । वैयासे तु दर्शने लिङ्गादिभिर्निर्णयस्याभिप्रेतत्वं तच्छिञ्जाद्यधिकरणेषु दृश्यत इति रुद्रिप्रयोजिका । किंच,

'नारायणः शिवो विष्णुः शंकरः परमेश्वरः ।

एतेस्तु नामभिर्ब्रह्म परं श्रोक्तं सनातनम्' ॥

इति वाराहपुराणवाक्ये रुद्रादिशब्दानां परमज्ञानामत्वेनैव व्यवस्थापनात् त्रिलोचनादिविशिष्टरूपस्य ततोऽप्यसिद्धेः । नृसिंहतापनीये नृकेसरिशक्तिगणनायां 'श्रियं लक्ष्मीमौपलामम्बिकां गाम्' इति भावणात् । वाराहे, अम्बिलेकाक्षरीभूताया उमाया नारायणदारत्वेन कथनात् । नाम्बिकापत्युभापतिपदाभ्यामपि तत्सिद्धिः । नापि 'यो वै रुद्रः स भगवान्' इत्यथर्वशिरोवाक्येन । 'अथर्वशिः शिवाभ्यापियञ्जतमेकमेकेन मन्त्रराजजापकेन तत्समम्' इति पूर्वतापनीये नृसिंहमन्त्रराजजापकस्योत्कर्षभावणात् विद्यावदुत्कर्षस्य च विद्योत्कर्षाचीनत्वात् विद्योत्कर्षस्य च वेद्योत्कर्षाचीनत्वान्मन्त्रराजवेद्ये नृकेसरिण्येवोत्कर्षविश्रान्तेरथर्वशिरःशिखावेद्यस्य ब्रह्मरूपत्वेऽपि तत्र परत्वस्थापर्यवसानात् । एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । ब्रह्मरूपत्वं सर्वविद्येशानत्वं सर्वदेहीश्वरत्वं गुरुत्वोपाधिना मोक्षदात्वं तु तच्चञ्चुतिपुराणानुसारणानुमन्यामह इति दिक् ।

रश्मिः ।

न पुनरुक्तिरित्यत आहुः । किंचेशेत्यादि । अप्रयोजिकेति अत एव सायणीये रुद्रैदिकः शब्दस्तद्भवति प्राप्नोतीति रुद्रः इति योगेन ब्रह्मपरत्वमुक्तम् । योगस्तु ईष्ट इति ईशः महांश्चासावीश्वरश्चेति । तत्रेश्वरैश्वर्यं चेश्वरस्य भावः ईश्वरश्च व्यापकः, 'अशोतेराशुकर्मणि वरद च' इति सूत्रेण चकारेणोपधाया ईत्वं, विदधता निष्पन्नत्वात् । यदि चेष्ट इतीश्वरस्तदा 'स्वशभासपिसकसो वरच्' इति सूत्रेण वरच् । नन्वयं योगोऽपि शिवे वर्तते 'एको हि रुद्रो न द्वितीयोऽय तस्थुः य इमान् लोकानीशत ईशनीभिः' इतिश्रुतेरिति चेत्तत्राहुः किंचेत्यादि । ततोऽपीति श्रुतितोऽपीत्यर्थः । अपी रुद्रीं सञ्चिनोति तेन सर्वा श्रेताश्वतरोपनिषद् ब्रह्मपरत्वमुक्तम् । यः परः स महेश्वर इत्युपसंहारोऽपि ब्रह्मपर इति च 'सन्महत्परमोत्कृष्टाः पूज्यमानेः' इति समासशास्त्राल्प्यत्वस्येश्वरशब्देनेवोपस्थापनान्महच्छब्दो निरतिशयं पूज्यत्वमाचष्टे इति । इदानीं महानारायणोपनिषदि 'अम्बिकापतय उमापतये नमो नमः' इतिश्रुत्या प्रत्यवतिष्ठमानं प्रत्याहुः नृसिंहेत्यादि । तत्सिद्धिरिति त्रिलोचनादिविशिष्टरूपसिद्धिरित्यर्थः । तेन महानारायणीवोपनिषदपि निष्पन्नत्वं नारायणपरत्वे गर्जेति । अथर्वशिरसः शिवप्रतिपादकत्वमपि जलधिशापिनृकेसरितोपकृष्टत्वेनेत्याहुः नापीत्यादि । अतिदिशन्ति एवमित्यादि । अन्यत्रेति महोपनिषदि—

'ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं नृकेसरि-

विप्रहं कृष्णपिङ्गलमूर्ध्वरेतं विरूपाक्षं शंकरम् ।

नीललोहितसुभापतिं पशुपतिं पिनाकिं क्षमित्तुतिम्' ॥

इत्यादावित्यर्थः । ऋतमनारोपितं, पिङ्गं तद्भिर्ब्रह्मं ब्रजभक्त्युत्पत्तौ लीति शङ्कतीति पिङ्गलः, कृष्णश्चासौ पिङ्गलश्च कृष्णपिङ्गलत्वं निष्कामत्वाद्ध्वरेतसं विशिष्टं सुन्दरं रूपं निरुपमं ययोस्तादृशोऽक्षिणी यस्य तं, शं कल्याणं करोतीति शंकरत्वं, नीललोहितं मेघश्यामं पशुपतिं गोपतिं पिनाकिं पिनाकादयश्चेति 'पाते-राक इत्वं नुच्च' इति विषमपदव्याख्या । ननु तर्हि ब्रह्मरूपत्वादिबोधिना अप्यन्यथा नेया इति चेत्त्रेत्याहुः ब्रह्मेत्यादि । तत्तच्छ्रुतीत्यादि ताश्च 'यो वै रुद्रः स भगवान् अथ कस्मादुच्यते प्रणवो यस्मादुच्चार्य-

शास्त्रारम्भस्तु प्रथमसूत्र एव समर्थितः । तस्मात् समवायिकारणत्वमेवानेन

भाष्यप्रकाशः ।

प्रकृतमनुसरामः । ननु भवन्मते सर्वस्य वेदस्य सिद्धार्थपरत्वेन सिद्धस्वरूपमज्ञप्रति-
पादकत्वे संदेहाभावात् तदर्थं शास्त्रारम्भो वक्तुं शक्यः । ज्ञानकर्मसमुच्चयस्याप्यङ्गीकारेण
कर्मण्यपि गौणतात्पर्यस्य विद्यमानत्वात् तदर्थमपि । ब्रह्मणः कारणतायास्तेषु तेषु रूपेषु
प्रयत्नेणाङ्गीकरिष्यमाणत्वाच्च न विष्णुशिवैक्यतिरिक्तस्य ब्रह्मत्वनिरासार्थम् । अभिज्ञ-
निमित्तोपादानत्वादिनो यावन्तस्तेः सर्वैरपि जन्मादिष्वत्रविषयवाक्यविचारेणैव सर्वविधकारण-
तायाः समर्थनात् तद्विशेषनिर्धारार्थमपीति भवन्मते शास्त्रारम्भवैयर्थ्यम् । नैवमन्यमते ।
तत्तदन्यस्मिन् वेदान्ततात्पर्याभावसमर्थकतया सार्थक्यादिति शङ्कायामाहुः शास्त्रेत्यादि ।
प्रथमसूत्र इति । तत्र शेषषष्ठीसमर्थनस्थले, नच गौणतापत्तिरजिज्ञास्यत्वं चेत्यादिना ।
तन्मया विवृतं, केन प्रकारेणेत्यारभ्य दर्शनादितीत्यन्तेनेति तत्रो बोध्यम् । सिद्धमाहुः
तस्मादित्यादि । शास्त्रारम्भस्य प्रथमसूत्र एव समर्थितत्वाद् द्वितीयसूत्रविषयवाक्ये, यतो

रश्मिः ।

माण एव ऋग्यजुःसामार्थवाङ्मिरसो ब्रह्मब्राह्मणेभ्यः प्रणामयति नामयति च तस्मादुच्यते प्रणव' इति ।
'अथ कस्मादुच्यते सूक्ष्मं यस्मादुच्चार्यमाण एव स सूक्ष्मो भूत्वा शरीराण्यधितिष्ठति सर्वाणि चाङ्गान्य-
भिमृशति तस्मादुच्यते सूक्ष्मम् । अथ कस्मादुच्यते तारं यस्मादुच्चार्यमाण एव गर्भजन्मव्याधिजरा मरण-
संसारमहाभयात्तारयति त्रायते तस्मादुच्यते तारमिति' । तथा महानारायणोपनिषदि 'तन्नो रुद्रः प्रचोद-
यात्' इत्युक्त्वा 'ईशानः सर्वविद्यानाम्' इति श्रूयते, जाबालेच 'रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे' येनासावमृती-
भूत्वा मोक्षीभवतीति गुरुत्वोपाधिना मोक्षदातृत्वं विस्पष्टं श्रूयते । पुराणे श्रीभागवते चतुर्थस्कन्धे
ब्रह्मकृतशिवस्तुती 'यत्तद्ब्रह्म निरन्तरम्' इति अष्टमे मोहिनीस्वरूपदर्शनानन्तरं भवानीं प्रति भववाक्यं
'अहं कलानामृषभो विमुञ्चे' इति पुनश्चतुर्थस्कन्धे रुद्रगीते 'शक्तित्रयसमेताय मीढुषेऽहंकृतात्मने' इति
कर्तृकरणकर्मशक्तित्रयसमेताहंकाररूपेण सर्वदेहीश्वरत्वं अन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । तत्रैव प्रचेतसां मोक्षदातृत्वं
'इदं विविक्तं जसव्यं पवित्रं मङ्गलं परम् ।

निःश्रेयसकरं चापि श्रूयतां तद्वदामि वः' ॥

इति शिववाक्यमिति । तदर्थमिति गौणत्वेन सिद्धधर्मज्ञानार्थमित्यर्थः । ब्रह्मण इत्यादि
अस्य तत्पदेनाप्यन्वयाद्रूपेभ्यो भेदः । तेऽपि सच्चिदानन्देष्वित्यर्थः । तनु जन्माद्यधिकरणसमन्वया-
धिकरणाभ्यां सद्रूपे लक्षणं योजितम् । ईक्षत्यधिकरणे च चिद्रूपे लक्षणं योजयिष्यन्ति । आनन्दमया-
धिकरणे चानन्द इति कथं तेषु तेषु कारणतेति चेन्न 'सत्त्वं रजस्तम' इत्यस्य सुबोधिन्यां 'सद्रूपेण रजः
आनन्देन तमः' इति निरुक्तेः । ननु किमतो यथेवं मेवं

'सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेरुणास्तैर्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते ।

स्थित्यादये हरिक्विचिद्वेति संज्ञां श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः' इति तत्तद्गुण-
संबन्धे तत्तद्गुणोपपत्तेः सामञ्जसात् । तथा च सद्रूपनिर्गतसत्त्वतनुर्विष्णुरिति सद्रूपे कारणतायो-
जनं विष्णावेव योजनमेवमन्यप्रापीति न दोषः । तद्विशेषेति कारणताविशेषसमवायित्व इत्यर्थः ।
शास्त्रारम्भ इति शास्त्रं सूत्रं तदारम्भवैयर्थ्यम् । तत्तदित्यादि तेभ्यस्तेभ्यो निर्गुणगुणप्रय-
विशिष्टविष्णुशिवपुरुषोत्तमेभ्योऽन्यस्त्रित्यर्थः । संज्ञोपसर्जनीभूतत्वाभावात्तस्माद्यदि । ननु मृदो षट्
इतिवत् यत् इति पञ्चम्या समवायित्वनिर्णयो भविष्यतीति चेत्तत्राहुः द्वितीयेत्यादि । ननु स्यस्य

सूत्रेण सिद्धम् । ननु कारणत्वमेवास्तु ब्रह्मणः । किं समवायिकारणत्वेन । विकृतत्वं च
त्यात् । अनर्थरूपत्वेन कार्यस्यायुक्तता च । तस्मादनारम्भणीयमेवैतत् सूत्रमिति

भाष्यप्रकाशः ।

वेत्यादेः कारणतामात्रबोधनेऽपि चारिताध्यै, 'यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' इत्यस्याधारतामात्र-
बोधनेऽपि चारिताध्यै, 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' इत्यत्रापि, तत्रेजोऽसृजतेत्यादिना कर्तृ-
त्वस्यैवासंदिग्धतया उपादानत्वं केवलस्य वा शरीरद्वारा वेति संदेहानपायात् । सौत्रस्य
योनिशब्दस्यापि कारणमात्रवाचकत्वेन प्रमाणाबोधकत्वादुपादानत्वनिर्द्धारणासमर्थत्वाच्चेत् पूर्व-
सूत्रयोरोपादानत्वस्यासिद्धत्वादनेनैव सूत्रेण युक्तिनिर्द्देशात् तत्सिद्धमित्यर्थः । नन्वत्रोपादान-
पदं परित्यज्य समवायिपदेन कुतो व्यवहार इति चेदुच्यते । लोके उपादानपदेन कर्तृक्रि-
यया व्याप्तस्य परिच्छिन्नस्यैवाभिधानदर्शनात् । 'प्रकृतिर्ष्योपादानम्' इति, 'पुलस्तदुपादान-
मात्मानं लीलयाऽसृजत्' इति श्रीभागवतेऽपि भगवता मैत्रेयेण च तादृश एवोपादानपदस्य
प्रयुक्तत्वाच्चेति जानीहि ।

अत्र ब्रह्मस्वरूपस्य समवायित्वमन्वानाः प्रत्यवतिष्ठन्ते नन्वित्यादि । अयमर्थः ।
समन्वयपक्षे ब्रह्मस्वरूपस्य समवायित्वायाग्रहो यः क्रियते, स न पूर्वसूत्रोक्तकारणतासमर्थ-
नार्थः । शास्त्रयोनिवत्त्वेनैव समर्थितत्वात् । नापि शास्त्रयोनिवत्त्वसमर्थनार्थः । त्वया तथाऽ-
नङ्गीकारात् । किं तु कारणत्वे विशेषान्तरस्यापि बोधनार्थः । स न युक्तो विकृतत्वादि-
रश्मिः ।

ध्वंसरूपत्वेन कपाले घटो ध्वस्त इतिवत् ब्रह्मणि जगद्दीनमिति प्रतीत्या ब्रह्मणः समवायित्व-
मस्त्विति चेत्तत्राहुः यत्प्रयन्तीत्यादि । पूर्वं मृदेव घट इति प्रतीतिवत् सदेवेदमिति श्रुत्या तद्ग-
विष्यतीति किमनेनेति चेन्नेत्याहुः सदेवेत्यादि । योनिशब्दादपि न निर्णय इत्याहुः सौत्रस्ये-
त्यादि । प्रमाणेत्यादि । समवायित्व इत्यादि । समवायस्य द्वितीये दूषणात्तदस्त्वित्प्रयुक्तं सम-
वायित्वमपि न वक्तुं शक्यमित्युपादानपदमत्र भाष्ये वक्तव्यमिति गृच्छति नन्वत्रेत्यादि । कुतो
व्यवहार इति अस्य भीमांसाशास्त्रस्य पृथक्त्वान्मिषवत् कुतो व्यवहार इति । ननु प्रश्नश्चेत्
यदीत्यर्थः । उच्यते इति न घटत इत्युच्यते इत्यर्थः । लोक इति स्मृतौ । परिच्छिन्नस्यै-
वेति सूत्रमृत्पिण्डादिरूपतुलांशमृदंशादेरेवेत्यर्थः । अन्यथा सूत्रमृत्पिण्डादिभावमनापन्नैरपि तुला-
दिभिः पटघटाद्युत्पद्येत इति भावः । ननु नैयायिकैः परिच्छिन्नेऽपि समवायित्वव्यवहारः क्रियते
व्यासचरणैरपि समन्वयादित्युक्तत्वाच्च कैतादृशाक्रोशः प्रसिद्ध इत्यत आहुः प्रकृतिरित्यादि ।
स्वयतिरेकेणासृज्यत्वादात्मानमिति । तादृश इति परिच्छिन्नप्रधाने परिच्छिन्नपुरुषावतारे चेत्यर्थः ।
जानीहीति तथा च ब्रह्मणोपरिच्छिन्नत्वमपीति नोपादानपदप्रयोग इति भावः । यः परिच्छि-
न्नोऽशः स उक्तः । समवायश्च तादात्म्यमित्युक्तम् । उपलक्षणमेतत् दूषितेपि प्रसिद्धिप्राव-
ल्यात्पर्याये प्रयोगानर्हत्वं नेति भाष्येण ज्ञाप्यते इत्यस्य । अमन्वाना इति नैयायिकाः । यथाहुः
'संसारमहीरुहस्य धीजाय' निमित्तकारणाय इत्यर्थ इति मुक्तावल्यां विश्वनायाः । शास्त्रेत्यादि ।
सूत्रांशनेत्यर्थः । त्वयेति सिद्धान्तिनेत्यर्थः । विकृतत्वमित्यादि अयुक्तता चेत्यन्तं भाष्यं
विशुष्वन्ति स नेत्यादि । अत इति कार्यस्यानर्थरूपत्वेन तत्समवायित्वस्य ब्रह्मण्युपयुक्तताया

वेन्मैवम् । सर्वोपनिषत्समाधानार्थं प्रवृत्तः सूत्रकारः । तथापि ब्रह्मणः समवायित्वं न ब्रूयाद् भूयानुपनिषद्भागो व्यर्थः स्यात् । 'इदं सर्वं यदयमात्मा,' 'आत्मैवेदं सर्वम्' । 'स सर्वं भवति,' 'ब्रह्म तं परादात्' इत्यादि, 'स आत्मानं स्वयमकुरुत,' 'एकमेवाद्वितीयम्,' 'वाचारम्भणं विकारः' इत्यादि । एवमादीनि वाक्यानि स्वार्थं बाधितानि भवेयुः ।

भाष्यप्रकाशः ।

दोषापादकत्वात् । अतः शरीरस्य चोपाधेर्वा भिन्नाया एव प्रकृतेर्वा तथात्वं वक्तव्यम् । तथा सति स्वरूपसमन्वयस्याभावादनारम्भणीयमेवैतत् सूत्रं तव मते स्यादिति । अत्र समादधते मैवमित्यादि । व्यर्थः स्यादित्यत्र हेतुः बाधितानि भवेयुरिति । अयमर्थः । समवायित्वं यन्निषेधेन, तत् किं पूर्वसूत्रस्य निराकाङ्क्षत्वादुत दोषोत्पादकत्वात् । नाद्यः । व्यासस्य सर्वोपनिषदां यथावाश्रितार्थबोधनार्थं प्रवृत्तत्वेन भूयस उपनिषद्भागस्य वैयर्थ्ये जन्मादिसूत्रस्य विशेषाकाङ्क्षाया अनिवृत्तेः । नेतरः । तदभावस्याप्यनुपदं व्युत्पाद्यत्वात् । स मागस्त्विदं सर्वमित्यादिरूपः । अत्रार्थं वाक्यं मैत्रेयीब्राह्मणस्यम् । तत्र हि 'आत्मनि वा अरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते सर्वमिदं विदितम्' इत्यनेनात्मज्ञानादिभिः सर्वज्ञानरूपं फलं दर्शयित्वा, तज्ज्ञानं किं प्रकारकमित्याकाङ्क्षायां, 'ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद' इत्यादिना 'योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद' इत्यन्तेन ब्रह्मादिसर्वान्तेष्व्वात्मभिन्नत्ववेषुः कैवल्यभावरूपममृतत्वाभावरूपं वा पराभवं प्रदर्श्य 'इदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमे यज्ञा इमानि भूतानीदं सर्वं यदयमात्मा' इत्युपसंहारे ज्ञानप्रकारदर्शनेन सर्वस्यात्माभेदं दर्शयति । तस्मिन्नाभेदे सर्वस्यात्मोपादेयत्वमन्तरेणाघटमाने वाक्यमेव बाधितार्थं भवेत् । एवं द्वितीयवाक्यमपि, छान्दोग्ये सनत्कुमारसंवादे । तत्राप्यग्रे, 'आत्मनः प्राण आत्मन आशा' इत्यादि श्राव्यते । तदप्यात्मनः समवायित्वं विना नोपपद्यते । तदतिरिक्तस्योपादानस्याश्रावणात् । तृतीयं तु पुरुषविधब्राह्मणस्यम् । तत्रापि 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' इति सृष्टिपूर्वकाले केवलात्मसत्तामुक्त्वा, ततः 'सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत्' इत्यनेन सृष्ट्यनन्तरमन्यदर्शनमुपक्रम एव निषेधति । मध्ये च, किमुत ब्रह्मावेद् यस्मात् तत्सर्वमभवदिति श्रुते, 'तदात्मानमेवावेदं ब्रह्मासीति तस्मात् तत्सर्वमभवत्' इत्युत्तरमुक्त्वा तदिदमप्येतर्हि 'य एवं वेदाहं ब्रह्मासीति स इदं सर्वं भवति' इति सर्वा-
रक्षिः ।

इत्यर्थः । शरीरस्येत्यादि । नैयायिकशंकराचार्यसांख्यानां मते यथाक्रमम् । तथात्वमित्यादि । समवायित्वं तत्तन्मतीयमङ्गीकार्यमित्यर्थः । तस्मादित्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति तथा सतीत्यादि । तथा चास्थूलेत्यादिभाष्यसंग्रहाय कोट्यन्तरं निवेशमाना विकल्पमाहुः अयमर्थ इति । भाष्ये यत्फलितं तदाहुः जन्मादीत्यादि । शास्त्रयोर्निर्वाणे जन्मादिसूत्रस्य समवायित्वप्रतिपादकशास्त्रप्रतिपाद्यसमवायित्वरूपविशेषाकाङ्क्षाया अनिवृत्तेरित्यर्थः । अनुपपन्नमिति तथात्रास्थूलेत्यादि भाष्येणेत्यर्थः । इदमित्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति स भाग इत्यादि । तज्ज्ञानमिति सर्वज्ञानमित्यर्थः । ज्ञानप्रकारेति सर्वविशेष्यके ज्ञान आत्माभिन्नस्वरूपप्रकारेत्यर्थः । द्रव्यादीनां विद्यमानसमवायिकत्वनिर्णयमादाहुः तदानीत्यादि । सृष्ट्येदमा निदर्शनादग्र इतिपदेन सृष्टिपूर्वकालस्य बोधनाच्च बीक्षणं नात्मविषयकमनोश्च न प्रलयानन्तरमर्थस्तदाहुः सृष्ट्यनन्तरमन्येत्यादि । अवेदिति ।

भाष्यप्रकाशः ।

त्मभावरूपं फलमाह । समवायित्वानङ्गीकारे तदपि सर्वं बाधितं भवेत् । तृतीयं तु तद्विषयत्वेषु उक्तरूपं पराभवं वक्तव्यम् । मध्ये वाक्यद्वयं तु सर्वत्रैकवाक्यतार्थम् । एवमं तु तैषिरीये ब्रह्मवित्पाठके । तत्रापि करोतिकर्मत्वेनात्मनः श्रावणात् तस्यैवोपादानोपादेयभावः स्फुटति । सोऽपि तथा भवेत् । एकमेवेत्यादिकं तु छान्दोग्यस्यम् । तत्राप्येकमेवेति विशेष्यान्वितेनैवकारेणान्यसत्त्वे व्यवच्छिन्नेऽपि 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इति कोशादेकशब्दस्य नानार्थत्वेनात्र मुख्येतरव्यवच्छेद एवाभिसंहित इति । श्रुत्यन्तरे, 'नान्यत् किञ्चन मिषत्' इति कथनाद् व्यापारं कुर्वतो बान्यस्य निषेधोऽभिसंहित इति वा शङ्का स्यादिति तन्निवारणायाद्वितीयपदेन द्वित्वसंख्यापूरकस्य निषेधः सृष्ट्यादौ क्रियते । सोऽपि सदितरस्य समवायिनः सत्त्वं बाधेत । वाचारम्भणवाक्ये तु मृण्मयादिभिर्दृष्टान्तैः स्फुटमेव समवायित्वप्रवगम्यते । तथा द्वितीये गार्गीब्राह्मणे कस्मिन् वा आकाश ओतश्च प्रोतश्चेति श्रुते, एतद्वै तदक्षरं गार्गीत्यादिना अक्षरे ओतप्रोततामाकाशस्य वदति । सा च समवायित्वस्यैव लिङ्गम् ।

'नैतच्छिन्नं भगवति ह्यनन्ते जगदीश्वरे ।

ओतप्रोतमिदं यस्मिन्तनुष्वङ्ग ! यथा पटः' ॥

इत्यादिपुराणवाक्यैस्तन्निश्चयात् । नच, 'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव' इति गीतावाक्यान्नेवमिति शङ्क्यम् । तत्र केवलप्रोतत्वस्यैवोक्तत्वेऽप्यग्रे, 'रसोऽहमप्यु कौन्तेय प्रभाऽसि शशिसूर्ययोः' इत्यादिभिः स्वस्य भूतसकृत्त्वादिबोधनेनौतत्वस्यापि सूचिततया तत्राप्यैवमर्थेनोक्ततौल्यात् । तथा

'त्वय्यग्र आसीत् त्वयि मध्य आसीत् त्वय्यन्त आसीदिदमात्मतत्त्वे ।

त्वमादिरन्तो जगतोऽस्य मध्यं घटस्य मृत्स्वेव परः परस्मात्' ॥

इत्यष्टमस्कन्धीयब्रह्मवाक्येऽपि समवायित्वस्योपबृंहणात् । आधर्वणानां गोपथब्राह्मणारम्भे च, 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् स्वयंभवेकमेव तदैक्षत महर्षे यक्षं तदेकमेवाऽसि हन्ताहं मन्मात्रं द्वितीयम्' इत्यादि श्राव्यते । तृतीयस्कन्धे च 'विश्वं वै ब्रह्म तन्मात्रम्' इति । एवंजातीयकानि
रक्षिः ।

लङ् । तदपीति सृष्ट्यनन्तरमात्मान्यादर्शनाद्यपीत्यर्थः । वेत्तु उक्तेति वेत्तुक्तेति पाठः प्रतिभाति । तादृशस्य कैवल्यभावरूपममृतत्वाभावरूपं वा पराभवमित्यर्थः । ननु प्रथमतुरीयान्यामेव समवायित्वसिद्धेः किं मध्यस्थेन वाक्यद्वयेनेत्यत आहुः मध्य इत्यादि । मैत्रेयीब्राह्मणेन साकं छान्दोग्यपुरुषविधब्राह्मणयोरेकवाक्यताप्रतिपत्तिः प्रयोजनम् । एवमन्यत्रापि सर्वत्रैत्युक्तम् । तत्रापि तदात्मानमिति श्रुतौ स आत्मानमित्यपि कश्चित्पाठः । उपादानेत्यादि यथा कुलाले मृदं घटमकुर्वतेति प्रयोगो न तु दण्डं घटमकुर्वतेति । मृदो दण्डस्येति वा मृदं घटात्मना करोति न तु दण्डं घटात्मना करोतीति वा, एवं प्रकृतेऽपि प्रयोगादुपादानोपादेयभाव इत्यर्थः । व्यवच्छिन्न इति यथा पार्थ एव धनुर्धर इत्यत्र । निषेध इति श्रुत्यन्तरैकवाक्यतयात्र निषेध इत्यर्थः । सत्त्व इति दोषापादकत्वेन ब्रह्मणोसमवायित्वे जगतः पूर्वं समवाय्यपक्षेया सत्त्व इत्यर्थः । अन्यान्यपि श्रुतिपुराणवाक्यानादिपदार्थत्वेनाहुः तथेत्यादि । नैवमिति सूत्रमणिगणयोर्वादानोपादेयभावाभावात्त्वमित्यर्थः । ऐवमर्थेनेति 'सह गुणा' इति समासः । ब्राह्मणादित्वात् व्यञ्ज ।

नन्वेवं निःसंदिग्धत्वात् कथं सूत्रप्रवृत्तिः । उच्यते । अस्थूलादि-
वाक्यान्वयपि सन्ति सर्वत्र प्रपञ्चतद्धर्मवैलक्षण्यप्रतिपादकानि । ततोऽन्योऽन्य-
विरोधेनैकस्य मुख्यार्थबाधो वक्तव्यः । तत्र स्वरूपपेक्षया कार्यस्य गौणत्वात्
प्रपञ्चरूपप्रतिपादकानामेव कश्चित् कल्पयेत् । तन्माभूदिति जन्मादिसूत्रवत्
समन्वयसूत्रमपि सूत्रितवान् । तथाचाऽस्थूलादिगुणयुक्त एवाविक्रियमाण
एवात्मानं करोतीति वेदान्तार्थः संगतो भवति । विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वं तु
ब्रह्मणो भूषणाय ।

भाष्यप्रकाशः ।

वाक्यान्वादिपदेन संगृह्यन्ते । अतः पूर्वत्राकाङ्क्षापूर्णायेदं सूत्रमावश्यकमित्यर्थः ।

पुनश्चोदयति नन्वेवमित्यादि । एवमिति पुरःस्फूर्तिकयथाश्रुतार्थग्रहणे । तथाच
सूत्रकारो हि वेदान्तार्थं दुर्बोधमाकलयंस्तत्रान्येषामृषीणामपि शुक्रादिकृतं बुद्धिमोहमवधार्य
लोकाननुजिघृक्षंस्तदर्थं व्यक्तीकर्तुं प्रवृत्तो यद्येवं समवायित्वमसंदिग्धमेव जानीयात् सम-
न्वयसूत्रं न प्रणयेत् । अतः सूत्रप्रवृत्तिरेव समवायित्वाभावं बोधयतीत्यर्थः । अत्रप्रवृत्तिमुप-
पादयन्तः समादधते उच्यत इत्यादि । अर्थस्तु निगदेनैव व्याख्यातः । जन्मादिसूत्रवदिति
यथा जन्मादिसूत्रं कर्तृत्वादिधर्मनिर्धारणेन निर्विशेषमात्रतानिराकरणार्थं तथेदमपि समवायि-
त्वनिर्धारणेन तदर्थं, न तु सांख्यं निराचष्टुम् । तस्याग्रे वक्ष्यमाणत्वादिति भावः । एतेन
पूर्वचोदितस्य द्वितीयदूषणस्यापि निवृत्तिं बोधयन्ति तथाचेत्यादि । संगतो भवतीति ।
उक्तदूषणस्योद्धृतत्वादसंदिग्धो भवति । तथा चैतत्सूत्राभावे उक्तसंदेहानपायात् तदर्थं सूत्र-
प्रवृत्त्या समवायित्वमावश्यकमित्यर्थः । नन्वविक्रियमाणस्य समवायित्वं कल्पनिकम् ।
कल्पना तु लोकाविरुद्धैव प्रामाणिकसमाजे शोभते । तत इदमसंगतमित्याशङ्कयामाहुः
विरुद्धेत्यादि । भूषणायैति 'तदेजति तन्नैजति' । 'आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति
सर्वतः' । 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता' इत्याद्यनेकश्रुतिसिद्धत्वाद् भूषणाय । ब्रह्मणः श्रुत्येकस-
मधिगम्यत्वस्य सर्वेषामेव संमतत्वादित्यर्थः ।

ननु फलार्थं सर्वः प्रवर्तते । तस्यैव पुरुषशेषत्वात् । तदैहिकं मोक्षरूपं वा यद् यस्या-
रश्मिः ।

अन्तर्यामिपरत्वे पूर्वतोल्यात् । निगदेनेति अमिधानेनैवेत्यर्थः । तदर्थमिति निर्विशेषमात्रता-
निराकरणार्थमित्यर्थः । किञ्चिन्निराचक्षते न त्वित्यादि । प्रकृतिः समवायिनीति सांख्यमित्यर्थः ।
तस्याग्र इति सांख्यनिराकरणस्य चतुर्थपाद इत्यर्थः । पूर्वचोदितस्येति समवायित्वं यन्निवि-
द्भवे इत्यादिनोक्तविकल्पोक्तस्येत्यर्थः । धातूनामनेकार्थत्वात् । तज्ज्ञापयत्याचार्य इत्यत्र ज्ञा नियोग
इत्यस्य ज्ञानार्थत्वं यथा, न तु ज्ञा अवबोधने इत्यस्य, नापि ज्ञाने ज्ञापने च वर्तमानस्य ज्ञेयः
प्रयोगः । पूर्वस्य मारणतोषणनिशामनेषु ज्ञा इत्यनेन मित्वाद् ह्रस्वे ज्ञेयस्तु 'ज्ञपमिच' इत्यनेन मित्वात्
'मितां ह्रस्वः' इत्यनेन ह्रस्वे ज्ञपयतीति प्रयोगात् । निशामनं ज्ञानम् । उद्धृतत्वादिति सैवं
सर्वेत्यादिमाव्यणोद्धृतत्वादित्यर्थः । उक्तेत्यादि उपादानत्वे कर्तृत्वे च संदेह इत्यादिमाव्योक्त-
संदेहानपायादित्यर्थः । नैयायिकः शङ्कते नन्वित्यादि । तस्यैवेत्यादि 'फलं च पुरुषार्थत्वात्' इति
सूत्रादित्यर्थः । इदं तृतीयस्य तृतीयाधिकरणे चिन्तितम् 'द्रव्यगुणसंस्कारेषु चादरिः' इत्यत्र । तत्र

किञ्च । अन्यपदार्थसूत्रौ वैषम्यनैर्घुण्ये स्याताम् । कर्माधीनत्वे त्वनी-
शता । ततः कर्तृत्वमपि भज्येत । ततः सर्वमाहात्म्यनाश एव स्यात् ।

नन्वेवमेवास्तु, अपवादार्थत्वात् । रज्जुसर्पवदयुक्तार्थकथनेऽपि न दोषः ।

भाष्यप्रकाशः ।

मीष्टं तत् सर्वं, ब्रह्मोपासनया वा तज्ज्ञानेन वा सर्वस्य यथाधिकारं ब्रह्मणि सर्वकर्तृत्वं
सर्वेश्वरत्वादिकं तानुसंधानस्य सेत्स्यत्येव । नच समवायित्वानुसंधानस्यावश्यकत्वम् । शरी-
रद्वारापि तदङ्गीकारे पूर्वोक्तमाहात्म्यानपायेन तथानुसंधानस्यानावश्यकत्वात् । अतोऽपार्थ-
प्रयासात् तव मते एतत्सूत्रवैयर्थ्यमेवापद्येतेत्यत आहुः किञ्चेत्यादि । तत इति अनीशत्वे ।
तत इति कर्तृत्वमङ्गे । तथाच वैषम्यादिवारणेन कर्तृत्वादिसमर्थनार्थमप्यावश्यकत्वात्
वैयर्थ्यमत्तत्वापि निर्दोषनिश्चिलगुणगणालंकृतब्रह्माङ्गीकर्तृत्वावश्यकमित्यर्थः ।

अत्र विरुद्धधर्माश्रयत्वमसहमानो निर्विशेषमात्रवादी पुनः शङ्कते नन्वित्यादि ।
अपमर्थः । अस्तु कर्तृत्वादिमङ्गः । अस्थूलादिवाक्यैः स्वरूपस्य निर्विशेषत्वे निश्चिते तेषां
कर्तृत्वादीनामविधाकल्पितत्वेनापवादार्थत्वात् । न चैवं मिथ्यार्थकथने वाक्यप्रामाण्यमङ्गः ।
यथा ह्यतिचपले बाले तस्य मीत्युत्पादनाय रज्जुः सर्प इति प्रदर्शयते, ततो विनीते तस्मिन्
रज्जुरियमिति स्वरूपं कथ्यते । तथा संसारासक्तेषु मीत्यर्थं माहात्म्यं कर्तृत्वफलदातृत्वनियाम-
कत्वादिरूपमुच्यते । ततो वैराग्याद्युत्पत्तौ स्वरूपं बोध्यत इति रज्जुसर्पवदयुक्तार्थकथनेऽपि
न दोषः । तत्र तात्पर्याभावात् । अथेदं सर्वं यदयमात्मेत्यादीनां स्वार्थत्यागादस्वासंगतत्वं
विभाव्यते । तदबोधात् । गीतायां विश्वरूपं पश्यता पार्थेनैव सर्वव्याप्त्या सर्वत्वकथनेन
तदर्थनिश्चयादसंगत्यभावादिति ।

रश्मिः ।

स्वयंकपालादिद्रव्यं, अरुणिमादिर्गुणः, अवघातप्रोक्षणादिः संस्कारः । एतेषु त्रिष्वेवोपकारित्व-
रूपं शेषत्वम् । फलपुरुषकर्मसु न शेषत्वमुपकारित्वाभावात्, इति चादरिर्मन्यते, जैमिनिस्तु पारार्थ्यं
शेषलक्षणपुरीचकार उपकारित्वस्य प्रधाने स्वाभिन्यपि दर्शनेनातिव्याप्तत्वादिति । तथा
च 'कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात्', 'फलं च पुरुषार्थत्वात्', 'पुरुषश्च कर्माधिक्यत्वात्', इति सूत्र-
यादेतेष्वपि पारार्थ्याच्छेत्वं ज्ञेयम् । एवकारेण प्रमाणप्रमेयसाधनव्यवच्छेदः । शरीरद्वारापीति
नव्यमते विश्वमेवेश्वरशरीरमित्यनादरेऽपिशब्दः । एवं द्वितीयोऽपिशब्दः । अनावश्यकत्वादिति
प्राचां नैयायिकानामिव प्राचस्तवाप्यनावश्यकत्वादित्यर्थः । नैयायिकमुक्तिपराहृतत्वादानावश्यकत्वा-
दिति वा । अनीशान्ध इति सार्वविभक्तिकस्तसिरिति भावः । कर्तृत्वं 'स्वतन्त्रः कर्ता'
इत्यनुशासनात्तदपि तदभावे भज्येत । तवापीति । नैयायिकस्यापीत्यर्थः । तेन रामाज्ज्वा अप्याक्षिप्त
ज्ञेयाः । अत्रेत्यादि मध्ये नैयायिकाशङ्काया उक्तत्वात् पुनरिति । रज्जुः सर्पवदिति
माव्यं विवृण्वन्ति स न चैवमिति । तत्रेति कर्तृत्वादावयुक्तार्थकथन इत्यर्थः । सर्वमित्यादि
माव्यं विवरीतुमाहुः अथेवमित्यादि । अस्येति आरोप्यवादसेत्यर्थः । सर्वव्याप्त्येति सर्व

‘सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः’ इति स्मृतेःचेति चेत् भैवम् । तथा सति पाषण्डित्वं स्यात् । एतादृशशास्त्रार्थाङ्गीकर्तुरासुरेषु भगवता गणितत्वात् ।

‘असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।

अपरस्परसंभूतं किमन्यत् कामहेतुकम्’ इति ।

भाष्यप्रकाशः ।

अत्र समादधते भैवमित्यादि । तथा सतीति सर्वधर्मापवादे कृते सति । पाषण्डित्वमिति पापलिङ्गवचम् । ‘तानि पापस्य षण्डानि लिङ्गं षण्डमिहोच्यते’ इति श्रीमद्भागवतवाक्यात् । गीतावाक्यार्थस्तु, ते आसुराः, असत्यं नास्ति सत्यं वेदपुराणादिप्रमाणं यस्मिन्सत्यं । वेदादिस्वरूपसत्त्वेऽपि तन्नामाप्यानभ्युपगमाद् विशिष्टाभावः । अत एव नास्ति धर्माधर्मरूपा प्रतिष्ठा हेतुव्यवस्था यस्येत्यप्रतिष्ठम् । तथा नास्ति शुभाशुभफलदातेभ्यो नियन्ता यस्येत्यनीश्वरं जगदाहुरिति । यद्वा । सत्यं सत्यशब्दनिर्दिष्टं ब्रह्म, तदुपादेयत्वेन तदात्मकत्वे जगदपि सत्यं भवति, तद्विरुद्धमसत्यम् । न विद्यते ब्रह्मणि प्रतिष्ठा यस्येत्यप्रतिष्ठम् । न विद्यते नियामकः सत्यसंकल्प ईश्वरो यस्येत्यनीश्वरमिति । किंच, सर्वं पशुमनुष्यादिकं योषित्पुरुषयोः परस्परसंबन्धेन जातमुपलभ्यते । अनेवंभूतमपरस्परसंभूतं तादृशमन्यत् किं, न किमपि । अत इदं सर्वं कामहेतुकमिति । यद्वा । यतः सर्वमेवमतोऽदृष्टं कारणं किमपि नास्ति । अदृष्टाङ्गीकारेऽपि क्वचिद्भ्रतत्वाऽन्ततः स्वभाव एव पर्यवसानात् स्वाभाविकमेव जगद्वैचित्र्यमस्तु । दृष्टे संभवत्यदृष्टकल्पनानवकाशात् । अतः काम एव प्राणिनां कारणं, नान्यददृष्टेश्वरादीत्याहुरिति । इयं च लौकायतिकदृष्टिरिति । ततश्चायमर्थः । धर्माणामपवादमातिष्ठतस्तद्विशिष्टस्येश्वरस्य काल्पनिकत्वेन वस्तुतस्तदभावात् प्रच्छन्नानीश्वरवादितया स्वभाववाद एव विश्रान्त्या लौकायतिककल्पत्वाद् पाषण्डित्वस्य गीतोक्तलक्षणकत्वादासुरत्वस्य चापत्तिर्वेदस्यापि कल्पितत्वापत्त्या तस्मानर्थक्यम् । कथंचित्प्रामाण्याङ्गीकारेऽपि संसारभ्रमस्यैतत्पक्षित्वात् तदुभयानिवारणाय स्वरूपमात्रस्यैव वक्तव्यत्वेन शेषशास्त्रस्य प्रक्षालनपङ्कन्याया-

रश्मिः ।

समाप्नोषीत्यनेनेत्यर्थः । योऽन्ययेति श्रुत्यनुकूलमर्थमाहुः पापेत्यादि । तत्प्रामाण्यादिति अविद्याद्विषयत्वादिति भावः । इदं चाप्यासभाष्ये स्फुटम् । विशिष्टेत्यादि जगति वेदसत्त्वेऽपि प्रामाण्यरूपविशेषणमावात् प्रमाणं वेदादिर्जगति न विद्यते इति विशेषणभावप्रयुक्तो विशिष्टाभाव इत्यर्थः । नास्तीति । औपाधिकत्वादिति भावः । जगति सर्वेषां कामहेतुकत्वाभावात्किमन्यदित्याद्यंशं प्रकारान्तरेण योजयन्ति यद्वेत्यादि । प्राणिनामिति गोभयतोत्पन्नवृश्चिकषयदिनिष्ठजलजन्मजन्वादिष्यतिरिक्तानामिति वाच्यम् । शांकरैर्यथाकथंचिदीश्वराङ्गीकारान्नास्ति कैस्तु तदनङ्गीकारादाहुः इयं चेत्यादि । कथं तदस्य निर्विशेषमात्रवादिशङ्कानिराकरणाय भाष्ये उपक्षेप इत्याकाङ्क्षायां निर्विशेषमात्रवादिनो नास्तिकतौल्यादुपक्षेप इति वक्तुं तत्तौल्यं स्फुटयन्ति ततश्चेत्यादि । आपत्तिरिति एतदन्तं तथासतीत्यारम्य कामहेतुकमित्यन्तस्य भाष्यस्य फलितोर्थः । शास्त्रानर्थक्यं चेति भाष्यं विवृण्वन्ति वेदस्यापीत्यादि । तद्भ्रमेति संसारात्मकभ्रमेत्यर्थः । स्वरूपस्यैवेति विशेषज्ञानरूपस्य । एवकारेण कार्यलक्षणप्रतिपादकभागव्यवच्छेदः । शेषशास्त्रं माहात्म्यप्रतिपादकं तस्यैत्यर्थः । आरोपापवादे प्रक्षालनेत्यादि । ननु कर्तृत्वादिप्रतिपादकस्य

शास्त्रानर्थक्यं च । सर्वं समाप्नोषीत्यप्यसंगतं स्यात् । वस्तुपरिच्छेदात् । नहि वेदो निष्प्रपञ्चरूपकथनमुक्त्वा स्वोक्तं जगत्कर्तृत्वं निषेधति । तस्मादव्यारोपा-

भाष्यप्रकाशः ।

दानर्थक्यम् । स्वस्वमतकल्पितरूपस्य चेतनविशेषेश्वरस्य सर्वैरेवाङ्गीकारेण तत्सत्तासाधनायाप्यनुपयोगात् । अपवादाद्यर्थमेवारोपितमेव सर्वमुच्यत इत्यङ्गीकारे, सर्वं समाप्नोषीत्यस्याप्यसंगतिः । पदार्थान्तरस्य व्याप्यस्याभावेनावस्तुनश्चाप्याप्यत्वेनास्य वस्तुपरिच्छेदबोधकः सार्यवाचापत्तेः । असंगतत्वं विभजन्त एव तदुपपादकमाहुः न हीत्यादि । यदि हि निष्प्रपञ्चकथनं मुक्त्वा जगत्कर्तृत्वं ब्रह्मणि निषेधेत्, तदा कर्त्रन्तरादिसत्तया जगदपि सर्वं स्यात् । तदा व्याप्यसिद्धौ सर्वं समाप्नोषीति वाक्यं संगतं स्यात् । यथा तात्त्विकमेदवादिनां भवे । तव मते तु निष्प्रपञ्चत्वकथनपूर्वक एव कर्तृत्वादिनिषेध इति त्वन्मत इदं वाक्यमसंगतमेवेत्यर्थः । एवं तन्मतमप्यास्य तद्बुपहसन्ति तस्मादित्यादि । तस्मादिति युक्तिप्रमाणविरुद्धत्वात् । तथाचैवंविधव्याख्यानरोगेण स्वयंनिवृत्तदेवभावैरासुरत्वरूपमरणप्राप्त्या अस्पृश्यैवेदान्ता अपि शब्दतिलापो यथा अमङ्गला अस्पृश्यास्तथा कृता इत्यर्थः । अत एव प्रबोधचन्द्रोदयनाटकेऽपि बौद्धोक्तिः ।

‘प्रत्यक्षादिप्रमासिद्धविरुद्धार्थमिधायिनः । वेदान्ता यदि शास्त्राणि बौद्धैः किमपराध्यते’ ॥

इति । ‘असद्वा इदमग्र आसीत्, ततो वै सदजायत’ इति श्रुतिछायायास्तादृशैरप्यालम्बनात् । अत एव पाश्चोत्तरखण्डेऽप्युक्तम्—

‘मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते । मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा’ ॥

रश्मिः ।

शेषशास्त्रस्य नानर्थक्यं कर्तृत्वस्यापि नैयायिकादिभिरङ्गीकारेण तत्प्रतिपादनस्यावश्यकत्वादित्याशङ्कां निराचिकीर्षवो हेतुमप्याहुः स्वस्वमत इत्यादि । सर्वं समाप्नोषीत्यादि भाष्यं व्याकुर्वन्ति अपवादेत्यादि । असंगतौ हेतुभूतं भाष्यं विवृण्वन्ति पदार्थेत्यादि । तथा च वस्तुपरिच्छेदं समाश्रित्य यच्छास्त्रं सर्वं समाप्नोषीति तदप्यसंगतं स्यादिति भाष्यार्थः । उपपादकमिति तर्कमित्यर्थः । निःप्रपञ्चेत्यादि निर्गुणरूपप्रतिपादकं वाक्यप्रबन्धं मुक्तचेत्यर्थः । क्तस्तु भावोर्थः अव्ययकृतो भाव इति वार्तिकेत् । ‘समानकर्तृकयोः पूर्वकाले’ इत्यादिसूत्रैः धोत्यं समानकर्तृकत्वादिकमित्युच्यत इति भूषणे स्थितम् । पूर्वोत्तरभावः सामानाधिकरण्यं च संसर्गः । तथा च तादृशवाक्यप्रबन्धवचनसामानाधिकरणमुत्तरकालिकं कर्तृत्वनिषेधं कुर्यादित्यर्थः । कर्त्रन्तरादिसत्तयेति सगुणादिरूपकर्त्रन्तरेत्यर्थः । यथेत्यादि नैयायिकानां यथा घटादि कर्त्रन्तरसत्तया प्रत्यक्षसिद्धया जगद्रूपव्याप्यसिद्धौ सर्वं समाप्नोषीति संगतं भवति तथा स्यादित्यर्थः । त्वं तु निष्कलं निष्क्रियं शान्तमित्यादिभिः निःप्रपञ्चत्वं प्रपञ्चविरहवैशिष्ट्यं कथयन्नेव कर्तृत्वं निषेधतीति मन्यसे इति कर्त्रन्तरसत्ताऽसिद्ध्या व्याप्यासिद्धेरिदमसंगतमेव स्यादित्याहुः तच्च मत इत्यादि । आसुरत्वेत्यादि ‘श्रुत्युरत्यन्तविस्मृतिः’ इति वाक्यात् स्वरूपविस्मरणकत्वेनासुरत्वं श्रुत्युः । तथाकृता इति । भगवन्माहात्म्यनाशकत्वादिति भावः । अत एवेति अनुभूय युक्तिप्रमाणान्तिमादेवेत्यर्थः । किमपराध्यत इति तादृशवाक्यानां सर्वेषामप्रामाण्यात्कोऽपराध इत्यर्थः । सर्वोऽपि वेदो नाङ्गीक्रियत इत्यपराध इत्यत आहुः असत्त्वेत्यादि । यथा अस्पृष्टादिश्रुतिनिर्वि-

पवादपरत्वेन व्याख्यातृभिर्वेदान्तास्तिलापः कृता इति मन्यामहे । सर्व-
वाक्यार्थबाधात् । यथा निर्दोषपूर्णगुणविग्रहता भवति तयोपरिष्ठाद् वक्ष्यामः ।

ननु पुरुषार्थार्थानि शास्त्राणि । इदं च शास्त्रं मोक्षरूपपुरुषार्थसाधकम् ।
मोक्षसाध्यानिवृत्तिरूप इति युक्तम् । अविद्या चाज्ञानं ज्ञानेनैव नश्यति ।
ततो ज्ञानोपयोगित्वेन व्याख्यातव्ये वेदान्तेऽध्यारोपापवादरूपनिरुद्धेण व्या-
ख्यानमयुक्तम् । अतो यथाकथंचिद् व्याख्यानेऽपि पुरुषार्थसिद्धेर्न कोऽपि दोष

भाष्यप्रकाशः ।

इत्यादि । ननु ब्रह्मणः प्रपञ्चसमवायित्वमयुक्तम् । कार्यस्य कारणसाजात्यनियमेन
प्रपञ्चगतदोषाणां ब्रह्मण्यापातादित्याकाङ्क्षायामाहुः यथा निर्दोषेत्यादि । -उपरिष्ठादिति
अन्तस्तद्धर्माधिकरणे ।

अपवादार्थत्वे उक्तान् दोषानसहमानो निर्विशेषवादी पुनः प्रत्यवतिष्ठते नन्वित्यादि ।
युक्तमिति 'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिध्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरामावादपवर्गः' इति
शौतमसूत्रे मिध्याज्ञानोपायस्य मोक्षसाधकत्वेन कथनायुक्तम् । अविद्या चाज्ञानमिति ।
'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या' इति पतञ्जलिमुद्र उक्तं भावरूपम-
ज्ञानं, न तु ज्ञानाभावः । योगभाष्ये, अमित्रो न मित्रं, न वा मित्राभावः, किंतु मित्र-
विरुद्धसम्पदिति दृष्टान्तेन व्यासपादैरेव भावरूपताया उक्तत्वादिति । तत्राप्यर्थः ।
शास्त्रस्य स्वार्थबाधने य आग्रहः क्रियते स शास्त्रस्वरूपं विचार्य कार्यः । न हि शास्त्रत्वेन
शास्त्राणामुपादेयता येन स युक्तः स्यात् । किंतु पुरुषार्थार्थत्वेन । पुरुषाश्च नानास्वभावाः
स्वस्वोपयोगिशास्त्रमाद्रियन्ते । तत्रेदं शास्त्रं मोक्षसाधकं सुशुभूपयोगि । मोक्षस्त्वमित्युक्तेर-
विद्यानिवृत्तिसाध्यतयोक्तत्वादविद्यानिवृत्तिरूप एवात्र वक्तव्यो न तु स्वरूपात्मकः ।
तस्याजन्मत्वात् । तत्र च साधनानामनुपयोगेन तदुपदेशवैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च । नचाविद्या-
निवृत्तेर्जन्यत्वे कदाचित् तन्नाशः शङ्क्यः । ध्वंसरूपत्वात् । अत एव जन्यभावत्वेन
नश्वरत्वेन व्याप्तिराद्रियते, न तु केवलं जन्यत्वेन । तत्र साधनसाध्यो मोक्षोऽविद्या-
निवृत्तिरूप एवेत्यविवादम् । तत्र साधनविचारे यद्यपि दर्शनान्तराभिमानिभिः साधनान्त-
राणि कर्मसमृद्धिततच्चद्विषयज्ञानरूपाण्युक्तानि तथापि श्रौतेऽस्मिन् वेदान्तदर्शने केवलं ज्ञानमेव
साधनम् । अविद्याया अज्ञानरूपत्वस्य साधितत्वात् । विवक्षितज्ञानमात्रेणैव तन्निवृत्तिसिद्धौ
साधनान्तराणां समुच्चयस्य चापार्थत्वात् । ततो ज्ञानोपयोगित्वेनैव वेदान्तव्याख्याने कर्तव्ये-
ऽध्यारोपापवादप्रपञ्चपहाय स्वार्थपरत्वेन व्याख्यानं नाभिद्युक्तजनरुचिरम् । अतो यथाकथंचिद्व्या-
ख्यानेऽपि ज्ञानोत्पत्त्या अज्ञाननिवृत्तौ, 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इतिरूपस्वरूपावस्थात्मकपुरुषार्थ-
सिद्धेरप्रत्युद्भवत्वात् पाषण्डित्वासुरत्वशास्त्रानर्थक्यादिरूपाणां दोषाणां लेख्यसाध्यभावादनुचितोऽय-
मुपहास इति । एवं तेन स्वोपहासे विनिवारिते तस्यापत्रपत्वं बोधयन्तः स्वोक्तं स्थिरीकर्तुं तदुक्तं

रश्मिः ।

शेषवादिनावलम्ब्यते तथेयं तैरवलम्ब्यते इति लोकायतिकतौल्यमिति भावः । दुःखजन्मेत्यादि ।
इदं सूत्रं शंकराचार्यैरुपन्यस्तं भाष्ये । साधनपादस्य सूत्रमाहुः अनित्येत्यादि । स्वरूपात्मक इति
ब्रह्मस्वरूपात्मक इत्यर्थः । अत एवेति ध्वंसस्य जन्यत्वे सत्यनश्वरत्वादेवेत्यर्थः । जन्यभावत्वेनेति

इति वेत् । न । पुरुषार्थस्य शास्त्रार्थस्य वा स्वरूपं शास्त्रैकसमधिगम्यं, न
स्वबुद्धिपरिकल्पितम् । अतः स्वबुद्ध्या शास्त्रार्थं परिकल्प्य तत्र वेदं योजयन्तो
महासाहसिकाः सन्निरुद्धेयाः ।

पुरुषार्थः पुनर्यथा वेदान्तेष्ववगतः । 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति', 'ब्रह्म-

भाष्यप्रकाशः ।

निवेद्यन्तः प्रामाणिकप्राचीनरीतिमाहुः नेत्यादि । अयमर्थः । यदुक्तं, पुरुषार्थार्थानि शास्त्राणी-
त्यादिना, तदङ्गीकृतम् । परंतु पुरुषार्थः शास्त्रार्थश्च कीदृशो विवक्षित इति विचारणीयम् ।
किं सार्तं उत श्रौतः ? तत्र नाद्यः । विरुद्धानां शास्त्राणां व्यासेनैव निराकरणात् । वाक्या-
भासयुक्त्याभासावष्टम्भाः पूर्वपक्षवादिन इहोत्तिष्ठन्ति । तत्र पदवाक्यप्रमाणज्ञानाचार्येण वेदान्त-
वाक्यानां ब्रह्मावगतिपरत्वप्रदर्शनाय वाक्याभासयुक्त्याभासप्रतिपत्तयः पूर्वपक्षीकृत्य निराक्रियन्त
इति भवद्भाष्यकृतापि तन्निराकरणाङ्गीकारात् । अतो द्वितीय एवादरणीयः । तथा सति
पुरुषार्थस्य शास्त्रार्थस्य च स्वरूपं श्रुत्येकसमधिगम्यं, न तु दर्शनान्तरवाक्यादरूपेण स्वबुद्धि-
कल्पितमिति सिद्धम् । एवं सति पदवाक्यप्रमाणनिष्णातेनाचार्येण कार्यलक्षणस्यैव पूर्वं विचारित-
त्वाद्ग्रे तत्तद्धर्मादिविचाराच्च धर्मविशिष्टब्रह्मज्ञानमेव शास्त्रार्थो, न त्वध्यारोपापवादेन यावद्धर्म-
रूप्यब्रह्मावगतिः । अतः स्वबुद्ध्या तथा शास्त्रार्थं कल्पयित्वा तत्र वेदसैकवाक्यत्वं बोधयन्तो
लोकान्तरीयमयराहित्येन महासाहसकर्तृत्वात् सन्निरुद्धेदानुसारिभिरसंभाष्या इति । मोक्षसाध्या-
निवृत्तिरूपत्वस्युदासायाहुः पुरुषार्थ इत्यादि । तथाचाविद्यानिवृत्तिरूपो मोक्षः कुत्रापि नोक्त
इति त्वन्मतीयः पुरुषार्थोऽपि कल्पनिक इत्यर्थः । एतदेव बोधयितुं वाक्यानुदाहरन्ति
ब्रह्म वेदेत्यादि । अत्र प्रथमे ब्रह्मभावां, द्वितीये परब्रह्मप्राप्तिरेव च फलत्वेनोच्यते । तृतीये च
संसारानुपपत्तयः । चतुर्थे गीतावाक्ये आसिस्वरूपं निष्कृत्यते । पञ्चमे च वैयासे सूत्रे
तृतीयवाक्यार्थनिर्धारणेन जन्यभावत्वेनश्वरत्वयोर्व्याप्तिर्निराक्रियते । अत्रायमाशयः । भवद्भाष्ये
न्यायपञ्चोपन्यासेनाविद्यानिवृत्तेरुर्ध्वं सरूपत्वादनश्वरत्वं यदब्रह्मि, तद् आश्रमवासिके भारतीये
पर्वणि महता प्रबन्धेन, त्यक्तदेहानां कुरुपाण्डवसैन्यानां व्यासेन पुनर्दक्षितानां स्वस्वपत्नीभिः

रश्मिः ।

न तु जन्यत्वेनेति भावः । ध्वंसस्य जन्यत्वेऽपि नश्वरत्वाभावात् । निराकरणादिति ।
द्वितीयाध्याये तथेत्यर्थः । 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इति सूत्रस्य शंकरभाष्यं संमतये आहुः
वाक्याभासेत्यादि । एवं पीठिकामुक्त्वा व्याकुर्वन्ति स्म तथा सतीत्यादिना । स्वबुद्धेति
भाष्यं विवृण्वन्ति स्म न स्थिति । अत इत्यादिभाष्यं विवर्तितुमाहुः एवं सतीत्यादि ।
आसिस्वरूपमिति परमाप्तोतीत्युक्तमायं कर्म ब्रह्म तन्निष्ठासिस्वरूपमित्यर्थः । भक्त्या इति प्रकृते
प्रवेश आसिरिति निष्कर्षः । निराक्रियत इति यदीयं व्याप्तिः प्रामाणिकी साष्णुतिष्वास्ता
स्यात् इति तर्केण तथेत्यर्थः । एवं सामान्यतः सिद्धान्तग्रन्थं व्याख्याय प्रेक्षावत्प्रवृत्तये शंकर-
भाष्यं पूर्वपक्षकोटौ निवेशयितुमाशयं वर्णयन्ति अत्रायमित्यादि । असूचीति नित्यम मोक्षः
सर्वमोक्षवादिभिरस्युपगम्यत इत्युक्त्वा 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादिश्रुतिजालस्युपन्यस्यैक-
मायाः श्रुतयो मोक्षप्रतिबन्धनिवृत्तिमात्रमेवात्मज्ञानफलं दर्शयन्तीति निरुप्यास्योपन्यासेन तत्स्वी-
कृतं तथात्वमसूचीत्यर्थः । सार्तं सार्तैरेव दूषयित्वाशयेनाहुः नदाश्रमेत्यादि । वाक्यानि तु

विद्यामोति परम्, 'न स पुनरावर्तते', 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्', 'अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्' इत्येवमादिभिः श्रुतिस्मृति-

भाष्यप्रकाशः ।

सदैकरात्रिकृतविहारामश्रणादिकथनाद् भ्रंसस्थाप्यनश्वरत्वं प्रायिकमेव, न तु नियतमस्तद्विद्या-
कृताविद्यानिवृत्तेरपि स्वप्नबोधन्यायेन च निवृत्तिसंभवाज्ञानश्वरत्वं, गुणानामन्योन्याभिव-
जननमिषुनवृत्तितया सत्त्वेन रजस्तमसोरिव ताम्यां सत्त्वस्थाप्यभिववे पुनरप्यविद्योत्पत्ति-
संभवादसंगतम् । अतस्तद्विहाय श्रौत एव ब्रह्मप्राप्तिरूपः पुरुषार्थ आदत्तव्यः । नच तस्य
नश्वरत्वं शक्यम् । 'न स पुनरावर्तते' इति ब्रह्मप्राप्तस्थानानुवृत्तिबोधनेन तस्यानश्वरत्वनिश्चयात् ।
जन्यभावत्वेन नश्वरत्वेन व्याप्यैलौकिकत्वबोधनायैव ह्यत्र शब्दादित्यस्य हेतोरुपन्यासात् ।
नच ब्रह्मणः सर्वगतत्वेन नित्यात्मस्वरूपत्वादनाप्यत्वं शक्यम् । आत्मस्वरूपत्वेऽप्युक्तगीतावाक्ये
आत्मस्वरूपविवरणेनेदानीं तस्याभावादाप्यत्वस्यापि सत्त्वात् । एतदर्थोपर्यैवान्तस्त्वबहिष्करोरपि
तत्र मन्तव्यत्वात् । नच श्वेताश्वतरोपनिषदि, 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' इतिमायानिवृत्ते-
र्मोक्षरूपत्वश्रावणादविद्यानिवृत्तेरप्यनश्वरत्वं श्रौतत्वं च शक्यम् । मायाऽविद्ययोर्भेदात् ।

'विद्याऽविद्ये मम तन् विद्ध्यद्ब्रह्म शरीरिणाम् । मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्दिष्टे' ॥

इति भगवता तयोः कार्यकारणभावबोधनात् । माया चाविद्या च स्वयमेव भवतीति ताप-
नीयश्रावितद्वैरूप्यपक्षेऽपि तयोर्भेदेन तन्नाशयोरपि भिन्नत्वान्मायानिवृत्तेरेव मोक्षत्वं, नाविद्यानि-
रदिमः ।

विद्वन्मण्डपे सन्ति । अनुभवमप्याहुः स्वप्नबोधेत्यादि । अविद्यया विद्यानिवृत्तिं व्युत्पादयन्ति
स्य गुणानामिति । असंगतमिति यदसूचि तदसंगतमित्यर्थः । अतस्तदिति स्थूलनुभव-
सूत्रविरुद्धत्वात्स्मार्तमित्यर्थः । अत्र यस्य तूपायो मोक्षस्तस्य मानसं वाचिकं कायिकं वा कार्य-
मपेक्षते इति युक्तं, तथा विकार्यत्वे च तयोः पक्षयोर्मोक्षस्य ध्रुवमनित्यत्वम् । नहि दध्यादिविकार्य-
मुत्पाद्यं वा घटादि नित्यं दृष्टं लोके इति शंकरमार्थोक्तमाशङ्क्य निराकुर्वन्ति न चेत्यादि ।
स्वरूपव्यतिरिक्तत्वेऽपि ब्रह्मणो नाप्यत्वं, सर्वगतत्वेन नित्यात्मस्वरूपत्वात्सर्वेण ब्रह्मण आकाशस्ये-
वेति शंकरभाष्योक्तमाशङ्क्य निषेधन्ति न च ब्रह्मण इत्यादि । तस्येति प्रवेशस्थेत्यर्थः । तथा च
लोकन्यायेनोपपन्नत्वाच्चायमेवार्थस्वात्विक इति भावः । एतदित्यादि अभिहितानुपपत्तिरुपयेत्यर्थः ।
इदमिह तत्त्वं गीतावाक्यावगतोऽर्थः प्रवेशरूपो ब्रह्मणो व्यापकत्वेन नित्यात्मस्वरूपत्वादनुपपन्नत्वेन
ज्ञातः सन्नर्थान्तरं सान्तस्त्वबहिष्कृत्य कल्पयतीति, यथा ज्योतिष्टोभेन स्वर्गकामो यजेतेत्यत्र यागस्य
क्षणिकत्वेन स्वर्गसाधनतानुपपत्त्या मध्यवर्त्यपूर्वं कल्पयते तद्वत् । श्रुतीनामेकवाक्यत्वाद्वाहुः माया-
निवृत्तिरित्यादि 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' इति स्मृतिरप्येतेन संगृहीता । तदुक्तम् ।

'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति । समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥

भक्त्याहमेकया प्राप्नो यवान् यश्चास्मि तत्त्वतः । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' । इति ।

मायातरणोत्तरं ब्रह्मभाव इति वस्तुस्थितिः । ...

'अपश्यत्पुरुषं पूर्णं मायां च तदुपाश्रयाम् । यया संमोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम् ॥
परोऽपि मनुतंजनर्थं तत्कृतं चाभिपद्यते । अनयोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमबोधजे' । इति समाधिभाषायाः ।
ब्रह्मणो व्यतिरिक्तत्वमाश्रित्यानाप्यत्वं यदुक्तं तद्विद्विदानीं तु स्वात्मरूपत्वे सत्यनाप्यत्वादिति

न्यायैर्ब्रह्मप्राप्तेरेव पुरुषार्थत्वम् । ब्रह्म च पुनर्न जीवस्यात्ममात्रम् । अज्ञानबद्धाः
'एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते । बन्धोऽस्याविद्ययाऽनादिविद्यया च तथेतरः'

इति भगवता जीवस्यैवाविद्यावत्त्वप्रतिपादनात् । तस्माद्यायोपबृंहितसर्व-
वेदान्तप्रतिपादितसर्वधर्मबद्धं ब्रह्म । तस्य श्रावणमनननिदिध्यासनैरन्तरङ्गैः
शामदमादिभिश्च बहिरङ्गैरतिशुद्धे चित्ते स्वयमेवाविर्भूतस्य स्वप्नकाशस्य सायुज्यं
परमपुरुषार्थः । तस्मात् सर्वे वेदान्ताः स्वार्थ एव युक्तार्था इति न्यायैर्वक्तव्यत्वाद्
ब्रह्मणः समवायित्वाय समन्वयसूत्रं वक्तव्यम् ॥ ३ ॥

इति प्रथमाध्याये प्रथमपादे तृतीयं समन्वयाधिकरणम् ॥ ३ ॥

इति श्रीवेदव्यासमतवर्तिश्रीवल्हभाचार्यविरचिते श्रीब्रह्मसूत्राणुभाष्ये
प्रथमाध्याये प्रथमपादस्यादिमत्रिसूत्रीभाष्यं समाप्तम् ॥

भाष्यप्रकाशः ।

वृत्तेः । मायानिवृत्तिश्च मोक्षस्य पूर्वा कक्षेति परममोक्षत्वं ब्रह्मप्राप्तेरेव निश्चयम् । तदेतदुक्तं ब्रह्मप्रा-
प्तेरेव पुरुषार्थत्वमिति । यदपि मोक्षस्य स्वात्मस्वरूपत्वेनानाप्यत्वमुक्तं यच्च ब्रह्मणोऽविद्याशा-
वल्यादज्ञानवत्त्वं तदप्यसंगतमिति ज्ञापनायाहुः ब्रह्म श्वेत्यादि । आत्ममात्रमिति 'मात्रं काल्प्ये-
ऽवधारणे' कृत्स्नमात्मस्वरूपम् । तथाचाऽस्मिन् वाक्ये जीवस्यांशत्वकथनेन स्वसांशित्वं बोधयता
भगवता ब्रह्मणो जीवात्ममात्रत्वे निवारिते मोक्षस्वात्मरूपत्वेनानाप्यत्वं निवारितम् । जीवस्वा-
विद्यया बन्धकथनेन ब्रह्मणोऽविद्यावत्त्वमपि निवारितमतस्तदप्यसंगतमित्यर्थः । सिद्धमाहुः तस्मा-
दित्यादि । तस्मादिति एकदेशिमतस्योपबृंहणविरुद्धत्वात् । तस्येति सर्ववेदान्तप्रतिपादितधर्म-
विशिष्टस्य ब्रह्मणः । स्वयमाविर्भूतस्येति नायमात्मेतिश्रुत्या साधनाधीनत्वे ब्रह्माविर्भावस्य वारिते
आविर्भावः स्वोक्तकरणेन प्रसादादेव भवतीति तेन स्वयमाविर्भूतस्य । तथाच भौतानां सार्तानां
च ब्रह्मविषयाणां साधनानां चित्तकषायशोषण एव पर्यवसानात् तैरतिशुद्धे चित्ते परमव्योमात्मके
सति तत्राविर्भूतस्य ब्रह्मणः, 'सोऽऽनुते' इतिश्रुत्युक्तं सायुज्यमेव सर्वोत्कृष्टः पुरुषार्थो भ्रंसाप्रति-
योगित्वात् । न तु ब्रह्मात्मवागतिमात्रम् । अतस्तादर्थ्येन यथाकथं चद् वेदान्तव्याख्यानमयुक्त-
रदिमः ।

भाष्ये ब्रह्मेक्यादनाप्यत्वं यदुक्तं तदनुवदन्ति यदपीत्यादि । स्वयंपदासुष्टिमार्गं व्याचक्षते स
नायमात्मेतीति । ननु सुष्टिमार्गबोधकं किं पदं श्रुताविति चेन्न 'वृणुते' इति पदसत्त्वात् ।
साधननिषेधपूर्वकं, बृह संभक्तौ इति धातुपाठात् स्वीयत्वेन स्वीकारस्तु संयत्किरूपपुष्टिसंबन्धि-
त्वेन तत्त्वात् । तेनेति प्रसादेन दर्शनसाधनेन 'तमक्तुं परयति वीतशोको धातुः प्रसादात्' इति
श्रुत्युक्तेनेत्यर्थः । आविर्भूतस्येति लोकरीत्याविर्भूतस्येत्यर्थः । तत्राविरिति व्योमात्मके
शरीरे आविर्भूतस्वानन्दस्य । 'आकाशशरीरं ब्रह्म' इतिश्रुतेः । अदृश्यत्वाधिकरणात् । यद्यपि सेवाफल-
विभूतिविभूतौ सायुज्यं 'भक्त्यामामभिजानाति' इति स्मृत्युक्तः प्रवेश इत्युक्तं, तथाप्यत्र परमपुरुषार्थ-
पदसमभिव्याहारादलौकिकसामर्थ्यरूपं मुख्यं फलं सह युनक्तौति सयुक् सयुजो भावः सायुज्यमिति
व्युत्पत्त्या संयोगानुभवरूपं सायुज्यं विवक्षितमित्याशयेनाहुः सोऽभुने इतीति । तादर्थ्येनेति
स्वसैद्धान्तिकपुरुषार्थत्वेनेत्यर्थः । इदमत्र बोध्यम् । निमित्तत्वस्य श्रुतिसिद्धत्वादित्युक्तम् । अत्र च
समवायित्वाय समन्वयसूत्रं वक्तव्यमित्युक्तम् । अतो निमित्तत्वे सति समवायि ब्रह्म इत्युक्तं भवति ।

भाष्यप्रकाशः ।

मित्यर्थः । एवमेकदेशमतानि व्युत्सव पूर्वोक्तं सूत्रप्रयोजनं निगमयन्ति तस्मादित्यादि ।

इति तृतीयं समन्वयाधिकरणम् ॥ ३ ॥

इति श्रीबह्मसाचार्यचरणनखचन्द्रनिरस्ताहृदयध्वान्तस्य श्रीपीताम्बरात्मजस्य
पुरुषोत्तमस्य कृतौ भाष्यप्रकाशे प्रथमाध्याये प्रथमपादस्यादिम-
त्रिसूत्रीप्रकाशः समाप्तिमगमत् ॥

रश्मिः ।

अतएव द्वितीयस्कन्धे 'अन्वयव्यतिरेकाभ्याम्' इत्यस्य सुषोधिण्यां अभिन्ननिमित्तोपादानं ज्ञातं ब्रह्मकारणकं इत्युक्तं भवतीत्युक्तम् । तदिदं लोकाप्रसिद्धमिति चिन्त्यते समवायश्च तादात्म्यं न तु वैशेषिकमतप्रति-
पन्नमिति द्वितीयाध्याये समवायदूषणावसरे व्युत्पाद्यं, तच्च कृत्स्नस्यांशस्य वा, अंशस्येति सिद्धान्तः । तथा च 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' इति श्रुतिव्याकोपः । मैवं 'कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वश-
ब्दकोपो वा' इत्याशङ्क्य 'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्' इति भगवता व्यासेनैव तन्निराकरणम् । अत एव ।
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवाहुंन । विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ इति स्मृतिः ।
तस्य निमित्तत्वं दुष्प्रपादम् । समवायसमवायिभिन्नत्वे सति कारणत्वस्य तद्व्युत्पत्त्यात् । नैतत्
निमित्तकारणलक्षणस्यैकांशेन समवायिन्यविरुद्धत्वात् । अवयवभेदस्यावयविनि सत्त्वात् । तथा चैषा
प्रक्रिया । ब्रह्माविकृतभेदैकांशेन समवायि, दृष्टान्ताभावो मूषणाय 'न तत्समः' इति श्रुतेः
धेनुविशेषवद्वा, तदेव प्रकृतिरूपं, कचित्कालरूपं स्वांशमुपादानं करोति । प्रमाणं तु पूर्वमुक्तम् ।
उपादानं च द्विविधम् । परिणाम्युपादानं विवर्तोपादानं च । तत्रार्थं स्वसमानसत्ताकं कार्याकारणा-
विर्भवति । उपादानसमसत्ताकोऽन्यथाभावः परिणामः । स च विकृताविकृतभेदेन । द्विविधः । तत्रार्थो यथा
सुदो षटशरावादिः । द्वितीयस्तु यथा सुवर्णस्य कटककुण्डलादिः । विवर्तस्तुपादानविषमसत्ताको-
न्यथाभावः । यथा रजतादिरूपेण बुद्धेः स्थानं । यद्यपि समवायिकारणमिदं यत्कारणं तन्निमित्तकारणम् ।
असमवायि कारणस्यातिरिक्तकारणताकल्पने प्रयोजनाभावात् । कारणसामग्र्यामन्तर्भाव इत्युक्तं ततयैव
एतदुक्तमाचार्यचरणैः 'प्रपञ्चो भगवत्कार्यस्वरूपो माययामवत्' इति शास्त्रार्थप्रकरणे । तथाच शरीरि,
प्रसिद्धकर्तृत्वात् कुलालवदिति साकारत्वसिद्धिः । पृथ्वी जलं शोषयति तेजः पिबतीत्यादि कर्तृत्ववार-
णाय प्रसिद्धेति हेतुविशेषणम् । अन्यद्विद्वन्मण्डने स्फुटम् ।

इति तृतीयं समन्वयाधिकरणम् ॥ ३ ॥

इति श्रीविद्वलेश्वरेश्वर्यनिरस्तासमस्तान्तरायेण श्रीगोविन्दरायजित्पौत्रेण
संपूर्णवेत्रा विद्वलरायजिज्ञात्रीयगोकुलोत्सवात्मजगोपेश्वरजिता
कृते भाष्यप्रकाशस्य रश्मी प्रथमाध्याये प्रथमपादस्यादिम
त्रिसूत्री रश्मिः संपूर्णतामगमत् ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

श्रीगोपीजनबह्मसाय नमः ।

श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्रीमद्रहस्यसूत्राणुभाष्यम् ।



भाष्यप्रकाश-रश्मि-परिबृंहितम् ।

अथ प्रथमोऽध्यायः ।

एवं ब्रह्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय किं लक्षणकं ब्रह्मेत्याकाङ्क्षायां जन्मादिसूत्रद्वयेन
वेदप्रमाणकं जगत्कर्तृ समवायि चेत्युक्तम् । एवं त्रिसूत्र्या जिज्ञासालक्षण-
विचारकर्तव्यता सिद्धा ।

भाष्यप्रकाशः ।

अतः परं प्रस्तोष्यमाणग्रन्थावतरणाय पूर्वोक्तस्य शान्तार्थसंग्रहरूपत्वं बोधयन्तः तद-
र्थमनुवदन्ति एवं ब्रह्मेत्यादि । तेन सिद्धमाहुः एवं त्रिसूत्र्येत्यादि । कर्तव्यतापदस्य जिज्ञा-
सादिपदैः प्रत्येकं संबन्धः । सिद्धेति सूचिता । तथाच पूर्वोक्ते जिज्ञासापदमहिम्ना ज्ञाने-
रश्मिः ।

अतः परं चिद्रूपेऽव्याप्तिवारकं प्रकृतिपरमाण्वादावतिव्याप्तिवारकं च सप्तसूत्रमीश्वर्यविक-
रणभाष्यमाक्षेपसंगत्या पूर्वमवतारयन्ति अतः परमित्यादि । संगतिस्तु पूर्वपक्षभाष्ये स्फुटि-
ष्यति 'क्रियाशक्तज्ञानशक्ती संदिश्येते परस्थिते' इति भाष्यकारिकाया ज्ञानशक्तिसंदेहोत्र । त्रिसू-
त्र्येति । करणत्वबोधकतृतीयानुरोधादत्र इन्द्र इति सूचयन्त आहुः कर्तव्यतेत्यादि । प्रत्येक-
मित्यादि । इन्द्रान्ते श्रूयमाणत्वादिति भावः । जिज्ञासासूत्रे कर्तव्यपदानव्याहाराजन्मादिसूत्रे
च लक्षणपदानुक्तेः समन्वयसूत्रेपि कारणविशेषविचारानुक्तेराहुः सूचितेति । सूचकपदेन
सिद्धेत्यर्थः । साचेयं नार्यव्यञ्जना किंतु शब्दव्यञ्जनेत्याहुस्तथाचेत्यादि । जिज्ञासापद-
महिम्नेति । अयमर्थः । यथा—

'भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशाल-

वंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य ।

यसानुपप्लुतगतेः परवारणस्य

दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽमृतम्' । इत्यत्र

भद्रात्मनोऽनाक्रमणीयमूर्तेः, विस्तीर्णे वंशे कुले उन्नतिरभ्युदयो यस्य, कृतः शरसंग्रहो येन,
अनुपप्लुता मण्डूकवद्वृत्तिर्यस्य, वैरिनिवारकस्य, एतादृशस्य यस्य राज्ञो हस्तः सततं दानोदकसेक-
सुन्दरोऽमृदिति मुख्यो वाच्योर्थः । इदानीं व्यञ्जोर्थः । अत्युत्तयाऽनाक्रमणीयस्य, विशाला
पृष्ठवंशस्योन्नतिर्यस्मिन्, कृतभ्रमरसंग्रहस्य, अनुपप्लुतगतेः, एवंविधस्य परवारणस्य, पर उक्तद्यो
वारणस्यस्य, हस्तः शुण्डादण्डः, मदोदकसेकसुभगोमृदिति । अत्र व्यञ्जनया गजप्रतीतिः । राज्ञो
वाच्यत्वस्य प्रकरणनियतत्वात् उक्तव्यञ्जनाद्वारा व्यञ्जकशब्दं लक्षयति । शब्दसार्थविशेषयुक्तस्य
व्यञ्जकत्वादयोपि सहकारित्वेन व्यञ्जको बोध्यः । तद्वत्कृतेपि । तथाहि ।

तत्र ब्रह्मणि चतुर्धा विचारः । स्वरूपसाधनफलप्रतिपादकानि वेदान्त-
वाक्यानि त्रिविधानि मतान्तरनिराकरणं च । तत्र स्वरूपे विचारिते
मतान्तरनिरासव्यतिरेकेण साधनफलयोरनुपयोगात् । अतः प्रथमं स्वरूप-
निर्णयः । तदनु मतान्तरनिरासः । तदनु साधनानि फलं चेति । तत्र
प्रथमेऽध्याये स्वरूपवाक्यानि विचार्यन्ते । तानि द्विविधानि । संदिग्धानि, निः-
संदिग्धानि च । तत्र निःसंदिग्धानां निर्णयो न वक्तव्यः । संदिग्धानि पुनश्चतु-
र्विधानि । कार्यप्रतिपादकान्यन्तर्प्राप्तिप्रतिपादकान्युपास्यरूपप्रतिपादकानि
प्रकीर्णकानि चेति । तत्र प्रथमपादे कार्यवाक्यानां निर्णय उच्यते । सच्चिदानन्द-

भाष्यप्रकाशः ।

च्छासारणेन, 'अविज्ञातं विज्ञानतां विज्ञातमविज्ञानताम्' इति ब्रह्मस्वरूपमर्यादाबोधनाद् ब्रह्म-
ज्ञानोत्तरमपि तस्याः करणावश्यकता सूचिता । द्वितीये स्वरूपलक्षणमनुक्तवैव कार्यलक्षण-
कथनेन तस्य गौणत्वनिवारणात् तत्करणावश्यकता सूचिता । तृतीये सप्रवायित्वनिर्णयक-
हेतुकथनेन विरुद्धधर्माश्रयत्वबोधनाद् विचारकरणावश्यकता च सूचितेति त्रिवच्युक्त एवा-
र्थोऽप्ये विशेषाकारेण बोधनीय इत्यर्थः । तमेव वैशेषिकं बोधयितुं प्रकारमाहुः तत्र ब्रह्म-
णीत्यादि । अत्राध्यायार्थक्रमनियमे तत्तदुपजीव्योपजीवकभावं हेतुत्वेनाहुः तत्र स्वरूप
इत्यादि । तथाचैवं चतुर्धा विचारः शास्त्रार्थः । तत्र द्विधाविचारस्तदध्यायार्थ इत्यर्थः ।
प्रथमाध्यायस्य विशेषाकारेणार्थमाहुः तत्र प्रथम इत्यादि । निःसंदिग्धानीति 'सत्त्वं
ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादीनि । न वक्तव्य इति निर्णयस्य संदेहनिरासा-
र्थत्वात् तेषु च तस्याभावात् वक्तव्यः । तथाच स्वरूपनिरूपकत्वेऽपि संदेहाजनकत्वादेव
तद्विचारो व्यासेन न क्रियत इत्यर्थः । पादसंख्यायां हेतुभूतां विद्यामाहुः संदिग्धानी-
त्यादि । प्रथमपादार्थमाहुः तत्रेत्यादि । निर्णेतव्यानां वाक्यानां विधां वदन्ति सच्चि-
दित्यादि । सच्चिदानन्दरूपेण कारणं निर्दिश्य कार्यप्रतिपादकानि, आकाशवायुतेजोवाचक-

रश्मिः ।

'संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।

अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दसान्यस्य संनिधिः ॥

सामर्थ्यमौचित्यं देशः कालो व्यक्तिः खरादयः ।

शब्दार्थसानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः' ॥ इति ।

संयोगादयो विशेषस्मृतिहेतव उक्तास्तत्र जिज्ञासासूत्रे ब्रह्मपदसांनिध्येन विचारस्य
वाच्यत्वे नियमिते ज्ञानेच्छाकरणावश्यकताव्यञ्जकः शब्दो लक्षणिकस्तस्य व्यञ्जोर्थस्तत्करणावश्य-
क्तारूप इत्यर्थः । 'ज्ञानी चेन्नृजते कृष्णम्' इति वाक्यात् । नैयायिकास्तु लक्षणयैव निर्वाहयन्ति ।
विज्ञानतामिति इदमित्यतयाऽस्माभिर्ब्रह्म ज्ञातमित्यभिमानवतामित्यर्थः । अविज्ञानतामिति
तादृशभिमानशून्यानामित्यर्थः । करणेत्यादि । जन्मादिसूत्रेषु ज्ञानेच्छाधिकारादर्शनात् व्यञ्जोर्थे
विवाक्षिते कर्तव्यपदस्यार्थस्य वाच्याहार इति भावः । कर्तव्यपदप्रत्ययार्थत्वेन तदैवावश्यकताप्रतीतेः ।
भाष्ये कर्तव्यतापदाद् व्यञ्जोर्थेधिकारक्रियानन्वयो दोषाय । तस्येति जन्मादिकर्तृत्वस्य निर्वाहकसं-
गत्या निरूपणेनेत्यर्थः । वैशेषिकमिति विशेषेण संसृष्टमित्यर्थः । 'संसृष्टे' इति सूत्रेण ठक् । तस्येति

भाष्यप्रकाशः ।

शब्देन कारणं निर्दिश्य कार्यप्रतिपादकानीत्येवं षड्विधान्याद्ये पादे निर्णीयन्त इत्यर्थः ।
नन्वन्यथाचक्रेः शब्देः कुतो निर्देश इति शङ्कानिरासायाहुः अन्यत्रेत्यादि । तथाच तेषां नैस-
र्गिकशक्तिबोधनेन भूताकाशादिषु ब्रह्मलक्षणस्यातिव्याप्तिपरिहारार्थेवं निर्देश इति बोधयितु-
मयं निर्णय इत्यर्थः । एवञ्चोद्घातेनार्थकथनादिदं बोधितम् । विचारस्य शास्त्रार्थत्वाभि-
ज्ञासाध्नस्य सर्वत्र विषयविषयभावः संगतिः । शास्त्रस्याध्यायेषु तेषां स्वपादादिषु पादानां
स्वावयवेषु सामान्यविशेषभावः । अधिकरणानां परस्परमन्यान्या एव संगतय उभेया
इति । संगतिस्त्वनन्तराभिधानप्रयोजकाकाङ्क्षाजनकज्ञानविषयोऽर्थः । इदं वाक्यमेतद्वाक्यान्तरं
कस्मादुक्तमीदृशी या जिज्ञासा सा अनन्तराभिधानप्रयोजकाकाङ्क्षा । तज्जनकं तत्स्वरूपयोभि-
यञ्जानं तत्र विषयत्वेन योऽर्थः प्रकाशते सोऽर्थः संगतिशब्दवाच्यः । तद्वेदाश्च षट् ।

'सप्रसङ्ग उपोद्घातो हेतुताऽवसरस्तथा ।

निर्वाहकैककार्यत्वे षोडा संगतिरिष्यते' ॥

रश्मिः ।

संदेहस्येत्यर्थः । तेषामित्यादि आकाशादिपदानां नैसर्गिकशक्तेर्ब्रह्मणि बोधनेनेत्यर्थः ।
स्वावयवेष्विति अधिकरणेष्वित्यर्थः । अन्यान्या इति तत्तदधिकरणे वक्तव्याः ।
आनन्तर्यपदघटितत्वं दीधितिकृतोपगतं संगतिलक्षणस्य तथापि गदाधर्या चातुर्वर्ण्यादित्वात्कार्ये
व्यञ्जमभिधायोत्तरार्थत्वमात्रं व्याख्यातमिति तदाहुः अनन्तरेत्यादि । विश्लिष्यावयवानर्थ-
माहुः इदमित्यादि । यथा प्रत्यक्षनिरूपकवाक्यानिरूपणानन्तरमनुमाननिरूपकवाक्योक्तिस्त्रा-
नुमाननिरूपकमिदं वाक्यं प्रत्यक्षनिरूपकवाक्यानन्तरं कस्मादुक्तमीदृश्या अनन्तराभिधानहेतुविष-
यकं यञ्जानं तद्विषयिणी या इच्छा तद्रूपाया जिज्ञासायाः स्वरूपं ज्ञानेच्छारूपं तत्रोपयोगि-
ज्ञानपूर्वकत्वेन कार्यत्वमनुमानमिति तन्निरूपकवाक्ययुक्तमित्येवमुपयोगि यञ्जानं कार्यत्वत्वेनोप-
स्थितं कार्यत्वं तद्विषयज्ञानं तत्र विषयत्वेन ज्ञाननिरूपितविषयतावच्छेदकविशेषात्मकेन कार्य-
त्वत्वेन प्रकाशमानस्य धर्मस्योपजीव्योपजीवकत्वस्य संगतित्वमिति । एवं कारणत्वसापि
न तु कारणत्वस्यैव । अत्र प्रत्यक्षोपजीवकज्ञानमुपजीवकत्वत्वेनोपस्थितोपजीवकत्वसामान्य-
प्रकारेण ततः कार्यविशेषान्वेषणनिवृत्तिस्त्वनन्तरमनुमानपददर्शनात् । एवं हि स्वरूपोपयोगः
स्यात् । अनुमाननिरूपकमिदं वाक्यं प्रत्यक्षनिरूपकवाक्यानन्तरं कस्मादुक्तमिति पूर्वोक्तजि-
ज्ञासायां ततश्चानुमानं प्रत्यक्षस्य कार्यत्वात्तदनन्तरमुक्तम् । इति विशेषावष्टितिरिति । इयं च
जिज्ञासा व्याख्यातुरेव न तु निरूपयितुः । निरूपयितुरपि वा ग्रन्थकरणानन्तरं मया कस्मादुक्तमिति
जिज्ञासासंभवात् न च निरूपितप्रत्यक्षानुमानयोः संभवतीयम् । उक्तमिति कान्तपदघटितत्वादिह
त्वनुमानस्य निरूपयिष्यमाणत्वादिति वाच्यम् । तत्कालीनप्रत्यक्षानुमानयोर्निरूपयितुरपि वा
ग्रन्थकरणानन्तरं मया कस्मादुक्तमिदं स्यादिति जिज्ञासासंभवात् । षस्तुतस्तु 'घातुसंभवे प्रत्ययाः'
इति सूत्रेण भविष्यत्काले लुब्ध्वादित्यध्याहारः । मनोरमायां विशेषानुल्लेखात् तथाप्युदाहर-
णानुरोधेन श्रूयमाणतिष्ठन्त्यले एव सूत्रप्रवृत्तिसदा तु उक्तमित्यत्र वचनीयं स्यादिति वक्तव्यम् ।

१. ज्ञानेच्छा जिज्ञासा, ज्ञानं यद्यपि हेतुरूपविषयेण पूरितं तथापि विशेषहेतुना न पूरितमिति इच्छाविषयज्ञान-
विषयत्वेनेत्यर्थः । २. हेतुविशेषादयं विषयविधया हेतुः ।

रश्मिः ।

बुद्धिश्च यद्विचारितं तत्पर्यायोक्तमिति । वस्तुतस्तु अस्य वाक्यस्यैतद्वाक्यानन्तरं निरूपणे को हेतुः स्यादित्येव जिज्ञासा । एवं चानुमानस्येत्यस्य स्पष्टप्रतिपत्तिप्रयोजनकतया तत्रोपयोगिज्ञाना-
गोचरत्वम् । तथा ज्ञानविषयेत्यत्र हेतुभिश्चेति वक्तव्यत्वेन नेत्यर्थस्य हेतुगोचरत्वमिति कार्यत्वस्य संगतित्वमित्यपि न । कार्यत्वमनुमानस्येत्यत्र कार्यत्वमित्येतावतैव जिज्ञासापूर्तेरिति ध्येयम् । सामान्यहेतोर्विशेषकार्यत्वरूपहेतुत्वादित्यपि ध्येयम् । तथा तज्जनकमित्यस्य कार्यज्ञान-
मिष्टसाधनमिति ज्ञानमिति विवरणं गदाधरभट्टकृतम् । कारणस्य कार्यभावश्चकमिति कार्य-
त्वरूपेण कार्यसामान्यज्ञानमिति विवरणं भवानन्दरामनाथकृतम् । तत्र गदाधरकृत-
व्याख्यानेभिधातुः पूर्वोक्तं ज्ञानं संभावितं न तु निश्चितं दीधितिकृतानुल्लेखात् । अस्यदुक्त-
ज्ञानजिज्ञासायोरपि संभवाच्च विषयताविशेषस्य विवक्षा चेति दूषणद्वयम् । इतयोस्तु शिष्यस्य
प्रतिभाविरेहेण तद्विरेहेण च शिष्यज्ञानयोर्वक्तुमशक्यतया ज्ञाने व्याख्यातुरभिधातुर्वा ग्राह्यते
संभाविते न अपि तु निश्चिते दीधितिकृतोल्लेखात् । अतस्तज्जनकं तत्रोपयोगीति व्याख्यातम् ।
तथा तत्रोपयोगिज्ञाननिरूपितविषयतावच्छेदकं कार्यत्वत्वोपस्थितकार्यत्वावच्छिन्नकार्यानुमाननि-
रूपकवाक्यवद्यद्यपि वक्तुं शक्यते तथापि कार्यत्वं कण्ठरवेणोक्तं इदिति बुद्धावारोहति । एवं
च उपयोगिज्ञाननिरूपितविषयतावच्छेदकं कार्यत्वत्वमिति ज्ञेयम् । गदाधरभट्टस्तु प्रत्यक्षान-
न्तरमस्य किमुपजीवकमित्यादिजिज्ञासां प्रति उपजीवकत्वादिज्ञानं हेतुरित्यनुमानस्य प्रत्यक्षान-
न्तरमभिधाने प्रयोजिका किमस्योपजीवकमिति जिज्ञासा तज्जनकं कार्यज्ञानमिष्टसाधनमिति उप-
जीवकत्वविषयकज्ञानं तद्विषयत्वमुपजीवकत्व इति लक्षणसंगतिः । एवमुपजीव्येपि बोध्यम् । तथा
च कारणत्वस्य कार्यत्वस्य च संगतित्वं न तु कार्यत्वस्यैव जनकज्ञानविषयेत्यनेन जनकीभूते-
इष्टसाधनताज्ञानीयज्ञाननिष्ठविशेष्यतायां विषयतासंबन्धेन यदवच्छेदकत्वं तन्निरूपितावच्छेदकतात्म-
कविषयताविशेषस्य विवक्षितत्वात् । न ज्ञाननिष्ठेष्टसाधनत्वेतिव्याप्तिर्भवति चोपजीवकज्ञान-
मिष्टसाधनमित्यत्रेष्टसाधनताज्ञानैकदेशज्ञाने या विशेष्यता उपजीवकत्वप्रकारकज्ञाननिष्ठेष्टसाधन-
ताविषयकं ज्ञानमिति बोधात् । तादृश्यां विशेष्यतायां विषयितासंबन्धेन यदवच्छेदकत्वं
इष्टसाधनतावच्छेदकत्वं इष्टसाधनतानिष्ठविषयता निरूपिता तद्द्वारा विषयितासंबन्धेन विशेष्य-
तायाः इष्टसाधने सत्त्वात् तादृशेष्टसाधनतानिरूपितमवच्छेदकत्वमुपजीवकत्वे इष्टसाधनताधिकरण्ये
ज्ञाने विषयतासंबन्धेनोपजीवकत्वस्य सत्त्वात्तदात्मकस्य विषयताविशेषस्योपजीवकत्व एव सत्त्वा-
दतिव्याप्तिवारणम् । भवानन्दभट्टस्तु प्रत्यक्षस्य कारणत्वज्ञाने कारणस्य कार्यभावश्चक-
मिति क्रमेण कार्यस्वरूपेण कार्यसामान्यज्ञानं ततः सामान्यधर्मप्रकारकज्ञानस्य विशेषधर्मप्रका-
रकजिज्ञासाजनकत्वात् किमस्य कार्यमित्याकारिका शिष्यजिज्ञासा, ततः शिष्यस्य किमस्य कार्यमिति
शब्दप्रयोगः, ततः शिष्यजिज्ञासाज्ञानं गुरोः, तत इष्टसाधनताज्ञानेनानन्तरमभिधानमिति क्रमेण
जिज्ञासायामनन्तरमभिधानप्रयोजकत्वमिति वदन्ति । रामनाथस्तु आनन्तर्याभिधानप्रयोजक-
शिष्यज्ञानगोचरतदिच्छाजनकीभूतशिष्यज्ञानविषयत्वमेव संगतिरित्याह । प्रत्यक्षनिरूपणानन्तरं कार-
णस्य कार्यभावश्चकमिति शिष्यस्य कार्यत्वसामान्यज्ञानं ततश्च किमस्य कार्यमिति शिष्यजिज्ञा-
सायां गुरुमानुमानाभिधानं क्रियते इति शिष्यज्ञानजिज्ञासे अनुमानाभिधानावसरे शिष्यजिज्ञा-

रूपेणाकाशवायुतेजोवाचकवाक्यानि षड्विधान्यपि निर्णयन्ते । अन्यत्रान्य-
वाचकान्यपि वेदान्तेषु भगवद्वाचकानीति ।

रश्मिः ।

सायाः प्रतिभाविरेहेण तद्विरेहेण च वक्तुमशक्यतया जिज्ञासा चानन्तरमिधातुरेवेति गदाधराः ।
घटत्वादिप्रत्यक्षेण को घट इति जिज्ञासोदयात् घटत्वादौ प्रत्यक्षसंगतित्ववारणाय प्रयोजकान्तम् ।
नन्वेवमपि न निस्तारः । प्रत्यक्षादौ निरूपिते स्वसामग्रीवशात् को घट इति कस्यचि-
जिज्ञासया केनचिद् घटो निरूपितः तादृशनिरूपणप्रयोजकतयाविषयजिज्ञासामादाय, घटत्वादावपि
प्रत्यक्षादिसंगतित्वप्रसक्तैः प्रयोजकान्तमुपादायाप्यशक्यवारणत्वात् । अथ तत्र घटत्वादेः संग-
तित्वमिष्टमेव प्रसङ्गमध्ये तस्यान्तर्भावनीयत्वाच्च । अन्यथा तादृशनिरूपणं संगत्यभावेनाबद्धप्रलापः
स्यात् । आकाङ्क्षिताभिधाने तु स न स्यादिति । एवं च घटत्वादीनां लक्ष्यत्वेन प्रयोजका-
न्तमनर्थकमित्युच्यते तदा तु यन्निरूपणानन्तरं कदाचिदपि कस्यचिद्धर्मस्यावान्तरधर्मप्रकारकज्ञानेच्छा
न जायते अपि तु कालान्तरे जायते, तदा तस्य तत्संगतित्ववारणाय प्रयोजकान्तोपादानात् । न च
तादृशधर्म एव दुर्लभः । तादृशधर्मसंभावनयातिव्याप्तिरसंदेहेनातिव्याप्तिवारकविशेषणदानींचि-
त्यात् । यद्वा यन्निरूपणानन्तरं यद्धर्मोवच्छिन्नस्य यस्य पुंसो विशेषजिज्ञासा न जाता अपि
त्वन्याभिधानानन्तरमेव, तद्धर्मस्य तं प्रति तत्संगतित्ववारणाय प्रयोजकान्तमुपादेयम् । अस्तु
तर्ह्यनन्तरमभिधानप्रयोजकज्ञानविषयत्वं सा प्रयोजकजिज्ञासाजनकेत्यधिकं मैवं पटादिकं निरूप्य
प्रतिपाद्यस्य जिज्ञासामन्तरेणैव यत्रासंबद्धघटाद्यभिधानं कृतं केनचित् तत्रास्य घटज्ञानं भव-
त्वित्याकारकेच्छाजनकीभूतं वक्तृघटादिज्ञानं तद्विषयघटत्वादावतिप्रसङ्गः । घटविषयकज्ञानस्यापि
घटादिबुबोधयिषाद्वारा पटाद्यभिधानानन्तरं पटाद्यभिधानप्रयोजकत्वादतो जनकान्तरमप्युपादेयम् ।

न चैवमपि पटघटादिनिरूपणोत्तरं घटसंबन्धेन दण्डादिस्मरणे को दण्ड इत्यादिजिज्ञा-
सया दण्डादिनिरूपणं तत्र तादृशजिज्ञासाजनकज्ञानविषयस्य पटनिरूपितसंगतित्वापत्तिरिति
वाच्यम् । यदभिधानानन्तरमभिधानप्रयोजकजिज्ञासायां तदभिधानप्रयोज्यत्वस्य निवेशनीयत्वादिति
पदकृत्यं गदाधर्याम् । निवेशप्रकारस्तु यदभिधानानन्तरमभिधानप्रयोजनकतदभिधानप्रयोज्य-
जिज्ञासाजनकज्ञानविषयोर्थः संगतिरिति बोध्यः । पटाभिधानानन्तरं दण्डादिनिरूपणामावाह्य पट-
निरूपितसंगतित्वं दण्डादिनिरूपणे अस्य लाघवाय जिज्ञासा निरूपिता ज्ञानमिष्टविषयतावच्छेद-
कत्वविशेषः संगतिर्लोघवात् । भवति च जिज्ञासा तत्स्वरूपैकदेशभूतेच्छा तन्निरूपिता या तद्वि-
तीयदलज्ञाननिष्ठायोग्यता तदवच्छेदकमनुमानं विषयविषया तत्राचानुमाने तदवच्छेदकमनुमानत्व-
मपि परंत्ववच्छेदकत्वविशेषः कार्यत्वमिति लक्षणसमन्वयः । जिज्ञासा चात्र किमनुमानं कार्यभूत-
मित्येव विचारः । तादृशजिज्ञासयैवानुमाननिरूपणादिति स्थितं गदाधर्याम् । गदाधरव्याख्या-
नमनुवदन्ति तत्रेत्यादि । स्मृतस्य पूर्वाभिहितवस्तुसंबन्धेन स्मृतस्योपेक्षानर्हत्वम् । विरोधो
नजर्यः । द्वेष्यज्ञानविषयता चोपेक्षाहत्वम् । एवं च द्वेष्यज्ञानविषयताविरोधि यद्ग्नं तत्,
जिज्ञासाविषयतावच्छेदकरूपमिति यावत् । स्मृतस्येत्यभिधानं जिज्ञासाया आनन्तर्याभिधानप्रयो-
जकत्वलाभाय । उपोद्घातादिपञ्चकमिन्नत्वे सतीति पूरणीयम् । तथाचोपोद्घातादिपञ्चकमिन्नसं-
गतिः प्रसङ्ग इति पर्यवसितार्थः । तेनाधेयत्वाधिकरणत्वघटत्वादीनामपैवान्तर्भावः । उपेक्षान-

भाष्यप्रकाशः ।

इत्यभियुक्तोक्तेः । तत्र स्मृतस्योपेक्षानर्हत्वं प्रसङ्गः । प्रकृतार्थसाधकत्वमुपोद्घातः । उपजीव्योपजीवकभावो हेतुता । सा सापेक्षत्वाद्भयसंग्राहिका । प्रतिबन्धकीभूतजिज्ञासानिवृत्तावश्यवक्तव्यत्वमवसरः । निर्वाहप्रयोजकता निर्वाहकत्वम् । एकजातीयकार्यजनकत्वमेकरश्मिः ।

हैतुं च विभाजकमात्रमतस्तादृशधर्माणां सुमुक्षानर्हत्वादिरूपाणां निरूपणप्रयोजकजिज्ञासाविषयतावच्छेदकत्वविरहेऽपि न क्षतिः । उदाहरणं त्वाधारनिरूपणेन स्मृतसाधेयस्योपेक्षानर्हत्वज्ञानेन किमाधेयमिति जिज्ञासाधेयनिरूपणमिति । प्रकृतार्थेत्यादि । तदुक्तं 'चिन्तां प्रकृतसिद्ध्यर्थमुपोद्घातं विदुर्बुधाः' इति । प्रकृतसिद्ध्यर्थं प्रकृतोपपादकत्वविषयिणी किमस्योपपादकमिति चिन्तामुपोद्घातसंगतित्वनिर्वाहिकां विदुरित्यर्थः । तादृशजिज्ञासाभादायैवोपोद्घातत्वे लक्षणसमन्वयात् । अर्थसाधकत्वं च उपपादकत्वं तच्च निर्वाहकत्वं तच्च क्वचित् तद्व्यक्ततया क्वचित्तदघटकतयेति । तत्राद्यं विशिष्टपरामर्शत्वस्यानुमितिजनकतावच्छेदकत्वं परामर्शयमानलिङ्गलिङ्गपरामर्शान्यतरन्यापारकज्ञानकरणकं ज्ञानमनुमितिरित्यनुमितिलक्षणघटकतयानुमितिलक्षणोपपादकम् । परामर्शज्ञानेन विना परामर्शघटितलक्षणा निर्वाहादिति परामर्शव्यवस्थापने उपोद्घातः संगतिः । द्वितीयं तु सामान्यप्रत्यासत्तेरनुमितिपूर्वं नियमतो विशिष्टपरामर्शनिर्वाहकतया विशिष्टपरामर्शत्वावच्छिन्ना यानुमितिकारणता तन्निर्वाहकत्वादेव परामर्शघटितानुमितिलक्षणोपपादकत्वं न त्वनुमितिलक्षणघटकतयेति द्विविधमुपपादकत्वम् । उपजीव्येत्यादि इयं विवेचिता । ननु कार्यत्वं षोढात्वं व्याहृतिष्यतीत्याकाङ्क्षायां हेतुतापदमजहत्स्वार्थवृत्त्या कार्यत्वकारणत्वोभयसाधारणेन केनचिद्रूपेण तदुभयपरमिति नाधिक्यमित्यनुवदन्ति सा सापेक्षेत्यादि । प्रतिबन्धकीत्यादि । अत्र किमिदानीं वक्तव्यमिति जिज्ञासाजनकज्ञानविषयत्वमादाय लक्षणसमन्वयः । यद्यपि तादृशजिज्ञासाविषयतायां जिज्ञासानिवृत्तिघटितं नावच्छेदकमिति तेन रूपेण संगतित्वं नास्ति अपि तु निवृत्त्युपलक्षिततत्कालवक्तव्यरूपेणैव तथापि न क्षतिः । यादृशस्य संगतित्वं तादृशस्यैव विभाजकत्वमित्यनियमात् । जिज्ञासानिवृत्तेर्विभाजकधर्माघटकत्वे बाधकाभावादिति । इयं च प्रत्यक्षोत्तरोपमाने संगतिः । अत्र प्रतिबन्धकीभूतानुमान जिज्ञासा किमनुमानमिति तस्या अनुमाने उपमानोपेक्षया प्राथमिकजिज्ञासाविषयत्वप्रयोजकबहुवादिसंमतत्वकथनेन नानुमाननिरूपणाद्विषयसिद्धान्वित्तौ सत्यामुपमानमवश्यं वक्तव्यमिति जिज्ञासाया किमिदानीं वक्तव्यमिति जिज्ञासाया बोधमाननिरूपणात् । निर्वाहेत्यादि । उदाहरणं तु व्याप्तिपक्षधर्मतयोर्ज्ञानस्यानुमितिजनकत्वेन तादृशव्याप्तिनिरूपणानन्तरं किमनुमितिनिराहप्रयोजकमिति जिज्ञासाया पक्षधर्मतानिरूपणमिति । पक्षधर्मताज्ञानं कारणमिति पक्षधर्मता निर्वाहप्रयोजिका । एकजातीयेत्यादि । उदाहरणं तु अनुमानस्येश्वरसिद्ध्यपवर्गयोः संगतिरत्रैकजातीयं येन केनापि धर्मेणेश्वरसिद्ध्यपवर्गोऽर्थं कार्यं तज्जनकत्वमनुमान इति । सामान्यत एकजातीयानेककार्यजनकत्वज्ञाने ईश्वरसिद्ध्यनन्तरं किमन्यकार्यजनकत्वमिति जिज्ञासायापवर्गरूपकार्यनिरूपणात् सामान्यलक्षणसमन्वयः । भवानन्दभट्टस्तु नैयायिकेनेश्वरसिद्ध्यनन्तरं शक्तिं निरस्य परमप्रयोजनं त्वनुमानस्यापवर्ग इत्यनेनेश्वरसिद्ध्यपवर्गयोरनुमानजन्यत्वलक्षणैककार्यत्वसंगतिः सूचिता । एकस्य कारणकार्यतायाः तदर्थ-

१. विशिष्टे बाधितो विधिर्विशेषणमुपउक्तमिति सिद्धी न इतिवत् । एवं नोपमाननिष्ठवक्तव्यत्वे संगतित्वम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

कार्यत्वम् । इदं च संगत्यभिधानमात्रोपयोगित्वात् स्वरूपकथनमात्रम् । लक्षणं तु प्रसङ्गाद्यन्यतमत्वमेव । तेन पूर्वस्येष्टसाधनत्वाधाराधेयभावादावव्याप्तावपि न दोष इति नैयायिका रश्मिः ।

त्वादित्युक्तम् । इदानीं भवानन्दोक्तमनुवदन्ति इदं चेत्यादि । विभाजकं चेत्यर्थः । सामान्यलक्षणं चेति वार्थः । लक्षणफलमनुवदन्ति तेन पूर्वस्येत्यादि । इष्टसाधनत्वेति इदं त्विह वक्तव्यं इष्टसाधनत्वस्य कार्यकारणभावात्मकत्वं कैश्चित्कीकृतं तन्मतं भवानन्धादावनूदितं तत्रान्यासिः । नैयायिकैस्तत्र संगतित्वानङ्गीकारात् । नैयायिका इति अस्य 'कृत्यादिदसूत्रान्ताद् ठक्' इति ठकि नैयायिका इत्येव । अतः परं पूर्वोक्तं संगतिसामान्यलक्षणमुपजीवकत्वे न संभवति किं प्रत्यक्षोपजीवकमिति जिज्ञासायानुमाननिरूपणाभावात् । अपि तु किमनुमानमिति जिज्ञासयैव निरूपणं तस्य । इयं च जिज्ञासानिरूपयितुः अनुमाननिरूपणात्पूर्वं संभवात् । या तु प्रत्यक्षग्रन्थानन्तरं मया कस्मादुक्तमिदमिति पूर्वोक्ता जिज्ञासा सानुमाननिरूपणानन्तरं निरूपयितुर्विचारसामयिकी । नचात्र किं मानमिति वाच्यम् । अनुमानत्वरूपलक्ष्यतावच्छेदकविशिष्टे लक्षणप्रतिपादकस्य तत्करणमनुमानमित्युत्तरस्य संगतेरेव मानत्वात् । अन्यथा पूर्वोक्तजिज्ञासास्वीकारे तु यद्धर्मप्रकारकयद्विषयिणी जिज्ञासा तद्धर्मावच्छिन्नतदुद्देश्यकं लक्षणादिनिरूपणमिति नियमस्य को घटः कम्बुग्रीवादिमान् घटः इत्यादिषु दर्शनात् उपजीवकमनुमानमित्युत्तरस्य प्रसङ्गात् । ननु पूर्वोक्तां जिज्ञासां स्वीकृत्योपजीवकपदमध्याहृत्योत्तरस्योपजीवकमनुमानं तच्च तत्करणमित्यर्थात् संगतिरिति चेन्न । किं प्रत्यक्षोपजीवकमिति जिज्ञासायाः प्रत्यक्षोपजीवकत्वविशिष्टेऽनुमितिकरणत्वरूपविशेषधर्मबोधकात्करणमित्यादिवाक्यादेव निवृत्तेः । तथा चानन्तराभिधानप्रयोजकजिज्ञासाजनकज्ञानविषयत्वरूपसंगतित्वं प्रकृते नोपजीवकत्वे संभवति । किंतु निरूप्यतावच्छेदकेऽनुमानत्वे इत्यनन्तराभिज्ञानप्रयोजकजिज्ञासाजनकनिरूप्यतावच्छेदकधर्मप्रकारकस्मरणप्रयोजकनिरूप्यनिष्ठसंबन्धः संगतिरित्येव लक्षणं युक्तम् । प्रत्यक्षानुमानपदार्थयोरुपजीव्योपजीवकभावसंबन्धज्ञानादानुमानपदार्थत्वरूपप्रकृतलक्षणलक्ष्यतावच्छेदकप्रकारेणानुमानस्मरणादानुमानपदार्थः क इति विशेषजिज्ञासायानुमितिकरणमनुमानपदार्थ इति निरूपणादुपजीवकत्वे संगतित्वनिर्वाहात् । एवं च पूर्वापरनिरूपणविषययोः संबन्ध एव संगतिः । न तु निरूप्यतावच्छेदक इति । इदं यद्यपि साधीयः संगतमित्यत्र संबन्धमिति व्यवहारात् तथाप्यवश्यवक्तव्यत्वस्य संबन्धत्वविरहादवसरे व्यासतादृशस्य हेतुतासंबन्धाश्रयणात् । किंच यत्र गां पश्यन् साखादिमतीयं शौरिति प्रयुक्ते तत्र संगतेऽप्यनन्तर्याभिधानाभावादव्याप्तिः । किंच शरीरशौरवं शक्यतावच्छेदकशौरवं च । अपिच जिज्ञासाधिकरणसंगतौ लक्षणस्याप्रवेशः । आनन्तर्याभिधानघटितत्वात् । अधिकरणस्य प्राथम्येनानन्तराभिहितत्वात् । अन्यच्च प्रतिपत्तिशौरवं चेति मत्वा

१. विशेषज्ञानस्य कारणत्वादिति भावः । २. यथाज्ञेऽपि संगतेरपि सत्त्वाज्जन्मादिसूत्रस्याजातत्वेनानन्तर्याभिधानप्रयोजकजिज्ञासाभावालक्षणस्याप्रवेशमाहुरपि चेति ।

भाष्यप्रकाशः ।

आहुः । वयं तु, सावधानपुरुषप्रयुज्यमानवाक्यप्रयोजकत्वेन स्मृतस्योपेक्षानर्हत्वमेव संगतिः ।

रश्मिः ।

संगतमित्यत्रोपेक्षानर्हमिति व्यवहारारम्भं वा लक्षणान्तरमाहुः वयं त्वित्यादि । इति रोच-
यामह इति संबन्धः । प्रयुज्यत इति प्रयुज्यमानमुच्चार्यमाणमित्यर्थः । एतादृशवाक्यस्य प्रयो-
जकं परंपरया कारणं यद्धेतुतादिस्तदवच्छेदकत्वेनानुमानवाक्यत्वादिना स्मृतिविषयोनुमानवा-
क्यादिः । अवच्छेदकत्वं तृतीयार्थः । उपेक्षानर्हता च कचिद्धेतुताया कचिदुपोद्घातेनेत्येवं
ज्ञेया । तथा च सावधानाभिन्नपुरुषकर्तृकप्रयोगकर्मीभूतवाक्यनिरूपितप्रयोजकतावच्छेदकरूपेण
कर्तृनिष्ठस्मृतिनिष्ठविषयितानिरूपितविषयताशालिवाक्यपदान्यतरनिष्ठोपेक्षानर्हत्वं संगतिः । अत्रेदं
हृदयम् । सावधानपुरुषप्रयुज्यमानं वाक्यमथातो ब्रह्मजिज्ञासेति तत्प्रयोजकं प्रकृतोपपादकत्वमस्य
जातित्वविरहाद्धर्मत्वेन प्रकृतोपपादकरूपत्वात्तत्तावच्छेदकेन ब्रह्मभक्त्यादिविचारप्रतिज्ञावाक्यत्वेन
स्मृतस्य ब्रह्मभक्त्यादिविचारप्रतिज्ञावाक्यस्योपेक्षानर्हत्वं संगतिः । बुद्धिस्थमेव सर्वोपि प्रयुक्त इति
दृष्टानुयायिनः । तादृशावच्छेदकस्य संगतित्वविरहात् तत्रातिव्याप्तिवारणाय विशेष्यम् । अनु-
भवविषयीभूतघटादिसंबन्धेन स्मृतस्य दण्डादेरुपेक्षानर्हत्वं द्वेष्यज्ञानविषयताविरोधिरूपात्मकमिति
तत्रातिव्याप्तिः तद्वारणाय विशेषणदलम् । दण्डः संगत इत्यव्यवहाराद्वाक्यधर्म एव संगतिः ।
प्रयुक्तवाक्यनाशोत्तरं कालान्तरे तदुपपादकत्वेन स्मृतस्योपेक्षानर्हत्वं संगतिः स्यात् तत्रातिव्याप्ति-
वारणाय प्रयुज्यमाने इति । यदि च तादृशस्थले संगतित्वव्यवहारः प्रामाणिक एव तदा तु
स्पष्टप्रतिपत्तिः प्रयोजनं वाक्येत्यादितृतीयानां त्रूपेक्षानर्हताप्रयोजकस्फूर्त्यै । प्रकृतोपपादक-
त्वावच्छेदकब्रह्मभक्त्यादिविचारप्रतिज्ञावाक्यत्वादिना वाक्यादिस्फुरणे सत्युपेक्षानर्हता वाक्यादेर्यतः ।
पुरुष इति तु वक्तव्यमेव योग्यत्वात् । तत्त्वं च जीवेशत्वं तच्च स्त्रीपुरुषसाधारणं तेन
स्त्रीप्रयुज्यमानवाक्यप्रयोजकत्वेन स्मृतस्योपेक्षानर्हत्वे नाव्याप्तिः । केनचित्प्रतिष्ठायै पुरुषेण
प्रयुज्यमानं वाक्यमानन्तर्यावच्छेदकावच्छेदेन प्रतिपत्स्यमानावच्छेदकमित्याद्यनर्थकं तादृशवा-
क्यप्रयोजकत्वेनासंबन्धोच्चारणे पदप्रतारणाय यदुपेक्षानर्हत्वं तत्रातिव्याप्तिवारणाय सावधानेति ।
स चानवधानपुरुष इति नासंबन्धेऽतिव्याप्तिः । किं च सावधानेत्यनुक्तौ आन्तपुरुषोपि
संश्लेषेतेति सावधानेत्यवश्यं वक्तव्यमेव । तर्हि स्मृतस्येत्यवक्तव्यं, वक्तव्यं तत् । सावधानपुरुष-
प्रयुज्यमानवाक्यप्रयोजकत्वेनाधारत्वेनोपेक्षानर्हत्वस्य कालेपि सत्त्वात् । स्मृतस्येत्युक्ते तु स्मरण-
विषयत्वविरहात् काले नातिव्याप्तिः तादृशप्रयोजकत्वेन स्मृतत्वमेव संगतिरिति तु न । स्मरण-
विषयतायां संगतित्वव्यवहाराभावादतिव्याप्तिप्रसङ्गात् । अथवात्र भगवान् व्यासः सर्वमपि
ब्रह्मभक्तिविचारं स्मृत्वेदं सूत्रं प्रणिनिनायेति । सावधानपुरुषप्रयुज्यमानवाक्यं 'जन्माद्यस्य यतः'
इत्यारभ्य'अनाष्टितिः शब्दात्'इत्यन्तं तत्प्रयोजकत्वेन तदुपपादकत्वेन स्मृतस्य ब्रह्मभक्तिविचारवाक्य-
स्योपेक्षानर्हत्वं संगतिः । पूर्वत्र तु स्मर्यमाणप्रयुज्यमानयोः वाक्ययोः संगतिरत्र तु प्रयुज्यमा-
नयोरेव । एवं स्मर्यमाणयोरपि ज्ञेया । इति बुद्ध्यारोहणेन प्रतिपत्तिर्गौरवमपि नास्ति ।

१. जन्मादिसूत्रस्याजातत्वेपि बुद्धिस्थत्वात्तदाद्यानन्तर्याभिधानप्रयोजकजिज्ञासादिसंबन्धस्य तु 'सिद्धान्तकौमुदीयं
विरचितं' इत्यादौ दृष्टत्वात्तदनुयायिनः ।

भाष्यप्रकाशः ।

हेतुतादयः सर्वे उपेक्षानर्हत्वस्यैव प्रयोजका धर्मास्ते तदुपोद्घाततया संगतित्वेनोच्यन्ते ।

रश्मिः ।

शक्यतावच्छेदकलाघवं स्फुटम् । शरीरलाघवं च । स्मृतस्योपेक्षानर्हत्वं संगतिरित्यन्यस्य
परिष्कारत्वात् । ईश्वरलिखापितं पञ्चम्यन्तम् । यत्र गां पश्यन्नित्याद्युक्तस्यलेपि सावधान-
पुरुषप्रयुज्यमानं सास्त्रादिमती गौरियमिति वाक्यं तत्प्रयोजकत्वेन हेतुत्वेन स्मृतस्य वाक्यस्यो-
पेक्षानर्हत्वं संगतिरिति नाव्याप्तिः । अत्र गां पश्यन्नित्यनुभवस्थले गां पश्यामीत्येवं वाक्यं
स्मृत्वा स्मर्यमाणोच्चार्यमाणयोर्वाक्ययोः संगतिर्ज्ञेया । अत्र यद्यप्युच्चार्यमाणवाक्यं संगतमिति
प्रतीतेः संगतिरत्रापेक्ष्यते तथापि स्मर्यमाणत्वोच्चार्यमाणत्वमात्राहितभेदावच्छिन्नत्वान्न दोषः । अथवा
भारतकरणेभारं ब्रह्मसूत्रप्रणयनेन सावधानपुरुषप्रयुज्यमानं वाक्यं भारतरूपं वर्तमानत्वाविवक्ष-
णात् । तत्प्रयोजकत्वेन भारतार्थवेदार्थनिर्वाहकत्वेन स्मृतस्य ब्रह्मभक्तिविचारस्योपेक्षानर्हत्वं संगतिः ।
एवमन्येन सावधानपुरुषेण प्रयुक्तं यद्वाक्यं घटोयमिति तदुपपादकत्वेनेतरेण स्मृतस्य प्रयुक्तस्य च
नीलोयं घटोतः प्रत्यक्ष इति वाक्यस्योपेक्षानर्हत्वं संगतिः । प्रथमवाक्ये तु तद्वत्कपदानां
वाक्यत्वमाश्रित्य पदधर्मः संगतिवाक्ये चकास्तीति । यद्यपि गदाधरभट्टैः यद्यप्युपोद्घातादि-
पञ्चकभेदमनिवेश्य सर्वा संगतिः प्रसङ्ग एवान्तर्भावयितुं शक्यते तथापि विभाजकस्य स्वतन्त्रेच्छ-
कृततया न पर्यनुयोगावसर इति सामान्यलक्षणं प्रसङ्गलक्षणमित्युक्तं तथापि तद्विशेषणरहितमिति
ततोपि वैलक्षण्यं ज्ञेयम् । न च जिज्ञासानिरूपिताज्ञाननिष्ठविषयतावच्छेदकतावच्छेदकत्वविशेषः
संगतिरस्तु किमनेनेति वाच्यम् । निरूप्यतावच्छेदकस्य संगतित्वविरहात् । अवच्छेदकत्व-
विशेषपदेन यत्रावच्छेदकत्वे संगतित्वव्यवहारस्तन्मात्रविवक्षणेपि जिज्ञासाविरहेण गोदर्शना-
नन्तरं सास्त्रादिमती गौरिति संगतवाक्येऽव्याप्तिः । नापि प्रसङ्गाद्यन्यतमत्वं, निरुक्तलक्षणमनु-
सरतामुपेक्षानर्हतापदेनोपेक्षानर्हतावच्छेदकोपस्थितेरावश्यकत्वात् । अन्यथा निरुक्तसामान्यलक्षणे-
नैकवाक्यतानापत्यास्याव्याप्तिरापद्येत । तथा सति निरूप्यतावच्छेदकस्य संगतित्वविरहेणासंभव
एव दृश्यम् । अवच्छेदकत्वविशेषग्रहणेपि पूर्वोक्तस्थलेऽव्याप्तिः । आनन्तर्यघटितनिरुक्तसामा-
न्यलक्षणमनुसरतां तु प्रसङ्गादिलक्षणाभ्यान्तन्तर्याभिधानप्रयोजकजिज्ञासाजनकज्ञानविषयत्वघटिता-
न्यावश्यकानि । अन्यथा यत्रानन्तर्याभिधानं जातं न भवति तत्रत्यस्यापि स्मृतनिष्ठोपेक्षानर्ह-
त्वादेः प्रसङ्गादिसंगतित्वापत्तेः । संगतिसामान्यलक्षणानाकान्ततया संगतत्वेन प्रतीतेष्वपि संग-
तत्वशून्यत्वाभ्युपगमात् । नन्वेवमपि सर्वत्र हेतुतादिषु संगतित्वव्यवहाराय विशेषलक्षणान्यपि
वक्तव्यानीत्याशङ्कायां तत्र लाक्षणिको व्यवहार इति तानि न वक्तव्यानीत्याहुः हेतुतादय
इति । एतेन तत्र तत्र तत्तद्व्यवहारे नियामकमप्युक्तम् । एवं हि प्रयोजकास्तथाहि सावधान-
पुरुषप्रयुज्यमानवाक्यमाधारनिरूपकं तत्प्रयोजकत्वेनापेक्ष्यत्वेन स्मृतस्यापेक्षानिरूपकवाक्यस्योपेक्षान-
र्हत्वं भवतीति आपेक्ष्यत्वस्य प्रसङ्गान्तर्गतस्योपेक्षानर्हत्वप्रयोजकत्वम् । तथा सावधानपुरुषप्रयु-
ज्यमानवाक्यमनुमितिनिरूपकं तत्प्रयोजकत्वेनानुमितिलक्षणेपपादकत्वेन स्मृतस्य परामर्शस्यो-
पेक्षानर्हत्वं भवतीति उपोद्घातस्य प्रयोजकता । एवं सावधानपुरुषप्रयुज्यमानवाक्यं प्रत्यक्ष-

१. विशेषणनिष्ठो धर्मः । २. भूतले घटवत्कृतमित्यत्र च ।

तत्र लक्षणविचार एव सद्रूपाणां वाचकता निर्णीता । चिद्रूपस्य ज्ञान-
प्रधानस्य निर्णयार्थमीक्ष्यधिकरणमारभ्यते सप्तभिः सूत्रैः । सप्तद्वारत्वाज्ज्ञानस्य ।

भाष्यप्रकाशः ।

तत्रेयानियामकस्यासदृशनेऽनुक्तत्वादन्येषामपि संग्रहो न दृष्ट इति रोचयामहे । तत्र जन्मा-
द्यधिकरणे जगदुत्पत्त्यादिरूपसदात्मककार्यनिरूपणेन सामान्यतः कारणतया विशेषतः कर्तृ-
तया च स्वरूपं निरूपितम् । समन्वयाधिकरणे च सर्वत्र ब्रह्मणः समनुगतत्वादुपादानतया
विशेषतस्तन्निरूपितम् । तत्र यत् सामान्यतः सिद्धं तदनुवदन्ति तत्रेत्यादि । उक्तविधेषु वाक्येषु
पूर्वब्रह्माभ्यां कृते लक्षणविचार एव । सद् रूप्यते यैस्तेषां 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' इत्या-
दिवाक्यगतानां पदानां ब्रह्मवाचकता निर्णीता । कार्यस्य सदात्मकत्वेन तत्कारणभूतं ब्रह्मैव
सच्छब्दैर्वाक्येषुच्यत इति निर्णयः कृत इत्यर्थः । अतः परमग्निमाधिकरणप्रयोजनमाहुः चिद्रू-
पस्येत्यादि । निर्णयप्रयोजनमग्निमग्ने स्फुटीमविष्यति । सप्तद्वारत्वादिति पञ्च चक्षु-

रहिमः ।

निरूपकं तत्प्रयोजकत्वेन कार्यत्वेन स्मृतस्यानुमानवाक्यस्योपेक्षानर्हत्वं भवतीति हेतुताकार्यतयोः
प्रयोजकता । एवं सावधानपुरुषप्रयुज्यमानवाक्यं प्रत्यक्षनिरूपकं तत्प्रयोजकत्वेनावसररूपनिरूप-
णीयतावच्छेदकेनावश्यवक्तव्यत्वेन स्मृतस्योपमानवाक्यस्योपेक्षानर्हत्वं भवतीति अवसरस्य प्रयोज-
कता । एवं तादृशवाक्यं व्याप्तिनिरूपकं तत्प्रयोजकत्वेन तत्कार्यनिर्वाहकत्वेन स्मृतस्य पक्षधर्म-
तानिरूपकवाक्यस्योपेक्षानर्हत्वं भवतीति निर्वाहकस्य प्रयोजकता । एवं तादृशवाक्यमीश्वरनि-
रूपकं तत्प्रयोजकत्वेन तत्सजातीयत्वेन स्मृतस्यापवर्गनिरूपकस्योपेक्षानर्हत्वं भवतीति एककार्य-
त्वस्य प्रयोजकता । अथवा तादृशवाक्यमपवर्गनिरूपकं तत्प्रयोजकत्वेनेश्वरसिद्धिसजातीयकार्यजन-
कत्वेन स्मृतस्यानुमानवाक्यस्योपेक्षानर्हत्वं भवतीति एकजातीयकार्यजनकत्वस्य प्रयोजकता ।
नन्वेवं घटत्वादावपि उपेक्षानर्हताप्रयोजकत्वदर्शनेन कथमिमे षडेव प्रयोजका इत्याकाङ्क्षायां तत्त्वे
इष्टमभ्युपगच्छन्ति तत्रेत्यादि । उपेक्षानर्हत्वप्रयोजकेष्वित्यर्थः । अन्येषामिति उपेक्षानर्हत्व-
प्रयोजकानां घटत्वादीनामित्यर्थः । तस्मादव्याप्त्यतिव्याप्त्यसंभवविरहाच्छोभनमिदं लक्षणमिति
सुधीभिराकलयन्ति । संगतिव्यवहारस्तु तत्रतत्र स्पष्टत्वाय हेतुतादिभिः प्रयोजकधर्मैरेव वक्तव्य
इत्यपि ज्ञेयमित्यलं विस्तरेण । एवं संगतिं निरूप्य भाष्यमवतारयन्ति जन्मादीत्यादि । जग-
दित्यादि जगदुत्पत्त्यादिना रूप्यते व्यवहियते यत्सदात्मकं कार्यं तस्य निरूपणेनेत्यर्थः । यद्यपि मृदो
घट इति समवायित्वेपि पञ्चमी दृष्टा तथापि विकृतत्वापादकत्वेन न तथा वक्तुं शक्येति मत्वाहुः
विशेषतः कर्तृत्वयेति । उपादानतयेति समन्वयपदसामर्थ्यात्तथेत्यर्थः । निर्णयप्रयो-
जनमिति ब्रह्मणः सच्चिदानन्दरूपत्वेन पूर्वाधिकरणाभ्यां सद्रूपे लक्षणसमन्वय उक्तः । चिद्रूपे
लक्षणसमन्वयनिरूपणेनाव्याप्तिपरिहाररूपं तदित्यर्थः । उपलक्षकमेतत् । संगतिरपि निर्वाहक-
त्वरूपा स्फोटिष्यति । सप्तद्वारत्वादिति मनसोधिकरणत्वेन द्वारत्वमिव ब्रह्मणश्चिद्रूपोऽंशो
जीव इति द्वारत्वम् । चक्षुरादिद्वारा मनसा जीवस्य द्रष्टृत्वमिव जीवद्वारा ब्रह्मणो द्रष्टृत्वात् ।
'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' इति श्रुतेः । न च द्रव्यत्वम् । स्वमे चिद्रूपतातुमवात् ।

१ इदं हेतुतया वाक्यम् । २. हेतुता । ३. कृतम् ।

तत्रैवं संदेहः । ब्रह्मणः स्वप्रकाशत्वेन सर्वप्रमाणाविषयत्वाद् 'यतो वाचो निवर्तन्ते'
इति श्रुतेश्च विचारः कर्तुं न शक्यते । स्वप्रकाशत्वविरोधाच्छ्रुतिविरोधाच्च ।

भाष्यप्रकाशः ।

रादीनि मनो जीवश्चेत्येवं सप्तद्वारत्वात् । तथाचान्यत्र गुणवाचका अपि ज्ञानादिशब्दा वेदा-
न्तवाक्यविशेषेषु ब्रह्मवाचका इति बोधनाय सप्तद्वाराणीत्यर्थः । संशयस्याकारमाहुः तत्रैव-
मित्यादि । स्वप्रकाशत्वेनेति । 'तमेव भान्तमनुमाति विद्यम्' इतिश्रुत्या स्वप्रकाशत्वेन ।
स्वप्रकाशत्वविरोधादिति प्रमाणविपर्यये तज्ज्ञानस्य प्रमाणतत्त्वेन स्वप्रकाशत्वाभावेन
तद्विरोधात् । श्रुतिविरोधादिति विचारस्य मनोवाग्विषयत्व एव संभवेनोक्तश्रुतिविरोधात् ।

रहिमः ।

ब्रह्मवाचका इति । 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः' इति बृहदारण्यकात्सस्वरूपाणि
वक्ष्यमाणानि, प्रज्ञां स्मरणात्मकानि कुर्वीत कार्यकारणवस्त्वैक्यमर्षणेन पठतन्तुवत् । ततो
ज्ञानैकब्रह्मवाचका इत्यर्थः । ज्ञानस्येतिभाष्यात् । सप्तसूत्राणीति सूत्रसंख्यातात्पर्योक्तिरियं
पुत्रेष्टिन्यायेन । तथाहि । पुत्रेष्टौ श्रूयते 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् पुत्रे जाते' इत्युपक्रम्य
'यद्दशकपालो भवति गायत्र्यैवैनं ब्रह्मवचसेन पुनाति यन्नव कपालं त्रिवृतेवास्मिन् तेजो दधाति
यद्दशकपालो विराजैवास्मिन्नत्रायं दधाति यदेकादशकपालस्त्रिष्टुभैवास्मिन्त्रिन्द्रियं दधाति यस्मिन्
जाते एतामिष्टिं निर्वपति पूत एव तेजस्यन्नाद इन्द्रियावी पशुमान् भवति' इति । अत्रोत्पन्नशिषो-
र्गायत्र्यादिजनितपूततासिद्धयर्थमग्रादिसंख्याकपालसंस्कृतपुरोडाशा न न्यूनाधिकसंख्याकपाल-
संस्कृतपुरोडाशाः । एवं त्रिवृदादिवाक्येष्वपि तत्संख्याबोधने किं गमकमिति चेत् मैवं गाय-
त्रीपादस्याष्टाक्षरत्वेनाष्टाकपालसंस्कृतपुरोडाशप्रचारे उत्पन्नशिषोर्गायत्र्यैव पावित्र्यं नन्दयितु-
मर्हति नान्यथापि । तथा च श्रुतिः 'गायत्री चतुर्विंशत्यक्षरा त्रिपदा' इति एतदभिप्रायेणै-
वाचार्यैः पुरुषोत्तमसहस्रनामस्तोत्रे 'गायत्री च तथा छन्दो देवता पुरुषोत्तमः' इति द्वाविंशद-
क्षरेषु गायत्रीत्वमुक्तं श्लोकस्य चतुष्पात्त्वात् । किंच गायत्र्याश्चतुर्थोपि पादोस्ति बृहदारण्यके
गायत्र्युपासने 'अष्टावक्षरं वा एकं गायत्र्यै पदम्' इत्यादिना पादत्रयमुक्त्वा 'अथास्या एतदेव
तुरीयं दर्शितं पदम्' इतिश्रुतेः । एतदित्यस्य पादत्रयात्मकमित्यर्थः । तथा च गायत्र्यास्त्रिपादीत्वेनै-
कैकस्य पादस्याष्टाक्षराणि भवन्तीति गायत्रीजन्यपावित्र्यापेक्षायामष्टाकपालसंस्कृतपुरोडाशप्रचारो युक्त
इति । एवमन्यत्रापि । एतच्च स्फुटं 'त्वमेव पूर्वसर्गोऽम्' इत्यस्य सुभोधिनीटिप्पण्याम् ।
अन्यत्र यथा 'आत्मना प्रथमा लीला मनसा तु ततः परा' इत्याद्युक्ते सप्तके । आत्मा जीवः
यशः मनः चक्षुः लीलाः क्रियाः, ज्ञानं पञ्चरात्रात् ऐश्वर्यं वाक् भागवतरसनं 'स्वाहु स्वाहु
पदे पदे' इति भागवतात् धर्मो, प्राणः त्वक् वैराग्यं, प्राणवैराग्ययोर्भगवत्त्वात्, इन्द्रियं
प्राणः श्रीः । अत्र चक्षुर्मेनो वा वक्तव्यमिन्द्रियमुत्पत्त्यात्तयापीन्द्रियश्रीः शृङ्गारं विना न भव-
तीति पृथ्वीः श्रीतन्मात्रा, गन्धस्तु ग्राहकप्राणः शरीरं श्रोत्रं वीर्यं नभस्त्वात्, रूपं समष्टिः ।
अष्टरूपाणि कृतकृत्वीकुर्वन्तीति । अत्राष्टाकपालत्वादयो गुणाः कर्मान्तर्विधायकाः, उत वैश्वानर-
स्तावका वेति संशये कर्मान्तरविधायका इति पूर्वपक्षे शते पञ्चाशदिति न्यायेन द्वादशकपालेष्व-
ष्टादीनां संभवात्स्तावका एवेति प्रथमस्य तृतीयपादे 'पूर्ववन्तोऽविधानार्थास्तत्सामर्थ्ये समाह्वये'

आहोस्विद् विरोधपरिहारेण शक्यत इति । किं तावत् प्राप्तम् । न शक्यत इति । कुतः ।

ज्ञापनार्थं प्रमाणानि सन्निकर्षादिमार्गतः ।

सर्वथाऽविषयेऽवाच्येऽव्यवहार्ये कुतः प्रमा ॥

ऐहिकामुष्मिकव्यवहारयोग्ये हि पुरुषप्रवृत्तिः । प्रवृत्त्यर्थं हि प्रमाणानि । ब्रह्म पुनः सर्वव्यवहारातीतमिति । नन्वेतदपि वेदादेवावगम्यत इति चेत् तर्हि

भाष्यप्रकाशः ।

विधिकोटिस्तु स्फुटैव । पूर्वपक्षयुक्तिं गृह्णन्ति ज्ञापनार्थमित्यादि । सन्निकर्षादिमार्गत इति । आदिपदेन सहकारीणि । मार्ग उपायः । सर्वथाऽविषय इति स्वप्रकाशत्वेन मनो-निवृत्तिश्रुत्या च सर्वप्रमाणाविषये । अवाच्य इति वाङ्निवृत्तिश्रुत्या सत्यज्ञानादिपदैरपि लक्ष्यत्वाद्वाच्ये । अव्यवहार्यत्वं विभजन्ते ऐहिकेत्यादि । व्यवहारो नाम मनोमात्रे-न्द्रियप्राणजन्यपुरुषप्रवृत्तिरूपो व्यापारः । सर्वव्यवहारातीतमिति लौकिकवैदिकन्यापा-रानर्हम् । एतदिति अविषयत्वादिकम् । वेदादिति । 'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विष्णो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्' । 'अन्यदेव तद्विदितादयो अविदितादधि' इत्यादिरूपात् । अयमर्थः । प्रमाणैर्हि द्रव्यगुणक्रियादिरूपाः पदार्था लौकिकालौकिकस-न्निकर्षेण यथाहं प्रमीयन्ते । ब्रह्म त्वस्थूलादिवाक्यैरतद्रूपत्वादसंगत्वेनासन्निकृष्टत्वाच्च सर्व-

रदिमः ।

इत्यधिकरणे पूर्वतत्रसिद्धान्तः । न च संख्यायाः पुरोडाशविशेषणतया श्रावणेन पुरोडाशेष्टक-पालत्वादिरूपतद्भेदं वा पर्यवसानान्नेदं संगच्छत इति वाच्यम् । अप वै सोमेनेजानोहेवताश्च यज्ञश्च कामन्याप्रेयं पञ्चकपालमुदवसनीयं निर्वपेत्, अग्निः सर्वां देवताः, पाङ्क्तो यज्ञो देव-ताश्चैव यज्ञं चावरुन्धे गायत्रो वाग्निर्गायत्रच्छन्दस्तं छन्दसा व्यवर्धयति यत्पञ्चकपालं करोति । अष्टकपालः कार्योष्टाक्षरा गायत्री गायत्रो वा अग्निः गायत्रच्छन्दः स्वेनैवैतं छन्दसा समर्ध-यति पङ्क्तं याज्यानुवाक्ये भवतः पङ्क्तो यज्ञः तेनैव यज्ञानैतीत्युदवसानीयविधायकश्रुतेस्तथानि-श्रयात् । तत्र हि अष्टकपालपुरोडाशविधाने तस्मिन् पञ्चकपालत्वस्य सत्त्वेपि तदनादृत्य याज्यानुवाक्ययोः पञ्चसंख्याकत्वविधानेन पञ्चसंख्याकयज्ञादनपगमविधानतस्तथानिश्चयो ज्ञेयः । अतः संख्यायाः सतात्पर्यकत्वमपेक्षितस्थले निश्चयम् । अनपेक्षितायाः निस्तात्पर्यकत्वमित्तिदिक् । ब्रह्मवाचका इति उक्तरीत्या व्यष्टा समष्टा च । तमेवेति क्वाचित्कोयं पाठः । पुस्तकान्तरे मुण्डके श्रेताश्वतरे च 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्' इति पाठः । उक्तश्रुतीति भाष्योक्त-श्रुतिविरोधात् । विधिकोटिरिति विरोधपरिहारेण शक्यते इति विचारः कर्तव्य इति विधिकोटिः । लोके लेटोऽदर्शनात् । लटो विध्यर्थत्वाभावात् । यद्वा छन्दोवत्सूत्राणि व्याख्यानं चेति शक्यते इति लेट् । भक्ष्यत्वादिति सत्यज्ञानानन्तजगज्जन्मादिकर्तृपदानां वाङ्निवृत्ति-श्रुत्या शक्यार्थे वाचे सत्यपदं सत्यत्वमनभिदधच्छक्यार्थमभेदेनासत्यत्वाभावरूपलक्ष्यार्थं वक्ती-त्यभेदसंबन्धो लक्षणः । एवं लक्षणद्वये ज्ञानादिपदानामभेदसंबन्धो लक्षणेति ज्ञेयम् । मन इत्यादि 'व्यवहारः संनिपातो मनोमात्रेन्द्रियासुभिः' इत्येकादशस्कन्धात् । द्रव्य-

बाधितार्थप्रतिपादकत्वाच्च वेदान्ता विचारयितव्या इति प्राप्ते उच्यते ।

ईक्षतेर्नाशब्दम् ॥ ४ ॥ (१।१।४)

न विद्यते शब्दो यत्रेशब्दं सर्ववेदान्ताद्यप्रतिपाद्यं ब्रह्म न भवति । कुतः । ईक्षतेः । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' इत्युपक्रम्य 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इति । 'तत्तेजोऽसृजत' । तथाऽन्यत्र । 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् । नान्यत् किंचन भिषत्' । 'स ऐक्षत लोकानुसृजा' इति ।

भाष्यप्रकाशः ।

प्रमाणाविषयम् । अतद्रूपत्वादेव च नामाख्यातनिपातोपसर्गरूपचतुर्विधपदजाताप्रतिपाद्यतया अवाच्यम् । अवाच्यत्वादेव वैदिकव्यवहारादप्यतीतम् । तदेतत्सर्वमग्निप्रेत्य, 'यतो वाचः' इत्यादयस्ततो वागादीनां निवृत्तिं तस्य विदिताविदितान्यत्वं च श्रावयन्तीत्यवस्तदविचार्यम् । तस्याविचार्यत्वादेव तत्प्रमितिफला वेदान्ता अप्यविचार्याः । अथ ब्रह्मण एवंप्रमाणापि वेदा-देवावगम्यत इति तस्याप्रमेयत्वज्ञानायैव विचार्या वेदान्ता इति विभाव्यते, तदा तु स्वख्या-पारेण तत्समर्पयन्तस्तस्य तथात्वं बोधयन्तीति, मम भावा वन्ध्येतिवाक्यवद् बाधितार्थप्रतिपाद-कत्वादेवाविचार्या इति । एवं पूर्वपक्षयुक्त्वा सिद्धान्तं वक्तुं सूत्रं पठन्ति ।

ईक्षतेर्नाशब्दम् ॥ ४ ॥ व्याकुर्वन्ति नेत्यादि । ननु ब्रह्मणो वेदान्ताद्यात्मकशब्दप्रतिपाद्य-त्वे ईक्षतिधातुनिर्देशस्य कथं हेतुत्वमित्याकाङ्क्षायां विषयवाक्यान्पुदाहरन्ति सदेवेत्यादि । अत्र प्रथमं वाक्यं छान्दोग्यस्यम् । द्वितीयमाश्वलायनानामैतरेयोपनिषत्स्यम् । तृतीयं श्रमो-पनिषदः षष्ठप्रश्नस्यम् । भिषदिति व्यापारं कुर्वत् । आदिपदेनादिशुष्टिविषयकेक्षणधटितानां, 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् स्वयंभवेकमेव तदैक्षत महद्द्वै यक्षं तदेकमेवासि हन्ताहं मदेव मन्मात्रं द्वितीयं तदेव निर्मम' इत्यादीनां संग्रहः । तथाच, न केवल ईक्षतिर्ब्रह्मणो वेदान्त-शब्दप्रतिपाद्यत्वे हेतुभूतः, किं तु वाक्यगतः । तेन च स्वार्थप्रत्यायने वाक्येषु ब्रह्मकर्तृका ईक्षा प्रतीयते । ईक्षा च पर्यालोचनम्, एवं करिष्यामीत्यव्यवसायः । सोऽत्रैतादृश रदिमः ।

शुणेति आदिशब्देन विशेषसमवायाभावाः पूर्वपक्षग्रन्थत्वात् । अतद्रूपत्वादिति अद्रव्या-दिरूपत्वादित्यर्थः । तर्हीत्यादि भाष्यं विवरीतुमाहुः अथ ब्रह्मण इति । विवृण्वन्ति स तदा स्थिति । स्वख्यापारेणेत्यादि 'यतो वाचो निवर्तन्ते' 'न तत्र चक्षुर्गच्छति' इत्यादि-वेदान्तः स्वीयवागप्राप्यचक्षुरप्राप्यमनोऽप्राप्यरूपार्थिकपदानामभिधारूपव्यापारेण प्रमेयत्वं समर्थ-यत्नेव ब्रह्मणोप्रमेयत्वं बोधयतीति तथेत्यर्थः । अथवा यथा अत्रैपनिषदेषुपदाभ्यामभिधावृत्त्या ब्रह्मप्रमापकान्यामेवाप्रमेयत्वं बोध्यते । इत्यभ्युपगमवादवदस्थूलादिपदानामभिधारूपव्यापारेण प्रमेयत्वं समर्थयन् वेदान्तो ब्रह्मणस्तैरेव पदैरप्रमेयत्वं तात्पर्येण बोधयतीति तथेत्यर्थः ।

ईक्षतेर्नाशब्दम् ॥ ४ ॥ अथ वेदः अशब्दं न विद्यते शब्दः बोधकव्यापारवाग्-पदसमूहो यत्रेशब्दं सर्ववेदान्ताद्यप्रतिपाद्यं न भवति ब्रह्मकर्तृकेक्षाप्रत्ययादिति सूत्रार्थः । यथा 'तदैक्षत' इत्यादिवाक्यं शब्दार्थयोर्नित्यसंबन्धादयोपि ब्रह्मपक्षः । सोऽत्रैति ईक्षाकर्ताबो-

भाष्यप्रकारः ।

इति कार्यबलादुभययते । अत एतादृशेषावोषकेनेक्षतिना यत्र यत्रैवं पूर्वमन्यवहार्यत्वेऽपि पश्चाद् व्यवहार्यत्वेन प्रतिपाद्यत्वाभावस्तत्र तत्रैवमीक्षणकर्तृत्वेन प्रतिपाद्यत्वाभाव इति

रश्मिः ।

क्षजस्तच्छन्दार्थः । न चाधोक्षजोपि शब्द इति तस्याप्यविषय इति वाच्यं ईक्षतेः । तथा चेदमित्यतयाधोक्षजशब्दविषयो भवत्येव । अथवा विरुद्धधर्मश्रयत्वात् विषयोविषयो बान्यथा 'न कोपि मम' इति छान्दोग्यीयसच्छन्दाविषयत्वे ब्रह्माज्ञानमेव भवेदिति महानेवान्यायः स्यात् । न च 'मनसैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम्' इति श्रुत्या शब्देत्प्रमनसा ब्रह्मज्ञानं भवतीति शब्दाविषयत्वेऽप्यक्षतिरिति वाच्यम् । भक्तिरूपमनोनुद्रष्टव्यत्वेन प्रमाणप्रस्तावे तद्विचाराप्रसक्तेः । भक्तिरस्य मजनमिति श्रुतिः भक्तिरूपमनसा द्रष्टव्यत्वं वक्ति ततश्च प्रकृतेः प्रमाण-बलेनाविषयः स्वेच्छया विषयश्च । एतादृश इति लोकदृष्टिद्वारा व्यवहार्यो भविष्यामीति भाष्योक्ताकारक इति विचक्षणस्य ब्रह्मणोस्तिमातिप्रियत्वेनात्र व्यवहाररूपकार्यबलादुभययते तर्क्यत इत्यर्थः । तथा च श्रुतौ ऐक्षतेत्यस्य बहुत्वज्ञानेक्षो जात इत्यर्थः । बहु स्यां प्रजाये-येतीच्छाकारावेदकश्रुतिप्रामाण्यात् । ईक्ष दर्शन इति धातुः, अत्र त्वीक्षापर्यालोचनमित्युक्तं तद्दर्शनार्थमादायेत्यविरोधः । यत्र यत्रैवमिति ब्रह्मरूपार्थः पक्षस्तत्र । एवमिति । वेदान्तशब्दैः प्रतिपाद्यत्वाभाव इति प्रतिपाद्यत्वसंबन्धेनाशब्दत्वाभावः । एवमिति भाष्योक्तरीत्या वाक्यगतैक्षणकर्तृत्वेनेत्यर्थः । प्रतिपाद्यत्वाभाव इति प्रतिपाद्यत्व-संबन्धेन ब्रह्मव्याप्यीभावः । व्याप्तिरिति यदि च यथा तेजः इति दृष्टान्तेनान्वयव्याप्ति-रपीति विभाव्यते तदा तदाक्यगतेक्षणकर्तृत्वेन प्रतिपाद्यत्वसंबन्धेन ब्रह्मव्याप्यं हेतुर्बोध्यः । ब्रह्मपक्षः ज्ञानप्रधानः । 'ततेज ऐक्षत' इति छान्दोग्यमत्रानुसंधेयम् । प्रकृते पूर्वमन्यवहार्य-त्वेपि पश्चात्प्रतिपाद्यत्वसंबन्धेन व्यवहार्यत्वमशब्दत्वरूपं व्यापकं साध्यम् । एवमीक्षणकर्तृत्वेन रूपेण प्रतिपाद्यत्वसंबन्धेन ब्रह्मव्याप्यं हेतुः । अतः साध्यत्वेपि व्याप्यत्वात् पूर्वं वचनं व्यतिरेकव्याप्तित्वाद्वा । सा च 'नियतधर्मसाहित्ये उभयोरैकतरस्य वा व्याप्तिः' इति सांख्य-प्रवचनसूत्रादन्वयविचारविशिष्टा हेतुनिष्ठा साध्याधिकरणवृत्तिता । सूत्रार्थस्तुभयोः समव्याप्तिकयोः कृतकत्वानित्यत्वादिरूपयोः एकतरस्य विषयव्याप्तिकस्य धूमादेः नियतधर्मसाहित्येऽन्यमिचरितधर्म-रूपे सामानाधिकरण्ये व्याप्तिः व्याप्तिशब्दः शिष्टैः प्रयुज्यत इति । अव्यभिचारस्तु यत्र यत्र हेतुस्तत्र तत्र साध्यं यत्र साध्याभावस्तत्र हेत्वभावः इति नियमः । सिषाधयिषायां सत्यां साधकत्वेनोपादीयमानत्वं हेतुत्वं, सिषाधयिषाविषयत्वं साध्यत्वं, धनगर्जितेन मेघानुमाने सिषा-धयिषास्त्वेव विनापि तं तथानुमानमानुमाविकमिति चेदस्तु तर्हि सिषाधयिषाविषयत्व-योग्यत्वात्साध्यत्वम् । एवं च वह्निमान् धूमादित्यादौ धूमनिष्ठं तादृशाव्यभिचारविशिष्टं वह्नि-सामानाधिकरण्यमस्तीति लक्षणसमन्वयः । धूमवान् वह्नेरित्यादावतिव्याप्तिवारणाय विशेष-क्षणदलम् । अयःपिण्डादौ वह्नेः साध्यव्यभिचारान्नातिव्याप्तिः । हेतुसाध्यपदे तु व्याप्त्यस्वरूपभूते यद्यपि तथापि सामानाधिकरण्यस्य संबन्धिकतया संबन्धिबोधनायोपात्ते विशेषाकाङ्क्षानिवृत्त्या

रश्मिः ।

विशेषणस्वरूपपरिनिष्ठायै विशेष्यम् । अव्यभिचारितं हेतोः साध्यमित्यलक्षणम् । व्याप्तेर्हेतुधर्म-त्वात् । कथंचिद्गुणभूतत्वेन व्यवहियमाण आधेयोऽर्थो हेतुः । न चैवमव्याप्तिः । पर्वतीयष्ये महानसीयवह्निसामानाधिकरण्याभावादिति वाच्यम् । हेतुसाध्ययोर्हेतुतावच्छिन्नसाध्यतावच्छिन्नत्वार्था विशेषणीयत्वात् । न च धूमावयवेषु धूमसत्त्वाद्ब्रह्मसात्त्वादन्वयव्यभिचारः । समवा-यसंबन्धेन बहुव्यभाववति महानसादौ धूमसत्त्वाद्ब्रह्मसात्त्वादन्वयव्यभिचारश्च शक्यः । हेतुतावच्छे-दकसाध्यतावच्छेदकसंबन्धावच्छिन्नत्वान्भ्यामपि तयोर्विशेषणीयत्वात् । नाप्येतत्क्षणीये धूमे पूर्व-क्षणवृत्तित्वविशिष्टवह्निसामानाधिकरण्याभावादव्याप्तिरिति वाच्यम् । तत्र वैशिष्ट्यानवच्छिन्नत्वस्यापि विशेषणीयत्वात् । वस्तुतस्तु सिषाधयिषोदयानन्तरं हेतुसाध्यभावेन ततः पूर्वं तदभावात्तस्य बह्वेसाध्यत्वेन तदसामानाधिकरण्येऽप्यदोषात् । सिषाधयिषोत्तरक्षणतात्मकक्षणतापूर्वक्षणत्वविवक्ष-याऽव्याप्त्युद्भावनं तु काकदन्तविचारमनुहरति । आप्राकृतमापण्डितं च पूर्वोक्तरीतिकव्याप्तिज्ञान-मत्रेणानुमितदर्शनस्य सार्वजनीनत्वात् । एतादृशदर्शनेनैव वह्निषटोभयावच्छिन्नप्रतियोगिताकवह्नि-भाववति केवलवह्निदेशे धूमदर्शनेन व्यतिरेकव्यभिचारसात्त्विसिद्धानुमाने व्याप्तिशब्दापि निरस्ता वेदितव्या । व्याप्त्यवृत्तिधर्मावच्छिन्नाभावस्थले साध्यदर्शनेन सविशेषणे हीति न्यायादभाव-स्योभयत्व एव विश्रान्तेश्च । ज्ञेयं वाच्यत्वादित्यादौ केवलान्वयि साध्यके हेतुनिष्ठा साध्यसामाना-धिकरणताऽन्यमिचरितेति ध्येयम् । एवं सत्तावान् जातेरित्यत्रापि ज्ञेयम् । एवं च साध्यव-दन्यावृत्तित्वं साध्यात्यन्ताभाववदवृत्तित्वं च नातिदुष्टम् । ब्रह्मणि ज्ञेयत्वाद्यभावेन सर्वत्रापि केनचिद्रूपेण ज्ञेयत्वाद्यभावेन प्रमेयत्वे प्रमेयत्वस्य वाच्यत्वे वाच्यत्वस्यानवस्थात्माश्रययोः यथासं-भवं मियाऽभावेन च केवलान्वयिसाध्यकानुमानस्यैवाभावात् । मीमांसकानामपीदमिष्टम् । न चाव्याप्यवृत्तिसाध्यके कपिसंयोगी एतद्ब्रह्मत्वादित्यादौ साध्यात्यन्ताभाववदवृत्तित्वस्याव्याप्तत्वं शक्यम् । दृष्टे कपिसंयोगे सिद्धसाधनत्वेनादृष्टे चाहेतुत्वेन तस्य दुरनुमानत्वात् । न च दृष्टेपि कपिसंयोगे सिषाधयिषयानुमितिसंभवात्तादृशस्थले सिद्धसाधनस्य दोषत्वात् । सदनुमा-नमेवेदं यथाहुः प्रत्यक्षेण परिकल्पितमप्यर्थमनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिका इतीति शक्यम् । एतद्ब्रह्मत्वस्यैकव्यक्तिमात्रवृत्तित्वेनान्यत्र सहचारग्रहस्य व्याप्त्यानुग्राहकत्वाभावेन मूलावच्छेदेन व्यभिचारज्ञानाद्ब्रह्मिप्रतिबन्धात् । न चैवं संयोगे द्रव्यत्वादित्यादावपि सहचारग्रहाभावाद्ब्रह्मिप्र-तिबन्धो भवेदिति शक्यं पक्षैकदेशे सहचारग्रहसत्त्वेनादोषात् । अस्तु व्यतिरेकव्याप्तिग्रहः परं तु सिषाधयिषा तु न भवत्येव । इच्छाया ज्ञानानुरूपकार्यत्वात् । अत एव ज्ञाते इच्छानुदयात् । तथाचानुमितप्रकारकमपि संयोगज्ञानात्पूर्वमभावात्कथमनुमित्ता । न च कपिसंयोगज्ञानमात्र-भिच्छेदये प्रयोजकं न तु विचारणावच्छिन्नं तस्य च पूर्वं सत्त्वादनमित्योदव इति वाच्यम् । अयं पट इति ज्ञानादनमित्योदवप्रसङ्गात् । अतो यत्र पूर्वमनुमिति विषयत्वस्य यद्देतुकत्वस्य च ज्ञानं तत्र सिद्धौ सत्यां सिषाधयिषा तथा चानुमानं नात्र तयेति । महानसादिवह्निधनुमितौ तथादर्शनादिति ध्येयम् । परं तु सत्तावान् जातेरित्यत्र साध्यवदन्यस्मिन् सामान्यादौ जात्य-भावादव्याप्त्यभावेपि हेतुतावच्छेदकसंबन्धेन समवायेन वृत्तेरप्रसिद्धत्वादव्याप्तिरिति नातिदुष्टं लक्षणद्वयम् । एवं च कपिसंयोगी एतद्ब्रह्मत्वादित्यत्राव्याप्तिपरिहाराय यच्चिन्तामणौ प्रति-

‘स इमाँल्लोकानसृजत’ इति । ‘स ईक्षाञ्चक्रे’ । ‘स प्राणमसृजत’ इत्येवमादिषु सृष्टिवाक्येषु ब्रह्मण ईक्षा प्रतीयते ।

किमतो यद्येवम् । एवमेतत् स्यात् । सर्वव्यवहारप्रमाणातीतोऽपि ईक्षाञ्चक्रे लोकसृष्टिद्वारा व्यवहार्यो भविष्यामीति । अतो यथा यथा कृतवाँस्तथा तथा

भाष्यप्रकाशः ।

व्याप्तिर्बोध्यत इतीक्षतेहेतुत्वमित्यर्थः । एवं सर्वत्र हेतुशोधनप्रकारो बोध्यः । ननु प्रतीयता-
मीक्षा, तावता पूर्वोक्तविरोधस्य कथं परिहार इति पृच्छति किमतो यद्येवमिति । समा-
दधते एवमित्यादि । तथाच ब्रह्मणः पूर्वोक्तरूपत्वस्येक्षायाश्च श्रुतिसिद्धत्वाच्चैतत्त्वेनैकतरवा-
धस्याप्यनुचितत्वाद् विरुद्धधर्माधारत्वस्य ब्रह्मणि भूषणत्वात् तस्यापि ‘अन्यदेव तद्विदितादयो
अविदितात्’, ‘तदेजति तन्नैजति’ इत्यादिश्रुतिसिद्धत्वाद्भिन्ननिमित्तोपादानवादद्युपगच्छता तस्या-
प्यङ्गीकाराच्चैवमीक्षाकारसिद्धौ सुखेन सिद्ध्यति विरोधपरिहारे ब्रह्मणो विचार्यत्वस्यापि सिद्धि-
रश्मिः ।

योगिव्यधिकरणस्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिना सामानाधिकरण्यं व्याप्तिरिति प्रतियोगिव्य-
धिकरणो यः साध्यसमानाधिकरणात्यन्ताभाव इति प्रतियोगिव्यधिकरणत्वेनाभावो विशेषितस्त-
दपि मुधैव । तस्य दुरनुमानत्वात् । यदपि मञ्जरीकारः हेतुसमानाधिकरणा यावन्तस्ते साध्य-
समानाधिकरणास्तत्त्वं व्याप्तिरिति । तदपि न रुचिरम् । यावत्त्वस्यानेकपदार्थघटितत्वेनापेक्षाउ-
द्धिविशेषविषयत्वरूपावत्वाङ्गीकारेपि अपेक्षाबुद्धेरयमयमेते सर्वे इत्याकारकत्वेन तत्पदा-
र्थविषयकतयानेकपदार्थघटितत्वानपायेन प्रतिपत्तिगौरवप्राप्तात् । यावत्त्वस्य व्यापकत्वरूपत्वेपि
व्यापकत्वस्य तद्विनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वरूपतया भावद्वयनिवेशेनोक्ततुल्यकक्षत्वादित्यलं पल-
वितेन । यद्यप्यत्र न विशेषस्तथापि सिद्धान्तादतलक्षणबोधायैदम् । आत्मशब्दादित्यादिहेतु-
ष्वतिदिशन्ति एवं सर्वत्रेत्यादि । अनुमानं तु ब्रह्म पूर्वं सर्वव्यवहारप्रमाणाघटीतमपि पश्चात्त-
द्विषयः । एवमीक्षितृत्वात् यन्नैवं तन्नैवं जीववदिति व्यतिरेकी हेतुः । न च केवलान्वयि-
त्वमस्य । जीवस्यैवंप्रकारेण श्रुत्याद्यनुक्तत्वेन दृष्टान्ताभावाद् व्यतिरेकी हेतुरित्यत उक्तं
शोधनप्रकार इति । पूर्वोक्तविरोधस्येति पश्चाद्भवहार्यत्वे स्वीकृते पूर्वपक्षोक्तान्वयवहार्यत्व-
विरोधस्येत्यर्थः । विरुद्धधर्मेति सर्वव्यवहारप्रमाणातीतोपि ईक्षाञ्चक्रे लोकसृष्टिद्वारा व्यव-
हार्यो भविष्यामीति भाष्योक्तस्य तस्य । भाष्यार्थस्तु व्यवहाराश्च प्रमाणानि च व्यवहार-
प्रमाणानि सर्वाणि च तानि व्यवहारप्रमाणानि सर्वव्यवहारप्रमाणानि तेभ्योतीतः अतिक्रम्य
गतः ‘यद्वाचानम्युदितं येन वागम्युद्यते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि’ इत्यादि केनोपनिषदा वागादीन्द्रि-
याविषयः स सर्वप्रमाणातीतः । व्यवहार इन्द्रियादिकार्यं तदतीतः । तत्रैकत्रैक्षतेहेतुः ।
गौणश्रेयादिसूत्रैः साधितः । स्वतन्त्रहेतूनां स्वाप्ययादीनां सर्वव्यवहारातीतत्वं साध्यं बोध्यम् ।
उपगच्छतेति सिद्धान्तिनेत्यर्थः । सिद्ध्यतीति ससम्यन्तमिदम् । अतो यथेत्यादिभाष्यं विवृ-

स्वयमेवोक्तवान् । पूर्वरूपं फलरूपं च सृष्ट्वांशोरुपायत्वाय । ततश्च प्रमाणबले-
नाविषयः, स्वेच्छया विषयश्चेत्युक्तम् ।

ननु सर्वप्रमाणविषयत्वे दृषिते केवलवेदविषयत्वं कथं सिद्धान्तीक्रियते ।
उच्यते । चक्षुरादीनां प्रामाण्यमन्यमुखनिरीक्षकत्वेन, न स्वतः । प्रमानुत्पत्ति-

भाष्यप्रकाशः ।

स्तादृशमङ्गलकृतिबोधकत्वेन वेदान्तानामप्यवाधितार्थत्वात् तेषामपि विचार्यत्वसिद्धिरित्यर्थः । एवं
करणकथनयोः प्रयोजनमाहुः पूर्वमित्यादि । स्वांशा जीवास्तदुपयोगिपुरुषार्थत्वं तेजःप्रभृतीनां
भवत्वितीच्छया पूर्वं प्रथमतो रूपं प्रजादिशब्दवाच्यं शरीरं फलरूपं लोकादिकं च सृष्टम् ।
तथाचैतेषां पुरुषार्थत्वेन जीवाशास्त्वार्थैवं कृत्वा तत्कर्तव्यताया फलदातृत्वा च स्वस्य
व्यवहार्यत्वं च कृतवानिति तत्संपादनं प्रयोजनमित्यर्थः । तेन सिद्धमाहुः तत इत्यादि ।

अत्र प्रत्यवतिष्ठते नन्वित्यादि । केवलवेदविषयत्वं कथमिति सर्वप्रमाणानां तुल्य-
त्वेनाविशेषात् केवलवेदवेद्यत्वं ब्रह्मणः कयोपपत्त्येत्यर्थः । अत्र समाधातुस्युपपत्तिमाहुः उच्यत
इत्यादि । न हि प्रमाणानां प्रामाण्यं तुल्यम् । तथा सति शुक्तिरजतादिविषयकभाष्यादिप्रभो
न स्यात् । हेतुषु चाभासता न स्यात् । शब्देषु च वाक्यप्रामाण्याप्रामाण्यविभागो न स्यात् ।
अतश्चक्षुरादिमनोऽन्तानां तदुपजीविनां च प्रामाण्यं न स्वतः, किंतु परमुखनिरीक्षकत्वेना-
रश्मिः ।

ष्वन्ति स्म एवं करणेत्यादि । एवं सृष्टिकरणं वेदान्तेषु व्यासाद् भागवतात्तत्कथनं
च तयोरित्यर्थः । तेजःप्रभृतीनामिति बृहदारण्यके दृशालाकिशाक्षणे ‘स होवाच गार्ग्यः य
एवासावादित्ये पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपासे’ इत्यादि । यद्वा । छान्दोग्ये ‘तत्तेज ऐक्षत’ ‘तदाप
ऐक्षन्त’ इति च पुरुषार्थत्वम् । तत्संपादनेति करणकथनसंपादनप्रयोजनमित्यर्थः । वेदान्तेषु
ब्रह्मकृत्यबोधने पूर्वोक्तरूपेण व्यवहार्यत्वं कृतं न स्यात् । लोकानां शाखादेव ब्रह्मज्ञानं भवतीति भावः ।
तत इत्यादीति यथा गोवर्धननाथजित् । आभासता न स्यादिति व्याप्तिज्ञानरूपप्रमाणकजन्य-
हेत्वाभासता धूमवान् बह्वेरित्यत्र न स्यात् । उपमानस्यामानान्तरत्वादनुक्तिः । सादृश्यातिदेशवा-
क्यार्थस्मरणसहकारेण चक्षुरादिनैव संज्ञासंज्ञिपरिच्छेदोपपत्तौ सादृश्यज्ञानादेर्मानान्तरत्वकल्पनस्याशु-
क्तत्वात् । अन्यथा घटाभाववति घटोपलब्धावपि इन्द्रियसंबन्धविशेषणतायाः सत्त्वेन घटाभावप्रतीतिः
स्यात्तद्वारणायामावग्रहे हेतुतया स्वीक्रियमाणाय योग्यसहकारिसंज्ञानुपलब्धेरुपयोग्यानुपलब्धेरपि
मानान्तरत्वप्रसक्तेः । न चैवं सति परोक्षत्वं व्याहन्येतोपमितेरिति वाच्यम् । इष्टपत्तेः । न च
चक्षुष्यां पारपगमेपि जायमानत्वात्तैवमिति वाच्यम् । पूर्वं जातस्य ज्ञानस्य करणव्यापारोपरमेप्यनुपग-
सानुभवसाक्षिकस्य सत्त्वात्पुनर्जनकल्पनस्याशुक्तत्वात् । उपेक्षान्यज्ञानस्य त्रिषण्णावस्थायित्वकल्पन-
स्याभ्युपगमैकस्मरणत्वात् । मानसं वा तदस्तु । अतिदेशवाक्यालक्षणत्वेन पूर्वं ज्ञातस्य ततः पदार्थ-
स्फुरणेन स्फुरितस्य सादृश्यस्य संस्कारेण शब्दाभिव्यक्तौ दृष्टसंवादनश्रितप्रामाण्यस्य च वाक्यस्य
च सहकारेण मनसाप्ययं गवयपदवाच्य इति संज्ञासंज्ञिपरिच्छेदस्य प्रसिद्धपदसमभिव्याहृतवाक्य-
स्मरणसहकृतमनसा मधुकरादिशक्तिग्रहस्येवोपपत्तेः । तदुत्तरमेतत्तदवाच्यत्वेनैवं जानामी-
त्यनुव्यवसायेन मानसत्वनिश्चयाच्चेति । तत्रापि सादृश्यप्रभो ज्ञेयः । चक्षुरादीना-
मिति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म अतश्चेति । तदुपजीविनामिति अनुमानादीनामित्यर्थः ।

प्रसङ्गात् । सत्त्वसहितानामेव चक्षुरादीनां प्रामाण्यात् । अतो निरपेक्षा एव भगवन्निःश्वासरूपवेदा एव प्रमाणम् । संकेतग्रहस्तु वैदिक एव वेदविद्भिः कृतः ।

भाष्यप्रकाशः ।

न्याधीनम् । यदधीनं स तु सत्त्वगुण एव प्रकाशकत्वात् । तत्सहितानामेव तेषां प्रामाण्यात् । तस्य यदा गुणान्तरणोपपत्तिसदानुग्राहकाभावेन तेषां नैवेत्यादप्रामाण्यमेव । सत्त्वशुद्धिस्तु वेदोदितयथावस्थितसाधनैरेवेति तेषां सर्वेषां सुदूर्वर्तिनोऽपि वेदस्यैव स्वसार्थकत्वार्थमपेक्षा । वेदस्य तु न कथमपि तदपेक्षा । जैमिनीयादिनये तस्यापौरुषेयत्वात् । कणादादिनये चेश्वरजन्यत्वात् । अतोऽन्यनिरपेक्षा वेदान्तनये भगवन्निःश्वासरूपत्वेनैव सिद्धा आस्तिकमात्रमत्रे अविप्रतिपन्ना वेदा एव प्रमाणम् । अतः सर्वप्रमाणाविषयत्वेऽपि सर्वनिरपेक्षत्वाद्भगवन्निःश्वासरूपत्वात् सर्वास्तिकोपजीव्यत्वाच्च वेदैकविषयत्वं सिद्धान्तीक्रियते । तथा चैषा युक्तिरित्यर्थः । नन्वेवंरूपत्वेऽपि वेदस्य न सर्वनिरपेक्षत्वं शब्दत्वात् । शब्दस्य बोधकतायाः पदपदार्थसंबन्धग्रहाधीनत्वात् तद्ग्रहस्य च प्रयोजकप्रयोज्यव्यवहाराधीनत्वाद्, वस्तुतस्तु ब्रह्मणोऽन्यव्यवहाराद्येन तत्र संबन्धग्रहस्य दौर्घ्याद् बोधकताया अभावेन वेदविषयत्वसाधनमन्यव्यवहारेवेत्याशङ्क्यामाहः संकेतेत्यादि । नैवमबोधकत्वं सापेक्षत्वं वा शङ्कनीयम् ।

रश्मिः ।

एवेति अनुभवसाक्षिकत्वादेवकारः । सत्त्वेत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति यदधीनमिति । तेषामिति चक्षुरादीनामित्यर्थः । वेदोदितेत्यादि । 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः' इत्यभिप्रेतश्रुत्येकदेशप्रामाण्यात्तथेत्यर्थः । अतो निरपेक्षा इति भाष्यं विवृण्वन्ति अतोऽन्येति । अत्र विशेषणसंगतैवकारद्वययोगव्यवच्छेदकं शङ्कः पाण्डुर एवेति । तथा च भगवन्निःश्वासरूपवेदाः निरपेक्षत्वाद्योग्यवच्छेदवन्तः प्रमाणं भगवन्निःश्वासरूपवेदत्वाद्योग्यवच्छेदवदिति बोधो भाष्ये । पदपदार्थेति वाक्ये तु द्वाकाङ्क्षादिग्रहाधीनापि । प्रयोजकेत्यादि पूर्वतश्चे प्रथमे 'चोदनालक्षणेऽर्थो धर्मः' इत्यधिकरणे प्रयोजकस्य तत्प्रयोज्यस्य च पुरुषस्य यो व्यवहारो गामानयेति वाक्ये गवानयनरूपमध्यमप्रवृत्तिरूपस्तमवलोक्य सर्वैर्गोशब्दस्य साक्षादिमिति पिण्डे संगतिर्गृह्यते इति तदधीनत्वमिति स्थितम् । तत्रेयं प्रनाडी गामानयेति प्रयोजकवृद्धेनोक्तः प्रयोज्यवृद्धस्तदर्थमवगम्य गामानयति तत्परमन् बालस्तया क्रियया तस्य प्रयत्नमनुमिनोति प्रयत्नवान् क्रियायाः यथाहमिति तेनेच्छामिच्छवान् प्रयत्नाद्यथाहमित्यनुमिनोति तदनन्तरं गोविषयकज्ञानवान् तद्विषयकेच्छामा यथाहमितिच्छामा तद्विषयकं ज्ञानमनुमिनोति ततस्तत्र हेत्वाकाङ्क्षायामुपस्थितत्वाच्छब्दमेव कारणत्वेन कल्पयति ततो गवादिपदानां प्रत्येकमावापोद्गापान्यां गोपदं गोधीजनकमित्यादि कल्पयति कृते च तस्मिन्नतिप्रसङ्गभङ्गमिया तन्ननानुकूलं शक्तिरूपं संबन्धं कल्पयति तदुत्तरं च क्वचिच्छब्दव्यवहारात् क्वचिदुपमानात् क्वचिच्छब्दाङ्गाकारणादिरूपाद्भवतीति । संबन्धग्रहस्येति प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावस्य । आशङ्क्यामिति शंकराशङ्क्यामित्यर्थः । इदानीं ब्रह्मलोको व्यापकः सर्वोपरि वरीयति 'अथ यद्विदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेदम दहरोस्मिन्नन्तरं आकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तदा विजिज्ञासितव्यम्' इतिश्रुतेः । अथे च तस्य पुरत्वसंपादनार्थं किं तत्र वर्तते यदन्वेष्टव्यं यदा विजिज्ञासितव्यमिति प्रश्ने 'यानान् वायमाकाशः त्रावानेवोन्तर्दहय आकाशः उभे अस्मिन् द्वावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' इत्या-

भाष्यप्रकाशः ।

वतः सदेवेत्यादिसंबन्धं एव तेजःप्रभृतिसृष्ट्युत्तरमेव भाष्यते । 'तेषां सत्त्वेषां भूतानां त्रीष्वेव बीजानि भवन्त्याण्डजं जीवजमुज्ज्वजम्' इति । 'सैव देवतं कृतं हुताहमिमास्तिजो देवता अनेन बीजेन तन्नामनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इति । नहि तदानीं वैदिक्या इतरा कापि सुखिर्न वा वेदविद्भिः इतरे पुण्याः, न वा भगवतोऽन्यः करिष्यन्ति इति प्रथमतः संकेतग्रहो वैदिक एव रश्मिः ।

दिनाभिर्वायुः सूर्यचन्द्रविद्युन्नक्षत्राण्युत्तवा 'यथासेहास्ति यथा नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितम्' इति श्रान्ते । अनित्यतानिवृत्त्यै च ब्रह्मपुरे जीर्णं ध्वस्तं वा तदाभितं किमपि शिष्यते इति प्रश्ने 'नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यते एतत्सत्त्वं ब्रह्मपुरमस्मिन् क्रमाः समाहिताः एष आत्मा अपहतपाप्मा' इत्यादि श्रान्ते । तेन ब्रह्मपुरस्यैव शरीरं पराश्रयन्तः परास्ताः । ब्रह्म तु विरुद्धसर्वधर्माधिकरणमित्युपपन्नतरमेतत् । उपबृंहितं च द्वितीये—

'तस्यै स्वलोकं भगवान् सभाजितः संदर्शयामास परं न वत्सरम् ।

व्यपेतसङ्क्षेपविमोहसाध्वसं स्वदृष्टवद्विर्विभुषैरभिष्टुतम् ॥

प्रवर्तते यत्र रजस्तमस्तयोः सत्त्वं च मिश्रं न च कालविक्रमः ।

न यत्र माया किमुतापरे हरेरनुव्रता यत्र सुरासुरार्चिताः' ॥ इति ॥

किंच परिदृश्यमान आदित्यलोके नित्यत्वमस्मदाद्यपेक्षया दृष्टम् । शरीराणां तैजसत्वेन उत्कर्षश्चेति नैयायिका अप्यनुमन्यन्ते । ततोऽप्युत्कृष्ट आनन्दात्मा ब्रह्मलोकोऽनुमास्यतेऽतो ब्रह्मपुरं निःसंदिग्धं गर्जति सा वैदिकी सृष्टिरस्याः प्रपञ्चालिकायाः व्यतिरिच्यत एवैतत्सर्वं हृदि कृत्वाहुः यतः सदेवेत्यादि । तेजःप्रभृतीत्यादि 'तत्तेज ऐश्वर्यं बहु स्यां प्रजायेय' इति । 'ता आप ऐश्वर्यं बहुयः स्याम प्रजायेमहि' इति ईक्षाश्रावणात् तेजोपां व्यस्तानां ब्रह्मार्चनतापोधनेनोपलक्षणस्य सदेवेत्यत्र वारणार्थं तेजःप्रभृतिसृष्ट्युत्तरमेव श्रान्त्यत इत्यर्थः । एतद्ब्रह्मप्रयोजनं सदेवेत्यत्रोपलक्षणवारणमुक्तं बीजभेदात्सृष्ट्योर्भेद उक्तः । तदानीमिति ब्रह्मांशसंविज्ञानं आयमानत्वेनोपलभ्यमानेदानींतनसृष्टेः सदात्मकतापत्तिकाले वैदिक्या ब्रह्मलोकरूपायाः इतरा क्वपि सृष्टिर्न वक्तुं शक्येत्यर्थः । संकेतग्रह इति साधुत्वापरपर्याया अनादिवाचकत्वरूपाया अर्धबोधाविर्भावकशक्तेर्ग्रह इत्यर्थः । अन्यत्र ब्रह्मणः संकोचस्य शक्तित्वम् । सा च शक्तिरितिकेति मीमांसकाः । तदेव सिद्धान्तेऽप्यविरुद्धत्वात् । न त्वतिरिक्तशक्तिकल्पने गौरवार्थसापेक्षं शब्दस्वरूपमेव वाचकत्वापर्यायनामकं शक्तिः कारणत्वादिवदिति वैयाकरणोक्तमादरणीयमिति चेन्न । आविर्भावकशक्तिसत्त्वेन तस्या एवार्थबोधार्थं शब्देपि स्वीकारेऽतिरेकसादोषत्वात् । तदाधारत्वस्य च बोधरूपकार्यादेव सिद्धत्वात् । ननु केयमाविर्भाविका शक्तिरिति चेन्न । उपादानस्य कार्यस्य व्यवहारगोचरत्वसंपादिका शक्तिः सेति । आविर्भावस्य व्यवहारयोग्यतात्त्विकत्वात् । न च किमनयेति शङ्काम् । तदाधारत्वस्य कारणलक्षणत्वात् । यद्यु अनन्वयासिद्धनियतपूर्ववर्तित्वं कारणत्वं तत्र । पूर्ववर्तित्वस्य कार्यसापेक्षत्वात् कार्यस्य च निवृत्तपश्चाद्भावित्वात् अन्योन्याश्रयमासात् । अन्यथासिद्धत्वस्यान्यथासिद्धमिन्नत्वेनान्यथासिद्धेऽन्यत्र सृष्टीकारणताकत्वरूपत्वेन तत्राप्यस्यैव कारणलक्षणस्य क्वच्यत्वादात्वाश्रावणेन । नै-

भाष्यप्रकाशः ।

प्रपञ्चे वेदविद्भिर्भगवच्छिष्या वा भगवद्दत्तस्वमनीषया वा भगवदिच्छामात्रेणैव वा कृत इति तथा गृहीतसंबन्धस्य वेदस्य नाबोधकत्वम्, न वा लौकिकसापेक्षत्वमित्यर्थः । एवमेव पुरुषवृत्तेऽपि सहस्रशीर्ष्णो महापुरुषाद्विराजस्तन्मध्यगानां च सृष्ट्यादिकं श्रावयित्वा,

‘वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसस्तु पारे ।

सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते’ ॥

इत्यादि मन्त्रत्रयं पठ्यते । तत्रास्मिन् मन्त्रे हेतुः पूर्वपक्षनिरासे । अस्मिन् प्रपञ्चेनादित्वं परमाणुजन्यत्वगुणजन्यत्वादिशङ्का महति पुरुषे च शबलत्वादिशङ्का न कार्या । तत्र हेतुः, ‘तमसः पारे’ इति । अस्य पदद्वयस्य महापुरुषे सर्वेषु रूपेषु च देहलीदीपन्यायेन संबन्धः । यदास्त इति यत्पदं हेतुबोधकम् । तेनास्मिन् मन्त्रे छान्दोग्यवदेव सर्वं सृष्टिस्वरूपमभिवदितृत्वेन भगवत् एव शिक्षकत्वं च बोधितम् । ततो द्वितीये,

‘घाता पुरस्ताद् यष्टुदाजहार शक्रः प्रविद्वान् प्रदिशश्चतस्रः ।

तमेवंविद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्था अयनाय विद्यते’ ॥

इति मन्त्रे घातः प्रथमं तद्बोद्धृतया तद्भक्तत्वं शक्रस्य दिशां देवतानां श्रोतृत्वं चोक्त्वा उत्तरार्धे केवलस्यैव सर्वकर्तृत्वेन सर्वात्मकत्वेन यद्वेदनं तस्य फलमाह । ततस्तृतीये,

रश्मिः ।

वाच । नापि कारणं कारणमित्यनुगताकारप्रतीतिसंज्ञिकजातिविशेषस्तत् । अभावेऽपि तस्याङ्गीकारेण जातेरेवाशक्यवचनत्वात् । अखण्डोपाधित्वं त्वगतिकगतिः । नापि कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकित्वं तत् । मूलकारण आकाशादौ च व्यभिचारात् । तत्तन्मते तस्य तस्य नित्यविभुत्वेन कालतो देशतश्चाव्यतिरेकात् । नन्वीश्वरेच्छासंकेतः । मैवम् । शब्दवृत्तित्वाभावात् । संबन्धान्तरस्याप्रयोजकत्वात् । अतस्त्वदेशकालविभेदेनास्माभिरुच्चार्यमाणोयं शब्द इममेवार्थं बोधयतु न त्वन्यमितीश्वरेच्छाकृतनियमशक्तिसंकोच एव संकेतः । तत्रत्यानामपि न सर्वदा ब्रह्म प्रत्यक्षमिति ध्वनयन्तः पक्षान्तरमाहुः भगवद्दत्तेत्यादि । पूर्वं भगवद्दीक्षयेत्यत्रासवाक्याच्छक्तिग्रह उक्तः । इदानीं विवृतेर्वदन्तीत्युच्यते यत्तदुच्यते भगवद्दत्तमनीषां विना विवृत्यसंभवात् । वक्ष्यमाण-भगवदिच्छामात्रेणेत्यत्र व्याकरणाच्छक्तिग्रहः । ‘अनागतमतीतं च’ इतिवाक्याद्वेदविदां व्याकरणदर्शनेच्छाविषयत्वात् । न च विपरीतं कुतो न स्यादिति वाच्यम् । मात्रप्रत्ययेन भगवद्दत्तमनीषाव्यवच्छेदात् । दत्तमनीषाया इच्छाविषयमनीषातिरिक्तत्वात् । महाराजाधिराजत्वेनोपपत्तेः । ब्रह्मलोकेऽनुत्तममध्यमनिकृष्टव्यवहारोस्तीत्यपि सूचितमनेन । अन्यथा लीलानुपपत्तेः । तदुक्तम्-‘तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये’ इति । पूर्वपक्षेति ‘सहस्रशीर्षा’ इति ग्रन्थस्मारितपूर्वपक्षनिरासे । अस्मिन्निति परिदृश्यमानेपीत्यर्थः । न कार्येति विषेऽपि सृष्टसृष्टत्वादस्य प्रपञ्चस्य तत्सृष्टसृष्टसृष्टत्वाच्च मीमांसकनैयायिकसंस्कृत्यैर्न कार्येत्यर्थः । संबन्ध इति यतस्त्वमसोऽविद्यायाः पारे धीरः सर्वाणि रूपाणि विचित्य नामानि कृत्वाभिवदन्नास्तेऽतस्तमसः पारे महान्तं पुरुषमादित्यवर्णमेतमहं वेदेत्यर्थात्तयेत्यर्थः । प्रकर्षश्चाधिदैविकतेत्याहुः देवतानामिति । प्रविद्वानित्यस्यार्थमाहुः श्रोतृत्वमिति । एवमित्यस्यार्थमाहुः सर्वकर्तृत्वेनेत्यादि । फलमिति अमृत इह भव-

भाष्यप्रकाश-रश्मि-परिवृद्धितम् ।

आकृतिमात्रार्थं लोकापेक्षा । अनधिगतार्थगन्तु च प्रमाणं, लोकानधिगत इत्यर्थः । यज्ञब्रह्मणोरलौकिकत्वं सिद्धमेव । लौकिको व्यवहारः सन्निपात-

भाष्यप्रकाशः ।

‘यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।

ते ह नाकं महिमानः सचन्ते यत्र पूर्वं साध्याः सन्ति देवाः’ ॥

इतिमन्त्रे तादृशे यज्ञे सिद्धानामेव धर्माणां प्राथम्यं तत्फलं चाह । तेनापि पूर्वोक्त एवार्थः सिद्धः । एतदेव श्रीभागवतद्वितीयस्कन्ध उपवृद्धितम् ।

‘यदास्य नाम्यान्त्रलिनादहमासं महात्मनः ।

नाविदं यज्ञसंभारान् पुरुषावयवाद्यते ॥

तेषु यज्ञस्य पशवः सवनस्पतयः कुशा’ इत्यारभ्य,

‘तमेव यज्ञपुरुषं तेनैवायजमीश्वरम्’ ॥

इत्यन्तेन । अतो वेदैकसमाधिगम्यत्वसाधनं नानर्थकमिति । ननु भवत्वेवं तदानीन्तनानां, तावतेदानीन्तनानां कथं संकेतग्रह उपायाभावात् । तथा सतीदानीं तु स दोषस्तदवस्य इत्यत आहुः आकृतीत्यादि । आकृतिमात्रार्थमिति आकृत्यवधारणार्थम् । सिद्धमेवेति तव भवेऽपि सिद्धमेव । तथाच यथा दारवमार्तिकाद्युपकरणे गृहीतसंकेताः सौवर्ण्येऽपि तस्मिंस्तथा आकृत्या संकेत-मवधारयन्ति, तथात्रासवाक्याद् यादृशो लौकिकस्तादृशे वैदिकेऽपि प्रपञ्चे संकेतमवधारयिष्यन्तीतिबोधनार्थम्, ‘यथा सौम्यैकेन सृष्टिपण्डेन’ इत्यादीनां लौकिकदृष्टान्तानां श्रुतावप्यादरणादिति लौकिकानां पुरुषाणामेव परापेक्षत्वं, न वेदस्य । यदि चैवमपि सापेक्षत्वमेवेति विभाष्यते तदा तु धर्मब्रह्मणोरपि बोधने लोकप्रसिद्धपदादिसमभिष्याहारसापेक्षत्वादानपेक्षतायै तिलाञ्जलिरेव प्रदीयताम् । तथानधिगतार्थगन्तृत्वस्यापि । प्रसिद्धपदसमभिष्याहारशून्यतायामबोधकताया एवाप्येवैर्भेदेऽपि न बुद्ध्येतैव । तथा निषेधावधिभूतब्रह्मस्वरूपमपि लोकप्रसिद्धमर्थमेव निषिद्ध्य बोध्यत रश्मिः ।

तीत्यमृतत्वं फलमित्यर्थः । तानीत्यस्य यज्ञेन पुरुषावयवेन यजनं यत्त्वरामर्शकत्वात्तदर्थमाहुः सिद्धानामेवेति । तत्फलमिति महिमानो भगवद्भिर्मृतिरूपाः नाकं स्वर्गं सचन्ते ‘एव समवाये’ संबन्धन्तीति धर्मफलमित्यर्थः । पूर्वोक्त इति वैदिक्येव सृष्टिवेदविद एव पुरुषा भगवानेव शिक्षक इति वैदिकसृष्टौ वेदशब्दानां संकेतग्रह इत्युक्त इत्यर्थः । ‘यज्ञेन यज्ञमयजन्त’ इत्यंशुपपद्यन्ति एतदेवेत्यादि । स दोष इति संकेताग्रहरूपदोष इत्यर्थः । आकृतीति ‘मात्रं कार्त्स्न्येऽवधारणे’ इति कोशात् । तव मत इति पूर्वोक्तलक्षणाङ्गीकर्तुर्मीमांसकशांकरादेर्भेदेति । आसवाक्यादिति तेन पूर्वोक्ता प्रनाडी संगृहीतेति बोधितम् । प्रस्थानरत्नाकरे तु प्रगल्भाति-पालानुपादाय प्रत्यक्षविरोधो दत्त इत्यदोषः । आदरणादिति एतेनैवकारणे बहुश्रुत्युपपन्न-त्वालौकिकसिद्धत्वव्यवच्छेदकः । परापेक्षत्वमिति लौकिकपदेष्वकाङ्क्षादिरूपपरापेक्षत्वमित्यर्थः । वेदे पुरुषामावादाहुः वेदस्येति । एवमपीति आकृतिमात्रार्थं लोकापेक्षायामपीत्यर्थः । निषेधावधीति निषेधश्चासवावधिरिति कर्मधारयः तद्भूतेत्यर्थः । निषेधशेषमृतब्रह्मस्वरूपमि-

१. वैदिक्येव सृष्टिः वेदविदेन पुरुषः भगवानेव शिक्षकः इति वैदिकसृष्टौ वेदशब्दानां संकेतग्रह इति.

रूपत्वात् पुरुषार्थासाधक एव । तर्हि शब्दमात्रस्य कथं ग्रहणम् । वेदव्याख्या-
तृवाग्धियत्वाविति ब्रूमः ।

भाष्यप्रकाशः ।

इत्यस्ति तद्बोधनेऽपि लोकापेक्षेति । तदभावे तदपि न बुद्ध्येत । अथ तत्र प्रसिद्धान्यपि पदादीनि
वैदिकान्येवेति न दोष इति चेत् तर्ह्यत्रापि व्यवहारं वैदिकमेवानुसंधत्स्व । इदानीं विष्णुमानेऽपि
तस्मिन् भगवता,

‘मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोक्षते क्षइम् ।

एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्ताय मां भिदाम् ।

मायामात्रमनुधान्ते प्रतिपिञ्च्य प्रसीदति’ ॥

इति श्रीमागवते कथनात् । अतो धर्मब्रह्मबोधन इव वैदिकप्रपञ्चबोधने आकृतिमात्रार्थं
लोकापेक्षायामपि न दोष इत्यर्थः । तदेतदुक्तं, सिद्धमेवेत्यन्तेनेति । नन्वेवं सति लौकिकव्यव-
हारस्याप्यादरे को दोष इत्यत आहुः लौकिक इत्यादि । एकादशस्कन्धे,

‘सन्निपातस्त्वहमिति ममेत्युद्धव या मतिः ।

व्यवहारः सन्निपातो मनोमात्रेन्द्रियासुभिः’ ॥

इति भगवता प्राकृतगुणान् प्रकृत्य मनआदिव्यवहारस्य सन्निपातत्वकथनाल्लौकिकव्यव-
हारस्य सन्निपातकार्यत्वेनाऽप्रामाणिकत्वात् पुरुषार्थासाधक इत्यतो नाद्रियत इत्यर्थः । एवं
ब्रह्मणो वैदिकव्यवहारविषयत्वमसहमानश्रोदयति तर्हीत्यादि । यदि सूत्रकृत एवं ब्रह्मणो
वैदिकव्यवहारविषयत्वमभिप्रेतं स्यात् तर्हि शब्दमात्रस्य नाशब्दमित्यनेन कथं ग्रहणं कुर्यात् ।
नावेदं, नावेदान्तमित्येवं वदेत् । अतो नायं सूत्रार्थ इत्यर्थः । अत्र समादधते वेदेत्यादि ।
‘अस्य महतो भूतस्य निःशसितमेतद् यद्वेदे यजुर्वेदः सामवेदोथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणे विद्या
उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःशसितानि’ इति
मैत्रेयीब्राह्मणे श्रावणाद् वेदव्याख्यातृवाचापि तथात्वेन ब्रह्मणस्तद्विषयत्वमपि सूत्रकृतोऽभिप्रेत-
मित्यतः शब्दशब्दग्रहणमिति ब्रूमः । तथा चैवमभिप्रेतत्वादयमेव सूत्रार्थो, नान्यः । सांख्यनिरा-
रश्मिः ।

त्यर्थः । तदभावे इति लोकाभावे । तदपि निषेधावधिब्रह्मस्वरूपमपीत्यर्थः । दोष इति
सापेक्षत्वलक्षणः । तत्रेति वेद इत्यर्थः । सिद्धमेवेत्यन्तेनेति । भाष्ये । अनधिगतोति
अनधिगतो योर्धो यागब्रह्मात्मकः तस्य गन्तुत्वप्रतिपादकत्वेन प्रापकत्वं प्रमाकरणत्वं तु मोक्त-
मनधिगतार्थप्रमाकरणत्वेन संशयविपर्यासकरणत्वाभावापत्त्या संशयविपर्यासप्रतिपादकत्वेऽप्राप्ता-
प्यप्रसङ्गात् । अधिगतार्थगन्तुत्वं वेदभागोपि पुनर्दर्शने भवति तद्वारणायाहुः लोकानधि-
गत इति । यागब्रह्मणोः पुनः पुनर्ज्ञानेपि वेदाधिगतत्वेपि लोकानधिगतत्वाव्याप्तिरित्यर्थः ।
इदं लक्षणं दृष्यत्वेन जयराण्यामपि शिरोमणिटीकायामाहृतम् । दूषणं तु लोकानधीति
भाष्याभासोक्तम् । परिहारस्तु भाष्यम् । प्रकृते । अप्रामाणिकत्वादिति द्वैतापादकत्वेन
द्रव्याद्वैतप्रमाऽनकत्वात्तथा । तथात्वेनेति ब्रह्मप्रतिपादकत्वेनेत्यर्थः । नान्य इति अशब्दशब्दोऽत्र
प्रकृतिवचन इति शंकराचार्यप्रभृतयः । सोऽन्यः सूत्रार्थः । स नैत्यर्थः । एवकारव्यवच्छेदोऽप्य-
यमर्थः । अन्यैः सांख्यमत्र निरस्तमित्युक्तम् । तस्मानतिप्रसोजकत्वे हेतुमाहुः सांख्येत्यादि ।

एतेन ‘मनसैवानुद्गृह्यम्’ इत्यपि समर्थितम् । तस्मात् सूत्र्यादिप्रति-
पादका अपि वेदान्ताः साक्षाद् ब्रह्मप्रतिपादका इति सिद्धम् ॥ ४ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

करणस्याग्रे आनुमानिकाधिकरणे करिष्यमाणत्वेनात्र तत्प्रयोजनाभावात् । अतो गृह्यविष्टचौर-
तुल्यस्य मिथ्यावादिन एव निराकरणायैदं सूत्रमित्यर्थः । नन्वेवं सति सूत्रत्वव्याख्यानत्वादीनां
सूत्रान्तरादिष्वपि सत्त्वाद् तस्याख्यानादिकमपि कुतो न संगृह्यत इति चेद्, उच्यते ।

‘किं विधत्ते किमाचष्टे किमनुद्य विकल्पयेत् ।

इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद्देह कथनम्’ ॥

इत्येकादशस्कन्धे ‘वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्’ इति गीतायां च भगवद्वाक्याद् यथा-
वस्थितवेदार्थवेत्ता भगवानेव । स तु, मां विधत्त इत्यादि, ‘वेदेषु सर्वैरहमेव वेद्यः’ इति च
वक्ति । तथा,

‘वदन्ति कृष्ण श्रेयांसि बहूनि ब्रह्मवादिनः ।

तेषां विकल्पप्राधान्यमुताहो एकमुत्पत्ता ॥ इत्युद्धवप्रश्ने,

‘कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता ।

मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः ॥

तेन प्रोक्ता च पुत्राय मनवे पूर्वजाय सा ।

ततो भृग्वादयोऽगृहन् सप्त ब्रह्ममहर्षयः ॥

तेभ्यः पितृभ्यस्तत्पुत्रा देवदानवगुह्यकाः ।

मनुष्याः सिद्धगन्धर्वाः सविद्याधरचारणाः ॥

किंदेवाः किन्नरा नागा रक्षःकिंपुरुषादयः ।

बह्व्यस्तेषां प्रकृतयो रजःसत्त्वतमोभुवः ॥

याभिर्भूतानि मिथन्ते भूतानां मतयस्तथा ।

यथाप्रकृति सर्वेषां चिन्ना वाचः स्रवन्ति हि ॥

एवं प्रकृतिवैचित्र्याद्भिद्यन्ते मतयो नृणाम् ।

पारंपर्येण केषांचित् पापण्डमतयोऽपरे ॥

मन्मायामोहितधियः पुरुषाः पुरुषर्षभ ।

श्रेयो वदन्त्यनैकान्त्याद् यथाकर्म यथारुचि’ ॥ इत्याद्याह,

अप्रागृह्यमित्यस्य किंपुरुषादय इत्यन्तं पृथक्संबन्धः । बहूनीनां प्रकृतीनां चित्रवाहनिर्गम-
हेतुत्वम् । शेषं तु स्फुटमेव । तेन भगवदुक्तिविरुद्धस्य वेदव्याख्यानत्वप्रतीतावपि तस्य व्या-
ख्यानत्वाभाव एव सिद्ध इति तत्र संगृह्यत इत्यवधेहि । एवं शब्दशब्दोक्तिं साधयित्वा तेन सिद्ध-
माहुः एतेनेत्यादि । एवं वैदिकशब्दप्रतिपाद्यत्वसमर्थनेन मनसैवानुद्गृह्यमिति श्रुतिसिद्धं कामवि-
रश्मिः ।

अथ इति चतुर्थपाद इत्यर्थः । चित्रवागिति वाचश्च वेदव्याख्यानरूपा ज्ञेयाः । एतेनेति
अर्थ उक्तः । कामपदं क्रोधोपलक्षकम् । वेदव्याख्यातृवाग्विषयत्वेन तत्साध्यस्वारस्येन ।

स्यादेतत् । कर्तृत्वमकर्तृत्वं च वेदे प्रतीयते ब्रह्मणः । 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते', 'स आत्मानं स्वयमकुरुत', 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्', 'असृष्टो ह्ययं पुरुषः' इत्येवमादिवाक्येषु । तत्र द्वेषा निर्णयः संभवति । सर्वभवनसमर्थत्वाद्विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वेन, अन्यतरबाधाद्वा । अलौकिकापेक्षया लौकिकस्य जघन्यत्वात् कर्तृत्वादेर्लोकसिद्धत्वात् कर्तृत्वबाध एव युक्तः । ईक्षत्यादिकं तु प्रकृतिगुणसंबन्धावपि ब्रह्मणो युज्यते । तस्मादलौकिकसर्वभवनसमर्थत्वादिकल्पनापेक्षया लौकिक एवान्यतरबाधो युक्तः । ततश्च सत्यस्वरूपादन्यदेवैतदिति स्वयमेवाशङ्क्य परिहरति सूत्रकारः ।

भाष्यप्रकाशः ।

वर्जितातिशुद्धमनसानुद्रष्टव्यमिति समर्थितम् । अपिशब्दात्, 'कश्चिद्दीरः प्रत्यगात्मानमैश्वर्यं इत्यादीनामपि संग्रहः । एवं व्यवस्थया विरोधपरिहारेण ब्रह्मणः सर्वप्रमाणाविषयत्वतद्विषयत्वयोः समर्थनेन यत् सिद्धं तन्निरगमयन्ति तस्मादित्यादि । एवं ब्रह्मणोऽलौकिकप्रमाणगम्यत्वाद्देदान्तां ब्रह्मप्रतिपादकत्वेन विचारणीयत्वं सिद्धमित्यर्थः ॥ ४ ॥

अतः परं, गौणश्लेषात्मशब्दादिति द्वितीयं ध्वन्यवतारयन्ति स्यादेतदित्यादि । कर्तृत्वमकर्तृत्वं चेति चकारादुपादानत्वमनुपादानत्वं च । अत्र पूर्वश्रुतौ हेतुत्वमात्रं प्रतीयते । तत्प्रकारान्तरेणापि संभवतीत्यतो द्वितीयश्रुत्युपन्यासः । तत्र कर्तृत्वं स्फुटमिति तद्विरुद्धं निष्क्रियत्वं शान्तत्वं च । तृतीयश्रुतौ तथैवोपादानत्वविरुद्धं निष्कलत्वं निरवद्यत्वं च । चतुर्थ्यामसङ्ग इत्यनेनासक्तेः संसर्गस्य च निषेधः क्रियां विकारित्वं च विरुणद्धि । युक्त इति उत्पत्ति-शिष्टोत्पत्तिश्रित्यायेनोपजीव्योपजीवकभावेन च बुद्धावारोहायुक्तः । एतदिति शबलं स्वरूपम् । रश्मिः ।

समर्थितमिति न यत्र मनो निविशत इतिवाक्येन मनोऽविषये मनसैवेति बृहदारण्यक-विरुद्धमतो विमतं ब्रह्म वेदो व्याख्यातुमनोविषयं वेदव्याख्यातुवाग्विषयत्वात् । असदादिवा-ग्विषयवत् । तथा च श्रुतिः 'यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति' इति । एवं समर्थितमित्यर्थः । भक्तेर्दुर्लभत्वादप्रकरणत्वाच्च । भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्र फलभोगनैराशयेनामुष्मिन्मनःकल्प-नमेतदेव च नैष्कर्म्यम्' इतिश्रुतेर्विषयः । अत एवाहुः अपीति । अत्र धीरत्वेन प्रत्यगात्म-दर्शनत्वे कार्यकारणभावः सोपि भक्तिमार्गविषयः । विवेकधर्याश्रयग्रन्थस्य भक्तिमार्गीयत्वात् । आदिशब्देन 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' इतिश्रुतिः मैत्रेयीब्राह्मणस्यत्वाद्भक्तिमार्गीय-त्वम् । एवं 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यत्र सर्वात्मभावप्रकरणीयत्वात् । तस्मादुक्तश्रुतिरेतरेति ज्ञेयम् । व्यवस्थेति प्रमाणश्लेनाविषयः स्वेच्छया विषयः । ब्रह्मप्रतीति स्वरूपलक्षणवर्जिर्वा-हकसंगत्या साक्षाद्ब्रह्मप्रतिपादकत्वेनेत्यर्थः । तेन चिद्रे लक्षणाध्यासिः परिहृता । तेनैव प्रकृति-परमाणादावतिव्याप्तिरपि निवारिता ॥ ४ ॥

अवतारयन्तीति प्रसङ्गसंगत्यावतारयन्तीत्यर्थः । प्रकारान्तरेणेति निमित्तत्वमात्रेणे-त्यर्थः । उत्पत्तिशिष्टेत्यादि द्वितीयस्य द्वितीयपादे 'गुणश्चापूर्वसंयोगे वाक्ययोः समत्वात्' इति सूत्रे वैश्वदेव्यामिक्षेति यागं विधायाग्रायते वाजिन्यो वाजिनमिति । तत्रोत्पत्तावामिक्षारूपद्रव्य-युक्तं कर्मावधारितमिति न तत्र वाजिनरूपद्रव्यान्तरसंबन्धापेक्षेति वाजिनं तत्र प्रवेशमलभ-मानं सत् कर्म भिनत्ति इति स्थितम् । तेन न्यायेनेत्यर्थः । उपजीव्येत्यादि एतच्च—

'उपजीव्यत्वतः श्रौतवाक्यैश्चान्यपरत्वतः । अन्तरङ्गत्वतश्चापि निर्विशेषं निरूपयते' ॥

इत्यादिपूर्वपक्षग्रन्थे विद्वन्मण्डने स्फुटम् । एतद्वितीति स्यादेतदिति भाष्यान्वय इत्यर्थः ।

गौणश्लेषात्मशब्दात् ॥ ५ ॥

ईक्षत्यादियुक्तः परमात्मा गौणः प्रकृतिगुणसत्त्वसंबन्धवानिति चेन्न तथा वक्तुं न शक्यते । कुतः । आत्मशब्दात् । 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' इत्युपक्रम्य, 'स ऐक्षत' इत्युक्तम् । आत्मशब्दः पुनः सर्वेषु वेदान्तेषु निर्गुणपरब्रह्मवाचकत्वेनैव सिद्धः । तस्यैव जगत्कर्तृत्वं श्रुतिराह । ननु चोक्त-मन्यतरबाधो युक्त इति । न युक्तः । स्वातन्त्र्याभावेन सगुणस्य कर्तृत्वायोगात् । वेदाच्च प्रमाणभूताः । ततः सर्वभवनसामर्थ्यमेव श्रुतिबललभ्यमङ्गीकर्तव्यम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

गौणश्लेषात्मशब्दात् ॥ ५ ॥ अयुक्तत्वे हेतुमाहुः स्वातन्त्र्याभावेनेत्यादि । कारक-मात्रस्य स्वव्यापारं प्रति स्वातन्त्र्ये सत्यपि यत् कर्तृलक्षणतया स्वातन्त्र्यस्य कीर्तनं तत् कारकान्तर-नियामकत्वयैवातो गुणानामुपादानत्वे वा करणत्वे वाऽवश्यं कर्तृनियम्यतैव युक्ता, न तु प्रयोजकता । तथा सति तेषामेव सृष्ट्यादिकार्ये स्वातन्त्र्येण ब्रह्मनियामकतया सगुणस्य स्वातन्त्र्याभावेन कर्तृत्वा-योगादित्यर्थः । ननु गुणानां जडत्वेन चेतनार्थीनत्वाच्च सगुणस्य स्वातन्त्र्यहानिरतो गुणसंबन्धि-न्येव कर्तृत्वं युक्तमित्यत आहुः वेदाश्चेत्यादि । अनपेक्षत्वाद्भगवन्निःश्वासरूपत्वाच्च वेदाः स्वतः प्रमाणभूताः । ते च, 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्', 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' इत्या-दिषु विशेष्यान्वितेनैवकारेणैतरयोगं व्यवच्छिन्दन्तस्तदानीं केवलस्य शुद्धसैवात्मनः कर्तृ-त्वमावेदयन्ति । नच कालवाचकाग्रपदेन तत्सत्ताया अपि बोधनादेवकारो नान्ययोगव्यव-च्छेदक इति शङ्क्यम् । बोधनार्थमेव तथोक्तेः । कथमेतदितिचेदित्यम् । इयं हि श्रुतिः सर्वा-पेक्षया प्राथमिकं वृत्तान्तं वक्ति । तत्रैवकारेण सदितरयावद्व्यवच्छेदे मिश्रविषयप्रमाणान्त-रस्यापि व्यवच्छिन्नत्वात् तस्याप्यभावेनाग्रपदे प्रमाणान्तरसिद्धकालानुवादकतया वक्तुमशक्य-त्वेन, एतस्यैव वाक्यस्य कालसत्तानोधकत्वे चात्मासीत् कालोऽप्यासीदित्येवं वाक्यभेदप्र-सङ्गेन कालसत्ताया अशक्यवचनत्वे केवलस्यात्मनोऽपि निरूपणमशक्यमिति वाक्यस्याबोधकत्वे प्रसक्ते सृष्ट्युत्तरव्यवहारानुसारेण सर्वाधारतया प्रतीयमानो यः कालस्तदुपरङ्गनेन पूर्ववृत्तान्तं वक्तीत्येवं बोधनार्थत्वं जानीहि । अत एव सृष्ट्युत्तरमपि केवलं ब्रह्मेवेति बोधनाय सोऽनु-वीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यदित्येवं श्रुत्यन्तरेऽप्युच्यते । एवं तदानीमितराभावे गुणानां सत्ता तदानीं वक्तुं न शक्यत इति न सगुणः कर्ता । नचोत्पत्तिशिष्टिन्यायस्योपजीव्यन्यायस्य वा रश्मिः ।

गौणश्लेषात्मशब्दात् ॥ ५ ॥ कीर्तनमिति 'स्वतः कर्ता' इति सूत्रे कीर्तनमित्यर्थः ।

गुणानामिति प्राकृतानामित्यर्थः । निःश्वासेत्यादि व्यासादिमिच्छार्थमाणा वेदाः परंपरया निःश्वासा इति वक्तव्यम् । एवकारेणेत्यादि सद्व्ययोगव्यवच्छेदवदिदमिति । एकान्य-योगव्यवच्छेदवानात्मेति च यथायथं बोधात्तथेत्यर्थः । नान्ययोगेत्यादि कित्वयोगव्यवच्छेदक इति भावः । तथा च सत्त्वावच्छिन्न इदंत्वावच्छिन्नायोगव्यवच्छेदवान् तथैकत्वावच्छिन्न आत्मायोगव्यव-च्छेदवानिति च बोधात्कालसत्तायामपि न क्षतिरिति भावः । वाक्यभेदेत्यादि वाक्यभेदस्य दोषत्वं गौरवप्रसङ्गकतया पौरुषेयत्वं वा दूषकतावीजं पुरुषाणां दोषत्वस्य संभावितत्वात् । १० म० सू० २०

किंच । अस्तिभातिप्रियत्वादिधर्मवद्ब्रह्मगतकर्तृत्वं लोके प्रतीयते । कार्यत्वात् । तस्मादात्मशब्दप्रयोगाद् गुणातीतमेव कर्तृ ॥ ५ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

प्रवृत्तिरत्र शङ्कनीया । विरुद्धधर्माधारत्वेन बाध्यबाधकभावाभावात् । ततः श्रुतिबलभ्यं, श्रुति-
लिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यारूपेषु पदसु प्रमाणेषु श्रुतिबलसिद्धं ब्रह्मणः सर्वभवनसामर्थ्यमे-
वाङ्गीकर्तव्यमित्यर्थः ।

ननु भास्त्वेवं कर्तृत्वादिबाधस्तथापि कर्तृत्वस्य लौकिकत्वं नापैतीति तत एव तद्बोधोऽ-
स्त्वित्यत आहुः किंचेत्यादि । प्रियत्वादीत्यादिपदेनापहतपाप्मत्वसंग्रहः । तथाच ब्रह्मधर्मस्य

रश्मिः ।

विरुद्धेत्यादि । साधनाध्यायद्वितीयपादे 'अम्बुवदग्रहणात्' इत्यधिकरणे वक्ष्यमाणेन विरुद्ध-
धर्माधारत्वेन बाध्यबाधकभावाभावेन निर्गुणे धर्मप्रवेशस्य संभवेनोपजीव्यत्वादीनां सगुणप्रति-
पादकास्वपि सत्त्वेन न न्यायप्रसर इत्यर्थः । ततः सर्वेत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति ततः
श्रुतीत्यादि । तत्र 'निरपेक्षो रवः श्रुतिः' 'सामर्थ्यं सर्वभावानां लिङ्गमित्यभिधीयते' इति पदार्थं
लिङ्गं 'समभिव्याहारो वाक्यम्' 'उभयाकाङ्क्षा प्रकरणम्' 'देशसामान्यं स्थानम्' समाख्या यौगिकः
शब्दः तत्र यजेत इत्याद्या विधात्री श्रुतिः । ग्रीष्मादिरूपा अभिधात्री विनियोक्त्री च । स यस्य
शब्दस्य श्रवणमात्रेण संबन्धप्रत्ययः । सा च त्रिधा विभक्तिरूपा, एकाभिधानरूपा, एक-
पदरूपा चेति । 'ग्रीहिर्मियजेत' इत्यत्र विभक्तिरूपया तृतीयया श्रुत्या ग्रीहिणां यागाङ्गत्वम् ।
पशुना यजेत इत्यत्रैकत्वपुंस्त्वयोः समानाभिधानरूपया श्रुत्याङ्गत्वम् । यजेत इत्याख्याताभि-
हितसंख्याया भावनाङ्गत्वम् । समानाभिधानश्रुतेरेव पदश्रुत्या च यागाङ्गत्वं 'बहिर्देवसदनं दामि'
इत्यस्य लवनाङ्गत्वलिङ्गेनायं भवो लवनं प्रकाशयितुं समर्थः । वाक्येन यस्य पर्णमयी जुहूर्भ-
वतीत्यत्र पर्णताया जुहूङ्गत्वम् । साध्यत्वादिवाचकद्वितीयाद्यभावे वस्तुतः शेषशेषिणोः सहोच्चरण-
रूपवाक्यसत्त्वात् । प्रकरणेन प्रयाजादिषु समिधो यजतीति । अत्रेष्टविशेषसादर्शनात्समिधा
योगेन किमित्यस्त्युपकार्याकाङ्क्षा । दर्शपूर्णमासवाक्येपि दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावयेत् कथ-
मित्यस्त्युपकारकाकाङ्क्षा तथा प्रयाजादीनां दर्शपूर्णमासाङ्गत्वम् । स्थानेन यथासंख्यपाठरूपेण
'ऐन्द्राग्नेक्रादशकपालं निर्वपेत् वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्' इत्येवं विहितेषु ऐन्द्राग्नी रोच-
नादिव इत्यादीनां याज्यानुवाक्यामत्राणां यथासंख्यं प्रथमस्य प्रथमं द्वितीयस्य द्वितीयमित्येवं
विनियोगाः संनिधिपाठरूपेण स्थानेन वैकृतानामङ्गानां प्राकृताङ्गाननुवादेन विहितानां विकृ-
त्यर्थत्वम् । तेषां कैमर्थ्याकाङ्क्षायाः फलवद्विकृत्यपूर्वस्य भाष्यत्वेन संबन्धादेव पूरणात् ।
अनुष्ठानसादेश्यरूपेण स्थानेन पशुधर्माणामग्नीषोमीयार्थत्वं समाख्यया वैदिक्या होतृचमस इति
होतृचमसभक्षणान्गत्वं लौकिकयाध्वर्यवसमाख्ययाध्वर्योस्तत्त्वदार्थाङ्गत्वम् । एवेति लिङ्गा-
दिषु प्रत्यक्षस्य विनियोजकस्य शब्दस्याभावात् श्रुतितो निर्बल इत्येवकारः । अत एव गार्हपत्य-
मुपतिष्ठत इत्यत्र लिङ्गादेन्द्र्या इन्द्रोपस्थानार्थत्वं कल्प्यते । तावत्प्रत्यक्षया श्रुत्या गार्हपत्यापस्था-
नार्थत्वं प्राप्यत इति दृश्यते मीमांसायाम् । अपैतीति अप आ एतीति पदच्छेदः तेन
वात्र वृद्धिदोषः न पररूपं, वृद्धनन्तरं तथास्तु । तथाचेति अस्तिभातिप्रियत्वाश्रयत्वेन

नन्वात्मशब्दोऽपि लोकवद् गौणोऽस्तु । लोके हि केनचित् पृष्टो विष्णुमित्र
आह, यज्ञदत्तो ममात्मेति । अत्र गौणत्वमुपचार इत्येवं प्राप्तेऽभिधीयते ।

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥ ६ ॥

एवं हि श्रूयते । 'असद्वा इदमग्र आसीत्, ततो वै सदजायत,' 'तदात्मानं
स्वयमकुरुत्' इत्युपक्रम्य, 'यदा होत्रेष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने-
ऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते, अथ सोऽभयं गतो भवति' इति । प्रापञ्चिकधर्मरहिते
ब्रह्मणि एतस्मिन् पूर्वोक्तजगत्कर्तारि परिनिष्ठितो मुक्तो भवतीत्यर्थः । तत्र
यदि जगत्कर्ता गौणः स्यात् तन्निष्ठस्य संसार एव स्यान्न मोक्षः ॥ ६ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

कर्तृत्वस्य लोके प्रत्ययेन तस्य कार्यासाधारण्याभावात् लौकिकत्वमिति न तत्प्रयुक्तोऽपि बाध
इत्यर्थः । सिद्धमाहुः तस्मादित्यादि । केनापि प्रकारेण बाधस्य वक्तुमशक्यत्वादात्मशब्दश्रुतिरूप-
मुख्यप्रमाणप्रमितत्वाच्च तथेत्यर्थः ॥ ५ ॥

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥ ६ ॥ एवं द्वितीयसूत्रं व्याख्याय, 'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्'
इति तृतीयसूत्रमवतारयन्ति नन्वात्मेत्यादि । लोकवत्पदं विभजन्ते लोके हीत्यादि । तथाच
मास्तु गुणसंबन्धाद् गौणत्वमात्मनस्तथाप्यात्मपदश्रुतेर्मुख्योपचारिकसाधारण्येन संदिग्धत्वान्ना-
नया निर्णय इति पूर्वपक्षाशयः । अत्र सूत्रं पठित्वा समादधते एवं हीत्यादि । असदिति लौकिक-
विलक्षणमग्न्याकृतम् । यदा होवेत्यस्यार्थस्तु, यदा यस्मिन् काले, होव निश्चयेनैव, एष साधक, एत-
स्मिन् पूर्वोक्ते ब्रह्मणि, अदृश्ये नामरूपशून्ये, अनात्म्ये आत्मन इदमात्म्यं शरीरं तद्रहिते, अनिरुक्ते
विकारो हि विशेषवशाभिरुच्यते नत्वविकार इति विकारशून्यत्वाद् विदिताविदितात् परत्वेन
निर्वक्तुमशक्यत्वाद् अनिरुक्ते, एवं भूते ब्रह्मणि अभयं यथा स्यात् तथा प्रतिष्ठां स्थितिं विन्दते
'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति' इत्येवंरूपां प्राप्नोति, अथ तदनन्तरमेव
स साधकः, अभयं गतो मुक्तिं प्राप्नो भवतीति । तदाहुः प्रापञ्चिकेत्यादि । सूत्रसिद्धं निर्णयमाहु-

रश्मिः ।

कुलालादिषु ब्रह्मकार्यत्वेन ब्रह्मत्वे सतीत्यर्थः । अथवा ब्रह्मास्तीत्यादिप्रत्ययात् सत्तादिकर्तृत्वे विवादे
ब्रह्मगते लोके प्रतीयमाने सतीत्यर्थः । एतद्बोधनार्थं भाष्येऽस्तिभातीत्यादिकं ब्रह्मविशेषणम् ।
कार्यासाधारण्येत्यादि कार्यमात्रवृत्तित्वाभावादित्यर्थः । आत्मशब्देति आत्मशब्दरूपा श्रुतिः ।
निरपेक्षस्वरूपा तद्रूपेत्यादि । अवतारयन्तीति हेतुपपादकत्वेनोपोद्घातसंगत्यावतारयन्तीत्यर्थः ।
गुणसंबन्धादिति प्राकृतगुणसंबन्धादित्यर्थः । भाष्ये । लोके यादृशं गौणत्वं तदाहुः अत्रेत्यादि ॥ ५ ॥

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥ ६ ॥ प्रकृते । पञ्चमस्कन्धे 'योऽसौ भगवति सर्वभूतात्मन्य-
नात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने परमात्मनि वासुदेवे तन्निमित्तमक्तियोगलक्षणो नानागतिनिमित्ताविधा-
प्रनिरन्धनद्वारेण यदा हि महापुरुषपुरुषप्रसङ्गः' इतिगद्यात् । स्थितिश्च सर्वात्मभावस्तस्यैव
फलजनकत्वादित्याशयेनाहुः यत्र नान्यदित्यादि । तदुक्तम् ।

'ता नाविदन्मय्यनुपङ्गवद्भयिणः स्वमात्मानमदस्तयेदम् ।

यथा सगाधौ मुनयोऽन्वितोये नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे' ॥ इति ।

किञ्च ।

हेयत्वावचनाच्च ॥ ७ ॥

इतोऽपि निर्गुण एव जगत्कर्ता । वेदान्तेषु सर्वत्र साधनोपदेशे पुत्रादिवज्जगत्कर्ता हेयत्वेन नोपदिश्यते । यदि सगुणः स्यात् प्राकृतगुणपरिहारार्थं सुसुक्ष्मभिर्जगत्कर्ता नोपास्यः स्यात् पुत्रादिवत् । अत ईक्षत्यादयो न सगुणधर्माः । सूत्रप्रथमस्य ईक्षतिहेतुसाधकत्वाच्चकारः । एवं सूत्रचतुष्टयेन ईक्षतिहेतुना जगत्कर्तृत्वोपपत्त्या सृष्टिवाक्यानां ब्रह्मपरत्वमुपपादितम् ॥ ७ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

स्तत्रेत्यादि । तथाचास्यां श्रुतावुपक्रमगतं कर्तृभूतं ब्रह्मैवेति तस्मिन्नित्यनेन परामृश्य तस्यैव प्रापञ्चिकधर्मराहित्यबोधनेन विरुद्धधर्माधारत्वं निगमयित्वा तादृशे तस्मिन् परिनिष्ठितस्य द्युक्तिं वदन्ति । तथान्यत्रापि, सदेव सौम्येदमित्यादिना कर्तृत्वादिविशिष्टं ब्रह्मोक्त्वा, 'आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' इति । अतस्तादृशब्रह्मनिष्ठस्य मोक्ष उपदिश्यत इति सृष्टिप्रकरणोक्तं फलमेव तत्रत्यात्मशब्दस्योपचारिकत्वनिवर्तकं तात्पर्यलिङ्गत्वादिति सूत्राशय इत्यर्थः ॥ ६ ॥

हेयत्वावचनाच्च ॥ ७ ॥ आत्मशब्दस्यात्र गुणातीत एव कर्तारि तात्पर्यमिति बोधयन्त-
श्रुतार्थसूत्रमाहुः किञ्च । हेयत्वावचनाच्चेत्यादि । अर्थस्तु निगदव्याख्यातः । तथा चात्रोपपत्ति-
रश्मिः ।

तथान्यत्रेति छान्दोग्येऽष्टम इत्यर्थः । पुरुषो वेदेति पुरुषः स्त्री वेहेत्यर्थः । संपत्स्य इति भक्तिफलबोधकपदसमभिव्याहारात् । चिरमिति सत्संपत्तौ विलम्ब इत्यर्थः । तदाहुः अत इत्यादि । तत्रत्येति आत्मा वा इदमिति श्रुतिभवेत्यर्थः । न 'चात्मा वा इदम्' इत्यादिश्रुतिरन्यत्र वर्तते । 'असद्वा इदम्' इत्यादिश्रुतिः तैत्तिरीय आनन्दवहयामित्यन्यत्रोक्तं फलमुपचारनिवर्तकं कथं कथं चास्य तन्निवर्तने हेतुतेति शङ्के पराकुर्वन्ति तात्पर्येत्यादि । तथा च तदात्मानमित्यत्रात्मशब्दस्यानुपचरित एवात्मनि तात्पर्यमिति फलेन स्वसमभिव्याहारद्वारा बोधनात्तादृशतात्पर्यं लिङ्गत्वादुपचारनिवर्तने हेतुत्वं तैत्तिरीयस्यात्मनोपचरितत्वसमर्थनेनान्यत्रात्मा वा इदमिति श्रुतावपि तदुपचारनिवर्तनादित्यर्थः । भाष्ये । किं चेति हेत्वन्तरनिरूपणमारभ्यत इत्यर्थः ॥ ६ ॥

हेयत्वावचनाच्च ॥ ७ ॥ भाष्ये । निर्गुण इति प्रकृतिगुणसंबन्धरहित इत्यर्थः ।

'आत्ममायासृते राजन् परसानुभवात्मनः ।

न घटेतार्थसंबन्धः सप्रदृष्टुरिवाञ्जसा' ॥

इति वाक्येवस्थितमतस्यैवात्ममाया सा शुद्धसत्त्वरूपास्त्येव 'प्रवर्तते यत्र रजस्तमस्तयोः सत्त्वं च मिश्रं न च कालविक्रमः' इति वाक्यात् । सर्वत्रेति बृहदारण्यकादिषु 'किं प्रजया करिष्यामः अमृतत्वस्य तु नाशास्ति' इत्यादिनेत्यर्थः । सगुण इति प्राकृतगुणसत्त्वसहित इत्यर्थः । नोपास्यः स्यादिति 'तज्जलान् शान्त उपासीत' इत्यादिषु तथा न स्यादित्यर्थः । न च शुद्धसत्त्वप्रधाना माया तत्र प्रतिबिम्बितं चैतन्यमीश्वरपदवाच्यं मलिनसत्त्वप्रधानाऽविद्या तत्र प्रतिबिम्बितं चैतन्यं जीव इत्युपाधिभेदकृतविशेषेण हेयत्वोपादेयत्वोपपत्तिरिति शङ्काम् । प्रतिबिम्बपक्षस्य

अतः परं स्वतन्त्रहेतूनाह, 'स्वाप्ययाद्', 'गतिसामान्यात्', 'श्रुतत्वाच्च' इति सूत्रत्रयेण ।

ननु किमर्थं हेत्वन्तराणि । साधकत्वे एकेनापि तत्सिद्धेः । असाधकत्वे शान्तेनाप्यसिद्धेरितिचेत् । मैवम् । रूपभेदार्थं हेत्वन्तराणि । नानाविधान्नभोजन-
तृप्तिवत् । तद्यथा आत्मशब्दात्, तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशाद्, हेयत्वावचनाच्चेति निर्गुणस्य स्वरूपपरतया कार्यपरतया च । कार्यस्य पुनर्विधिनिषेधभेदाद् द्विरूप-
तेति । एवमुत्तरत्रापि प्रपञ्चयिष्यते ।

तत्र सृष्टिवाक्यानामीक्षतिहेतुना भगवत्परत्वमुक्तम् । इदानीं प्रलय-
वाक्यानामाह ।

भाष्यप्रकाशः ।

रूपात् तात्पर्यलिङ्गादप्यात्मशब्दस्य गुणातीतवाचकत्वेन निर्णयादीक्षत्यादयो न सगुणधर्मा इत्यर्थः । शेषं स्फुटम् ॥ ७ ॥

अग्रिमसूत्राण्यवतारयन्ति अतः परमित्यादि । स्वतन्त्रहेतूनि वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मपरत्वप्रतिपादने प्रत्येकं समर्थान् हेतून् । एतेषां हेतूनां वैयर्थ्यमाशङ्कते नन्वित्यादि । समादधते मैवमित्यादि । रूपभेदार्थमिति ब्रह्मणो व्यवहार्यत्वे केवलं सृष्टिरेव न द्वारं, किंतु द्वारान्तराण्यपि भन्ति तानि तत्तद्रूपनियतानीति तेषां रूपाणां विशेषस्य ज्ञाप-
नार्थम् । एवं तात्पर्योक्तौ गमकमाहुः तद्यथेत्यादि । तथाच चतुःषष्ट्यामाद्येनेक्षति सामान्यत उक्त्वा द्वितीयो हेतुः स्वरूपपरतया ततोऽग्रिमौ द्वौ कार्यपरतया चेति हेतुत्रयमुक्तम् । तथाप्रे त्रिसूत्र्यामपि कार्यान्तरपरतयेत्यर्थः । कथं कार्यान्तरपरतयेत्यत आहुः कार्यस्येत्यादि । द्विरूपतेतीति । इति असाद्वेतोर्हेत्वन्तराण्युच्यन्त इत्यर्थः । एवमेवात्र तात्पर्यमित्यत्र गमक-
माहुः एवमित्यादि ।

रश्मिः ।

द्वितीयाध्याये दृष्यत्वात् । इदं च भाष्यं साक्षाद्भक्तिर्नास्त्येव दृष्ट एव स्नेह इत्युपपत्तेरिति पक्ष-
मनुग्रहीतुम् । अदृष्टेपि मनोव्यापाररूपोपासासंभवात् । सौत्रश्वकारः समुच्चयं द्योतयतीत्याहुः
सूत्रेत्यादि । एवं सूत्रार्थो निगदेन व्याख्यात इत्यर्थः । प्रकृते । सिद्धमाहु-
स्तथाच्चेत्यादि । तात्पर्यलिङ्गादिति । षष्ठीतत्पुरुषः उपपत्त्या तात्पर्यं वक्तुरिच्छा लिङ्गते
प्राप्यत इति । शेषमिति सूत्रत्रयेत्यादिभाष्यमित्यर्थः । घञजपाः पुंसीत्यस्य प्रायोवाद्-
त्वाञ्जपुंसकत्वमपि । हेतूनि । साध्यं तु नाशब्दमित्येव । एतदेवाहुर्वेदान्तवाक्या-
नामित्यादि । द्वारान्तराणीति लयमोक्षसाम्यसर्वकार्यरूपाणीत्यर्थः । तेषामिति स्वाप्यय-
त्वगतिसामान्यश्रुतत्वानामित्यर्थः । द्विरूपतेतीति विधिनिषेधरूपविषयभेदान्मोक्षहेयत्वरूप-
विषयस्य भेदः । एवमित्यादीति । उत्तरत्रेति अत्रैवाप्रे तेनात्र त्रिसूत्र्याम् । यथा गौणभेदिति सूत्रे
ब्रह्मशब्दं विहाय आत्मशब्दो निर्गुणस्य स्वरूपपरतयोक्तः । इदं न्यञ्चि पात्राणि प्रयुनक्तीति
गृह्यसूत्रात् प्रयोगोपेक्षजब्रह्मस्यल आत्मशब्दप्रयोगोपेक्षजत्वेपि हिरण्यगर्भप्रयोगे तथादर्शनात् ।

स्वाप्ययात् ॥ ८ ॥

ब्रह्मणो न सर्वव्यवहारातीतत्वम् । कुतः स्वाप्ययात् । स्वस्मिन्नप्ययात् । तत्र चित्प्रकरणत्वाद्जीवस्योच्यते । एवं हि श्रूयते । 'यत्रैतत् पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा संपन्नो भवति तस्मादेनं स्वपिति' इत्याचक्षते । खं ह्यपीतो भवतीति ।

स्वपितीति न क्रियापदं, किंतु जीवस्य नाम । तदेव स्वपितिनामत्वं यदा सता संपद्यते । सति स्वशब्दवाच्ये अपीतिं लयं प्राप्नोतीत्यर्थः । अहरहर्जिबो ब्रह्म संपद्य ततो बलाद्यधिष्ठानं प्राप्य पुनर्नव इव समायाति । वासनाशेषात् । स्वशब्देन चाभेदः । अर्थतः सच्छब्दसामानाधिकरण्याभिर्गुणत्वम् । -

भाष्यप्रकाशः ।

स्वाप्ययात् ॥ ८ ॥ एवं सूत्रत्रयप्रयोजनमुक्त्वा पूर्वसंगतिज्ञापनाय तत्रोक्तमनुवदन्तः स्वाप्ययसूत्रमवतारयन्ति तत्रेत्यादि । व्याकुर्वन्ति तत्र चिदित्यादि । उच्यत इति लय उच्यते । श्रूयत इति छान्दोग्ये श्वेतकेतुपाख्याने श्रूयते । श्रुतिं व्याकुर्वन्ति स्वपितीति । नेत्यादि तथाच सत्संपत्तिरहितस्वापदशायां तु स्वपितीति यत्र प्रयोगस्तत्रास्य क्रियापदत्वमेव । सत्संपत्ति-दशायां तु स्वशब्दस्यात्मवाचकत्वेन सति स्वशब्दवाच्य आत्मनि अपीतिं लयं प्राप्नोति । तदा तस्मिन् पितिर्लये यस्यासौ स्वपितिः । पृषोदरादित्वादकारनाश ईकारस्य विकृतौ च सत्यां स्वपितिनाम्नः सिद्धिः । वस्तुतस्तु केवलयोगिकत्वे नामत्वाभावाद् योगरूढोऽयं शब्द इत्यर्थः । एवंप्रकारेण हेतुकथनस्य प्रयोजनमाहुः अहरहरित्यादि । अयमर्थः । सुषुप्ति-स्तावद् द्विधेति तदभावो नाडीष्वित्यत्र वक्तव्यम् । तथा छादोग्य एव श्राव्यते 'तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तोऽपि न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा रश्मिः ।

'ब्रह्मन् पुंसि च' इति व्याकरणसूत्रात् । कार्यं मोक्षो हेयत्वं च ते सूत्रद्वये तथात्र स्वाप्ययादित्यत्र निर्गुणस्य स्वरूपपरतया सूत्रद्वये मोक्षः सर्वकार्यत्वं चेत्येवं कार्यपरतया तत्राप्यस्य प्रपञ्चः करिष्यत इति । पूर्वसंगतीति निर्वाहकत्वसंगतिज्ञापनायेत्यर्थः । ननु भाष्ये प्रसङ्गसंगतेः सूचनात्रायं प्रकाशार्थं इति चेन्न । सामान्यलक्षणस्य गौरवप्रस्तत्वेनास्यार्थस्नानतिरेकात् । भाष्ये तु सूत्रयोः संगतिरुक्ता प्रसङ्गरूपा । सा सामान्यलक्षणम् । किमन्यं नाशब्दत्वनिर्वाहक-मिति जिज्ञासया त्रिसूत्रवतारात् । एवं च सामान्यसंगतेः सूचितत्वेनाभिहितमुक्तम् । तत्रे-त्यादीति । प्रलय इति ब्रह्मविधोपनिषदि 'यत्रोत्पत्तिं लयं चैव ब्रह्मनिष्णुमहेश्वरात्' इत्य-त्रोत्पत्त्यनन्तरं लयोक्तैरापि लय उक्तः । स्थितिस्तु चशब्दार्थं इत्यकथनेऽप्यदोषः ॥ ७ ॥

स्वाप्ययात् ॥ ८ ॥ भाष्ये । ब्रह्मण इत्यादि, अग्रे व्युत्पाद्यम् । तत्र चिदित्यादीति चित्प्रकरणं चिद्रूपस्य ज्ञानप्रधानस्येत्यादिभाष्येणोक्तमेव । प्रकृते । अपितेः पितिरूपातां संपादयन्ति पृषोदरेत्यादि । विकृताविति ह्रस्वेकाररूपायमित्यर्थः । नामत्वाभावादिति पाचकपाठकादि-वत्तथात्वादित्यर्थः । योगरूढ इति पङ्कजादिपदवदित्यर्थः । खं ह्यपीतो भवतीत्यस्य यः प्रकृतः सच्छब्दवाच्यस्तमपीतो भवत्यपिगतो भवतीत्यर्थः । वक्तव्यमिति तृतीयस्य द्वितीयपादे

ननु प्रलये वक्तव्ये कथं सुषुप्तिः । मोक्षातिरिक्तदशायां तथाकर्मसंबन्धा-भावादिति ब्रूमः ॥ ८ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दत्यनृतेन हि प्रत्युदाः' इति । तत्र नाख्यां दुःखामावमा-त्रम्, ब्रह्मणि सुषुप्तौ तु तदा अस्मिन्तदतिच्छन्दोऽपहृतपाप्माऽभयं रूपमशोकान्तरमिति बृह-दारण्यके श्रावणाद् ब्रह्मसंपत्त्या बलादिरूपं यदधिष्ठानं, करणे व्युद्, देहनियमनसाधनं तत् प्राप्य तथा समायातीति बोधनमेकम् । च पुनः स्वशब्द आत्मवाचकोऽत्र प्रयुक्तत्वेन पूर्वो-पक्रान्तस्य सत आत्माऽभेदबोधनमपरम् । किंचात्र विमत्तयन्तरप्रयोगेण शब्दतः सामाना-धिकरण्याभावेऽप्युपक्रमे सत एव निर्दिष्टत्वेनार्थतः सच्छब्दसामानाधिकरण्यात् सतो निर्गु-णत्वबोधनं चेति तृतीयं प्रयोजनमिति । तथाचैवंप्रकारेण गुणातीतस्य प्रलयकारणतां बोध-यितुमेवं हेतुनिर्देश इति हृदयम् । अत्र सूत्रस्य विषयवाच्यस्य च विरोधमाशङ्कते नन्वि-त्यादि । समादधते मोक्षेत्यादि । मोक्षातिरिक्तदशायां कर्मसंबन्धे सत्यपि यथा जाग्र-त्स्वमयोः कर्मसंबन्धस्तथा सुषुप्तौ प्रलये च नास्ति, किंतु वासनामात्र इति प्रलयसा-म्यात् तत्कथनमिति ब्रूम इत्यर्थः । एवं चात्र ब्रह्म न सर्वव्यवहारातीतं, सुषुप्तिप्रलययो-

रश्मिः ।

वक्तव्यमित्यर्थः । भाष्ये । वासनेः । कर्मवासनावशात् । कर्मजसंस्कारो वासना । प्रकृते । स्वशब्देन चाभेद इति भाष्यं विवृण्वन्ति च पुनरित्यादि । अत्रेति चतुर्वर्षेषु मध्येत्र सूत्रे प्रयुक्त इत्यर्थः । पूर्वोत्यादि श्रुतौ 'सता सोम्य' इत्यनेनेत्यर्थः । आत्माभेदेत्यादि । एतादृशबोधनफलं तु सच्छब्दस्य जडपरत्वनिवृत्तिः । अर्थत इत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति किंचात्रेत्यादि । ननु भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वे सत्येकार्थबोधकत्वरूपं सामानाधिकरण्यं सच्छब्द-स्यात्मवाचकत्वाच्छब्दतोपीत्यर्थत इति भाष्यांशोऽसंगत इत्याकाङ्क्षायामाहुः विभक्तयन्तरे-त्यादि । अयमर्थः । सतेति तृतीया विभक्तिः सहायो तथा चाल्मसाहित्यवानिति तस्यार्थः । स्वमित्यत्र कर्म द्वितीयार्थः । आत्मा संयोगाश्रय इत्यर्थः । सूत्रेपि व्यपेक्षालक्षणसामर्थ्यपक्षे स्वस्मिन्नित्यस्य आश्रय आत्मेत्यर्थः । एवं सति निरुक्तं सामानाधिकरण्यमत्र विशेष्यामावाज्ञास्ती-त्यर्थः । ननु तथापि कथमर्थतः सामानाधिकरण्यं यावता प्रवृत्तिः शब्दत इति चेन्न । एकार्थ-विशेष्यकप्रतीतिजनकत्वमात्रस्य तल्लक्षणत्वात् । अत एव युगपदधिकरणवचनतापेक्षपटीपृष्ठा-वित्यत्र पुंवत्वमाशङ्क्य वृत्तौ वृत्तेः प्राक् यत्र सामानाधिकरण्यं तत्रैव तत्प्रवृत्तिः । प्रकृते च न ततः प्राक्सामानाधिकरण्यमित्युत्तरितं द्वन्द्वसूत्रभाष्ये 'नामन्त्रिते सामानाधिकरणे' इतिसूत्रभाष्ये च सामान्यवचनमित्यस्याभ्ये देवि सरस्वति इति पर्यायेषु प्रत्युदाहरणं दत्तमिति स्थितं 'स्त्रियाः पुंवन्नाश्रितपुंस्कात्' इति सूत्रस्य शब्देन्दुशेषरे । एवं चोक्तरूपस्यैकार्थबोधकत्वस्य सामा-नाधिकरण्यस्य शब्दप्रयुक्ताभावप्रतीतावप्यर्थस्य विषयविधया कारणत्वेन ततः सामानाधिकर-ण्यादित्यर्थः । निर्गुणत्वेत्यादि । तेनैतत्सिद्धम् । गुणातीतोयमात्मा यत्र लीयते तस्-त्पदवाच्यं ब्रह्म गुणातीतमेव । नक्षेतादृशस्य स्वसंबन्धेन कर्मसंबन्धविनिर्मुक्तपरमसुखात्मवसंपादकं सगुणं भवितुमर्हतीति । अतः स्वाप्ययसंपादकत्वात् न सर्वव्यवहारातीतं नापि सगुण-मित्यतस्तथेत्यर्थः । वासनामात्र इति । कर्मसंबन्ध इति शेषः । प्रलयसाम्यादिति

मुक्तिवाक्यानामाह ।

गतिसामान्यात् ॥ ९ ॥

गतौ सामान्यात् । गतिर्भोक्षः । समानस्य भावः सामान्यम् । मोक्षे सर्व-
स्यापि भगवतापि तुल्यत्वात् । एवं हि श्रूयते । 'स यथा सर्वासामपा९ समुद्र एका-
यनम्' इत्युपक्रम्य बागेकायनमिति दृष्टान्तार्थं निरूप्य, 'स यथा सैन्धवखिल्य

भाष्यप्रकाशः ।

जीवाधारत्वेन श्रुतत्वाद्, यद् यदा यदाधारत्वेन श्रुतं तद् तदा तत्प्रयुक्तव्यवहारवि-
षयमित्येवमनुमानं बोध्यम् । तत्र यस्मिंश्च यति पुरत्रयं चेत्यादी जडलयाधारत्वेन
श्रावणात् तत्प्रयुक्तव्यवहारविषयत्वादपि सर्वव्यवहारातीतत्वाभावः सेत्स्यति । तेनार्थं हेतु-
लक्षणवाक्यस्य यत्प्रयन्तीति भागस्य समर्थनार्थं इति बोधितम् । प्रलयवाक्यानां ब्रह्मणि
समन्वये वक्तव्ये सुषुप्तिवाक्योदाहरणं सूत्रे स्वाप्यपदसूचितव्यासाशयज्ञानार्थम् । अप्रि-
मसूत्रे मुक्तिवाक्यविचारात् पूर्वस्मिन् प्रलयोऽपि दृश्यत इति ज्ञायते । अन्यथा न्यूनता
स्यादिति ॥ ८ ॥

गतिसामान्यात् ॥ ९ ॥ गतिसामान्यादिति षष्ठं सूत्रमवतारयन्ति मुक्तीत्यादि । तेषां
ब्रह्मपरत्वमाहेत्यर्थः । गतिर्भोक्षः । गतिशब्दः फले रूढः । 'अन्ते या मतिः सा गतिः', 'सा काष्ठा
सा परा गतिः' इत्यादौ तथा दृष्टत्वात् । अत्र चाप्युत्तरमभिसंवेशस्यैव समर्थनीयत्वात् तथेत्यर्थः ।
श्रूयत इति बृहदारण्यके मैत्रेयीब्राह्मणे श्रूयते । दृष्टान्तार्थमिति लयाधिकरणदृष्टान्तार्थम् ।

रश्मिः ।

तथा च सूत्रेणैव विषयवाक्यं स्मार्यत इति भावः । एकसंबन्धिज्ञानमपरसंबन्धिस्मारक-
मिति न्यायात् । यथा मोक्षे कर्मसंबन्धाभावस्तथा मोक्षातिरिक्तदशायां सुषुप्तावकामभगवद्रूपायां
तथा कर्मसंबन्धाभावः प्राप्तः स नेति प्रलयसाम्यम् । एवं चेति स्वाप्ययहेतुसमर्थनेन सर्व-
व्यवहारातीतसाध्यस्य न्यूनतारूपदोषनिवारणाय ग्रहणे च । तत्प्रयुक्तेत्यादि तत्प्रयुक्तव्यवहार-
विषयं यथा भवति तथा ज्ञेयमिति क्रियाविशेषणत्वेन द्वितीयान्तमिदम्, आदि पञ्चतीतिवत् । तेन
'धाजन्तश्च' इति सूत्रेण विषयशब्दस्य नियतपुंस्त्वेपि न दोषः । यथा वियति विहंगम इत्यत्र
विहंगमाधारत्वेन वियति विहंगमप्रयुक्तो यस्तदाधारत्वव्यवहारः तद्विषयत्वमिति दृष्टान्तः ।
अनुमानमिति पूर्वं तु ऋण नाशब्दं वाक्यगतेक्षतेः । यत्रैवं तत्रैवं, जीववत् । वेदान्त-
शब्दप्रतिपाद्यं नाशब्दम् । अन्वयव्याप्तिरपि तेजोदृष्टान्तेन । स्वाप्ययपदसूचितव्यासा-
शयमाहुः अप्रिमेत्यादि । सूच्यत इत्यादि स्वाप्ययपदेन सूच्यत इति । 'यत्प्रयन्त्यभिसं-
विशन्ति' इति श्रुतेः कर्मसंबन्धाहर्दशायामपि तदभिभूय तादृशसुखसंपादकत्वसामर्थ्यरूपव्यासा-
शयो ज्ञात इत्यर्थः । 'बुद्धिप्रेरककृष्णस्य पादपद्मं प्रसीदतु' इति 'अतः सेवापरं चित्तं
विधाय स्वीयतां सुखम्' इति च । अत्र युक्तिमाहुरन्यथेत्यादि । प्रलयवाक्यानां ब्रह्मणि सम-
न्वयप्रतिपादनेऽस्य समन्वयाध्यायत्वं न्यूनं स्यादित्यर्थः ॥ ८ ॥

गतिसामान्यात् ॥ ९ ॥ उक्तभाष्यं समर्थयन्ति स्म गतिशब्द इति ।
अभिसंवेशस्य इति लक्षणवाक्यस्य स्वाभिसंविशन्तीति भागाभिहितस्येत्यर्थः । बृहदिति स्पष्टा सूत्र-

उदके प्रास्त' इत्यादिना लयदृष्टान्तं निरूप्य, 'न प्रेक्ष संज्ञास्ति' इति प्रतिपाद्य
तन्निरूपणार्थं 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरम्' इत्यादिना सर्वस्य शुद्ध-
ब्रह्मत्वं प्रदर्शितम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

इत्यादिनेति प्रास्त उदकमेवानुविलीयेत नाहास्योद्ग्रहणायेव खाद् यतो यतस्त्वाददीतेति ग्रन्थेन,
न प्रेक्ष संज्ञास्तीति प्रतिपाद्येति, विद्युत्कल्पनन्तरं भोक्तृभावादिनिवृत्त्या जीवादि संज्ञा-
राहित्यं प्रतिपाद्य । तन्निरूपणार्थमिति संज्ञाभावनिरूपणार्थम् । सर्वस्येति जडस्य जीवस्य
च । अत्रायमर्थः । यथाऽबादीनामंशानां कार्याणामबाधात्मकाः समुद्रादयो लयाधिकरणभूता-
स्तथा सदात्मकस्य सर्वस्य सदात्मकं कारणभूतं ब्रह्मैव लयाधिकरणभूतम् । नच स्पर्शादीनां
त्वगार्थशक्तस्य प्रत्यक्षबाधितत्वात् केवलं लयस्थानत्वमेव विवक्षितं न तु तस्य कारणत्ववै-
शिष्ट्यमपीति शङ्क्यम् । त्वगस्य स्पर्शवायोधेति ।

'मृत्तस्तालुनिर्मिन्नं जिह्वा तत्रोपजायत ।

ततो नानारसो जज्ञे जिह्वया योऽधिगम्यते' ॥

इत्यादिभ्रीमागतद्वितीयस्कन्धवाक्येषु तथादर्शनेनात्र वैराजानामेव तेषां दृष्टान्तत्वेन
विवक्षितत्वात् । यथा सदंशानां कार्याणां लयस्थानं ब्रह्म तथा चिदंशानां जीवानामपि लयस्थानं
ब्रह्मैवेति वक्तुं स यथा सैन्धवेत्यादिना यथा समुद्रलवणशकल उदके प्रक्षिप्त उदकमेव लक्षीकृत्य
विलीयते, न तु खिल्यत्वेन ग्रहणाय कोऽपि समर्थः संभाव्यते, किंतु यस्माद्यस्माद्देशादीयते
तत्र तत्र लवणरस एवास्माद्यत इति तत्र तत्सत्ता निश्चीयत इत्येवं लयदृष्टान्तं निरूप्य, एवं वा अरे
इदं महद्भूतमनन्तपारम्, अरे मैत्रेयि, इदं जीवात्मत्वेनानुभूयमानं महत् पूर्वोक्तम्योऽबादिभ्य
उत्कृष्टम्, अनन्तम्-अविनाशि, अपारम्-अनादितत्त्वं विज्ञानघने चिदेकस्वरूपे ब्रह्मण्येवैतेभ्यः
स्यूलक्ष्मशरीरात्मकेभ्योऽनुपलक्षितेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय पृथग्भूय तान्येव भूतान्यनु
तल्लयोत्तरं विनश्यति विशेषेणादर्शनं प्राप्नोति ब्रह्मणः पृथक् न ज्ञायते । तत्र हेतुः । न
प्रेक्ष संज्ञास्तीति । लयोत्तरं जीवसंज्ञैव निवर्तते, ब्रह्मैव भवतीति । ततो लवणरसस्य सर्वत्रो-
रश्मिः ।

संगतिरत्र । प्रास्त उदकमिति तेन नवसु पदेषु मोक्षे लवणमुदके निधयेत्याद्युपदेश इति
ज्ञापितम् । तेन जीवेऽणुत्वं वास्तविकमित्युपदेशः । तेन मोक्षे नान्यविषयत्वमत्र प्रयोजनम् ।
तेन मैत्रेयीब्राह्मणे भक्तिप्रतिपादनात्तत्रत्या मुक्तिरप्युपदेशः । अबादीनामिति अपस्पर्शगन्धा-
दीनाम् । तत्रत्यशुक्तानामंशानां सदंशानां कार्याणां न तु चिदानन्दांशानामबादीनां तिरो-
हितत्वेन प्रकटसदंशत्वेन तथेति । अत्र कार्यार्थकानामंशानामिति त्याज्यमिति वक्तुमबादीनामि-
त्यादिपदार्थं किंचिदाशङ्क्य निषेधन्ति न च स्पर्शेत्यादि । 'स यथा सर्वासामपा९ समुद्र एका-
यनमेव सर्वेषां स्पर्शानां त्वगेकायनमेव सर्वेषां गन्धानां नासिके एकायनम्' इत्यादिश्रुतिष्वे-
तद्वोच्यम् । तस्येति लयस्थानस्य । तथेति 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' इति श्रुतिकार-
णत्ववैशिष्ट्यदर्शनं तेन । अत्रेति छान्दोग्ये मैत्रेयीब्राह्मणे च । उपष्टम्भकत्वात्पुराणानामेवकारः ।
तथाच 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' इत्यत्रोपष्टम्भकमिदं पुराणमिति विकल्पः । इति वक्तु-
मिति सैन्धवखिल्यस्य जलीयसदंशत्वमिव जीवस्यानुग्रभावसंबन्धेन वृक्षः पुनः पुनः पेयीय-

आदिमध्यावसानेषु शुद्धब्रह्मण एवोपपादानात् । सर्वेषां वेदान्तानां ब्रह्म-
समन्वय उचित इति ॥ ९ ॥

किंच ।

श्रुतत्वाच्च ॥ १० ॥

‘पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशि-
ष्टम् ॥ १० ॥’

भाष्यप्रकाशः ।

दक्षेऽनुभवाच्छ्रवणत्वेन वर्तते एवोद्ब्रह्मणमिति कुतो निपिद्धते संज्ञेत्येवं मैत्रेय्या मोहे पुनः
संज्ञाभावनिरूपणार्थं, यत्र हि द्वैतमित्यादिना भेदकथनसत्तायां द्वैतदर्शनकथनपूर्वकं, ‘यत्र
त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येद्विभेदभिवदेच्छृणुयान्मन्वीत विजानीयाद् येनेदं सर्वं
विजानीति तं केन विजानीयाद् विज्ञातारमरे केन विजानीयात्’ इत्यन्तेन, यत्र तु यस्मिन्नधि-
करणे अस्य संबन्धिः सर्वं स्थूलं सूक्ष्मं चात्मैवाभूत् आत्मरूपमेवाभूत् तत् तदा करणस्य
विषयस्य च लयादैकरूप्ये करणविषयभावापगमात् केन कं पश्येदित्यादि । ननु यद्यप्यन्य-
च्छीनं, तथापि विज्ञाता तु तिष्ठति स यथा स्वप्ने स्वयंज्योतिः पश्यत्येवं स्वयं कुतो न
विजानीतीत्याकाङ्क्षायां विज्ञातुः स्वरूपस्यापि समुद्रे लवणस्येवात्मत्वं स्मारयति, विज्ञातारमि-
त्यादिना । तथाच तदा विज्ञातापि न विज्ञातरूपेणास्ति, किंतु गुणातीतेनात्मरूपेणातो न विजा-
नातीत्युत्तरमुखेन सर्वस्य ब्रह्मतौल्यं च निरूपितम् । एवं च ब्रह्म न सर्वदा सर्वव्यवहारातीतं
मोक्षे तथात्वेन श्रावितत्वाद् यदेवं तदेवं मैत्रेयीब्राह्मणश्रावितमववदित्येवमत्रानुमानसिद्धेरस्य
हेतुत्वं बोधितम् । तेनात्र यतो वेतिश्रुतिस्थोऽभिसंविशन्तीति भागः समर्थितः । किं चैते-
नैव सर्वस्य शुद्धब्रह्मत्वमपि दर्शितमिति । तेन फलितमाहुः आदीत्यादि । आदावमृ-
तत्वलिङ्गन, मध्ये आत्मदर्शनादिना सर्ववेदनप्रतिज्ञामारभ्य, वागेकायनमित्यन्तेनावसाने सर्व-
स्यात्मभावकथनेन च तेषु शुद्धब्रह्मण एव सर्वरूपत्वेन सर्वकर्तृत्वेन चोपपादानाद् ये केऽपि
वेदान्तास्ते सर्वे येनकेनचिद्रूपेण ब्रह्मैव वदन्तीति सर्वेषां वेदान्तानां ब्रह्मणि तात्पर्येणान्वय
उचित इत्यर्थः ॥ ९ ॥

श्रुतत्वाच्च ॥ १० ॥ सप्तमं सूत्रं पठित्वा तद्विषयवाक्योपन्यासेनैव व्यकुर्वन्ति पूर्णमि-
रश्मिः ।

मान इति परंपरितजीवसंबद्धत्वमपीति छान्दोग्यीयेन ‘अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य’ इत्याद्यु-
पदेशेन सिद्धमिति । तत्केन कमिति जिभेदित्यादिष्वेतत्पठनीयम् । अधोक्षजे सर्वव्यवहार-
तीतत्वेनेति वक्तुं सर्वदेति । तथात्वेनेति सामान्येनेत्यर्थः । मैत्रेयीति ‘यत्र त्वस्य सर्वमात्मै-
वाभूत्’ इति पूर्वोक्तमैत्रेयीत्यादिः । अस्येति गतिसामान्यस्येत्यर्थः । आदाविति ‘येनाहं
नामृतां स्नां किमहं तेन कुर्याम्’ इति श्रुतावित्यर्थः । ननु तर्हि घटादिभ्योपि ब्रह्मबोधो भवेदिति
चेत्तत्राहुः येनकेनेति । तेन घटत्वादिभिर्बोधे न ब्रह्मबोधः । ब्रह्मत्वेन बोधे तु ब्रह्मबोधो भवत्येव ।
तात्पर्येणेति पत्यादिकेषु अभिषयान्वयः इति भावः ॥ ९ ॥

श्रुतत्वाच्च ॥ १० ॥ अभिसंवेशविचारमनुपूर्तो सप्तममिति भाष्यविरोधोतः सप्तममिति ।
पठित्वेति सर्वभाष्यरीत्या । तद्विषयेति तत्प्रसिद्धमुपबृंहितं विषयवाक्यं तस्योपन्यासेन । उपबृंहणं
समाधिभाषा तेनाभिसंवेशनकथनेपि यत इत्यस्वार्थकथनात् नामिसंवेशान्ताधिकरणपूर्तिः । व्यकुर्वन्ति-

भाष्यप्रकाशः ।

त्यादि । अयं बृहदारण्यके द्वितीयवंशब्राह्मणानन्तरं परिशिष्टलक्षणखिलकाण्डारम्भे वर्तते । अस्मिन्
मन्त्रे तु सर्वस्य ब्रह्मात्मैकत्वनिर्णयार्थम् ‘आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविषः सोऽनुवीक्ष्य नान्यदा-
त्मनोऽपश्यत्’ इत्यादिश्रुत्यर्थं एवोपसंश्रियते । व्याख्या तु, पूर्णमदः, अदः परोक्षं ब्रह्म पूर्णम्,
आकाशवद् व्यापि निरन्तरं निरुपाधिकम् । पूर्णमिदम्, इदं नामरूपाभ्यां व्यवहियमाणम-
वतारादिरूपमपि पूर्णं पूर्वोक्तरूपमेव । एवं व्यवहार्याव्यवहार्यस्वरूपयोर्निरुपाधिकत्वशुक्त्वा
कार्यरूपेऽपि तथात्वमाह पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णात् कारणात्मनः सकाशात् पूर्णमुत्
पूर्णानन्दं सद् अच्यते, पूर्णं सद् उदच्यते वा । अञ्च गतिपूजनयोः, अच इत्येक इति
पाणिनिः । पूज्यते उद्गच्छति वा । एवं स्थितिदशायां कार्यस्य ब्रह्मरूपताशुक्त्वा प्रलय-
दशायां तथात्वमाह । पूर्णस्य ब्रह्मणः पूर्णं निरुपाधिकमेकरसत्वलक्षणं स्वभावं प्रलयदशाया-
मादाय पूर्णं ब्रह्मैव सदवशिष्यते अव्यवहार्यत्वेन रूपेण तिष्ठतीति । तथाचानया श्रुत्या-
ऽसंदिग्धं यथा स्यात् तथा सर्वकार्यरूपत्वं ब्रह्मणः प्रतिपादितम् । तेन पूर्णज्ञानिनां व्यव-
हारदशायामपि कार्यं गुणातीतं ब्रह्माभिन्नमेव । व्यवहारस्तु भगवतः सत्यसङ्कल्पत्वाद् ‘बहु स्नां
प्रजायेय’ इत्यादिरूपया इच्छयैव । नचात्र सर्वत्र पूर्णपदादुद्गतस्य कार्यस्यांशस्य च पूर्णेश्व-
र्यादिमत्त्वं शङ्क्यम् । ऐश्वर्यप्रकरणाभावात् । पूर्णेश्वर्यादिबोधकस्य भगवच्छब्दस्य भगवत्ये-
वानुपचारिकत्वमिति विष्णुपुराणे सिद्धत्वात् । नच परममोक्षदशायां ब्रह्मैक्ये तत्र तथात्वं
शङ्क्यम् । दशमस्कन्धे श्रीवसुदेवं प्रत्यखण्डाद्वैतोपदेशे, खं वायुरिति श्लोके भगवता सच्चि-
दानन्दधर्मतारतम्यादिकृतनानात्वाविरुद्धैकत्वस्यैव प्रतिपादनेन पूर्णेश्वर्यादीनां स्वस्मिन्नेव निय-
रश्मिः ।

न्तीत्यस्य विवृण्वन्ति स्पेत्यर्थः । अत्रमिति मन्त्रः । एवेति उत्तराधिकरणादेवेति । यत इत्यस्य
पूर्णार्थकत्वानुक्तेः विषयवाक्यमिव विषयवाक्यमित्युपचारस्तत्प्रयोजनं तु ‘सदेव सोम्य’ इत्यत्र
सच्छब्दार्थनिर्णयद्वारा ‘यतो वा’ इत्यत्र यच्छब्दार्थनिर्णयः । विषयवाक्यं तु समाधिभाषा
उपष्टम्भिका न वेति सदेहेनेति प्राप्तं सांप्रक्षत्वापत्तेर्वेदस्येति । उपष्टम्भिकेति सिद्धान्तः ।
‘इतिहासपुराणैस्तु वेदं समुपबृंहयेत्’ इतिवाक्यात् । प्रामाणिकी सापेक्षतापि न दोषायेति ।
तथा चैवकारेण मुख्यविषयवाक्योपन्यासव्यवच्छेदः । अत्र सूत्रं विवृण्वन्तीति वक्तव्ये सप्तम-
मित्यादेरयमर्थः । ‘विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक् सम्यग्व्यवस्थितम् । मत्त्वं पूर्णम्’ इति
द्वितीयस्कन्धादाहुः सप्तममिति । अन्यथास्या एव श्रुतेर्ग्रहणे मानामावापत्तिः । एवं तु सच्छब्दार्थ-
पूर्णग्रहणार्थं सूत्रम् । तमेवोपसंहारं दर्शयन्ति व्याख्या त्वित्यादि । परोक्षमिति ।

‘इदमः प्रत्यक्षं रूपं समीपतरवर्तिनि चैतदो रूपम् ।

अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात्’ ॥ इति

विष्णुपुराण इति ।

‘ऐश्वर्यस्य समस्तस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।

ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा’ ॥

इतिवाक्य इत्यर्थः । पूर्णेश्वर्यादीति पूर्णत्वं बृहदारण्यकोक्तं ज्ञेयम् । स्वजायापनपुत्र-
कर्मात्मकमलौकिकं प्राणाग्निहोत्रोपनिषदि । प्रमाणबलेनाविषयः स्वेच्छया विषयश्चेति भाष्यादाहुः

प्यते' इति श्रुत्यैवासंदिग्धं सर्वकार्यत्वं प्रतिपादितम् । 'सर्वे वेदा यत्पदमामन्ति' इति च । चकारोऽधिकरणसंपूर्णत्वद्योतनाय ।

भाष्यप्रकाशः ।

मितत्वाच्च । अतः सर्वव्यवहारातीतत्वमनपहायैव सर्वव्यवहारविषयं ब्रह्मेत्यर्थः संपद्यते । एतेन फलितमाहुः सर्वे वेदा इत्यादि । तथाचाभिधया वृत्त्यापि सर्वे शब्दा ब्रह्मवाचका इति सर्वेषां वेदान्तानामभिधया तात्पर्येण च ब्रह्मण्येव समन्वय इत्यर्थः । अत्रेदं बोध्यम् । इयं श्रुतिः काठके द्वितीयवल्लीत्या, 'अन्यत्र धर्मोदन्यत्राधर्मोदन्यत्रास्मात् कृताकृतात् । अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत् पश्यसि तद्देव' इति प्रश्ने श्रुत्युक्तौ । 'सर्वे वेदा यत् पदमामन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्ददन्ति यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्' इति पदं पदनीयं प्राप्तमिति यावत् । आमन्ति प्रतिपादयन्ति । यद्ददन्ति यत्प्राप्तयर्थानि । संग्रहेण संक्षेपतः । तदेव संक्षेपत आह, ओमित्येतदिति । तथाचोच्चारणेन यत् संक्षेपत उच्यते तदेव सर्वैर्वेदैर्विस्तरेणोच्यत इत्यर्थः । एतदेव द्वादशस्कन्ध उपबृंहितं, 'समाहितात्मनो ब्रह्मन् ब्रह्मणः परमेश्चिनः' इत्यारभ्य,

'ततोऽभूत् त्रिवृदोक्कारो योऽव्यक्तप्रभवः स्वरात् ।

स्वधाप्रो ब्रह्मणः साक्षाद् वाचकः परमात्मनः ।

स सर्वमभ्योपनिषद्देवद्वीजं सनातनम्' ॥

इत्यादिभिः । तथाच बीजशक्तिरेव सर्ववृक्षे प्रसरतीत्योक्कारस्य या परमात्मवाचकता सैव सर्वस्मिन् वेदतरौ प्रसृतेति सर्वे वेदा अभिधया प्रतिपादयन्तीति युक्तम् । किं च । जैमिनीये नये सर्वे शब्दाः प्रायेण धर्मवाचका एव । धर्मश्च घटत्वादिरूपः । त्वप्रत्ययश्च भावे । भाव इति भूधातोर्ध्वि रूपम् । भूधातुश्च सत्तायां व्याप्तौ वा । उभयथापि सतो व्यापकस्य वा धर्मो घटत्वादिरिति सिद्ध्यति । तादृशश्च धर्मो भगवानेवेति धर्मद्वारा भगवद्वाचका एव सर्वे शब्दाः । वैयाकरणमतेऽप्येवम् ।

'संबन्धिभेदात् सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु ।

जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः ॥

तां प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते ।

सा नित्या सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः' ॥ इति वाक्यपदीयात् ।

रश्मिः ।

अत इति । अधोक्षजत्वेन निषेधेन च प्राप्तं सर्वव्यवहारातीतत्वम् । भाष्योक्तस्वेच्छया विषयदशायामाहुः अभिधयेत्यादि । प्रमाणबलपर्यालोचने त्वाहुस्तात्पर्येणेति । तपांसि पुराणानि । वदन्नञ्ज गताविति गत्यर्थकाद्ददतेः शतरि रूपमिदं न तु क्रियापदमित्याशयेनाहुः यत्प्राप्तयर्थानीति । नय इति मते । यद्यपि 'प्रयोगचोदनाभावादर्थैकत्वमविभागात्सात्' इत्यादिसूत्रेषु प्रथमाध्यायस्थेषु आकृतावेव शक्तिरिति स्थितं शास्त्रदीपिकायाम् । तथापि सर्वेषां न संभवति यथा 'यः सिकतेराः स्यात् स प्रथमासुपदध्यात्' इत्यादिश्रुतौ । सिकतेरतस्त्वादेराकृतित्वाभावेन व्यक्तौ संबन्ध ईदृशस्त्वैवश्यं तैरभ्युपगन्तव्यः । वैदिकपदार्थानां नित्यत्वेन न व्यक्तयनित्यत्वप्रयुक्तं

भाष्यप्रकाशः ।

नैयायिकादिमतेन विशिष्टवाचकत्वपक्षेऽप्येवैव व्यवस्था । घञ् चात्र स्वार्थ । अन्यथाऽन्यवस्था स्यादिति । एवं पदवद्वर्णा अपि स्वभावतो भगवद्वाचका एव ।

'वेदाक्षराणि यावन्ति पठितानि द्विजातिभिः ।

तावन्ति हरिनामानि कीर्तितानि न संशयः' ॥

इति शिष्टवैदिकप्रसिद्धवाक्यात् । वाक्यानि तात्पर्येण बोधयन्तीति सर्वस्य वेदस्य भगवद्वाचकत्वमप्रत्युहमिति । सौत्रस्य चस्य प्रयोजनमाहुः चकार इत्यादि । एवमत्र त्रिसृष्ट्यां सुषुप्तिविचारेण दैनन्दिनप्रलयकर्तृत्वं, द्वितीये मोक्षविचारेणात्यन्तिकतत्कर्तृत्वं, तृतीये सर्वकार्यकर्तृत्वप्रतिपादनेन नैमित्तिकादितत्कर्तृत्वं बोधितमिति प्रतिपाति ।

रश्मिः ।

संबन्धानित्यत्वम् । अत एव व्यक्तावेव संबन्ध इति सिद्धान्त इति प्रस्थानरक्षाकरे । एतदभिप्रेत्याहुः प्रायेणेति । व्याप्तौ वेति भू प्राप्ताविति धातुपाठात् । एषैवेति जातिधर्मोन्तरविशिष्टवाचकत्वरूपेत्यर्थः । अत्रेति । 'तस्य भावस्त्वतलौ' इति सूत्रे सिद्धावस्थापत्रे धात्वर्थे घञ् न तु प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारतयाभिमत इत्यर्थः । यद्यपि वृत्तौ सिद्धावस्थापत्रे धात्वर्थे वाच्य इति त्रिस्पष्टमुपलभ्यते तथापि प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारो भाव इत्यस्यापि संभाव्यतयोक्तिरियम् । अनवस्थेति त्वस्यार्थो भावः भावश्च घञा निष्पन्नो भावान्तर इत्यनवस्थेत्यर्थः । 'भगवद्वाचका इति न च न तथाप्रतीतिरिति वाच्यम् । संकेताग्रहेणावाचकत्वात् । तदाहुः वेदाक्षराणीत्यादि । ननु 'यतो वा इमानि' इत्यादि वाक्यानां यद्देतुका प्रत्यक्षभूतनिष्ठोत्पत्तिरित्याद्यथोत् कथं ब्रह्मबोधकत्वमित्यत आहुः वाक्यानीत्यादि । तात्पर्यनिर्णयलिङ्गभूतैरुपक्रमोपसंहाराभ्यासापूर्वताफलार्थवादोपपत्तिभिः 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' इत्यादिस्मृतेश्च भगवदिच्छया ब्रह्म बोधयन्तीत्यर्थः । ननु पूर्वं सृष्टेरुक्तत्वात् ब्रह्मणो व्यवहार्यत्वमपि लयाधारत्वेनैव वाच्यम् । इति सुषुप्तिमोक्षसर्वकार्यत्वविचारोऽप्रासङ्गिक इति चेत् तत्राहुः एवमत्रेत्यादि । दैनन्दिनेत्यादि तत्स्वरूपं द्वादशस्कन्धे चतुर्थेति ।

'नित्यदा सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां परंतप । उत्पत्तिप्रलयावेके सूक्ष्मज्ञाः संप्रचक्षते ॥

कालस्रोतोऽज्वेनाशु हियमाणस्य नित्यदा । परिणामिनामवस्थास्ता जन्मप्रलयहेतवः ॥

अनाघन्तवतानेन कालेनेश्वरमूर्तिना । अवस्था नैव दृश्यन्ते वियति ज्योतिषामिव' ॥ इति ।

तथा च देहादेर्दिने दिने ध्वंसो दैनन्दिनप्रलयः । सुषुप्तिरपि दैनन्दिनेति तादृशप्रलयकर्तृत्वं बोधितमित्यर्थः । तथा च सुषुप्तौ दिने दिने च ब्रह्मण्यप्यय इति सूत्रार्थः । आत्यन्तिकेत्यादि । अयं च मोक्षात्मा तदुक्तम्—

'यदेवमेतेन विवेकहेतिना मायामयाहंकरणात्मबन्धनम् ।

छित्वाच्युतात्मानुभवोवतिष्ठते तमाहुरात्यन्तिकमङ्ग संश्रवम्' ॥ इति ।

गतेः प्रलयरूपताकथनेनाप्रासङ्गिको मोक्षविचार इति परास्तम् । नैमित्तिकादिति । ब्रह्मणो निद्रां निमित्तीकृत्य प्रवर्तमानो लोकत्रयप्रलय इत्यर्थः । तदुक्तम्—

'चतुर्गुणसहस्रं च ब्रह्मणो दिनमुच्यते । स कल्पो यत्र मनवश्चतुर्दश विशांपते ॥

तदन्ते प्रलयस्तावान् ब्राह्मी रात्रिरुदाहता । त्रयो लोका इमे यत्र कल्पन्ते प्रलयाय हि ॥

एष नैमित्तिकः प्रोक्तः प्रलयो यत्र विश्वसृष्ट् । शेतेऽनन्तासनो विश्वमात्मसाकृत्वा चालम्' ॥

भाष्यप्रकाशः ।

अत्रैकदेशिन इमानि सूत्राणि सांख्यनिरामकतया व्याकुर्वते । तथाहि । सांख्यपरि-
कल्पितं प्रधानं जगत्कारणत्वेन नाश्रयितुं शक्यम् । अशब्दं हि तत् । कथमशब्दम् । ईक्षतेः ।
'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्युपक्रम्य 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इति 'तत्तेजोऽसृजत' इति जगत्कार-
णस्येक्षणकर्तृत्वश्रावणात् । तथाऽन्यत्रापि । 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीदित्युपक्रम्य, स
ईक्षत लोकानुसृजा' इति । क्वचिच्च षोडशकलं प्रस्तुत्य, स ईक्षाञ्चक्रे स प्राणमसृजतेति । ईक्ष-
तेरिति धात्वर्थनिर्देशो लक्षणया । विषयिणा विषयलक्षणात् । यथा यजतेः । तेन 'यः सर्वज्ञः
सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः, तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमञ्चं च जायते' इत्यादीनां सर्वज्ञेश्वर-
कारणपराणामपि वाक्यानां संग्रहः । नच सत्त्वधर्मेण ज्ञानेन प्रधानस्यापि सर्वज्ञताया ईक्षितृ-
त्वस्य च शक्यवचनत्वाभावेन प्रधानवारणमिति वाच्यम् । तस्य प्रधानावस्थायां गुणसाम्यात्
सत्त्वधर्मस्य ज्ञानस्य तदानीमशक्यवचनत्वात् । तदा तदादरे रजस्तमोधर्मस्याप्यवर्जनीयत्वेन
ज्ञानप्रतिबन्धस्यापि संभवेन किञ्चिज्ज्ञत्वस्याप्यापत्तेश्च । किंचासाक्षिकाऽसत्त्ववृत्तिर्न कापि
जानाति, नाभिधीयत इत्यचेतनस्य प्रधानस्य सार्वत्रयमनुपपन्नम् । नच योगिवदिति वाच्यम् ।

रश्मिः ।

इति । आदिना प्राकृतिकः प्रलयः । महदहंकारपञ्चतन्मात्राणां सप्तप्रकृतीनां तत्कार्यस्य ब्रह्मा-
ण्डस्य लयात्प्राकृतिकः । तदुक्तम् ।

'द्विपरार्थं त्वत्क्रान्ते ब्रह्मणः परमेष्ठिनः । तदा प्रकृतयः सप्त कल्पन्ते प्रलयाय वै ॥

एष प्राकृतिको राजन् प्रलयो यत्र लीयते । आण्डकोशस्तु संघातो विघात उपसादिते' ॥

इति द्विपरार्थं ब्रह्मायुस्तेनास्मिन् सूत्रेऽप्यसंज्ञिको विचार इति परिहृतम् । एकदेशिन
इति । तथाहि ब्रह्मैकदेशस्य पुच्छरूपस्य ब्रह्मताङ्गीकारात् प्रमाणैकदेशस्य 'यतो वाचो
निवर्तन्ते' इत्यस्य प्रमाणत्वेन स्वीकारात् । 'एवं कदाचिद्भगवान् साक्षात्सर्वं करोत्यजः'
इत्यादिना षड्भेदभिन्ना सृष्टिरुक्ता निबन्धे । तत्रैकदेशस्यान्तरालिकसृष्टिरूपस्य स्वीकारादेकदे-
शित्वम् । स ईक्षत इति स ऐक्षतेति पाठः । (बृहदारण्यके तु स ऐक्षत इत्येव) ।
षोडशकलमिति । पुरुषमिति शेषः । स प्राणमसृजत प्राणात्वं वायुर्ज्योतिरापःपृथिवी-
न्द्रियं मनोब्रह्मब्रह्मदीर्यं तपोमन्त्राः कर्मलोकनाम चेति रत्नप्रभाकारेणोक्ताः षोडशकलाः ।
मन्वीक्षतेरिति धातुनिर्देशो भवति इकृश्रितपौ धातुनिर्देश इति कात्यायनस्मरणाच्च तु धात्वर्थनिर्देश
इत्यत आहुः ईक्षतेरितीति विषयी धातुः विषयो धात्वर्थः प्रतिपाद्यतासंबन्धेनेति धावत् ।
यथा यजतेरिति । यजतेरर्थपरत्वम् । 'इतिकर्तव्यताविधेर्यजतेः पूर्ववत्त्वम्' इति जैमिनिसूत्रे
यजतिपदेन लक्षणया धात्वर्थस्य यागस्य कथनाद् बोध्यम् । ज्ञानमयमिति ज्ञानमीक्षणं तद्विकार
इव विकार एव तप इत्यर्थः । सत्त्वधर्मेणेति प्रधानस्य त्रिगुणात्मकत्वेन ज्ञानस्य च
'सत्त्वात्संजायते ज्ञानम्' इति स्मृतौ । सत्त्वधर्मत्वेन तथेत्यर्थः । सत्त्वधर्मस्येति सत्त्ववृत्ते-
रित्यर्थः । केवलसत्त्ववृत्तेर्ज्ञानत्वं स्वीकृत्य प्रधानस्य सर्वज्ञत्वं निरस्तम् । इदानीं जडवृत्तिज्ञान-
शब्दार्थो न भवति किं तु साक्षिबोधविशिष्टा वृत्तिः वृत्तिव्यक्तबोधो वा ज्ञानं तज्जडस्य
प्रथमस्य न ब्रह्मवृत्तीत्याहुः किं चासाक्षिकेति । कापीति देवदत्तो जानातीत्येव न तु घटो
जायतीति । योगिवदिति सत्त्वोत्कर्षनिमित्तं सर्वज्ञत्वमिति शेषः । शेषरसात्त्वमतमाहुः

भाष्यप्रकाशः ।

तेषां चेतनत्वेनादृष्टान्तत्वात् । यदि च तप्तायःपिण्डस्य दग्धत्ववत् साक्ष्यधिष्ठितस्य प्रधानस्ये-
क्षितृत्वं कल्प्यते, तदा तु यन्निमित्तं प्रधानस्येक्षितृत्वं तस्यैव सर्वज्ञत्वाजगत्कारणत्वं वक्त-
व्यम् । तद्वेतोरेवेति न्यायात् । नच ब्रह्मणो नित्यज्ञानत्वेन विवक्षितत्वादीक्षणत्वात्मकज्ञानक्रियां
प्रति स्वातन्त्र्यासंभवात् कथं सर्वज्ञत्वमिति वाच्यम् । प्रतौष्यप्रकाशेऽपि धर्म्ये सविता ददति
प्रकाशत इति प्रयोगदर्शनादिहापि तद्वत् सत्यसति च ज्ञानकर्मभूते विषये नित्यज्ञानतया
तादृशप्रयोगोपपत्तेः । नच प्राक् सृष्टेः पदार्थान्तराभावादीक्षणात्मकस्येश्वरज्ञानस्य निर्विषयत्वं
शक्यम् । तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वाच्ययोर्नामरूपयोर्व्याचिकीर्षितत्वेन तयोरेव विषयत्वात् । नच
तयोरेनागतत्वेनाविषयत्वं शक्यम् । अतीतानागतविषयकज्ञानस्य योगिषु दर्शनात् तद्व्यये
ईश्वरे तादृशशङ्काया एवासंगतत्वात् । नच प्राक् सृष्टेर्ब्रह्मणोऽशरीरित्वादीक्षितृत्वमनुपपन्नमिति
शक्यम् । सवितृप्रकाशवद् ब्रह्मणो नित्यज्ञानस्वरूपत्वेन ज्ञानसाधनानपेक्षत्वात् । 'न तस्य
कार्यं करणं च विघाते' इति, 'अपाणिपादो जवनो प्रहीता' इति मन्त्राभ्यामपि तथा निश्चयात् ।
नच चैतन्यैकः तदनो जीवेश्वरभेदाभावात् संसारिणो जीवस्यापि तथाज्ञानापत्तिरिति
शक्यम् । घटगिरिगुहायुपाधिभेदेन व्योम इव ब्रह्मचैतन्यस्याप्युपाधिभेदेन भेदस्याप्यङ्गीका-
रेणोक्तदूषणाभावादित्यादि । तज्जयतीर्थेन माध्वेनैवं दूष्यते । सांख्यप्रतिपक्षं प्रधानं न श्रौतं
जगत्कारणं, तदैक्षतेतीक्ष्णश्रवणादशब्दं तदिति यद् व्याख्यातं तदुक्तम् । तथाहि ।
अत्राशब्दमित्यनेनोक्तमश्रौतत्वं न सांख्यस्य प्रतिवादिनः सिद्धम् । तेन वैदिकत्वाम्युप-
रश्मिः ।

यदि चेत्यादि । तद्वेतोरेवेति हेतुहेतुमतोर्हेतुत्वे तद्वेतोरेव हेतुता इति न्यायादित्यर्थः । सर्वज्ञत्वं
नाम ज्ञानकर्तृत्वमिति मत्वाशङ्क निषेधन्ति न च ब्रह्मण इत्यादि । ज्ञानक्रियामिति
ईक्ष दर्शनाङ्गनयोरिति धातुपाठञ् ज्ञानस्य धात्वर्थत्वेन क्रियात्वम् । भूवादयो धातवः
क्रियावाचिन इति । नित्यस्यापि ज्ञानस्य तत्पदार्थोपहितत्वेन ब्रह्मस्वरूपाद् भेदं कल्पयित्वा
कार्यत्वोपचाराद् ब्रह्मणस्तत्कर्तृत्वव्यपदेशः साधुरिति सद्यन्तमाहुः प्रततेत्यादि । तद्वदिति
दाहप्रकाशयोः कर्मभूते विषये सत्यसति च प्रयोगवत् । ज्ञानकर्मिति । सर्वं जानातीत्यत्र
नित्येति । नित्यत्वं ज्ञाने विषयाविनाभूतत्ववत् विषयविनाभूतत्वमपीति । तादृशेति सर्वं
जानातीति प्रयोगोपपत्तेरित्यर्थः । तत्त्वान्यत्वाभ्यामिति सतोऽभावात् सत्त्वेननिर्वाच्ययोरसतो-
प्रत्यादासत्त्वेनानिर्वाच्ययोरित्यर्थः । ईश्वरत्वेश्वरान्यत्वाभ्यामिति वार्थः । सत्तामात्रत्वाच्चामरूपयोः
प्राक् सृष्टेरिति भावः । गङ्गानिष्ठशुक्लनीलत्वान्यां गङ्गात्वगङ्गातीरत्वान्यां सर्वात्मत्वदशाभ्याम-
निर्वाच्ययोर्वा नामरूपयोः । घटगिरिती मलिनसत्त्वप्रधानाऽविद्या जीवोपाधिः शुद्धसत्त्वप्रधाना
मायेश्वरोपाधिः । यत्र मते त्वणुत्वं वासविकं यत्तदेव भेदकम् । इत्यादीति आदिना यद् व्युक्तं
प्रधानस्यानेकात्मकत्वात् सृदादिवत्कारणत्वोपपत्तिर्नासंहतस्य ब्रह्मण इति तत्प्रधानस्याशब्दत्वेनैव
प्रत्युक्तम् । यथा तु तर्केणापि ब्रह्मण एव कारणत्वं निर्वाहं शक्यते न प्रधानादीनां तथा
प्रपञ्चयिष्यति 'न विलक्षणत्वादस्य' इत्येवमादिनेति भाष्यसंग्रहः । अशब्दपदेन प्रधानं न प्रहीतं
शक्यमित्याह अत्राशब्दमित्यादि । इतीति तथाच सगुणस्य कारणता न स्यात् किं तु

भाष्यप्रकाशः ।

गतेः । नापि स्वन्यायेन तदुक्तिः । अजामेकामित्यादौ प्रधानस्य श्रुतत्वात् । नच तत्रान्यत् कल्प्यम् । नाममात्रे विवादादर्थान्तरस्य चाभावात् । किं च ब्रह्मणोऽपि श्रौतत्वं न युक्तम् । अवाच्यत्वात् । अवाच्ये वृत्त्यन्तरायोगात् । नापि तस्यैकित्वम् । तस्यैकित्वरूपत्वात् । नच मायावच्छिन्नस्य जगत्कारणस्यैकित्वत्वं संभवतीति वाच्यम् । जिज्ञास्यस्यैव जगत्कारणताया उक्तत्वात् । नहि जिज्ञास्यं मायावच्छिन्नम् । तजिज्ञासाया अप्रयोजकत्वात् । किंच माययैकित्वत्वं भवत्युपचर्यते वा । आद्ये दृश्यत्वाद्यपि किं न स्यात् । द्वितीये प्रधानेऽपि तत्संभवादिति ।

मम त्वन्यदपि स्फुरति । सूत्रव्याख्याने यदुक्तम्, ईक्षतेरिति धात्वर्थनिर्देशो लक्षणया विषयिणा विषयलक्षणाद् यथा यजतेरिति तदपि फलिवति । सूत्राणां वेदान्तवाक्यकुसुमप्रथनार्थत्वस्य पूर्वं स्वयमेव कथनादत्रापि पूर्वं विषयवाक्योपन्यासाद्वाक्यविशेषगतत्वेन स्वार्थप्रत्यायकस्यैव धातोर्निर्देशस्य सूत्रकाराशयगोचरतया लक्षणया अत्राविश्रितत्वात् । किंच पञ्चशिववृत्तौ ब्रह्मपदस्य प्रधानवाचकताङ्गीकारात् तेन चेत् तत् स्मरेत् तदा प्रसङ्गे जात आनुमानिकादि-सूत्राण्यप्यत्रैव वदेत् । जन्मादिसूत्रविषयश्रुत्या तु न वक्तुं शक्यम् । तत्र तत्प्रसङ्गाभावात् । श्रुत्यन्तराणां त्वानुमानिकपाद एव विचारादिति । सूत्रान्तरव्याख्यानं तु नातिविरुद्धमित्युपरम्यते । हेयत्वावचनसूत्रे चकारं प्रतिज्ञाविरोधाभ्युच्चयार्थमाहुः श्रुतत्वाच्चेति । चकारप्रयोजनं न किमप्याहुः ।

रश्मिः ।

शुद्धसत्त्वप्रधानमायामात्रस्य । पूर्वमिति जन्मादिसूत्र इत्यर्थः । अविश्रितत्ववादिति तेन 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इत्यादीनां संग्रहो य उक्तः सोऽप्यसंगत इति भावः । अधुनास्मिन् प्रधाननिरूपणरूपपूर्वपक्षोत्थानमसंगतमित्याहुः किंचेत्यादि । अत्र प्रधानस्मारकपदाद्यभावेन प्रसङ्गसंगतैर्वैकुण्ठशक्यत्वात् । उपोद्घातादीनां चासंभवादसंगतमिदं स्यात् । यदि च ब्रह्मपदस्य प्रकृतिवाचकत्वं सांख्यसंगतमिति जिज्ञासासूत्रेण प्रधानं स्मरेदिति नासंगतं प्रधाननिरूपणरूपपूर्वपक्षोत्थानमिति विभाव्यते तदा दृष्टान्तरमाहुः पञ्चशिखेत्यादि । सूत्राणीति चतुर्थपादे वक्ष्यमाणानि । जन्मादीत्यादि 'यतो वा इमानि भूतानि' इतिश्रुत्या जन्मादिसूत्रेण चेत्यर्थः । तथा च जगत्कर्तृत्वेनार्थेन प्रधानस्मरणं वक्तुं शक्यं प्रधाने जगत्कर्तृत्वस्य सांख्याभिमतत्वादित्यपि नेत्यर्थः । तत्प्रसङ्गेति किं तु 'अधीहि भगवो ब्रह्म' इति ब्रह्मण एवोपक्रान्तत्वात्संगतिरिति भावः । जन्मादिसूत्रविषयश्रुतिपदस्योपलक्षकत्वात् । श्रुत्यन्तराणामिति 'इन्द्रियेभ्यः परा द्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः' इत्यादीनामित्यर्थः । विचारादिति जीवप्रकरणेन जीवपरत्वोपपादनरूपाद्विचारात् । तथा चात्र सूत्रे प्रधानस्मरणमावात्पूर्वपक्षोऽसंगत एवेति भावः । ईक्षति सूत्रे प्रधानस्मरणसासंगतत्वेनाप्रेपि तत्स्मरणसासंगतत्वमित्याशयेनाहुः नातिविरुद्धमिति । प्रतिज्ञेत्यादि यथारुन्धतीदिदर्शयितुस्तत्समीपस्थां स्थूलां तारामसुखां प्रथममरुन्धतीं ग्राहयित्वा तां प्रत्याख्याय पश्चादरुन्धतीमेव ग्राहयति तद्वन्मुख्यमात्मानमुपदिदिक्षुः प्रधानस्य हेयत्वं वदेत् स आत्मा तत्त्वमसीत्यत्र न चैवमवोचदिति सूत्रं व्याख्याय 'उत तमादेशमप्राक्षो येनाश्रुतम्' इत्याद्युपक्रमे श्रावणात् कारणविज्ञानेन

भाष्यप्रकाशः ।

मास्कराचार्या अप्येतदधिकरणं प्रधानकारणतानिरासायैवेति व्याख्युः ।

रामानुजाचार्यास्तु, मुख्यतया प्रधानकारणवादनिरासं व्याख्याय निर्विशेषविन्मात्र-ब्रह्मवादोऽप्येताभिर्भुक्तिभिः सूत्रकारेण निरस्यते । पारमार्थिकमुख्येक्षणदिगुणयोगिजिज्ञासं ब्रह्मेति स्थापनात् । निर्विशेषवादे हि साक्षित्वमप्यपारमार्थिकम् । वेदान्तवेद्यं ब्रह्म च जिज्ञास्यतया प्रतिज्ञाय तच्चेष्टतेर्नाऽशब्दमित्यादिसूत्रैश्चेतनमिति प्रतिपाद्यते । चेतनत्वं नाम चैतन्यगुणयोगः । अत ईक्षणगुणविरहिणः प्रधानतौल्यमेव । किंच निर्विशेषप्रकाशमात्रब्रह्मवादे तस्य प्रकाशत्वमपि दुरुपपादम् । प्रकाशोऽपि नाम स्वस्य परस्य च व्यवहारयोग्यतामापादयन् वस्तुविशेषः । निर्विशेषवस्तुनस्तदुभयरूपत्वाभावाद् घटादिवद्विचित्रमेवेति । अथ तदुभयरूपत्वाभावेऽपि तत्क्षमत्वमस्तीति चेन्न । तत्क्षमत्वं हि तत्सामर्थ्यवचनम् । तत्सत्त्वे निर्विशेषत्वहानेः । अथ श्रुतिप्रामाण्यादयमेको विशेषोऽभ्युपगम्यते, हन्त तर्हि सर्वशक्तत्वादयोऽन्येऽपि तथेति निर्विशेषवाद एव त्यक्तः स्यादित्याहुः ।

शैवस्तु रामानुजमतस्यैव चौरौ मध्वमतस्य च क्वचित् क्वचित् तद्विरुद्धां शैवश्रुतिश्रुदाहरन् भिन्नं प्रत्यानममिमन्यते । तन्मते ईक्षत्यधिकरणं जन्माद्यधिकरणोक्तलक्षणस्य प्रधानेऽतिव्याप्तिवारणाया । आनन्दमयाधिकरणं च जीवेऽतिव्याप्तिवारणायेति ।

मञ्चाचार्यास्तु, 'यतो वाचः', 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्', 'अवचनेनैव प्रोवाच' 'यद्वाचानभ्युदितम्' इत्यादिषु श्रुतिषु वाच्यत्वनिषेधाद् ब्रह्मणः शास्त्रयोनिवत्त्वोक्तं शास्त्रप्रमाणकत्वं न युज्यत इति पूर्वपक्षनिवृत्त्यर्थमीक्षत्यधिकरणम् । तत्र विषयवाक्यं तु, 'स एतस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिश्चर्यं पुरुषमीक्षते', 'आत्मन्येवात्मानं पश्येत्', 'विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' इत्यादि । एतेष्वीक्षणीयत्वश्रावणाद् वाच्यमेव ब्रह्म । न चेक्षणस्य दर्शनात्मकत्वात् कथं तेन वाच्यत्वसिद्धिरिति शङ्क्यम् । 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति वाक्यान्तरे उपनिषदेकगम्यत्वश्रावणेन प्रत्यक्षाद्य-वेद्यत्वे सिद्धे वचनेनैवेक्षणस्य विवक्षितत्वात् । नचाऽवचनेनोवाचेत्यादिश्रुतिविरोधः । तत्र साकल्येनावचनस्य विवक्षितत्वात् ।

'अप्रसिद्धैरवाच्यं तद् वाच्यं सर्वांगमोक्तितः ।

अतर्क्यं तर्क्यमज्ञेयं ज्ञेयमेवं परं स्मृतम् ॥

इति गारुडेन तथानिश्चयादिति व्याख्यायाग्रे प्रधानस्याश्रौतत्वं न सांख्यमतसिद्धमत-स्तस्याशब्दत्वव्यवस्थापनमसंगतमिति सूचयन्ति । ततो गौणश्रेत्यादिसूत्रेषु जीवात्मनीक्षणीय-त्ववाच्यत्वादिश्रौतगुणयोगं नानाश्रुतिस्मृत्युपन्यासेन निराकुर्वन्ति । समाप्तौ च पुनरपि रश्मिः ।

सर्वविज्ञानमिति प्रतिज्ञानस्य विरोधः । नहि सच्छब्दवाच्ये प्रधाने भोग्यवर्गकारणे हेयत्वेनाहेयत्वेन वा ज्ञाते भोक्तृवर्गो विज्ञातो भवतीति । चकारं प्रतिज्ञाविरोधसमुच्चयार्थमाहुरित्यर्थः । चौर इति भगवाच्चौर इत्यर्थः । अतिव्याप्तीति तेनैतन्मते मध्वरामानुजमतोक्तं ज्ञेयम् । तथेतीति प्रमाणमूतश्रुतिषोषिता इति निश्चयादित्यर्थः । नानाश्रुतिस्मृतीति ।

'यो गुणैः सर्वतो हीनो यश्च दोषविवर्जितः ।

हेयोपादेयरहितः स आत्मेत्यभिधीयते ॥

भाष्यप्रकाशः ।

सिंहावलोकनन्यायेन ब्रह्मणोऽवाच्यत्वमेव युक्त्यन्तरैर्दूषयन्ति ।

तत्रेदमवधेयम् । तथाहि । द्विविधं कपिलसूत्रप्रसिद्धं सांख्यम् । समाप्तरूपमष्टविंशतिसूत्रम् । तदुपरि पञ्चशतवर्षेऽस्ति । प्रवचनसूत्रात्मकं च षडध्याययुक्तम् । तत्राद्ये तु शास्त्रप्रतिपाद्यानामर्थानामुद्देशमात्रं नान्यत् । द्वितीये तु, 'सत्त्वरजस्तमःसाम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्, महतोऽहंकारोऽहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं स्थूलभूतानि पुरुष इति । पञ्चविंशतिर्गणः' इत्येकस्मिन् सूत्रे सर्वानुद्दिश्य ततोऽग्रे 'स्थूलात् पञ्चतन्मात्रस्य', 'ब्राह्मणान्तराभ्यां तैरहंकारस्य', 'तेनान्तःकरणस्य', 'ततः प्रकृतेः', 'संघातपरार्थत्वात् पुरुषस्य' इति पञ्चसूत्र्या स्थूलभूतानि प्रत्यक्षसिद्धान्यादाय तेभ्यः कार्येभ्य उपरितनानामानुमानिकत्वमेव कपिलाचार्यैराहृतम् । ततोऽग्रे यद्यपि 'प्रधानाजगज्जायते' इति श्रुतिं सूत्राकारेण पठन्ति त्रिविधं प्रमाणं चाङ्गीकुर्वन्ति, तदप्युक्तोपष्टमायैव, न तु शब्दस्य प्राधान्याय । अत एव व्यासचरणेरप्यानुमानिकसूत्रे तथैव तन्मतं सूचयित्वा दूष्यते । तेन सांख्यमते प्रकृतेर्बुद्ध्यतया शब्दगम्यत्वाभावेनाशब्दत्वमेव सिद्ध्यति । शब्दगम्यत्वस्यानुमानिकपादे निराकरणेन तस्याभिमानिकत्व एव पर्यवसानादिति । अत एतच्चतिरिक्तं सर्वं

रश्मिः ।

'एतदन्यस्वभावो यः स नात्मेति सतां मतम् ।

अनात्मन्यात्मशब्दस्तु सोपचारः प्रयुज्यते' ॥

इति वामन इति स्मृतिः 'द्वे वा व ब्रह्मणो रूपे आत्मा चैवानात्मा च तत्र यः स आत्मा स नित्यः शुद्धः केवलो निर्गुणश्च अथ ह योऽनीदृशः सोऽनात्मा' इति तलवकारश्रुतिः । युक्त्यन्तरैरिति न ह्यशब्दः श्रूयते न चाप्रसिद्धं कल्प्यं सर्वशब्दावाच्यस्य लक्षणायुक्तेरित्येवं युक्त्यन्तरैरित्यर्थः । प्रधानस्याश्रौतत्वं न सांख्यमतसिद्धमिति भागोऽसंगतः । तन्मते प्रधानादीनामानुमानिकत्वेनाश्रौतत्वात् । अन्यत्सर्वं संगतमित्याहुः तत्रेदमित्यादि । नान्यदिति । तथा च तस्य प्राथम्येपि विस्पष्टप्रतीत्यजनकत्वान्नोच्यत इति भावः । द्वितीये त्वित्यादि प्रवचनसूत्रात्मके । सत्त्वरजस्तमसामिति व्यस्तोपि पाठः । आनुमानिकत्वमिति 'कार्यात्कारणानुमानं तत्साहित्यात्' । 'अव्यक्तं त्रिगुणास्त्रिधात्' । 'तत्कार्यतस्तत्सिद्धेर्नापलापः' । 'सामान्येन विवादाभावात्' 'धर्मवदनुमानम्' इति सांख्यप्रवचनसूत्रेषु सत्त्वादिधर्मवदव्यक्तस्यानुमानेन तथेत्यर्थः । अथवा 'अचाक्षुषाणामनुमानेन बोधो धूमादिधिरिव वह्नेः' इति सूत्रे तथेत्यर्थः । तथा च स्थूलभूतातिरिक्तानां प्रकृत्यादीनामानुमानिकत्वमेवेति भावः । ननु 'प्रधानाजगज्जायत इति' इति सूत्रे प्रधानं श्रौतमित्याहृतं तत्राहुस्ततोऽग्र इति । स्थूलादित्याधारस्य त्रयोदशसूत्रीपठनानन्तरमित्यर्थः । श्रुतिमिति इतिशब्दान्तां श्रुतिम् । त्रिविधमिति 'त्रिविधं प्रमाणं तत्सिद्धौ सर्वसिद्धेर्नाधिक्यसिद्धिः' इति सूत्रेणेत्यर्थः । तत्र प्रत्यक्षानुमानशब्दात्मकम् । उक्तोपष्टम्भायेति प्रकृत्यादीनां यदुक्तमानुमानिकत्वं तदुपष्टम्भायेत्यर्थः । 'प्रधानाजगज्जायते' इति जगता प्रधानमनुमातव्यमिति श्रुतिमात्रप्रामाण्ये पूर्वोक्तं न सिद्धेदिति प्रमाणत्रयमङ्गीकृतमिति हृदयम् । प्राधान्यायेति तथा च प्रधानादित्यादिसूत्रं प्रधानस्य जगत्कर्तृत्वबोधने परिसमाप्तं न तस्य श्रौतत्वबोधनायालमिति भावः । तथैवेत्यादि । आनुमानिकमिति प्रकृत्यादि-

भाष्यप्रकाशः ।

सम्यगेव । अत एव भाष्यान्तरेऽपि प्रकृतेस्तथात्वस्यैवादर्णमिति दिक् ।

विज्ञानेन्द्रभिक्षुस्तु, ननु यदि प्रलये प्रधानादिसमन्वयो ब्रह्मण्युपगतस्तर्हि तस्यैव श्रुत्युक्तं जगत्कारणत्वमस्तु । भवदभिमतब्रह्मकल्पने तस्य जगदधिष्ठानकारणत्वकल्पने च गौरवात् । सांख्यसूत्रेष्वीश्वरस्य निराकृतत्वात् । ब्रह्मशब्दश्च व्यापकत्वात् प्रधानजीवयोरुपपद्यत एव । अधिष्ठानकारणत्वं च जीवानामेवास्तु । समस्तकार्याणामदृष्टद्वारा जीवकार्यत्वस्य अदृष्टवदात्मसंयोगजन्यतया जीवधेयत्वस्य च सर्वास्तिकसंमतत्वात् । 'सर्वं तं परादाधोऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद' इति, 'सर्वभूतस्यमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि,' 'येन भूतान्यशेषेण द्रश्यस्यात्मन्यथो मयि' इति जीवप्रकरणस्यश्रुतिस्मृतिसंख्यामपि तथावसायाच्च । अतः शास्त्रस्य नित्येश्वरपरत्वे शास्त्रयोनित्वादितिहेतुराश्रयासिद्धः । कार्येश्वरपरत्वे च पृथक् शास्त्रारम्भवैकल्यम् । सांख्यादिभिरेव तथाचिधब्रह्मनिरूपणादिति शङ्कायामिदं सूत्रं प्रवृत्ते । ईक्षतेर्नाशब्दमिति । विवादास्पदप्रधानादिभ्योऽतिरिक्तं ब्रह्म न अशब्दं, न अशास्त्रयोनि, न जगत्कारणश्रुत्यप्रतिपाद्यमिति यावत् । कुतः । ईक्षतेः । इतराश्रुतिश्रुत्युक्तेक्षतिधर्मकत्वात् । तथाच कारणश्रुतिः पराभिमतप्रधानाद्यन्यविषया, तदवृत्तिधर्मप्रकारेण बोधकत्वात् । आकाशाद् वायुरित्यादिश्रुतिवदिति । अथवा तजगज्जन्मादिकारणं ब्रह्म चेतनमचेतनं वा । चेतनत्वेऽपि स्वयंभूतदतिरिक्तो वेति विशेषाकाङ्क्षायां प्रवृत्ते ईक्षतेर्नाशब्दमिति । जगत्कारणं ब्रह्म ना पुरुष एव । कुतः ईक्षतेः । ईक्षणश्रुतिगोचरत्वाद् । अत एवेक्षणात् तद् ब्रह्म अशब्दं शब्दब्रह्मणो हिरण्यगर्भादतिरिक्तं च भवति, सुतरां पुरुषान्तरेभ्य इत्यर्थः । हिरण्यगर्भस्य वेदमयत्वेन वेदगर्भत्ववच्छब्दब्रह्मत्वमपि स्वयंते

'पूर्वस्यादौ परार्द्धस्य ब्राह्मो नाम महानभूत् ।

कल्पो यत्राऽभवद् ब्रह्मा शब्दब्रह्मेति यं विदुः' ॥

इति भागवतादिष्विति । एवं द्विधा सूत्रं व्याख्याय, तदैक्षत बहु स्यामिति विषयवाक्यं दर्शयित्वा ।

रश्मिः ।

विशेषणदानेनानुमानिकं प्रकृत्यादीति तन्मतं सूचयित्वेत्यर्थः । भाष्यान्तर इति अनुव्याख्यानसंज्ञके मध्यभाष्य इत्यर्थः । तथात्वस्यैवेति मुख्यतयात्राऽशब्दत्वस्यैवेत्यर्थः । यथाहुः ।

'न च सांख्यनिराकृत्यै सूत्राण्येतान्यचिकुपत् ।

भगवान् न ह्यशब्दत्वं प्रधानेङ्गीकरोत्यसौ' ॥

इति । तस्यैवेति अविभक्ततया स्थितस्य ब्रह्मणः 'अविभक्तं च भूतेषु' इति वाक्यात् । भवदभीति प्रायोपाधिक इत्यर्थः । पदार्थद्वयकल्पने गौरवात् । प्रकृत्यविभक्तं तु क्लृप्तमेवेति गौरवम् । जगदधिष्ठानेति एतदुपपादितम् । सांख्यसूत्रेष्विति 'ईश्वरासिद्धेः' इत्यादिष्वित्यर्थः । 'मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः' । 'उभययाप्यसत्कारत्वम्' । 'मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासासिद्धस्य वा' इति सूत्रेष्वित्यर्थः । अधिष्ठानेत्यादि उक्तसूत्राग्रे 'तत्संनिधानादधिष्ठातृत्वं गणिवत्' इति सूत्राच्येत्यर्थः । 'विशेषकार्येपि जीवानाम्' 'सिद्धरूपबोधत्वात् वाक्यार्थोपदेशः' 'अन्तःकरणस्य तदुच्छ्रितत्वात्लोहवदधिष्ठातृत्वम्' इति सूत्राण्यलोप्याह सम्भस्तेत्यादि । शास्त्रयोनित्वहेतोरेश्वरेऽभावाजीवेनादावाहुः आश्रयेति । शास्त्रारम्भेति । शास्त्रं वेदान्तः । नेति चेतन

भाष्यप्रकाशः ।

‘सर्गकाले तु संग्राप्ते ज्ञात्वा तं कालरूपकम् ।
अन्तर्लानविकारं च तत् स्रष्टुमुपपन्नम् ।
तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं ततश्चापि महानभूत्’ ॥

इति स्मृतिं च दर्शयित्वाह । नहीदमीक्षणं प्रधानादीनामचेतनानां संभवति । ईक्षण-
ध्यानचिन्तनादिशब्देषु चैतन्यस्य विशेष्यत्वात् । ईक्षणादिशब्दस्योपाधिबुध्तिवाचकत्वेऽपि प्रकृति-
स्वातन्त्र्यवादिभिरपि प्रधाने तत्पूर्विकाया वृत्तेरनङ्गीकाराच्च । नापि जीवानां, महदादिसृष्टेः पूर्व
करणाभावेन तेषां चैतन्यफलोपधानाभावात् । नचेयमीक्षणपूर्विका सृष्टिर्महत्त्वसृष्टेः पश्चादिति
पक्तुं शक्यम्, तथा सतीक्षणात् पूर्वमपि द्वैतापत्त्या, ‘सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्’ इती-
क्षणाव्यवहितपूर्वश्रुत्यनुपपत्तेः । ततश्चापि महानभूदिति स्मृतिविरोधाच्च । नच तत् पूर्वसर्गीय-
मिति वक्तुं शक्यम् । सर्गकाले तु संग्राप्ते ज्ञात्वेति सर्गसमकालीनज्ञानावगमादित्यादि । ततः
शांकरमतीयं छत्रव्याख्यानं, मायां तु प्रकृतिं विद्यादिति श्रुतिव्याख्यानं च दूषयित्वा ततः
सांख्ययोगयोर्वेदाविरुद्धत्वं च साधयित्वा रजस्तमःसंभिन्नतया मलिनं कार्यसत्त्वं परमेश्वरस्य
नोपाधिः, किंतु केवलं नित्यज्ञानेच्छानन्दादिमत् सदैकरूपं कारणसत्त्वमेव तस्योपाधिः ।
‘न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गम्’ इत्यागामिदं प्रात् । ब्रह्मविष्णुमहेश्वरास्तु सृष्टिस्थितिसंहाराधि-
कारिणः कार्यसत्त्वाद्युपाधिका महदाख्या अवान्तरेश्वरा एव । तेषां च कार्योपाधित्वम् ।
‘गुणेभ्यः क्षोभ्यमाणेभ्यस्त्रयो देवा विजज्ञिरे ।
एका मूर्तिस्त्रयो देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
साश्विको राजसश्चैव तामसश्च त्रिधा महान्’ ॥

इति मात्स्यादिभ्यः । बुद्ध्याख्यसमष्टिमहत्त्वं हि त्रिगुणात्मकरञ्जवत् त्रिगुणात्मकमेकमेव ।
सत्त्वाद्यंशमेदेन त्रयाणां देवानां च शरीरं भवतीत्येका मूर्तिरित्युच्यते हरिहरात्मकदेहवत् । अत
एव चैतत्त्वक्षमशरीराधारभूतं विराडाख्यं स्थूलशरीरमेकमेवेति त्रयाणामेव विश्वरूपत्वमुपपद्यते ।
अथ च देवाश्चेतनरूपा भिन्ना एव । अत एव त्रयाणामेकपिण्डतया वातपितृकफवत् परस्पर-
सापेक्षत्वाद् ।

रहिमः ।

इत्यर्थः । विशेष्यत्वादिति आश्रयतयाऽपेक्षणीयत्वेन तथात्वादित्यर्थः । ईक्षणादिमचेतन्यमिति प्रयो-
गोऽत्र । नन्वीक्षणादेर्द्वित्वादिवद्भासज्यवृत्तित्वेन शबलवृत्तित्वात् प्रधानज्ञानवाचकत्वमपि निर्दुष्टमिति
शङ्कयामाहुः । ईक्षणेत्यादि । तत्पूर्विकाया इति चैतन्यवृत्तिपूर्विकायाः प्रधानवृत्तेरित्यर्थः ।
उपाधिपूर्विकाया वा, वृत्तिज्ञानविशेषः । नापीत्यादि ईक्षणं संभवतीति योजना । करणेत्यादि
शरीरेन्द्रियादिरूपस्य करणस्याभावेनेत्यर्थः । चैतन्येत्यादि जीवानां चैतन्यस्य फलं कार्यं तस्य
यदुपधानं जननयोग्यत्वं तदभावादित्यर्थः । ‘मनोमात्रमिदं ज्ञात्वा’ इत्यादिवाक्यान्महत्त्वाख्यं
मनो ब्रह्मण्यन्तर्भाष्याशङ्कते न चेयमिति । द्वैतापत्त्येति महदादिसर्जनार्थं शरीराद्यपेक्षणादिति
भावः । महत्त्वेन द्वैतापत्तिर्वा । इतिस्मृतीत्यादि महत्त्वसृष्टेः पूर्वमीक्षणबोधकस्मृतिविरोधाच्चेत्यर्थः ।
ततश्चेत्यादि तत इत्यनेनाव्यक्तपरामर्शादिति भावः । तत्पूर्वेति । तदिति स्मृत्युक्तं महत्सर्जनम् ।
सर्गसमेति ‘समानकर्तृकयोः पूर्वकाले’ इति तत्रो विधायकसूत्रापत्त्यर्थः । संभिन्नान्येति

भाष्यप्रकाश-रहिम-परिच्छिद्यम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

‘अन्योन्यमनुरक्तास्ते ह्यन्योन्यमनुजीविनः ।
अन्योन्यं प्रणताश्चैव लीलया परमेश्वराः’ ॥

इति मत्स्यादिवाक्यमप्युपपन्नम् । एतेन त्रयाणां भेदाभेदावपि व्याख्यातौ वेदितव्यौ । ननु
तेषां कार्योपाधिकत्वेऽपि, ‘त्रिधा कृत्वाऽऽत्मनो देहं सोऽन्तर्यामीश्वरः स्थितः’ इति स्मृतेर्योगि-
कायव्युहवल्लीलावतारत्वमेवाऽस्तु, किमर्थं विष्वादीनां चेतनान्तरत्वं कल्प्यत इति चेन्न । कर्मि-
‘प्रधानं पुरुषं चैव प्रविश्याशु महेश्वरः ।
क्षोभयामास योगेन परेण परमेश्वरः ॥
प्रधानात् क्षोभ्यमाणाच्च तथा पुंसः पुरातनात् ।
प्रादुरासीन्महद्बीजं प्रधानपुरुषात्मकम्’ ॥

इत्यनेन, तथा विष्णुपुराणादिषु च पुरुषान्तरेण सह प्रकृतिं संयोज्यैव परमेश्वरस्तदुभया-
त्मकं देवतात्रयरूपं महान्तं सृजतीत्यवगमात् ।

‘ब्रह्मादीनां त्रयाणां तु स्वहेतौ प्रकृतौ लयः ।

प्रोच्यते कालयोगेन पुनरेव समुद्भवः’ ॥

इति मात्स्यादिभ्यस्तेषामुत्पत्तिलयसिद्धेश्च । अस्मिन् कूर्मवाक्ये ईश्वरप्रवेशो जीवस्य
ज्ञानेच्छाप्रयत्नव्यापनरूपः । क्षोभश्च गुणद्वारा । योगश्चैकात्म्यम् । अयं च क्षोभः संयोगविशेषद्वारा
महतो हेतुः । एवं पुराणान्तरेभ्योऽपि न तेषां साक्षादवतारत्वम् । किंच । मनुना

‘यत् तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ।

तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति गीयते’ ॥

इत्यनेनाव्यक्तब्रह्मकार्यस्यापि लौकिकब्रह्मत्वमुक्त्वा, ‘आपो नारा इति प्रोक्ताः’ इत्यादिना
योगेन तस्यैव नारायणत्वमुक्तमतो नारायणादप्यतिरिक्त एव परमेश्वर इति । नच नारायणादि-
शब्दानामुपाधिमात्रपरत्वमिति वाच्यम् । तथा सति लक्षणापत्तेरिति । अत एव विष्वादिदेवतायाः
कृष्णाद्यवतारेषु न पुरुषान्तरप्रवेशः श्रूयते, फलवान् वा भवतीत्यतोऽशावतारत्वमेव । अत एव
भागवते ऋष्यादीन् प्रकृत्य स्मर्यते,

रहिमः ।

मिश्रतया । ननु ‘प्रधानं पुरुषं चैव प्रविश्य’ इत्युक्तौ जीवद्वयमेकत्र देहे स्यादित्यत आहुः अस्मिन्
कूर्मवाक्ये इति । प्रधानपुरुषयोः संचालनसंभवेन कर्मत्वानुपपत्तिमात्राद्दक्षोभश्चेति । तथा च
गुणान् संचालयामासेत्यर्थः । धात्वर्थमाह अयं चेति तथा च गुणानां मुख्यगौणभावेन संयोगं
कृतवानित्यर्थः । उपाधिमात्रेति मात्रा च शुद्धस्वरूपव्यवच्छेदः । तथा चाविभागाद्द्वैतहानिरिति
भावः । लक्षणापत्तेरिति जहदजहलक्षणापत्तेरित्यर्थः । नारायण इत्यत्र नारा आपस्तासां
त्यागोऽव्यक्तमात्रमात्मा नारायणान्तर्गीतोऽव्यक्तसंबन्धस्य त्यागः । अस्वात्मनोरैक्यम् । एवं तत्त्वमसीत्यत्र
मायाविषयोस्त्यागः ब्रह्मविष्णोरप्येवम्, एतन्मते त्वविभक्तत्वेनैवाद्द्वैतम् । गीतोक्तसात्त्विकविषयम् ।
अत आपत्तिशब्दः । अत एवाविभागाद्द्वैतं सिद्धम् । पुरुषेति विष्णुपुरुषादन्यः पुरुषः पुरुषान्तरं
तस्मिन् प्रवेशः । किंतु स्वस्मिन् विष्णवंश एव कृष्णे । फलं कार्यं तद्वान् पुरुषान्तरप्रवेशः । अशेति
विष्णवंशावतारत्वमित्यर्थः । ‘सर्वं तं परादात्’ इत्युक्तश्रुत्यैवकारः । अत्र प्रमाणमाहुः अत इति ।

भाष्यप्रकाशः ।

‘एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे ॥ इति ।

अत्र कृष्णो विष्णुः स्वयं परमेश्वरः, तस्य पुत्रवत् साक्षादंश इत्यर्थः । ऋष्यादीनामंशांशिवचनादिति । न चैवं सति, ‘मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय’ इति गीतावाक्यविरोध इति वाच्यम् । तथाविधवाक्यानां व्यक्तपरत्वात् । ईश्वरस्य चाव्यक्ततया व्यवहार्यत्वाभावात् । एतेनापि विष्ण्वादीनां परमेश्वरत्वादिकं व्यक्तापेक्षया बोध्यम् । नित्यत्वं च ‘आभूतसंपुत्रं स्थानममृतत्वं हि भाष्यते’ इति स्मृतेर्बोध्यम् । अथवा, ‘यो यो देवानां प्रत्यबुद्धयत स एव तदब्रुवत्’ इति श्रुतेर्विष्णुदेवताया औत्पत्तिकब्रह्मात्मभावान्मत्तः परतरं नास्तीत्यादिवचनोपपत्तिः । वक्ष्यति चाऽऽचार्यः, ‘शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्’ इति । अत एवानुगीतायां, ‘परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया’ इति श्रीकृष्णवचनाद् भगवद्गीतायां परब्रह्मैव कार्यब्रह्मणा श्रीकृष्णेनाहमित्युपदिष्टमिति निर्णीतम् । किञ्च । अन्येषामपि ज्ञानिनां ब्रह्मभावेऽपि विष्णावेव मुख्यतो ब्रह्मभावान्मत्तः परतरं नास्तीति वचनमुक्तं, नान्यस्य । तस्य सर्वज्ञानियुक्त्यमुक्तं मोक्षधर्मं,

‘अनाद्यन्तं परं ब्रह्म न देवा नर्षयो विदुः ।

एकस्तद्वेद भगवान् धाता नारायणो विशुः ॥

नारायणाद्यपिगणः’ इत्यादिना ।

तथा शिवस्यापि मत्तः परतरं नास्तीति वचनं बोद्धव्यम् । किञ्च । योगयुक्ता ये जीवाः पूर्वपूर्वेषु संगेषु करणवर्गेण सह च सायुज्यमुक्त्या परमेश्वरतां गतास्ते वासुदेवव्यूहेऽन्तर्भवन्ति । तत्र च व्यूह एक एव वासुदेवो नित्येश्वर इतरे तदंशा वासुदेवाः । तथा संकर्षणप्रद्युम्नोऽनिरुद्धाख्यव्यूहरूपिणो विभूतिगणाः पूर्वसिद्धाः । त एते यथायोग्यं महदादिविराडन्तरूपेण ब्रह्मविष्णुरुद्ररूपेण चांशावताराः परमेश्वरस्य भवन्ति । ‘आगच्छन्ति यथाकालं गुरोः संदेशकारिणः’ इति मोक्षधर्मात् । तथाच ये हरिहरादयः परमेश्वरकोटयस्तेषां, मत्तः परतरं नास्तीति वचनमुपपद्यत एव । यद्यपि तेषां जगद्द्वयापारवर्जमेवैश्वर्यं तथापि परमेश्वरात्मकतया सर्वस्रष्टृत्वसर्वाधारत्वारहितः ।

मृडयन्तीति सुखयन्तीत्यर्थः । अत्रार्थे प्रमाणमाहुः ऋष्यादीनामिति । वाक्येशस्य कला इति समासं मत्वाहुः अंशांशीति । तथा चांशसापेक्षणात्कृष्णोऽंश इत्यर्थः साधुः । ऋष्यादीनामंशाः पुत्रादयस्ते सन्त्येषां तैश्चिन इत्यर्थः । व्यक्तपरत्वादिति तथा च व्यक्तं ‘मत्तः परतरं नान्यत्’ इत्यर्थः । परमेश्वरत्वषोषकानां संगतिमाह एतेनेति । विष्ण्वादिनित्यत्वषोषकानां संगतिमाह नित्यत्वं चेत्यादि । एकस्यांशांशिभावः उक्तः स विरुद्ध इति पक्षान्तरमाहुः अथवेति । ‘प्रत्यबुद्धयत’ यथावदात्मानं प्रतिबोधितवान् । औत्पत्तिकेति नित्यब्रह्मात्मभावस्तत्कृतः स कृष्णस्तदभिन्नान्मत्तः इत्यर्थः । तर्क्षन्तेषामपि ब्रह्मभाव एतादृशः स्याद्ब्रह्मज्ञे आत्मनोऽप्यविभाग इति । ब्रह्मात्मभावादित्यत्रात्मशब्दोऽधिक इत्यत आह किं चेत्यादि । ब्रह्मभावादिति कृष्णरूपात् । वचनमिति तस्य वचनमुक्तं नान्यस्यैः । योगयुक्ता इति । स्वमागेषि मानसीसेवाया योगत्वेन व्याख्यानात् । अन्ये तु ‘पतन्त्यधो नादतयुष्मदङ्गयः’ इतिवाक्यविषयाः । करणेति सूक्ष्मदेहेन । द्वितीयस्कन्धेऽस्ति । इतर इति कृष्णाद्याः । परमेति परमेश्वर आत्मा येषां त्रयाणां

भाष्यप्रकाशः ।

द्युपदेशोऽपि तेषु युज्यत एव । ननु यद्येवं तदा गीतादिषु विष्ण्वादिदेवतैश्वर्यमेव कृत उक्तं; न परमेश्वरत्तदैश्वर्यं वेति चेन्न ।

‘एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पशुपासते ।

ये चाप्यश्वरमच्यक्तं तेषां के योगविचमाः’ ॥

इति प्रभप्रतिवचनाभ्यां विष्णुदेवाद् भेदेन परमेश्वरकथनात् । ‘अनादिमत् परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते’ इत्यादिना च परमेश्वरस्यैश्वर्यादिकथनादिति । ये त्वीश्वरस्यान्तर्याम्यतिरिक्तविश्रयापि योगिनामिव लीलाशरीरमिच्छन्ति, तेषां मते, ‘न तस्य कार्यं करणं च विद्यते’, ‘अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः’, ‘अक्षरात् परतः परः’ इत्यादिश्रुतीनां, ‘अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्’ इत्यागामिद्वयस्य च विरोधः । कार्यं शरीरम् । करणं बुद्ध्यादि । बुद्ध्यादिना हि शरीरं प्रेर्यत इति । ‘सर्वदेहविवर्जितः’ ‘अशरीरः शरीरेषु सर्वेषु निवसत्यसौ’ इति, ‘देहद्वयस्थितो नित्यः सर्वं देहविवर्जितः’ इति मारतादिष्वीश्वरस्य देहद्वयप्रतिषेधात् । अतो विष्ण्वादिदेवानामेव स्थित्यादिलक्षणस्वाधिकारपालनाय मत्स्यादयो लीलावताराः । ते च परब्रह्मणः प्रकृष्टशक्तितया आवेशावतारतया वा परमेश्वरत्वेनोपास्या इति । तथाच श्रुतिः—

‘यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते’ ॥

‘यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।

अविज्ञातं विज्ञानतां विज्ञातमविज्ञानताम्’ ॥

इति । नन्वेवं परब्रह्मणः सकाशाद् विष्ण्वादिदेवानां भिन्नत्वे विष्णुशिवप्रकरणस्थानि सृष्ट्यादिवाक्यानि ब्रह्मनिरूपणे साध(क)नतया विचारकैः किमित्युपन्यस्यन्त इति चेतयोरीश्वरकोटितया परमेश्वरेण सह व्यवहारसाम्यादिति गृहाण । अत एव, ‘त्रयाणामेकमावानां यो न पश्यति वै मिदाम्’ इत्यादिभिन्नयाणामेव देवानां स्वाभाविकब्रह्मात्मभावसाम्यात् सर्वोपनिषत्सु त एवोपासनार्थं ब्रह्मतयोपदिश्यन्त इति । परब्रह्मणश्च स्वतो नामरूपाद्यभावः ।

‘न सन्ति यत्र सर्वेशे नामजात्यादिकल्पनाः ।

सत्तामात्रात्मके ज्ञेये ज्ञानात्मन्यात्मनः परे ॥

नामरूपे न यस्यैको योऽस्तित्वेनोपलभ्यते’ ।

इत्यादिरूपविष्णुपुराणादिवाक्यात् । आत्मनः पर इति जीवादतिरिक्ते । अतः परब्रह्मणो नामरूपाद्यभावान्मुख्यविकारयोर्हरिहरयोर्नामरूपाभ्यामेव शास्त्रेषु प्रायशो व्यपदेशः । अत एव वैष्णवाः शैवाश्च विष्ण्वाद्यतिरिक्तं परमेश्वरमविद्वांसो ब्रह्ममीमांसाशास्त्रं विष्ण्वादिपरतया व्याख्याणा अविवेकिन एवेति मन्तव्यम् । एवं पञ्चग्रन्थां संक्षेपतः प्रदर्शितः शास्त्रार्थ इतः परं प्रपञ्चयत इत्याह ।

रश्मिः ।

तत्फलं वा । अविभागाद्वैतादेवेति । ऐश्वर्यादीति अहं परं यस्येति बहुव्रीहिणेत्यर्थः । अन्तर्यामीति अन्तर्यामिनाक्षणे स्फुटमिदम् । देहद्वयेति स्थूलसूक्ष्मदेहद्वय इत्यर्थः । व्यष्टिसमष्ट्यात्मकदेहद्वयेति वा । इयं चकारेति अविभागाद्वैतेन तथा । पञ्चसूत्र्यामिति एतत्प्रपर्यन्तायां जन्माद्यस्येति

भाष्यप्रकाशः ।

तदप्यविचारमणीयमेव । सदेव सोम्येदमग्र आसीदित्यनेन निरूपिताया आदिसृष्टेः पूर्वं केवलं ब्रह्मैव, नान्यदित्यस्य साधने तदभिमताविभागलक्षणद्वैतस्याऽवान्तरसृष्टिाकाल-विषयत्वव्युत्पादनेन तदानीं तदभिमतप्रकारेण प्रधानादिसमन्वयस्याशक्यवचनतया जीवा-दृष्टस्याप्यभावेन प्रथमव्याख्यानागतपूर्वपक्षस्यैवासंगतत्वेन तदपाकरणाय सप्रवृत्तेर्वक्तुमशक्य-त्वात् । द्वितीयव्याख्यातं तु न दृष्टम् । सांख्ययोगयोः सर्वांशेन श्रुत्यविरुद्धत्वोपपादनं त्वसंगतमेव ।

‘अक्षपादप्रणीते च काणादे सांख्ययोगयोः ।

त्याज्यः श्रुतिविरुद्धोऽश्वः श्रुत्येकशरपैर्नृभिः ॥ -

जैमिनीये च वैयासे न विरोधोऽस्ति कश्चन’ ।

इति पराशरोपपुराणीयावाक्यविरोधात् । नच योऽभ्युपगमवादत्वेनोक्तो नित्येश्वरदृष्ट्यादिः स एव त्याज्योऽस्त्विति चाच्यम् । तदुक्तषडध्याय्यां तस्याभ्युपगमवादत्वगमकानुपलम्भात् । नित्यानित्यवस्तुविवेकव्यतिरिक्तान्तरेऽपि तथात्वात् । ‘कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्’ इति श्रुत्या तथा निश्चयात् । एवं योगेऽपि द्रष्टव्यम् । जीवात्मज्ञान-मात्रेण मोक्षाङ्गीकारस्यापि तथात्वात् ।

‘येऽन्येऽरविन्दाश्च ! विमुक्तमानिनस्त्वयस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।

आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनाहतयुष्मदङ्गयः’ ॥

इति श्रीभागवते विविक्तजीवात्मज्ञानाद्विमुक्तमानिनां पातकथनेन तथा निश्चयादिति । तथा परमेश्वरस्य ब्रह्मविष्णुमहेश्वरातिरिक्तस्य कारणसत्त्वोपाधिकत्वस्थापनमप्यसंगततमम् । शिवतत्त्वविवेकस्थापितस्योङ्कारवाच्यस्य गुणसाम्योपाधिकस्य सर्वेश्वरस्यैव कारणसत्त्वोपाधिकस्यापि रश्मिः ।

सप्तद्वयमिति । एतदपि विशिष्टद्वैततुल्यमिति दूषयन्ति तदपीत्यादि । तदभिमतेत्यादि त्रिगुणा-त्मकरजुवत्रिगुणात्मकब्रह्मविष्णुशिवात्मकमेकमेव नित्यज्ञानेच्छानन्दादिमत्सदैकरूपकारणसत्त्वोपाधिकं ब्रह्मकार्यं तत्कारणं ब्रह्म इत्येवं तदभिमतेत्यादि । तदानीमिति प्रथमसृष्टिकाल इत्यर्थः । अती-तार्थमात्रपरत्वकल्पनेपि साकारप्रतिपादकत्वेनादोषादाहुः द्वितीयेति । अभ्युपगमवादत्वेनेति आग्रहवादो युक्तिरहितोऽभ्युपगमवादः । ननु किं तेनेत्यत आहुः नित्यानित्येत्यादि । तथात्वा-दिति श्रुतियुक्तिविरुद्धत्वेनाभ्युपगमवादत्वादित्यर्थः । तदर्थं श्रुतिविरोधमाहुः काल इत्यादि । अत्र योनिवादनिरासात्प्रधानवादोप्यभ्युपगमवाद इति निश्चयादित्यर्थः । ‘एतेन योगः प्रत्युक्तः’ इतिसूत्रादद्यज्ञयोगे किंचिदाहुः एवं योग इति । षडङ्गयोगस्योपनिषदत्वात् । शिवतत्त्वेत्यादि ‘अथास्य पुरुषस्य चत्वारि स्थानानि भवन्ति नाभिर्हृदयं कण्ठं मूर्धा तत्र चतुष्पादं ब्रह्म विभाति जागरिते ब्रह्मा सुप्ते विष्णुः सुषुप्तौ रुद्रस्तुरीयमक्षरं स आदित्यो विष्णुश्च’ इति ब्रह्मादिभ्यः परमक्षर-शब्दं सर्वदेवतात्मकं तत्त्वान्तरं दर्शितम् । स एव ‘न तत्र देवा ऋषयः पितर ईशते’ इति श्रुत्यानन्ये-श्वरः । ‘एको देवः सर्वभूतेषु गूढः’ इति श्रुत्यान्तर्यामी चेति ब्रह्मोपनिषदि । अपि च जगत्कारणं ब्रह्म मास्योपाधिकचैतन्यमित्यविवादं ब्रह्मविष्णुरुद्रास्तु तदीयगुणविशेषोपाधिचैतन्यरूपाः’ सैषा चित्रा सुवदा षडङ्गरा स्वयं गुणभिन्नाङ्गरेष्वपि गुणभिन्ना सर्वत्र ब्रह्मविष्णुशिवरूपिणी’ इति श्रुतेः । ततमोपा-

भाष्यप्रकाशः ।

निरुपाधिकपरमेश्वरप्रतिनिधित्वेनैव ब्रह्मोपनिषद्वृत्तिसंहतापनीयमैत्रायणीयाथर्वशिखासु सिद्धत्वात् । इदं यथा तथा प्रहस्ताख्ये वादे निपुणतरमुपपादितमिति नेह प्रपश्यते । नच निरुपाधिकस्य निराकारत्वं शक्यम् । ‘आनन्दरूपममृतं यद्विभाति’ इति मुण्डके, ‘अकारं ब्रह्माणं नामौ उकारं विष्णुं हृदये मकारं रुद्रं भ्रूमध्ये अकारं सर्वेश्वरं द्वादशान्ते आनन्दाऽमृतरूपं प्रणवं षोडशान्ते’ इति तापनीये, ‘आनन्दमात्रकरपापमुलोदरादिः’ इति पञ्चरात्रस्मृतौ, ‘अथवा परमात्मानं परमानन्द-रश्मिः ।

धिषेदे उपहितभेदसौचित्यात्, गुणमूर्तिभ्यः परं मायोपाधिकं जगत्कारणं ब्रह्मेति सिद्धम् । तत्रोभास-हायं परमेश्वरं प्रभुम्, ‘ऋतं सत्यं परं ब्रह्म’ इति केवल्योपनिषच्छूतेरेतद्गुरित्यप्ययदीक्षितास्तत्र वदन्ति तादृशेश्वरस्यैवेत्यर्थः । प्रतिनिधित्वेनेति अत्रैवं ज्ञेयम् । यन्मूर्तित्रयातीतं तुरीयं तत्त्वं परं ब्रह्मेति प्रत्यपादि तन्मन्दम् । ब्रह्मोपनिषधेव पूर्वोक्तानन्तरं पठ्यते तेषां मध्ये यत्परं ब्रह्म विभाति स्वयमम-नस्कमश्रोत्रमपाणिपादं ज्योतिर्वर्जितं नेत्यक्षरस्वरूपं निरूप्य तस्य ब्रह्मलोकत्वप्रसिद्धौ ‘तत्र लोका न लोका देवा न देवा वेदा न वेदा यज्ञा न यज्ञा माता न माता पिता न पिता सुषा न सुषा चाण्डालो न चाण्डालः पौलकसो न पौलकसः श्रमणो न श्रमणः पशवो न पशवस्तापसो न तापसः इत्येकमेव परं ब्रह्म विभाति’ इत्यनेन तत्र लोकादीनां ब्रह्मत्वमुच्यते न तु लोकादयो निषिध्यन्ते । एकेनैव लोकादिपदेन चारितार्थ्यात् । ततो हृद्याकाशे तद्विज्ञानमाकाशं तत्सुपिरमाकाशमित्यनेन तस्य भक्तहृदयाकाशत्वलोकादीनां ब्रह्मत्वोक्तेर्निरूप्य प्रायपाठानुरोधप्राप्तप्रथमार्थसप्तम्या ततस्तादृश-हृदि वेद्यं पूर्णं ब्रह्म ज्ञपयितुं तदेद्यं हृद्याकाशे ‘यस्मिन्निदं सं च विचरति’ ‘यस्मिन्निदं सर्वमोतप्रोतमिति तल्लक्षणमुक्तम् । तथा च ब्रह्म प्रतिनिधीयतेस्मिन् इति प्रतिनिधिरक्षरं तत्त्वेनेत्यर्थः । वृत्तिसंहतापनीयेत्यादि यदप्यप्ययदीक्षितेन ‘अकारं ब्रह्माणं नामौ उकारं विष्णुं हृदये मकारं रुद्रं भ्रूमध्ये’ इति नाभिहृदयभ्रूमध्येष्वकारादिमात्रात्रयवाच्यानां ब्रह्मादीनामुपासाविधानानन्तरं अकारं सर्वेश्वरं द्वादशान्त इति द्वादशान्तोपास्यं तेभ्यः परं तत्त्वान्तरं तापनीये दर्शितमित्युक्तम् । तत्रापि तदनन्तरं सप्तात्मानं चतुरात्मानं चतुःसप्तात्मानं चतुरात्मानमानन्दामृतरूपं प्रणवषोडशान्तर इति भक्तसाहित्यलिङ्गेन प्रतिनिधेरेवोक्तेर्युक्तत्वात् । यदपि तेन मैत्रेयोपनिषदि ‘तमो वा इदमेकमास’ इत्यारम्य ‘तत्परेणेरितं विषमत्वं प्रयात्येतद् रजसो रूपम्’ इत्यादिना तपोधिष्ठातुः परस्य संकल्पेनावि-द्याख्यस्य तमसो गुणविभागं निरूप्य तस्य प्रागुक्ता अग्न्यास्तनवो ब्रह्मा रुद्रो विष्णुरिति ‘अथ यो ह खलु वा वास्य राजसोशो योयं ब्रह्माथ यो ह खलु वा वास्य तामसोशोऽसौ योयं रुद्रोथ यो ह खलु वा वास्य सान्त्विकोशोऽसौ योयं विष्णुः’ इति तेभ्यः परं तत्त्वान्तरं दर्शितमित्युक्तम् । तत्रापि ततः पूर्वं ब्रह्मणो वा एता अग्न्यास्तनवः परस्यामृतस्याशरीरस्येत्युक्तत्वात् तस्यैव तमोभवनादिरुच्यते इति प्रति-निधिरेव तत्त्वान्तरम् । यत्त्वयर्वशिखायां शिव उच्यत इति तदप्योकारप्रणवनाम्नो निर्वचनाद् ब्रह्म-विष्णुरुद्रेन्द्राः संप्रसूयन्ते इति वचनात् प्रतिनिधित्वेन सिद्धम् । नात्र प्रसवविरोधः संप्रधाविर्भावात् । तदुक्तं मैत्रायणीये ‘ब्रह्मणो वा एता अग्न्यास्तनवः परस्यामृतस्याशरीरस्य तस्यैव लोके प्रतिमोदन्ति’ इति । एतदेवाहुः निपुणतरमुपपादितमिति । यत्तत्पदाध्याहारे गौरवं भत्वाहुः किंचेति । अग्रिमाधिकरणे

भाष्यप्रकाशः ।

विग्रहम्' इति योगिगाज्ञवल्क्यस्मृतौ चानन्दाकारस्यैव सिद्धत्वात् । नच, 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' इत्यस्य विरोधः । तस्य तत्संबन्धि यत् तत् कार्यं जन्यं न, किं त्वजन्यमेव । किंच, तस्येति षष्ठ्या भेदो निरूप्यते । तथाच जीववत् स्वरूपातिरिक्तं ज्ञानक्रियादिषु करणमिन्द्रियादिकं च तस्य नास्ति । अथवा नित्यत्वादाकारस्य तद्धेतुभूतं करणं क्रिया, सापि नास्ति । अत एव, न तत्सम इत्यादीति तदर्थत् । एतेनैव 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' इत्यस्याप्यविरोधः सिद्धः । नाप्यरूपवत्सूत्रस्य विरोधः । तत्रापि रूप्यते निरूप्यते व्यवहियत इति रूपं सर्वव्यवहारविषयत्वं तद्युक्तं रूपवद्विश्वम् । ब्रह्म तु तद्विलक्षणम् । यद्वा रूप्यते व्यवहियतेऽनेनेति रूपं करचरणादि तद्युक्तं तद्युक्तं ब्रह्म न, किंतु तद्विलक्षणम् । करादेरपि ब्रह्माभेदाद्रूपरूपं ब्रह्मैव, नतु रूपवदिति । ननु कुत एतदवगम्यत इत्याकाङ्क्षायां तद्विनिगमकं सूत्रशेषेणाह 'तत्प्रधानत्वात्' इति । सर्वेषां वेदान्तानां प्राधान्येन ब्रह्मप्रतिपादकत्वात् । तथाच ब्रह्मप्रकरणे निरूपित आकारो ब्रह्माभिन्न एवेति । नचाऽऽकारनिरूपकाणां ब्रह्मपरिचायनार्थत्वात् तेषां ब्रह्माभिन्नकराद्याकारनिरूपकत्वेऽपि न प्राधान्येन ब्रह्मप्रतिपादकत्वप्रतिरोध इति शङ्क्यम् । 'स यथा सैधवधनोऽनन्तरोऽबाहः कृत्स्नो रसधन एवं वा अरे अयमात्माऽनन्तरोऽबाहः कृत्स्नः प्रज्ञान(धन) एव' इतिश्रुतौ बाह्याभ्यन्तर-भेदराहित्यबोधने ज्ञानाकारत्वस्यैव सिद्धत्वात् । आकारभूतकरादिराहित्येन केवलज्ञानात्मकतायां बाह्याभ्यन्तरत्वप्रतीतिराहित्येन तन्निषेधानुपपत्तेः । अकृत्स्नादिप्रतीतिराहित्येन कृत्स्नधनपदयो-र्वैयर्थ्यापत्तेश्च । अतः केवलसच्चिदानन्दात्मकब्रह्माभिन्नकरचरणाद्याकाराङ्गीकारे न कस्यापि विरोधः । यत् पुनस्तलवकारादिश्रुत्या परमेश्वरस्य साक्षादुपास्यत्वाभाव उक्तः स तु तामेव श्रुतिं विरुद्धि । पूर्वार्धे मनःप्रवृत्तिरहितं तत्प्रेरकं यद्युक्तं, तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं प्रेर्यत्वेनानुभू-यमानं जीवात्मरूपं न विद्धि । यत् प्रेरकं तत् किमित्यत आह । यदिदं सच्चिदानन्दाकारमुपासते वैदिकोपासका इति तत्रार्थात् । अनुपास्यत्वेऽभिप्रेते तु द्वितीयेदंकारं न वदेदेव । नेदं यदुपासत इत्येतावतैव चारिताभ्यात् । 'यस्यामतं तस्य मतम्' इत्यत्रापि, 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैव आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्' इति वरणहेतुकतनुविवरणस्य श्रुत्यन्तरे श्रावणाद् वरणाभावे यस्यामत-मविदितं तस्य मतं, यस्य पुनस्तदभावेऽपि मतं स न वेदेति । यद्वा, अनिरुक्तश्रुतौ ब्रह्मणो वाक्यपरिच्छेद्यत्ववारणाद् यस्यामतमनिरुक्तत्वात् सम्यक्तया अज्ञातं तस्य मतम् । यस्य पुनस्त-द्विपरीतं स न वेदेति । अविज्ञातं करचरणादिविशिष्टतया जानतां, विज्ञातं तदभिन्नतया

रश्मिः ।

वक्ष्यन्ति च ब्रह्मणि त्विन्द्रियाद्यभावादानन्देनैव कार्यं क्रियते इति । अविरोध इति आकारहेतुभूतः प्राणादिनांस्वीत्यविरोध इत्यर्थः । एवेतीति करादीनां प्रत्येकं सच्चिदानन्दात्मकत्वादेवकारः । सर्वेषामिति समासस्तु तस्य प्रधानत्वं तत्प्रधानत्वं तस्य ब्रह्मणः प्रधानत्वात् मुख्यत्वादिति भाष्यात् । अविभागाद्वैतवादी शङ्कते न चाकारेति । बाह्याभ्यन्तरेत्यादि । कृत्वेति शेषः । यद्वा सप्तम्यन्तं पदं तृतीयान्तं वा । उक्त इति तथा च श्रुतिरित्यादिनोक्तः । अस्मिन् व्याख्याने वरणाभावेपि ब्रह्मवबोध आयाति स सिद्धान्तविरुद्ध इति भिन्नां व्याख्यामाहुः यद्भेत्त्यादि । अनिरुक्तेत्यादि तन्निष्ठत्वेत्यादिसूत्रविषयभूतायामित्यर्थः । सम्यक्तयेति इदमित्यतयेत्यर्थः ।

भाष्यप्रकाशः ।

जानतामित्यर्थादिति । अतो न परब्रह्मणोऽनुपास्यत्वाद्भेद्यत्वादिकं युक्तम् । यदपि परब्रह्मणः स्वतो नामाद्यभावसाधनाय विष्णुपुराणादिवाक्यमुपन्यस्तं तत्रापि कल्पनापदात् काल्पनिकनामा-दिनिवृत्तिरेवाभिप्रेता, न यावन्नामादिनिवृत्तिः । 'अतस्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः' । अकारं प्रकृत्य 'स्वघान्नो ब्रह्मणः साक्षाद्वाचकः परमात्मनः' । 'तस्य वाचकः प्रणवः' इति गीता-श्रीभागवतपातञ्जलसूत्राणां विरोधात् । वाचकस्यैव नामत्वात् । एवं सिद्धे सदादिनामकत्वे,

'नारायणः शिवो विष्णुः शंकरः परमेश्वरः ।

एतैस्तु नामभिर्ब्रह्म परं प्रोक्तं सनातनम्' ॥ इतिवाराहपुराणवाक्यात्,

'कृपिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्गृतिवाचकः ।

तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते' ॥

इत्यादिश्रुतिभ्यश्च नामान्तरस्वीकारेऽप्यदोषात् । 'अनादिमत्परं ब्रह्म' इति खलित्व-गीतावाक्याग्रिमगीतावाक्य एव सर्वतःपाणिपादान्तमित्यादिना परमेश्वररूपस्याप्युक्तत्वेन तस्या-प्यङ्गीकार्यत्वात् । ज्ञेयं प्रस्तुत्यैव तस्य कथनेनोपासनागन्धस्याप्यभावात् । अतो नामरूपे न यस्येति द्वितीयवाक्येऽपि काल्पनिकनामाद्यभाव एवास्थेय इति परमेश्वरस्य लीलाविग्रहाङ्गीकारे दोषामावात्मत्वादीनां परमेश्वरलीलावतारत्वेऽपि न दोषः । द्वितीयस्कन्धे, 'लीलावतारान् पुरुषस्य भूम्नः' इति प्रतिज्ञाय ब्रह्मणा मत्स्यादीनां कथनात् । न च 'एते चांशकलाः पुंसः' इति प्रथमस्कन्धविरोधः । तेषामेतद्भिन्नत्वात् । त्वदुपगतमित्यकार्यवासुदेववभामरूपादिसाम्येऽपि भेदस्वोपक्रमोपसंहारार्थ्यां यथायथमवगन्तुं शक्यत्वात् । गीतायां श्रीभागवते च विभूतिमञ्चे रश्मिः ।

तद्विपरीतमिति इदमित्यतया ज्ञातम् । युक्तमिति न च मन्त्रोपासनेति भक्तिहंसविरोध इति वाच्यं मन्त्रोपासनेत्येकपदात् । वस्तुतस्तु भक्तयेकसमधिगम्यं 'नेदं यदिदमुपासते' किं तु यदिदं भजन्त इति भावः । तस्य वाचक इत्यादि । अस्य सूत्रस्य समाधिपादे 'क्लेशकर्मविपाकाशयैर-परासृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' इति सूत्रमुपक्रम्य पाठात्तत्पदेनेश्वरपरामर्शादिति भावः । तस्यापीति तथा चैतत्स्वारस्येनाहं परो यस्येति बहुव्रीहिर्ज्ञेयः । ननुपासनास्पृश्यत्वलिङ्गेन नायं समासः साधीयानित्यत आहुः ज्ञेयमित्यादि । उपासनागन्धस्येति । त्रयोदशे 'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते' इति पूर्वार्धात् 'एवं सतत' इत्यादेर्द्वादशस्थत्वात्तथेत्यर्थः । लीलावतारत्वेपीति लीलावतारपदं योगरूढं साक्षात्सच्चिदानन्दरूपाणामैश्वर्यादिगुणसहितानां मुख्यानां भगवदवताररूपाणां वाराह-यज्ञकपिलदत्तसनकादिनरनारायणश्रुवादीनां नाम । अवतारशब्दार्थस्तु ।

'सत्त्वरूपशरीरेषु ब्रह्मणः संक्रमः स्मृतः ।

अशुद्धशुद्धभावेन शरीराणामतो द्विधा ।

कार्यकाले संक्रमणमावेशः सर्वदा परम्' ॥ इति ।

एतच्च 'स एव प्रथमं देवः' इत्यस्य सुधीन्यां प्रथमस्कन्धे स्फुटम् । न दोष इति यथाविभवादिका-र्थकर्तृत्वेन विष्णवाद्यवतारत्वं भगवतो भिक्षोर्मते तथा मत्तैः सह निगूढभावकरणाऽभावेपि लीलाङ्करं तत्का-र्यकर्तृत्वेन लीलावतारत्वेपि निगूढभावाकरणं दोषो नेत्यर्थः । नन्वस्मराद् विविधा भावाः प्रजायन्ते तत्रैव चापियन्ति नैवमन्यत्रेति चेन्न । तत्पुराणादिषु तेभ्योपि जननप्रलयाद्युक्तेः । अंशकला इति धर्मावेशिन इत्यर्थः । तेषामिति मत्स्यादीनामित्यर्थः । भेदकमाहुः त्वदुपगतेत्यादि । उपक्रममेत्यादि द्वितीयस्कन्धे

भाष्यप्रकाशः ।

वासुदेवस्य गणनाच्च । यत्पुनः, 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' इत्येतत्स्वर्यपदस्य पुत्रवत् साक्षात् परमेश्वरांशः । ऋष्यादीनामंशांशिवचनादित्युक्तम् । तदप्यसंगतम् । भूभावरारकं कृष्णमंशेषूचवा तदंशित्वेन पुमांसं चोक्त्वा ब्रह्माण्डात्मकपुरुषरूपाभ्रमवारणाय तुयन्दोक्तिपूर्वकं स्वयं भगवच्च- विधानस्यावोधात् । 'कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्' इति, 'वासुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः परः' इत्यादिवाक्यानामप्यविचाराच्च । गीतायां तु 'परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् । पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विशुम् ॥ आहुस्त्वाप्तुषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा । असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव त्रयीपि मे' ॥

इति वाक्यमपि प्रायो नावलीकितं, येन 'मत्तः परतरम्' इतिवाक्यस्य वामदेव- च्छास्त्रदृष्ट्या ज्ञानिमुख्यवाक्यत्वेन गतिश्चिन्तिता । नहि परब्रह्मत्ववत्कार ऋषयः सर्वे भ्रान्ता येनैवं भगवद्भक्ते गौणीं वृत्तिं ब्रह्मदृष्टिं च नावगच्छन्ति । तथा व्यक्तपरत्वेन गतिरप्यसंगतैव । अव्यक्त- स्यात्परत्वेन भगवद्भामतयैव सिद्ध्या भगवत्स्ततोऽपि परत्वात् । नच व्यवहार्यत्वान्नेश्वरत्वमिति युक्तम् । तस्य सूत्रव्याख्यान एवोपपादितत्वात् । यदपि मोक्षधर्मवाक्येन नारायणाङ्गित्वं रश्मिः ।

'प्राधान्यतो यानृष आमनन्ति लीलावतारान् पुरुषस्य भूम्नः ।
आपीयतां कर्णकमायशोषाननुक्रमिष्ये त इमान् सुपेशान्' ॥ इत्युपक्रमः ।
'सोयं तेभिहितस्तात भगवान् विश्वभावनः ।
समासेन हरेर्नान्यदन्यस्मात्सदसच्च यत् ॥
इदं भागवतं नाम यन्मे भगवतोदितम् ।
संग्रहोयं विभूतीनां त्वमेतद्विपुलीकुरु' ॥ इत्युपसंहारः ।

अत्र पुरुषस्य भूम्न इत्यनेन भगवदवतारत्वमुपक्रमे । उपसंहारेपि भगवान् विश्वभावनः इत्यनेनै- तेषां भगवत्त्वं सिद्धयति । प्रथमस्कन्धे तु 'एतन्नानावताराणां निधानं बीजमन्ययम्' इत्यनेन वक्ष्यमाणानामवताराणां मत्स्यादिरूपाणां पुरुषावतारे स्थानत्वमुद्गमहेतुत्वं चोक्तमिति पुरुषावतारत्व- मुपक्रमे उपसंहारे च 'एते चांशकलाः पुंसः' इत्यनेन पुंसो विराजोवतारत्वं सिद्धयतीत्युभयेषां भेदः । तथा च लीलावतारा भूमपुरुषस्यान्ये पुरुषस्य । गणनाच्चेति तथा चैक एव वासुदेवो नित्येश्वर इतरे तदंशः वासुदेवा इति भागः संमत इति भावः । अंशोऽपिचिति ।

'एकोनविंशे विंशतिमे वृष्णिषु प्राप्य जन्मनी ।
रामकृष्णानिति भुवो भगवानहरद्भरम्' ॥

इत्यनेन तेषूक्ता इत्यर्थः । पुमांसमिति 'एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' इत्यनेनेत्यर्थः । गौणीमिति आत्मीयवाचकत्वे स्वयमित्यत्र गौणी, पुत्रपितृगुणयोगाद्गौणी । सिद्धयेति 'अव्यक्तोक्षर इत्युक्तस्वमाहुः परमां गतिम् । यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' ॥

भाष्यप्रकाशः ।

परमेश्वरस्योक्तं, तत्र तु नारायणपदं यौगिकमेव । धातृपदविशेषितत्वात् । न तु रूढम् । अतो यत्र नारायणपदेन परमेश्वर उच्यते तत्र रूढत्वोच्यते यथा महोपनिषदि । तत्र हि 'एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा न ईशानो नापो नाप्रीपोमौ' इत्यादिना ब्रह्मादिसर्वनिषेधेऽपामपि निषेधात् । स एकाकी नर एवेत्यनेन पुरुषाकारस्योक्ततया निराकारत्वस्यापि वारणात् । तस्य ध्यानान्तस्थस्य यन्मस्तोममुच्यते, तस्मिन् पुरुषाश्चतुर्दशाऽज्ञायन्तैकं कन्थेति प्रस्तुत्य, दशेन्द्रियाणि मन एकादशं तेजो द्वादशमहंकारस्त्रयोदशः प्राणाश्चतुर्दश आत्मा पञ्चदशी बुद्धिरिति तेषां स्वरूपकथने तेजःपदेन महत्तत्त्वस्य गणितत्वात् ।

'विश्वमात्मगतं व्यञ्जन् कूटस्यो जगदङ्कुरः ।
स्वतेजसाऽपिबचीधमात्मप्रस्थापनं तमः' ॥

इति पुराणे तस्य तेजोरूपत्वावगमान् । अतो यत्किञ्चिदेकदेशमालम्ब्य सकलशास्त्रविज्ञानं रश्मिः ।

इत्यत्र सिद्धेत्यर्थः । तस्येति ब्रह्मणो व्यवहार्यत्वस्येत्यर्थः । यौगिकमेवेति पूर्वमीमांसा- कारिकासाचाचार्यैर्वेदान्ते योगमात्राङ्गीकारादेवेति । धातृपदेत्यादि 'धाता नारायणो विभुः' इति । ननु रूढमिति । ननु रूढेः स्वमतेऽभावाद्प्रमाया निषेधः कुत इति चेन्न । स्वमते शक्तिसंकोचलक्षणायाः रूढेः प्रस्थानरत्नाकरेङ्गीकारात् । तथा च न परमेश्वरभिन्ने नारायणपदं शक्तिसंकोचयुक्तमिति । रूढैवेति अपां सत्यज्ञानानन्तेश्वरे संकोचः । अक्षरं नारं जीवसमूहः अयनं यस्येति न तत्राधोक्षजेऽन्वटितयोगः संभवतीत्येवकारः । नारमयनं यस्येति योगाबाधं वदन्तो हेतुमाहुः यथेति । तेनान्वटितविग्रहे रूढिरित्युक्तम् । ननु सर्वेषां शब्दानां परमेश्वरे योगोङ्गीकृतः प्रस्थानरत्नाकरे इति चेन्न भैक्षवधोधनपरत्वाद् ग्रन्थस्य । अपामपीति तथा च नारा अयनं यस्येति योगस्य तदानीम- भावाच्चारायणपदं रूढमेवेत्यर्थः । तेन सर्वशक्तिमत्यधोक्षजे रूढिरपि युक्ता कदाचिदिति ध्वनितम् । एकाकीति 'एकाकी त्वेक एककः' 'एकादाकिनित्' । इदानीं तेन यन्महतो देवतात्रयात्मकत्वमुक्तं तन्निराकुर्वन्तः साकारत्वे प्रमाणान्तरमाहुः तस्य ध्यानेत्यादि । तेषामिति ते पुरुषाश्च सा कन्या चात्र विवक्षितास्तथा च ते च सा च ते तेषामित्यर्थः । नस्तोममिति नासिकासमूहः वायुस्थानम् । अग्रे वायवीसृष्टिमिति भावः । तेजोरूपत्वेति येन तमसा पूर्वं महत्त्वं प्रस्थापितं लयं प्रापितमासी- तन्मूलभूतं तमो महत्त्वेन पीयते इति तृतीयस्कन्धसुबोधिन्या इति शेषः । इमं न्यायं यदप्यप्य- दीक्षितेन 'उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं ऋतं सत्यं परं ब्रह्म' इति श्रुत्या ।

य एकः शाश्वतो देवो ब्रह्मवन्धः सदाशिवः ।
त्रिलोचनो गुणाधारो गुणातीतोक्षरोव्ययः ॥
जाता सिद्ध्या तस्यापि वीक्ष्यात्मस्थं गुणत्रयम् ।
वेदत्रयमिदं ज्ञेयं गुणत्रयमिदं हि यत् ॥
पृथक्कृत्यात्मनस्तद्धि तत्र सारं विभज्य च ।
दक्षिणेनासृजत्पुत्रं ब्रह्माणं वामतो हरिम् ॥
पृष्ठदेशे महेशानं त्रीन् पुत्रानसृजत्प्रभुः ।

एवं चिद्रूपस्य कारणतानिरूपणेन वेदान्तानां ब्रह्मपरत्वं निरूपितम् ॥ १० ॥
इति प्रथमाध्याये प्रथमपादे चतुर्थमीक्षत्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

अतः परमानन्दरूपस्य कारणत्वोपपादनेन तद्वाक्यानां ब्रह्मपरत्वमुप-
पाद्यते, आनन्दमयाद्यष्टभिः सूत्रैः । तत्र तैत्तिरीयशाखायां ब्रह्मभृगुप्रपाठकद्वयेन ।

भाष्यप्रकाशः ।

न सतां मार्ग इति बोध्यम् । एवं शिवरूपेऽपि ज्ञेयम् ।

'यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्तात् ।

तदेवर्तं तदु सत्यमाहुस्तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम्' ॥

इति श्रुतेरनन्तरूपः परमेश्वरः कदाचिच्छिवाकारेणैव सर्वं जगत् करोतीति । अतो
विचारकाणां विष्णुशिवप्रकरणीयवाक्यलिखनमसदुक्ताभिप्रायेण, न तु त्वदुक्तेनेति गृहाण ।
एतावान् परं विशेषो यन्नसिंहतापनीये, 'अनुपनीतशतमेकमेकेनोपनीतेन तत्समम्' इत्यादिना
गृहस्थवानप्रत्ययतिरुद्रजापकाथर्वशिरःशिखाध्यायिपर्यन्तमुक्त्वा अथर्वशिरःशिखाध्यायिशतमेक-
मेकेन मन्त्रराजजापकेन तत्सममिति नृसिंहमन्त्रराजजापक उत्कर्षविश्रान्तिबोधनात् तद्विधावेद्यरूप
एवोत्कर्षविश्रान्तिः । एतदपि प्रहस्ताख्यवादादेवावगन्तव्यमिति दिक् । अतः परं प्रकृतमनुसरामः ।

ईक्षत्यधिकरणप्रयोजनमाहुः एवमित्यादि । वेदान्तवाक्येष्वव्यवहार्यत्वादिना बोधितस्य
चिद्रूपस्य कारणतासमर्थनेन सर्वेषां वेदान्तानां कार्यद्वारा ब्रह्मस्वरूपनिरूपकत्वाद् ब्रह्मपरत्वं
ब्रह्मणि तात्पर्येण समन्वितत्वं निरूपितम् । तथा चेदमधिकरणप्रयोजनमित्यर्थः ॥ १० ॥

इति चतुर्थमीक्षत्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

नन्वीक्षत्यधिकरणे सर्वेषां वेदान्तानां ब्रह्मपरत्वं सिद्धमेवेत्यभिप्रायधिकरणस्य किं प्रयोजन-
मित्याकाङ्क्षायां तद्बदन्तस्तदवतारयन्ति अतः परमित्यादि । तद्वाक्यानामिति आनन्दप्रति-
पादकवाक्यानाम् । तथाच लक्षणगताव्याख्यादिदोषपरिहारयादेदमधिकरणम् । अत्रापि सामान्य-
विशेषभावगर्भोऽवसर एवाधिकरणसंगतिरित्यर्थः । तानि कानीत्याकाङ्क्षायां विषयवाक्यानां
बाहुल्यादाकरमेव प्रदर्शयन्ति तत्रेत्यादि । आनन्दकार्यं प्रतिपाद्यत इति शेषः । तानि विषय-
रदिमः ।

इति शिवराषवसंवादस्थस्मृतिभिश्च यस्तु क्वचित्क्वचिच्छ्रुतिपुराणादौ विष्णोरुत्कर्षः प्रतिपादितः
स तु प्रतर्दनाख्यायिकायामिन्द्रस्येव तदन्तर्यामिण्येव परशिवे पर्यवसतीति शिव एव परं ब्रह्मेत्युक्तं
तत्रापि प्रसङ्गादतिदिशन्ति एवं शिवेत्यादि । अस्मदुक्तेति अव्यवहितपूर्वोक्ताभिप्रायेण ।
अवगन्तव्यमिति एतच्च 'समान एवं चाभेदात्' इति सूत्रे वक्तव्यं साधनाध्याये । तथा चेदमिति
चेतनेऽव्याप्तिवारणम् ॥ १० ॥ इति चतुर्थमीक्षत्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

तद्बदन्त इति प्रयोजनं वदन्तोधिकरणमवतारयन्तीत्यर्थः । लक्षणेति आदिशब्देना-
नन्दप्रतिपादकवेदान्तासमन्वयादध्यायार्थं न्यूनताख्यनिग्रहस्थानं गृह्यते । सामान्येत्यादि
सामान्यतश्चिन्निरूपकाणां पूर्वाधिकरणे निरूपणादानन्दप्रसङ्गेन विशेषतश्चिन्निरूपणस्य वक्ष्यमाण-
त्वात्सामान्यविशेषभावगर्भोऽवसरः । आनन्दनिरूपणे प्रतिबन्धकीमूला जिज्ञासा किमत्र चिन्निरूप्येति
जिज्ञासा तस्याश्च लक्षणवाक्ये प्रथमनिर्देशेनानन्दापेक्षया प्राथमिकजिज्ञासाविषयत्वात् चिद्रूपता-
निरूपणाद्विषयसिद्ध्या निवृत्तौ सत्यामानन्दतावश्यं वक्तव्येति जिज्ञासया किमिदानीं वक्तव्यमिति
जिज्ञासया वानन्दरूपतानिरूपणादित्यर्थः । तानि कानीति स्वोक्तं व्याकुर्वन्ति स्म तानीति ।

तत्रानन्दमय इति मयद्रूपप्रत्ययान्तस्याब्रह्मत्वेनाजगत्कर्तृत्वे ब्रह्मप्रपाठकस्या-
ब्रह्मपरत्वं स्यादिति तन्निराकरणार्थमानन्दमयाधिकरणम् । षडिन्द्रियस्वरूप-
रूपानन्दभेदेनानन्दस्याष्टविधत्वादष्टसूत्राणि ।

ननु कथं संदेहः, कथं वास्याब्रह्मत्वे प्रपाठकासंगतिरिति । उच्यते ।
ब्रह्मविदः परप्राप्तिं प्रतिज्ञाय ज्ञेयांशे कारणत्वायानन्दांशमप्रवेद्य जडत्व-
परिहाराय सर्वज्ञानन्दरूपं फलमुपपाद्य तन्निरूपणार्थं सर्वोऽपि प्रपाठक आरब्धः ।
तत्र साधनशेषब्रह्मणो वाक्यादेव निःसंदिग्धप्रतीतेः फलस्य ब्रह्मत्वं प्रतिपाद-
नीयम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

वाक्यानीत्यर्थः । नन्वेतद्वये ब्रह्मणः कार्यमुच्यते । सत्यज्ञानानन्तलक्षणकं ब्रह्म प्रस्तुत्य 'तस्माद्वा
एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इत्यादिना कार्यकथनात् । तथाग्रिमेऽपि, 'यतो वा इमानि'
इति ब्रह्म लक्षयित्वा, 'आनन्दाज्ज्ञेयं खल्विमानि भूतानि' इत्यादिना ब्रह्मण एव निष्कर्षाच्चानन्द-
कार्ये संदेह एव न भविष्यतीति व्यर्थोऽधिकरणारम्भ इत्यत आहुः तत्रानन्दमय इत्यादि ।
तत्रेति ब्रह्मप्रपाठके । मयद्रूपप्रत्ययान्तस्येति मयद्रूपप्रत्ययान्तप्रतिपाद्यस्य । तथाचानन्दरूपेणात्र
जगत्कर्तृत्वस्य प्रतिपिपादयिषितत्वान्मध्ये च संदिग्धशब्दनिवेशात् तन्निवृत्त्यर्थमयमारम्भ
इत्यर्थः । नन्वानन्दरूपेणैवात्र कारणताप्रतिपिपादयिषितेत्यत्र किं गमकमित्याकाङ्क्षायामधिकरण-
सूत्रसंख्यैव गभिकेत्याशयेनाहुः षडित्यादि । षडिन्द्रियात्मपरमात्मभिर्हि लोके कार्यं क्रियते ।
ब्रह्मणि त्विन्द्रियाद्यभावादानन्देनैव कार्यं क्रियत इति तत्तदात्मक आनन्द एवेत्यानन्दस्यैवाष्ट-
विधत्वात् तावन्ति छत्राणीति सैव तथेत्यर्थः । एवमधिकरणारम्भे साधिते आनन्दमयस्था-
ब्रह्मत्वेनापि प्रपाठकस्य ब्रह्मपरत्वं मन्वान एकदेशी चोदयति ननु कथमित्यादि । एवं प्रश्ने
संदेहादिकं व्युत्पादयति । उच्यते । ब्रह्मचिद् इत्यादि । 'ब्रह्मविदाभोति परम्' इति वाक्ये
ब्रह्मविदः परप्राप्तिं प्रतिज्ञायैतद्वाक्यविवरणभूतायामृचि आनन्दांशस्य कारणत्वबोधनाय 'सत्यं
ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद' इति लक्षणवाक्योक्तज्ञेयांशस्य साधनशेषत्वेन तदपेक्षया फलस्योत्कृष्टत्वात्
फलभूतमानन्दांशं तत्राप्रवेश्य कारणस्य प्रकृत्यादेर्लोके जडत्वदर्शनात् तद्विलक्षणत्वमानन्दांशे
रदिमः ।

आकरमिति वाक्यनिकुरम्बोत्पत्तिस्थानमित्यर्थः । अग्रिम इति भृगुप्रपाठक इत्यर्थः । मयद्र-
प्रत्ययान्तत्वं शब्दस्य संभवति । तत्राब्रह्मत्वेनेत्यादिरापत्तिर्न संभवतीति लक्षणयार्थपरत्वेन
व्याकुर्वन्ति मयडित्यादि । भाष्ये तु शब्दाधोऽन्ताप्रविकेषकः । तथाप्रतिज्ञानादिति भावः ।
तदपि जैमिनिसूत्रप्राामण्यात् । संदिग्धशब्देति मयडादिशब्दानां निवेशात् । आत्मोपनिषदाहुः
षडिन्द्रियेति । षडिन्द्रियाण्यन्तरात्मा, आत्मा चाद्यात्मा, परमात्मा चेति त्रयं तैरित्यर्थः ।
इन्द्रियाद्यभावादिति 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' इति श्रुतेरित्यर्थः । सैवेति अष्टसंख्यैव ।
ननु कथमित्यादीति मयडादौ संदेहः । ऋचीति 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं
गुहायां परमे व्योमन् सोश्रुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' इति ऋचीत्यर्थः । अनन्तपद-
प्रवेशस्य तात्पर्यमाहुः आनन्दांशस्येत्यादि । कारणत्वं जगतः । भाष्ये । अकारणत्वायेति छेदे
तु अकारणत्वायेत्यस्य फलसाधनत्वाभावाय किं तु फलत्वायेत्यर्थः । साधनेत्यादि वेदेत्युक्तत्वेह-

तत्राब्रह्माब्रमयादितुल्यवचनात् सुखवाचकशब्दानामेव वचनाच्च संदेहः ।
आनन्दांशस्यैव कारणत्वेन ब्रह्मत्वप्रतिपादनार्थत्वात् तदभावे प्रपाठकवैयर्थ्यं च ।
फलस्य नैकत्वप्रतिपादनायात्मपदप्रयोगेण फलरूपेण जगत्कारणतामुक्त्वा

भाष्यप्रकाशः ।

बोधयितुं तस्य जडत्वपरिहाराय विपश्चिद्ब्रह्मपदाभ्यां सर्वज्ञानन्दरूपं फलमुत्तरार्धे, सोऽश्रुते
सर्वान् कामान् सहेत्यनेनोपपाद्य तस्य सर्वज्ञानन्दरूपस्य फलस्य निरूपणार्थं सर्वोऽपि प्रपाठक
आरब्धः । तत्रचिं साधनशेषस्य द्वेषब्रह्मणो लक्षणवाक्यादेव निःसंदिग्धं स्वरूपावगमात् फलस्य
ब्रह्मत्वं प्रतिपादनीयम् । प्रतिज्ञावाक्ये परपदात् तस्य च ऋगुत्तरार्धेन विवरणे भिन्नविभक्तेर्भिन्नपद-
वचनयोश्च कथनेन परपदार्थानिश्चयाद् ऋग्व्याख्यानरूपे प्रपाठकेश्वर्यं कारणत्वादिना ब्रह्मत्व-
मुपपादनीयमित्यर्थः । एवं प्रपाठकार्यमुक्त्वा संदेहबीजमाहुः तत्राऽब्रह्मेत्यादि । अब्रह्माब्रम-
यादीनि अब्रह्मरूपं यदब्रमयादीत्यर्थः । एवं संदेहमुपपाद्य प्रपाठकासंगतिमुपपादयन्ति
आनन्दांशस्यैवेत्यादि । सदेव सोऽभ्येति, 'स ऐक्षत लोकांस्तु सृजे' इत्यादिश्रुत्यन्तरे सच्चिदंशयोः
कारणत्वस्य प्रतिपादितत्वेन तत्सहचरितस्यानन्दांशस्यापि तथात्वेन तस्यान्यत्र कारणत्वाकथनात्
तदभावे कार्यानुसारिलक्षणस्याव्यापकत्वप्रसक्तेरत्र तस्यैव कारणत्वेन ब्रह्मत्वप्रतिपादनार्थत्वात्
तदभावे तद्वैयर्थ्यमित्येवमसंगतिरित्यर्थः ।

ननु कारणतावाक्ये 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' इत्यात्मपदादात्मा वा इदमेक एवेत्यादावि-
वात्रापि चिदंशकारणताप्रतिपादनस्य संभवदुक्तिकत्वात् कथमत्रानन्दांशकारणताप्रतिपादनविनि-
गमनेत्याकाङ्क्षायामात्मपदोक्तितार्पणं वदन्तस्तद्विनिगमकयुक्तिमाहुः फलस्येत्यादि । यथा मलय-
रश्मिः ।

व्यापारकज्ञानरूपसाधनविषयत्वेनेत्यर्थः । फलस्येति परस्येत्यर्थः । भिन्नेत्यादि 'सत्यं ज्ञान-
मनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायाम्' स इत्यनेन प्रतिज्ञावाक्यगतं ब्रह्मविदितिपदं विवृतम् ।
आप्नोति परमित्यस्य अश्रुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति व्याख्यानं, तत्र परमित्यत्र
द्वितीया विभक्तिः । परपदमेकवचनं च । विवरणे तु सर्वान् कामान् इति सर्वपदं कामपदं
च ऋगुवचनं च । ब्रह्मणा विपश्चितेत्यत्र तृतीयाविभक्तिर्ब्रह्मपदं विपश्चित्यादं चेति विभक्तेः
पदवचनयोश्च भिन्नत्वम् । भाष्ये । तुल्यवचनानादिति अवयवित्वेन तथात्वादित्यर्थः । तर्ह्यब्रह्मत्वम-
संदिग्धं स्यात् तन्निवृत्तय आहुः सुखेत्यादि । 'तस्य प्रियमेव शिरः' इत्यादिना तथात्वादित्यर्थः ।
प्रकृते । संदेहबीजमिति अब्रमयादितुल्यवचनं विमूतित्वगमकं सुखवाचकशब्दवचनं ब्रह्म-
त्वगमकमत्रत्यबीजत्वेन बीजग्रहणाद् बीजद्वयमित्यर्थः । अन्यत्रेति भृगुप्रपाठकादन्यत्र । तदभाव
इति कारणत्वाभाव इत्यर्थः । कार्यानुसारीति निरङ्कुशजगत्कर्तृत्वेन शास्त्रप्रतिपाद्यत्वरूपलक्षण-
स्येत्यर्थः । कार्यं जगत् तदनुसारि यत्स्वरूपं तस्य लक्षणमिति । स्रगुणनिर्गुणाभेदं वक्तुं कार्य-
लक्षणमित्युक्तत्वा कार्यानुसारिलक्षणस्येत्युक्तम् । यथान्येषां साक्षादिमत्त्वं गोलक्षणमस्मन्मते
साक्षावत्वम् । अव्यापकत्वेत्यादि हेतौ पञ्चमी तथा चास्माद्धेतोः अत्राधिकरणे तस्यैवानन्दस्ये-
त्यर्थः । ब्रह्मत्वेत्यादि प्रपाठकस्येति शेषः । तद्वैयर्थ्यमिति प्रपाठकवैयर्थ्यमित्यर्थः । असंगति-

तस्यैव मध्ये सर्वान्तरत्वं प्रतिपादितं 'तस्माद् वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर
आत्माऽऽनन्दमयः' इति । अन्ते च, 'एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति' इति
आदिमध्यरूपे अन्यत्र फलत्वेनोपपादितम् । तन्निरूपकस्यापि तत्तुल्यफलत्वं
वक्तुमब्रमयादीनामपि ब्रह्मत्वेनोपासनमुक्तम् ।

तत्र पूर्वपक्षेऽब्रमयादेरिवानन्दमयस्यापि न ब्रह्मत्वम् । अब्रमयादितुल्य-
वचनात् तथैव फलसिद्धेरिति । एवं प्राप्तेऽभिधीयते ।

आनन्दमयोभ्यासात् ॥ ११ ॥ (१।१।५)

आनन्दमयः परमात्मा, नाब्रमयादिवत् पदार्थान्तरम् । कुतः । अभ्यासात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

जस्यामीष्टत्वेऽपि दूरत्वात् तदर्थं न पुरुषप्रवृत्तिस्तथात्र मा भूदिति तदर्थं फलस्य नैकत्वप्रतिपादना-
यात्मपदप्रयोगेण तदेतत्पदाभ्यां सन्निहितपरामर्शात् फलरूपेण जगत्कारणतामुक्त्वा तस्यैवानन्दस्य
मध्ये सर्वान्तरत्वमन्ते फलत्वं चानन्दमयपदाभ्यामुक्तम् । तेनादिमध्यावसानेषु कारणत्वसर्वान्तर-
त्वफलत्वानि तत्रैव साधितानि । तथाब्रमयादीनां ब्रह्मत्वेनोपासनकथनात् तदान्तरत्वनिरूपकाणां
यदा तत्तुल्यं फलत्वं, तदाऽऽनन्दमयस्य सर्वान्तरस्य फलत्वं किं वाच्यमित्याशयेन फलत्वमेव
दृढीकृतम् । तथाच यदि केवलमात्मपदमेव कारणताप्रतिपादकवाक्ये स्यात् तदा त्वदुक्तं
स्यादपि । न त्विह तथा किंतु तदेतत्पदसमभिव्याहृतम् । तथा सत्यात्मपदं नैकत्वमेव बोधयति,
नतु तेन रूपेण कारणताम् । सा च प्रतिपिपादयिष्यति पर्यवस्यतीति संपूर्णवाक्यविचारादवसीयते ।
अतः पूर्वोक्ताः फलत्वादय एतद्विनिगमकयुक्तिरूपा इत्यर्थः । एवं विनिगमकबोधनेन परोक्तं
प्रतिक्षिप्य प्रकृते पूर्वपक्षमाहुस्तत्रेत्यादि । तथैवेति ब्रह्मत्वेनोपासनेनैव । ब्रह्मं व्याकुर्वते
अभिधीयत इत्यादि ।

आनन्दमयोभ्यासात् ॥ ११ ॥ ननु हेतुना साध्यसिद्धिर्व्याप्तिनिश्चये सति भवति । प्रकृते
रश्मिः ।

रिति स्वरूपलक्षणप्रतिपादकानन्दकर्तृत्वप्रतिपादकप्रपाठकयोरसंगतिरित्यर्थः । तदर्थमिति प्रवृत्त्यर्थ-
मित्यर्थः । तदेतदिति 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' इतिश्रुतौ । फलरूपेणेति ब्रह्मविदाप्नोति परमिति
सन्निहितश्रुत्युक्तेनेत्यर्थः । तस्येति विपश्चिद्ब्रह्मणः । इदं फलमत आहुरानन्दस्येति । आनन्द-
मयपदाभ्यामिति 'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः' 'एतमानन्दमयमात्मा-
नमुपसंक्रामति' इति श्रुतिद्वयघटकाभ्यामित्यर्थः । तन्निरूपकस्यापीत्यादिभाष्यं कैयुतिकन्यायेन
व्याकुर्वन्ति तथाब्रमयेत्यादि । एतद्विनिगमकेत्यादि । 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' इति
श्रुतावात्मपदेनानन्दांशकारणताप्रतिपादनविनिगमकेत्यर्थः । नन्वानन्दस्य कारणत्वेऽप्यक्षरानन्दस्य
वक्तव्यम् । धर्मिणो भक्तैः सह निगूढभावकरणस्य दशमसुबोधिन्यामुक्तेस्तद्रूपानन्दस्य जगत्कारणता-
मावादिति चेन्न । अद्यत्वाधिकरणोक्ताक्षराभेदमादायोपपत्तिंसंभवात् । पुरुषविषयब्रह्मणस्यात्र
वक्तव्यत्वात्तत्र परंपरसत्ताया अभावात् । अत एवापि सदानन्दस्य जगज्जन्मादिकर्त्री शक्तिरित्युक्तं
द्वितीयस्कन्धनवमाध्याये । उपासनेति प्रायपाठादेवकारः ।

आनन्दमयोभ्यासात् ॥ ११ ॥ भाष्ये । अभ्यस्यत इत्यादि । एतेन विधेर्विशेषेण पुनः
अवगमन्यासः इति शास्त्रदीपिकोक्तलक्षणं विधिपदरहितं युक्तं 'एकस्यैव पुनः श्रुतिरविशेषादनर्कं

अभ्यस्यते पुनः पुनः कीर्त्यत इत्यभ्यासस्तस्मात् । अभ्यासस्य भेदकत्वं पूर्वतन्त्र-
सिद्धम् ।

यथा पूर्वतन्त्रे शब्दान्तराभ्याससंख्यागुणप्रक्रियानामधेयानां वर्णां

भाष्यप्रकाशः ।

चाभ्यासत्वेन परमात्मबोधकत्वेन व्याप्यभावादसिद्धोऽयं हेतुरित्यत आहुः अभ्यासस्येत्यादि ।
पूर्वतन्त्रे हि, 'समिधो यजति,' 'तन्नपातं यजति,' 'इडो यजति,' 'बर्हिर्यजति,' 'खाहाकारं यजति' इति
पञ्चकृत्यो यजत्यावृत्तौ भीमांसितं, किमत्र तन्नपादादिषु चतुर्षु पूर्वयागानुवाद उत यागान्तर-
विधानमिति । तत्र पूर्वपक्षिणा धात्वर्थप्रत्यभिज्ञानादिडादिगुणविधानार्थं समिधागानुवादेऽङ्गीकृते
सिद्धान्तितम् । मेदाभेदसाधारण्या यजिथ्रुत्या यागमात्रप्रत्यभिज्ञानेन श्रुतेर्यागान्तरपक्षे तुल्यत्वाद्
गुणविधानपक्षेऽपि चतुर्थीतद्धितयोरभावेन देवतायास्तृतीयाया अभावेन द्रव्यस्य च वक्तुमशक्यत्वाद्
द्वितीयया चाभिहोत्रं जुहोतीत्यादिवत् तेषां कर्मनामत्वनिश्चयात् पदान्तरसमाभिव्याहृतेन यजतिना
यागान्तरमेव बोध्यत इति । तथाच यत्र यत्र वाक्ये पदान्तरसमाभिव्याहृतस्य यस्य पदस्याभ्यास-
स्तत्र तत्र तस्य पदस्य पूर्वस्मादर्थान्तरगमकत्वमिति व्याप्तेः पूर्वस्मादर्थान्तरत्वेन परमात्मसाधनात्मा-
सिद्धो हेतुरित्यर्थः । नन्वभ्यासस्य भेदकत्वमात्रं सिद्धम् । तस्य फलमितरभेदः सोऽत्र शब्दान्तरा-
देव सिद्धो वाक्यान्तरसिद्धमसिद्धितमभ्यासं खलाभाय नापेक्षते । तथा सति कथं तेन
परमात्मव्यगतिरित्यत आहुः यथेत्यादि । तथाच शब्दान्तरेण सिद्धेऽपि भेदे वैलक्षण्यमभ्यासः
साधयति । सिद्धाच्च वैलक्षण्यादन्नमयादिभ्य आनन्दमयस्यातुल्यत्वं सिद्धयति । तेन ब्रह्मात्माव-
रहिमः ।

हि स्यात्' इति सूत्रे विधिपदाश्रवणात् । अत एव विधिभिन्नस्याप्यविशेषेण पुनः श्रवणेऽभ्यासत्व-
व्यवहार इति बोधितम् । प्रकृते । परमात्मेत्यादि । इदं चाधिकारसूत्राद् ब्रह्मेत्यनुवृत्तौ लभ्यते ।
तेन पक्षहेतुनिर्देशोऽपि सूत्रे न दोषाय । पूर्वतन्त्र इति द्वितीयस्य द्वितीयपादे 'एकस्यैवं पुनः
श्रुतिरविशेषादनर्थकं हि स्यात्' इत्यधिकरण इत्यर्थः । पूर्वयागेति समिधागानुवाद इत्यर्थः ।
धात्वर्थेत्यादि । करणीभूतधात्वर्थभेदेऽपि शब्दैकत्वेनार्थैकत्वस्य दृढतरप्रत्यभिज्ञानादित्यर्थः । प्रत्य-
भिज्ञानं च तत्तेदन्ताप्रकारकं ज्ञानं स एवायं यजतिरित्याकारकम् । इडादीत्यादि । अत्र तन्न-
पादादीत्यनुदितव्ये इडादीत्यनुवादः शास्त्रदीपिकादौ तन्नपादादीति पदमसंगतमिति ध्वनयति ।
तथाहि । तन्नपादादीत्यत्रातद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः संभवति । अन्यपदार्थस्य संयोगसमवायाति-
रिक्तसंबन्धेन संबन्धित्वात् । पञ्चानामपि यागानां भिन्नत्वात् । लक्ष्यतावच्छेदकस्य विशेष्यान्वय-
न्वयित्वाभावात् । नैयायिकलक्षणस्याप्यसमन्वयात् । तथा च चतुर्णां यागानां संग्रहयेडादीत्येव
वक्तव्यम् । आदि चेद् चेडादी 'अल्पात्तरं पूर्वम्' इतीडः पूर्वनिपातः । इद् आदिर्योरित्यतद्गुण-
संविज्ञानो बहुव्रीहिः । इडादी च इडादी चेडादय इत्येकशेषः । तथा चेडादीनां तन्नपादिङ्गर्हिः-
खाहाकाराणां देवतारूपाणां द्रव्यरूपाणां वा गुणानां विधानार्थमित्यर्थः । चतुर्थीत्यादि अग्रे जुष्टं
निर्वपामि, आग्नेयोऽष्टकपालः, इतिवत् । तृतीयाया इति दक्षा जुहोतीतिवत् । इतरभेद इति यथा
पृथिव्या भेदकस्य गन्धवत्त्वस्य जलादिभेदसाधकत्वाजलादिभेदः फलं तद्दित्यर्थः । शब्दान्तरादिति
द्वितीयस्य द्वितीयपादे 'शब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्धत्वात्' इत्यधिकरणे सोमेन यजेत हिरण्यमाग्नेयाय
ददाति दाक्षिणानि जुहोति इत्यत्र यजत्यादीनां शब्दान्तरत्वात् कर्मभेदकत्वमिति चिन्तितम् ।
तद्दत्तत्रायन्नमयादिशब्दान्तरादेवतभेदः सिद्धः किमभ्यासेनेत्यर्थः । तथा चानन्दमयः शब्दान्तरादिति

कर्मभेदकत्वमेवमेवानन्दमयस्याप्यभ्यासात् पूर्ववैलक्षण्यम् । अतोऽतुल्यत्वाद्
ब्रह्मत्वम् । एवमभ्यासः श्रूयते 'को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्, यदेष आकाश
आनन्दो न स्यात्' । 'एष ह्येवानन्दयाति' इत्यर्थतोऽभ्यासः ।

भाष्यप्रकाशः ।

गतिरित्यर्थः । नन्वभ्यासस्यान्नमयादिवाक्येष्वपि दर्शनादत्रैव कथं वैलक्षण्यसाधकत्वमित्यत आहुः
एवमभ्यास इत्यादि । अयमर्थः । पूर्वानुवाकेष्वभ्यादीनां प्रशंसाश्रुत्वापि, को ह्येवान्यादिति
वाक्ये किंशब्दद्वयेन पूर्वोक्तं सर्वं परामृश्यते । तेन तदननादिकं प्रति व्यतिरेकश्रुतेनानन्दसैव
हेतुता श्राव्यते । तेनान्नादीनामपि यत्स्वकार्यं सामर्थ्यं तस्यानन्दसापेक्षता बोध्यत इति सर्वोपजी-
व्यत्वेन स्तुत्या सर्वत्राऽऽनन्दोऽर्थतोऽभ्यस्यत इति स्तावकत्वेन वैलक्षण्यसाधकत्वमित्यर्थः । ननु
स्तावकाभ्यासस्य पूर्वेष्वपि सत्त्वाद् वैलक्षण्यस्य तेष्वपि सिद्धेवैलक्षण्यं नानन्दमयस्य परमात्मत्व-
निर्णायकम् । लिङ्गेन सिद्धवत्तस्य मयद्द्रव्यपेक्षया दुर्बलत्वात् । अर्थान्तरत्वेऽपि प्रायपाठेन तुल्य-
त्वनिश्चयात् । किं चायं विकारे मयद् । 'द्वयचञ्चलन्दसि' इति नियमस्य, मृग्यं गृहं राजसहं
गममित्यादिमन्त्रेषु व्यभिचारात् । तेन विकारार्थे द्वयचो भवत्येव । अन्यस्मात्तु विकारार्थे
भवति, न भवति चेति व्यवस्थितविकल्पाश्रयणेन त्र्यचोऽप्यानन्दशब्दात् तस्य विकारार्थे
रश्मिः ।

सुवचमिति शङ्कितुराशयः । इत्यर्थ इति तथा च प्रकृतोपयोगिहेतुत्वस्याभ्यास एव सत्त्वात्
तत्सुवचमिति भावः । तथा चेदं प्रथमस्य शब्दान्तरस्य त्यागे मानमिति भावः । नन्वेवमप्यभ्यासस्य
पूर्वतन्त्रे भेदकत्वमात्रं सिद्धमिति कथमत्र वैलक्षण्यसाधकत्वमेत्येताशङ्कते नन्वभ्यासस्येति ।
एवमभ्यास इत्यादीति । एवं पूर्वोक्तेभ्यो विलक्षण इत्यर्थः । नन्वभ्यासस्वरूपं पूर्वतन्त्रसिद्धमेवेत्येव-
मभ्यासः श्रूयते इति भाष्यस्य किं प्रयोजनमित्याशङ्कायां प्रयोजनं वदन्तः पूर्वतन्त्रादिलक्षणोयमभ्यास
इत्याहुः अयमर्थ इति । अस्य भाष्यस्येदं प्रयोजनमित्यर्थः । परामृश्यत इति सर्वानामनुत्सर्गतः
प्रधानपरामर्शकत्वादिति भावः । प्रसिद्धवाचका इति सुबोधिन्यां तत्र तत्र तच्छब्दस्य यच्छब्दस्य
ध्याख्यानात् । अभ्यासे चाप्राधान्यबोधकतृतीयाभावात् सर्वमित्युक्तम् । आनन्द इति
आनन्दत्वाभावात्कः पूर्वोक्तोन्नमयादिरन्यात्प्राण्याच्च यत एष आकाश आनन्दोतोयमेव अनिति
प्राणिति चेत्सर्वं श्राव्यत इत्यर्थः । बोध्यत इति सूच्यते व्यङ्ग्यतया बोध्यत इत्यर्थात् । अत्र सुवन्त-
स्यानन्दपदस्यैकवारं कीर्तनादानन्दमयपदाभावाच्चाहुः अर्थतोऽभ्यस्यत इति । स्तावकत्वेनेति
पूर्वतन्त्रोक्तस्य तस्यास्तावकत्वेनास्य स्तावकत्वेनेत्यर्थः । एतेन पूर्वतन्त्रेभ्यासस्य भेदकत्वमात्रं सिद्धं कथमत्र
वैलक्षण्यसाधकत्वमेत्येति शङ्कापि परास्ता । पूर्वेष्विति अन्नमयादिष्वित्यर्थः । अन्नं न निन्द्यात्तद्गतं
प्राणो वा अन्नमित्यादिभिरिति शेषः । लिङ्गेनेत्यादि स्तावकाभ्याससामर्थ्येन । सिद्धयतः परमात्मत्व-
निर्णायकवैलक्षण्यस्य अपरमात्मत्वनिर्णायकविकारमयद्द्रव्यपेक्षयेत्यर्थः । यथैन्द्रा गार्हपत्यमुपतिष्ठते
इति श्रुतौ यावद्विज्ञानैन्द्रया इन्द्रोपस्थानार्थत्वं कल्प्यते तावत्प्रत्यक्षया गार्हपत्यमिति श्रुत्या गार्हपत्यो-
पस्थानार्थत्वं क्रियते इत्यैन्द्री गार्हपत्योपस्थानार्थं तद्दत् । नन्वानन्दशब्दकृतं वैलक्षण्यं परमात्मत्वं
साधयिष्यतीत्याकाङ्क्षायामाहुः अर्थान्तरत्व इति । प्राचुर्यविकारान्यतत्त्वे विकारप्रायपाठेनान्नमयादि-
तुल्यत्वनिश्चयात् । अभ्यासात्पूर्वहेतोर्भेदसाधकस्य शब्दान्तरस्यार्थान्तरत्वोक्तिरत्र । तेनेति व्यभि-
चारदर्शनेनेत्यर्थः । व्यवस्थितेत्यादि । सर्वे विधयश्चञ्चलसि विकल्पन्ते इति न्यायादिति भावः ।

स्तुत्या मयडर्थत्वप्रकृतिस्तु तुल्या । पुनर्वचनेनाभ्यासेन प्रवाहाद् भेदे साधिते

भाष्यप्रकाशः ।

सुवचत्वात् । तथा सति न तेन वैलक्षण्यसिद्धिर्वैलक्षण्यसिद्धावपि न तेन परमात्मत्वसिद्धिरित्यत आहुः मयडर्थत्वादि । मयड् प्रत्ययः । अर्थत्वमर्थान्तरत्वम् । ताभ्यां सहिता प्रकृतिर्मयडर्थत्व-प्रकृतिः शब्दान्तररूपा । सा तुल्या व्यवस्थितविकल्पाश्रयणेऽपि पदार्थान्तरपक्षे परमात्मपक्षे च साधारणा । यद्वा स्तुत्या तुल्या यादृशी स्तुतिस्वादशमर्थान्तरं बोधयति । अतो न तयाञ्चान्तरप्रायपाठेन वा विकारार्थप्रदो युज्यते । तदपेक्षयाऽसाधारणस्य लैङ्गिकाभ्यासस्यैव ज्यायस्त्वादित्यर्थः । तेन सिद्धमाहुः पुनरित्यादि । किमः पुनर्वचनेन बोधितो य आर्थिकोऽभ्यासस्तेन मयडर्थान्तरयोः प्रवाहाद् भेदे आनन्दमयस्य साधिते तस्य ब्रह्मत्वं सिद्धमित्यर्थः ।

रश्मिः ।

ननूक्तं पूर्वस्माद्वैलक्षण्योत्राभ्यास इति तत्राहुः वैलक्षण्यसिद्धावपीति । तेनेति सिद्धेन वैलक्षण्येन दुर्बलेन लिङ्गेन वेत्यर्थः । अर्थान्तरत्वमिति प्राचुर्यविकारान्यतरत्वम् । शब्दान्तररूपेति उभयोरैकतरानन्दमयशब्दान्तररूपा । साधारणेति स्तुत्येत्वान्नेति । तथा च प्रायपाठेऽपि स्तुत्या तेन साधारणेत्यर्थः । तथा चानन्दमयशब्दमहिम्नेव परमात्मत्वसिद्धिरित्याशयः । मुख्ये प्राचुर्ये संभवति गौणविकारार्थानौचित्यात् । इदानीं प्रायपाठविरोधं परिहरन्तः स्तुत्येति पदमत्र योजयन्तो-र्हाथैकप्रत्ययान्तं तुद् उन्मान इति धातुनिष्पन्नस्य तुल्येत्यस्योन्मातुं योग्येति यौगिकार्थं हृदिहृत्य पक्षान्तरमाहुः यद्वेति । अत इत्यादि सर्वोक्तस्तुत्यानन्दमयस्यान्नमयादिभ्य उत्कर्षात् न तथा स्तुत्येत्यर्थः । लैङ्गिकेति आर्थिकाभ्यासस्येत्यर्थः । केचित्तु मयडर्थो वाच्यं प्राचुर्यं पूर्वापेक्ष-याप्याधिक्यं यत्र प्राचुर्यविशिष्टानन्दे स मयडर्थः तस्य भावो मयडर्थत्वं, प्राचुर्यं विशेषणीभूतं तस्य या प्रकृतिरानन्दशब्दात्मिका सा त्वानन्दमयशब्दनिष्ठा स्तुत्या कृत्वा प्रदर्शयमानवाक्यनिष्ठानन्द-शब्देनैकार्थवाचकत्वेन तुल्या । प्रदर्शयमानवाक्ये स्तुतिर्वाक्यार्थः । आनन्दमयशब्दे तु प्रत्ययार्थ इति तुल्यत्वमिति व्याचक्षते । (अस्मिन् पक्षे स्तुत्या इति षष्ठयन्तम् । निरूपितत्वं षष्ठ्यर्थः ।) अन्ये तु को धेवान्यादिति श्रुतौ आनन्दस्याभ्यासः न त्वानन्दमयस्यैवभ्यासाभावादानन्दमयो न ब्रह्मेत्याशङ्कयामाहुः अर्थतोभ्यास इति । शब्दत आनन्दस्याभ्यासेऽप्यर्थतः आनन्दमयस्यैवाभ्यास इत्यर्थः । अर्थतः कथमभ्यास इत्याशङ्कयामाहुः स्तुत्या मयडर्थत्वमिति । एवं सानुस्वारपाठोक्तीकृतः । स्तुत्या 'को धेवान्यात्' इत्यादिरूपया । मयडर्थत्वं मयडर्थः प्राचुर्यं यस्मिन् स मयडर्थ इति व्यधिकरणपदबहुव्रीहिणा मयडर्थ इत्यस्यानन्दमय इत्यर्थः । तथा च को धेवान्यात् इत्यादि-स्तुत्यानन्दस्य मयडर्थत्वमानन्दमयत्वमित्यर्थः । स्तुतौ प्राचुर्यस्य प्रयोजकत्वात् । प्रभवो धनादिमन्त एव स्तूयमाना दृश्यन्ते इति । अतोत्र स्तुत्या प्राचुर्यं ज्ञाप्यते । एवं सति 'को धेवान्यात्' इत्यत्र स्तूयमान आनन्द एवेत्यानन्दप्रचुरस्यानन्दमयस्यैवाभ्यास इति भावः । प्रकृतिस्तु तुल्येति आनन्दशब्दरूपेत्यर्थः । आनन्दमयपदे मयटा प्राचुर्यं बोध्यते को धेवान्यादित्यादौ आनन्दस्तुत्या प्राचुर्यं बोध्यते । आनन्दशब्दस्त्वानन्दशब्दे आनन्दमयशब्दे च तुल्य इति भाव इत्याहुः तदेतद्भाष्ये प्राचुर्येण प्रस्तुतेर्येनशासिते मयड्येकदेशं प्राचुर्यमादाय वक्ष्यमाणसूत्रानुसारेण व्याख्यातव्यम् । मयड-र्थत्वेत्यादेर्भाष्यस्यानुमानपक्षेः । नन्वानन्दमयः परमात्मा अभ्यासात् इडादियागान्तरवत् । एवं सूत्रे पक्षहेतुनिर्देशापत्त्या बहिमान् धूमादितिवत् साध्यहेतुनिर्देशस्य प्रसिद्धस्य त्यागोतः परमात्मानन्द-

ब्रह्मत्वम् । न तु द्रव्यापत्तिः । उत्तरस्य साधकत्वात् । तस्मात् आनन्दमयं ब्रह्मैव ।

भाष्यप्रकाशः ।

नन्वानन्दमयस्य ब्रह्मत्वे द्वैतापत्तिः । 'तस्य प्रियमेव शिरः' इत्यादिसंबन्धषष्ठ्या तस्य भेदबोधनात् । तथा सति ब्रह्मत्वस्याप्यसिद्धिः । नेह नानास्तीत्यादौ ब्रह्मणि भेदनिषेधादित्याशङ्कयामाहुः न त्वित्यादि । उत्तरस्यैतदभ्यासवाक्यादधिमस्य 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति' इत्यन्तरशब्दवाच्यभेदकृतिनिन्दावाक्यस्य राहोः शिर इत्यादिवदभेदषष्ठीसाधकत्वात् द्रव्यापत्तिरित्यर्थः । सिद्धमाहुः तस्मादित्यादि । चोद्याभावात् तथेत्यर्थः । उपचयापचयशक्ति-ब्रह्मत्वपरिहारस्तु गुणोपसंहारपादे प्रियशिरस्त्वादियत्रे आचार्येण विधेय एवेति न चोद्यावसर इति बोधयितुमेवकारः । एवमस्मिन् षण्णैःअनमयादीनां ब्रह्मकार्यत्वेन पदार्थान्तरत्वमङ्गीकृत्य आनन्दे फलत्वस्य वक्तव्यत्वात् साधनरोपभूते हेतौ ब्रह्मण्यनन्दं चानिवेशयार्थिकाभ्यासादानन्दमयस्य तेभ्यो भेदः साधितः ।

रश्मिः ।

मयः अभ्यासादित्युक्तेषु हेतुः स्वरूपासिद्धः पक्षे व्याप्यत्वाभिमत्स्य हेतोरभावादित्याशङ्क्य स्वरूपासिद्धत्वं वारयन्ति स्म स्तुत्या मयडिति । स्तुत्या मयडर्थः प्राचुर्येण प्रस्तुतः प्रकृतप्रकृत्यर्थः । प्राचुर्यं यत्राभ्यासवाक्ये तन्मयडर्थं प्रकृतिप्रत्ययौ सहाय्यं ब्रूतस्तयोस्तु प्रत्ययः प्राधान्येनेति । तस्य भावस्तत्त्वं प्रकृतिरानन्दरूपा तु तुल्या अत्रादिभिस्तुल्या ब्रह्मत्वेनेत्यर्थः । तेन पक्षे हेत्वभावाभावात् न स्वरूपासिद्धत्वं हेतोरिति भावः । प्रवाहादिति विकारप्रवाहात् । न त्विति भाष्यं विवृण्वन्ति न त्विति । उत्तरस्येति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म उत्तरस्येति । उदरमिति स्वल्पमित्यर्थः । गुणोपेति । साधनाध्यायतृतीयापद इत्यर्थः । गुणानामुपसंहारो यत्रेति समासात् । तेनानन्दाधिष्ठातरि विधातर्यव्याप्तिः परिहृता । यत ईक्षितिसूत्रे सद्रूपं सत्यं 'सत्यं परं धीमहि' इति मङ्गलाचरणात् । मूर्त्या तस्य परं पदं विष्णुर्ज्ञानं तत्त्वेन सत्यं अनन्तत्वेन च तत्प्रतिपादकवेदात्यन्तामिलनात् । अत एवानन्दत्वेनापि सत्यं तत्राव्याप्तिरत्र परिहृता । ब्रह्मादिषु लक्षणसमन्वयस्यावश्यकत्वात् । यतो मुण्डके कर्मादित्रयं मुण्डकत्रयेणोक्तत्वा प्रश्ने परब्रह्मान्वेषणे प्राणविद्योक्ता तदनु विद्योपनिषदि ।

'ब्रह्मविद्यां प्रवक्ष्यामि सर्वज्ञानमनुत्तमाम् ।

यत्रोत्पत्तिं लयं चैव ब्रह्मविष्णुमहेश्वरात्' ॥

इत्युक्तं ततः । अत्रैवं बोध्यम् । 'मायैत्यसुराः' इति श्रुतेः 'असत्यमप्रतिष्ठं ते' इति स्मृतेःआसुरसिद्धान्तस्य जाघन्यात् साकारं व्यापकं ब्रह्म तदेव विरुद्धानामणुत्वादिधर्माणामाश्रयः पुरुषोत्तमश्चायमूर्तिः । श्रौतं स्मार्तं च प्रमेयं भिन्नं 'योगिनः प्रति स्मर्यते स्मार्तं चैते' इति चतुर्थी-ध्यायस्यसूत्रे तथैव सूचनात् । श्रौतं ज्ञानं भक्तिर्वा साधनं, स्मार्तं तु भक्तिरेवेति श्रीमदाचार्याणां सिद्धान्तः । एष चात्र निबन्धे च स्फुटः । श्रीमद्विद्वलेश्वरदीक्षितानां तु पुरुषोत्तमो यशोदोत्सङ्ग लालित एव ब्रह्म, विरुद्धानां व्यापकत्वादिधर्माणामाश्रयः । 'समान एव चाभेदात्' इति तृतीयाध्याय-स्यसूत्रे तथैव व्यासपादानामभिप्रायव्यवस्थापनेन सूत्रसमाप्तौ—

'एवं विचारचातुर्यवद्भिः सद्भिर्ब्रजाधिपे ।

आनन्दमयतानन्दसंदोहायावधार्यते' ॥

अथवा 'स नैव रेमे, तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्, स हैतावानास' इत्यादिश्रुतिभिरेष उ एवेतिश्रुतेश्च तानि तानि साधनानि कारयित्वा तानि तानि फलानि ददद् भगवान् स्वक्रीडार्थमेव जगद्रूपेणाविर्भूय क्रीडतीति वैदिकैर्निर्णीयते । एतदेव काण्डद्वयेऽपि प्रतिपाद्यते ।

भाष्यप्रकाशः ।

सांप्रतं तु प्रभुचरणैरखण्डब्रह्मवादेन पूर्वं सिद्धं कार्यस्यापि ब्रह्मत्वमनुमानन्दस्य साधनशेषत्वेऽपि रूपभेदेन फलत्वानपायाञ्ज्ञेयकोटावानन्दं निवेद्यापि तेभ्य आनन्दमयभेदः 'तस्यैव एव शरीर आत्मा' इत्यादिवाक्याभ्यासाद् वर्णकान्तरेणाधिदैविकत्वादमाश्रित्य साध्यते अधवेत्यादि । तदर्थं पूर्वं सर्वश्रुतीनां ब्रह्मपरत्वेनैकवाक्यत्वाय प्रतीयमानस्य द्वैतस्य बाध्यताप्रकारबोधनाय च सृष्टिप्रक्रियास्मरणपूर्वकमखण्डब्रह्मवादस्वरूपं सप्रमाणं निरूप्यते स वै नैवेत्यादि । वैदिकैरिति प्राचीनोपनिषदैः । एतेन संमतिरपि शिष्टानामुक्ता । एतेन सृष्टीच्छायां प्रयोजिका क्रीडेच्छेति बोधितम् । एतदेव काण्डद्वयेऽपि प्रतिपाद्यत इति 'शब्दस्य हि ब्रह्मण एव पन्थाः' इत्यनेन रदिमः ।

इति श्लोकेन भाष्यसमाप्तौ च—

'जानीत परमं तत्त्वं यशोदोत्सङ्गलालितम् ।

तदन्यदिति ये प्राहुरासुरांस्तानहो बुधाः' ॥

इति श्लोकेन च तथैवोक्तत्वात् । भक्तिरेव साधनं श्रौतस्मार्तं च प्रमेयमेकमेव 'स्मृतेश्च' इति सूत्रेण श्रौतस्याप्यर्थस्य व्यासपादः स्मृत्योपबृंहणादित्येतावान् मतभेदः । अन्यत्समानमित्याशयेन भाष्यं भिन्दन्ति सांप्रतमित्यादि । प्रभुचरणैरिति श्रीमद्विठ्ठलेश्वरदीक्षितैरित्यर्थः । तेन पूर्ववर्णकस्यापि मुख्यत्वं न तु तत्र किमप्यस्वारस्यमिति ध्वनितम् । एवं तत्र मतभेदो द्रष्टव्यः । प्राकरणिकग्रन्थनिबन्धाद्येकवाक्यतायां विचार्यमाणानां तु एकमेव मतमिति वस्तुस्थितिस्तत्त्वं चेति विभावनीयं महद्भिः । 'पितृप्रवर्तितप्रचारसुविचारकः' इति नामरत्नग्रन्थनाम्नः प्रमूणाम् । अत एव मिलितयोरेवाचार्यत्वम् । अखण्डब्रह्मवादेनेति नात्राखण्डब्रह्मवादो 'अखण्डं कृष्णवत्सर्वं' इति निबन्धोक्तः, तस्य ज्ञानमार्गीयत्वात् 'भजनं सर्वरूपेषु' इत्यस्य तत्त्वदीपे तथाकथनात् । किं तु लीलासामग्रीसहितमेवाखण्डं ब्रह्मेति परमभागवतेन वादेनेत्यर्थः । एतत्स्वरूपं बुध्वाद्यायतनाधिकरणे 'प्रकरणत्वात्' इति सूत्रे वक्ष्यति । रूपभेदेनेति गणिततत्त्वागणितत्वकृतेनेत्यर्थः । द्वैतस्येति संशयरूपस्य संख्यारूपस्य वा बाध्यताप्रकारसूचनाय सर्वस्य ब्रह्मत्वबोधनेनेत्यर्थः । निरूप्यत इति । यत्तु शंकरपादा अतः परस्य ग्रन्थस्य किमुत्थानमुच्यते द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते इत्यादिना सोपधिकनिरुपाधिकभेदेन श्रुतिव्यवस्थामाहुः तत्तात्त्विकत्वातात्त्विकत्वाभ्यां द्वेषा भेदस्य विद्वन्मण्डने निपुणतरं खण्डनात् । ग्रन्थोत्थाने प्रकारान्तरमुपदिशद्भिरिति शेषः । स वै नैवेत्यादीति इदं प्रजापतिपरमिति शंकरा व्याचक्षते तदशोभनं 'सर्वान् पाप्मन औषत् तस्मात्पुरुषः' इति पुरुषनिर्वचनश्रुतेः अपहृतपाप्मत्वस्य ब्रह्मलिङ्गस्य तत्र सत्त्वेन विराडात्मकप्रजापतेर्ग्रीहीतुमशक्यत्वात् । किं च सोऽविभेदित्यपि भयं न बाधकं बाललीलायां तस्वीकारात् भक्तानुरोधेन । माहात्म्यं चैतद्ब्रह्मणो यद्भक्तवश्यत्वम् । अत एकोप्यसाधारणो धर्मो विद्यमानः शिष्टान् संदिग्धानपि ब्रह्मधर्मोनेव गमयति इति 'अन्तस्तद्भूमोपदेशात्' इत्यधिकरणभाष्याच्च । न च 'ततः पतिः पत्नी चाभवताम्' इत्यनन्तरं ततो मनुष्या-

अन्यथा जीवस्य साधनफले निरूपयन्त्याः श्रुतेर्जीवपरत्वमेव स्यात् ब्रह्मपरत्वम् । कर्मब्रह्मणोरपि जीवशेषत्वं नापेयात् ।

एवं सति पूर्वकाण्डेऽवान्तरफलान्युक्त्वा 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' इतिश्रुतेर्निरवधानानन्दात्मकमेव परमं फलमिति तद्विषयमाणा पूर्वं सामान्यत आह, ससाधनं तैत्तिरीये 'ब्रह्मविदामोति परम्' इति । अक्षरब्रह्मवित् परं ब्रह्माप्नोतीत्यर्थः । अत्र परशब्दस्य पूर्वपरत्वे तदित्येव वदेत् ।

भाष्यप्रकाशः ।

द्वितीयस्कन्धे उक्तार्थस्यैवोपबृंहणात् क्रीडनमेव प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । तेन सृष्टीच्छा क्रीडेच्छारूपैवेति निर्णयोक्तोपबृंहणेऽन्यस्याप्यर्थस्य संभवदुक्तिकत्वात् तदनुक्त्वा विपक्षे बाधकं तर्कमेवाहुः अन्यथेत्यादि । अन्यथेति भगवतः सर्वरूपत्वाभावे । नापेयादिति पारार्थ्यस्य शेषलक्षणस्य फलद्वारा तत्र सत्त्वान्नापेयादित्यर्थः । नच जीवशेषत्वमेव काण्डद्वयस्यास्तु बाधकाभावादिति वाच्यम् । 'सर्वे वेदा यत् पदम्', 'उमित्येतदक्षरम्', 'इदं सर्वम्', 'यस्यात्मा शरीरम्' इत्यादिषु वेदादेर्भगवत्परत्वस्य भगवतो जीवशेषित्वस्य च श्रावणेन तद्विरोधस्यैव बाधकत्वात् । तस्मान्नात्र शङ्कालेशः । एवमखण्डब्रह्मवादस्यैव श्रौतत्वात्कुरीतिक एवार्थ इति हृदिकृत्याधिदैविकत्वादेन भेदं साधयितुं विषयवाक्यं व्याकरिष्यन्तः सिद्धमनुद्य तदवतारयन्ति एवं सतीत्यादि । एवं सतीति उक्तदोषपरिहारायोक्तरीत्या श्रुतीनां ब्रह्मपरत्वे सति । इति श्रुतेरिति । आनन्दान्तरस्यैतदंशत्वादिति शेषः । सामान्यत इति संक्षेपेण । विषयवाक्यप्रतीकं धृत्वा व्याकुर्वन्ति ब्रह्मेत्यादि । साधनशेषाद् ब्रह्मणः परस्मातिरिक्तत्वे गमकमाहुः अत्रेत्यादि । तथाच शब्दान्तरेण निर्देश एव भेदगमक इत्यर्थः । एतेन निरवधिसत्यज्ञानात्मकत्वे रदिमः ।

अजायन्त' इति श्रुत्या पतिर्भुः पत्नी शतरूपेति व्याख्यायत इति वाच्यम् । मनुशब्दस्य मुख्यवृत्तिर्ब्रह्मण्येवेति मनुष्यपदोपपत्तेः । किं चोपसंहारेत्र ह्येते सर्वमेकं भवन्ति तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्मा अनन्त इत्येतत्सर्वं वेद इति सर्वपरायणत्वं सर्वपदनीयत्वं तज्ज्ञानेन सर्वज्ञत्वं तैर्ब्रह्मलिङ्गरूपक्रमस्य निःसंदिग्धं ब्रह्मपरत्वं, अतोऽन्तस्तद्दर्माधिकरणन्यायेनाकाशस्तल्लिङ्गाधिकरणन्यायेनातिदेशाधिकरणन्यायेनास्य ब्रह्मपरत्वात् । चतुर्थचरणे समाकर्षाधिकरणेषुपपादादियुच्यते । क्रीडनमिति एतच्चैतस्य सुबोधिन्यामस्ति । इच्छान्तरादर्शनादाहुः तेन सृष्टीच्छेति । अन्यस्येति अङ्गुलुद्धाच्छादनाय कल्पितप्रकारस्य शंकरमतसिद्धस्येत्यर्थः । परमार्थ एव पूर्वोक्तः । आहुरिति उपबृंहणस्यापामरप्रसिद्धत्वाद्द्वैदिकमन्यस्य वैदिकेनैव प्रकारेण बोध्यत्वाद्वा श्रौतेनैव विचारेण तमर्थं समर्थयन्तो गतेरर्थवत्त्वसूत्रे तर्ककथनात् तद्व्यायेनाहुरित्यर्थः । पारार्थ्यस्येति पूर्वतन्त्रोक्तस्येत्यर्थः । फलद्वारेति तत्र कर्मब्रह्मणोः फलाभ्युपायः द्वारं स्त्रीत्वविवक्षायां द्वारा 'द्वारं पुनर्निगमनेभ्युपायः' इति विश्वात् । फले शेषत्वमन्येषां नास्ति । अतः फले शेषत्वं मतस्यस्य मतावलम्बनमभ्युपायः तथेति शेषः । इदानीं पूर्वमीमांसाकाशङ्कां पराकुर्वन्ति न च जीवेत्यादि । भेदमिति प्रकाशाश्रयन्यायसिद्धमित्यर्थः । भाष्ये । ससाधनमिति तेनास्य प्रकारस्य मर्यादामार्गीयत्वं सूचितम् । वस्तुतस्त्वित्यादि मुख्यपक्षे तूभयमार्गपरत्वं ज्ञेयम् । प्रकृते । विषयेत्यादि । सिद्धमिति काण्डद्वयसिद्धम् । संक्षेपेणेति संक्षेपेणोचरकाण्डार्थमाहेति भाष्येणान्वयः । विषयवाक्यप्रतीकमिति 'तस्माद्वा एतस्माद्ब्रह्मज्ञानमयादन्योन्तर

पूर्वं ब्रह्मोक्तवाग्ने यत् परमित्याह तेन साभिध्यात् तत एव परं पुरुषोत्तमरूप-
मेवाऽत्राभिप्रेतमिति ज्ञायते ।

किंच प्रतिवादिना तवासिर्ज्ञानात्मिकैव वाच्या । तथा सति ब्रह्मप्राप्तो ब्रह्म
प्राप्नोतीत्यर्थः स्यात् । स चासंगतः । साधनसाध्यभावव्याहृतिश्च ।

भाष्यप्रकाशः ।

सत्यक्षरादुत्कृष्टत्वमिति परस्य लक्षणमप्युक्तप्रायम् । तत्रोत्कृष्टत्वमानन्दमीमांसोत्तरं, 'यतो
वाचः' इति श्लोके गणनापरिच्छेदरहितावाङ्मनसगीचरानन्दरूपत्वेन सिद्धं भविष्यति । ननु 'सर्वं
ब्रह्म' इतिविद् परं ब्रह्माप्नोतीत्यर्थोक्तौ न कोऽपि दोष इत्यत आहुः किंचेत्यादि । असंगत इति
पुनरुक्तिदोषादसंगतः । नन्वत्र व्याख्यानव्याख्येयभाव एव संगतिरिति चेत् तत्राहुः साधनेत्यादि ।
नच शाब्दज्ञानवान् परं साक्षात्काररूपं ज्ञानमाप्नोतीत्युक्तौ न दोष इति वाच्यं-प्रत्यक्षविरोधात् ।
नच साधनान्तरासम्बधानाददोष इति वाच्यम् । तस्यात्रानभिप्रेतत्वात् । अनुपदेशेन तथाच-
रश्मिः ।

आत्मानन्दमयः' इति विषयवाक्यस्य पूर्वाङ्गमित्यर्थः । प्रतीकमित्यस्यावयवमित्यर्थः । अत्रिष्य-
तीति अनन्तपदार्थनिरूपणे भविष्यतीत्यर्थः । यद्वा एकप्रक्रमपठितत्वेन भविष्यतीत्यर्थः । वस्तुतस्तु
निरवधानानन्दत्वमेव लक्षणम् । सत्यज्ञानानन्तविषयित्वं वा लक्षणमेकश्रुत्युपपादितत्वात् ।
प्रकटचिदंशत्वेन न सूर्येऽतिव्याप्तिः सत्यानन्तयोराच्छन्नत्वात् । परे तु त्रयं प्रकटमिति । प्रकटमिति
लक्षणे विशेषणम् । निरवधिसत्यज्ञानत्वे सतीति विशेषणाभावे शृङ्गाररसेतिव्याप्तिः स्वमतहानिश्च
'सत्यं परं धीमहि' इति 'सत्यव्रतं सत्यपरम्' इति च ।

'आत्ममायाश्रुते राजन् परस्यानुभवात्मनः ।

न घटेतार्थसंबन्धः स्वप्नद्रष्टुरिवाञ्जसा' ॥ इति च ।

अर्थसंबन्धो देहसंबन्धः । विशेष्याभावे ब्रह्मज्ञानमेव भवेत् । अपोक्षजत्वेन निरवधानानन्द-
द्वारा तज्ज्ञानात् । 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' इति श्रुतेः । अक्षरेतिव्याप्तिवारणाय निरवधीति ।
शंकरोपनिषद्वाच्योक्तार्थं वदन्त आशङ्कामाहुः नन्वित्यादि । सर्वं ब्रह्मेत्युपासकः परं ब्रह्माप्नोति
इत्यर्थोक्तावित्यर्थः । न कोऽपीति यद्यपि प्राप्यस्य ब्रह्मणः उपासकाङ्घ्रित्वेन भवनमुक्तं तथापि
मात्रवर्धिकं ब्रह्म जीवाङ्घ्रितिरिक्तं नापि तु तस्यैवोपासकस्याविघालेशून्यं निर्विशेषचिन्मात्रैकरस-
स्वरूपं तदेव 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति मन्त्रेणोच्यते । अग्रे 'यतो वाचो निवर्तन्ते, अत्राप्य मनसा
सह' इत्यनेन वाङ्मनसयोरगोचरत्वस्योक्तेरिति दोषोपि नेति न कोऽपि दोष इत्यर्थः । व्याख्यान-
व्याख्येयेति । तथा चोपनिषद्वाच्यं ब्रह्मविदिति ब्रह्म वेद ब्रह्मैवेति वक्ष्यमाणलक्षणं बृहत्तमत्वात्
ब्रह्म तद्देतीति ब्रह्मविदाप्नोति परं निरतिशयं तदेव ब्रह्म परं नब्रह्मस्य विज्ञानादन्यस्य प्राप्तिरिति ।
साधनेत्यादीति 'धर्मादिश्वनियमः' इत्यनेन 'अन्पाचूतरं पूर्वम्' इत्यस्य बाधादेवं प्रयोगः ।
धर्मादिश्चाकृतिगणः । ब्रह्मज्ञानं साधनं परप्राप्तिः साध्या सापि ज्ञानात्मिकेत्येकस्य साधन-
साध्यभावव्याहृतिश्चेत्यर्थः । व्याख्यानव्याख्येयभावेपि तन्मतेन साधनसाध्यभावमाशङ्क्य निषेधन्ति
न च शाब्देत्यादि । प्रत्यक्षेति शाब्दपरोक्षापत्त्या तथा । साधनान्तरैति संन्यासयोगरूप-
साधनान्तरासम्बधानात् । अत्रेति श्रुतावित्यर्थः । अनभीत्यादि छान्दोग्ये आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि
संप्रतिष्ठाप्येति गार्हस्थ्यलिङ्गदेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थानां पुंसां तदनिवेशे गृहस्थानां ब्रह्मलोके

अतः परं विशेषतस्तद्विवक्षमाणानुभवैकगम्यं तत्स्वरूपं नान्यमानगम्य-
मिति ज्ञापयितुमन्यमुखेनाह 'तदेवाभ्युक्ता' इति । अन्यथा सर्वार्थतत्त्वप्रति-
पादिका श्रुतिरेवं कथं वदेत् । तदित्यव्ययम् । तथाच तत् पूर्वोक्तं ब्रह्मविदः
परप्राप्तिलक्षणमर्थं विशदतया प्रतिपाद्यत्वेनाभिमुखीकृत्योपगृह्य ऋगेषा विदित-
परब्रह्मकैरुक्ता । पूर्ववाक्योक्तार्थस्य वैशद्यमनया क्रियत इत्यर्थः संपद्यते ।

भाष्यप्रकाशः ।

सायात् । 'यमेवैव' इति श्रुत्या साक्षात्कारस्य श्रुतेतरसाधनानधीनत्वाच्च । साधनान्तरकल्पनायामपि
पूर्वोक्तरीत्या परशब्दवैयर्थ्याच्च । अत उक्तविधस्यैवार्थस्यात्र संश्लेषत उक्तिरेवेति निश्चयः । एवं
सामान्यत उक्तिं तथैव व्याख्याय विशेषतो व्याख्यातुं सामान्यविशेषभावे गमकाकाङ्क्षायां
व्याख्यानव्याख्येयभाव एव गमक इत्याशयेनाहुः अतः परमित्यादि । अन्यथेति व्याख्यान-
त्वाभावे, परस्य तत्प्राप्तेऽनुभवैकपेक्षत्वाभावे च । एवमिति अन्यमुखेन । अव्ययमिति
हेतुपञ्चम्यन्तमव्ययम् । श्रुतिव्याख्यानगतं तत्पदं त्वर्थाध्याहृतमर्थविशेषणत्वाय वाच्यमिति-
रश्मिः ।

पराश्रुताद्विरण्यगर्भमेक्षात् मोक्षानापातेः । तथा सति 'न स पुनरावर्तते' इति छान्दोग्यविरोध इति
तथा । भाष्ये । काण्डद्वयेपीत्यादिना गृहस्थाधिकारस्य पूर्वकाण्डसिद्धस्यापि संग्रहात् । परमहंसयतीनां
तु गार्हस्थ्यमपि प्राप्तं चेत् पारिभाषिकसंन्यासो गृहस्थानां यथा । 'काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो
विदुः' इत्यादि गीतायाः । अत्र हेतुमाहुः अनुपदेशेनेति 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः' इत्यत्रोक्तगार्ह-
स्थ्यस्य तैत्तिरीयेतुपदेशेन तथा साधनान्तरत्वाभावनिश्चयात् । अनुपदेशेप्येपिपक्षितोपसंहार एकवाक्य-
तयोचित एवेत्यत आहुः यमेवेति । वरणेनरेत्यादि प्रमेयचलभवेत्तत् । वरणं वैदिकमनुग्रहो
वेदान्तः । नन्वस्तु तत्र तथापरमत्र तु ब्रह्मविदिति साधनोपदेशेन भक्तिरूपसाधनत्वव्यापारत्वेन
निवेशस्यावश्यकत्वाद्भक्तेर्वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थानां संन्यासयोगाच्छुद्धसत्त्वानां प्राकट्यात् तद्वत्का-
ण्डद्वयेपीत्यादिभाष्यादस्माभिरपि साधनान्तरं कल्प्यत इत्यत आहुः साधनान्तरेत्यादि । पूर्वैति
अत्रैव पूर्वोक्तरीत्या चेति । अत्र व्यवहारे भाट्टत्वाभावेन निहितं गुहायामित्यस्याग्रे ब्रह्मणाश्रुते
एकीभवतीत्युक्तं स्यात् न तु परमे व्योमज्ञित्यादिरुपनिषद्ः स्यात् । अतः स्वमते पुष्टिमर्यादाभक्तफलं
वर्तीति युक्तम् । 'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति' इत्यत्र ज्ञानफलमिति चकारार्थः । अत उक्तेति भाट्टवदर्थवादत्वा-
भावादक्षरब्रह्मविदः पूर्णानन्दप्राप्त्युपदेशरूपसंवेत्यर्थः । ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवतीति श्रुतेर्ज्ञानमार्गस्य
साधकाशत्वाद्भक्तिमार्गस्य निरवकाशत्वादेवकारः । अत्रेति ब्रह्मविदाप्नोति परमितिमात्रे । उक्तिरेवेत्ये-
वकारेण व्याख्यानत्वव्यवच्छेदः । निश्चय इति । शब्दादपरोक्षस्य सर्वनिर्णये मर्यादाभक्त एव
स्यादित्यादिना दूषितत्वादिदोषिकाकाङ्क्षिणा स द्रष्टव्यः । सामान्यविशेषेत्यादि तदेवाभ्युक्तेति
श्रुतेरित्यर्थः । एषेति एवकारोप्यर्थकत्वेन तदेवाभ्युक्तेति श्रुतेरपि सामान्यविशेषभावे गमकत्वं द्रष्टव्यम् ।
अन्येत्यादि विदितपरब्रह्ममुखेनेत्यर्थः । यद्यपि श्रुतं नारदमुखादित्यन्यमतत्वं संभाव्यते तथापि
पुरुषविद्यब्रह्मणवत्तद्वा एतद्विदितं भीमांसितमिति श्रुत्यायमर्थः साधुः । श्रुत्यर्थस्तु एतदित्यस्य यथोक्त-
कर्मणामवश्यकत्वं, विदितमित्यस्य भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञः पितृयज्ञो देवयज्ञ ऋषियज्ञश्चेति
पञ्चमहायज्ञप्रकरणे विदितं विज्ञातमित्यर्थः । भाष्ये । तत्पदं द्वितीयान्तत्वेन व्याख्यातं तत्प्राप्त्यर्थाहुः
श्रुतिव्याख्यानेत्यादि । अध्याहारदोषादाहुः अर्थेत्यादि । अर्थशब्दस्य नियतपुष्टिहत्वादिनि

तामेवाह । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् सोऽश्रुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' । सोपपत्तिकमानन्दात्मकत्वमग्रे निरूपणीयमित्यधुना तदनिरूप्य सच्चिदंशौ देशकालापरिच्छिन्नत्वं चोक्तवती ।

अथवा, अक्षरब्रह्मण्यानन्दात्मकत्वे सत्यपि तस्य परिच्छिन्नत्वान्न परम-फलत्वमत आनन्देऽपरिच्छिन्नत्वमेव परमफलतावच्छेदकमिति तद्धर्मपुरःसरं

भाष्यप्रकाशः ।

क्तम् । तथाच संपूर्णा ऋक्ष फलांशविवरणार्थेवेति संपद्यत इत्यर्थः । तामित्यादिना ऋचं पठित्वा व्याकुर्वन्ति सोपपत्तिकमित्यादि । एवमग्रे फलनिरूपणावसरे निरूपणीयमित्यधुना साधननिरूपणावसरे सोपपत्तिकमनिरूप्य सत्यज्ञानपदाभ्यां सच्चिदंशवन्नन्तपदेन देशकाला-परिच्छिन्नत्वं च ज्ञेयस्य ब्रह्मणः साधनशेषत्वायोक्तवतीत्यर्थः । एवं पूर्ववर्णकस्य ज्ञेयांशे कारणत्वायानन्दांशमप्रवेश्येत्यस्य संग्रहाय तदाशयो विशदीकृतः । तेन ब्रह्मत्वे तुल्येऽपि क्षरस्य देशकालापरिच्छिन्नत्वाभावात् विवक्षितफलसाधनशेषत्वम् । अक्षरस्य तु तदपरिच्छिन्नत्वात् तादृशसाधनशेषत्वमिति बीजं प्रकाशितम् ।

अतः परं प्रस्तूयमानवर्णकरीत्या विवक्षितफलविवरणार्थमत्रानन्दांशप्रवेशं वक्तुमनन्त-शब्दस्यार्थान्तरमाहुः अथवेत्यादि । परिच्छिन्नत्वादिति गणनया परिच्छिन्नत्वात् । एवमत्र

रश्मिः ।

भावः । तथा च तदिति तं द्वितीयान्तं न पञ्चम्यन्तमस्मिन् पक्षे । भाष्ये । विदितपरब्रह्मैरिति 'तासां मे पौरुषी प्रिया' इति पुराणद्वारा पुरुषविधब्राह्मणाङ्गीकर्तृभिः स्वस्या अक्षरं ब्रह्म परमं स्थानमिति खोक्तृर्हरित्यर्थः । तेन यदध्येतृभिरिति परैरुक्तं तदसंभवि । अध्येतृणामसामर्थ्यादिति बोधितम् । प्रकृते । फलांशेत्यादि फलं चांशश्च फलांशौ तयोर्विवरणार्थेत्यर्थः । यद्यप्याह ससाधनमित्यस्य पूर्ववाक्योक्तार्थस्य वैशद्यमनया क्रियते इत्यस्य च भाष्यस्य विरोधः स्यात् तथाप्यनुभवैकगम्यं तत्स्वरूप-मित्याद्याभासभाष्यानुसारेणाह ससाधनमिति । पूर्वोक्तस्य भाष्यस्य अथवेत्यादिवक्ष्यमाण-द्वितीयपक्षात्पुनरानुसृतत्वं पूर्ववाक्योक्तार्थस्येति भाष्यस्य फलांशप्रतिपादकत्वस्येत्यर्थः । इत्यविरोधः । साधिष्ठानमेव तत्स्वरूपमिति 'आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः' इति सूत्रभाष्ये तु द्वितीयपक्षात्पुनरानुसारी नेति । तामित्यादि अत्र कर्ता भगवान् 'वेदान्तकृत् वेदविदेव चाहम्' इति स्मृतेः । साधनेत्यादि फलांशे निरूपणीये साधनत्वेनाधिष्ठानरूपसाधनत्वेन स्वरूपे प्रतीतं साधनं तस्य निरूपणावसर इत्यर्थः । फलांशनिरूपणे साधननिरूपणमन्यथासंगतं स्यात् । एवमेव ज्ञेयस्येत्यादिकं स्वरूपे प्रतीतं ब्राह्मम् । एवं पूर्वत्यादि फक्किकातात्पर्यं तु ज्ञेयम् । पूर्ववर्णके ब्रह्मविदाप्रोतीत्यस्य विषयवाक्यत्वाभावात् । तथाहि । ननु फलांशे वर्णनीयानन्दाप्रवेशो नैव युज्यते यतः आनन्दत्वेन फलत्वमिति चेत्तत्राहुः एवं पूर्वैति । पूर्वोक्तप्रकारेण पूर्व वर्णकं यस्य भाष्ये वक्ष्यमाणवर्णकस्य द्वितीयस्य तत्स्यस्येत्यादिरतः फलांशेष्यदुष्टो निरानन्दपक्ष इति । तदाशय इति शंकरमतमपाकर्तुं निरानन्दपक्षो ज्ञानमार्गो इति तथेत्यर्थः । तुल्येपीति क्षरस्य सत्त्वेन ब्रह्मत्वमक्षरस्य तु चित्त्वेनेति तयोर्ज्ञात्वानुल्येपीत्यर्थः । तदपरिच्छिन्नत्वादिति अक्षरात्मकेऽपरिच्छिन्ने सत्येव हृदि परसापरिच्छिन्नस्य प्रादुर्भावात्तथेत्यर्थः । फलविवरणार्थमिति आश्रिते परमित्येतावत्फलस्य सत्यमित्यादिनैव विवरणार्थमित्यर्थः । गणनयेति 'ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्दः' इति श्रुतेः । परिच्छिन्नत्वादिति ।

परमानन्द एवानन्तशब्देनोच्यतेऽत्र । 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म', 'सच्चिदानन्द-विग्रहम्' इत्यादिश्रुतिषु त्रयाणामप्येकप्रक्रमपठितत्वाद् द्वितयोक्तौ तन्नियत-सहचरितत्वेनाऽनुक्तोऽप्यानन्दः प्राप्स्यत एवेत्याशयेन वानन्दः स्फुटतया नोक्तः । अथ वेदनपदार्थमाह । यो वेदेत्यादिना । अत्रेदमाकृतम् । 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन । यमेवैव वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैव आत्मा वृणुते तनुं स्वाम्' इति श्रुत्या वरणेतरसाधनाप्राप्यत्वमुच्यते ।

एवं सति श्रुतिद्वयविरोधपरिहारायाक्षरब्रह्मज्ञानेनाविद्यानिवृत्त्या प्राकृत-धर्मराहित्येन शुद्धत्वसंपादनेन पुरुषोत्तमप्राप्तौ स्वरूपयोग्यता संपाद्यते । तादृशो जीवे स्वीयत्वेन वरणे भक्तिभावात् सहकारियोग्यतासंपत्त्या पुरुषोत्तमप्राप्ति-

भाष्यप्रकाशः ।

वेद्यपदार्यो गणितागणितानन्दभेदेन द्वेषा विवृतः । अनन्तरूपमिति श्रुत्यन्तरादत्राप्यनन्तपदं रूपानन्त्यवाचकमेवास्तु । तथा सति नानन्तपदेन परमानन्दलाभ इत्याशङ्क्य पक्षान्तरमाहुः सत्यं विज्ञानमित्यादि । अथेति वेद्यनिरूपणोत्तरम् । नन्वेवं द्वेषा वेद्यव्याख्याने किं बीजमित्याकाङ्क्षायामाहुः अत्रेत्यादि । इदमाकृतमिति । वरणेतरसाधनाप्राप्यत्वमिति अत्र प्रवचनपदं वेदे रूढम् । तदत्र वाच्यतासंबन्धेन तदुक्तसाधनान्युपलक्षयति । मेधा धारणावती बुद्धिः सा च पुरुषनिष्ठसाभाविकसाधनानि श्रुतं चागन्तुकानि साधनानीति । तथा ऋचि वेदन-व्याख्यानांश इदं वक्ष्यमाणं तात्पर्यम् । एवं सतीति व्याख्येये यजुषि वेदनप्राप्यत्व उक्ते सति । सहकारियोग्यतासंपत्त्येति सहकारियोग्यतयोः संपत्त्या । तथाच वरणाभावे ज्ञानमार्गीत्या

रश्मिः ।

अतोत्राक्षरं नोच्यत इति भावः । द्वेषेत्यादि प्रकाशाश्रयन्यायेनाभेदमाश्रित्य द्वेषा विवृत इत्यर्थः । यद्यप्यक्षरनिरूपणमप्रयोजनं तथापि श्रुत्यन्तर आनन्दमात्रपदाश्रित्यरूपितम् । एवेति अयमानन्दव्यव-च्छेदकः । सत्यं विज्ञानमित्यादीति यद्यपि सर्वोपनिषदि 'सत्यं ज्ञानमनन्तमानन्दं ब्रह्म' इति श्रुतिरस्ति तथापि स्पष्टेति नानावादानुगोधिर्रूपोपयोगिनी न भवतीति पद्मपुराणीयवाक्येन यमुना-जित्परामर्ष्यर्थाङ्गित्वेन तस्यास्तामङ्गीचक्रुरिति बोध्यम् । किं बीजमिति पूर्व प्रकाशाश्रयन्यायसूचनेन बीजसोक्तत्वेपि विशेषजिज्ञासायां प्रश्नः । रूढमिति 'प्रवचनं स्मृतं वेदे' इति विश्वात् । योगरूढमिति वक्तव्ये नामैकदेशग्रहणम् । अत्र वाच्यतासंबन्धो लक्षणा । अत्रे तु स्थलद्वये सामानाधिकरण्यसंबन्धो लक्षणेति ज्ञेयम् । श्रुतं चेत्यादि 'श्रुतं शास्त्रावधृतयोः' इति विश्वात् । शास्त्रान्तरवाच्यान्या-गन्तुकानि साधनानि इति तथा वरणेतरसाधनाप्राप्यत्वम् । उच्यत इति शेषः । वेदनेत्यादि अत्रेति पदस्यार्थः । तात्पर्यमिति आकृतपदस्यार्थः । व्याख्येय इति साधनांशव्याख्यानेत्र व्याख्येये । वेदनप्राप्यत्व इति अक्षरप्रवृत्तेरनस्य सत्यं ज्ञानमित्यारभ्य यो वेद निहितं गुहायामिलन्तस्य न परमे व्योमन्निस्तुक्तसाधनशून्यस्य परप्राप्तिसाधकत्वमदृष्टत्वादिति साधनान्तरोपलक्षकता श्रुत्यन्तरस्वारस्यात् । वरणजभक्तिस्तु न साधनान्तरमपेक्षतेऽश्रुतत्वादित्येवं पूर्वोक्तसाधनांशव्याख्येयवेदनप्राप्यत्वप्रकारे सतीत्यर्थः । सहकारीति सहकारिणी भक्तिः । योग्यताऽविद्यानिवृत्त्या शुद्धत्वम् । भावाः कारणानि परप्राप्तौ । सिद्धमाहुः तथाचेति निर्णायक इत्यन्तर्भाष्येण 'यो वेद निहितं गुहायाम्' इत्यन्तर्गर्थः उक्तः । तत्रोपासनया शुद्धत्वं निरूप्यते न कर्मणा । एवं चाक्षरब्रह्मज्ञानेनेत्यस्य भाष्यस्य न शब्दापरो-

र्भवतीति निर्णीयते । तदेव गुहायां परमव्योमाविर्भावः । परो मीयते दृश्यतेऽनेनेति तथा । ज्ञानमार्गीयजीवज्ञेयप्रकारकाद्वैशिष्ट्येनापि तथा । परमव्योमोऽल्लौकिकत्वज्ञापनायालौकिकः प्रयोगः कृतः ।

भाष्यप्रकाशः ।

ज्ञानप्रधानतया ब्रह्मज्ञानं, वरणे तु भक्तिमार्गीर्याऽऽनन्दप्रधानतया ब्रह्मज्ञानं, येन परमाप्तिरिति वेद्यस्य द्विधाविर्भाव एव द्विधा व्याख्याने बीजमित्यर्थः । अस्या ऋच एवं निर्णायकत्वे गमकमाहुः तदैवेत्यादि । कृत इत्यन्तम् । तथाच श्रुत्यन्तरे वेद्यनिरूपणे हार्दाकाशविशेषणरदिमः ।

क्षेपेत्यर्थः पूर्वदूषणात्रापि सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति श्रुत्युक्तेनेत्यर्थः भक्तिकारणत्वात् । किं तु यथा यथा परिमृज्यत इति श्लोकोक्तेनेत्यर्थः । न च तत्र न ज्ञाननिरूपणं किं तु ज्ञानाङ्गभक्तिनिरूपणमिति वाच्यम् । 'अच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्' इति वाक्ये केवलज्ञाननिषेधात् । ज्ञानं फलं न तु साधनमिति च । ततः कार्यकारणमावादविधानिवृत्त्या तज्जन्यधर्मराहित्येन । शुद्धत्वेनेत्यादि आध्यात्मिकशुद्धान्तःकरणं सत्यलौकिकत्वेन 'दिव्यमन्त्रेण बहुशः कुर्यादात्ममलयुतिम्' इत्यमृतविन्दूपनिषच्छ्रुतेः । स्वरूपेति मुक्तोपसृप्यन्यपदेशादिति सूत्रात् । एवं ज्ञानमार्गीर्येत्यर्थः । ब्रह्मज्ञानमिति अक्षरज्ञानम् । तदा तु 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्' ॥

इति गीतायाः भक्तिद्वारा परप्राप्तिः । साधनांशविवरणे श्रुतिविरोधपरिहारमाहुः वरणे त्वित्यादि । भक्तिमार्गीत्यादि भक्तिमार्गः श्रवणादिसरणिरूपस्तत्र तत्र ग्रन्थेषु प्रसिद्ध एव । प्रकारभेदेन 'भक्तिमार्गो बहुविधः' इति वाक्यात् । स भाष्ये पुष्टिमर्यादाभेदेन वरणे भक्तिभावः पुष्टिः । साधनैः सहकारिणो भक्तिरूपस्य योग्यताया आधिदैविकशुद्धत्वरूपायाः संपत्त्या, 'यथा यथात्मा परिसृज्यतेसौ' इति वाक्याद्भक्तिशुद्धत्वयोः पूर्वापरीभावः, तदतु शुद्धत्वे पूर्वोक्तो भक्तिभावपदैकदेशभावस्याभिव्यक्त्या पुरुषोत्तमेत्यादिः । 'तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मम्' इति वाक्यात् । भावः सर्वात्मभावान्तर्गतो दानसाध्य इति पुनर्भाष्ये नोक्तः । अनया भक्तिमार्गीर्येत्यर्थः । नन्वेकादशस्कन्धीयान्याध्यायोक्तभक्तिमनादस्य कुत आज्ञाशेषभक्तिमार्गादर इति चेन्न । निबन्धे त्रयोदशे हंसकृतनिर्णयः सर्वसमतः 'एवं विमृश्य' इत्युक्तः । तद्भक्तिस्वरूपं स्वरूपलाभः । सोपि चतुर्दशे ज्ञानशेषभक्तिनिरूपणनिरूपितो भविष्यत्यतस्त्रयोदशाध्यायनिर्णयार्थं प्रवृत्तत्वात् ।

'अन्यत्रेच्छेय एतादृक् उपायो वा भवेत्तदा ।

न कृष्णत्वं फलं पूर्णं नापि त्यागस्तथोभयोः' ॥

उभयोरिति गुणचेतसोः । ब्रह्मज्ञानमिति साधनशेषाक्षरब्रह्मज्ञानमित्यर्थः । (सर्वात्मभावचरमवृत्तिरूपम्, तृतीयाध्याये लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणे स्पष्टम्)

'भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' ॥

इति गीतोक्ता परप्राप्तिः । वेद्यस्येति ब्रह्मविदित्युक्तस्य सत्यज्ञानमित्यादिना विवृतस्य वेद्यस्य ज्ञानप्राधान्येन आनन्दप्राधान्येन च द्विधाविर्भाव इत्यर्थः । एवमिति साधनान्तरीयपररूपाक्षरचित्तदानन्दः परमाप्नोति न तु अक्षरविदित्वेवमित्यर्थः । तदैवेत्यादीति ब्रह्मभावकाल इत्यर्थः । ब्रह्मभूतस्य भक्तिप्रयत्नात् । श्रुत्यन्तरे इति । 'अथ यदिदमस्मिन्' इत्यस्यां दहराधिकरणीयायां वेद्यनिरूपणे

भाष्यप्रकाशः ।

त्वेन परमादिपदाभावोऽत्र तु तत्सद्भाव इत्येव गमकमित्यर्थः । यत आकाराद्युघादिलिङ्गानां व्यूहेष्ववतारेषु च सत्त्वात् पुरुषोत्तमत्वं तैर्निश्चेतुमशक्यम् । अक्षरस्थितत्वज्ञाने तु निश्चेतुं शक्यमतोऽक्षरात्मकस्य व्योमः परमत्वम्,

'अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।

यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्गाम परमं मम' ॥

इति गीतावाक्यस्वारसात् । तस्य परमव्योमत्वं तु, 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्', 'यदक्षरे परमे व्योमन्' इत्यादिश्रुतिभ्योऽवगन्तव्यम् । नचाव्यक्तपदादक्षरपदं प्रकृतिवाचकमिति शङ्क्यम् । 'यं प्राप्य न निवर्तन्ते' इति श्रुतिस्थानत्वरूपलिङ्गविरोधात् । प्रकृतिप्राप्तानां तु पुराणे प्रकृतिचिन्तकानधिकृत्य, 'पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्ति विगतज्वराः' इति वाक्येन तदुत्तरं पुनरावृत्तिबोधनात् । 'द्राविमौ पुरुषौ लोके धरश्चाक्षर एव च' इति पुरुषत्वोक्तिविरोधाच्च । अव्यक्तत्वं त्वक्षरीयमेव प्राथमिककार्यत्वात् प्रकृतिगामि भवति । आकाशजन्ये वायौ नीरूपत्ववत् । न तु तत्प्रकृत्यसाधारणम् । अतोऽक्षराधिष्ठातृत्वं पुरुषोत्तमाऽसाधारणमित्यक्षरस्यैव रदिमः ।

पुरुषोत्तमनिरूपणे दहरः परमात्मा न जीव इति भाष्यादित्यर्थः । अत्र त्विति श्रुतौ तु तत्र हार्दाकाशे परमादिपदसद्भाव इत्यर्थः । व्यूहेष्वित्यादि प्रयुज्जानिरुद्धसंकरषणवासुदेवत्वित्यर्थः । सोवतारो भवति यः सत्त्वरूपे स्वधाम्नि प्रविष्टः कार्यं करोति तेत्वित्यर्थः । अक्षरात्मेति तेनाक्षरं व्योम प्रकृतिः पुराणोक्त इन्द्रः स्वराडिति पर्यायाः । इदं व्योम भूतानां छिद्रदातृ 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' इति गीतोक्तम् । 'छिद्रा व्योम्लीव चेतनाः' । जीवा भिन्नाः । ततः परमत्वं भक्तिसाधनजन्यं परमत्वस्य भक्त्यन्तःपातित्वात् । अवगन्तव्यमिति । तथा चैतत्परमत्वस्यात्र संनिवेश इति भावः । प्रकृतीति सशङ्खचक्रो हरिरित्यत्र हरिशब्दस्य विष्णुवाचकत्ववत् । चेति तेन प्रधानमित्यपि नपुंसकं न पुरुषः । मुख्यकारणगता धर्माः कार्ये समायान्तीत्याशयेनाहुः अक्षरीयमेवेति । एवकारेण पुरुषोत्तमव्यावृत्तिः । न च 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इत्यत्राकाशोक्षर एव इति कथमात्मशब्दार्थपुरुषोत्तमव्यावृत्तिरिति शङ्क्यम् । आत्मन इत्यत्रोक्तरीत्यांशद्वात् तत्र पुरुषोत्तमव्यावृत्तिः । 'अक्षरात्सोम्य विविधा भावाः प्रजायन्ते' इत्युक्तेनाक्षरव्यावृत्तिः । भक्तैः सह निगूढभावकरणातिरिक्तकार्याभावात् । नीरूपत्ववदिति आकाशो नीरूपत्वं तु आधेयतया रूपाभावात् । अन्यथा प्रस्थानरत्नाकरे वायौ नीरूपत्वं स्फुटं परं त्वाकाशे नीलो नास्ति नीलमाकाशं तु वरीवर्ति इति मणितं विरुद्धं स्यात् । एवं चारूपित्वे सति चालनव्यूहनद्रव्यशब्दगन्धनयनसर्वेन्द्रियबलदानाख्यकार्यत्वं लक्षणं सिद्धम् । अत्राकाशजन्यो नीलरूपो वायुर्न भाति चालनादिकार्याभावात् ।

'चालनं व्यूहनं प्राप्तिर्नेतृत्वं द्रव्यशब्दयोः ।

सर्वेन्द्रियाणामात्मत्वं वायोः कर्मादिलक्षणम्' ॥

इति स्पर्शस्तन्मात्रा । नीरूपे सति स्पर्शवत्त्वं स्वरूपलक्षणम् । न तु तदिति तदक्षरपदम् । प्रकृतीति त्वन्मते प्रकृतिसाधारणं परं तु प्रकृतिर्मायेन्द्रियरूपा पुराणमते त्रिगुणात्मिकेत्यक्षरपदं स्वयंप्रकाशासाधारणं न प्रकृतिसाधारणम् । अत इति प्रकाशासाधारणात् । अक्षरेत्यादि अक्षर-

रश्मिः ।

तदधिष्ठातृपुरुषोत्तमसाधारणमित्यर्थः । तृतीयाध्यायद्वितीयपादे तदव्यक्ताधिकरणे तयोक्तेः । पुरुषो-
त्तमेत्यत्र समासस्तु पञ्चमीतत्पुरुष इति केचित् । तन्न । तद्विधायकसूत्राभावात् योगविभागास्वागतिक-
गतित्वाच्च । पुरुषेषूत्तम इति सप्तमीसमास इत्यन्ये । तन्न । त्रया सति सप्तमीसमासेन नरक्षत्रिय-
शूरतम इति प्रयोगापत्तेः । न चेष्टापत्तिः 'न निर्धारणे' इति निषेधवैयर्थ्यापत्तेः । निर्धारणे तादृश-
प्रयोगस्यासाधुत्वज्ञापनेनैव तत्सार्थक्यात् । एके तु सप्तमीसमास एवायम् । निषेधस्य स्वरभेद-
नियामकषष्ठीसमासनिषेधफलकत्वात् । कैयटस्तु यतश्च निर्धार्यते यश्च निर्धार्यते यश्च निर्धारणे हेतुः
तत्रितयसन्निधान एव निर्धारणषष्ठी, तत्रैव चायं निषेधः । पुरुषोत्तम इत्यत्र तु त्रितयसन्निधानाभावात्
न निर्धारणविभक्तिः किं तु संबन्धसामान्ये षष्ठीति तया समासः । अत एव हलादिःशेष इतिसूत्रे
किमयं हलामादिरिति षष्ठीसमास इति भाष्ये उक्तेः । गुणवचनेन निषेधस्त्वचित्य इति तरप् सूत्रे
आह । अत्र जयरामः । उक्तत्रितयसंनिधौ तदङ्गीकारं नरक्षत्रिय इति प्रयोगस्याप्युपपत्तेः ।
तत्रितयसंनिधानात् । अत एतादृशप्रयोगात् नराणां क्षत्रियः शूरतमः इत्यर्थे नरक्षत्रियशूरतम इत्य-
प्रयोगाच्च समासवाक्यादन्यतो निर्धारणनिर्धारणप्रयोजकरूपोपस्थितावेव समासनिषेधः । अतोत्र
निर्धारणाभावात् न षष्ठीसमासनिषेधः । यत्र तु पुरुषाणामुत्तमः कृष्णस्तत्र तु कृष्णस्य विधेयत्वेन
निर्धारणोपगमाच्च समासः । विधेयस्यैव तन्निर्धारणप्रयोजकत्वस्वीकारात् ।

'नायः सृजत्यवति यो जगदेकपुत्र-

श्रीत्या ततः परमनिर्वृतिमादधाति ।

तस्मै नमः सहजदीपेकृपानुधन्धं

लब्धत्रितत्त्वतनवे पुरुषोत्तमाय' ॥

इति लीलावत्यां यः सृजति तस्मै पुरुषोत्तमाय नम इति तत्प्रयोजकरूपोपस्थितावपि न
क्षतिरित्याह । नागोजिमद्वास्तु 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः' इति स्मृतिस्वारस्यात्
कर्मधारय एव राजदन्तादित्वादुत्तमशब्दस्य परनिपात इत्याहुः । एतदेव च युक्तम् । 'एष संप्रसादोऽ-
स्मान्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः' इतिश्रुति-
स्वारस्याच्च । अत्र वदन्ति । कर्मधारयसमासे उत्तमपुरुष इति प्रयोगापत्तिः । जातिविशिष्टवाचकस्य
गुणक्रियाविशिष्टवाचकयोगे जातिविशिष्टप्राधान्यनियमात् नीलोत्पलमित्यादौ तथादर्शनात् । अन्यत्र
त्वनियमः । यथा खञ्जकुञ्जः कुञ्जखञ्जः इत्यादौ तदपि पूर्वोक्तस्मृतिस्वारस्यात् तादृशनियमस्यै-
तदतिरिक्तस्थले एव स्वीकारात् परास्त्वम् । उत्तमपुरुष इति प्रयोगानापत्तिस्तु राजदन्तादित्वादुत्तम-
शब्दस्यैत्युक्तम् । यद्यपि कैयटजयरामोक्तषष्ठीसमासपक्षे पुरुषतादात्म्यवानुत्तम इति बोधः ।
षष्ठ्यास्तादात्म्यार्थकत्वात्तथापि तादात्म्यस्य भेदसहिष्णुरभेदोर्थ इत्यभेदबोधकस्मृत्युपपत्त्यर्थं कर्मधारय
एव युक्त इति बोध्यम् । 'स आत्मानं स्वयमकुस्त' इत्यत्र तादात्म्यं भेदघटितं चेद्विभक्तसदृशो
भेदपदार्थः । 'विभक्तमिव च स्थितम्' इति गीतावाक्यात् । भाष्ये । तथेति परमत्वे नास्ति ।
ज्ञानमार्गीय इत्यादि । अत्रायं परमार्थः । 'आनन्दप्रकाशाद्धि ब्रह्मभावो भविष्यति' इत्यस्य
तत्त्वदीपे तिरोहितस्याविर्भावे ब्रह्मभाव इति प्रतिपादनाज्ज्ञानमार्गे परामिध्यानसूत्रोक्तरीत्या जीवे
तिरोहितो य आनन्दस्तस्याविर्भावेऽक्षरात्मकतया जीव एव ज्ञेयः । अत्र तु तत्र पुरुषोत्तमाविर्भावकथनेन
न ततो वैशिष्ट्यमिति । एतच्चैवं सतीत्यारभ्य निर्णयत इत्यन्तेनोक्तम् । तत्र तिरोहितानन्दाविर्भावो

'भक्त्याऽहमेकया ग्राह्यः' 'नाहं वेदैः' इत्युपक्रम्य, 'भक्त्या त्वनन्यया
शक्यः' इत्यादिस्मृतिरप्येवमेव संगच्छते । अन्यथा ज्ञानमार्गीणामपि ब्रह्मविदां
परप्राप्तिः स्यान्न त्वेवम् ।

'शुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः ।

सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महाभुजे ॥

तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मयात्मनः ।

न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेद्विह' ॥

भाष्यप्रकाशः ।

तद्गमकत्वमिति हृदयम् । ननु वरणपदार्थो लक्षणया ज्ञापनात्मको ग्राह्यो न तु रूढोऽङ्गीकारात्मक
इति नात्र भक्तिनिवेशे किञ्चिद् बीजं पश्याम इत्याशङ्कार्या स्मृत्या स्वोक्तमुपपद्यन्ति भक्तयेत्यादि ।
एवमेवेति वरणपदस्याङ्गीकारपरत्व एव । विपक्षे बाधकं तर्कमाहुः अन्यथेत्यादि । न त्वेवमिति
न ज्ञानमार्गीणां विवक्षितलक्षणा परप्राप्तिः । एवमृचो निर्णायकत्वमुपपाद्यैवंप्रकारकज्ञानस्य
रश्मिः ।

निवेशनीयः । अलौकिक इति परमे व्योमत्रितिरूप इत्यर्थः । प्रकृते । लक्षणयेति ज्ञानाङ्गीकारयो-
र्जन्यजनकभावसंबन्धो लक्षणा । रूढ इति तेन न वृद्ध संभक्तौ इत्यस्य भक्तिनिवेशबीजस्य प्राप्तिरिति
नात्र भक्तिरित्यादिः । उपपद्यन्तीति व्यासचरणैः स्थितेश्चेति सूत्रेण स्वोक्तोपपद्यन्तात् ।

'कृष्णवाक्यानुसारेण शास्त्रार्थं ये वदन्ति हि ।

ते हि भागवताः प्रोक्ताः शुद्धास्ते ब्रह्मवादिनः' ॥

इति शास्त्रार्थोचोपपद्यन्तीत्यर्थः । भक्तयेत्यादीति । 'न ज्ञानं न च वैराग्यं'मिति । न च
'ज्ञानी त्वात्मेव मे मतः' । 'जनयत्याशु वैराग्यम्' इति वाक्ये भगवदाविर्भावकारणं वैराग्यकारणं
भक्तिरिति भक्तिग्राह्यवैराग्यं च कृतो न प्रायः श्रेयः इति वाच्यम् । काठकोक्तब्रह्मविषयिण्यां मत्यां
तर्कपरित्यागापत्तेः 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' इति काठकश्रुतिः । न हि तर्केणाश्वर्यरहितेन तिरोहित-
सदानन्दसद्रूपेण घटादिज्ञानं पारमार्थिकं भवति । आश्चर्यवतो भक्तस्य तु भवति । एवं वैराग्येऽक्षरात्म-
कप्रतिकृतिवैतृष्ये तदाविर्भूतपुरुषोत्तमावज्ञापतेः । अङ्गीकारेति अङ्गीकारपरत्वे सति भक्तिमार्गीयत्व
एवेत्यर्थः । परप्राप्तिरिति तेन 'नायमात्मा' इति श्रुतौ भक्तिनिवेशे उपपत्तिरुक्ता भवति । अत
एव वारोहे सप्तविंशे ।

'ज्ञानादेव तु कैवल्यं प्राप्यते नान्यथा तु यत् ।

इति वेदवचः स्फीतं गीयते विदुषां गणैः ॥

श्रवणानन्तरं कार्यं मननं भक्तिपूर्वकम् ।

ततो ध्यानं प्रकुर्यात् ततः साक्षाद्भवेद्धरिः' ॥

इति ज्ञानात्केवलभक्त्या कैवल्यमिति 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासि-
तव्यः' इति श्रुतौ च भक्तिनिवेशः स्फुटयुक्तः । श्रुतिरप्येवमाह 'स्वप्नं सच्चिदानन्दं भक्त्या जानाति
चाव्ययम्' इति वासुदेवोपनिषदि । एवमृच इति वरणद्वारं ऋचः । एवंप्रकारेत्यादि अक्षरत्व-
प्रकारकज्ञानस्य । फलयोगौर्णत्वादित्यर्थः । भाष्ये । गृह्यामितीत्यारभ्य यो वेदेत्यन्तःसंदर्भो

१. अन्तरा प्रतिबन्धः नशाब्दो निषेधार्थकः छप्रत्ययमवार्थः । अप्रतिबन्धे भक्तत्वं तस्मात् स्वार्थं कः (इति मान्तरियक-
न्याश्रुतिः) ।

इत्यादिवाक्यैः । एतदेवाह । गुहायां हृदयाकाशे यदाविर्भूतं परमं व्योमा-
क्षरात्मकं व्यापिवैकुण्ठं, तस्य पुरुषोत्तमग्रह रूपत्वात् तत्र निहितं स्थापितमिष
वर्तमानं यो वेद स भक्तो ब्रह्मणा नित्याविकृतरूपेण विपश्चिता, विविधं पश्य-
च्चिरं हि विपश्चिन्वम् । पृषोदरादित्वात् पश्यच्छब्दावयवस्य यच्छब्दस्य लोपं कृत्वा
व्युत्पादितो विपश्चिच्छब्दः । तेन विविधभोगचतुरेण सह सर्वान् कामानश्नुत
इत्यर्थः । एतेन परप्राप्तिपदार्थ उक्तो भवति । शुद्धपुष्टिमागीयत्वादस्य भक्तस्य
स्वातन्त्र्यं भोग उच्यते । सहभावोक्त्या ब्रह्मणो गौणत्वम् । अत एव भक्ताधीनत्वं
भगवतः स्मृतिष्वुच्यते । 'अहं भक्तपराधीनः', 'वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या'
इत्यादिवाक्यैः ।

यद्यप्यश भोजन इति धातोर्भातीत्येव रूपं भवति, अशुद्ध व्याप्ताविति
धातोर्भवेत्यश्नुत इति रूपं, विकरणभेदात् पदभेदाच्च । तथाप्यत्राश भोजन
इति धातोरेव प्रयोग इति ज्ञायते । तथाहि । अत्राशनक्रियायां ब्रह्मणा सहभाव
उच्यते । तथाच व्याख्येयकत्वे ब्रह्मणा सहभूतान् कामान् व्याप्नोतीत्यर्थो भवत्य-
थवा ब्रह्मणा सह भूतः स जीवः कामान् व्याप्नोतीति । एतौ त्वनुपपन्नौ । न हि
कामवज्जीवकर्तृकव्यापनक्रियाकर्मत्वं ब्रह्मणि संभवत्यतिमहत्त्वात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

फलानन्तरीयकत्वादुत्तरार्धं सर्वमेव व्याकुर्वन्ति एतदेवाहेत्यादिना । एतेनेति ऋगुत्तरार्धेन ।
एतमर्थं स्मृत्योपपद्यन्ति अत एवेत्यादि । नचास्य नवमस्कन्धीपवचनस्य साधिकांशभूत-
विष्णवाक्यत्वेन पुरुषोत्तमवाक्यत्वाभावान्नोक्तार्थोपपद्यन्तीति शङ्क्यम् । तस्य भिन्नत्वेऽपि
मूलपुरुषरूपनामलीलासाध्येनादोषात् । पराशरपुराणे—

'वैष्णवानि पुराणानि समस्तानि महामुने ।

त्रिमूर्तीनां हरेर्नाम्ना मूर्त्या तस्य परं पदं प्रवदन्ति' ॥

इति साम्यस्मरणानि । उक्तेऽर्थेऽनुपपत्तिमुद्भाव्य परिहरन्ति यद्यपीत्यादि । व्युत्पाद-
यन्ति तथाहीत्यादि । विपक्षोद्भावितयोरर्थयोरार्थं दूषयन्ति न हीत्यादि । कामवदिति
सप्तम्यर्थे वतिः । अतिमहत्त्वादिति,

रश्मिः ।

दहराधिकरणे स्फुटमुपपादितः । स्थापितमिवेति इवपदेनाक्षराधिकरणभाष्यविरोधः परिहृतः ।
दर्शनमात्रे परं विशेषात् । परप्राप्तिपदार्थ इति । अयं फलाध्याये स्फुटतर इति ततोवधेयः ।
शुद्धपुष्टीति एतन्मार्गद्वयं सहकार्यन्तराधिकरणे स्पष्टम् । शुद्धत्वं निवेदितात्मत्वं 'निवेदितात्मा
विचिकीर्षितो मे' इतिवाक्यात् । ब्रह्मणो गौणत्वमिति 'सहयुक्तेऽप्रधाने' इति पाणिनिसूत्रात् ।
प्रकृते । त्रिमूर्तीनामित्यादि त्रिमूर्तीनां मध्ये हरेर्नाम्ना मूर्त्या च तस्य गुणावतारस्य परं पदं
मुख्यं रूपं प्रवदन्तीत्यर्थः । अनुपपत्तिमिति श्रुतपविकरणसात्मनेपदस्य च नानुपपत्तिमित्यर्थः ।
भाष्ये । कामानिति काम्यन्त इति कामा आनन्दादयस्तानित्यर्थः । भाष्ये । ब्रह्मणि संभव-
तीति ब्रह्मसाहित्यवदभिन्नान्कामानिति शब्दबोधेन व्यापनरूपफलाश्रयत्वस्य विशेषणमुते ब्रह्मण्यपि

व्यापनं चात्र स्वाधीनीकरणमेव वाच्यम् । न हि कामानां तथात्वं स्वतः
पुरुषार्थरूपम् । भोगशेषत्वात्तेषाम् । पूर्वोक्तपरप्राप्तिव्याकृतिरूपत्वाच्चास्य
तथाप्येऽनुपपन्नः ।

तेन अश भोजन इति धातोरेवायं प्रयोगोऽर्थस्यालौकिकत्वज्ञापनाया-
लौकिकः प्रयोगः कृतः । 'व्यत्ययो बहुलम्' इति सूत्रेण छन्दसि तद्विधानात्,
भ्राजत्यपरस्यैपदयोर्व्यत्ययेन श्रुतव्यात्मनेपदे जाते इति भोगार्थक एषायां धातुः
एवमेव, 'न तदश्नोति कंघन, न तदश्नोति कञ्चन' इत्यत्र प्रत्ययमात्रव्यत्ययेन प्रयो-
गोऽशधातोरेवेति ज्ञेयम् । अन्यथा सर्वव्यापकस्य ब्रह्मणस्तन्निषेधोऽनुपपन्नः स्यात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

'एकः शुद्धोऽक्षरो नित्यः सर्वव्यापी तथा पुमान् ।

सोऽप्यंशः सर्वभूतस्य मैत्रेय परमात्मनः' ॥

इतिवाक्यादित्यर्थः । द्वितीयं दूषयन्ति व्यापनं चेत्यादि । संयोगरूपव्यापनस्यापुरुषार्थत्वाद्
व्यापकत्वमादिमते तस्य स्वतःसिद्धत्वाच्च तद्विधानासंगत्यापत्तेरत्र कामस्वाधीनीकरणरूपं तद्
वाच्यम् । तेन कामप्राप्तिरेव व्याकृता भवति, न परप्राप्तिरिति सोऽर्थोऽनुपपन्न इत्यर्थः ।
एतेनैव, ब्रह्मणा करणभूतेन सर्वान् कामान् सहाश्रुते युगपद् भुङ्क्त इति योजनासिद्धोऽर्थोऽपि
निरस्तो बोध्यः । भोगस्य सुखसाक्षात्कारातिरिक्तोदासीनज्ञानात्मकोऽर्थस्तु पूर्वमेव निरस्तः
स चासंगत इत्यादिना । तेनोक्तैव योजना । अयमेव चार्थ इति निश्चयः । सिद्धमाहुः
तेनेत्यादि । जाते इति प्रथमाद्विवचनम् । श्रुत्यन्तरेऽप्ययमेवार्थ इत्याहुः एवमित्यादि । तथाच
तत्राप्यस्यूलदिलक्षणं ब्रह्म कमपि न भुङ्क्ते, कोपि ब्रह्म न भुङ्क्ते इत्येवार्थो वक्तव्यः ।
सकलप्रापञ्चिकधर्मनिषेधे प्रापञ्चिकभोगनिषेधकथनस्यापि युक्तत्वादित्यर्थः । एवं परप्राप्तिपदार्थं
भोगरूपे व्याख्यायते भोगलिङ्गात् परस्य सोपाधिकत्वं ब्रह्मवित्पदस्य सकामोपासकरत्वं चापाद्य
रश्मिः ।

सत्त्वेन कर्मत्वं ज्ञेयम् । प्रकृते । इत्यर्थ इति श्रुतिरपि 'यतो वाचो निर्वर्तन्ते' इति बृहत्वाद्बृहणत्वाच्च
ब्रह्मेति च । तथा च कामप्रदेशानां कर्मत्वप्राप्त्या कामानां कर्मत्वानुपपत्त्या लक्षणापत्तिरिति भावः ।
संयोगरूपेत्यादि । सिद्धान्त इति शेषः । सर्वदा सत्त्वेनापुरुषार्थत्वादित्यर्थः । अन्यसंमतिमाहुः
व्यापकेति । भास्कराचार्यमते । स्वत इति द्रव्ययोः संयोगः प्रसिद्धः । अत्रेत्यादि द्वितीयव्याख्याने
ब्रह्मणः कामविशेषणत्वाभावेन केवलकामस्वाधीनीकरणरूपमित्यर्थः । 'वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या'
इति वाक्यात् । अत एव भाष्य एवकारः । अनुपपन्न इति 'अकाम आत्मकाम आसकामः' इति
श्रुतेः अनुपपन्नः । अकामत्वेन कामकामाभावात् कामप्राप्तेरभावात् । एतेनैवेति ब्रह्मवृत्तिकामस्वाधी-
नीकरणस्य परप्राप्तित्वाभावेनैवेत्यर्थः । तेनोक्तैति एवकारद्वयं वचनानामुक्तानामनुसंधानात् । प्रथमे-
स्यादि तेन धर्मधर्मभेदेनोभयविधमप्यानन्दं भक्तोऽनुभवतीति निष्कर्षः । भाष्य एवकारस्तु 'परोक्षवादो
वेदोयम्' 'परोक्षं च मम प्रियम्' 'परोक्षप्रिया इव हि देवाः' इतिवाक्यैः फलाशे परोक्षवादौचित्यात् ।
इत्येवेति एवकारेण व्यापनरूपार्थव्यवच्छेदः क्रियते । व्यापननिषेधेऽपसिद्धान्तात् । भोगस्य साधितस्य
निषेधायोगादन्यभोगं निषेधन्ति सकलेत्यादि । आपाद्येति उपनिषद्भाष्या ता आपाद्येत्यर्थः

ननु सकामोऽत्रोपासकस्तदुपास्यं च सगुणं ब्रह्म । इयोरपि कामोपभोगश्र-
वणात् । 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' इत्युपक्रम्य, 'यत्र त्वस्य
सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्' इत्यादिनाऽन्यदर्शनादिनिषेधाद् ब्रह्मविदः
कामोपभोगासंभवश्चेति चेन्मैवम् । तदेषाम्भुक्तेति वाक्येन पूर्ववाक्योक्तार्थ-
निरूपिकेयमृगित्युक्तत्वेन प्राकृतगुणसंबन्धस्य तत्र वक्तुमशक्यत्वात् । तथा सति
ब्रह्मवित्प्राप्यत्वपरस्परयोरसंभवापत्तेः । नच वेद्यस्यागुणत्वमुत्तरस्य सगुणत्व-
मिति वाच्यम् । परत्वानुपपत्तेः । साधनशेषभूतस्यागुणत्वं तत्फलस्य सगुणत्व-
मित्यसंगततरं च । 'यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः' इति श्रीभागवत-
वाक्येन गुणातीतपुंसां वैकुण्ठदर्शनाधिकार उच्यते यत्र तत्र किमु वाच्यं
तत्परदर्शने ।

यद्योक्तं ब्रह्मविदो द्वैतदर्शानुपपत्त्या कामभोगासंभव इति । तत्राप्यु-
च्यते । यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूदिति श्रुतिरखण्डब्रह्माद्वैतभाने ब्रह्मविदः
प्रापञ्चिकभेदादर्शनं वदति, न तु प्रपञ्चातीतार्थदर्शनं बोधयति निषेधति वा ।
पुरुषोत्तमस्वरूपं तु यावत्सर्वधर्मविशिष्टं प्रपञ्चातीतमेवेति तद्दर्शनादौ किमायातम् ।
'पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्' इत्यनेन ब्रह्मात्मकत्वं प्रपञ्चस्यो-
क्तवैतदपि तस्य विमूर्तिरूपं पुरुषस्त्वतो महानित्याह, 'एतावानस्य महिमा

भाष्यप्रकाशः ।

चोदयति ननु सकाम इत्यादि । तथाच वृथा पूर्वोक्ता चिन्तेति चोद्योऽयः । तत्र समादधते
मैवमित्यादि । तत्र हेतुमाहुः तदेषेत्यादि दर्शन इत्यन्तम् । एवं पूर्वदूषणं परिहृत्य
द्वितीयं परिहर्तुमनुवदन्ति यथेत्यादि । समादधते तत्रापीत्यादि । किमायातमिति श्रुत्य-
विरोधात् किं दूषणमायातं, न किमपीत्यर्थः । ननु धर्मविशिष्टस्य पुरुषोत्तमस्य प्रपञ्चातीतरवे किं
मानमित्याकाङ्क्षायां तदुपादायन्ति पुरुष एवेत्यादि । तथाचोक्तश्रुत्या प्रपञ्चाज्जायस्त्वकथनेन
तदतीतत्वमेव बोध्यतेतस्तथेत्यर्थः । एवं चोद्यनिराकरणेन पूर्वोक्तचिन्तायाः सार्थकत्वाय
रक्षिः ।

दर्शन इत्यन्तमिति । आत्मबोधोपनिषद्यप्ययमर्थोऽनुभूयते 'ॐ नमो नारायणाय' इति मन्त्रोपासको
'वैकुण्ठं मगवलोके गमिष्यति' इत्युक्त्वा 'अयं यदिदम्' इत्यादिनोपासनमुक्त्वा 'अस्माल्लोकादुत्क्रम्या-
मुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामानास्यामृतः समभवत्समभवत् यत्र ज्योतिरजसं यस्मिंल्लोके स्सर्हितं
तस्मिन्मां वेदि पवमानाद्यजे लोकेऽक्षिते अमृते लोकेऽक्षिते अमृतत्वं गच्छत्यमृतत्वं गच्छत्यमृतत्वं
गच्छत्यो नमः' इति । अत इति प्रपञ्चातीतत्वाभिर्गुणस्य वस्तुनोऽभावाच्च 'परास्य शक्तिर्विधैव श्रूयते
स्वामाविकी ज्ञानचलक्रिया च' इति श्रुतेरनन्ताः पराः सर्वोक्त्याः आनन्दरूपास्ताश्च स्वामाविक्यो

अतो ज्यायांश्च पुरुषः' इति श्रुतिरतो न किञ्चिदनुपपन्नम् । एवं सति ब्रह्मविदः
परप्राप्तेः पूर्वदशा तत् केनेत्यादिनोच्यते, उत्तरदशा तु सोऽभुत् इत्यनेनोच्यते
इति सर्वं सुस्पष्टम् । छान्दोग्येऽपि, 'यत्र नान्यत् पश्यति' इत्यादिना भूमस्वरूप-
मुक्त्वा, 'आत्मैवेदं सर्वम्' इत्यन्तेन तद्विभावमुक्तवोच्यते । 'स वा एष एवं
पश्यन्नेवं मन्वान एवं विज्ञानज्ञात्परतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स
स्वराह भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' इति । एतच्च, 'लिङ्गस्यैवत्वात्
तद्धि बलीयस्तदपि' इत्यधिकरणे प्रपञ्चयिष्यते ।

भाष्यप्रकाशः ।

सिद्धमाहुः एवं सतीत्यादि । ननु शाक्ताभेदेन पूर्वोत्तरदशवैपरीत्यस्यापि शक्यवचनत्वाभेदे
सुस्पष्टमिति शङ्कायामाहुः छान्दोग्येऽपीत्यादि । तद्विभावमिति उत्तरदशारूपसर्वात्मभावस्यो-
दीपकमखण्डब्रह्ममानरूपं विभावम् । तथाचात्राखण्डब्रह्ममानात्परतिरात्मक्रीडादीनां पूर्वोत्तरभावस्य
स्पष्टत्वात् पूर्वोक्तस्य सुस्पष्टत्वाभावः शङ्कितुं शक्य इत्यर्थः । नन्वेवं चेच्छान्दोग्यवाक्यमपि सम्यग्
व्युत्पाद्यमित्यत आहुः एतच्चेत्यादि । एतदिति छान्दोग्यवाक्यम् ।

एवमनेन ग्रन्थेन श्रुतौ मुख्यतया फलमेव निरूप्यत इत्युपगम्य श्रुतिर्व्याख्याता ।
व्याख्येयवाक्ये ज्ञानस्य ज्ञातविशेषणतया प्रवेशेनाऽमुख्यत्वात् । तथापि तद्व्याख्यानभूतायामृषि
साधनस्य पृथङ्निरूपणाद् व्याख्यानस्य विशेषप्रतिपत्तिहेतुत्वात् तामनुसृत्य पूर्वोक्तमर्थं द्रव्यितुं
रक्षिः ।

न त्वागन्तुक्यः ज्ञानं बलं भक्तिर्ब्रह्मवशीकारत्वात् क्रियाश्च विविधा इत्यत इत्यर्थः । शाक्ताभेदेनेति
उत्तमप्रच्छन्नशाक्ताभेदेनेत्यर्थः । आहुरिति सकलश्रुतिसंमतोयमर्थ इत्याहुरित्यर्थः । तद्विभावमिति
तद्विभावमिति द्वितीयः पाठः । भक्तेः रसत्वादाहुः उत्तरेत्यादि । उत्तरदशया रूप्यते सम्यग्भिव्यक्तो
निरूप्यते इत्युत्तरदशारूपः उत्तरदशारूपश्चासौ सर्वात्मभावः तस्येत्यर्थः । यद्यपि पूर्वदशायामपि
सर्वात्मभावस्तथापि न सम्यग् ज्ञात इति विशेषणमुत्तरदशारूपेति । अयं भूमेति भूमालम्बनविभावः
उदीपकं भूमचेष्टा सा चाखण्डब्रह्मज्ञानरूपं 'सा सा सा सा जगति सकले कोयमद्वैतवादः' इति
कामुकवद्ब्रह्माद्वैतवादः इति द्वितीयं विभावं कामुकदृष्टान्तः सदानन्दस्य जगज्जन्मादिकर्त्री शक्तिस्तत्सं-
बन्धि जगत् स्त्रीप्रायमिति । ब्राह्मणस्यापि तथात्वात् भूमोरभेदेन निरूपणम् । 'स्वयमेवात्मनात्मानम्'
इतिवाक्यात् । परप्राप्तिविरणत्वात् तादृशसाधनफले एकीकृत्याहुः तथाचेति 'स वा एष एवं पश्यन्नेवं
मन्वान एवं विज्ञानज्ञात्परतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराह भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु
कामचारो भवति' इति श्रुतौ एवंशब्देन 'स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षि-
णत स उत्तरतः स एवेदं सर्वम्' इत्यादिश्रुत्युक्तं परामृष्टत्वादखण्डब्रह्ममानमात्मरत्यादिकं स्पष्टम् ।
पूर्वोत्तरेति अखण्डब्रह्ममानसात्परत्वादीनां च पूर्वोत्तरभावस्येत्यर्थः । फलमेवेति गुहायां निहितं
वेदेति पुरुषोत्तमविषयकज्ञानवदुक्त्या वेदनस्य फलान्तरगतत्वात्साधनफले एकीकृत्य फलमेव निरूप्यत
इत्यर्थः । एतेन परप्राप्तिपदार्थ उक्तो भवति इति भाष्यादेवकारः । व्याख्येयेति 'ब्रह्मविदाभेदेति परम्'
इत्यस्मिन् । ज्ञात्रित्यादि विदित्यस्य ज्ञानकर्ताश्रय इत्यर्थाच्चेत्यर्थः । पृथगिति एकतिक् वाक्यमिति
तया । त्यन्तोपे पञ्चमी । पृथङ्निरूपणमुपलभ्येत्यर्थः । तामित्यादि व्याख्यानार्थं प्रतिज्ञाहानिभागत्वात्-
लक्षणे परिहर्तुमनुसृत्य । पूर्वोक्तमव्यवहितपूर्वोक्तमर्थम् । द्रव्यितुमिति अव्यवहितपूर्वव्याख्याने पर-

अथवा तदेषाऽभ्युक्तेति वाक्येन पूर्ववाक्योक्तब्रह्मनिरूपिकेयमृगित्युच्यते । तत्र साधनफले निरूपिते इति ऋच्यपि ते एव निरूप्येते । तथाहि । आनन्दस्य फलात्मकत्वेन साधनशेषभूते ब्रह्मणि तमनुक्त्वा, यो वेदेत्यन्तयर्चा, 'ब्रह्मवित्' इत्येतावतो वाक्यस्य विवरणं क्रियते । एतेन फलासौ स्वरूपयोग्यतासंपत्तिरुक्ता । तत उत्तरीत्या भगवद्भरणेन भक्तिलाभे गुहायामाविर्भूतं यत् परमं व्योम, तस्मिन्निहितः पुरुषोत्तम एवेति । तं निहितमिति तृतीयार्थे द्वितीया । तथाच तत्र निहितेन ब्रह्मणेत्यग्रे पूर्ववत् ।

अथ परमफलत्वाक्षिरवध्यानन्दात्मकत्वमन्तरङ्गेभ्योऽप्यन्तरङ्गत्वं स्वस्मिन् ज्ञापयितुं सर्वस्य सर्वरूपत्वेन सर्वाधिदैविकरूपत्वमपि ज्ञापयितुमाधिभौतिका-

भाष्यप्रकाशः ।

पूर्ववर्णकोक्तव्याख्यानमेवानुसरन्तः पक्षान्तरमाहुः अथवेत्यादि । पूर्ववदित्यन्तम् । एवं चोक्तरीत्येतस्य ब्रह्मणेत्यादिनाऽन्वयः । तथाच ब्रह्मणा सह तदात्मकानेव कामानभूत इत्यर्थः । यत्, न ह्यन्यज्ञानेनान्यप्राप्तिर्भवतीति परैर्दूषणमुक्तम् । तदसंगतम् । 'य एवं वेद प्रतिष्ठितः' इत्यादि-श्रुतिविरोधात् । यच्च परिच्छिन्नत्वेऽन्यत्वे च प्राप्तिर्नापरिच्छिन्नत्वेऽन्यत्वं इति । तदपि तथा । इच्छयाविर्भावितोमावाभ्यामेवोपपत्तेः । अनन्यत्वं तु सुवर्णशकलन्यायेन ब्रह्मणः सकाशाजीवस्य, न तु जीवस्य सकाशाद् ब्रह्मण इति तस्यापि प्राप्तिप्रतिबन्धकत्वाभावादिति । तेन ज्ञानमपीच्छयेवेति न कोऽपि दोषः । एवमृक्तात्पर्यमुक्त्वाधिदैविकवादमाश्रित्य सृष्ट्यादिनिरूपक-ग्रन्थस्य तात्पर्यमुपयोगं चाहुः अथेत्यादिना । सर्वस्य सर्वरूपत्वेनेत्यादि 'प्राणस्य प्राण-

रश्मिः ।

मन्योन्वाविभावे भक्तिरूपं साधनं नोक्तम् । पुरुषोत्तमस्य साधनकोटिनिवेशश्चेत्यदं पूर्वोक्तं प्रसिद्धा पुराणस्य द्रढयितुमित्यर्थः । एचेति गुणविधिवद्दर्तमानत्वाद्वाख्यान्तरव्यवच्छेदक एवकारः । एवं चेति अस्वार्थस्य पुराणोपपत्तयस्य पक्षान्तरत्वे पूर्वार्थसदृशत्वे चेत्यर्थः । इत्यादिनेति इत्यादिनाऽन्वय इत्यर्थः । यथाश्रुतान्ये वाधकाभावात् । तथा चेति ब्रह्मणा पुरुषोत्तमाभेदे सति । तदात्मकान् पुरुषोत्तमात्मकान् । एवकारेणाक्षरमात्रकामव्यवच्छेदः । अत्राक्षरस्याविपश्चित्वमङ्गीकृतम् । अस्थूलादिवाक्येषु पर्युदासार्थकनजाश्रयणात् । परैरिति व्याख्यातृभिः । य एवमिति 'सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता' इति पूर्वमुक्तत्वात् विद्याज्ञानेन प्रतिष्ठा-प्राप्तिश्रावणेन तद्दिरोधादित्यर्थः । किंचाक्षरस्य पुरुषोत्तमाभेदपक्षेन्यत्वाभावादेव नेयमाशङ्केति ज्ञेयम् । अपरिच्छिन्नप्राप्तिप्रकारमाहुः इच्छयेति । भक्तेच्छयेत्यर्थः । कदाचित्सेच्छयापीति सामान्योक्तिः । 'यद्यद्विया' इति वाक्याद् 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' इति श्रुतेश्च । अनन्यस्य प्राप्तिप्रकारमाहुः अनन्यत्वमित्यादि । तस्यापीति भेदाभेदस्यापि किं त्वनन्यत्वमात्रस्य प्रतिबन्धकत्वात् । अपिशब्देनानन्यत्वस्यापि । 'अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः' इति सूत्रात् । इच्छयेवेति 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे रूपमैश्वर्यम्' इति वाक्यात् दानशक्तेरपीच्छाशक्त्यधीनत्वात् । आधिदैविकेति आनन्दमययोर्वादम् । पक्षान्तरभाष्ये निरूप्येते इति पुराणोपबृंहिते अपि भक्तिमार्गीयत्वा-याक्षरन्यावृत्त्या निरूप्येते । स्वरूपेति अक्षरब्रह्मणेऽक्षरज्ञानाभावे मुख्यफलाभावोक्ते मुख्यफले

दिरूपेणाविर्भूतं भगवानाकाशादिरूपेणाविर्भूतोऽत एव भवन आकाश-स्यैव कर्तृत्वमुच्यते । अत्रेऽन्नमयादीनि चत्वारि रूपाणि पूर्वं निरूपितान्युत्त-रोत्तरमन्तरङ्गभूतानि । अन्नरसमयशरीरभूतात् प्राणमयस्तस्मान्मनोमयस्तस्माद् विज्ञानमयः । कश्चित्चेतानि रूपाणि विकारात्मकत्वात् प्राकृतान्येवैतेभ्योऽप्यन्त-रङ्गो विमुक्ताविद्यो जीव एवानन्दमय उच्यत इत्याह । स प्रतिवक्तव्यः ।

भाष्यप्रकाशः ।

श्रुत चक्षुपश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इति श्रुत्यनुसारेणात्राप्यन्नमयस्यान्नमयः प्राणमयस्य प्राणमय इत्येवमानन्दमयमात्मा मे शुद्धयन्तामिति तैत्तिरीयश्रुत्यन्तरे शोध्यत्वज्ञापनेन, 'आनन्दमानन्द-मयोऽवसाने' इति स्मृतौ च क्रममुक्तिप्रकरणेन कारणशरीरनिविष्टविमुक्ताविद्यजीवयोरानन्द-मयत्वकथनात् तयोरपि य आधिदैविकस्तमानन्दात्मयमत्र ज्ञापयितुमित्यर्थः । कर्तृत्वमुच्यत इति तेनात्र नाकाशादीनां प्राकृतत्वं, किंतु विभूतिरूपत्वमेवेत्यर्थः ।

अत्यन्तरङ्गत्वं विशदयन्ति अग्रे इत्यादि । अन्योऽन्तर आत्मेति सर्वत्र कथनात् तथेत्यर्थः । अत्र मायावादी मयटो विकारार्थकत्वमङ्गीकृत्य सूत्राण्यन्यथा नीत्वा आनन्दमयमपि जीवं मन्यते । तन्मतमन्य परिहरन्ति कश्चिदित्यादि । स प्रतिवक्तव्य इत्यादि । तत्र मयटः संदिग्धार्थ-रश्मिः ।

स्वरूपयोग्यताऽक्षरज्ञानरूपा तस्याः संपत्तिरुक्त्यर्थः । ततोऽविद्यानिवृत्त्या प्राकृतधर्मराहित्येन शुद्धसत्त्वसंपादनेन पुरुषोत्तमप्राप्तौ स्वरूपयोग्यता संपाद्यते । यत आधिदैविकशुद्धसत्त्वे चित्ते भक्तिर्भवति पुरुषोत्तमप्राप्तिसाधनम् । अत्र भक्तिः पुष्टिरूपेत्याहुः भगवद्भरणेनेत्यादि । आवि-र्भूतमिति काय आकाशशरीरस्य ब्रह्मणो यत्प्रसिद्धं परमं शरीरं व्योम तस्मिन्निहित इत्यर्थः । सूच्यार्थापि नितरां हितः स्निग्धः स्नेहभक्तिविषय इति । पुरुषोत्तम एवेति 'आकाशशरीरं ब्रह्म' इति श्रुतेर्ब्रह्म पुरुषोत्तमस्तल्लिङ्गात् । न त्वक्षरमतोक्षरयोगव्यवच्छेदक एवकारः । द्वितीयेति उक्त-लिङ्गाद्ब्रह्मणेत्यनेनान्वयाय 'छन्दसि बहुलम्' इति सूत्रेण बाहुलकाद्वितीया । ब्रह्मणेति पुरु-षोत्तमेन न तु सूर्येणाधिकारिणा विपश्चिन्मात्रेण 'सूर्यो विपश्चिन्मनसा पुनातु' इति श्रुतेः विप-श्चित्पदं न सूर्यव्यावर्तकं विशेषणमिति पक्षान्तरं वा । तथाच विपश्चित्पदं प्रस्थानरत्नोक्तरीत्या पुरुषोत्तमे यौगिकं सूर्यं रूढमिति ज्ञेयम् । प्रकृते । सृष्ट्यादीति प्रपाठकद्वय इत्यर्थः । चेति आनन्दमयाधिकरणाभासोक्तसर्वोपि प्रपाठक आरब्ध इति भाष्यीयं स्फुटमित्युक्तसमुच्चये चकारः । भाष्ये । स्वस्मिन्निति । आत्मनि आनन्दमये । प्रकृते । स्मृताविति इयं द्वितीय-स्कन्धे द्वितीयाध्यायेति । कारणेत्यादि धर्मादिरयं शब्दः 'लघ्वक्षरं पूर्वम्' इति सूत्रेण शरी-रस्य लघ्वक्षरस्य पूर्वप्रयोगप्राप्तेः । तेन कारणं च शरीरं च कारणशरीरे इति द्वन्द्वः । तत्र निविष्टयोर्मुक्ताऽविद्ययोः जीवयोः मुक्तेः पूर्वमाविद्यत्वं जीवस्यानन्दप्रवेशे विमुक्तत्वमिति द्वि-चनम् । आनन्दमयकोशात्मकं कारणशरीरं प्राणमयाद्यात्मकं लिङ्गम् । अन्नमयं स्थूलमिति । एवं चानन्दमयमात्मेत्यादिश्रुतौ कारणशरीरनिविष्टः आनन्दमानन्दमय इत्यत्र विमुक्ताविद्य इत्यर्थः । ज्ञापयितुमिति अपिशब्देनानन्दं ज्ञापयितुं प्रस्तुतम् । तेनेत्यादि 'तस्माद्वा एत-स्मादात्मन आकाशः संभूतः' इत्यत्र क्तस्य कर्त्रर्थकत्वाद्भिन्नीरूपत्वात् भगवद्भवन आकाशस्यैव कर्तृत्वेनेत्यर्थः । आत्मन इति पञ्चम्युक्तं समवायित्वं त्वात्मनोऽश्रुणमेव अभिन्नमित्तोपादा-नत्वमक्षररूपाकाशाभिन्नत्वपक्षेणाद्वयत्वाधिकरणात् । जीवं मन्यत इति मुख्यमेवात्मानुप-

अग्निभ्रमपाठके भृगुणा अधीहि भगवो ब्रह्मेति पृष्ठो वरुणस्तदोत्तमाधिकाराभावात् स्वयं ब्रह्मस्वरूपमनुक्तम्, तपसाऽधिकारातिशयक्रमेण स्वयमेव ज्ञास्यतीति तदेव साधनं सर्वत्रोपदिष्टवान् । 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व' इति । ब्रह्मातिरिक्तेन साधनेन न तज्ज्ञातुं शक्यमिति ज्ञापनाय, तपो ब्रह्मेति सर्वत्रोक्तवान् । तथाच तपसा साधनेन ब्रह्मत्वेन ज्ञातानि रूपाणि प्राकृतानीति विचारकेण न वक्तुं शक्यमिति । तर्हि पुनर्ब्रह्मविषयकप्रश्नसाधनोपदेशतत्करणपूर्वातिरिक्तब्रह्मज्ञानानां परंपरा नोपपद्यते इति चेत् । मैवम् । भगवतो हि विभूतिरूपाण्यनन्तानि । तत्र येन रूपेण यत्कार्यं करोति तेन रूपेण समर्थोऽपि तदतिरिक्तं न करोति । तथैव तल्लीला यतः ।

तथाचात्ममयादिरूपैः क्षुद्राण्येष फलानि ददाति । हीनाधिकारिणां तावतैवाकाङ्क्षानिवृत्तिर्भवति । एवं सति यादृशेनाधिकारेणात्ममयस्वरूपज्ञानं भवति तादृशे तस्मिन् संपन्ने तज्ज्ञानमपि तथा । एवमेवोत्तरत्रापि । तथाचाकाशादिरूपमाधिभौतिकस्वरूपमुक्त्वाऽऽध्यात्मिकं तत् पुरुषरूपं वदन्ती पश्चि-

भाष्यप्रकाशः ।

कत्वादनिर्णयकत्वेन श्रुत्यन्तरादेव निर्णय उचित इत्याशयेनाहुः अग्निमेत्यादि । तर्हीति तेषां ब्रह्मरूपत्वे । यत इति 'सोऽकामयत, बहु स्यां प्रजायेय', 'तस्मादेकाकी न रमते', 'स हैतावानास' इत्यादिष्वेकस्यैव बहुत्वोच्चनीचभावलीलानामुक्तत्वादित्यर्थः ।

तज्ज्ञानमपि तथेति तज्ज्ञानमपि तदुक्तफलमित्यर्थः । एवं विभूतिरूपज्ञानफलमुक्त्वानन्दमयस्याधिदैविकत्वं बोधयितुं पूर्वोक्तं स्मारयन्ति तथाचेत्यादि । आकाशादिरूपमाधिभौतिकं स्वरूपं तस्माद्वेत्यारभ्यान्नात् पुरुष इत्यन्तेनोक्त्वा आध्यात्मिकमन्नमयादिपुरुषरूपं वदन्ती श्रुतिस्तस्येदमेव शिर इत्यादिना पश्चिरूपमाहेत्यर्थः । ननु तस्येदमेवेतीदमा प्रत्यक्षविषयस्यैव शिरादेः परामर्शात् प्रत्यक्षविषयस्यैव पश्चित्वं कल्पनयोपदिश्यत रश्मिः ।

दिदिक्षु शास्त्रं लोकबुद्धिमनुसरदन्नमयशरीरमनात्मानमत्यन्तमूढानामात्मत्वेन प्रसिद्धमनूद्य मूषानिषक्तदुतताग्रादिप्रतिमावचतोन्तरं ततोन्तरमित्येवं पूर्वेण समानमुत्तरमनात्मानमात्मेति ग्राहयत् प्रतिपत्तिसौकर्यापेक्षया सर्वान्तरमुख्यमानन्दमयमात्मानमुपदिदेशेति श्लिष्टतरमिति भाष्येण मन्यत इत्यर्थः । ब्रह्मरूपत्व इति ब्रह्मरूपत्वाधिकरणे काले । भाष्ये । पुनर्ब्रह्मविषयकेत्यादि पुनर्ब्रह्मविषयकः प्रश्नस्तादृक्यं पूर्वोक्तमेव । साधनोपदेशस्तादृक्यमपि । अत एव भाष्ये सर्वत्रोक्तवानित्युक्तम् । तत्करणं तपःकरणम् । तद्वाक्यं 'स तपोतप्यत' इति । इदमपि सर्वत्रैकमेव । पूर्वातिरिक्तब्रह्मज्ञानं च तत्प्रतिपादकानि 'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्, प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्, मनो ब्रह्मेति व्यजानाद्ब्रह्मज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्' इत्येवमनेकानि वाक्यानि तेषां परंपरेत्यर्थः । प्रकृते । पूर्वोक्तमिति जन्माद्यधिकरणादावुक्तमित्यर्थः । वदन्तीति 'स वा एष पुरुषोत्तरस-

रूपमाह । यतस्तेनैव रूपेणाधिभौतिके रूपे आध्यात्मिकस्य पुरुषस्य प्रवेशः । तदुक्तं बाजसनेयिशाखायाम् । 'पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः, पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्' इति । वस्तुतस्तु पुरुष एव । परं तु पुरःसंबन्धी सन्न पक्षी भूत्वा पुरः शरीराण्याविशदित्यर्थः । प्राकृतीषु विविधासु पूर्वप्राकृतस्यैकविधस्य प्रवेशोऽनुचितो यद्यपि तथापि स्वप्रवेशं विना न किञ्चिद् भावीति गतिप्रतिबन्धकमुल्लङ्घयालौकिकया गत्या प्रविशामीति ज्ञापनाय पक्षिर्भवन्नम् । स हि तादृशः । अत एव द्विपदश्चतुष्पद इत्युक्तम् ।

आधिदैविक एक एवेति यः पूर्वस्येति सर्वत्रोक्तम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

इति नात्राध्यात्मिकपुरुषोपदेश इत्याशङ्कायां तद्बोधनाय श्लोके हेतुमाहुः यत इत्यादि । तथा च पश्चिरूपस्यातिरिक्तत्वाङ्गीकारे पश्चादिपदे लक्षणाभावादयमेव पक्षो ज्यापानित्यतस्येत्यर्थः । ननु तथापीदं पदे लक्षणागौरवं चाधिकमतो नेदं साधीय इत्यतः श्लोक्तमुप-
 ष्यन्ति तदुक्तमित्यादि । तथाचातिरेकस्य श्रुत्युक्तत्वात् तेनेदंपदलक्षणाया अप्यदुष्टत्वादयमेव पक्षो ज्यापानित्यर्थः । एकविधस्येति अन्नमयेऽन्नमयरूपस्येत्येवमित्यर्थः । स हि तादृश इति पक्षी यतो गतिप्रतिबन्धकोल्लङ्घनेनेष्टप्रवेशसमर्थ इत्यर्थः । प्रतिबन्धकज्ञापकमाहुः अत एवेत्यादि । तथाच पुरां विशेषणबलात् तथावसीयत इति नात्र कल्पना-
 लेशोऽपीत्यर्थः । नन्वेवं पश्चिरूपस्यान्नमयादिषु पञ्चस्यपि सत्त्वादानन्दमये को विशेष इत्याकाङ्क्षायामाहुः आधिदैविक इत्यादि । एवमत्र श्रुत्यर्थे निर्णति यः पूर्वपक्षोऽधि-
 रश्मिः ।

मयः' इत्यनेन रसमये 'स वा एष पुरुषविध एव' इत्यनेनावशिष्टेष्वित्यर्थः । नात्राध्यात्मिकेति इदमा निर्दिष्टशिरस्कादिकपक्षमेदाज्ञेत्यर्थः । आध्यात्मिकत्वं त्वाधिभौतिकसंबन्धात् पुरुषस्याधिदैविकस्य । पुरा आस पुरमुषति पुरि शेते इति त्रेधा व्युत्पन्नः पुरुषशब्दः । लक्षणाभावादिति लक्षणायाः पुरुषावयवेष्वभावादित्यर्थः । अतस्तथेति पश्चस्य ज्यायस्तात्पश्चिरूपस्याधिभौतिक-
 स्याध्यात्मिकपुरुषातिरिक्तत्वम् । लक्षणागौरवं चेति परिदृश्यमानस्य पश्चिशिरादेरपरिदृश्यमानेन पुरुषशिरादिनाध्यात्मिकेन प्रतियोगितासंबन्धो लक्षणा । पुरुषमतिरिक्तं मत्वा ऐलं-
 वत् पश्चिर्भवनकल्पने गौरवं चेत्यर्थः । आधिदैविकेत्यादि 'तस्यैव एव शरीर आत्मा यः पूर्वस्य' इत्यन्नमयादि प्रकृत्य प्रत्येकं कथनात् पूर्व फलत्वेनोक्तमाधिदैविकानन्दमयत्वमेव विशेष इत्यर्थः । भाष्ये । एषमुक्तेरिति 'तस्यैव एव शरीर आत्मा यः पूर्वस्य' इत्युक्तेरित्यर्थः । न त्वेषमिति न तु षदतीत्यर्थः । आध्यात्मिकरूपाणामिति आध्यात्मिकाः 'देहप्राणमनोबुद्धिजीवा अन्नमयादयः पञ्च कोशाः' इति श्रुतिरप्राप्तसंधेया । प्रकृते । पश्चिरूपस्येति आधिदैविकस्य । यद्वादमा-
 श्रित्य ग्रन्थप्रवृत्तिः । तेनान्नमयादीनां पश्चित्वेपि न क्षतिः । आधिदैविक इत्यादीति । तथा चैकरूपत्वमेव विशेष इत्यर्थः । तथा चेति । यत्तु शंकराचार्याः न चात्रानन्दमयाम्यासः श्रूयते 'यदेव आकाश आनन्दो न स्यात्' 'सैषानन्दस्य मीमांसा भवति' 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' इत्यादिषु प्रातिपदिकार्थमात्रमेवाम्यस्यते इति वदन्ति तत्र । 'तस्यैव एव शरीर आत्मा यः पूर्वस्य'

नन्वानन्दमयेऽप्येवमुक्तेर्नायमपि परमकाष्ठापन्नरूपः, किं तु पूर्वोक्तभ्योऽ-
तिशयितधर्मवान् विभूतिरूप एव । नच शिरादीनामानन्दरूपत्वेनैवोक्तेरयं
परमात्मैवेति वाच्यम् । अन्नमये यथावयवानां तद्रूपत्वं तथाऽऽनन्दमयेऽपि
तेषां तद्रूपत्वादन्यथा तस्यैव एव शारीर आत्मैति न वदेत् । शरीरं हि पूर्वोक्तं
तत्संबन्धी हि शारीरस्तद्भिन्नः प्रतीयते । तथाच परब्रह्मत्वं स्वान्यात्मवत्त्वं च
सर्वश्रुतिविरुद्धम् । नन्वेतदतिरिक्तं चेद् ब्रह्म स्यात् तदानन्दमयादन्योऽन्तर
आत्मा ब्रह्मेत्यपि वदेत् । नन्वेवमनोऽयं पर एवेति चेन्न । आध्यात्मिकरूपाणा-
मेवात्र निरूपणात् तेषां च पञ्चरूपत्वात् तावन्नामेव निरूपणमतोऽस्मादन्य एव
पर इति प्राप्ते प्रतिवदति । आनन्दमयोभ्यासात् । आनन्दमयशब्दवाच्यः
पर एव । कुतः । अभ्यासात् । तस्यैव एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्यैवन्नमयादिषु
सर्वत्रैवात्मत्वेनानन्दमयस्यैव कथनात् । ननु न किञ्चिन्मानमत्र पश्यामः । किं
च । आनन्दमयस्यैव सर्वत्रात्मत्वेन कथने आनन्दमयेऽपि, तस्यैव एवेत्यादि न
वदेदयमेव पूर्वस्यात्मेति वदेदतो नानन्दमयः पर इति चेत् । उच्यते । न
हीश्वरादन्यः सर्वेषामेक आत्मा भवितुमर्हति । नत्यानन्दरूपत्वं तु 'एतस्यैवानन्द-
स्याभ्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति । रसो वै सः रसश्चेवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी
भवति । को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

करणावतारणायोचिष्ठति तमाहुः नन्वित्यादि । तथाच योग्यत्वात् प्रायपाठाच्चानन्दरूपत्वम-
वयवानामुच्यते, न तु परमात्मत्वादित्यर्थः । परमात्मत्वाभावे गमकमाह अन्यथेत्यादि ।
पूर्वोक्तमिति आनन्दमयम् । शेषं निगदव्याख्यातम् । एवं च मयतो विकारार्थत्वा-
नङ्गीकारेऽप्यन्नमयादीनामिवानन्दमयस्याऽप्याध्यात्मिकविभूतिरूपेणापरब्रह्मत्वं प्रायपाठबलादङ्गी-
कर्तव्यं, न तु परब्रह्मत्वमिति पूर्वपक्षाशयः । अत्र सूत्रमुपन्यस्य समादधते आनन्दम-
योऽभ्यासादिति । तस्येत्यादि तथाच वाक्याभ्यासात् तथेत्यर्थः । अयं प्रकारो गुणो-
पसंहरपादे, आत्मगृहीतकार्यारूपानाधिकरणाभ्यां पुनः स्फुटीकर्तव्यः । अत्र चोदयति ।
नन्वित्यादि । अत्रेति उक्तवाक्येष्वानन्दमयग्रहणे । साधकतर्काभावमुक्त्वा बाधकतर्क-
माह किंचेत्यादि । अनयोर्दूषणयोः पूर्वं निरखन्ति न हीत्यादि, मन्तव्यमित्यन्तम् ।
तथाच सर्वेभ्योऽन्तरात्मत्वमानन्दमयस्य निरूपयिष्यन्त्या यत् तस्यैव एव शारीर आत्मा
यः पूर्वस्येति प्राणमयाद्यानन्दमयान्तस्य, एष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्यान्नमयस्येत्यन्न-
मयसंबन्धिन आत्मनः सर्वसंबन्ध्यात्मत्वमप्यस्तम् । अन्नमयाभिमानो तु पूर्व नोपक्रान्तः

परिमः ।

इत्यनेन वाक्येनान्नमयादिषु सर्वत्रानन्दमयस्यैवात्मत्वेनाभ्यासादित्यर्थः । भाष्ये । आनन्दमय-
स्यैवेत्येवकारेण 'असन्नेव सः' इत्यादिशंकरपादोक्तपुच्छाभ्यासो निराकृतः । व्याख्येयविरोधस्य तत्राति-
स्फुटत्वात् । प्रकृते । तथेति आनन्दमयत्वमित्यर्थः । स्फुटीति तेन साष्टसूत्रसार्धाध्याय एतस्य
शेष इति शेषेषामिभावः संगतिः सूचिता । चोदयतीति वाक्याभ्यासं स्फुटजिज्ञासुस्तथेत्यर्थः ।

भाष्यप्रकाशः ।

किंतु जगत्कर्तृवोपक्रान्तस्तत्रापि सृष्टिकथनेन तदेतच्छब्दाभ्यां सभिहितं विपश्चिद् ब्रह्मैव
परामृश्यत इति तदेव पञ्चानामात्मेति बोध्यते । अत आत्मपदघटितवाक्याभ्यासस्तस्य
सर्वात्मत्वं सर्वान्तराऽऽत्मत्वं वा बोधयंस्तत्र निरङ्कुशमीश्वरत्वं निगमयति । एतस्यैवान-
न्दस्येति श्रुत्यन्तरं चानन्दप्राचुर्यम् । तच्च निरवधिसिद्धिदशापेक्षयेति प्रकृतत्वात्
सिद्ध्यति । तथा रसो वै स इत्यादिश्रुत्यन्तरं चानन्दरूपताम् । एवं सर्वश्रुत्येकवाक्य-
त्वेऽभ्यसमानवाक्यगतस्यैव इत्ययमेतच्छब्दः पूर्वोक्तमात्मानं परामृश्यन्नेतादृशं तं सर्वत्र ग्राह-
यतीति पूर्वोक्तश्रुत्येकवाक्यतापन्नस्यैव मानत्वान्न मानाभाव इत्यर्थः । एतेनैव बाधक-
तर्कोऽपि निरस्त एव । शारीरपदं तु शरीरसंबन्धित्वमात्रबोधकं, न त्वभिमानित्वबोध-
कम् । किंचाभिमानित्वपक्षेपि नाभिमानित्वं दोषः । सर्वात्मकत्वात् । अन्यस्यान्य-
सिद्धिभिमानस्यैवाध्यासरूपत्वेन दोषत्वात् । अत एव पुरुषविधत्राहणे, ब्रह्म वा इदमग्र
आसीदित्युपक्रान्तस्यात्मनो ब्रह्मत्वं निगमयित्वा तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मासीत्युच्यते । नच
तस्यैव इति पठ्या मेदिनिदेशान्नात्र तथेति वाच्यम् । राहोः शिर इतिवदभेदेऽपि
परिमः ।

जगत्कर्तृति 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इति श्रुत्या स एवोपक्रान्त इत्यर्थः ।
ननु नेयमुपक्रमश्रुतिः किंतु 'ब्रह्मविदामोति परम्' इत्यतः कथं जगत्कर्तृवोपक्रान्तः इति चेत्-
त्राहुः तत्रापीत्यादि । जगत्कर्तृवोधकश्रुतावपीत्यर्थः । बोध्यत इति । तथा च तदेतच्छ-
ब्दाभ्यां परामर्शोऽस्योपक्रमस्तत्रेति नोक्तदोष इत्यर्थः । नन्वस्तु विपश्चिद् ब्रह्म पञ्चानामात्मा तथा-
प्यानन्दमात्राभ्यास इति कथमानन्दमयाभ्यास इत्याकाङ्क्षायां प्रत्ययार्थविशिष्टप्रातिपदिकार्थरूपत्वं
तस्य मन्तव्यमित्यन्तभाष्यं विवृण्वन्तो व्युत्पादयन्ति एतस्यैवेत्यादि । निगमयतीति पूर्वणा-
न्वयः । सिद्ध्यतीति तेनानन्दमयस्य ब्रह्मत्वेऽनो दुःखसत्तां प्रापयतीति शांकोक्तं प्रत्युक्तम् । भाष्ये
तु विशिष्टे शुद्धात्तिरिच्यत इति न्यायादानन्दानन्दमयावेकौ इति न दुःखसत्तावारणायान्या-
पक्षा तथापि प्रकृतत्वादस्तु । आनन्दरूपतामिति निगमयतीति पूर्वणान्वयः । एतादृशं
तमिति प्रत्ययार्थविशिष्टप्रातिपदिकार्थं तमानन्दमयमित्यर्थः । अस्यैवेति आनन्दमयपरामर्शक-
तदेतच्छब्दघटितश्रुतिवाक्यस्यैवेत्यर्थः । न मानाभाव इति । ननु न किञ्चिन्मानमत्र पश्यामः
इत्युक्तो मानाभावो नेत्यर्थः । तेन 'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' सैवानन्दस्य मीमांसा
भवति 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' इत्यादिषु प्रातिपदिकार्थमात्राभ्यासान्नानन्दमयाभ्यासः श्रूयत इति
शंकरभाष्योक्तं प्रत्युक्तम् । एतेनैवेति 'तस्यैव एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य' इत्यत्र पूर्वोक्तात्म-
परामर्शोपपादनेनैव पूर्वपक्षग्रन्थोक्तोन्यथा तस्यैव एवेत्यादिरूपो बाधकतर्क इत्यर्थः । नन्वस्त्वेवं
तथापि शारीरपदं कथं संगच्छते इति चेत्त्राहुः शारीरपदमिति । न त्वभिमानित्वेति
व्याकरणे तदर्थकतद्विदाभावादिति भावः । ननु संयन्धस्त्वभिमानरूप एवेति कथमेवमिति
चेत्त्राहुः किंचाभीत्यादि । सर्वान्मकत्वादिति आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादित्वेन
देहेन्द्रियाद्यात्मकत्वादित्यर्थः । ब्रह्मण्यध्यासं वारयन्ति अन्यस्येत्यादि । अन्यस्य चैत-
न्यस्यान्यस्मिन् जडे देहादावित्यर्थः । उच्यत इति अभिमान उच्यत इत्यर्थः । पूर्वतन्नीत्या
तु ब्रह्मप्रयोगः । 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' 'ब्रह्मैवेदमग्र आसीत्' इति । तथेति सर्वावयवरूपत्व-

एष होवानन्दयाति' इत्यादिश्रुतिभिर्निर्णीयते । एवं सति तदेकवाक्यतायै प्रकृतोऽप्यानन्दमयशब्दस्तद्वाच्येवेति मन्तव्यम् । अन्यथानन्दमयादन्योऽन्तर आत्मेत्यपि वदेत् ।

ननुक्तमाध्यात्मिकानामेवात्र निरूपणादित्यादीति चेन्न । उक्तरीत्याधिदैविकस्यैवान्ते निरूपणात् । अत एव भार्गव्यां विद्यायामपि भृगोरब्रह्मयादिज्ञानानन्तरमपि पुनर्ब्रह्मजिज्ञासोक्ता, न त्वानन्दमयज्ञाने । न हि भृगोराध्यात्मिकज्ञानार्थं प्रवृत्तिः, किं तु ब्रह्मज्ञानार्थमेव । अधीहि भगवो ब्रह्मेति प्रश्नवचनात् ।

किंच, ब्रह्मविदामिति परमित्युपक्रमदान्ते ज्ञेयानन्दगणनामुक्त्वा, 'स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः' इति वाक्यैर्ब्रह्मविदि पुरुष आदित्ये च तदेवाक्षरं ब्रह्म प्रतिष्ठितमिति तदानन्दोऽपि तथैवेति तयोरानन्दयोरैक्यम् । एवंरूपं ब्रह्मेति यो वेद तस्य क्रमेणाब्रह्मयादिप्राप्तिमुक्त्वा अन्ते वदत्येत्मानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामतीति । एवं सत्युपक्रमे परप्राप्तेः फलत्वेनोक्तेरुपसंहारेऽपि तथैव भवितव्यत्वादानन्दमयप्राप्तेरवान्ते फलत्वेनोक्तेस्तदुत्तरमन्यस्यानुक्तेरानन्दमय एव परः ।

भाष्यप्रकाशः ।

षष्ठीदर्शनात् । नन्वस्त्वेवं, तथाप्यानन्दमय एतत्कथनस्य किं प्रयोजनमित्याशङ्क्य तु, शरीरप्रवेशप्रयोजनेत्यादिनाऽनुपदमेव निवारणीया । तस्मान्न कोऽपि दोषः । उक्तसाधनाय विपक्षसाधनाय च तर्कमाहुः अन्यथेत्यादि । अत्र चोदयति नन्वित्यादि । तत्र समादधते नेत्यादि । उक्तरीत्येति सर्वात्मत्वादेरन्यत्रासंभवेन । एतमेवार्थं श्रुत्यन्तरेपोषधन्ति अत एवेत्यादि । ननु भृगोर्ब्रह्मज्ञानार्थं प्रवृत्तिरिति सत्यं, परंतु तत्रानन्दत्वेन ब्रह्मज्ञानाजिज्ञासोपरतिर्न त्वानन्दमयत्वेन ज्ञानात् । अतो नानया श्रुत्या तदुपपन्न इत्याकाङ्क्षायां प्रस्तुतप्रपाठकोपक्रमादिविचारेणापि तमर्थं साधयन्ति किंचेत्यादि पर इत्यन्तम् । तथाचास्य प्रपाठकस्य, ब्रह्मविदामिति परमिति सूत्रितार्थविवरणरूपत्वात् फलविवरणमेवानन्दमये प्रपाठकस्य तात्पर्यं नियमयत् तस्य ब्रह्मत्वं गमयति । एवं भृगुप्रपाठके

रश्मिः ।

मित्यर्थः । तथा चाध्यासापत्तिरिति भावः । षष्ठीदर्शनादिति तथा शरीरस्यायं शरीर इत्यत्रापि षष्ठ्याऽभेदार्थकत्वेन 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति' इति श्रुतेः आनन्दात्मकशरीरमिन्न आत्मेत्यर्थादभेद एव संसर्गो न त्वध्यास इति बाधकस्तर्को निरस्त इत्यर्थः । एतत्कथनस्येति शरीर आत्मत्वकथनस्येत्यर्थः । उक्तेति आनन्दानन्दमयाभेदसाधनाय । विपक्षेति भाष्ये आध्यात्मिकरूपाणामेवेत्यादिनोक्तो विपक्षस्तस्य साधनायेत्यर्थः । अन्यत्रेति आध्यात्मिकाधिमौक्तिकयोरित्यर्थः । अत्र भाष्य आधिदैविकस्यैवेति सर्वेषां पदार्थानां तत्तदाधिदैविकं तत्तदाकारमभ्यापकतया भातीति विश्रुतम् । आनन्दत्वेनेति 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इति श्रुतेरित्यर्थः । सूचितार्थेत्यादि । अयमर्थः । उपसंहारे 'आनन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति' इति वचनादुपक्रमेऽप्यामोति परमित्यत्र परपदेनानन्दप्राप्त्यर्थं सूच्यते । उक्तार्थत्वात् । अन्यथा तु नैकवाक्यतेति । सूत्रितार्थेति पाठः । अयमपि काचित्क इति विवृतः । सूत्रदक्षणाक्रान्तत्वाद्वा सूत्रितार्थेति पाठः ।

ननुपसंक्रमणं ह्यतिक्रमणमतो न तथेति चेत् । हन्तैवमतिक्रान्तशब्दार्थात् त्वन्मतिर्भाति । यतः संक्रमणशब्दः प्राप्त्यर्थकः सर्वत्र श्रूयते । अत एव रवेर्मकरादिराशिप्राप्तौ तत्तत्संक्रमणमित्युच्यते । नचैयं न परममुक्तिः । अस्माह्योक्तात् प्रेत्येति पूर्वमुक्तेः । अत एव पुरुषोत्तमानन्दानुभवे सत्यनुभवेकमन्योऽप्य-

भाष्यप्रकाशः ।

यद्यपि जिज्ञासोपरतिस्थले आनन्दमयपदाभावस्तथापि समाप्तौ 'एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य एतत् साम गायन्नास्ते' इति फलकथनेन द्वयोरपि प्रपाठकयोरैकाध्यासावगमात् तस्याप्युपपन्नमभक्तत्वमभ्याहृतमित्यर्थः । अत्र वादी परमफलत्वाभावमाशङ्कते नन्वित्यादि । संक्रमः प्रतिसंक्रम इति पुराणप्रयोगात् तथेत्यर्थः । समादधते हन्तेत्यादि । उच्यत इति 'कार्मुकं तु परित्यज्य झषं संक्रमते रविः' इत्यादिवाक्येपुच्यते । ननु संक्रम एव प्राप्तिर्नतुपसंक्रमोऽपीति चेत् तथाप्युपोपसर्गेणातिक्रमोऽर्थः कथं लब्धव्यः । तर्हि किमर्थोऽप्युपसंक्रम इति चेत् भेदेन स्थित्वा भोगार्थं इत्यवधेहि । ऋचि तथैव सिद्धत्वेन तदुपपादकग्रन्थेऽपि तथैव सिद्धेरावश्यकत्वादिति । नन्वेवं भेदे सति नेयं परममुक्तिः, किं तु जीवन्मुक्तिरेवेमिति चेत्तद्वाहुः नचेत्यादि । तथाचैतच्छरीरत्यागकथनेनात्र जीवन्मुक्तेरशक्यवचनत्वात् परममुक्तिरेवात्रोच्यत इत्यर्थः । तर्हि देहान्तरे सिद्धिरेवास्तु । परममुक्तौ बाधकस्य भेदस्योक्तत्वादिति चेन्न । तथा सति करणग्राममद्भावात् प्राणमयादिसत्त्वेन पुनस्तत्संक्रमोक्तिविरोधापत्तेः । तस्मादत्र परममुक्तिरेव चित्रियत इति हृदिकृत्येतस्याः परममुक्तिवसाधकं हेत्वन्तरमाहुः अत एवेत्यादि । अस्य परममुक्तिवादेव पुरुषोत्तमानन्दानुभवे सति

रश्मिः ।

तस्यापीति भृगुप्रपाठकस्यापि । वादीति व्याख्याता । आशङ्कत इति पुच्छत्वेनोक्तं ब्रह्म प्रधानमित्यङ्गीकृत्य न त्वानन्दमयस्योपसंक्रममित्यवस्थानमयादिवदब्रह्मत्वे सति नैवं विदुषो ब्रह्मप्राप्तिः फलं निर्दिष्टं भवेन्नैष दोषः । आनन्दमयोपसंक्रमणनिर्देशेनैव पुच्छप्रतिष्ठाभूतब्रह्मप्राप्तिफलस्य निर्दिष्टत्वादिति भाष्येणाशङ्कत इत्यर्थः । कार्मुकं धनुः । झषं मीनम् । उच्यत इति । तथा च पुराणेषु प्रतिसंक्रम उक्तो न त्वतिसंक्रम इति न तस्य विरोधः । प्रतिसंक्रमस्तु लयः । समीपार्थकोत्रोपेत्याशयेनाहुः भेदेनेत्यादि । अत्रार्थ एकवाक्यतां प्रमाणयन्ति ऋचीत्यादि । 'ब्रह्मविदामिति परम्' इत्याद्युचि । जीवन्मुक्तिरिति 'असक्तबुद्धिः सर्वत्र' इत्यादिवाक्योक्तोऽध्यासाभावो जीवन्मुक्तिः ।

'विद्ययाऽविद्यानाशे तु जीवो मुक्तो भविष्यति ।

देहेन्द्रियासवः सर्वे निरध्वस्ता भवन्ति हि ॥

तथापि न प्रलीयन्ते जीवन्मुक्तगताः स्फुटम् ।

आसन्यस्य हरेर्कापि सेवया देवभावतः ॥

इन्द्रियाणां तथा स्वस्य ब्रह्ममादाहयो भवेत् ।

आनन्दांशप्रकाशाद्धि ब्रह्मभावो भविष्यति' ॥

इति शास्त्रार्थात् । तर्हीति जीवन्मुक्त्यसंभवकाल इत्यर्थः । तत्संक्रमोक्तीति प्राणमयमुपसंक्रामतीति प्राणमयादिसंक्रमोक्तिविरोधापत्तिः । भेदस्तु सर्वात्मना लीनो भावनालीनो वर्तत एव । तस्यादिति ज्ञानाधिना सर्वकर्मनाशात्तदनुजभक्त्या वेति कर्मजन्यशरीरस्य शक्तिमन्यशक्यत्वादेवेत्यर्थः । पुरुषोत्तमेति पुरा आस पुरि शेते इति व्युत्पत्तिद्वयं पुरुषतीत्यधिष्ठान-

भाष्यप्रकाशः ।

वरणैकहेतुकानुभवमात्रगम्योऽयमानन्दो, न मनोवाग्विषय इति ब्रह्मण आनन्दं ज्ञात्वा विद्वान् सन् कुतश्चन लोकवेदादिभ्योऽपि न विभेतीति सर्वतो भयाभावमनेन श्लोकेनोक्तवतीति रश्मिः ।

व्युत्पत्तिः । पुरुषोत्तमो धर्मी स 'यद्यत्प्रिय' इति वाक्यानुगुणो भजनविषयः । तस्यानन्दो भजनानन्दः तस्यानुभवो हि सर्वात्मभावरूपसाधनेन 'पुरुषार्थतः शब्दादिति बादरायणः' इति सूत्रात् । पुरुषोत्तमस्तु अभिशिखेव त्रिष्वदिषु हृदि वर्तते ।

'विष्णुर्नाम महायोगी महामायो महत्तपाः ।
तत्त्वमार्गे यथा दीपो दृश्यते पुरुषोत्तमः' ॥

इति योगतत्त्वोपनिषच्छ्रुतेः । स पुरुषोत्तमो 'यद्यद्विया' इति वाक्यानुगुण इत्युक्तः । स्वात्मकसाधनलभ्यः ।

'शुद्धस्फटिकसंकाशं किञ्चित् सूर्यमरीचिवत् ।
लभते योगयुक्तात्मा पुरुषोत्तमतत्परः' ॥

इति श्रुत्युक्तं तत्साधनम् । न्यानवायुः पूर्वाधार्यः । अमृतबिन्दूपनिषदि तथोक्तः । तदन्व-
मृतबिन्दुक्तं साधनम् । तदा शून्याभावे सिद्धे ब्रह्मोपनिषदोऽशून्यभावनिश्रयः । तेन धर्मी पुरुषोत्तमः ।
तत्र भक्ता लक्ष्मीवर्तते पुरुषविषयब्रह्मणात् । तथा भक्त्या 'अचलत्वं चापेक्ष्य' इति सूत्रभाष्योक्तरी-
त्यात्मबोधोपनिषदुक्तस्वरूपलाभे शब्देऽन्यस्मिन् वा । लभत इति । अमृतबिन्दूपनिषदुक्तप्रत्याहार-
प्रभृतिकयोगयुक्तात्मा निरोधानन्तरं मानसीसेवावान् । पुरुषोत्तमतत्पर इति । अत्र साधने पुरुषोत्तम-
योगाध्यायोक्ते ऊर्ध्वमूलमधःशास्त्रोऽश्रयः कालात्माश्चो बृहदारण्यकोक्तोऽसुयोनिर्नारायण इव वर्तमानः ।
शाखास्तु देवलोकभूलोकभुवर्लोकरूपाः । कर्मानुबन्धीनि मूलानि मनुष्यलोके तच्छेदेनेन भगवद्भामा-
क्षरप्राप्तिः । ज्ञानकर्माभेदपक्षे पञ्चरात्रोक्ते । जीवांशोधिकारी । तेजोरूपं तेजोबिन्दूपनिषदि श्रोतम् ।
पञ्चाक्षरत्वारोर्थाः सर्वत्र प्रतिपाद्यन्ते इति ओजः । सोमो रसात्मकः । वैश्वानरोन्नपाचकः । सर्वहृत्स्थश्च-
तुर्थः । वेदान्तकृच्च क्षराक्षरपुरुषोत्तमाः सर्वभावश्च समष्टिः । सर्वात्मभावश्च । कृतकृत्यता फलम् ।
गुह्यतमत्वात्पुरुषोत्तमालकं साधनं गीतात्रयोदशाध्याये सर्वम् । अत्र तत्पर इत्यर्थः । तथा च गोपीचन्दनो-
पनिषदि श्रुतिः । ब्रह्म चिद्वचनानन्दैकरूपपुरुषोत्तमरूपेण वसुदेवसधन्याविर्भविष्यतीति । अयं मध्यमः
पक्षः । उत्तमस्तु स्वरूपा निश्चित्य तत्परः । यथात्रैव भाष्ये अभिशिखा पुरुषविषयः 'यद्यद्विया' इति
वाक्यात् 'नाहं वेदैः' इति वाक्याच्च । 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्' इति काठकाच्च
'त्रिषत्ता ह वै देवाः' इति श्रुतेः ब्रह्माभ्युत्पत्त्याधोपनिषदः उदाहृतास्तदङ्गमन्याः । रामोत्तरतापिनीयेपि
'सोमृतत्वं च गच्छति सोमृतत्वं च गच्छति श्रोमृतत्वं च गच्छति' इति चारत्रयमुक्तं त्रिषत्यम् ।
भिन्नाभिन्नयोरानन्दयोरभिन्नमानन्दमुत्त्वा भिन्नानन्दमाहुः चरणैकेत्यादि । वरणैकहेतुको भक्त्याल्यः
प्रियत्वानुभव इत्यर्थः । अयमानन्द इति उक्तपुरुषोत्तमानन्दमिन्नो भेदघटितत्वेन भक्तिमार्गी-
यानन्दः । लोक इति आदिना कालः । न कुतश्चेत्युक्त्या लोकाद्भयाभावो यथा चोराद्
विभेतीत्यादिभयहेतवः । तेभ्यो विद्वानित्युक्त्या द्वितीयाभावाच्च भयम् । इष्टनिवृत्त्यनिष्टप्राप्ति-
ज्ञानजतापहेतुकं भयं भवति तदपि विद्वानित्युक्त्या 'एतद्दह वा व न तपति' इति तापामावाच्च

मानन्दो, न मनोवाग्विषय इति ज्ञात्वा लोकवेदकालादिभ्योऽपि न विभेतीति,
'यतो वाचः' इति श्लोकेनोक्तवती । अन्यथा आनन्दे मनसोऽप्यगम्यत्वमुक्त्वा,
विद्वानिति कथं वदेत् ।

एवं सति सोऽभ्युते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेत्युचि यत्
फलमुक्तं तदेवान्ते विद्वृतमिति ज्ञायते । अन्यथा अस्माद्धोकात् प्रेत्येत्युक्तत्वादेहा-
भावेन भयानुपस्थित्या तन्निषेधासंभवः कामभोगासंभवश्च । अत एव

भाष्यप्रकाशः ।

सर्वमयामावः परममुक्तेर्लिङ्गमिति स एव तथात्वसाधक इत्यर्थः । विपश्चाधकतर्कोक्तिमुत्सेन
पुनर्हेत्वन्तरमाहुः अन्यथेत्यादि । अन्यथेति परममुक्तित्वाभावे । तथाच मनोवागवि-
षयानन्दवेदनमपि परममुक्तेरेव लिङ्गमित्यर्थः । एवं हेतुत्रयेणास्याः परप्राप्तेः परममुक्ति-
त्वसाधनेनेदं सिद्धम् । या ज्ञानमार्गिणां ब्रह्मामेदरूपा परममुक्तिः सा भक्तानां फला-
नुभवे स्वरूपयोग्यतासंपादकतयोपयुज्यते । तस्यां सत्यां भक्त्या तादात्म्येन फलानुभ-
यात् । अतः सा पूर्वकक्षारूपेति । तदेतद् हृदिकृत्य सिद्धमाहुः एवं सतीत्यादि ।
एवं सतीति आनन्दमयप्राप्तेरेव परममुक्तित्वे सति । विद्वृतमिति यतो वाच इति श्लोकेन
विद्वृतम् । अस्य श्लोकस्युक्तफलांशविवरकत्वमृगंशस्य च यजुर्विद्वक्षितफलबोधकत्वमिति
द्वयं निगमयितुं तद्विपरीतवादबाधकं तर्कमाहुः अन्यथा अस्मादित्यादि । तथाच
यद्यत्सर्गशिवरक्तत्वं न स्यात् तदोक्तरीत्या भयाभावेन भयनिषेधनभसंगतं स्यात् ।
यदि ऋगंशस्य विद्वक्षितफलबोधकत्वं न स्यात् तदा कामभोगोक्तिरप्यसंगता स्यादि-
त्युभयमभ्रवर्णादेवोभयं निगम्यत इत्यर्थः । अथैतत्साधकं हेत्वन्तरमाहुः अत एव-
त्यादि । तथाच विद्वक्षितफलविवरकत्वादेव तथोक्तमित्यर्थः । एवमेतस्याः श्रुतेः फलांश-
रश्मिः ।

तद्वेतुकं भयम् । 'न यत्र कालः' इतिवाक्यात् कालाभावाच्च तद्वेतुकमपि भयम् । स एवेत्यादि
सर्वमयामावोपि परममुक्तित्वसाधकः । विपश्च इत्यादि परममुक्तित्वाभावेन तावद्रूपव्यापना-
भावपक्ष इत्यर्थः । न वदेदित्यन्यथाज्ञानरूपसाधकतर्कोक्त्युपायेनेत्यर्थः । हेत्वन्तरं परममुक्तित्वे ।
हेतुत्रयेणेति एतच्छरीरत्यागसर्वमयामावमनोवागविषयानन्दवेदनरूपेणेत्यर्थः । ब्रह्माभेदेति
कर्मादिजन्यचित्तशुद्धनन्तरमक्षरामेदरूपेत्यर्थः 'आनन्दांशामिव्यक्तौ तु तत्र ब्रह्माण्डकोटयः'
इति शास्त्रार्थात् । न तु शाब्दापरोक्षरूपं ब्रह्म । तस्याभित्यादि योग्यतायां सत्याम् । सिद्धान्त-
गुक्तावलीटीकोक्तज्ञानभक्तौ चेद्विशेषतोऽनुद्वेष्टाति तदा पुष्टिर्वाक् प्राश्रुतः । आदाचिति अत्रोक्तपुष्टि-
मर्यादाभक्त्येत्यर्थः । तावाहमेति भेदसहिष्णुनाभेदेनेत्यर्थः । भक्तानां पुरुषोत्तमामेदस्त्वन्तराय-
रूपस्तदानन्दानुभवे इति तं तत्र न संपादयति इति 'अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः' इति सूत्रे
वक्ष्यते । अक्षरेण तद्रूपजीवेन च पुरुषोत्तमामेदरूपादाधेयभेदः स इवार्थ इति न परमतप्रवेशः
अदृश्यत्वाधिकरणे स्पष्टः । चरणरूपाक्षरेण पुरुषोत्तमामेदः पूर्वोक्तानक्षरेण 'अविभक्तं च भूतेषु
विभक्तमिव च स्थितम्' इति गीतोक्तः पुरुषोत्तमामेदः । जीवस्य तु भक्तत्वाद् दत्तो भेदोऽभेद-
स्तिरोहितः । पूर्वकक्षेति 'ब्रह्मसूतः प्राज्ञात्मा' इति गीतावाक्यात् । यजुर्विद्वक्षितेत्यादि
ब्रह्मविदित्यादियजुषा विद्वक्षितधर्मधर्मभेदेन द्विविधानन्दरूपफलेत्यर्थः । तथोक्तमिति आनन्द-

सामानाधिकरण्यमनुक्त्वा 'आनन्दं ब्रह्मणः' इत्युक्तम् । एतेन लौकिकं पूर्ववेहं त्यक्त्वा साक्षाद्भगवद्भजनोपयोगिनं भगवद्विभूत्यात्मकं संघातं प्राप्नोत्यादौ । तथाहि । देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणजीवात्मको हि संघातः । तत्र स्थूलं शरीरमाद्य-विभूतिरूपम् । द्वितीयं स्पष्टम् । तृतीयं सर्वेन्द्रियसंबन्धित्वेनेन्द्रियरूपत्वेन चान्तः-करणात्मकत्वेन चेन्द्रियान्तःकरणरूपम् । तुरीयं जीवतत्त्वात्मकम् । यत्र गुहायां

भाष्यप्रकाशः ।

विवरकत्वमुपपाद्य तेन सिद्धं निगमयितुमाहुः एतेनेत्यारभ्य, अथगम्यत इत्यन्तम् । आद्यविभूतिरूपमिति अक्षमयविभूतिरूपम् । मनोमयविभूतिरूपस्येन्द्रियान्तःकरणरूपत्वे हेतुनाहुः तृतीयमित्यादि । अत्र मनसः सर्वेन्द्रियनियामकत्वान्मनोमयस्य सर्वेन्द्रियसंबन्धित्वम् । शेषं स्फुटम् । तथाच कार्यद्वारा मनसैव सर्वेन्द्रियाण्याक्षिप्यन्त इति तथेत्यर्थः । जीवस्य विद्यमानत्वादिज्ञानमयविभूतिर्बुद्धिरूपा मनसः पृथग् भविष्यतीत्याशङ्कावारणाय तत्स्वरूपमाहुः तुरीयमित्यादि । जीवतत्त्वात्मकमिति जीवस्य यत् तत्त्वं स्वरूपसहकारि-रियोग्यतासंपत्तिसत्तात्मकमित्यर्थः । अत्र गमकं यत्रेत्यादिना प्रोक्तं ज्ञेयम् । एवं

रहिमः ।

ब्रह्मणोः सामानाधिकरण्येनोक्तमित्यर्थः । एतेनेत्यारभ्येत्यादि । अत्र भाष्ये । संघातमिति यद्ब्रह्मदारण्यके शरीरब्रह्मणे ब्राह्ममित्युक्तं तत् । साक्षाद्भगवद्भजनेति विशेषणेन तस्य फलत्वात् । विवृण्वन्ति स्म अत्रेत्यादि । अत्र प्रकृते संघाते मनस उत ये मनो विदुरिति श्रुतेराधिदैविक-रूपमनस इत्यर्थः । 'मनसो वशे सर्वमिदं बभूव' इति वाक्यात् सर्वेन्द्रियाणि प्राणाः इन्द्रियाणि प्राणाः अन्तःकरणं स्थानं तेषां सर्वेन्द्रियपदवाच्याः । तेषां नियामकत्वादित्यर्थः । मनोमयस्येति मनःप्राचुर्यस्य विभूतित्वात् । सर्वेन्द्रियाणि पूर्वोक्तानि तत्संबन्धित्वम् । आधिदैविकत्वेन प्रेयंप्रेरकभावः संयोगरूपः सोस्यास्तीति सर्वेन्द्रियसंबन्धि तस्य भावः सर्वेन्द्रियसंबन्धित्वम् । शेषमिति । इन्द्रिये-त्यादि भाष्यं स्पष्टम् । तथा हि आधिदैविकादिरूपेण त्रैविध्यम् । सर्वेन्द्रियसंबन्धो नेयनायकभावः । इन्द्रियरूपत्वम् । 'मनोमात्रमिदं ज्ञात्वा' इतिवाक्यात् । अन्तःकरणात्मकत्वं मनःप्राचुर्येण्येक-देशविक्रान्त्यायेन, एवं स्पष्टम् । कार्यद्वारेति ज्ञानरूपकार्यद्वारा । आक्षिप्यन्त इति आक्षेपोर्थापत्तिः । 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' इति श्रुतेः । तथेति सर्वेन्द्रियसंबन्धि-त्वादिः । मनसैति अष्टयगिति पदच्छेदः । मनोबुद्धिचित्ताहंकारा इति मनोभेदा इति । बुद्धिरूपेति इन्द्रियानुग्रहिकेत्यर्थः । बुद्धितारतम्येनेन्द्रियज्ञानक्रिययोस्तारतम्यदर्शनाद्ब्रह्मवानुग्रहीतानीन्द्रियाणि पश्यन्ति कुर्वन्ति च । इदं च कार्यलक्षणम् । स्वरूपलक्षणं तु द्रव्यस्य घटादेः स्फुरणे शब्देनालोकेन संस्कारेण वा यद्विशिष्टं ज्ञानमिति । तृतीयस्कन्धे षड्विंशे 'तैजसात्त्र विकूर्वाणाद्बुद्धितत्त्वमभूत्' इत्यस्य सुबोधिन्याम् । तद्वेत्ते प्रस्थानरत्नाकरे च स्फुटम् । तत्त्वपदस्याभिप्रायमाहुः मनसैति । तस्येन्द्रियप्रेरकत्वं कार्यलक्षणम् । संकल्पविकल्पात्मकत्वं स्वरूपलक्षणमिति तेन पृथक् । बुद्धेर्मनो-भेदत्वात् । स्वरूपेत्यादि ज्ञानेन्द्रियेषु विज्ञानमयप्रवेशात्तथेति वक्ष्यमाणमाव्योक्तम् । यत्रेत्यादिनेति अग्रिमग्रन्थेन भाष्ये यत्र स्वरूपयोग्यतायां सत्यां बुद्धिरूपायां यतो जीवरूपं ज्ञानं बुद्धिरूपस्वतत्त्वं विना न ब्रह्मवित् । बुद्धिमानयं पदार्थान् जानाति इति प्रत्ययात् । 'मनसि सर्वतो निवृत्त्यापारे स्वयमुपलब्धनिजसुखानुभवो भवान्' इदमेव ब्रह्मज्ञानमिति द्वितीयपादे वक्ष्यन्ति । गुहायामित्यादेरर्थ-

भगवद्भरणेन परमव्योमाविर्भावस्ततः पूर्णानन्दात्मकं पुरुषोत्तमस्वरूपं फलरूपं प्राप्य उक्तकर्तार्यरीत्या तेन सह सर्वकामाशनमेव मनोवागविषयानन्दवेदमं तद्राम् भवतीति वाक्यैकवाक्यतयावगम्यते ।

भाष्यप्रकाशः ।

विभूतिरूपाणि व्याख्याय तच्छेषिणं व्याकुर्वन्ति तत् इत्यादि । अत्र कामाशनस्य वेदन-रूपत्वम् । भोगस्य सुखसाक्षात्काररूपत्वात् । वाक्यैकवाक्यतयेति उपसंक्रमेण वेदनम-याभावाभ्यां तापाभावादिभिश्चास्य फलांशविवरकत्वेन वाक्यानामैकवाक्यतया ।

एवमानन्दमयप्राप्तेर्यथा परममुक्तित्वं, तथा प्रकारो विषयवाक्यभूतप्रपाठकविवरणेन प्रकाशितः । तत्र पूर्वोक्तानां विभूतीनां पक्षिरूपत्वं यदत्रोक्तं तल्लीलोपयोगिषु तेषु

रहिमः ।

माहुः गुहायामित्यादि । हृदि मनसि अयं हृदयं सप्तम्या लुक् तत्संबन्ध्याकाशे छिद्ररूपे 'छिद्रा व्योम्नीव चेतना' इति वाक्यात् । सुपर्णद्रव्यसुक्तं वस्तु 'द्वौ सुपर्णौ भवतः' इति गोपालतापिनीयात् । मर्यादाभक्तस्यान्यत्र चरणयोरुत्थात् पुष्टिभक्तस्य फलम् । सिद्धान्तमुक्तावलीटीकायां ज्ञानिभक्तौ चेद्विशेषतोनुग्रहाति तदा पुष्टिभक्तिं प्राप्नुतः आदाविति ग्रन्थात् । पुष्टिमार्गत्वान्न भगवद्भरणान्ति-रिक्तं साधनमुक्तम् । भक्तिहेतौ त्वनुग्रह उक्तः स पुराणोक्तः ।

'यदा यस्मानुग्रहाति भगवानात्मभावितः ।

स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्' ॥

इतिवाक्यात् । न विभेति कुतश्चनेति परिनिष्ठितमतित्यागः । गुहायां हृदये 'स मानसीन आत्मा जनानाम्' इति श्रुतेः । परमव्योमाविर्भावोऽयोगोलके वह्निरिव वरणातिरिक्तं साधनं नेत्युक्तम् । हृदि अयमात्मा सामानाधिकरण्येन तत्संबन्धिन्याकाशे जीवदेहे मनसि परमव्योमा-विर्भावः स्पर्शमणिसंबन्धेनायसि चामीकरत्वाविर्भाववत् । परो मीयते ज्ञायते येन व्यापकेन व्योम्नेति परमं व्योम । ननु जीवस्य देह आकाशात्मकोपि मांसरूपः । संहितायामाकाशस्य मांसत्वोक्तेः भगव-दंज्ञत्वात् 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' इत्यादिकं भवति । आत्मनो जीवादाकाशो देहः । आकाशाद्वायुः प्राणादिः त्वक् च । वायोरग्निः दर्शनाग्निः जाठराग्निर्ज्ञानाग्निश्च । अग्नेरापः प्रस्वेदादिरूपाः । अद्भयः पृथिवी कठिनांशा अस्यादि । पृथिव्या ओषधयः लोमानि केशाः । ओषधीम्योत्रं लिखा अन्नाद्युक्ताः । पुरि शेरते इति पुरुषाः यथाकर्षचिचेयाः । तत्र पुरुषोत्तमस्य दीपशिखावद्भर्तमाने पूर्णानन्दे अदृश्य-त्वाधिकरणोक्ते संपन्ने 'तस्यैव आत्मा विवृणुते तदुं स्वाम्' इति श्रुत्युक्तं भवति, स्वां स्वीयां तदुं विवृणुते प्रकाशयति । प्रकृते । तच्छेषिणमिति । आनन्दमयमित्यर्थः । तापाभावेत्यादि 'एतद्देह वा व न तपति' इति श्रुतेः । अस्येति प्रपाठकस्य । तथा च व्याख्येयव्याख्यानभावेनैक-वाक्यता तथा । अनुना प्रयमस्कन्धस्य 'अथो विहायेमममुं च लोकम्' इत्यादिश्लोकद्वयसुबोधिन्यु-क्तदिशाभ्रमपादिविभूतीनां साधनसंपत्तये लौकिकान्नमयादिकोशेषु तत्तदर्थं तत्त्ववेशं बोधयन्ती-त्याशयेन भाष्यमवतारयन्ति एवमानन्दमयेत्यादि । प्रकाशित इति सर्वरीत्या व्याख्याय पूर्वं पश्चात्प्रथमत्यागे मानाभावमाश्रित्यावयेत्यादिना प्रकाशितः । तल्लीलेत्यादि लीलापूर्वकालिकेषु

अयेदं विचार्यते । 'पुरश्चक्रे द्विपदः' इति श्रुतौ वस्तुतस्तु पुरुष एव । परंतु पुरःसंबन्धी सन् पक्षी भूत्वा पुर आविशादिति निरूपितम् । प्रकृते चात्ममया-दयस्तथैवोक्ताः । एवं सत्येकस्यां पुरि बहूनां तेषां प्रवेशो न वक्तुमुचितः । प्रयोजनाभावादित एकैकस्यां पुरि तथा वाच्यः । तत्र कीदृश्यां तस्यां कस्य प्रवेश इति विचार्यमाणे प्राकृतत्वब्रह्मत्वयोरविशेषाद् विनिगमकाभावात् सर्वेषां सर्वत्र प्रवेशोऽप्रवेशो वा भवेदिति चेत् ।

अत्रेदं प्रतिभाति । अस्माहोकात् प्रेत्येति वाक्ये इदंशब्दप्रयोगात् प्राकृत-

भाष्यप्रकाशः ।

कोशेषु पक्षिरूपेण यः प्रवेशस्तद्देतुकमिति तद्बोधिकायाः श्रुतेरविचारे तत्र दृढं भव-तीति तद्दृढीकरणाय पक्षिरूपप्रवेशबोधकश्रुतिविचारं प्रतिज्ञाय तद्विचारबीजं वक्तुं प्रथमतो विषयमाहुः अथेत्यारभ्य, उक्ता इत्यन्तम् । तथैवेति पक्षिरूपेण । अत्र विचारबीजं वदन्तः पूर्वपक्षमाहुः एवं सतीत्यादि, चेदित्यन्तम् । अविशेषादिति सर्वेषु पक्षि-ष्वविशेषात् । अप्रवेश इति उक्तश्रुतावेकस्य प्रवेशोक्तावप्यत्ममयादिषु पक्षिलिङ्गेन पुरि प्रवेशे प्राप्तेऽपि प्राणमयादिष्वन्तर आत्मेति श्रावणात् तेषां चतुर्णां तत्तदन्तःप्रवेशोऽस्तु । अत्रमये तु तद्भावणात् तत्प्रवेशो न शक्यवचनः । किंच, द्विपच्चादिलिङ्गस्य स्थूला-स्वेव सत्त्वात् तास्वेव प्रवेशोऽत्र भासत इति प्राणमयादिषु लिङ्गाभावेन विवक्षितपृष्टा-भावान् तेष्वपि तदन्तराणां सोशक्यवचन इत्यप्रवेश इत्यर्थः । सिद्धान्तमाहुः अत्रे-त्यादि । अयमर्थः । अस्माहोकात् प्रेत्येत्यत्र स्थूलशरीरत्यागाङ्गीकारे सूक्ष्मशरीरकारणशरी-रयोः सत्त्वेन प्राणमयादिकोशानां सत्त्वेन, एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रामतीत्याद्यग्रिम-रश्मिः ।

लौकिककोशेष्वित्यर्थः । भाष्ये । निरूपितमिति आधिभौतिकेष्वध्यात्मिकानां प्रवेश इति निरूपितमित्यर्थः । प्रकृते । तत्रेति प्रवेशहेतुकं नेत्यर्थः । तद्विचारबीजमिति पक्षिणा-प्राकृतत्वब्रह्मत्वाविशेषो विनिगमकाभावश्च हेतुः । तद्देतुकः सर्वेषां सर्वत्र प्रवेशोऽप्रवेशो वा बीजम् । तस्य पक्षिरूपप्रवेशबोधकश्रुतिविचारस्य भवति । विषयमाहुरिति परोक्षवादरूपसिद्धान्तोपयोगिनं तमाहुरित्यर्थः । अथेत्यारभ्येति । ननु उपष्टम्भकश्रुतेर्विचारे किं मूलमिति चेन्न । अत्राधिकरणे पूर्वाधिकरणवत्तुसकलिङ्गानुक्तेरानन्दमय इति पुल्लिङ्गोक्तेः 'ब्रह्मन् पुंसि च' इति सूत्राद् ब्रह्मेति पुल्लिङ्गानुवर्तनाद्विद्वद्गर्भकारणतानिरूपणेन । भाष्यत्वात् तादृशस्वपदवर्णने येन केनापि यागेन पूर्वकाण्डोक्तब्रह्मणोपि विचारमालोच्यास्याविचारात्पूर्वकाण्डानुगुण्यं पाषण्डनिवर्तकमेव मूलमिति । नपुंसके 'ततो ह जानातो भुवनस्य गोपा हिरण्यमयः शकुनिर्ब्रह्मनामेति श्रुतिः । पूर्वपक्षमिति संशय उन्नेयः । सर्वेषामेकैकस्मिन् प्रवेशोऽप्रवेशो वा सर्वत्र प्रवेशोऽप्रवेशो वेति । श्रुतिः पूर्वपक्षयुक्तिश्च संशय-बीजम् । उक्तश्रुताविति 'पुरश्चक्रे द्विपदः' इति श्रुतावित्यर्थः । एकस्य प्रवेशोक्ताविति 'स पक्षी भूत्वा' इत्यत्रैकत्वविवक्षणादिति भावः । अस्त्विति अत आत्मनश्चेतनत्वादिति भावः । न शक्येति । चेतनाभावादिति भावः । लिङ्गाभावेनेति द्विपत्वादिलिङ्गाभावेन । तदन्तराणामिति पक्षिणामित्यर्थः । सूक्ष्मेति । कारणशरीरं तु—

'अविप्रणाशः सर्वेषां कर्मणामिति निश्चयः ।

कर्मजानि शरीराणि तथैवाकृतयो नृप' ॥

गुणमयं प्रपञ्चमतिक्रम्य गुणातीतं प्रपञ्चं साक्षाह्लीलोपयोगिनं प्राप्नोतीत्यव-गम्यते । तत्प्राप्त्यैव भगवद्भावे संपन्ने पूर्वं भगवद्भिरहभावेनातितीव्रत्वेन सर्वोप-मर्दिना शरीरेन्द्रियप्राणान्तःकरणानि नष्टान्येव स्युर्यदि तत्तद्रूपं ब्रह्म तेषु तेषु न प्रविष्टं स्यात् । जीवस्य च ब्रह्मण्येव लयेन लीलारसाननुभवेन नाश एव सः । तथाच तत्तद्रूपं ब्रह्म तेषु तेषु स्थितमिति न तेषां नाशः । जीवे त्वानन्दमयः पुरुषोत्तमः प्रविशातीति रसात्मकत्वादानन्दात्मकमेव विरहभावरसान्धिभनुभूय

भाष्यप्रकाशः ।

वाक्यविरोधादस्माहोकादित्यस्येदम् इदं सर्वं यदयमात्मा, अस्मिहोकेऽर्जुनः स्यादित्यादावि-दमः परिदृश्यमानयावत्संप्राहकत्वदर्शनादत्रापि ब्रह्मविदः फलप्रकरणे प्रापञ्चिकसर्वसंप्राहक-ताया एवाभिप्रेतत्वौचित्यात् तथावगम्यते । ततो गुणातीतप्रपञ्चास्यैव भगवत्पुत्कटरत्यां जातार्या पूर्वं विरहभाव एवोद्दिश्यत इति तेन शरीरादीनि मूले सति लीनानि स्युरतस्तद-भावाय प्रवेशः सर्वत्रावश्यकः । किंच, लये ज्ञानिसाधारण्येन वरणवैयर्थ्याह्लीलाननुभवे स जीवसाप्यनिष्टरूप एवेत्यतोऽप्यावश्यक इत्यर्थः । ननु भवत्वन्वयान्वेषां प्रवेशस्तथापि जीवस्य नित्यत्वात् तत्रानन्दमयप्रवेशो निष्प्रयोजनत्वादयुक्त इत्यत आहुः जीवे त्वित्यादि उच्यत इत्यन्तम् । प्रविशातीति रसानुभावनाय प्रविशति । इतिहेतौ तथाच सोपि सप्रयोजनः । तस्य पुरुषोत्तमत्वं श्लोकाद्युक्तमयाभावरूपाह्लिङ्गादेव ज्ञायते । एतदग्रिमा-रश्मिः ।

इतिभारतोक्तम् । तथावगम्यत इति प्राकृतगुणमयं प्रपञ्चमित्याद्यवगम्यत इत्यर्थः । अत्र प्राकृतगुणातीतयोः प्रपञ्चयोर्मध्ये प्राप्तिसाधनं नोक्तं तथापि वरणमत्यन्तानुग्रहश्च ज्ञेयम् । पुष्टिमार्गीयत्वाच्च साधनान्तरमपेक्षते । साधारणप्रवाहव्यवस्था तु शरीरब्रह्मणेति । तत्प्राप्त्येत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति तत इत्यादि । गुणातीतेत्यादि एवकारेण वरणस्य विद्यमानत्वात्तदन्तर्गता-त्यन्तानुग्रहस्यापि सत्त्वाद् गीतोक्तगुणातीतलक्षणोक्तधीरतुल्यप्रियाप्रियत्वातिरिक्तधर्मः व्यवच्छिद्यते । अव्यभिचारी भक्तिर्मांश्च 'स गुणान् समतील्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते' स गुणातीतः तथा चैतादृश-प्रपञ्चान्तर्गतानां धीरतुल्यप्रियाप्रियत्वाव्यभिचारिभक्तिपदार्थानां प्राप्तिर्विशेषतः करणं भगवदुत्कट-रत्याम् । सर्वोत्पभावस्य दानसाध्यस्यानुक्तिः । रतिस्तु सर्वोत्पभावकस्य निरोधलक्षणग्रन्थोक्तसाधि-भौतिकप्रेमसंबन्धादाध्यात्मिकयत उक्ता । पूर्वविरहेति । ननु संयोगी भवतः पूर्वविरहः कुत इति चेन्न भगवदास्यातैरधिकारत्वात् । अक्षरब्रह्मत्वं तु गुणातीतप्रपञ्चास्यैव प्राप्तमतः प्रथमाधिकारो नायुक्तः । एवकारस्तु भक्तकृमिगण्याहरणे पूर्वं तस्या विरहभावोक्तेः । 'जहामसन् व्रतकृशान् शतजन्मभिः सात्' इति प्रसादः स्यात् । तेन विरहभावेन सर्वोपमर्दिना शरीरादीनि तथा । मूले सतीति इति प्रकटे ब्रह्मणीत्यर्थः । पृथिव्यादाविति वा । ननु स एवास्तु फलत्वादित्यतो जीवस्य चेत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति किं च लयेत्यादि । भाष्ये । ब्रह्मण्येव लयेनेत्यत्र एवकारेणाक्ष-रात्मकचरणव्यवच्छेदः । तदानीं भक्त्यभावाह्वयप्रतिबन्धकाभावान् । प्रकृते । अनिष्टेत्यादि 'तदापीतेः संसारव्यपदेशात्' इति सूत्रे स्फुटिष्यति एवकारयोऽपि । रसानुभावनायेति प्रदीपाधिकरणे स्पष्टमिदम् । सोपीति औचन्दमयप्रवेशोपि । प्रयोजनं रसानुभावनम् । भाष्ये । रसात्मकत्वादिति 'रसो वै सः' इति श्रुतेः । रस शब्दे, रस आस्वादाने चर्षणैकत्वभाव आनन्दमये रसज्ञानप्रसिद्धे । सूत्रा-

पश्चात् प्रादुर्भूतं प्रमुखरूपं प्राप्य, 'न विभेति कुतश्चन' इति वाक्येन लोकात् तदभावमुक्त्वा, 'एतद् ह वा व न तपति किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरवम्' इतिवाक्यैर्वेदाङ्गयाभाव उच्यते ।

शरीरप्राणमनोऽन्तःकरणजीवात्मनां शरीरत्वं वाजसनेयिशाखायामन्तर्गामिन्नाहणे पठ्यते । 'यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यस्य प्राणः शरीरं यस्य वाक् शरीरं यस्य चक्षुः शरीरं यस्य श्रोत्रं शरीरं यस्य मनः शरीरं यस्य त्वक्शरीरम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

र्थस्तु य एवमतापकरत्वेन एते साध्वसाधुनी विद्वान् स आत्मानं स्पृणुते ब्रह्म प्रीणाति । तत्र हेतुरुभे ह्येवैष इत्यादि । अत्र स्पृणोतिर्ज्ञानार्थक इति न पुनरुक्तिः । तेन सोऽपि युक्त इत्यर्थः । अत्र या स्वरूपप्राप्तिरुक्ता सा फलाध्यायतुरीयपादे निपुणतरं भाष्य उक्तेति मया तत्रैव व्युत्पादनीयेति बोध्यम् । किं च । द्विपञ्चादीत्यादिनोक्तद्वितीय-बाधकनिरासाय पूष्टं स्फुटीकुर्वन्ति शरीरेत्यादि । प्राणमनोऽन्तःकरणेतिपाठे मनोऽन्तरिति भिन्नं पदम् । एतद्गणनामध्ये इत्यर्थः । प्राणेन्द्रियान्तःकरणेति वा पाठः । अत्राय-मर्थः । पूष्टं हि शरीरत्वम् । तच्च भूताद्यात्मान्तेषु तुल्यम् । तथा ब्रह्मण आन्तरत्वं च सर्वत्रात्रोक्तमिति प्रवेशोऽपि तस्य सिद्धः । एवं सत्येतदनुरोधाद् बहुपदां पुरां दर्श-
रश्मिः ।

र्थस्वरूपधृत्वात् । एवेति विरहभावरसाब्धेर्हेदयात्मकत्वव्यवच्छेदकः । आनन्दस्यै सुखात्मकत्वेपि सर्वस्य सुखे ईर्ष्यासुयादिमिश्रीभावे सुखमेव दुःखाय इति वाराहपुराणे चातुर्मासमाहात्म्येऽस्ति । विरहमनुभूयेत्युक्तौ तस्य प्रियमेव शिर इति श्रुत्युक्तभावात्मकत्वविरोधः भावात्मकस्य प्राज्ञत्वात् । तर्हि विरहभावमनुभूय इति वक्तव्यम् । न विरहभावस्तूष्णीकं नानुभूय इत्यस्य कर्म अति-तीव्रत्वात् किं तु शब्दजास्वादरूपोऽतो रस इति । सोपि शाब्दविषयो लौकिकानामतोत्र शाब्दघट्या-न्विशब्दः । लवणमेतदुदकमिति श्रुतिविषयः । जातानां लीलास्थानामभेदातुभवेन विलक्षणरसादु-भवार्यम् । मानसीसेवा वा तत्रत्या । जातानां रसान्तस्थानां शरीराणां रेणुजत्वेन पार्थिवत्वात् तत्कारणयां दृष्टिरुचिता । नन्वात्मनः कारणत्वं 'आत्मन आविर्भावतिरोभावी' इति श्रुतेरिति चेन्न तत्रत्यानां सर्वेषामात्मत्वेन यथादृष्टं कारणमिति । प्रादुर्भूतमिति राजवत्यादुर्भूतम् । न विभेतीत्यादि पूर्वं व्याख्यातम् । एतदिति । पापमकरवमिति श्रुत्यग्रिमार्थस्तु अग्रिमा श्रुतिस्तु 'स एवं विद्वानेते आत्मानं स्पृणुते । उभे ह्येवैष एते आत्मानं स्पृणुते य एवं वेद' इति । उभे ह्येवैष इत्यादि उभे ह्येवैष एते आत्मानं स्पृणुते इति श्रुतिः । 'भक्त्या मामभिजानाति' इति न्यायेनाहुः अत्र स्पृणोतिरिति । ज्ञानार्थक इत्यादि । प्रण प्रीणन इति धातोर्ज्ञाने लक्षणेति 'किमहं साधु नाकरवम् किमहं पापमकरवम्' इति 'स एवं विद्वानेते आत्मानं स्पृणुते । उभे ह्येवैष एते आत्मानं स्पृणुते' इत्यत्र स्पृणोतेर्न पुनरुक्तिरित्यर्थः । सोपीति जीवे आनन्दमयप्रवेश इत्यर्थः । द्विपञ्चादिति अप्रवेश इति भाष्यव्याख्याने किं च द्विपञ्चादित्यादिनोक्त-पृष्ठाभावरूपबाधकनिरासायेत्यर्थः । पदमिति करणं वागादि जीवो रेतःस्थः 'यो रेतसि तिष्ठन्' इति श्रुतेः । एतस्य क्लिष्टत्वादाहुः प्राणेन्द्रियेत्यादि । तथा च भाष्यत्वादाहुलकमिति भावः । सर्वत्रात्रेति अन्तर्गामिन्नाहण इत्यर्थः । तस्येति ब्रह्मण इत्यर्थः । एवं सतीति प्राणमयादिषु शरीरत्वे

इत्यादेरन्ते यस्यात्मा शरीरमिति । अत्र पूर्वोक्तनिर्गुणदेहानां भगवच्चरणरेणुज-त्वेन भूतरूपत्वाद् ब्रह्मशरीरत्वम् । तत्रान्नमयतत्प्रवेशेन तत्स्थितिः प्राणेष्वपि तथा । ज्ञानेन्द्रियेषु विज्ञानमयप्रवेशात् तथा । मनसि मनोमयप्रवेशात् तथात्वम् । जीवे त्वानन्दमयः प्रविशतीति तथात्वम् । अतो युक्तं पक्षित्वकथनम् ।

आनन्दमयस्य स्वरूपं विशेषतो वक्तुमशक्यमिति यः पूर्वस्येति सर्वत्रो-क्तम् । शरीरप्रवेशप्रयोजनकपक्षिरूपत्वं पञ्चस्वपि साधारणमिति तेषु तथा वद-

भाष्यप्रकाशः ।

नादत्र प्रतिष्ठापदेन पादयोर्बोधनाच्च पुरश्चक्र इति श्रुतौ द्विपदादिपदं कृतपूर्वात्रोपलक्ष-कमिति तत्र तासां करणं, तासु प्रवेश इति चाभिप्रेतं, न तु तासां द्वैविध्यं स्पृणुत्वं वेति निर्णये सर्वास्वेव कार्यार्थं पक्षिरूपेण प्रवेशः सिद्ध्यतीति पक्षिलिङ्गादन्नमयादीनामपि प्रवेशः शक्यवचन इत्यर्थः । एवं सर्वेषां प्रवेशं समर्थयित्वा लीलौपयिकप्रवेशार्थमप्राकृ-तविभूतिरूपाणां स्वरूपमाहुः अत्रेत्यादि । इदं च प्रथमस्कन्धसुबोधिन्यां, 'या वै लसच्छ्री-तुलसीविमिश्रपादान्नेरेण्वभ्यधिकाम्युनेत्री' इत्यत्र सिद्ध्यति । प्रवेशं विभजन्ते तत्रेत्यादि । जीवस्य वरणेनैव शुद्धत्वाद् विज्ञानमयस्य प्रवेशोऽनर्थक इति शङ्कावारणाय तदधिकरण-माहुः ज्ञानेन्द्रियेत्यादि । जीवे तथात्वं लीलारसानुभवयोग्यत्वरूपं बोध्यम् । एवं सर्वत्र पक्षित्वोक्तिं समर्थयित्वानन्दमये शरीरत्वोक्तेस्तात्पर्यं वक्तुं यः पूर्वस्येति गूढोक्तेरा-शयमाहुः आनन्दमयस्येत्यादि । शरीरेत्यादि च । विशेषतो वक्तुमशक्यत्वं मनो-वागगम्यत्वाद् बोध्यम् । तथाच तस्यैव इत्यत्र शब्द एव पूर्वसमो न त्वर्थोऽपि ।

रश्मिः ।

सिद्धे सतीत्यर्थः । अत्रेति तैत्तिरीये प्राणमयादिषु पृथ्वी पुच्छं प्रतिष्ठा, अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा, महत्पुच्छं प्रतिष्ठा, ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा, इति यथायथं प्रतिष्ठापदेनेत्यर्थः । तास्वामिति पुरामित्यर्थः । द्वैविध्यमिति द्विपत्वं चतुष्पत्त्वमिति द्वैविध्यम् । सर्वेषां प्रवेशमिति एतेन पूर्वपक्षे अप्रवेशो दूषितः सिद्धान्ते । सिद्ध्यतीति । युक्तिस्तु अणुभाष्ये टीपिता सारोऽयमर्थः । सा च पार्थिवं शरीरमिति योगादिशास्त्रादत्रापि पार्थिवशरीराभावे सूत्रं निर्विषयं स्यात् । नन्वस्ति सर्वेषां पार्थिव-शरीरमिति चेन्न आकाशत्वाच्छरीराणाम् । 'आकाशशरीरं ब्रह्म' इति श्रुतेः । तदंशानां व्योम्नीव छिद्राणां जीवानामाकाशशरीरत्वमिच्छ्यात् । आकाशान्मांसरूपाद्दश वायवः । वायोऽस्योन्नयः दर्शनाभिजाठराधि-ज्ञानाग्निरूपाः । अग्ने रुधिरादिरूपा आपः । ऋदशः पृथिवी 'यत्कठिनं सा पृथिवी' इति श्रुतेः कठिनां-शोऽस्थ्यादिः पृथ्वीति । पार्थिवत्वाभावात् । भगवदिच्छाधीनं सर्वं तथापि युक्त्यर्थं भाष्येऽन्नमयप्रवेश उक्तः । ब्रह्मशरीरत्वमिति भाष्ये ब्रह्मं वेति शरीरप्राहणं द्रष्टव्यम् । भाष्ये प्राणिष्वपि तथेत्यन्नमयप्रवेश इत्यर्थः । प्राणानामन्मयत्वेनान्नमयस्याप्चरुस्य प्रवेश उचितः । 'आपो वा अन्नम्' इति श्रुतेः । तथात्व-मिति भाष्यं विवृण्वन्ति जीवे तथात्वमिति । गूढोक्तेरिति 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः' इत्यत्र तदे-तच्छब्दाभ्यां विपश्चिद्ब्रह्मपरामर्शाद् यः पूर्वस्येत्यत्र यच्छब्देन गूढानन्दमयोक्तेरित्यर्थः । तस्यैष इति 'तस्यैष एव शरीर आत्मा यः पूर्वस्य' इति श्रुतावित्यर्थः । अत्रेदं सारम् । 'रसो वै सः' 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' 'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इति श्रुतिसहसैरानन्दो ब्रह्मरस इत्यविवादम् । रसश्च सुखो भक्तिरूपः शृङ्गारश्च । इमौ द्विविधौ, संयोगविप्रयोगभेदात् । एवं चोभावेकः वस्तुसमावात् ।

न्यानन्दमयेऽपि तथैवोक्तवती श्रुतिरिति ज्ञेयम् । एवं सति स्पर्शमणिसंबन्धित्वेन रजतादेर्हेमत्वमिवोक्तप्रकारकप्रवेशादाश्रयाणामपि तत्तदात्मकत्वमित्युच्यते ।

भाष्यप्रकाशः ।

तेनात्रायमर्थः । तस्यैवभेदे षष्ठी । तथाच पूर्वस्य यः शरीर आत्मा उपक्रमे जगत्कर्तृत्वेनोक्तस्तदभिन्न एव इति । एवमर्थोक्तौ गमकं तु, अग्रेऽन्यस्यान्तरात्मन उक्त्यभाव एवेति प्रागेवोक्तम् । प्रवेशस्य योग्यतासंपादकत्वप्रकारं दृष्टान्तेनाहुः एवं सतीत्यादि । एवमत्र श्रुत्यन्तरानुसारेण वास्तवं पक्षिरूपमादृत्य प्रकृतश्रुत्यर्थो निर्णीतः । अतः परं 'परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विपः' इति श्रुतेः ।

रश्मिः ।

पूर्वोक्तो यद्यपि वाक्यान्वयाधिकरणे प्रियत्वस्य ब्रह्मधर्मत्वमुक्तमिति धर्मस्तथापि पूर्वोक्तश्रुत्या धर्म्यपि । आनन्दवत् । भक्तिश्च भावो 'रतिर्देवादिविषया भाव इत्यभिधीयते' 'केवलेन हि भावेन गोप्यः' इत्यादिवाक्यात् । एवं च पूर्णब्रह्म भावात्मकमिति निष्कर्षः । तत्र न निराकारं 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति' 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः' इति श्रुतिस्मृतिभ्याम् । प्रकृतश्रुतेश्च तत्राकारविचारे कृष्णाकारो मुख्यः । एतच्च 'समान एवं चाभेदात्' इति सूत्रे उपपादनीयम् । श्रीभागवते च स्फुटम् । न चैवं परिच्छिन्नस्याब्रह्मत्वं शङ्कनीयम् । वैश्वानराधिकरणे प्रादेशमात्रस्यैवाभिविमानत्वमिति सिद्धान्तात् । ज्योतिश्चरणाधिकरणे ज्योतीरूपत्वोक्तैर्यथा परिच्छिन्नोपि बहिस्तूलादियोगान्महान् भवति तद्वदिति दृष्टान्तः । तदेव स्वधर्मेण सच्चिदानन्दरूपेण व्याप्तमिति समन्वयाधिकरण उपपादितम् । तदर्थं 'तदव्यक्तमाह हि' इत्यधिकरणे विरुद्धधर्माश्रयत्वं तस्य व्यवस्थापितम् । एवं च कल्पतर्वादि-वचनस्यैव तादृशमिति वस्तुस्थितिः । अन्यथास्मदादितुल्यता स्यात् । सा चासंगततरा । 'ह्येत्वा-वचनस्य' इत्यादिसूत्रविरोधात् । तथा च तेजोमयो व्यापकः आनन्दमयो भावात्मकः कमनीयः साकारोऽनेकशक्तिवृत्तः पुरुषः परं ब्रह्मेति शास्त्रार्थः । तत्राक्षरं तस्य धाम भवतीति ततो भिन्नाभिन्नम् । एतच्च 'सूक्ष्मं तु तदहंत्वात्' 'तदधीनत्वादर्थवत्' इतिसूत्रयोर्भाष्ये स्फुटम् । तत्रापिश्च सर्वात्मभावरूपभक्तेः । एतच्च पुरुषार्थाधिकरणे तृतीयस्य चतुर्थचरण उपपादितम् । तत्रापिश्च साकारानन्द-निचयानुभव इत्यत्रैवाक्तम् । स च भक्तहृदये बहिश्च । तत्र ।

'गोप्यश्च कृष्णमुपलभ्य चिरादभीष्टं
यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्षमकृतं शपन्ति ।
दग्भिर्हृदिकृतमलं परिरभ्य सर्वा-
स्तद्भावमापुरपि नित्ययुजां दुरापम्' ॥

इत्युत्तरार्धे त्रयस्त्रिंशदाध्यायवाक्ये स्फुटं सुबोधिन्याम् । तदंशानन्दस्य हृदीदानीमप्यनु-भवात्सासंभावना । एतादृशोपि स्वयं गणः सन् भक्तमनोरथं पूरयतीति तस्य निसर्गः । 'सह ब्रह्मणा विपश्चिता' इति श्रुतेः । 'अहं भक्तपराधीनः' इति स्मृतेश्चात एव स्वस्तावकान् भक्तान् स्वात्मलीलायां प्रवेशयति 'ध्रुवासो अस्य क्लीरयो जनासः' इति ऋग्वेदात् । क्लीरयः स्तोतारः । अन्यथा जीवानां स्वरूपतो नित्यत्वाद् ध्रुवास इति न वदेत् । एवं स्वधामनि ब्रह्मणि रंसमानो यदा जगद्रूपेण क्रीडितुमिच्छति तदा नामरूपविभेदेन जगन्निर्मायं तत्र क्रीडतीति वैदिकपरम-भागवतसिद्धान्तः । तस्मिन् हृदिकृत्वाहुः अतः परमित्यादि । परोक्षत्वं च फलांशत्वाज्ज्ञेयमिति

वस्तुतस्तु परोक्षवादोयमिति ज्ञायते । तथाहि । 'ब्रह्मविद्यामोति परम्' इति वाक्येन ब्रह्मविदः परमार्थि सामान्यत उक्त्वा तत्तात्पर्यं सत्यं ज्ञानमित्युच्यो-क्तम् । तत्र सर्वात्मभाववान् भक्तो भगवता सह तत्स्वरूपात्मकान् कामान् सुङ्क्त इत्युक्तव्याख्यानेन तदर्थोऽवधार्यते । उक्तभक्तस्य सदैव, विरहभावे तु विशेषतः प्रियस्वरूपातिरिक्तास्फूर्त्या अन्नप्राणादिरूपः स एवेति ज्ञापनाय तत्तद्रूपत्वमुच्यते ।

तेन परमप्रेमवत्त्वं सिद्धयति । ततो भगवदाविर्भावे सत्यपि पूर्वभावस्याति-तीव्रत्वेन ज्ञानादिसर्वतिरोधानेनाग्रिमरसानुभवो न भविष्यतीति स्वयमेव तदनुभवात्मको भवतीति ज्ञापनाय विज्ञानरूपत्वमुच्यते । तदानुभवविषयः प्रकट आनन्दमय इति तत्स्वरूपमुच्यते । तत्र निरुपधिप्रीतिरेव मुख्या, नान्यदिति ज्ञापनाय प्रियस्य प्रधानाङ्गत्वमुच्यते । तदा प्रियेक्षणादिभिरान-

भाष्यप्रकाशः ।

'वेदास्त्रिकाण्डविषया ब्रह्मात्मविषया इमे ।

परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं च मम प्रियम्' ॥

इत्येकादशस्कन्धीयभगवद्वाक्याच्च परोक्षवादस्यैव ज्यायस्त्वेनात्र परोक्षवाद एवास्तीत्याहुः यस्तुत इत्यादि । उपपादयन्ति तथाहीत्यादि प्रतिष्ठारूपत्वमित्यन्तम् । तत्रेति तात्पर्य-कथने । तदर्थ इति ऋगर्थः । तत्तद्रूपत्वमिति अन्नप्राणमनोरूपम् । स्वयमेवेति भगवानेव ।

रश्मिः ।

फलांशे पारोक्ष्यमिति । अत्र पारोक्ष्यं च यत्रान्यथास्थितोर्थः संगोपयितुमन्यथाकृत्वोच्यते स परोक्ष-वादः । तथा च श्रुतिः 'तं वा एतं चतुर्हृतं सन्तं चतुर्होतैत्याचक्षते परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवाः' इति । वैयाकरणानां श्रोत्रात्परो वादः, वद व्यक्तायां वाचि भावे घञ्, अक्ष्यः श्रोत्रात् परमिति परोक्षम् । 'परोक्षवादो वेदोयम्' इत्यत्रैकादशस्कन्धे स्पष्टम् । तथा च पुरुषविषयप्राक्षणे भक्तिधर्मा-नुपदिशतीति परोक्षाय पक्षिरूपत्वमाहेति ज्ञेयम् । अन्नप्राणेति । एतच्च तृतीयस्य तृतीयपादे 'व्यतिहारो विशिषन्ति हीतरवत्' इति सूत्रे सिद्ध्यति स्फुटीकरिष्यते च तत्रैव । उदाहरणं तु 'लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः' इति । भाष्ये । उक्तेति सर्वात्मभाववद्भक्तस्य । सदैवेति व्रजभक्तवत् संयोगे विप्रयोगभावनम् । प्रेम वर्तते यद्यपि तथापि तत्र प्रधानमिति सदैवेत्युक्तम् । 'आन्तरं तु परं फलम्' इति वाक्यात् । संयोगरसोपि वर्तते 'भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचित्' इतिवाक्यात् । प्रियस्वेति लिङ्गमूयस्त्वाधिकरणे स्फुटम् । अत्र भाष्ये स एवेत्येवकारेण पूर्वोक्तस्य भक्तप्रविष्टानामयसश्चाभीकरणपक्षस्य ध्वबन्धेदः क्रियते । फलाध्याये वाङ्मनसीति सूत्रे तस्य पक्षस्य पूर्वपक्षीयत्वात् । तेनेति पूर्वोक्तभावस्य सर्वात्मकभावरूपमुल्लेखमक्ति-रूपत्वेनेत्यर्थः । परो मीयते ज्ञायते येन सर्वात्मभावेन स परमः परमश्चासौ प्रेमा च परमप्रेमा तद्वत्त्वम् । तदुक्तं 'सच्चिदानन्दता स्वतः' इति निरोधलक्षणग्रन्थे । तत् इति सर्वात्मभावादित्यर्थः । विज्ञानरूपत्वमिति तथा चाङ्गुलिषु यथा सूर्यरश्मिभवेशस्तथा प्रविष्ट इत्यर्थः । तदेति विरहस्वरूपानुभवोत्तरकाल इत्यर्थः । प्रकट इति हृदि बहिश्च तथेत्यर्थः । ततश्च रसः पूर्णोस्तीति वक्तुं स्यापिनो विभावादिसंयोगं वदन्ति विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिरिति भरतोक्तिः ।

न्दात्मक एव विविधरसभावसंदोह उत्पद्यते यः स दक्षिणः पक्ष उच्यते । ततः स्पर्शादिभिः पूर्वविलक्षणः प्रकृष्टानन्दसंदोहो यः स उत्तरः पक्ष उच्यते । नानाविधपक्षसमूहात्मकत्वात्तयोः पक्षयोर्युक्तं तथात्वम् । स्यायिभावस्यैकरूपत्वादात्मत्वमुच्यते । यतस्तत एव विभावादिभिर्विधभावोत्पत्तिः ।

भाष्यप्रकाशः ।

तत्रेति आनन्दमयस्वरूपकथने । प्रियस्येति प्रियस्वरूपस्य । तेन श्रुतौ प्रियमिति नपुंसकलिङ्गस्य नानुपपत्तिः । प्रधानाङ्गत्वमुच्यते इति कल्पनयोपदिश्यते इत आरभ्य कल्पनोपदेशो बोध्यः । तत्रायं प्रकारः । आनन्दमयानुभवे निरुपधिप्रीतिरेव मुख्यम् । 'अन्त्याऽहमेकया प्राद्यः' इति वाक्ये तस्या एवानुभवजनकत्वकथनात् । नान्यत् साधनान्तरमिति ज्ञापनाय प्रियस्य प्रीतिविषयस्यानन्दस्वरूपस्य प्रधानाङ्गत्वं शिरस्त्वमुच्यते । शिरसा हि पुमानभिज्ञायते, सोऽयमिति । तथा निरुपधिप्रीत्या भगवानिति शिरःशब्दे तत्सिद्धिनिबन्धना गौणी । एवमग्रे, तदेत्यादिना वक्ष्यमाणयोर्भावयोर्दक्षिणोत्तरपक्षत्वेऽपि तथा । ताम्याष्टुड्वीयाऽभीष्टदेशं प्राप्नोति । एवं दर्शनस्पशजनिताभ्यां भावाभ्यां शीघ्रं

रश्मिः ।

तत्रेत्यादि विविधभावोत्पत्तिरित्यन्तम् । प्रियेक्षणादिभिरिति आदिशब्देन पुलकचाप्यादयः । स्पर्शादिभिरिति । आदिनालिङ्गनादयः । एवंविधानन्दे पक्षशब्दप्रयोगपारोक्ष्यतात्पर्यमाहुः नानाविधेति । तयोर्दक्षिणोत्तरपक्षयोर्नानाविधा नीलरक्तपीतहरितादिभेदानेकविधाः पक्षास्तेषां समूहात्मकत्वात् । प्रकृते चेक्षणादिभिर्मोदप्रमोदादयः । तथात्वं नानाविधत्वमित्यर्थः । ननु स्यायिभाव एव पूर्णः सन्नसत्वमापद्यते इति सिद्धान्तात्प्रतिकरस आनन्दस्य स्यायित्वं न संभवति किं तु प्रेम्णस्तथा च विभावस्यायिभावयोर्वैपरीत्यं युक्तमित्याकाङ्क्षायामथवा तस्य प्रियमेव शिरः इत्यत्र स्यायिनि वक्तव्ये आलम्बनवैशिष्ट्यस्य किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायां स्यायिन आनन्दवैशिष्ट्येऽस्ति प्रयोजनमित्याशयेनाहुर्द्यत इत्यादि । एतच्च मात्रवर्णिकसूत्रभाष्ये स्फुटिष्यति । तेन शंकराचार्यैर्यदुक्तं यद्यपि अन्नमयादिभ्य इवानन्दमयादन्यो अन्तर आत्मेति श्रूयते तथापि नानन्दमयस्य ब्रह्मत्वं यत आनन्दमयं प्रकृत्य श्रूयते 'तस्य प्रियमेव शिरः मोदो दक्षिणः पक्षः प्रमोद उत्तरः पक्षः आनन्द आत्मा ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इति तत्र यद्ब्रह्म मन्त्रवर्णं प्रकृतं सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति तदिह ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेति पठ्यते । तद्विज्ञापयिष्येवात्रमयादय आनन्दमयान्ताः पञ्च कोशाः कल्पन्ते इति तन्निरस्तम् । मन्त्रवर्णेषु तस्य ब्रह्मणः साधनशेषत्वात् । प्रकृते । अत्र तस्य प्रिय एव शिर इति वक्तुमुचितं प्रियपदेन प्रीतिविषयानन्दस्याभिधानात् तस्य च पुंस्त्वात् । यथा न गन्धवत्सुवर्णमिति प्रयोगोऽपि तु गन्धवती सुवर्णं पृथ्वीविशेषणत्वात् तद्वदिति शङ्कां वारयितुमाहुः प्रियस्वरूपस्येति । तथा च स्वरूपस्य नपुंसकत्वान्नानुपपत्तिरित्याहुः तेनेति । प्रीतिविषयस्येति तेनात्र तस्य प्रियत्वमेव शिरः आनन्द एव शिर इत्यनुक्त्या प्रीत्याश्रयस्य यच्छिरस्त्वमुक्तं तेन सर्वोत्पभावरूपा प्रीतिः स्वाश्रयसंमिश्रितैव स्यायितां व्रजतीति सूचितम् । तत्सिद्धीत्यादि । अभिज्ञापकत्वगुणसिद्धिनिबन्धनेत्यर्थः । एतेन भक्तेः स्यायिभावः प्रदर्शितः । सालम्बनविभावः । इदानीमनुभावाङ्गिरूपयन्ति तदा प्रियेत्यारभ्य तथात्वमित्यन्तेन भाष्येणेत्याहुः एवमग्र इत्यादि । तथेति प्रापकत्वनिबन्धना गौणीत्यर्थः । उपपादयन्ति ताभ्यामित्यादि । यथेति शेषः । प्राप्नोतीति इति तथैत्यर्थः । यत्तु शंकरभाष्ये

परप्राप्तिसाधनीभूतब्रह्मज्ञानदशायां तदानन्दोऽपि यः पूर्वमनुभूतः स गणिता-
नन्द इत्येतदानन्दानुभवानन्तरं तुच्छत्वेन भातीष्टगतावसाधनत्वेन स्वरूपतोऽपि
तस्माद्दीनत्वं चेति पृष्टभागादपि दूरस्थितपुच्छरूपत्वं ब्रह्मण उच्यते । पुरुषोत्त-
माधिष्ठानत्वात् प्रतिष्ठारूपत्वं च । एवं सत्यक्षरादप्युत्तमत्वेऽप्यप्रधानीभूय

भाष्यप्रकाशः ।

भगवन्तं प्राप्नोतीति । स्यायिभावस्येत्यादिनाऽऽत्मशब्देऽपि तत्सिद्धिनिबन्धना सा । पर-
प्राप्तीत्यादिना च पुच्छशब्दे पूर्वेषामानन्दानां प्रशंसानिबन्धना सा बोध्यते । प्रतिष्ठा-
शब्देऽपि तथा । एवमवयवेषु परोक्षवादो बोध्यः । तथाच स्वर्णधर्मोत्पत्तौ आनन्द-
रूपं परप्रकाशकं कमनीयं परमेष्ठरस्य यत्स्वरूपं ब्रह्मा ज्ञातवान् । स सर्वान्तर्यामी सर्व-
नियामको बहुधा विचरति यत्र सर्वमेकं भवति स आत्मा जनानां मानसीनश्च मानसः
संबन्धी । मानसाश्चैते भावा आनन्दरूपा इति तज्जनकस्य यत् स्वरूपं भावरूपं कल्प-
रश्मिः ।

ब्रह्मणः प्रकृतत्वेन प्रधानत्वेऽङ्गीकृते आनन्दमयावयवत्वेनापि ब्रह्मणि विज्ञायमाने प्रकृतत्वं न हीयते
आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वात् इति प्राप्ते समाहितं तथासति तदेव ब्रह्म आनन्दमय आत्मावयवी, तदेव
ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठावयवः, इत्यसामञ्जस्यं स्यादन्यतरपरिग्रहे तु युक्तं ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेत्यत्रैव ब्रह्मनिर्देशः
आश्रयितुं ब्रह्मशब्दसंयोगान्नानन्दमयवाक्ये ब्रह्मशब्दसंयोगाभावादिति तदिदं दूषयितुमक्षरपुरुषोत्तम-
योगौघप्रधानभावं दर्शयन्तः आनन्दस्य मुख्यतामुपपादयन्ति स्यायिभावस्येत्यादि । आनन्दरूपस्ये-
त्यर्थः । 'आनन्द आत्मा' इति श्रुतेः । तत्सिद्धीति एकत्वनिबन्धना गौणीत्यर्थः । पूर्वेषामित्यादि
मानुषानन्दमारभ्य प्रजापतिपर्यन्तानां पूर्वेषामानन्दानां 'ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण
आनन्दः' इति आनन्दसंबन्धिनी ब्रह्मप्रशंसा तत्रिबन्धनेत्यर्थः । पुच्छमपि मयूरादेः सर्वाङ्ग आनन्दो-
ऽस्यैकपुच्छानन्द इति प्रशंसन्ति पुच्छे ब्रह्मानन्द इति किमु वक्तव्यं मोदादिरूपा आनन्दाः कीदृशा
आनन्दाः मनोवागविषया इति प्रशंसा च तदा पूर्वेषामवयवानन्दानामित्यर्थः । प्रतिष्ठाशब्द इति
पादयोस्तिष्ठतीत्यधिष्ठानत्वनिबन्धना सेत्यर्थः । तथा चानन्दमयवाक्ये ब्रह्मशब्दसंयोगाभावेऽपि
मुख्यस्यानन्दशब्दस्य संयोगाघट्टैः समाहितं तत्समाहितमिति भावः । यद्यपि शंकरभाष्ये मुख्यत्वेन
स्वीकृते ब्रह्मणि पुच्छत्वप्रतिष्ठालोक्तिसमर्थनाय पुच्छवत्पुच्छं प्रतिष्ठापरायणमेकनीडं लौकिकस्यानन्द-
जातस्य ब्रह्मानन्द इत्येतदनेन विवक्ष्यते नावयवत्वमित्युक्तं तदपि परास्तमनेन । स्वर्णधर्मेत्यादि
'सुवर्णं धर्मं परिवेदेवेन इन्द्रस्यात्मानं दशधा चरन्तम् । अन्तः समुद्रे मनसा चरन्तं ब्रह्मान्विन्दद्दश-
होतारमर्षे । अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां एकः सन् बहुधा विचारः शतं शुक्राणि यत्रैकं भवन्ति सर्वे
वेदा यत्रैकं भवन्ति सर्वे होतारो यत्रैकं भवन्ति स मानसीन आत्मा जनानाम्' इत्यनुवाक इत्यर्थः ।
आत्मपदार्थमाहुः आनन्दरूपमिति । चरन्तमित्यस्यार्थमाहुः पदमिति । धर्मपदार्थमाहुः
प्रकाशकमिति । सुवर्णपदार्थमाहुः कमनीयमिति । इन्द्रस्येत्यस्यार्थमाहुः परमेति ।
अन्वविन्ददित्यस्यार्थमाहुः ज्ञातवानिति । अन्तःप्रविष्ट इत्यस्यार्थमाहुः स सर्वेति । शास्ते-
त्यस्यार्थमाहुः सर्वेत्यादि । बहुधा विचार इत्यस्यार्थमाहुः बहुधा विचरतीति । शतमित्यादेरर्थ-
माहुः यत्र सर्वमित्यादि । आनन्दरूपा इति मनसा देवदत्त आनन्दं यातीति प्रयोगात् 'मन
आनन्दम्' इति श्रुतेः । भावरूपमिति एतच्च प्रथमस्कन्धे नारदोपाख्याने व्याससमाधिप्रसक्तैः

३०२

श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम् । [अ० १ पा० १ अ० ५ सू० ११]

भक्तकामपूरणकर्तृत्वेऽसंभावना विपरीतभावना च संभवति । तदभावाया-
सन्नेव स भवतीत्याद्युक्तम् । स्वानुभवाभावेऽपि गुरुपदेशादिनापि तदस्तित्व-
मात्रमपि यो जानाति तं ब्रह्मविदः सन्तं सत्त्वधर्मविशिष्टं वर्तमानं च
विदुरित्यग्रेऽवदस्ति ब्रह्मेति चेदित्यादिना । ब्रह्मासत्त्वज्ञानेऽसन् भवतीत्युक्त्वा
तदस्तित्वज्ञाने सन् भवतीत्युक्त्वा, सन्तमेन विदुरिति तत्त्वेनान्यज्ञानं यदुक्तं,
तेनोक्तपुरुषोत्तमानन्दानुभवन्तं ज्ञानक्रियाविशिष्टं जीवं वर्तमानं विदुः ।
अननुभवे केवलं गुरुपदेशादिना तादृग्ब्रह्मास्तित्वज्ञाने स्वरूपतः सन्तं तं विदुर्न
तु ज्ञानादिमन्तम् । तदसत्त्वज्ञाने त्वलीकतुल्यमिति श्रुतित्वात्पर्यमिति ज्ञायते ।
एवं विचारघातुर्यबन्धिः सद्भिर्ब्रजाधिपे ।
आनन्दमयतानन्दसंयौहायावधार्यते ॥ ११ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

नया परोक्षवादार्थमुच्यते इति बोध्यः । एतमर्थं दृढीकर्तुम्, 'असन्नेव स भवति' इति श्लोकं
व्याकुर्वन्ति एवं सतीत्यादि ज्ञायत इत्यन्तम् । शेषाणां श्रुतीनामर्थस्तु पूर्वोक्तपक्षे-
ष्वपि तुल्य इत्यतोऽग्रे न व्याख्यातम् । एवं परोक्षवादव्याख्यानस्य फलं कारिक-
याऽऽहुः एवं विचारेत्यादि । एवमस्मिन् वर्णके आनन्दस्य द्वेषकोटिनिवेशे तदनिवेशे
चानन्दमयस्य परब्रह्मत्वं निर्वाणमिति प्रभुचरणैर्व्यवस्थापितम् ॥ ११ ॥

रश्मिः ।

'गोप्यश्च कृष्णमुपलभ्य' इत्यत्रान्यत्र स्फुटतरं भूमाधिकरणे च । व्याकुर्वन्तीति अपि चेत्त्यादिना
शंकरभाष्ये असन्नेवेति श्लोक आनन्दमयमनुकृत्य ब्रह्मण एव भावाभाववेदनयोरुण्णदोषाभिधानाद्
ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेत्यत्र ब्रह्मण एव स्वप्रधानत्वमिति गम्यते । न ह्यानन्दमयस्यात्मनो भावाभावशङ्का युक्ता
प्रियमोदादिविशेषस्थानन्दमयस्य सर्वलोकप्रसिद्धत्वादिति यदुक्तं तद् दूषयितुमानन्दमयेऽसंभावना-
विपरीतभावेन संभावयन्त एव व्याकुर्वन्तीत्यर्थः एवं सतीति । एवंविधाक्षरपुरुषोत्तमपरे व्याख्याने
सतीत्यर्थः । भाष्ये । सन्तमेनमित्यत्रैतच्छब्दस्यान्वादेश एनादेशात्तदर्थमाहुः ब्रह्मासत्त्वचेत्यादिना ।
सन्तमेनमित्यादि अन्वादेशबोधकैनादेशयुक्तसन्निहिततरपूर्ववाचकैतच्छब्दार्थविषयत्वेनान्यज्ञानं
यदुक्तमित्यर्थः । अन्वादेशं वक्तुमाहुः तेनेत्यादि । एतच्छब्दार्थमाहुः पुरुषोत्तमेत्यादि । तथा चैतस्य
सन्निहितत्वादेतदेनमित्यस्यार्थ इत्यर्थः । ज्ञानक्रियेत्यादि । अयमर्थः । जीवस्य स्वतो नित्यत्वेन
सत्त्वकथनमनुपपन्नं सन्नित्यलीलाप्रविष्टस्वरूपं सत्त्वं वक्षतीति । एवं कार्यार्थमुपादानमुक्त्वान्यत्कार्य-
विधानमाहुः अननुभवेति । तथा च पुरुषोत्तमानुभवार्थमुपात्तस्य तदभावे केवलसत्त्वविधानार्थ-
मुपादानेनान्वादेशादेनमिति प्रयोग इति भावः । असन्नेवेत्यत्र तत्पदादेकमेवार्थमाहुः तदसत्त्वेति ।
अलीकतुल्यमिति 'आभास एव च' इति सूत्रभाष्योक्तमेतत् । सद्भिर्ब्रजाधिपे इति प्रच्छन्नब्रह्मनिरासार्थम् ।
ब्रजाधिप इति तेन मजनीयत्वं सूचितम् । यतः

'यो भीजावापमारभ्य फलपाकावधि स्वयम् ।

पोषितस्त्वं ब्रजतरुं नाथो नापि जिह्वासति' ॥

इति अत एव चानन्याधिपतिरिति फलाध्याये वक्ष्यन्ति । अत्र आचार्याणां ग्रन्थ इति
सूचयन्ति प्रभुचरणैरिति ॥ ११ ॥

नन्वानन्दमयस्य न ब्रह्मता वक्तुं शक्या । मयतो लोके विकाराधिकार-
विहितत्वादित्याशङ्क्य स्वयमेव परिहरति ।

विकारशब्दाच्चेति चेन्न प्राचुर्यात् ॥ १२ ॥

अनेनैव पूर्वसूत्रार्थः सिद्धो भविष्यति । विकारवाची शब्दो मयद्प्रत्ययो
यस्मिंस्तद्विकारशब्दं तस्मात्तच्छब्दवाच्यं ब्रह्म न भवति । ब्रह्मणोऽविकारित्वा-
दिति चेत् । नात्र विकारे मयद्, किं तु प्राचुर्यात् । प्राचुर्यमिति प्राप्नोतीति
प्राचुर्यात् । तत्रापि पाणिनिः । 'तत्प्रकृतवचने मयद्' । प्राचुर्येण प्रस्तुतं वचनं

भाष्यप्रकाशः ।

अतः परमप्रब्रह्मवतारयन्ति नन्वित्यादि । मयद्ब्रह्मैतयोर्भाषायामित्यनेन लोके मयदो
विकाराधिकारे विहितत्वाद्द्वैदिकनिर्णयस्यापि वादिबोधनाय लोकन्यायेनैव कर्तव्यत्वादित्या-
शङ्क्य परिहरतीत्यर्थः । घ्नं पठित्वा व्याकुर्वते ।

विकारशब्दाच्चेति चेन्न प्राचुर्यात् ॥ १२ ॥ अनेनेत्यादि । विकारार्थनिराक-
रणेनैव पूर्वसूत्रगत आनन्दमयशब्दो यौगिक इति बोधनाभिरवधानान्दरूपः परमात्मेति-
सिद्धो भविष्यतीत्यर्थः । विकारशब्दमिति पदमिति शेषः । अनेन घ्नान्नेन माया
वादिबद् भ्रान्ताः प्रागपि ऋषयः सन्तीति, तथा प्राचुर्यादित्यनेन व्याकरणान्तरे प्राचुर्येऽपि
मयडस्तीत्यपि बोधितम् । तथापीदानीं पाणिनीयस्यैवात्माहृतत्वात् प्रसिद्धत्वाच्च प्राचुर्यायै
तत्संमतिमाहुः तथा चेत्यादि । ननु पाणिनीये घ्ने तत्प्रकृतवचने मयडुक्तो, न प्राचुर्ये
इति कथं तस्य संमतित्वेनोपन्यास इत्याकाङ्क्षायां व्याकुर्वन्ति प्राचुर्येणेत्यादि । घ्नं तु
काशिकायामेवं व्याख्यातम् । तदिति प्रथमा समर्थविभक्तिः । प्राचुर्येण प्रस्तुतं प्रकृतम् ।
तथाच, प्रथमान्तात् समर्थात् प्रकृतोपाधिकेयं वर्तमानात् स्वार्थे मयड् भवतीति । उदा-
हरणं तु प्रकृतमन्त्रमन्त्रमयमिति । अपरे तु प्रकृतमुच्यतेऽस्मिन्निति प्रकृतवचनम् । उदा-
हरणं तु प्रकृतमन्त्रमुच्यतेऽस्मिन्नित्यन्त्रमयो यज्ञ इति । उभयथा च घ्नप्रणयनाद् इय-
मपि प्रमाणमिति । अयमेवार्थः प्रसादेऽनूदितः । सिद्धान्तकौमुद्यां तु तथानुद्य प्राचुर्येण
प्रस्तुतं प्रकृतं तस्य वचनं प्रतिपादनमिति व्याख्यानेन घ्ने षष्ठीतत्पुरुषो बोधितः ।
मनोरमादिषु तद्विकारेषु तु यद्यपि प्रकृतशब्दः प्रस्तुतमात्रे रूढस्तथापि वचनग्रहणसाम-
र्थ्याद् यादृशस्य प्रकृतस्य लोके प्रत्यायनमभिप्रेतं तत्रायं मयद् स्यादिति विशेषो लभ्यत
रश्मिः ।

विकारशब्दाच्चेति चेन्न प्राचुर्यात् ॥ १२ ॥ सन्तीतीति बोधितमित्यनेनान्वयः ।

एवं प्रकारान्तरेण सूत्रव्याख्याने बीजं वक्तुमन्येषु व्याख्यानेषु अस्वरसं प्रदर्शयन्तोऽनुवदन्ति सूत्रं
तिवत्यादि । उभयथेत्यादि ल्युटो भावार्थत्वेधिकरणार्थत्वे च सूत्रप्रणयनं संभाव्येत्यर्थः ।
तथानुचेति भावेधिकरणे च ल्युटं तथोदाहरणं चानुषेत्त्यर्थः । अत्र तत्राप्रत्ययः पूर्वकाल
इत्यस्याविवक्षायां कौमुद्यां व्याख्यानोत्तरकाले तदननुवादात् मनोरमाशब्दरत्नौ योजयित्वाहुः
यद्यपीति । प्रत्यायनमभिप्रेतं तत्रेत्यादि मयदभिप्रेतम् । प्रकृतमुच्यतेऽस्मिन्निति ल्युटधिकरण

तत्प्रकृतवचनं, तस्मिन् मयद्प्रत्ययो भवतीत्यर्थः ।

भाष्यप्रकाशः ।

इत्युक्त्वा स्वार्थिकप्रकरणवशात् प्रचुरार्थबोधविषयवृत्तिमतः प्रातिपदिकात् स्वार्थे मयद्विधाने प्रातिपदिकार्थोपस्थापिका प्रथमा विभक्तिः प्रकृतावर्थादेव सिद्ध्यतीति वचनपदस्य भावव्युत्पत्तौ तच्छब्दग्रहणं व्यर्थम् । अधिकरणव्युत्पत्तौ तु प्रथमाप्रापकत्वात् सार्थिकम् । उच्यमानता प्रकृतता च प्रकृत्यर्थविशेषणम् । ल्युटोक्तमधिकरणत्वं तु मयडर्थ इत्युक्तम् । शब्देन्दुशेखरे तु स्वार्थिकप्रकरणविरोधादधिकरणत्वं मयडर्थ इत्यसंगतम् । न चाश्रमयो यज्ञ इत्याद्युदाहरणासिद्धिः । प्राचुर्यवदधिकरणलक्षकाच्छब्दात् स्वार्थे मयदकरणेऽपि तत्सिद्धेः । वृत्तेरप्यत एव संगतेश्च । छत्रे तु तद्ग्रहणं चिन्त्यप्रयोजनमित्युक्तम् । तदेतत् सर्वं

रश्मिः ।

उक्तः । प्रचुरेति प्रचुरार्थविधविषया वृत्तिः तद्वत् वृत्तिः कृष्णा । प्रकृताविति सामीप्ये सप्तमी । अर्थात् स्वार्थिकप्रकरणवशादेव । तच्छब्देति प्रथमासमर्पकस्य ग्रहणम् । उच्यमानतेत्यादि । इदं च प्रथमपक्ष एव । उच्यते इति वचनं उच्यमानं भावप्रधानो निर्देशः उच्यमानता । अत्रेदं ध्येयम् । प्रकृत इति लुप्तसप्तम्यन्तं भिन्नं वचन इति च प्रकृत्यर्थः । कस्य वचनाधिकरणत्वमित्यपेक्षायां सन्निधानात् भवन्मयोवनिपतिः तन्निष्ठोच्यमानता न गौणनिष्ठोच्यमानता प्रकृत्यर्थस्यैव लाभात् तस्यैवोच्यमानतेति । अन्यथा वचनशब्दीयप्रकृतिप्रत्ययार्थयोः प्रकृत्यर्थस्य मयद्प्रकृत्यर्थविशेषणता ल्युडर्थस्य प्रकृतमन्त्रमन्त्रमयमन्त्रमयो यज्ञ इत्यादावन्नादिरूपः । द्वितीयपक्षे विधेयप्रत्ययविशेषणतैल्यसंगतं स्यात् । उच्यमानता प्रकृत्यर्थस्य प्रायिकी । अत एव भवतीप्रचुर इत्यर्थे भवन्मय इति दृश्यते । ल्युटोक्तमिति ल्युडुक्तं वचनाधिकरणत्वं त्वित्यर्थः । मयडर्थ इति न चैवं स्वार्थिकप्रकरणविरोधः । आद्ये तत्प्रकरणपाठस्य चरितार्थत्वादिति शब्दरत्नकारः । शब्देन्दुशेखरे त्विति एतदग्रे एतावती वृत्तिरिति भाति । वचनपदस्य भावार्थिकल्युडन्तत्वपक्षे प्रचुरस्य वचने बोधने सति प्रातिपदिकात्प्रत्यय इत्यर्थः । प्रचुरार्थबोधकात्तदिति प्रथमासमर्थात् स्वार्थे मयडिति यावत् । अधिकरणार्थिकल्युडन्तत्वपक्षे तु प्राचुर्येण प्रस्तुतान्तादिति वचनात् प्रथमासमर्थादधिकरणेयं घोले मयद्प्रत्यय इत्यर्थः । प्रकृतेति लुप्तसप्तम्यन्तं तत्र वर्तमानादिति तस्यार्थः । अस्मिन् पक्षे वचन इत्यत्र प्रकृत्यर्थोऽविवक्षितः । तेन 'निजामयोध्यामपि पावनीमयं भवन्मयो ध्यायति नावनीपतिः' इति प्रकृत्यर्थधिकरणमात्रे मयडुपपन्नतरः । तत्रेणार्थद्वये सूत्रतात्वर्थं व्याख्यानात् । स्वार्थिकप्रकरणपाठस्तु आद्यपक्षे चरितार्थ इत्युक्त्वा वस्तुतस्त्वथ स्वार्थिका इत्यस्य प्रायेणेत्यादिबोधः । 'जालन्ताच्छब्दुनि' 'देवतान्तात्तादर्थ्यं यत्' इत्यादौ वाचकताया एव प्रतीतेः । बन्धुनीत्यस्य शोभनजातिव्यञ्जकद्रव्य इत्यर्थः । तत्पदग्रहणं वाक्यभेदेन प्राचुर्याभावेत्यन्तस्वार्थिकमयडर्थं तेन चिन्मयं ब्रह्मेत्यादि सिद्धमिति स्थितम् । ग्रन्थान्तरे त्विति । ननु कथं तर्हि विकारशब्दसूत्रे तन्मयद्वपत्तयेति वृत्तिरत आह वृत्तेरिति । अतएवेति प्राचुर्यवत् अन्नादादेरधिकरणयज्ञलक्षकाच्छब्दात् स्वार्थे मयडङ्गीकारादेवेत्यर्थः । अन्नमाधेयं यज्ञोधिकरणमित्याधाराधेयभावसंबन्धो लक्षणा अन्नादिशब्दा लक्षकाः । एवमनूद्य तत्रास्वरसप्रदर्शनपुरःसरं प्राचुर्येणेत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति तदेतदित्यादि ।

१. भवती इत्यस्माधिकरणे ।

प्राचुर्येण पूर्वापेक्षयाऽप्याधिक्येन, 'को खेषान्यात् कः प्राण्यात्' इति वाक्ये प्रकर्वेण स्तुतम् । अतो मयद् पूर्वापेक्षया प्राचुर्यमयते । एकदेशनिर्देशेन तदर्थलक्षणया प्राचुर्यः । प्राचुर्येण प्रस्तुतार्थवाचकत्वादित्यर्थ इति वा ।

भाष्यप्रकाशः ।

वृत्तिविचारादेवानुसंधाय तद्ग्रहणं वैयर्थ्यनिवृत्त्यर्थम् । तेन प्रकृतं तत्प्रकृतम्, उच्यते इति वचनमवश्यप्रतिपादनम् । प्राचुर्येण प्रस्तुतस्य वचनं तत्प्रकृतवचनम् । तत्र तथेति छत्रार्थः । तथाच तच्छब्दस्य विवक्षितप्रकारबोधनार्थत्वाद् वचनपदस्यावश्यकार्यत्वादेवं छत्रार्थोक्तौ संमतिस्त्वं निर्वाचमिति तथेत्यर्थः । स्योक्तं विभजन्ते प्राचुर्येणेत्यादि । पूर्वापेक्षयेति अन्नमयादिचतुष्टयापेक्षया । ननु प्राचुर्येण प्रस्तुतेऽर्थेऽनुशिष्टो मयद् कथं प्राचुर्यबोधक इत्यत आहुः एकदेशेत्यादि । यथा हि भीमसत्यादिपदानि, विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्वा लोपो वाच्य इति वार्तिकेनैकदेशभूतान्यपि विशिष्टार्थनामानि, तथात्र नामत्वाभावेन वक्तुमशक्यत्वाल्लक्षणया प्राचुर्येण प्रस्तुतं बोधयतीत्यर्थः । पूर्वस्मिन् पक्षे कल्पनाल्लेशात् प्रकारान्तरेण व्याख्यातम् । तथाच पञ्चम्यन्तमिदं पदम् । तेन न कल्पनाल्लेश इत्यर्थः । ननु, मयडैतयोर्भाषायामिति छत्रे विकल्पस्य भाषायां सिद्धेवेदे नित्यं विकारे मयद् । किं च, 'नित्यं वृद्धशरादिभ्यः' इत्यग्रिमसूत्रे भाषायामित्यस्यानुबुद्ध्या भाषायां नित्यो, वेदे वृद्धादिभ्यो वैकल्पिक इति सिद्ध्यति । एवं सत्यानन्दशब्दस्य वृद्धत्वात्

रश्मिः ।

वृत्तिविचारादेवेति वृत्तिविचारस्तु तत्प्रकृतवचने मयद् प्राचुर्येण प्रस्तुतं प्रकृतं तस्य वचनं भावेधिकरणे वा ल्युडिति वृत्त्यर्थमाहुः तेन प्रकृतमित्यारम्य तथेत्यन्तम् । सूत्रार्थ इति । अत्रेदं बोध्यम् । प्राचुर्यं तत्पदार्थः । प्रस्तुतः प्रकृतपदार्थः । प्रतिपादनं च वचनपदार्थः । प्रत्ययार्थविशेषणमिदं स्वार्थिकत्वस्य प्रायिकत्वात् । एवं च न तत्पदवैयर्थ्यं न वा प्रकृतपदस्य लक्षणया प्राचुर्येण प्रस्तुतस्य बोधकत्वं न वा प्रकृतपदे लुप्तविभक्तयन्तत्वकल्पनं न वा वचनपदप्रकृत्यर्थत्यागः । अन्नमयो यज्ञ इति तु प्रतिपादनमित्यत्राधिकरणल्युटमाश्रित्य चिदेव चिन्मयमिति च प्रकृतवचने मयडिति योगविभागेन सिद्ध्यतीति । विवक्षितेति प्राचुर्यरूपप्रकारबोधनार्थत्वादित्यर्थः । आषड्यकेति भावव्युत्पत्त्यावश्यकत्वं घोलेते, प्रतिपादनविषयत्वात् । प्राचुर्येणेत्यादीति । भाष्ये । तत्प्रकृतेति तेन प्रकृतं तत्प्रकृतं तस्य वचन इत्यर्थः । ननु स्वार्थिकाधिकारात् तदित्यस्य प्रथमान्तात्समर्थादित्यर्थो न तु तेन प्राचुर्येणेत्यर्थः इति चेन्न । तस्यार्थस्य 'समर्थानां प्रथमाद्वा' इत्यधिकारसूत्रमन्यत्वात् वचनशब्दो भावव्युत्पत्तः । लक्षणयेति पदस्वारस्यमाहुः यथेत्यादि । चार्तिकेनेति तद्विद्वेत्ते स्वार्थिकाधिकारत्वेनेत्यर्थः । लक्षणयेति अवयवावयवविभाषसंबन्धो लक्षणा । प्राचुर्येण प्रस्तुतमवयवि, प्रस्तुतमवयव इति तेन भाष्ये तदर्थलक्षणयेत्यस्य प्राचुर्येण प्रस्तुतेयं लक्षणयेत्यर्थः । तथा च प्राचुर्यान्मयडित्यत्र हेतुगर्म विशेषणमिति प्रथमान्तस्य हेतुत्वलाभः । प्राचुर्येणैति भाष्याभिप्रायमाहुः अस्मिन्नित्यादि । कल्पनेति हेतुत्वकल्पनाल्लेशात् । प्रतीतिविरोधोपि द्रष्टव्यः । इदं दूषणं 'तुष्यतु दुर्जनः' न्यायेनेति बोध्यम् । व्याख्यातमिति प्राचुर्येणेत्यादिना व्याख्यातमित्यर्थः । इदमिति प्राचुर्यादिति पदमित्यर्थः । आनन्दशब्दाद्विकाराय मयद् चतुर्भिः प्रकारैर्भेदोपमायां प्रसङ्ग साधितस्तत्र तृतीयं प्रकारमाशङ्कानुखेनाहुः किंचेत्यादि । वृद्धत्वादिति 'वृद्धिर्न्यसाचामादित्स्वडम्' इति सूत्रेण

छन्दसि ह्यङ्ग्यतिरिक्तस्थले मयटो विकारे विघ्नानाभावाद् व्याकरण-
मप्यर्थनिर्णायकम् । विज्ञानमयानन्दमयशब्दौ पश्यन्नपि पाणिनिः 'मयट् वैत-
योर्भाषायाम्', 'ह्यङ्ग्यच्छन्दसि' इति कथमबोचत् ।

भाष्यप्रकाशः ।

ततो वैकल्पिको, विज्ञानशब्दाच्च नित्यो विकारे मयडदण्डवारितः । अन्नादिपदेभ्यश्च
स्वारसिक एवेति प्रायपाठानुग्रहाद् विकारार्थ एव युक्त इति तं विधाय प्राचुर्ये तदङ्गी-
कारो न युक्त इत्यत आहुः छन्दसीत्यादि । ह्यङ्ग्यतिरिक्तस्थले इति बह्वक्षले ।
तथाच यदि द्वयकारः पाणिनिस्तथाभिप्रेयात् तदा छन्दसि बह्वङ्ग्यदासाय ह्यच एवेति न
नियमयेत् । अतो नित्यो वैकल्पिको वा मयट् छन्दसि बह्वचो विकारे न भवत्येवेति
पाणिनीयविचारेणापि प्राचुर्यार्थग्रहणं युक्तमेवेत्यर्थः ।

अत्र शङ्कराचार्याः । अक्षमयादिविज्ञानमयान्तं विकारप्रायपाठमनाहृत्यानन्दमयपदस्य
प्राचुर्यार्थत्वब्रह्मविषयत्वयोरङ्गीकारे प्रायपाठविरोध आकस्मिकत्वं च । भाष्यवर्णिकब्रह्मवि-
काराद् ब्रह्मविषयत्वादर्शनेऽक्षमयादीनामपि ब्रह्मत्वप्रसङ्गः । अक्षमयाद्यान्तरस्थान्यस्य कथ-
नात्तेषां न ब्रह्मत्वम् । आनन्दमयादन्तरस्थान्यस्याकथनात् तस्य ब्रह्मत्वमित्यङ्गीकारेऽप्ये-
कस्यैवानन्दमयस्य ब्रह्मण आत्मत्वेनावयवित्वं, तस्यैव पुच्छत्वेनावयवत्वमित्यसामञ्जसम् ।
किं च । प्रियमोदादिविशेषयुतस्थानन्दमयस्य सर्वलोकप्रसिद्धत्वेन भावाभावशङ्कास्पदत्वा-
भावात् 'असन्नेव स भवति' इति श्लोकस्यापि विरोधः । अपि चानन्दमयस्य ब्रह्मत्वेऽपि प्रियाद्य-
वयवयोगेन सविशेषब्रह्मत्वमङ्गीकर्तव्यम् । तथा सति वाङ्मनसाऽगोचरत्वबोधकस्य, 'यतो
वाचो निवर्तन्ते' इति वाक्यशेषस्य विरोधः । किं चानन्दप्रचुर इत्युक्ते तत्र दुःखा-
स्तित्वस्यापि प्रत्ययापत्तिः । लोके प्राचुर्यस्य प्रतियोग्यत्पतासापेक्षत्वात् । तथाच सति
यत्र नान्यत् पश्यति शृणोति विजानातीति सुखैकरसे भूमि ब्रह्मणि तद्ब्यतिरिक्तामा-
वबोधकश्रुत्यन्तरस्यापि विरोधः । किं च । प्रियादेः प्रतिशरीरं भिन्नत्वेनानन्दमयस्यापि
तथात्वात् तस्य न ब्रह्मत्वं शक्यवचनम् । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति श्रुतौ, 'एको
देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' इति श्रुत्यन्तरे च ब्रह्मण आनन्दै-
कत्वयोः श्रवणात् । किं च । आनन्दपदस्यैवाभ्यासो, न त्वानन्दमयपदस्येत्यतोऽपि न
ब्रह्मत्वम् । एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामतीत्यभ्यासस्त्वक्षमयादिप्रवाहपतितत्वाच्च ब्रह्मत्वसाधन-
समर्थः । अत आनन्दमयशब्दस्य ब्रह्मविषयताया अनिश्चितत्वेन तत उत्परेष्वानन्दमात्रप्रयोगेष्व-
रक्षिः ।

तथात्वादित्यर्थः । 'ह्यङ्ग्यच्छन्दसि' इति सूत्रादाहुः एवेति । एतेन विज्ञानमयानन्दमयशब्दादित्यादि
भाष्यमपि व्याख्यातप्रायम् । व्याकरणमित्यादि भाष्यं तु ननु पाणिनिनानुक्तेषु शंकरभगवत्पाद-
भाष्योक्त्या विकारे व्यचोपि मयट् भविष्यतीति चेत्तत्राहुः व्याकरणमिति व्याकरणमप्यर्थनिर्णायकं
न तु तदुक्तेरेवेत्यर्थः । तदुक्तिस्तु श्रीडान्तरे चरितार्थां नात्र निविशत इति च योज्यम् । यद्वा
श्रुत्या निर्णीतं व्याकरणं नापेक्षत इत्यत आहुः व्याकरणमिति अङ्गत्वादर्थनिर्णायकमित्यर्थः ।
सूत्रेण ज्ञाप्यते अन्यानि पञ्चाङ्गानि वेदे एवेति । प्रतियोगिनीति आनन्दप्रचुर इत्युक्ते प्रतियोगिनो
दुःखस्वात्पता तत्सापेक्षत्वात् । आनन्दो दुःखं च ह्यङ्गत्वात् संबन्धिः । तथा चेति अल्पप्रतियोगि-

भाष्यप्रकाश-रक्षि-परिच्छिद्यम् ।

अत्र केचित् सर्वविघ्नववादिनो विकारार्थत्वं वदन्ति । श्रुतिसूत्रादी-
नामर्थाज्ञानात् । तद् वेदाद्यर्थविद्भिर्भगवतो नवमावतारकार्यं ज्ञात्वोपेक्ष्यम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

नन्दमयाम्यासस्य कल्पयितुमशक्यत्वान्नानन्दमयो ब्रह्मेत्याहुः ।

तन्मत्स्याधिकरणसमाप्तौ दूषणीयत्वाद्त्रैतत्सूत्रे पूर्वपक्षतयोदितमानन्दमयपदस्य विकार-
ार्थत्वं यत् सिद्धान्तितं, तस्यासंगतत्वादाहुः अत्र केचिदित्यादि । अत्रानन्दमयशब्देऽ-
क्षमयादिषु पञ्चस्वर्षि वा केचिभिर्विशेषवादग्रहिला विवर्तवादाद्यङ्गीकारेण भगवन्माहात्म्या-
दिनाञ्जकत्वात् सर्वविघ्नववादिनो विषयवाक्याकरश्रुतेस्तद्विचारकाणां व्यासपुत्राणां व्याकरण-
सूत्राणां च तात्पर्याज्ञानाद् विकारार्थत्वं वदन्ति । तत उक्तश्रुत्याद्यर्थविद्भिर्भगवतो नव-
मावतारस्य बुद्धस्य कार्यं वेददूषणरूपं ज्ञात्वोपेक्ष्यम् । पाषोचरखण्डे उमामहेश्वरसंवादे तामस-
शास्त्रकथनं प्रतिज्ञाय कानिचिदसच्छास्त्राप्युक्त्वा,

'मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते ।
मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा ॥
अपार्थं श्रुतिवाक्यानां दर्शयैच्छोकगर्हितम् ।
कर्मस्वरूपत्याज्यत्वमत्रैव प्रतिपाद्यते ॥
सर्वकर्मपरिभ्रष्टं वैकर्मत्वं तदुच्यते ।
परेशजीवयोरैक्यं मयात्र प्रतिपाद्यते ॥
ब्रह्मणश्च परं रूपं निर्गुणं वक्ष्यते मया ।
सर्वस्य जगतोऽप्यत्र मोहनार्थं कलौ युगे ॥
वेदार्थवन्महाशास्त्रं मायावादमवैदिकम् ।
मयैव वक्ष्यते देवि जगतां नाशकारणात्' ॥ इति ।

शिववाक्याद् वेदाद्यर्थविद्भिर्नार्दरणीयमित्यर्थः । नच प्रायपाठविरोधः । विकार-
ार्थस्य प्राणमयपद एवाभावात् । प्राणादीनां त्रयाणां श्रुतित्वेनाकाशपृथिव्योश्च भूतान्तर-
त्वेन तदवयवकल्पनाग्रन्थतस्तत्र मयटः स्वार्थिकत्वस्यैव मङ्गमास्करोत्तरीत्या निश्चयात् ।
रक्षिः ।

स्वीकार इत्यर्थः । भगवदिति आदिशब्देनैक्यज्ञानं नहि खण्ड्यशब्दार्थो नापि विवर्ते
ऐक्यमुत्पाद्यं प्रतियोग्यभावात् । अतो भक्तिकारणनाशकत्वात्सर्वेषां भक्तियुक्तत्वेन तदभावे नाशः ।
भगवन्भावश्रुतिः साधनाभावाच्च श्रुतिमात्रं किं तु विघ्नः संसारसागरे मज्जनम् ।

'नैकर्म्यमप्यन्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमठं निरञ्जनम् ।

कुतः पुनः शब्दभद्रमीश्वरे न चापितं कर्म यदप्यकारणम्' ॥

इतिवाक्यात् । अन्युतभावेपि निर्गुणा भक्तिरेव । सगुणा तु निश्चये तृतीयस्कन्धकपिलवाक्ये-
ष्विति । अतः सर्वेभ्यो विगतः इवो भक्तिर्यस्माद्वादात्ताद्यशब्दादौ येषां ते सर्वे विघ्नववादिनः ।
तात्पर्येति अत्रैव स्पष्टमिदं प्रमेयम् । कुतोऽभाव इत्यतोऽसंभवादित्याहुः प्राणादीनामिति
तस्य 'प्राण एव शिरः व्यानो दक्षिणः पक्षः अपान उत्तरः पक्षः' इत्येषां त्रयाणां वायुवृत्ति-
विशेषत्वेनेत्यर्थः । आकाशेत्यादि 'आकाश आत्मा पृथ्वी पुच्छं प्रतिष्ठा' इति श्रुत्युक्तयोरित्यर्थः ।
स्वार्थिक इत्यस्यैवेति स्वार्थः प्रातिपदिकार्थः स इमे प्राणादयः पञ्चैवकारः । निश्चयादिति

भाष्यप्रकाशः ।

न च घटाकाशस्य घटविकारत्ववत् प्राणाद्युपाध्यवच्छिन्नस्य प्राणविकारत्वं मामत्युक्तरीत्या सिद्ध्यतीति प्रायपाठसिद्धिरिति वाच्यम् । एतस्या रीतेर्मज्जत्फेनालम्बनकल्पत्वात् । अवच्छिन्ने तद्विकारत्वस्याप्रत्ययात् । शास्त्रेषु कापि तथाप्रयोगादर्शनाच्च । तुष्यतु दुर्जनन्यायेन तदङ्गीकारेऽपि तस्य सत्यामुभयत्र प्राप्तावेकतरनिर्णायकत्वं, न तु तत्प्रापकत्वमिति व्यञ्जयतीति व्याकरणध्वनेण, न बह्वच इति नियमिते विज्ञानानन्दशब्दाभ्यां वैकारिकमयद्राप्तेरेवाभावेनाऽकिञ्चित्करत्वाच्च । न च मनोरमादिषु, 'मयद्र् वा' इति ध्वनेण, हेतुमुपेभ्य इत्यनुवर्तमाने हेतुवाचकानन्दशब्दादागतार्थे मयद्रं साधयित्वा विकारस्वार्थिकत्वमुक्तमित्यस्त्येव प्राप्तिरिति वाच्यम् । पञ्चस्वप्यन्नमयादिषु स्वार्थे - मयद्राप्तौ बाधकाभावेन इथा तदतिहायैवं क्लृष्टकल्पनस्यायुक्तत्वात् । हेतुत्वस्य निमित्तोपादानसाधारणत्वेन विकारस्वार्थिकताया निर्णेतुमशक्यत्वाच्च । नचानन्दप्राचुर्यस्योक्तरीत्या दुःखशाब्दल्यस्फोरकत्वेनानन्दमये ब्रह्मत्वसिद्धभावादागतार्थमादाय विकारादरणेऽपि को दोष इति वाच्यम् । लोकेऽपि प्रचुरप्रकाशः सविता, प्रभूतसन्तापो निदाघादिवसोऽन्धकारमयी वर्षाविभावरि, बहुधनो वैश्रवण इत्यादिवाक्यश्रवणे प्रतियोगिनां तमःशैत्यप्रकाशदारिद्र्याणां प्रत्यक्षतो वाधेन तत्र तदल्पत्वशङ्काया अनुदयात् । वेदे तु सर्वभूतोपजीव्यांशानन्दप्राचुर्यबोधके दूरापेतैव प्रतियोग्यल्पत्वशङ्का । यदि हि तत्र वेदो दुःखसंभेदमभिप्रेयादवयवकल्पनायां तदपि क्वचिन्निवेशयेत् । सजातीयैरेवाथैरवयवकल्पनाया अनुपक्रान्तत्वात् । आकाश आत्मा पृथिवी पुच्छं महः पुच्छमित्यादिना तथा निश्चयात् । यच्च शारीर आत्मेति शरीरसंबन्धबोधनं दुःखसंभेदसमर्थकमित्युक्तं, तदप्यन्तर्यामिब्राह्मणाननुसंधानहेतुकम् । अत एव सत्यपि यत् तदविचारणानन्दमये दुःखास्तित्वकथनं, तद् ग्रन्थकृतो महादुःखसंस्कारस्य प्राबल्यमेव गमयतीति दिक् ।

भास्कराचार्यास्तु स्वल्पैक्ये प्राचुर्यवचनं प्रचुरप्रकाशो रविरिति वक्षेत्राल्पत्वमपेक्षत इत्याहुः । रामानुजाचार्यास्तु, तत्प्रचुरत्वमितरसत्तां नावगमयति । अपि तु तस्याल्पत्वं निव-

रहिमः ।

तथा च प्राणाकाशपृथिवीप्रचुरे प्राणमये प्राणविकारत्वासंभवाच्च 'द्व्यचश्छन्दसि' इति विकारे मयडित्यर्थः । मज्जदित्यादि मज्जतो यत्फेनावलम्बनं तत्तुल्यत्वादित्यर्थः । तथाप्रयोगेति घटाकाशो घटविकार इति प्रयोगाभावादित्यर्थः । तस्येति प्रायपाठस्येत्यर्थः । तत्प्रापकत्वमिति विकारे मयद्र-प्रापकत्वमित्यर्थः । मनोरमोक्तं चतुर्थं प्रकारमाशङ्क्य पराकुर्वन्ति न च मनोरमेत्यादि । आर्थिकत्वमिति यो यतो निर्गतः स तस्य विकार इति लोक प्रसिद्धेः । अशक्यत्वादिति उपादानसंबन्धविकारदर्शनादिति भावः । मनोरमायां प्राचुर्ये मयद्रापि प्रकृत्यर्थविरोधिना लेशतोनुवृत्तिलाभात् प्रकृते विकारार्थः पर्यवस्यतीत्युक्तम् । तत्र तत्पर्यवसानं कथमिति चिन्त्यमिति शब्दरत्नकारः । तत्र चिन्तितप्रकारमुखेन हेतुग्रन्थेन शब्दरत्नमुक्त्वापन्तो द्वितीयप्रकारमाशङ्क्य निषेधन्ति न चानन्देत्यादि । एवं शब्दरत्नमाशङ्क्य मनोरमोक्तमाशङ्क्य तत्रिपिद्वयं तत्र हेतुमाहुः लोकेऽपीति । तदपीति दुःखमपीत्यर्थः । आकाशेत्यादि आकाशपृथिव्योः प्राणमयावयवयोर्विजातीयत्वं विज्ञानमयावयवस्य महसो विजातीयत्वमिति तथेत्यर्थः । आदिना योग आत्मेति ज्ञानमयावयवस्य योगस्य विजातीयत्वम् । अन्तर्यामीत्यादि । तत्र सर्वेषां ब्रह्मशरीरत्वकथनादिति भावः । इतराल्पमिति दुःखस्य लेशमित्यर्थः । इतरसत्तामिति दुःखसत्तामित्यर्थः । तस्येति आनन्दस्येत्यर्थः ।

योऽर्थस्तमबोचाम ॥ १२ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

तपति । इतरसद्भावात्तद्भावो तु प्रमाणान्तरावसेयौ । इह त्वपहतपाप्मेत्यादिना प्रमाणान्तरेण तदभाव एवावसीयते । तथा आनन्दमीमांसायां ब्रह्मणि निरतिशयदशाशिरस्कानन्दबोधिकया श्रुत्या पूर्वोक्तजीवानन्दापेक्षया प्राचुर्यबोधनेन सापेक्षत्वमप्येवं पूर्यत इति दुःखसद्भावावगमकथनमसदित्याहुः । तदपि युक्तमेव । उपपन्नत्वात् ।

यत्तु, 'श्रीप्राणमयोश्छन्दसि' इत्यत्र श्रियश्छन्दसीत्यंशो भाष्यकृता छन्दसि विभाषाया व्यपस्थितत्वश्रुतेः प्रत्याख्यातस्तद्वीत्या प्रकृतेऽपि भाषाग्रहणं, 'द्व्यचश्छन्दसि,' 'नोत्वद्वर्धवित्वात्' इति सूत्रद्वयं च त्याज्यम् । तथाचानन्दमय इत्यादावपि विकारे मयद्र सुकर एवेति शंकराचार्योक्तं सम्मन्वेति मनोरमायां समर्थितम् । तत्तु विकारत्वप्रकारकबोधविषयायां बह्वचः परस्य मयद्रप्रत्ययस्यासाधुत्वज्ञापनाय, 'द्व्यचश्छन्दसि' इत्यादेरावश्यकत्वेन दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यादिति दूषणं प्रदर्श्य रामकृष्णशास्त्रिभिरैव सिद्धान्तरत्नाकरे दूषितमिति न कथमपि विकारे मयद्रसिद्धिः । यदपि प्राचीनवृत्तिकारैर्विज्ञानमयस्यले विकारार्थकत्वं यदाश्रितं तत्रैव गतिरिति मनोरमायायुक्तम् । तदपि कल्पितमिवाभाति । रामानुजाचार्यैर्वृत्तिकारानुसरणस्य कृतत्वेन तैरनन्दितत्वात् । अथास्ति तत्र तर्हि तत्रैव दोषो नान्यत्रेति, न किञ्चिदेतत् । किं च पूर्वध्वने, अभ्यासादित्युक्त्वाऽस्मिन् ध्वने प्राचुर्यादिति यदुक्तं तेनान्नमयादिषु पञ्चस्वपि प्राचुर्यमेव बाधकाभावात् सिद्ध्यतीति प्रायपाठोऽप्येतस्यैवानुग्राहको, न तु विकारार्थस्येति बोधनायाहुः योऽर्थस्तमबोचामेति । यः सर्वत्रानुस्यूतः पञ्चानामर्थस्तं व्याकरणसूत्रोपन्यासेनावोचामेत्यर्थः ॥ १२ ॥

रहिमः ।

अपाप्मेति पापमपि दुःखं पापजनकत्वादिति भावः । तदभावं इति दुःखाभावः । प्रथमं प्रकारमाहुः यत्स्वित्यादि । श्रीति आनन्दो नुडिति वृत्तिः । श्रीणामुदारो धरुणो रयीणां सूतप्रामणीनामित्युदाहरणम् । त्याज्यमिति सति हि भाषाग्रहणे शरमयं बहिरित्यादिसिद्धर्थं द्व्यचश्छन्दसीति वक्तव्यम् । मौखं शिष्यम् । वार्धं चर्म बैल्वो यूप इत्यादौ द्व्यच इति प्राप्तं प्रतिषेद्धं नोत्वदिति सूत्रभारव्यं भाषाग्रहणे त्यक्ते तु सूत्रद्वयं व्यर्थमिति त्याज्यमित्यर्थः । उत्त्वान् उकारवान् तथाप्रोकारवद् वध्रमित्येभ्यो विकारे मयद्र् न भवतीति सूत्रार्थः । तत्रैवेति वृत्तावेत्यर्थः । अभ्यासादिति भाष्य एवमभ्यासः श्रूयते इत्यनेन ग्रन्थेनान्नमयादिव्यावृत्तोपन्यास इत्युक्त्यान्नमयादिव्यावृत्तो हेतुरेवमत्रापि तद्व्यावृत्तो हेतुरित्यर्थो भाति क्त्वाप्रत्ययात् तथापि यदुक्तमित्यस्यान्नमयादिव्यावृत्तकभाष्याभावात् तेनान्नमेत्यादिः । बाधकेति पूर्वसूत्रे एवमितिवत् । अत्र सूत्रे अन्नमयादिपरत्वे सूत्रस्य बाधकभाष्याभावात् । एतस्येति प्राचुर्याथस्यैवेत्यर्थः ॥ १२ ॥

शब्दबलविचारेण मयतो विकारार्थत्वं निवारितम् । अर्थबलविचारेणापि निराकरोति ।

तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥ १३ ॥

हेतुत्वेन व्यपदेशो हेतुव्यपदेशः । तस्य हेतुव्यपदेशस्तद्धेतुव्यपदेशस्त-
स्यात् । 'एष ह्येवानन्दयाति' इति । आनन्दयतीत्यर्थः । सर्वस्यापि विकारभूत-
स्यानन्दस्यायमेवानन्दमया कारणम् । यथा विकृतस्य जगतः कारणं ब्रह्म
अविकृतं सच्चिद्रूपमेवमेवानन्दमयोऽपि कारणत्वादविकृतोऽन्यथा तद्वाक्यं
व्यर्थमेव स्यात् । तस्मान्नानन्दमयो विकारार्थः । अकारः समुच्चयं वदन् सूत्रद्वयेनै-
कोर्थो मध्ये प्रतिपादित इत्याह ॥ १३ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

उक्तद्वयेण विकारार्थे निरस्तेऽग्रिमद्वयस्य किं प्रयोजनमित्यत आहुः शब्देत्यादि ।
'तामिन्द्रो मध्यतोऽपरोच्य व्याकरोत्' इति श्रुतेः 'मुखं व्याकरणं स्मृतम्' इति परिशिष्टाच्च व्याक-
रणरूपः शब्दोऽर्थनिर्णायक इति तद्वलविचारेण तथाकृतम् । तदपेक्षया अर्थस्तु बलिष्ठः ।
प्रतिपाद्यत्वेन शेषित्वात् । उक्तरीत्या निराकरणे स चेद् विरुद्धेत तदा प्रयासो व्यर्थः
स्यादतस्तद्धारणाय सूत्रान्तरमित्यर्थः ।

तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥ १३ ॥ उक्तरीतिकं विकारार्थनिराकरणं व्युत्पादयन्ति सर्वस्ये-
त्यादि । व्यर्थमेव स्यादिति 'रसः ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' इति पूर्ववाक्ये पूर्वप्रकृतस्या-
नन्दमयस्यैव रसत्वेन सिद्धत्वात् तल्लभेनानन्दवत्ताश्रावणेनैव रसरूपस्यानन्दमयस्यानन्दकारणताया
अर्थतः सिद्धौ पुनस्तत्कथनमप्रयोजनकं सत् तथास्यादतः कारणत्वेनाविकृतत्वबोधनायैवेदं वाक्यम् ।
तेनाविकारत्वमेव सिद्धयतीत्यर्थविचारेणापि न तथेत्यर्थः ॥ १३ ॥

रश्मिः ।

तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥ १३ ॥ भाष्ये । हेतुत्वेनेति भावप्रधानो हेतुरुक्तः । सहकारि-
कारणतारूपहेतुवारणाय । तस्यैति प्रचुरानन्दस्य जीवादिनिष्ठस्य । आनन्दयातीति लज्जन्तं पदम् ।
प्रकृते तामिति तां वाचम् । मध्यतो मुखमध्यतः । अपरोच्य त्यन्तं पदम् । वैखरीकृत्येत्यर्थः ।
व्याकरोदिति तामेव व्याकरणमकरोदित्यर्थः । परिशिष्टं वेदोपाङ्गम् । तल्लभेनेति । आनन्दमय-
लभेनानन्दीभवतीत्यानन्दवत्ताश्रावणेनेत्यर्थः । तत्कथनमिति 'एष ह्येवानन्दयाति' इत्यनेन
तथेत्यर्थः । अविकृतत्वेति व्यर्थं सत्किञ्चिज्ज्ञापयतीति वैयाकरणानां प्रसिद्धेः । फलमन्यत्र यतो
वा इमानि इति श्रुतौ यच्छब्दार्थकारणाविकृतत्वम् । भाष्ये । एकोर्थे इति विकारार्थनिरासरूप
इत्यर्थः ॥ १३ ॥

ननु किमिति निर्बन्धेन सूत्रत्रयेणैवं वर्णयते । अक्षमयादिबहुपासनापरत्वे-
नापि श्रुत्युपपत्तेः । पक्षपुच्छादित्वेन मोदप्रमोदादीनामुक्तत्वाच्च । तस्माद्
ब्रह्मत्वेन साधितमप्यावश्यकोपपत्त्यभावाच्च ब्रह्मपरत्वमिति प्राप्तेऽभिधीयते ।

मात्रवर्णिकमेव च गम्यते ॥ १४ ॥

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् । सोऽमुने
सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' इति मन्त्रः । मन्त्रेणाभिधया कृत्वा
प्रतिपाद्यं मात्रवर्णिकम् । तदुपपादनग्रन्थे तदेव मुख्यतया ज्ञायते । यत्र यदुद्दिष्टं
तद्वेष मुख्यतया ज्ञातव्यम् । उपपादनीयं च संदिग्धम् । तत्र, ब्रह्मणा विपश्चि-
तेति संदिग्धं सर्वज्ञं ब्रह्म ।

भाष्यप्रकाशः ।

मात्रवर्णिकमेव च गम्यते ॥ १४ ॥ मात्रवर्णिकद्वयमवतारयन्ति नन्वित्यादि ।
एवमिति परमात्मपरत्वेन । नचोपास्तेरश्रवणादप्रामाणिकं कथं कल्पनीयमिति शङ्कम् ।
तदभावेऽपि विद्युद् ब्रह्मेत्यादिषु विद्युदाद्युपासनासु प्रकरणबलेन तत्स्वीकारात् । प्रकृते तु
पक्षपुच्छादित्वेन मोदप्रमोदादीनां कल्पनयोक्तत्वाच्च लिङ्गस्यापि सद्भावात् । तस्मादुक्तहेतुद्व-
याद् ब्रह्मत्वेन साधितमप्यानन्दमयपदमावश्यकोपपत्त्यभावाच्च ब्रह्मपरत्वमिति प्राप्ते इत्यर्थः ।
ब्रह्मपरत्वमिति पाठे त्वर्हतीति शेषछूटितो बोध्यः । को मन्त्रः, किं मात्रवर्णिकमित्या-
काङ्क्षायामाहुः सत्यमित्यादि । तथाच यं कंचिदर्थमभिसंधाय शक्यसंबन्धानां नानात्वात्
तेषु यं कंचिदादाय लक्षणया यत्किञ्चिदुच्यते, तन्न मात्रवर्णिकम् । किंतु मन्त्रेणाभिधया
पदशक्त्या मुख्यवृत्त्या यत् प्रतिपाद्यं तत् तथेत्यर्थः । एतस्य मात्रवर्णिकस्य कथमुपपत्ति-
त्वमित्यत आहुः तदित्यादि । तदुपपादनग्रन्थ इति सर्वस्मिन् प्रपाठके । तथा च
तस्य मुख्यत्वादावश्यकोपपत्तित्वमित्यर्थः । मुख्यत्वमेवास्य कथमित्यत आहुः यत्रेत्यादि ।
ननु तदेषाऽभ्युक्तेति प्रतिज्ञानान्मन्त्रस्य ब्राह्मणव्याख्यानत्वं स्फुटम् । शिष्टस्य प्रपाठकस्य मन्त्र-
व्याख्यानत्वे किं गमकमित्यत आहुः उपपादनीयमित्यादि । संदिग्धमिति विभक्तिमेदात्
पदमेदाच्च संदिग्धम् । तथाच संदिग्धोपपादकत्वमेव व्याख्यानत्वगमकमित्यर्थः । ननु

रश्मिः ।

मात्रवर्णिकमेव च गम्यते ॥ १४ ॥ प्रकरणेति । ननु प्रकरणं कुत इति चेन्न ब्रह्मवि-
दित्यत्र विदित्युपासनास्वीकारात् । अक्षरविषयत्वेन तथावसायात् । विभूतिविषयकं ज्ञानमुपासनेति ।
प्रीतिविषयः शिर इत्यानन्दमयो भक्तिविषयः । तत्स्वीकारादिति प्रामाणिकत्वस्वीकारात् । पूर्वपक्ष-
त्वात्तुष्णीकमुपासापरत्वं वा । पक्षेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म प्रकृते इति । लिङ्गस्येति उपास्ति-
ङ्गस्य । तस्मादिति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म तस्मादिति । बोध्य इति अबोध्य इति न हेतुः किं तु
साधितमित्यस्य विशेष्यं ब्रह्मपरत्वं बोध्यमिति भावः । तथा चेति मात्रवर्णिकमित्यत्र शैविकठगङ्गी-
कोणेत्यर्थः । यं कंचिदिति यथा काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्यत्र यं कंचित्काकरूपं यं कंचिद् दध्युप-
घातकत्वरूपं संबन्धमादाय यत्किञ्चित्काकपदेन दध्युपघातक उच्यते । यत्रेत्यादीति ब्रह्मविदामिति
परमिति यदुद्दिष्टं भाष्ये । प्रकृते परपदं च । व्याख्याने तु तृतीयाविभक्तिः ब्रह्मपदं चेति तयोर्भेदः । वि-
५० अ० सू० २०

तस्य हि फलत्वं वाक्ये नोपपाद्यते । फलं तु सर्वैः स्तुत आनन्दः । अभ्यासात् स्तुतत्वमित्यबोचाम । शिरःपाण्यादिकं तु स्तुत्यर्थमेव पुरुषविधत्वाय । लोके ह्यन्तर्भूतं बहिर्वेष्टितं च तदाकारं भवति ।

भाष्यप्रकाशः ।

सर्वज्ञे ब्रह्मणि कस्मिंश्चे कुतश्च संदेह इत्यत आहुः तस्य हीत्यादि । वाक्य इति मन्त्रे । तथाच ब्राह्मणवाक्ये द्वितीयया परस्य फलत्वबोधनात्, तद्व्याख्यानमन्त्रे तु द्वितीयया कामानां फलत्वबोधनात् ब्रह्मणश्च गौणत्वबोधनात् तस्य फलत्वांशे संदेह इत्यर्थः । तर्हि कथं तस्य फलत्वमुपपाद्यत इत्याकाङ्क्षायां सर्वतः प्रचुरानन्दरूपत्वेनोपपाद्यत इत्याहुः फलं त्वित्यादि । सर्वैरिति प्रकारैः । प्रकारास्त्वभ्याससर्वान्तरत्वसर्वाधिकत्वाद्यो बोध्याः । ननु यदि प्रचुरानन्दरूपेणैव फलत्वमभिप्रेतं स्यादमृतस्य तथोक्तं स्यान्न तु शिरःपाण्यादिकं कल्प्येत । प्रयोजनाभावात् । कल्पनया चोपासनार्थता प्रतीयते, न तु परमफलतेत्यत आहुः शिर इत्यादि । शिरःपाण्यादिकमिति इदमा बोधितं शिरःपाण्यादिकम् । पुरुषविधत्वायेति सर्वेषां पुरुषविधत्वाय । यदि हि स्वयं पुरुषविधो न स्यात्तदा तदुपरितनोऽन्नमयान्तः कोऽपि पुरुषाकारो न स्यादिति तदर्थं तथोक्तिरिति तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविध इति वाक्यादेव प्रतीयते । अतः सा कल्पना नोपासनार्थाऽपि तु स्तुत्यर्थेति कल्पनाया लिङ्गत्वाभावात् प्रकरणापेक्षया वाक्यस्य बलिष्ठत्वाच्चानन्दमयपदस्य ब्रह्मपरत्वं न पारिप्रवमित्यर्थः । नन्वानन्दमयस्य पुरुषविधत्वेन कथं सर्वेषां तथात्वमित्यत आहुः लोके हीत्यादि । अयमर्थः । लोके ह्यन्तर्भूतस्य तदाकारता मूपानिधिकप्रतिमादौ दृष्टा ।

रश्मिः ।

क्षीति व्याख्येये द्वितीया विभक्तिः । वाक्य इतीति । वाक्येनेति पाठे करणत्वे नान्वयः किं तु सप्तम्यन्तम् । निषेधार्थं नञ् चेति । ब्राह्मणेति अस्यतत्कान्तमध्यमपुरुषान्तत्वाभावात्तथा । धृष्टिरसि ब्रह्म यच्छ इषेतोर्जेत्वा वायवस्येत्युदाहरणानि । 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' इति ब्राह्मणवाक्ये इत्यर्थः । फलत्वांश इति फलत्वांशेपि संदेह इत्यर्थः । अभ्यासादित्यादि भाष्यमुपलक्षकतया विवृण्वन्ति अभ्यासेत्यादि । आदिशब्देनोपसंक्रमः । सर्वेषामिति अन्नमयादीनाम् । द्वा सुपर्णेति श्रुतेः पुरुषविधत्वाय । तदुपरीति आनन्दमयोपरितन इत्यर्थः । वाक्यस्येति तस्य पुरुषेत्यादिवाक्यस्येत्यर्थः । बलिष्ठत्वादिति यथा 'इन्द्राग्नी इदं हविरशुषेताम् अवीवृधेतामहोज्यायोक्ताताम्' इत्यत्रेन्द्राग्नीपदस्य लिङ्गाद् दर्शाङ्गत्वे सिद्धे इदं हविरित्यादेरपि दर्शाङ्गत्वं तदेकवाक्यत्वात् प्रकरणाद्दर्शाङ्गत्वात् । प्रकरणाद्वाक्यस्य बलिष्ठत्वात् । आकाङ्क्षारूपं प्रकरणं वाक्यस्य वाक्यान्तरैकवाक्यत्वे प्रमाणम् । एवं च यावत्प्रकरणं वाक्यं कल्पयित्वा विनियोजकं भवति तावद्वाक्यं लिङ्गश्रुती कल्पयित्वा विनियोजकमिति बलीय इत्युक्तम् । तद्बलिष्ठत्वादित्यर्थः । न पारिप्रवमिति पारिप्रवार्थं कर्मेति पारिप्रवार्था इति सूत्रे तृतीयस्य चतुर्थपादे वक्ष्यन्ति । तत्कर्म न पारिप्रवमाचक्षीत इत्येकवचनस्य विवक्षितत्वात् । एतस्य फलमुपाख्यानस्य न पारिप्रवशेषत्वम् । उपाख्यानं प्रपाठकद्वयस्य किं तु यदुद्दिष्टं तन्मुख्यत्वज्ञानशेषत्वम् । अतो न कर्मशेषेयं विधेति तृतीयस्य चतुर्थपादे भृगुप्रपाठकमुक्त्वा पारिप्रवशेषतानिराकरणात् । ब्रह्मपरत्वस्योपाख्यानं शंसनसाहित्यात्पारिप्रवत्वं प्राप्तं सर्वाण्याख्यानानि पारिप्रवे शंसतीति वाक्यात् ।

जीयोऽत्र मुख्यः । कर्तृत्वेन व्यपदेशात् । स च वस्तुतो हंसरूपः । पुरुषाधिकारकं हि शास्त्रम् । तेन पुरुषशरीरे तदाकारः सर्वं फलं प्राप्नोति । अतः पुरुषं हंसरूपेणानुवर्णयति ।

भाष्यप्रकाशः ।

बहिर्वेष्टितस्य तदाकारता तूपदेहे सीवितवसनादौ च । तथाच यथा भाण्डकर्तारः प्रथमत आकृतिं मधूत्वादेः कृत्वा तदुपरि मृदं वेष्टयित्वा तन्मूषायां धातुं पूरयन्ति । अन्यथा पूरितभाण्डनिर्माणं न भवति । तथाच तादृशोऽयं देहः । अतोऽत्र देहे कश्चिदान्तर एव-विधो वर्तते यदुपरि समागता अन्नरसादयः पुरुषाकारा भवन्ति । नो चेद् घटादिवत् कृतिसाप्यत्वामावाद् मसोत्करवद् राशीभूता एव भवेयुः । अत्र तु श्रुतौ, 'तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः । तेनैव पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः' इत्यादौ पूर्वं प्राणमयादिकमुक्त्वा तेन प्राणमयादिना आन्तरेण एषोऽन्नमयादिरुपरितनः पूर्ण इति पूर्वोक्तन्यायेन पूर्णतां प्रतिज्ञाय ततस्तां निगमयितुं, 'स वा एष प्राणमयादिः पुरुषविध एव' इत्यनेन तदाकारमुक्त्वा तस्य प्राणमयादेः पुरुषविधतामनुलक्ष्यीकृत्य, अयमन्नमयादिः पुरुषविध इति वदति । तेन सर्वान्तरस्थानन्दमयस्यैव-सर्वत्र पुरुषाकारसमर्पकता पर्यवस्यति । तेन तथा सिद्ध्यतीति । नन्वस्त्वैवं, तावता स्तुतिः का वा सिद्ध्यतीत्यत आहुः जीव इत्यादि । वर्णयतीत्यन्तम् । तेनेति हेतुना । तदाकार इति हंसाकारः । अयमर्थः । उक्तमन्त्रे सोऽश्रुत इत्यनेन जीवः फलाशने कर्तृतया व्यपदिष्टः फलभोगे मुख्यः । तस्य च, द्वा सुपर्णा-विति श्रुत्या, 'एवं स मानसो हंसो हंसेनैव प्रबोधितः' इति स्मृत्या च हंसरूपेणैव सिद्धत्वात् पुरुषाधिकारेण प्रवृत्तस्य शास्त्रस्य तं प्रत्यप्रवृत्तौ तस्य ब्रह्मविश्वाद्यभावेन वेदनादिफलस्याप्यभावाच्छास्त्रादेवैयर्थ्यं स्यादिति फलार्थं शास्त्रसार्थक्यार्थं च जीवस्य पुरुषरूप-भावश्यकम् । तथा समतां विना फलानुभवदौर्घ्याद् ब्रह्मसमतायाश्च, 'न तत्समः' इत्यादि-श्रुत्या निषेधात् फलानुभावनाथं समतायै ब्रह्मणोऽपि हंसरूपमावश्यकम् । अतः पुरुष एव यदा हंसरूपेण जीवान्तराविश्य तं पुरुषरूपेणान्तरितवोस्तदा तद्वेष्टनेन पुरुषरूपो जीवः

रश्मिः ।

सूषेति सांचा इति लोक उच्यते । उपदेह इति नागकञ्चुक्यामित्यर्थः । मधूत्वादेरिति । मेन इति लोके ।

फलानुभवेति फलं कर्मफलभोगस्तदर्थमत्रापि समता नायात्यतो गौणमुख्यन्यायेन साष्टि प्रलम्भ(फलं) सख्यरूपं फलं च तदनुभावनाथं समता वक्तव्या अन्यथा तद्वाक्यवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । तस्यै समताया इत्यर्थः । विरुद्धधर्माश्रयत्वात् समतासमते उपपन्ने । अत इति हंसद्वयस्य पुरुषस्य चावश्यकत्वात् । पुरुष इति पुरा आस इति व्युत्पन्नः । न तु पुरि शेते इति न वा पुरमुषतीति व्युत्पन्नः । एवकार इममर्थं व्यवच्छिनति । पुरा सृष्टिपूर्वं व्युत्पत्तिद्वयासंभवात् । तस्य रूपद्वयं हंसः पूर्वशास्त्रे 'ततो ह जातः' इति श्रुतेः । पुरुषो वेदान्तशास्त्रे 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' इति श्रुतेः । तयो रूपयोः समावेशः द्वा सुपर्णेति श्रुतेराहुः यदेति । हंसेति गतिप्रतिबन्धकमुल्लङ्घ्य प्रवेशार्थम् । जीवा-न्तरेति जीवो जीवमजीवयदिति वाक्यात् । 'यस्यात्मा शरीर'मिति श्रुतेः । तमिति जीवम् । 'आकाश-शरीरं मन्त्रे'ति श्रुतेः । 'आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता' इति श्रुतेः पुरुषरूपेण 'तासां मे पौरुषी

पञ्चस्वपि शारीर आत्मा जीव एक एव । तत्रात्ममये निःसंदिग्धत्वात्, तस्यैव एव आत्मेति नोच्यते । द्वितीयादिषु प्रथमोक्तमेवातिदिश्यते । तत्रात्ममये हस्तेन प्रदर्शयन्निव निःसंदिग्धं व्याख्यातम् । तदन्तरो हि प्राण आन्तरव्यवहार-

भाष्यप्रकाशः ।

सर्वं लौकिकालौकिकफलमनुभवति । परमात्मा च हंसेऽन्तर्भूतो हंसाकारश्च संस्तत्फलमनु-
भावयतीति श्रुतिरपि परमात्मानं हंसरूपेण पुर्यावेशोत्तरं वर्णयति । तथाच स्वयमिति-
हानपि जीवस्य फलमोजनार्थमेवं करोतीत्येषा स्तुतिरित्यर्थः । एवं पक्षिरूपकल्पनस्य
शिरःपाण्यादिकथनस्य च स्तुत्यर्थतासमर्थनेन निरालम्बना प्रत्यगात्मविषया बुद्धिः कर्तु-
मशक्येति दृष्टशारीरात्मसामान्येन प्रत्यगात्मनि बुद्धिसिद्ध्यर्थं शाखाचन्द्रन्यायेनेदं कल्पन-
मित्यपास्तम् । तथा सति पुरुषरूपकल्पनयापि कार्यसिद्धेः पक्षिरूपकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गा-
दिति । ननु यद्येवमभिप्रेतं स्यात् तर्हानन्दमयस्यैव पक्षिरूपत्वं वर्णितं स्यात्तत्रमयादीना-
मतो नैवमित्याशङ्क्यां श्लोक्तं विभजन्ते पञ्चस्वित्यादि । तथाच प्राणमयादीनां चतुर्णां
व्याख्याने, तस्यैव एव शारीर आत्मेति कथनात् पञ्चस्वपि फलेष्वेकस्यैव जीवस्य भोक्तुः ।
पञ्चानां शरीरतया भोग्यत्वस्य च ज्ञाप्यत्वेन हंसरूपजीवानुरोधादन्नमयादिष्वपि तथा-
कल्पनं युक्तमित्यर्थः । ननु यद्येवं तदात्ममय इदं वाक्यं कुतो नोच्यत इत्यत आहुः
तत्रेत्यादि । कोशेऽन्नमये शरीरत्वसैकात्मभोग्यत्वस्य च प्रत्यक्षसिद्धत्वेन तत्तुल्येऽन्नमयेऽपि
तथात्वस्यासंदिग्धत्वाच्चीच्यत इत्यर्थः । नन्वेवं सत्यन्येष्वपि तत्तत्कोशतौल्यात् तत्रापि
नोच्येतेत्यत आहुः द्वितीयेत्यादि । प्रथमोक्तमिति अन्नमय उक्तं पञ्चावयवकत्वम् ।
तथाचातिदेशदार्ढ्यार्थं तदुक्तिरित्यर्थः । एतदेव अपञ्चयन्ति तत्रेत्यादि । प्रदर्शयन्नि-
वेति । वदतीत्यत इति शेषः । तथाच यत् एवं वदत्यतः प्राप्यरूपेऽन्नमयेऽप्यत्र व्याख्यातं
तदघयवसाम्यं निःसंदिग्धमित्यर्थः । प्रदर्शयतीवेति वा पाठः । प्राणमये आहुः
रक्षिमः ।

प्रिया' इतिवाक्यात् । एवमिति आनन्दमयस्यैव साकारफलत्वमिति पूर्वोक्तप्रकारेण । नैवमिति
न साकारब्रह्मत्वमित्यर्थः । फलेष्विति एतन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्येत्यादिश्रुतिम्यः । फलत्वमानन्द-
मयात्ममयादिविभूतिसाधारणम् । हंसरूपेति मुक्तहंसरूपजीवस्य ब्रह्मसामर्थ्यानुरोधात् । तथेति
पक्षिरूपत्वकल्पनमित्यर्थः । एवमिति हंसरूपजीवानुपजीवानुरोधेन पक्षित्वे । इदमिति तस्यैव
एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्येति वाक्यम् । तथात्वेत्येति एकात्मभोग्यत्वस्य । उक्तमिति एकात्म-
भोग्यत्वम् । तत्तत्कोशतौल्यादुक्तप्रायम् । शारीर आत्मेत्युक्त्या शरीरमप्यतिदिष्टमिवेत्याहुः पञ्चा-
वयवेति । चकारः पूरणीयः । तथा चेत्येति अन्येष्वपि तत्तत्कोशतौल्याद्बचनाभावे प्राप्तत्वेपि यत्र
शारीरपदान्तर्गतशरीरस्याप्यतिदेशस्तत्रैकात्मभोग्यत्वातिदेशे किमु वक्तव्यमित्येकात्मभोग्यत्वातिदेशदा-
र्यार्थं तस्य 'तस्यैव एव शारीर आत्मा' इत्यतिदेशवाक्यपञ्चावयवरूपस्य शरीरसोक्तिरित्यर्थः ।
एवकारस्तु दार्ढ्योक्तपञ्चावयवस्यापि व्यवच्छेदकः । प्रदर्शयन्निवेति वेदस्य कर्तृत्वमुक्तं तदा
वेदरूपशिवभक्तसंवलितत्वे सिद्धे क्रीडार्थं भक्तत्वाच्च । श्रुतेः कर्तृत्वायाहुः प्रदर्शयन्निवेति ।
तदन्तर इत्यादीति बहिर्व्यवहारकारणमुक्तमन्नमयशब्देन तस्यान्तरत्वाद्दीत्यनुभवान्निश्चयेनान्तरो यो
व्यवहारः 'व्यवहारः संनिपातो मनोमात्रेन्द्रियासुभिः' इति वाक्येन भगवतोक्तस्य कारणम् ।
'संनिपातस्त्वहमिति ममेत्युद्धव या मतिः' इति भगवद्वाक्यात् । अहममेतिमत्याः कारणम् ।

कारणम् । बलमोजनविसर्गादिभूषणयोगात् । तस्य संचार आकाशो परिनिष्ठितः
पृथिव्याम् । एवं लौकिकव्यवहारार्थं वाद्याभ्यन्तरभेदेन द्वयम् ।

तदनु वैदिकव्यवहारः । स च मनोमयः पुरुषः । आदेशः कर्मचोदना ।
ब्राह्मणानि सशेषाणि । अथर्वाङ्गिरसे ब्रह्मकर्मत्वात् प्रतिष्ठा ।

भाष्यप्रकाशः ।

तदन्तर इत्यादि । अत्र, बलेत्यादिना प्राणादित्रयस्य कार्यशुक्तम् । कोशाग्नेदश्च दर्शितः ।
स पञ्चशुक्तिको दशशुक्तिको वा । अयं तु त्रिशुक्तिकः । तस्य संचारो नियते देवे हृदादी ।
अस्य तु सर्वत्राकाश इति स तस्य स्वरूपलाभहेतुत्वादात्मा । स तु देहे स्वितोऽयं तु
सर्वस्यां पृथिव्यामिति । अतो द्विविधभोगसाधनत्वेन स्वाभिमानाय द्वयोः कथनमित्यर्थः ।
अग्निप्रयोजनादिकमाहुः तदन्वित्यादि । लौकिके व्यवहारे वयःप्रभृतिभिः स्वातन्त्र्यसंपत्तौ
सत्यां वैदिके प्रवर्तत इति वेदप्रयुक्तो मनोमात्रेन्द्रियप्राणव्यापारस्तत्स्थानन्तरभाषी । तस्य
च लौकिकाद् भेदः, 'शब्द इति चैवातः प्रभवात्' इत्यत्र सोपपत्तिकं वक्तव्यः । तद्भौ-
गसाधनाय च स वेदात्मको मनोमयः पुरुषः । वेदस्य च मनोभयत्वमेकादशस्कन्धे, 'स
एष जीवो विवरप्रवृत्तिः' इति श्लोकेन भगवतोक्तम् । सशेषाणीति सार्थवादानि । ब्रह्म-
कर्मत्वादिति । चातुर्होत्रविधाने ब्रह्मणः कृताःकृतावेककत्वेन तत्कर्मणोऽथर्वसिद्धस्य कर्म-
रक्षिमः ।

प्रकृते । कार्यमुक्तमिति अत्र प्रथमे प्रश्नोपनिषदि 'अहमेतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्य एतद्वाणभवष्टम्ब
विधारयामि' इति श्रुतिः । द्वितीये व्यानस्य श्रुत्यन्तरात् आनन्दशुभित्यनेन विकल्प्यते श्रुत्यन्तरम् ।
विसर्गेऽपानस्य प्रसिद्धोपयोगः । भेदकमाहुः स पञ्चेत्यादि । 'प्राणोऽपानः समानश्रोदानव्यानौ च
वायवः' इत्यमरादित्यर्थः । दशेति 'दशैरे पुरुषे प्राणाः' इति शाकल्यब्राह्मणश्रुतेः । पञ्च प्राणादयः
पञ्च नागादयश्च । तस्येत्यादिभाष्ये तच्छब्देन प्राणः पराशुष्ट इत्यत्रापि तस्येत्यस्य 'तुना' सह
संबन्धः । अत्र आकाश आत्मेत्यत्रात्मपदं स्वरूपलाभहेतुत्वेन रूपेण प्राणदेहं वक्तव्यत्वात् ।
प्राणेन्द्रियात्मविषयत्वमित्याकाशशक्षणवाक्यादित्याशयेनोक्तं स तस्येत्यादि । पृथिव्यामिति
अधोलम्बनसाम्यात्पृथिव्याः पुच्छत्वमपि । द्वयोरिति पुच्छप्रतिष्ठयोरित्यर्थः । अत्र तस्य यद्भवेत् शिर
इत्यत्र मनुष्यकर्मप्रतिपादकस्य यद्भुवः शिरस्त्वं व्यवहारे मनुष्यकर्मैव मुख्यं 'पुरुषत्वे च मां धीराः'
इतिवाक्येनैतत्सजातीयश्रीधर्युक्तश्रुत्या च पुरुषकर्माग्निहोत्रादिभिः 'आविस्तरां प्रपश्यन्ति' 'पुरुषत्वे
च मां भगवन्तं धीरा' इति । ततः ऋग्वेदो देवदैवत्यो देवताप्रतिपादकः । कर्मविषयप्रतिपादको दक्षिणः
पक्षः । ततः सामवेदः पितृयः पितृप्रतिपादकः उत्तरः पक्षः । देवानां पितृणां चानेकप्रकारत्वात् ।
आदेशः कर्मचोदना कर्मचोदनाप्रतिपादकानि ब्राह्मणानि सशेषाणि ह्यात्मा । प्रतिपाद्यप्रतिपादकयो-
र्नित्यसंबन्धात्सामानाधिकरणम् । धर्मप्रतिकाले ब्राह्मणानि धर्मप्रमितिं जनयन्तीत्यनुष्ठानकालेऽनुष्ठी-
यमानान्धर्मान् विषयीकुर्वन्त्या ब्रह्मणः कर्मचोदनाया आत्मत्वम् । अत्रो नोदनाविषयस्य धर्मस्य
पक्षत्वमिति नार्थान्तरम् । आदेश इत्यादि । घय इति प्रभृतिशब्देन 'लोकसिद्धं पुरुषस्य वैदिकं
बोध्यते यया' इत्युक्तलोकसिद्धपुरस्कारः । शब्द इतीति तृतीयपाद इत्यर्थः । भाष्ये । आदेश
आत्मेति श्रुतिं विवृण्वन्ति । ऋगदक्षिणः पक्षः सामोत्तरः पक्षः इत्येतां विवृण्वन्ति ब्राह्मणानीति ।
अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठेति श्रुतिं व्याकुर्वन्ति अथर्वेति । अथर्वाङ्गिरसां द्रष्टा भद्रो ब्राह्मणश्च
अथर्वाङ्गिरसस्त्वस्मिन् । प्रकृते । चातुर्होत्रेत्यादि चत्वारो होतारो यत्र कर्मणीति योगः । योगरूढः
शब्दः । कृतावेककं तेन च साङ्गं कर्म भवति तदभावे तु व्यङ्गं कर्मेति । साङ्गं कर्म फलप

तदनु नानाविधयागादिसाधनवतः फलं विज्ञानमयः । तत्र श्रद्धा आपः ।
तृतीयाध्याये स्वयमर्थो विस्तरेण बक्ष्यते । यथोक्तकर्तृत्वात् क्रममुक्तिः ।

ऋतसत्यौ प्रमीयमाणानुष्ठीयमानौ धर्मौ योगश्च मुख्यत्वादात्मा । अधो-

भाष्यप्रकाशः ।

स्वैर्यसंपादकत्वाद्यथाश्रितरसः प्रतिष्ठारूप इत्यर्थः । ज्ञान्यादिकर्मबोधकत्वात् पुच्छत्वमपि तस्य बोध्यम् । एतेन नानावृत्तिकान्मनोमयकोशाद् भेदोऽपि दर्शितः । एवं द्विविधैदिकभोगोपयिकं इयं वैदिकव्यवहारोपयिकं तृतीयं बोधत्वा पारलौकिकभोगोपयिकं चतुर्थमाहुः तदनु नानेत्यादि । विज्ञानमय इति विज्ञानप्रचुरः । तस्मात्प्रवचानां स्वरूपमाहुः तत्र श्रद्धेत्यादि । पञ्चाग्निविधायी, यतिध्यामाहुत्यां हुतायामापः पुरुषवचसो भूत्वा समुत्थाय बद्धन्तीति प्रशामिरूपणमागे प्रथमाहुतौ, देवाः श्रद्धां जुह्वतीति कथनाच्च श्रद्धारूपा आपो मुख्या इति सा शिर इत्यर्थः । अस्वार्थस्य काल्पनिकत्वपरिहाराय विचारितत्वं बोधयन्ति तृतीयेत्यादि । रंहत्यधिकरण इत्यर्थः । ननु प्रथमाहुतौ श्रद्धाहोमस्ततः सोमवृष्यभरेतः क्रमेण पञ्चम्यामाहुतौ हुतायां रेतसः पुरुषभाव इत्यवयवपूर्वभावात् कथमस्य जीवमोग्यत्वं भोगसाधनत्वं चेत्याकाङ्क्षायामाहुः यथोक्तेत्यादि । अन्नमयायुक्तोपासनाकर्तृत्वात् क्रममुक्तिः । एतेनोपासनाकथनप्रयोजनमपि बोधितम् । तथाच श्रद्धादीनामर्थानां पूर्वसिद्धत्वेन सत्त्वादत्तदवयवास्तु पूर्णा एव । तेन जीवस्य तत्र क्रमिको भोग इति न दीर्घत्वमित्यर्थः । एतेन संशयविपर्यासादिनानावृत्तिकाद् विज्ञानमयकोशाद् भेदो दर्शितः । अत्रैतत् सिद्धम् । अन्नब्रह्मोपासनायां सर्वाङ्गप्राप्त्या लौकिको बाह्यो भोगस्ततोऽग्निभोगोपासने सर्वायुःप्राप्तिरूप आन्तरः । तदग्रे ब्रह्मानन्दज्ञानात् सर्वदा मयाभावाद् वैदिकः । तदग्रे प्रमादाभावे सति पापनाशपूर्वकसर्वकामाप्तिरूप इति । अवयवान्तरस्वरूपमाहुः ऋतेत्यादि ।

रश्मिः ।

स्विरम् । व्यक्तं तु नेति । प्रतिष्ठेति स्वरूपलाभहेतुत्वात् । ज्ञान्यादीति ज्ञान्तिकर्मणः सर्वकर्मान्तिमत्त्वेन पुच्छत्वमित्यर्थः । आदिना पौष्टिकादिप्रतिष्ठाहेतोः शांकरभाष्योक्तस्य संग्रहः । तथा च शान्तिपौष्टिकादिप्रतिष्ठाहेतुकर्मबोधकत्वादित्यर्थः । तदन्वित्यादि । तदनु वैदिकव्यवहारलक्षितः । नानाविधयागादिसाधनवत इत्यादि इत्यंमृताख्यानेऽनुः । 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' इत्यत्र चित्तशुद्धिद्वारा यागादीनां विज्ञानमयफलकत्वात् । फलं स्वकारणानि विस्तारयति प्रवृत्तिद्वारा । तदुक्तं 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इत्यादिनात्रैव । यतिध्यामिति यत्संख्यायामित्यर्थः । ननु कस्मादन्नवाक्ये श्रद्धालाभः इत्यत आहुः निरूपणेति । तथा चैकवाक्यतया श्रद्धालाभः इति भावः । मुख्या इति पुरुषरूपफलरूपत्वेन मुख्यत्वम् । सेति तस्य श्रद्धैव शिरः इति श्रुतौ श्रद्धेत्यर्थः । इत्यवयवेति श्रद्धामात्रकथनेन सोमवृष्यभरेतसामकथनाद्देतोः अवयवपूर्वभावादित्यर्थः । सर्वोक्तेति 'सर्वं वै तेनाङ्गमायुषन्ति येऽन्नं ब्रह्मोपासते' इति श्रुतेरित्यर्थः । सर्वायुरिति सर्वमेव त आयुष्यन्ति येः प्राणं ब्रह्मोपासते इति श्रुतेरित्यर्थः । भयाभावादिति 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति श्रुतेस्तथेत्यर्थः । प्रमादाभाव इति ।

'विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद तस्माच्चैत्र प्रमाद्यति ।

शरीरे पाप्मनो हित्वा सर्वाङ्कामान् समश्नुते' ॥

इति श्रुतेरित्यर्थः । ऋतेत्यादि ऋतं प्रमीयमाणो धर्मो ब्राह्मणैः सत्यमनुष्ठीयमानो धर्मो

भागो महलोकः । तादृशस्य ततोऽर्वाक् संसृत्वभावात् । ततोऽपि ब्रह्मविद-

भाष्यप्रकाशः ।

तादृशस्येति श्रद्धाहोमात् पूर्वजन्मनि निष्कामयज्ञकर्तृत्वात्तद्विदस्य ततः श्रद्धादिक्रमेण रश्मिः ।

मथैरित्यर्थः । भावार्थपादभाष्य इदं स्फुटमस्तु ।

ननु विपरीतं किं न स्यात् इति चेन्न संहितायां 'ब्रह्मवादिनो वदन्ति' इति श्रुत्या ब्रह्मसत्यमतोः अनुष्ठीयमानधर्मः सत्यं 'ऋतं सत्यं परं ब्रह्म' इति महानारायणात् । परब्रह्मकार्ये ऋतं प्रमीयमाणो धर्मः ब्राह्मणस्य वेदान्तत्वात् । प्रमीयमाणानुष्ठीयमानधर्मः परं ब्रह्म 'धर्मो यस्यां मदात्मकः' इति वाक्यात् । योगश्चेति विज्ञानमयस्योपक्रान्तत्वाद् योग उक्तः । विज्ञानप्रचुरज्ञानयोग इत्यर्थः । ज्ञानमय इत्युक्ते ज्ञानधर्मत्वेन ज्ञानरूपत्वमपि स्यादतो मार्गत्वावयवीति 'विजातीयसंमेलने मार्गत्वं केवलस्य धर्मत्वम्' इत्येकादशसुबोधिन्यां अतो नामकदेशग्रहणं योग आत्मा इति 'परो हि योगो मनसः समाधिः' इति चित्तवृत्तिनिरोधो योग इति स च समाधिः सायुज्यविशेषः । आश्रयव्यापकतयात्मायतनादित्यर्थः । अधोभाग इति 'बहुभिः संपद्यते धर्मः' इति तदन्तर्गतदेशो महलोकः । अधस्ताच्च प्रतिष्ठा ऋतसत्यरूपपरब्रह्मात्मकधर्मसाधनत्वायुक्ता । मह पूजायां कर्तव्यसुत् । विज्ञानमयस्यापि शिरस्त्वादिकं कथमिति चेच्छृणु । आपः पुरुषवचसो भवन्तीति निर्विवादम् । तत्र श्रद्धा आपः धर्मावपि शास्त्रदृष्ट्या स्वोपादानरूपावित्यत्रौ । ननु पक्षपदादन्नपशिरः कथनं पृथक् कुतः इति चेन्न । शिरोबोदेश एव पक्षपदप्रवृत्तेः । अतो विभूतेः पुरुषशरीरस्य द्वौ भागौ धर्मान्भूषौ तामिरर्चनं ज्ञानाङ्गमित्यपिशिरस्त्वादिकसुपपन्नम् । नाप्यर्चनलाभो दुर्लभः साधने महःपदात् । न चार्चनं द्रव्यमन्यदिति वाच्यम् । सोर्चनचरत्सार्चत आपोऽजायन्तेति बृहदारण्यकात् । विज्ञानमयेनाप्यमन्यो यज्ञस्तन्यते तद्विभूतित्वात् । ततोपि ब्रह्मविद इत्यग्रे भाष्यं तज्ज्ञाप्यमर्थमाहुः श्रद्धेति तच्छब्दात्पूर्वोक्तश्रद्धापदस्मारितश्रद्धाहोमपदमन्वयार्थं पञ्चम्यन्तं श्रद्धाहोमावधिके पूर्वजन्मनीति पूर्वजन्मलाभः । अग्रेन्वयार्थं ससम्यन्तं पदं ब्रह्मविद इति वक्ष्यमाणत्वात् तस्माधननिष्कामयज्ञकर्तृलाभः । ननु यज्ञकर्तृपदेन यज्ञलाभे निष्कामशब्दस्य किं प्रयोजनमिति चेन्न श्रीमदाचार्यमार्गीययज्ञबोधनार्थत्वात् ।

'काम्यानां कर्मणां त्यागं संन्यासं कवयो विदुः ।

सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणः' ॥

इति गीता । श्रद्धाहोमानन्तरं तादृशशरीरज्ञानस्य भावित्वात् ज्ञानरहितस्येत्यस्य लाभः । अग्रे । भाष्ये । ततोर्वागिति महलोकैकादवाक् भूर्भुवःसुवर्लोकैषु संसृतिः संसरणं तदभावात् । तथा च संसरणमपेक्ष्य महलोक एवाध इति भावः । महलोकवासिनो भृग्वादयो ज्ञानिनः 'नमस्कृतं ब्रह्मविदासुपैति कत्यायुषो यद्विबुधा रमन्ते' इति द्वितीयस्कन्धात् । अवेदं बोध्यम् । श्रद्धायाः पुरुषवचस्त्वानन्तरं यथोक्तोपासनया क्रममुक्तिः शरीरे पाप्मन इत्यग्रेतनश्लोकात् । उपासा तु धर्मप्रमित्यनन्तरं तदनुष्ठाने शुद्धे चित्ते वृत्तिनिरोधः इत्यतः ऋतसत्यावित्यादिभाष्यमवयवत्रयनिरूपकम् । भाष्ये महःपुरुषमिलादेस्तात्पर्यमाहुरश्च इत्यादि । अधोभाग इति पुच्छपदार्थः । लोक इति प्रतिष्ठापदार्थः । कुत इत्यत आहुः तादृशस्येति (ततोर्वागिति महलोकैकादवाक् भूर्भुवःसुवर्लोकैषु संसृतिः संसरणं तदभावात् । तथा च संसरणमपेक्ष्य महलोक एवाध इति भावः । महलोकवासिनो भृग्वादयो ज्ञानिनः 'नमस्कृतं ब्रह्मविदासुपैति कत्यायुषो यद्विबुधा रमन्ते' इति द्वितीयस्कन्धात्) अत्र सुबोधिन्यां कत्यायुष इति विबुध-

आनन्दमयः फलम् । तस्य स्वरूपस्यैकत्वाद् धर्मभेदेन शिरःपाण्ड्यादि निरूप्यते । तस्य मुख्यतया प्रीतिविषयत्वं धर्मस्तच्छिरः । मोदप्रमोदावपरिनिष्ठितपरि-
निष्ठितावानन्दातिशयो । आनन्दस्तु स्वरूपम् । साधनरूपत्वाद् ब्रह्म पुच्छमिति ।
श्लोकौ तु सचिदंशयोधकौ केवलानन्दत्वपरिहाराय ।

भाष्यप्रकाशः ।

प्राप्तयोग्यदेहस्य । एतादृशस्य ज्ञानप्राप्त्या मुख्यं फलं भवतीति विवेकुमाहुः ततोऽपी-
त्यादि । साधनरूपत्वादिति ज्ञेयत्वेन साधनशेषतया तथात्वात् । एवं, लोके हीत्यादिना
वर्णयतीत्यन्तेनोक्तमर्थं विमन्य पुरुषविषयत्वं पक्षिरूपत्वं च समर्थितम् । तेन च मन्त्रे
द्वितीयान्तकामपदेनोक्ता एत एव धर्माः । आनन्दमयस्तु विपश्चिद् ब्रह्म । धर्मधर्मिणोः
प्रकाशाश्रयधर्मेदेऽप्यभेदादेतादृशमेव व्याख्येयवाक्योक्तं परमिति बोधितम् । तावतापि तस्य
विविधज्ञानवचं लक्षणोक्तसचिदंशिष्ठं च सम्यक्ज्ञानावगम्यत इति तदर्थमग्रिमो ग्रन्थो,
न तु साधनशेषब्रह्मज्ञानायेत्याहुः श्लोकौ त्वित्यादि । श्लोकात् पूर्व, तदपीत्यनेनानन्दमयं
लक्षणीकृत्य, असन्नेवेति श्लोक उक्तः । तेनानन्दमयमेवास्ति ब्रह्मेति वेत्तव्यमित्यायाति ।
एवमसद्वेतिश्लोके कर्तृत्वसमवायित्वयोर्बोधनाच्चिदंशलाभः । तेन द्वावेतौ विपश्चिच्चसमर्थना-
येति फलति । तथा सति तच्चच्छ्लोकोत्तरं यो ग्रन्थः सोऽपि श्लोकोक्तार्थोपपायेति
रश्मिः ।

विशेषणात् सत्त्वात्मकशरीरेण क्रममुक्तो जीवोपि तत्र कल्पपर्यन्तं तिष्ठतीति महल्लोके एतादृशी संसृतिः
तस्य रमन्त इतिपदाच्च संसृतिः । महल्लोकादवाक् लोकेषु तु न संसृतिः एतावत्कालमवस्थानाभावात् ।

‘यदा प्रयास्यन्नूप पारमेष्ठ्यं वैहायसानामुत यद्विहारम् ।

अष्टाधिपत्यं गुणसंनिवाये सहैव गच्छेन्मनसेन्द्रियैश्च ॥

योगेश्वराणां गतिमाहुरन्तर्बहिःश्लोक्याः पवनान्तरात्मनाम् ।

न कर्मभिस्तां गतिमाप्नुवन्ति विद्यातपोयोगसमाधिभाजाम् ॥

वैश्वानरं याति विहायसा गतः सुषुम्णया ब्रह्मपथेन शोचिषा ।

विभूतकल्पोय हरेरुदस्तात् प्रयाति चक्रं नृप शैशुमारम् ॥

इत्येतेषु तथोपलम्भात् । ‘तद्विश्वनाभिं त्वतिवर्त्य विष्णोरणीयसा विरेजनात्मनैकः’ इति पूर्वो
नमस्कृतमित्यस्यार्थस्तु स्फुट आकरे । अद्वैत्यादि एतच्च तृतीयाध्यायेत्रैव स्फुटिष्यति । ततोऽपी-
त्यादीति । एकत्वादेकरसत्वेन तथा मोदप्रमोदरूपधर्मभेदेन तस्य प्रियमित्यत्र भावप्रधानो निर्देशस्तदाहुः
प्रीतिविषयत्वमिति । प्रीतिविषयस्यात्मत्वम् । शिर इति शिरसा सर्वात्मभावेन ज्ञायते पुरुषोत्तम
इति । अपरीति अल्पाक्षरत्वाभावेपि अभ्यर्हितत्वात्पूर्वनिपातः । चराचरेति सूत्रेण्यत्प्राप्तरोभ्यर्हित इति
पूर्वनिपातः । अतो न विरोधः । आनन्देति अनन्तानन्द इति स्वरूपलक्षणप्रविष्टत्वादिति भावः ।
अतिशयो मक्तमनोरयोत्तरो ज्ञेयः । वृद्धिदासमात्तत्वात् आत्मानन्दस्तु सदैकरसः । ज्ञेयत्वेनेति
‘ब्रह्मविदामोति परम्’ इत्यत्र तथा । पुरुषेति विज्ञानब्रह्मरूपे । भेदेपीति ब्रह्मस्वरूपान्तर्गतेव-
शन्दार्थः । गीतायामिव प्रसिद्धं विविधेति पक्षयोरिव धर्माणां विविधत्वात् । तदप्येव श्लोको भवतीति
श्रुतौ तदित्यव्ययम्, अपि अन्वर्थ इत्याशयेनाहुः श्लोकात्पूर्वमिति । असद्वेति ‘असद्वा इदमग्र

अपरौ तु श्लोकौ माहात्म्यज्ञापनाय वाग्गोश्वरागोश्वरभेदेन । अवान्तर-
नन्दास्तु सर्वे तस्मात्स्थानतया तदुत्कर्षत्वबोधनाय । तस्मात् सर्वत्र प्रपाठके
मात्रवर्णिकमेव प्रतीयते । अतो मुख्योपपत्तोर्विद्यमानत्वेनानन्दमयः परमात्मैव ।
चकारो मध्ये प्रयुक्तो विधिसुखविचारेणाधिकरणसंपूर्णत्वबोधकः ॥ १४ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

बोधितम् । तेनाप्रातोऽनुप्रश्ना इत्यादिना ग्रन्थेन साधनस्य विद्वत्त्वस्य फलोपधायकस्वरू-
पप्रश्नाः । सोऽकामयतेत्यारभ्य तप्येव भयं विदुषोऽन्व्यानखेत्यन्तेनोक्तरूपतया सर्वदा
विचारयत एव पूर्णं विद्वत्त्वं तदैव फलं नान्यथेति सिद्ध्यति । मीमांसादित्यादिग्रन्थस्य
तात्पर्यमाहुः अपरावित्यादि । मीमांसादिति श्लोको वाग्गोश्वरमाहात्म्यबोधनाय । ‘यतो
वाचः’ इति तु वागाधगोचरतद्बोधनाय । तथाच सव्याख्यानावेतौ परत्वस्य निगमनायेति
सिद्ध्यति । गणितागणितानन्दत्वरूपविशेषावगमं विना ज्ञेयब्रह्मणः सकाशात् परस्य निष्क-
ष्टमशक्यत्वादिति । शेषं स्फुटम् । श्रीभागवते दशमस्कन्धे वेदस्तुतौ, ‘पुरुषविचोन्व-
योऽत्र चरमोऽक्षमपादिपु यः’ इत्यनेनायमर्थ उपर्युहितः । अन्नमयादिषु चरम आनन्द-
मयो भगवानिति । तथा सति तेन पुरुषाकारे समर्पिते सर्वस्य पुरुषाकारता सिद्ध्यति ।
रश्मिः ।

आसीत्ततो वै सदाजायत ‘तदात्मानं स्वयमकुसुतं’ ‘तस्मात्सुकृतमुच्यत’ इति श्लोकपूर्वार्धेन कर्तृत्व-
स्योत्तरार्धेन समवायित्वस्येत्यर्थः । श्लोकद्वयोत्तरग्रन्थतात्पर्यमाहुः तेनाथेत्यादि । भीषेति

मीमांसाद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः ।

मीमांसादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥

इतिश्लोक इत्यर्थः । अत्रापि तदुत्तरग्रन्थस्तत्त्वोपायेत्याहुः तथा चेति । सव्याख्यानाविति
‘सैवानन्दस्य मीमांसा भवति’ ‘एतं ह वा व न तपति’ इतिव्याख्या तत्सहितावित्यर्थः । आनन्दमीमांसायाः
कथं व्याख्यानत्वं तत्राहुः गणितेति । इतीति । तथा च मृत्युनियामकत्वेन लिङ्गेन व्याख्येये परं
निष्कृष्टं तदत्रापि तथेति तथेत्यर्थः । द्वितीयश्लोकस्य विद्वानित्यन्तोऽशः स य एवं विद्वानित्यन्तेन
व्याख्यातः । अपरांशस्तु ‘एते आत्मानं स्पृणुते उभे ह्येवैष एते आत्मानं स्पृणुते य एवं वेद’ इत्यनेनेत्यपि
बोध्यम् । यद्वा ‘एतं ह वा व न तपति’ इत्यादिकं ब्रह्मविन्माहात्म्यबोधनद्वारा विद्यादिमाहात्म्यबोधक-
मिति तथा । शेषमित्यादि मात्रवर्णिकमेवेत्येवकारेण मात्रवर्णातिरिक्तोपनिषद्ब्रह्मवेच्छेदेनोक्तत्वेनातिरि-
क्तोपनिषत् संग्रहाच्चेतर इत्यादिचक्ष्यमाणसर्वैर्विधिरूपोपायविचारेणाधिकरणसंपूर्णत्वसानुक्तत्वेन संग्रहा-
दनुक्तसमुच्चयकश्चो विधिसुखविचारेणाधिकरणसंपूर्णत्वबोधक इत्यर्थः । यतो मध्ये सूत्रमध्ये प्रयुक्तो
यद्यन्ते प्रयुक्तः स्यादानन्दमयो मात्रवर्णिकमेव गम्यते चेति क्रियान्तरसमुच्चयकः स्यादित्येवं स्फुटमि-
त्यर्थः । परं च अनुक्तसाधिकरणसंपूर्णत्वस्य चकारो बोधकः एतादृशस्यलेनुक्तोर्धोप्याहतेव्यः । इत्येवं-
बोधकश्चकारप्रयोगः । समुच्चयस्य तु वाचकः समासस्यले समासः समुच्चयस्य वाचकः वर्तिपदानि वा
स्वार्थैः साकं समुच्चयस्य वाचकानि समासो नेति वा काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामितिवत् । नन्वज्ञादिरसा
राशिमृता भवेयुः मस्माराशिवत् । पक्षिणो हंसस्वावरकास्तदा तु पुरुषाकारता न स्यात् । तथास्त्रिणावृत्त-
जीवावरकास्तदाप्यङ्गाधिकपुरुषाकारता न स्यादित्यत आहुः श्रीभागवत इत्यादि । तदन्तरेत्यादि

भाष्यप्रकाशः ।

ये तु प्रसिद्धमभयस्य पुरुषविधत्वं स्वीकृत्य तस्य पुरुषविधत्वमनु प्राणमयायानन्दमयान्तानां पुरुषविधत्वं मूषानिषिक्तप्रतिमान्यायेनाहुस्तैः स्वोक्तदृष्टान्तप्रकार एव न बुध्यते । मूषानिषिक्तप्रतिमायास्तदन्तराकारानुविधायित्वात् । तस्य च मधूत्यनिर्मितप्रतिमया समर्पणादत्रापि तेन न्यायेन बाह्याकारानुरोधस्याशक्यवचनत्वात् । तेनैव पूर्ण इत्यत्र तच्छब्देन प्रकृतम्, एतच्छब्देन पूर्वोक्तं च परामृश्य मध्ये, स वा एष इति तदेतच्छब्दाभ्यां च प्रकृतं परामृश्य तस्य पुरुषविधतामित्यत्र पूर्वपरामर्शनम् । ततस्तस्य प्राण एव शिर इत्याद्यवयवकल्पनावाक्ये पुनः प्रकृतपरामर्श इत्येवं व्याख्याने प्रक्रान्तत्यागप्रसङ्गाच्च । तस्मात्तैः कोशाः, किंतु पञ्चापि फलरूपा व्यापका भिन्ना एष । एतल्लोकत्यागोक्तिपूर्वकं तत्तत्प्राप्तिश्रावणात् । तथा श्रुत्यन्तरे 'अन्नात् प्राणा भवन्ति भूतानां प्राणैर्मनो मनसश्च विज्ञानं विज्ञानादानन्दो ब्रह्मयोनिः स वा एष पुरुषः पञ्चधा पञ्चात्मा येन सर्वमिदं प्रोतं पृथिवी चान्तरिक्षं च द्यौश्च दिशश्चावाप्तरदिशश्च स वै सर्वमिदं जगत् स स भूतः स भव्यम्' इत्यादिना अनादिपञ्चविधस्योत्करीत्या पञ्चात्मकस्य पुरुषस्य सर्वव्याप्तिपूर्वकत्वबोधनपूर्वकं, 'ज्ञात्वा तमेवं मनसा हृदा च भूयो न मृत्युमुपयाति विद्वान्' इत्यनेन तद्विदो मुक्तिश्रावणाच्च । कोशास्तु 'अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयमानन्दमयमात्मा मे शुद्ध्यन्ताम्' इति श्रुत्यन्तरे शोध्यत्वलिङ्गाः प्रतिशरीरं भिन्ना एव । म इति स्वस्वजीवीयत्वरूपमेदलिङ्गात् । अतस्तद्भ्रमेणात्र तदङ्गीकरणमपि प्रकृतविरुद्धमेवेति । ननु शोध्यत्वलिङ्गिकायां श्रुतौ सिद्धवन्निदेशादत्र चाकारसमर्पणलिङ्गात् कोशत्वं चतुर्णां सिद्ध्यति । मतान्तरे तु तत् सृष्ट्या तदेवानुप्राविशदित्यनुप्रवेशस्याग्रे श्रावणादनुप्रवेशस्य च श्रुत्यन्तरे, अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति जीवकरणकत्वबोधनादत्र शरीरपदाच्च पञ्चानां कोशत्वम् । द्वितीयवर्णकरीत्या विचारे त्वग्रे असाह्योकात् प्रेत्येत्यादिना इत उत्क्रमणपूर्वकमभयानुपसंक्रमणश्रावणादेतेषामेव प्राप्यतया फलरूपत्वं सिद्ध्यति । तत्र सिद्धान्ते चतुर्णां विभूतित्वं, पञ्चमस्य परपुरुषरूपत्वात् परमफलत्वम् । पूर्वपक्षे तु पञ्चानामपि विभूतिरूपत्वमिति विशेषः ।

तथापि श्रुतिसमर्थनं तु सर्वत्र तुल्यमतः कुत उत्क्रमणं कस्य प्राप्तिरित्येतत् सर्वमतोऽपि विचारणीयमेवेति चेत् । अत्रेदं प्रतिभाति । तथाहि । ब्रह्मविदामोति परमिति रश्मिः ।

मूषान्तराकारानुविधायित्वादित्यर्थः । मधूत्येत्यादि मूषान्तर्गतयेत्यर्थः । तेनैवेत्यादि तेन प्राणमयेनैषोन्नमयः पूर्ण इत्यर्थः । मधूत्यत्वेन मूषा पूर्णा यथा । प्रकृतमिति प्राणमयम् । पूर्वोक्तमिति अन्नमयम् । पूर्वपरेत्यादि अन्नमयेत्यर्थः । प्रकृतपरैति प्राणमयपरामर्शः । प्रक्रान्तेत्यादि अन्नमयः प्रक्रान्तस्तत्यागप्रसङ्गादित्यर्थः । हृदेति सर्वव्यापीत्यादिविषयकबोधनस्योक्तत्वात् मनो बुद्धिः हृन्मनः अजिबकृतिः । यद्वा हृदेऽहोरात्र । नञ्जमेणेति कोशत्वभ्रमेण । अत्र विभूतिष्वन्नमयादिषु । तदङ्गीकरणं कोशत्वाङ्गीकरणमपि प्रकृते नैतल्लोकत्यागेन विरुद्धम् । मतान्तर इति उक्तमतान्यमते । पूर्वपक्ष इति द्वितीयपूर्वपक्षे शब्दो योगरूढस्तथायं सिद्धान्तस्य पूर्वस्मिन् पक्ष इत्यर्थः ।

भाष्यप्रकाशः ।

प्रतिज्ञानात् तत आन्तं तद्विवरणे फलत्वस्यैवोपपादनादिर्दं फलप्रकरणमेवेति निश्चीयते । एवं सत्यनुप्रवेशश्रुतिः प्रकरणेन संदष्टा परस्य फलरूपस्यैव सर्वत्रानुप्रवेशं समर्पयति । न त्वप्रकरणिनो जीवस्य । नच लिङ्गाद् बाधः । तदनुप्रविश्य सच्च त्यन्नामवदित्यादिना सत्यमित्याचक्षते इत्यन्तेन वाक्येनानुप्रविष्टसर्वात्मकतायाः सर्वस्य सत्यतायाच्च श्रावणादनुप्रवेशस्य नामरूपव्याकरणार्थताया अश्रावणाच्चास्मानुप्रवेशस्य तस्मादनुप्रवेशाद् भिन्नत्वेनास्य जीवलिङ्गत्वाभावात् । अन्यथा वाक्यपीडापत्तेः । अग्रे च, यदेष आकाश आनन्दो न स्यादित्यनेनानन्दस्यैवान्तराकाशवर्तित्वश्रावणेन प्रकरणस्यैव पोषाच्च । अत आकारसमर्पणस्याप्युत्करीत्या ब्रह्मकोशत्वसाधकतया मैत्रायणीयश्रुतौ, विश्वमृद्दे नामैषा तन्पूर्वगवतो विष्णोः र्यदिदमन्नं प्राणो वा अन्नस्य रसो मनः प्राणस्य विज्ञानं मनस आनन्दं विज्ञानस्येति भगवच्चतुत्वश्रावणेन, अन्नात् प्राणा भवन्ति भूतानामिति पूर्वोक्ततैचिरीयश्रुतौ व्यापकत्वादिब्रह्मलिङ्गश्रावणेन चैतेषां जीवकोशरूपत्वे द्रनिरस्ते, एते विभूतिरूपाः प्राप्या एवेति सिद्धम् । जीवकोशास्त्वेतद्व्यष्टिरूपा इति तावत् प्रेत्यपदोक्तोत्क्रमणलिङ्गादत्र बोधिताः कल्पन्ते । तेन श्रुत्यन्तरीयः सिद्धवन्निदेशोऽप्युपपन्न एव । एवमेतेषां विभूतित्वे जीवकोशाद् भेदे च निश्चिते पूर्वोक्ताभ्यासादिभिरानन्दमयस्य ततोऽपि निष्कर्षात् परमफलत्वं सुसिद्धमिति ब्रह्मवर्जीवः पूर्वोक्तविभूतिव्यष्टिरूपेभ्यः स्वकोशेभ्य उत्क्रम्य माश्रवर्णिकद्वयमाप्योत्करीत्या क्रमेण समष्टिभूतान्नमयायानन्दमयान्तानि विभूतिरूपाणि प्राप्यानन्दमयो भूत्वा, एतमानन्दमयं परं ब्रह्म प्राप्नोति । 'आनन्दमानन्दमयोऽवसाने' इति द्वितीयस्कन्धवाक्यात् । यद्यप्यत्रानन्दमयो मध्ये नोक्तस्तथापि, 'तद्विदोऽधिवरणः संबन्धात्' इतिन्यायेन श्रुत्यन्तरसिद्धत्वाभिवेशनीय इति नात्र विवादलेशः । एवमत्र त्याज्येभ्योऽन्नमयादिकोशेभ्य उत्क्रमणं तत उत्करीत्या विभूतिरूपाणां तेषामानन्दमयस्य परस्य च क्रमेण प्राप्तिरिति वर्णकद्वयोक्तमुपपन्नतरमित्यवधेहि ।

ननु भवत्वेवं ज्ञानमार्गीयाणां प्राप्तिः, परंतु भक्तिमार्गीयाणां प्राप्तिः कथं व्युत्पाद्या । प्राप्तिर्हि पूर्वमसंबद्धस्य पाश्चात्यसंबन्धरूपा । अत्र चाकारसमर्पकत्वेनानन्दमयस्य लौकिकेऽपि रश्मिः ।

बाध इति प्रकरणस्य बाधः । अन्यथेति एतद्भाष्यातुरोधेनोपाधित्यागेन च वाक्ये जीवेनात्मनेत्यत्र पीढा भागत्यागलक्षणापत्तेः । अन्तरिति आनन्दोऽसास्तीत्यानन्दः आकाश इति व्युत्पत्तेस्तथा । व्यापकत्वादिति विष्णोर्व्यापकस्य तदुरपि तथा । आदिना प्राणादिकर्तृत्वम् । प्राप्या एवेति एवकारः पूर्वोक्तमतान्तरपूर्वपक्षयोगव्यवच्छेदकः । तेनेति व्यष्टिसमष्टिभेदात् कोशत्वं तेन विभूतीनामप्यविरुद्धत्वम् । श्रुत्यन्तरीय इति शोध्यत्वलिङ्गेन जीवीयकोशबोधकश्रुत्यन्तरमन्नमयं प्राणमयं मनोमयं विज्ञानमयमानन्दमयमात्मा मे शुद्ध्यन्तामिति तत्संबन्धी श्रुत्यन्तरीयः । उपपन्न इति कारणसत्त्वादुपपन्नः । अनुपपन्नत्वं त्वीश्वरे जीवतुल्यतापत्त्या कोशाकल्पनात् । अन्यथा कोशा न स्युरित्येवकारः । ततोऽपीति विभूतिभ्योपि फलत्वेन निष्कर्षादित्यर्थः । प्राप्येति तेन सेवाफलीयमलौकिकसामर्थ्यफलं स्फुटीकृतम् । आनन्दमयो मूलेत्यर्थे प्रमाणमाहुः यद्यपीत्यादि । तद्विद इत्यादि अयं न्यायः फलाभ्यायस्य तृतीयेति पादे । ज्ञानमार्गीयाणामिति ब्रह्मविदिति व्याख्येयश्रुतेरित्यर्थः । व्युत्पा-

निषेधमुखेन चतुःसूत्र्येदमेवाधिकरणं पुनर्विचार्यते सुदृढत्वाय । इदमत्रा-
कृतम् । जीव एवानन्दमयो भवतु । फलस्य पुरुषार्थत्वात् । स ब्रह्मविदानन्दमयो
भवतीति स्वर्गादिसुखवदलौकिकमेव रूपमानन्दमयं जीवस्य फलभूतमिति
प्राप्तेऽभिधीयते ।

भाष्यप्रकाशः ।

शरीरे स्थितेः पूर्वं सिद्धत्वेन विभूतिरूपाणां चाकाशवद् व्यापकतया स्थितेरर्थात् सिद्धत्वेन
भक्तशरीरेष्वपि सत्तया पक्षिरूपेण तेषु भक्तशरीरेषु प्रवेशनिर्वचनाशक्तौ फलप्राप्तेऽनुत्पादयि-
तुमशक्यत्वादिति चेत् । अत्रोच्यते । अनुप्रवेशश्रुत्या, आविशदिति श्रुत्या च पुरेषु भग-
वत्प्रवेशो निर्विवादः । पक्षिलिङ्गेनान्येषामपि गतिप्रतिबन्धकीभूतव्यापकत्वोल्लङ्घनात् स
निर्विवादः । या पुनः सार्वदिकी स्थितिः सा तु तावन्मात्रकार्यार्थत्वादेतत्फलानुभावेन प्रयो-
जिका न भवत्येव । यथा काष्ठादिषु वह्निस्थितिर्दाहादौ । एवं सति वह्निष्ठो भक्त्या
यदान्तः प्रविशति, हृद्येव वा मायामपसार्य प्रादुर्भवति तदा अक्षरात्मकानि विभूतिरूपाण्यपि
भगवता सह विशन्त्याविर्भवन्ति वा । अक्षरस्य चरणाद्यात्मकत्वेन तेषामपि तत्त्वात् । इयं
तु लौकिकशरीरव्यवस्था । यदा त्वेतत्त्यागेनालौकिकशरीरे प्राप्तिस्तदा तु तत्र वर्तमानत्वात्
तेषां कार्यकारित्वमेवेति विशेषः । एवं चाधिभौतिकरूपेण व्याप्तानि तिष्ठन्त्याध्यात्मिकेन
प्रविशन्त्याधिदैविकेन कार्यं कुर्वन्ति । आधिभौतिकत्वं च लौकिके नियतम् । आधिदैविकत्वं
भगवति नियतं पर्यवसन्नम् । अवान्तरेषु सर्वेषु त्वाधिदैविकादित्रयमपि यथासंभवं सव्यपे-
क्षमिति, न कापि प्राप्तिव्युत्पत्तिप्रतिबन्ध इति जानीहीति दिक् ॥ १४ ॥

प्रकृतमनुसरामः । अग्रिमसूत्रमवतारयितुं तत्र प्रयोजनमाहुः निषेधेत्यादि । ननु को
वा संदेहो येन निषेधमुखविचारावश्यकतेत्यत आहुः इदमित्यादि । यद्यप्यानन्दमयस्य
फलत्वं, सर्वापेक्षयोत्कर्षश्च प्रतिपादितस्तथापि फलस्य पुरुषार्थत्वेन पुरुषशेषत्वात्, तस्यैव एव
शरीर आत्मेत्यानन्दमयेऽपि श्रावणाज्जीव एवानन्दमयो भवतु । नच मन्त्रवर्णविरोधः । स
ब्रह्मवित् सर्वान् कामान् अश्रुते, विपश्चिता ब्रह्मणा सह भूत आनन्दमयो भवतीत्यर्थोक्तौ
तदभावात् । तेन यथा स्वर्गसुखमस्य फलभूतं तथा अखण्डकरसं मुक्तावस्थालौकिकरूपमपी-
त्यर्थः । द्वयं पठित्वा व्याचक्षते ।

रहिमः ।

येति अत्र विशेषः फलाध्यायद्वितीयचरणे द्रष्टव्यः । फलप्राप्तेरिति विरहानुभवरूपफलप्राप्तेरित्यर्थः ।
आधिभौतिकादिभेदेन समादधते अत्रोच्यत इत्यादि । गतीति गतिप्रतिबन्धकीभूतं व्यापकत्वं
तस्योल्लङ्घनादित्यर्थः । तावन्मात्रेति द्वा सुपर्णेति श्रुत्युक्तमात्रकार्यार्थत्वादित्यर्थः । एतत्फलेत्यादि
विरहफलानुभावेन । तदनुप्रविश्य सच्च स्वभाववत् इति फलानुभावेन । वह्निस्थितिरिति अन्तर्वह्नि-
स्थितिरित्यर्थः । दाहादाचिति प्रयोजिका न भवतीति पूर्वेषान्वयः । आधीति नन्वाध्यात्मिकत्वं
कुतो नोक्तमिति चेन्न प्रवेशे आधिदैविकजन्ये आधिभौतिकाधिदैविकसंबन्धादाध्यात्मिकत्वमुभय-
निष्ठमिति ॥ १४ ॥

१. रूपमिति ।

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥ १५ ॥

इतरो जीवो न । आनन्दमयो न भवति । कुतः । अनुपपत्तेः । जीवस्य फल-
रूपत्वमात्रेणानन्दमयत्वं नोपपद्यते । तथा सति तस्य स्वातन्त्र्येण जगत्कर्तृत्वेऽ-
लौकिकमाहात्म्यवत्त्वेन निरूपणं नोपपद्यते । अतो न जीव आनन्दमयः ॥ १५ ॥

भेदव्यपदेशाच्च ॥ १६ ॥

इतोऽपि न जीव आनन्दमयः । यतो भेदेन व्यपदिश्यते । 'रसः खेवायं
लब्धवानन्दी भवति' इति । आनन्दोऽस्यास्तीत्यानन्दी । एष खेवानन्दयातीति ।

भाष्यप्रकाशः ।

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥ १५ ॥ इत्यादि । तथा सतीति जीवस्यानन्दमयत्वे सति ।
निरूपणमिति ब्रह्मणो निरूपणम् । तथाच, 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इत्या-
दिनोक्तं माहात्म्यं जीवेऽपि गच्छेतां श्रुतिं विरुद्ध्यदिति माहात्म्यश्रुत्यनुपपत्तेस्त्येत्यर्थः ।
नचत्रैव जीवस्य निरङ्कुशजगत्कर्तृत्वधारणे कृते फलाध्यायस्यस्य बह्यमाणस्य जगद्व्यापारवर्ज-
स्यस्य वैयर्थ्यापत्तिरिति शङ्कम् । तत्रैतादृशजगद्व्यापारराहित्यस्याविवक्षितत्वेनावैयर्थ्यात् ॥ १५ ॥

भेदव्यपदेशाच्च ॥ १६ ॥ 'रसः खेवायं लब्धवानन्दी भवति' इत्यत्रानन्दीति
लब्धुलब्धव्यभेदव्यपदेशो न जीवभेदगमकः । 'आत्मलाभात् परं विद्यते' इत्यत्र स्वरूपैक्येऽपि
लब्धुलब्धव्यभेदव्यपदेशदर्शनेन तस्यानियामकत्वादिति परे मन्यन्ते । तन्निवारणायाहुः
एष खेवेत्यादि । तथाचानया श्रुत्याऽऽनन्दीयानन्दकत्वेन भेदनिर्देशाज्जीवब्रह्मभेदे सिद्धे
रहिमः ।

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥ १५ ॥ प्रयोजनमिति सुदृढत्वं भाष्योक्तं प्रयोजनम् । निषेधेत्यादि
जीवजडनिषेधोपायविचारावश्यकतेत्यर्थः । तस्येत्यादि । सिद्धान्ते तु तस्येत्यभेदे षष्ठी भवति ।
भवत्त्विति आनन्दमयरूपफलसोक्तश्रुत्या पुरुषार्थत्वावसायात् । अधीष्टे लोद । स ब्रह्मेत्यादि
भाष्यमवतारयन्ति न चेति । अत्रैवं जीवस्येति अत्र भक्तदेहे एव जीवस्य ॥ १५ ॥

भेदव्यपदेशाच्च ॥ १६ ॥ तस्येति जीवस्यानन्दप्रभुत्वनियामकत्वादित्यर्थः । पर इति
शंकराचार्याः औपाधिकभेदं जीवानन्दमयोर्भेदमन्यन्ते अतो जीवो नानन्दमय इति । जीवब्रह्मभेद
इत्यादि ब्रह्मचिक्रीडिषया भेदे सिद्धे 'आसीज्जानगद्यो धर्मः' इतिवाक्यात् मिदां 'मायामात्रमनूषान्ते
प्रतिषिद्ध्य प्रसीदति' इति भगवद्वाक्याच्च । चिक्रीडिषया भेदे सिद्धे इन्द्रियैर्मायापदवाच्याभिः स
पृथक् इत्येकवाक्यता भेदोक्तोद्देशोः । यद्वा ।

'आत्ममायामृते राजन् परस्यानुभवत्वनः ।

न घटेतार्थसंबन्धः स्वप्नद्रष्टुरिवाञ्जसा' ॥

इति वाक्यान्मायासत्त्वकृतो भेदो वर्तते इत्यदोषः । विकल्प एव वा 'एकोऽं बहु स्यात्
प्रजापेय' इतिश्रुत्या साकं भगवद्वाक्यस्य । श्रुत्योर्विरोधे विकल्प इत्येवं मनुस्मरणात् । इदानीं कथं
तर्हि 'आत्मान्वेष्टव्यः' 'आत्मलाभात् परं विद्यते' 'आत्मन्येवात्मना तुष्टः' इति श्रुतिस्मृतयो भवन्ति ।
यावत्त न लब्धेव लब्धव्यो भवतीत्युक्तमित्याशङ्क्य तथाप्यात्मनोऽनुत्पात्तत्वात्सत्त्वस्यैव सतत्त्वत्वात्त-
नोद्यमिचित्तो देहादिष्वनात्मस्वात्मत्वनिश्चयो लौकिको दृष्टः तेन देहादिभूतस्वात्मनोऽप्यात्मानन्विष्टो
अन्वेष्टव्योऽलब्धोऽलब्धव्योऽश्रुतः श्रोतव्योऽमतो मन्तव्यो विज्ञातव्यः इत्यादिभेदव्यपदेश उपपद्यते

आनन्दयतीत्यर्थः । चकारात् सूत्रद्वयेन जीवो नानन्दमय इति निरूपितम् ॥ १६ ॥
तर्हि जडो भवत्वानन्दमयः । न । आन्तरत्वात् कार्यरूपो भवति । किं तु
कारणरूपः । स स्वमते नास्त्येव । मताम्नरे तु प्रकृतिर्भवेत् । तन्निवारयति ।

कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥ १७ ॥

जडा प्रकृतिर्नास्तीति कारणत्वेन निराकृतैव । अथैतद्वाक्यान्यधानुपपत्त्या
सत्त्वपरिणामरूपा कल्प्यते । सा कल्पना नोपपद्यते । कुतः । कामात् ।
आनन्दमयनिरूपणानन्तरं, 'सोऽकामयत्' इति श्रूयते । स कामश्चेतनधर्मः ।
अतश्चेतन एवानन्दमय इति । चकारात्, 'स तपोऽतप्यत' इत्यादि । अतोऽनुमान-
पर्यन्तमर्थमबोधयद् वाक्यं न तिष्ठतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

आनन्दीति निर्देशस्यापि मेदोपोद्बलकत्वे बाधकाभावात् । आत्मलाभश्रुतावपि न जीवलाभ-
स्तात्पर्यविषयः, किंतु परमात्मलाभ एव । तत्र भूम्न एवात्मतया सनत्कुमारेण नारदं प्रति
छान्दोग्ये व्याख्यातत्वात् । अतो जीवब्रह्मैक्यस्य तद्रीत्या अभ्युपगमैकशरणत्वमिति दृष्टा-
न्तोऽप्यसंगत एवेत्यर्थः । नानन्दमय इति कस्यामप्यवस्थायां तथा ॥ १६ ॥

कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥ १७ ॥ कामाच्चेति सूत्रद्वयमवतारयन्ति तर्हि जड
इत्यादि । नेति । एतदेव विभजन्ते आन्तरत्वादित्यादि । मतान्तर इति सांख्यमते ।
जडेत्यादि 'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः' इत्यादौ प्रधानादिशब्दैः श्रुतावुक्तापि यादृशी सांख्यैर्जडा
मूलकारणभूताङ्गीक्रियते तादृशी श्रुतौ नास्तीतीक्ष्णतिष्ठने कारणत्वेन निराकृतैव । अथ तस्य
प्रियमेवेत्यवयवकल्पना वाक्यान्यधानुपपत्त्या आत्मपदार्थं गौणमङ्गीकृत्य आनन्दस्य सुखात्मक-
त्वेन सत्त्वधर्मत्वाद् सत्त्वपरिणामरूपा कार्यभूता कल्प्येत, सा तथेत्यर्थः । अनुमानपर्य-
रक्षिः ।

इत्यादि भाष्यं निरसन्ति आत्मलाभेत्यादिना । दृष्टान्तासंगतिमाहुः अत इत्यादि । दृष्टान्त
इति यथा मायाविनश्रमैस्त्रयस्य उत्सृजेणाकाशमधिरोहन्तः स एव मायावी परमार्थरूपो भूमिघ्नोऽन्यः ।
यथा वा घटाकाशादुपाधिपरिच्छिन्नानुपाधिपरिच्छिन्न आकाशोऽन्यः इति भाष्योक्तदृष्टान्त इत्यर्थः ।
तथेति चकाराद्देतुसमुच्चयार्थानुपपत्तेर्मेदव्यपदेशाच्च नेतर आनन्दमयः इत्यन्वयात्सूत्रद्वयेन जीवो
नानन्दमय इत्यर्थः ॥ १६ ॥

कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥ १७ ॥ प्रधानेत्यादिश्रुतिस्तु श्रेताश्चतरेस्ति । अत्र प्रधानादिश-
ब्दैरिति बहुवचनेन ज्ञायते प्रधानपदस्यः सुपां सुलुक् इत्यनेन सूत्रेण लुगिति । ईक्षन्ति सूत्र इति ईक्षत्य-
धिकरणस्य 'गौणश्चेत्प्रधानस्य' इति सूत्र इत्यर्थः । ईक्षत्यधिकरणस्य नामैकदेशग्रहणमीक्षत्यधिकरणस्य
सूत्रे । अथवा स्यादेतदित्यारम्य सुक्त इत्यन्तः संदर्भः ईक्षतिसूत्रस्यैव । ततश्चेत्यारम्य गौणश्चेत्यादिसूत्राभास
इतीक्षतिसूत्र एव निराकृता । उपलक्षणमेतत् । व्यासपरमैर्द्वितीयाप्याये रचनाधिकरणे निराकृतैवेति

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥ १८ ॥

इतश्च न जड आनन्दमयः । अस्मिन्नानन्दमये अस्य जीवस्य च 'आनन्द-
मयमात्मानमुपसंक्रामति' इति तेन रूपेण योगं शास्ति । फलत्वेन कथयतीति ।
न हि जीवस्य जडापस्तिरुक्ता । 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' इतिवदस्याप्यर्थः ।
तस्मान्नायं जीवो, नापि जडः । पारिशोष्याद् ब्रह्मैवेति सिद्धम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

न्तमित्यादि । वाक्यश्रवणोचरम्, आनन्दमयपदोक्तोऽर्थः सत्त्वपरिणाम आनन्दविकारत्वा-
ल्लौकिकसुखवदित्येवं यावदनुमीयते तावत् ततः पूर्वमेव कामवाक्यश्रवणात् तत्प्रतिहन्यते-
तत्तथेत्यर्थः ॥ १७ ॥

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥ १८ ॥ इतिवदस्याप्यर्थ इति 'आनन्दमान-
न्दमयोऽवसाने' इति श्रीमामावतीयवाक्यादानन्दमय एव सन्धानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामती-
त्यर्थो ज्ञेय इत्यर्थः ।

इवमधिकरणन्याख्यानां समाप्य विकारशब्दसूत्रे विशेषेणाऽऽपवादधुना परमतं दूष-
रक्षिः ।

व्याख्यानस्य । वाक्येति एतद्वाक्यं 'को ह्येवान्यात्कः' इत्यादि तच्छ्रयणोत्तरमित्यर्थः । प्रतिहन्यत
इति प्रतिपक्षेण हन्यते नाशयते । प्रतिपक्षस्तु आनन्दमयपदोक्तार्थः न सत्त्वपरिणामः कामात् यज्ञैवं
तन्नैवं यथा प्रकृतिः । अतस्तथेत्यर्थ इति अतः कारणादनुमानमनुमिती रचनानुपपत्त्यधिकरणे तथा
व्याख्यानात्तत्पर्यन्तमपेक्षेति मध्यमपदलोपी समासः । अपेक्षनर्थकम् । ईक्षा दर्शनम् । ईक्ष दर्शन इति
धातुपाठात् । एतादृशीमीक्षामवबोधं कारयतिष्ठतीत्यर्थे शैविकोण् । शेष इति सूत्रेण प्रत्ययः । नेति सूत्रे
वर्तत एव । वाक्यं प्रयोजककर्तृ ह्यर्थाध्याहारात् । अत उक्तमतः कामात्तथेत्यर्थ इति । तथाचायं
सुधार्थः । अनुमानापेक्षा न कामात् कामवाक्यादिति अपापेक्षाश्चाधिक्यमनुमानं न कामादित्येतावता
चारितार्थात् । एवं सत्यानन्दमयपक्षे हेतोः साध्यासामानाधिकरण्यादासाधारणत्वम् । दत्तेत्यपेक्षा-
शब्दे आनन्दमयपक्षे जडत्वापेक्षारूपप्रतियोग्यभावात् तत्प्रतियोगिकामावरूपसाधनाभावात् न पक्षे
हेतोः साध्यासामानाधिकरण्यं पक्षे हेतोः साध्यासामानाधिकरण्यं त्वेवं ज्ञेयम् । साध्ययनुमानपर्यन्तमर्थ-
मवबोधयद्वाक्यं तिष्ठेत्तदा हेतोः साध्यसामानाधिकरण्यम् । वाक्यावस्थामं तु तददत्तपदानां त्रिष्वशाक-
स्थायित्वेन प्रथमपक्षे सकारोत्पत्तिः द्वितीयपक्षे स्थितिस्तृतीयपक्षे नाशः ओकारप्रागभावश्च चतुर्थपक्षे
ओकारोत्पत्तिः पञ्चमपक्षे स्थितिः षष्ठपक्षे ओकारनाशः । ककारप्रागभावश्च इत्येवम् । ततः कामवाक्य-
नष्टत्वेनानवस्थानात्पक्षेऽनुमानपर्यन्तमवबोधनमेवं सोकामवदित्यत्र 'अ' तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणः' इति
गीतायास्तच्छब्दस्य शुद्धब्रह्मवाचकत्वेपि कामयतेतिपदसमभिव्याहारात् सृष्टिविषयिणीष्मरजउपाधि-
विशिष्ट इति विशिष्टे लक्षणेति रजोनमानमत्र । साध्यतावच्छेदकसंबन्धो विशेष्यविशेषणमाका-
हेतुतावच्छेदकसंबन्धः स्वनिष्ठप्रतिपादकतानिरूपितप्रतिपाद्यतात्मः शब्दार्थसंबन्धस्य नित्यत्वेन
संबन्धस्य द्विनिष्ठत्वम् । भाष्ये । तिष्ठतीति 'पदद्वयं सुसिद्धं ताम्सां चळति वाङ्मपतिः' इति
वाक्यात्तिष्ठतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥ १८ ॥ भाष्ये । जीवस्य चेति इदमा प्रत्यक्षी-

ये पुनरधिकरणभङ्गं कुर्वन्ति, तेषामज्ञानमेव । यतस्तैरप्यानन्दमयः कः पदार्थ इति वक्तव्यम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

यन्ति खोक्तसमर्थनाय ये पुनरित्यादि । ये शंकरा एकवारं सर्वसंमतप्राचीनरीत्या व्याख्याय, पुनरिदं त्विह वक्तव्यमित्यादिना प्रायपाठविरोधमाकस्मिकत्वमेकसैवावयवित्वावयवत्वाम्यामसामञ्जस्यम्, असन्नेवेत्यादिश्लोकद्वयविरोधमानन्दप्राचुर्येऽपि दुःखसाहचर्यमप्रह्लात्वापत्तिमानन्त्यैकत्वविरोधमानन्दमयपदानभ्यासं च प्रदर्शयानन्दमयपदस्य ब्रह्मपरत्वानादर्शनेन व्याख्योक्तस्याधिकरणस्य भङ्गं कुर्वन्ति तेषां श्रुत्यर्थाज्ञानमेव । यतस्तैरप्यानन्दमयपदार्थः क इति प्रश्ने तस्योत्तरं वक्तव्यम् । तस्यानुक्तत्वाद् तथेत्यर्थः । न चानन्दमयपदस्य ब्रह्मपरतायां दूषितायां जीवो वा जडो वा पारिशेष्यादानन्दमयः सेत्स्यतीति कथमनुक्तत्वमिति वाच्यम् । दूषणानामसंगतत्वात् । तथाहि । अस्यामुपनिषद्यारम्भे एव 'ब्रह्मविदामोति परम्' इति ब्राह्मणोक्तोऽर्थः सत्यं ज्ञानेत्यस्यामृचि संक्षेपेणोक्तः । स एव संपूर्णं प्रपाठके विस्तारश्चिः ।

कृतस्यानन्दमयस्य चकारेण जीवस्य चेत्यर्थः । प्रकृते । व्याख्यायेति आनन्दमयः परमात्मेति स्थितमिति व्याख्यायेत्यर्थः । प्रायपाठेत्यादि 'स वा एष पुरुषोन्नरसमयः तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयस्तस्मादन्योन्तर आत्मा मनोमयस्तस्मादन्योन्तर आत्मा विज्ञानमयः' इति च विकारार्थे प्रवाहे सत्यानन्दमय एवाकस्मादर्धजरतीयन्यायेन कथमिव मयटः प्राचुर्यार्थत्वं ब्रह्मविषयत्वं वाश्रीयते इति भाष्येण प्रायपाठविरोधमाकस्मिकत्वं च आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वे दूषणम् । एकस्येत्यादि । तथा सति तदेव ब्रह्मानन्दमय आत्मावयवी तदेव च ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठावयव इत्यसामञ्जस्य स्यादिति भाष्योक्तं तत् । असन्नेवेत्यादीति । अस्मिंश्च श्लोकेऽननुकृत्यानन्दमयं ब्रह्मण एवाभावाभाववेदनयोर्गुणदोषाभिधानात् गम्यते ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेत्यत्र ब्रह्मण एव स्वप्रधानत्वमिति । न चानन्दमयस्यात्मनो भावाभावशङ्का युक्ता । प्रियमोदादिविशेषस्यानन्दमयस्य सर्वलोकप्रसिद्धत्वात् इत्यनेन भाष्येण श्लोकविरोधमित्यर्थः । द्वयपदमसदेवेति श्लोकस्याप्येतत्समानयोगक्षेमत्वादुपात्तम् । आनन्देत्यादि आनन्दप्रचुर इत्युक्ते दुःखास्तित्वमपि गम्यते इत्यनेन दुःखास्तित्वम् । अन्नब्रह्मत्वेत्यादि । तथा च सति 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' इति भूमि ब्रह्मणि प्रतिशरीरं तद्व्यतिरिक्ताभावश्रुतिरुपस्थित इत्यनेनाब्रह्मत्वापत्तिं प्रियादिभेदादानन्दमयस्य भिन्नत्वं ब्रह्म तु न प्रतिशरीरं भिद्यते 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यानन्त्यश्रुतेरित्यनेनानन्त्यविरोधम् 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' इति श्रुत्यन्तरादेकत्वविरोधम् । न चानन्दमयाभ्यासः श्रूयते प्रातिपदिकार्थमात्रमेव हि सर्वत्राभ्यस्यते यदेष आकाश आनन्दो न स्यादित्यादिषु । यस्त्वानन्दशब्दस्य मयडन्तस्यैवाभ्यासोयं एतमानन्दमयमुपसंक्रामतीति । न तस्य ब्रह्मविषयत्वमस्तीति विकारात्मनामन्नमयादीनामुपसंक्रामितव्यानां प्रवाहे पठितत्वादित्यनेन भाष्येण आनन्दमयपदानभ्यासम् । तथाति अज्ञानमित्यर्थः । इदं त्विह वक्तव्यमित्यादिनाधिकरणं मञ्जन्ति आनन्दमयस्य प्रकृतत्वात् । ब्रह्मत्वं यत्तदमाह्वर्येण भाष्येण तद्ब्रह्मः तथाहीत्यादिना । भाष्यं तु तत्र यत्तद्ब्रह्म मन्त्रवर्णं प्रकृतं 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति तदिह ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेत्युच्यते तद्विज्ञापयिषया एवात्रमयानन्द-

१. दुःखास्तित्वे सति ।

भाष्यप्रकाशः ।

रेण व्याख्यायते । तत्र ज्ञानशेषस्य ब्रह्मण ऋचि स्वरूपलक्षणवाक्यादेवासंदिग्धं प्रतीदेत्तत्र संदेहादुदयेन तदर्थमुपपादनविस्तारस्याप्रयोजनकत्वात् फलवाक्ये विभक्तिवचनयोर्भेदेन संदेहात् तदर्थ एव संपूर्णप्रपाठक उपपादनीयः । अत उपपादनवीजत्वेन ज्ञानशेषस्य ब्रह्मणो मन्त्रवर्णं प्रकृतत्वकथनमेवासंगतम् । तत एव तद्विज्ञापयिषया पञ्चानां क्रोशत्वकथनमपि तथा । हेयपरयोरैक्याङ्गीकारोऽपि शब्दान्तरप्रयोजनाननुसंधानात् तथा । विकारप्रत्ययासंभवस्य प्रागुपपादितत्वाच्च प्रायपाठविरोधोक्तिराकस्मिकत्वोक्तिश्चापि तथा । प्रियाद्यवयवयोगस्य बाधकत्वकथनमपि तथा । द्वितीयवर्णकसमाप्तिस्यपरोक्षवादव्याख्यातरीतिकर्मकहृदयाधिकरणप्रादुर्भावाज्ञानात् । केवलनिर्देशेपब्रह्मवादखेदत्वधिकरण एव निरस्तत्वाच्च । एकस्यावयववाच्यविभावविरोधकथनमपि, प्राणस्य प्राणमिति श्रुतिस्यस्य, नेह नानास्तीति भागस्यार्थोज्ञानादेव । आकारदर्शनं विना नानात्वस्फुरणायोगेन तस्य निषेधानर्हतया तेनैवाकारप्राप्तौ सत्यां नानात्वनिषेधस्यावयववाच्यविभावविरोधाभाव एव पर्यवसानादिति । एवं, 'कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' इति कृत्स्नपदादपि ज्ञातव्यम् । अकृत्स्नत्वापादकमेदुपप्लुदयं विना भेदनिवारणफलककृत्स्नपदवैयर्थ्यस्य दुष्परिहरत्वादिति । एवमसन्नेवेति श्लोकस्य ब्रह्म पुच्छेत्युक्तब्रह्मपरत्वोत्प्रेक्षणमपि निर्हेतुकम् । अन्नमयादिश्लोकानामिवास्याप्यवयवविपरतायाः प्राञ्जलायास्त्यागे बीजाभावात् । नच प्रियमोदादिरूपस्यानन्दमयस्य सर्वप्रतीतिगोचरत्वात् तद्विषयकभावाभावशङ्काभावादेतस्य श्लोकस्यासंगतिरेव बीजमिति युक्तम् । उक्तप्रियादिपञ्चावयवविशिष्टावयविरूपेणानन्दमयपुरुषज्ञानस्य स्वतः काप्यदर्शनेनोक्तश्रुतित एव ज्ञानसंभवे तत्र

रश्मिः ।

मयान्ताः पञ्चकोशाः कल्पन्ते तत्र कुतः प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्ग इति । ज्ञानशेषस्येति ब्रह्मविदिति श्रुत्यर्थे ज्ञानविषयस्येत्यर्थः । तदर्थं ज्ञानशेषब्रह्मार्थम् । विभक्तीत्यादि परमिति ब्रह्मणा विपश्चितेति च विभक्तिभेदः । परमिति सर्वान् कामानिति च वचनभेदः । तदर्थं इति ज्ञानशेषब्रह्मार्थे । तत एवेति ज्ञानशेषस्य ब्रह्मणोऽप्रकृतत्वादेत्यर्थः । एतेन नन्वानन्दमयवाच्यत्वेन ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेत्युच्यते । अन्नमयादीनामिवेदं पुच्छं प्रतिष्ठेत्यादि तत्र कथं ब्रह्मणः स्वप्रधानत्वं शङ्क विज्ञानुम् । प्रकृतत्वादिति भ्रम इति भाष्यमपि निरस्तम् । तथेति असंगतम् । संनियोगश्रुत्यायात् । विभक्तित्वस्यान्नमयादीनामुपपादितत्वाद्वा । ऐक्येति ब्रह्मविदामोति परमित्यनेत्यर्थः । शब्दान्तरैत्यादि उक्तमणादिशब्दान्तराणामित्यर्थः । एतच्च द्वितीयाध्यायवृत्तीयपादे स्फुटम् । ब्रह्मशब्दात्परशब्दः शब्दान्तरं वा । इतः परं क्रमेणोक्तानि दूषणान्युद्धरन्ति स विकारेत्यादि । बाधकत्वेत्यादि असामञ्जसरूपबाधकत्वेत्यर्थः । द्वितीयवर्णक इत्यादि द्वितीयस्मिन् वर्णके आनन्दमयोप्याद्यत् इत्येवं पुनः सूत्रप्रक्षेपेण वर्णके समाप्तिस्यो यो वस्तुतस्त्वित्यादिना मणितः परोक्षवादखेनेत्यादि । 'ततो ह जातो शुक्लस्य गोपा हिरण्यमयः शकुनिर्ब्रह्मनाम' इति श्रुतेः । कदाचित्पादुर्वावस्थे शकुनिर्द्वयमपि यथा । मद्यमन्तरिक्षदेवेनादेहेन शकुनिर्द्वयं दत्तं मांसापरिमाणकम् । बीजाभावादिति

१. श्लोके बहुत एवै मांसा मांसा कहियत हे ।

५२ अ० सू० २०

भाष्यप्रकाशः ।

विश्वासरहितस्य निन्दाया विश्वस्तस्य प्रशंसायाश्च बोधनेनास्यासंगत्यभावात् । एवं, 'यतो वाचः' इति वाक्यशेषस्य निर्विशेषसमर्पकत्वकथनमपि तथा । नायमात्मेति मन्त्रे स्मृततनु-
विवरणश्रावणेनैतदुच्यते श्रावितस्यानन्दवित्त्वस्यापि तत एव सिद्ध्या तदननुगृहीतवाचानस-
योरगोचरत्वस्यापि तत एव सिद्धेस्तस्य निर्विशेषसमर्पकतायाः कल्पयितुमशक्यत्वात् । किंचो-
क्तप्रणाड्या वेदनविषयाणामलौकिकानामेष प्रियादीनामत्र पूर्वोक्तरीत्या परामर्शात् तेषां प्रति-
शरीरं मेदाभावादेवानन्दमयस्यानेकत्वमपि न शक्यकल्पनम् । अत आनन्दमयेऽनेकत्वप्रस-
ञ्जनाय लौकिकानां प्रियादीनामादरोऽप्यसंगत एव । यत्पुनर्न चानन्दमयपदाम्यासः श्रुत
इत्यादिना आनन्दमयपदाम्यासे आनन्दमयपदाम्यासस्याशक्यकल्पनत्वमुक्तं तदपि तथैव ।
यतोऽभ्यासोऽभ्यस्यमानं भिन्दन्नाभ्यस्तपदवाच्येन सामान्यरूपेण तं भिनत्ति, किंतु पदान्त-
रोक्तेन विवक्षितरूपेण । समिधो यजतीत्यादिरूपे तदुदाहरणे पञ्चसु यागत्वे समानेऽपि
पदान्तरोक्तसमिदादिरूपेणैव भेददर्शनात् । एवं सति तत्र यथाभ्यस्तो यजतिः समिदादि-

रश्मिः ।

नहि देवदत्तावयवे संपूर्णदेवदत्तत्वमुपपादयितुं शक्यम् । विश्वासेत्यादि श्रुत्या प्रतिपादनादेतादृशमेव
ब्रह्मेति ज्ञानरहितस्य । शुद्धभनोवशसेति यावत् । विश्वस्तस्येति श्रुत्या प्रतिपादनादेतादृशमेव
ब्रह्मेति सत्यं दधतः । असंगतीत्यादि तथा च युक्तिनिषेधे पर्यवस्यत्ययं श्लोकः इति भावः ।
तथा च नेदमपि ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेत्यत्र ब्रह्मण एव स्वप्रधानत्वमित्यस्य गमकमित्यानन्दमयावयवत्वेनापि
ब्रह्मणि विज्ञायमाने न प्रकृतत्वं हीयते । आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वादित्येवेति भावश्च । नायमात्मेत्यादि
मुण्डकेस्त्ययं मन्त्रः । यत्र ब्राह्मणानां मन्त्र इति समाख्या स मन्त्र इति मन्त्रलक्षणात् । स्वकृतेति स्वां
तनुं विवृणुते संभजते प्रकाशनार्थम् । रामोत्तरतापनीयात् । तस्य तनुं स्वां स्वकीयां कृत्वेति वा
गुरुत्वनामयोगोलके बहिरिव ब्रह्मवेशात् । एतदुत्तरार्थं इति । यत इत्यस्याः श्रुतेरुत्तरार्थं । तत
एवेति वृत्ततन्वा एवेत्यर्थः । यतस्तन्वा मनआदिभिरानन्दज्ञानं मनसि जायते इति । तदित्यादि
तनुविवरणकर्तुरात्मनोऽनुग्रहीतेत्यर्थः । तत एवेति अवृत्ततन्वा एवेत्यर्थः । तस्येति वाक्यशेषस्ये-
त्यर्थः । निर्विशेषेत्यादि आनन्दं ब्रह्मण इत्यत्रानन्दो मायिको विवर्त इति मायावादः 'इन्द्रो मायाभिः
पुरुष इयते' इति श्रुतौ मायिकत्वमैन्द्रियकत्वं भिदां 'मायामात्रमनुद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति' इति
भगवद्वाक्यादिति । सिद्धान्तान्तरे ब्रह्मवादः । उभयव्यपदेशाधिकरणरीत्या विद्वन्मुण्डनोक्तरीत्या च
सकलविरुद्धधर्माश्रयो ब्रह्मेति राद्धान्तियो ब्रह्मवादः । अत इति साकारस्यैव ब्रह्मणो व्यापकत्वमिति
सिद्धान्तात् । अभ्यस्यमानमिति यथात्र प्रस्तुतानन्दम् । सामान्येति यथात्र प्रस्तुतानन्देऽभ्य-
स्तत्वं प्रस्तुतत्वं च तयोरभ्यस्तत्वसामान्यं रूपं प्रस्तुतं विशेषरूपं तथा यागत्वं सामान्यरूपं समिधायाः
तनून्पाषाण इत्यादौ समिदादिविशेषरूपं विशेषणत्वात्तदुक्तमत्र किं तु पदान्तरोक्तेनेत्यादिना ।
पदान्तरोक्तेत्यादि यद्यपि शास्त्रदीपिकादौ अभ्यस्तविधिश्चुत्या कर्मभेद इत्येवोक्तं तथापि
केन रूपेणेति विचार्यमाणे सामान्यरूपेण संभवादेतेनैव रूपेणेति भावः । नैयायिकरीत्या शक्तं पदं
स्वीकृत्य स्तुत्या प्राचुर्यार्थकानन्दाभ्यासादन्नमयादिभेदसाधकस्तादृशानन्दाभ्यास इत्याशयेनाहुः

१. सत्यानाम । २. ब्राह्मणं वेदान्तेषु ब्राह्मणत्वात् ।

न तावज्जीवः । तस्य ब्रह्मज्ञानफलत्वेन, ब्रह्मणा विपश्चितेत्यानन्दमयस्यो-
क्तत्वात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

पदाम्यासकल्पनानपेक्ष एव समिदादिरूपयामभेदसाधकत्वात्प्राणानन्दपदमप्यानन्दमयपदाम्यास-
कल्पनानपेक्षमेवानन्दमयरूपानन्दभेदसाधकमिति स्फुर्त्या तादृशशङ्काया एवानुदयादिति बोध्यम् ।
अथानन्दब्रह्मीभाष्ये यदुक्तमानन्द इति विद्याकर्मणोः फलं, तद्विकार आनन्दमय इति ।
प्रियादिवासनानिर्वृत्तौ ह्यात्मानन्दमयो विज्ञानमयाश्रितः स्वप्न उपलभ्यत इति च । तदप्य-
संगतमिति । तत्रान्त्यं दूषयन्ति नेत्यादि । अयमर्थः । ब्राह्मणे परशब्देनोदितं फलं तद्व्या-
ख्यारूपायामृचि न केवलेन कामपदेन शक्यवचनम् । तेषां हेयब्रह्मभाष्येऽप्यपरत्वेन
अगुपजीव्यब्राह्मणस्यपरशब्दविरोधापातात् । किंतु विपश्चित्ब्रह्मपदाम्यां सहितेन । अतः,
सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेत्येतावन्तं ग्रन्थं व्याख्यातुं सर्वप्रपाठक इत्युपपादितम् ।
तथा सत्यममयादीभिरुप्य सर्वान्तरः प्रियाद्यवयववानानन्दमयो यो व्याख्यायते स
जीवस्य ब्रह्मज्ञानफलत्वेनैव व्याख्यायते । तत्रावयवा एव कामपदार्थोऽवयव्येव विपश्चित्-
ब्रह्मेति सिद्ध्यति । उत्तरत्रैतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामतीत्यनेन तादृशस्य तस्यैव पर्यवसि-
रश्मिः ।

अत्रानन्दपदमित्यादि । अत्रेति ब्रह्मवित्प्रपाठके । आनन्दमयरूपेति अत्रानन्दशब्दप्राचुर्येण
प्रस्तुतानन्दविषया ज्ञेया । तादृशेति आनन्दमयपदाम्यासश्रवणरूपशङ्कायाः । आनन्दमयपदाम्यास-
श्रावणकल्पनानपेक्षत्वेनानुदयात् । अत्राभावस्य प्रतियोगिज्ञानसापेक्षत्वाङ्गीकारादेवकारः । न चैवमपि
वर्णके दृष्टान्तविरोध इति वाच्यम् । वर्णक आनन्दपदेनोपसंक्रामतेर्विवक्षितत्वात् स्थानसाम्यात् ।
तथा चैतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति, एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रामति, एतं मनोमयमात्मानमुप-
संक्रामति, एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रामति, एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामतीति पञ्चकृतोभ्यस्त
उपसंक्रामतिरन्नमयादिभेदसाधक इति दृष्टान्तसाम्यं बोध्यम् । अभ्यासादित्यत्र सामान्यरूपेणाभ्यास-
त्वेनाभ्यासकथनात् । एतेन यस्त्वयं मयडन्तस्यैवानन्दशब्दस्याभ्यासः एतमानन्दमयमात्मानमुप-
संक्रामतीति न तस्य ब्रह्मविषयत्वमस्ति विकारात्मनामेवात्रमयादीनामनात्मनामुपसंक्रामितव्यानां प्रवाहे
पठितत्वादिति भाष्यमपि प्रत्युक्तम् । विकारे मयटः प्रास्यभावात् । किं चैतेनानन्दमयस्य ब्रह्मत्वे
निर्णीते ह्यानन्दपदस्य लक्षणयानन्दमयपरत्वज्ञानादभ्याससिद्धिः । तत्सिद्धौ तन्निरणय इत्यन्योन्याश्रय-
फलकं यत्, यदि चानन्दशब्दस्य ब्रह्मविषयत्वं निश्चितं भवेत् तत उत्तरेष्वप्यानन्दमात्रप्रयोगेषु
आनन्दमयाभ्यासः कल्प्यते न त्वानन्दमयस्य ब्रह्मत्वमस्ति प्रियशिरस्त्वादिभिर्हेतुभिरित्यवोचामेति भाष्यं
प्रत्युक्तम् [आनन्दमयेत्यादि अत्रानन्दपदं प्राचुर्येण प्रस्तुतानन्दवाचकमेवमेव सामानाधिकरण्यात्]
विद्याकर्मणोरिति पुण्यकर्मार्थकं कर्मपदं समासघटकं बोध्यम् । आनन्दसाधनत्वात् । विकारार्थ-
मयडन्तत्वे स्थातुभवं प्रमाणयति स प्रियादीत्यादि । प्रियादिकर्मजन्यसंस्कारविशेषरूपवासनया निर्वृत्तं
आनन्दित इत्यर्थः । आनन्दमय इति विषयानन्दमयः फलत्वाद्ब्रह्मज्ञानमयाश्रित इत्यर्थः । इतीति
इतिहेतुवाचकः । तत्र तयोः पक्षयोः । शक्यवचनमित्यत्र व्याख्यातुमिति शेषः । सहितेनेति
कामपदेनेति विशेष्यम् । उपपादितमिति उपपादनीयं च संदिग्धमिति भाष्य उपपादितम् ।
जीवस्येति माषीयस्य तस्येत्यस्य व्याख्यानम् । तेनैतद्भाष्यपूर्वभाष्यस्य न तावज्जीव इत्यस्य
जीवः प्रियादिवासनानिर्वृत्तौ ह्यानन्दमयो विज्ञानमयाश्रित इत्यर्थः । कामपदार्थ इति काम्यन्त
इति कामाः प्रियादयः । तादृशस्य तस्येति अवयवविशिष्टसावयविन इत्यर्थः । तर्कमप्याहुः

भाष्यप्रकाशः ।

तफलत्वेनोपसंहारात् स यदि जीवत्वेन विवक्षितः स्यात् प्रथमान्तत्वेनात्र निर्दिष्टः स्यात् । सोऽश्रुत इति श्रुतौ फलशेषिणो जीवस्य प्रथमान्तत्वेनैव निर्दिष्टत्वात् । भोक्तृफलयोरैक्यापत्तिश्च स्यात् । किंचान्मयादीनां व्यवहारे सतामत्र प्रायपाठेनाकस्मात् तद्विहाय स्वभो-पलभ्यमानग्रहणे तद्विरोधोऽपि । किंच ब्रह्मांशस्याविद्ययात्यन्तभिन्नत्वमानिनो जीवस्य 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्युक्तो ब्रह्मभावः सर्वात्मभावरूपं ज्ञानं तदधिकाररूपा अविद्यानिवृत्तिश्च न ब्रह्मज्ञानफलत्वेन वक्तुं शक्यानि । ब्रह्मभावस्यावरणभङ्गमात्रेण स्वतो भवनस्य भवतिना बोधनात् । प्रकृते तदङ्गीकारे द्वितीयाविभक्तिपीडा लक्षणादोषश्च स्याताम् । ज्ञानस्य तथा-

रश्मिः ।

स यदीत्यादिना स आनन्दमयः । अथ जड इत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म किं चान्नेत्यादि । अन्नमयादीनां पुरुषविधानां जडत्वेपि फलत्वम् । अन्वयस्यानन्दमयत्वात् । आत्मसुखरूपस्वर्गः लोकरूपे स्वर्गेण्वित इति जडोपि लोकः फलं तद्वत् । तदिति स्वर्गं आत्मसुखं तर्हि आत्माश्रितः स्वर्गो लोकस्तर्हि जडः स्वर्गोद्भवदेहादिस्तदाश्रित आसमन्तात् सेवितः इत्युच्यते । किमाश्रित इति प्रश्ने-आद्ये आनन्दमयस्य ज्ञानफलत्वे जितं ब्रह्मवादिभिः । द्वितीये दूषणमाहुः जडाश्रितत्व इति । एवकारो विद्यायोगं व्यवच्छिनति । व्यवहारे सतामिति स्वप्रवैलक्षण्यार्थमुक्तम् । तद्विहाय इति जडं धर्मफलं विहाय । तद्विरोध इति स्वाप्तिकस्यास्य आनन्दमयस्य ग्रहणे उक्तप्रायपाठविरोध इत्यर्थः । अपिना स्वर्गफलविरोधः । ज्ञानस्यापीत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म किं च ब्रह्मांशस्येत्यादि । ब्रह्म वेदेति वेदनरूपज्ञानेनाविद्यानिवृत्त्या ब्रह्मैव भवति आवरणभङ्गात् ब्रह्मभावः अयमितः प्रेत्य । सर्वात्मभावरूपतृतीयाध्याये स नात्र ब्रह्मज्ञानफलत्वेनेति वक्ष्यमाणप्रकारानुपपत्तेस्तस्य प्रदानसाध्यत्वात् । अतोऽहं मनुभवं सूर्यश्चेत्युक्तः । अयं सशरीरस्य । ब्रह्मज्ञानेति ब्रह्मविदाप्नोति इत्यनेनोक्तं ब्रह्मज्ञानं तत्फलत्वेनेत्यर्थः । अतो ज्ञानस्याप्यवान्तरफलं ब्रह्मभावादि । शक्यानीति 'नपुंसकमनपुंसकेनैकव-च्चास्यान्यतरस्याम्' इतिसूत्रेण शक्यो ब्रह्मभावः शक्या विद्यानिवृत्तिः शक्यं ज्ञानं तानीमानि शक्यानी-त्येवमेकशेषः । कथमत्र तल्लक्षण एव विशेष इति चेन्न अविद्यानिवृत्तिसाध्यः सर्वात्मभावो विद्या विद्या-विरुद्धसम्यङ्निवृत्तिश्च ज्ञानात्मिकेति त्रयाणां ज्ञानरूपत्वेन लिङ्गलक्षण एव विशेषादिति । निवृत्तिरभावोधि-करणात्मेति ज्ञानरूपत्वं सिद्धान्तेऽप्यभावो ज्ञानात्मेति सर्वं सुस्थम् । भवतिनेति 'इक्षुदिमपौ धातुनिदेशे' इतिसूत्रेण तिप् ततः सुबुत्तया या तेन तृतीयान्तमिदं पदं बोध्यम् । प्रकृत इति एतमानन्द-मयमात्मानुपसंक्रामतीत्यर्थः । द्वितीयाविभक्तीत्यादि । कर्मणि द्वितीया इतीति वक्तव्यम् । तत्र कर्म उत्पाद्यं विकार्यं संस्कार्यमाप्यं चेति चतुर्विधम् । तत्र नित्यत्वान्नोत्पाद्यं कर्म आनन्दमयो षट्पत् । अपरिणामत्वान्न विकार्यं दधिपत् । नित्यकरसत्त्वान्न संस्कार्यं ब्रीहिवत् । स्वात्ममात्रत्वान्नोत्पाद्यं ग्रामवदिति विभक्तिपीडा विज्ञानमय आपादरूपविभक्तेः शक्तिरूपध्यापारेण्यथा-कृते पीडा भवत्येव न च विकारे मयडिति कर्मत्वोपपत्तिरिति वाच्यम् । विकारशब्दसूत्रविरोधात् । ब्रह्मवित्फलत्वाच्च न विकारे मयडिति । आनन्दमय इत्यत्र विज्ञानपदस्याभेदान्वयानुपपत्त्या स्वाश्रिते लक्षणादोषश्चेत्यर्थः । तथात्वेति ब्रह्मज्ञानफलत्वाङ्गीकार इत्यर्थः । अयमर्थः । यथा ब्रह्मणा विपश्चि-तेति पदाभ्यां यथानन्दमयो गृहीतस्तथा सूर्यो विपश्चिन्मनसा पुनातु इति श्रुत्या विपश्चित्सूर्योऽपि इति सदानन्दग्रहणविवृत्तिरपि तस्यैव एव शरीर आत्मा यः पूर्वस्येत्यत्र यः पूर्वस्यात्प्रोक्तः सच्चिद्विपश्चि-

अथ जडः स्वर्गवत् तदा किमाश्रित इति वक्तव्यम् । जडाश्रितत्वे कर्मफलमेव स्यात् । ज्ञानस्याप्यवान्तरफलमिति चेन्न तर्हि किमानन्दात् तस्यातिरिक्तं फलं भविष्यति । जडचिद्रूपतायाः पूर्वमेव विद्यमानत्वात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

त्वाङ्गीकारे तु तस्य, स यथायं पुरुषे यथासावादित्ये स एकः स य एवंविद् इति साधनशेषभूतपुरुषविशेषणत्वेन तत्कोटिनिविष्टत्वात् । साधनरूपस्य फलरूपस्य च ज्ञानस्यावैजा-त्यात् साधनफलभावव्याहृतिश्च । तेन, एतद् इ वा व न तपतीत्यादिकं ब्रह्मविन्माहा-त्म्यबोधनद्वारा विद्यादिमाहात्म्यायैव सिद्धयति । अतः श्रुतिव्याख्यानस्यासंगतत्वादानन्द-मयो जीव इत्यसंगतम् । एवं द्वितीयं दूषयित्वा आद्यं दूषयन्ति अथ जड इत्यादि । जीवाश्रितत्वे भोक्तृशरीरान्तःपातात् तद्व्यतिरिक्तं जडं वा ब्रह्म वा आश्रित इत्यनयोर्मध्ये रश्मिः ।

ज्ञानरूपः किं न स्यादत उक्तं ज्ञानस्य तथात्वाङ्गीकारे त्विति पूर्वं श्लोकचतुष्टयान्तः प्रपाठकः समर्थितः । अग्रिमपदमीमांसामिप्रायश्चोक्तः अग्रिमार्थमस्मिन् पक्षे आहुः तस्य स य इति तस्येत्यस्य साधन-रूपस्येत्यनेनान्वयः । श्रुत्यर्थस्तु आनन्दमीमांसोक्तः आनन्दस्त्वच्छब्दार्थः अयमिति परिदृश्यमानः । असाविति विप्रकृष्टः स एकः सूर्य आत्मा जगतस्तस्युपश्चेति श्रुतेः । कथनप्रयोजनं तु सूर्यस्य देवपत्नीनामसु निरुक्ते पाठात् पुरुषस्य पत्नीत्वद्योतनाय तदुक्तं टिप्पण्यां 'स्त्रीप्रायमितरत्सर्वम्' इति टिप्पण्याम् । कश्चिदेव हि भक्तो हि इतिवाक्यादेकवचनम् । साधनेति अस्मालोकात्प्रेत्य एतमन्न-मयमात्मानुपसंक्रामतीत्याद्युक्तफलसाधनं स य एवंविदित्युक्तं ज्ञानं तस्य शेषमतस्तदर्थः पुरुषः । तस्य विशेषणत्वेन । विशेषणत्वं तु एवंविदित्यस्य पूर्वोक्तप्रकारेण वित्पुरुष इति । फलरूपस्येति विपश्चित्सूर्यरूपस्य । साधनफलेति धर्मादिः । ब्रह्मवदिति साधनं ब्रह्मणा विपश्चितेति फलम् । तेनेति अग्रिमग्रन्थस्यानुक्तस्याभिप्रायाद्यतो वाच इत्यस्यानुत्त्वा तदग्रिमस्याभिप्रायमाहुः एतमिति । श्रुत्यन्तर्गतं ब्रह्मविदमित्यर्थः । अग्रे स एवंविद्वानिति श्रुत्यस्तिस्रः । एवंविद्वान् पुण्यपापे अताप-करत्वेन विद्वान्, आत्मानं स्पृशुते प्रीणातीत्यर्थः । समत्वेन द्विकर्मकत्वं छान्दसम् । आत्मानुग इति पाठे कर्ता, एते इति कर्म, नगो गिरिराजः । पुण्यपापे प्रीणातीति । तद्यथाऽऽरणे 'नात्र भुवनं न पुरुषा न पशवोः नादित्यः संवत्सर एव प्रत्यक्षेण प्रियतमं विद्यात् । एतद् संवत्सरस्य प्रियतमं रूपं योस्य महानर्थं उत्पत्स्यमानो भवति इदं पुण्यं कुरुष्व' इति श्रूयते । तत्र निरोधलक्षणग्रन्थोक्तदिशा पुण्यकरणम् । पुण्यशुभे, पुणे साधु पुण्यं 'तत्र साधुः' इति यत् । पुण्यकरणं 'देवो वः सविता प्रार्थयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे' इतिश्रुतेः संहितास्थायाः । 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' इतिश्रुतिः । श्रेष्ठतमं मर्यादा-मक्तिरूपं कर्म, तन्नरोधलक्षणग्रन्थ इति । ननु पापस्योपयोगाभावादेते इति द्विवचनमन्यथा बाहुलका-देश्यमिति चेत्तत्राह उभे इत्यादि । अत्रान्यात्मानमात्मानग इतिपाठद्वयम् । य एवमिति एवं पूर्वोक्तं माहात्म्यं वेदसैक्यमाहात्म्ययोः प्रतिपादकत्वादित्यर्थोच्च । श्रुतीत्यादि आनन्दवह्नीभाष्यसेत्यर्थः । आनन्दमयस्य जीवत्वं व्युदस्तम् । जीवाद्याश्रितत्वं तु स्यात्तत्र भाष्यविवरणाय पीठिकामाहुः जीवाश्रितत्व इत्यादि । भोक्तृशरीरं जीवशरीरम् । तदेतिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म तद्व्यतिरिक्तमिति । कर्तृत्वात्फलत्वांसंभवेन तद्व्यतिरिक्तं स्वर्गयोगं जडं शरीरमित्यादि बोध्यम् । ब्रह्मेति ब्रह्म गणितानन्द-आत्मा आश्रितः । आत्मत्वस्वरूपानन्दविषयः । तथा च स्वर्गवदितिभाष्ये स्वर्गः आत्मसुखं लोको

‘अस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्राशुपजीवन्ति’ इतिश्रुतिविरोधश्च । पुच्छत्वेन ब्रह्मवचनात् प्रद्वेष इति चेत्, तर्हि ‘स एको ब्रह्मण आनन्दः’ इत्याद्यापि पञ्चा भेदनिर्देशाद् ब्रह्मणः परमपुरुषार्थत्वं नाङ्गीकुर्यात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

एकं किञ्चिद् वक्तव्यम् । तत्राद्ये ज्ञानफलत्वाभावादुक्तश्रुतिविरोध एव दूषणम् । यदि तद्विरोधात् ज्ञानावान्तरफलत्वमङ्गीक्रियते, तदा मुख्यं फलमानन्ददतिरिक्तं किं भविष्यतीति वक्तव्यम् । ब्रह्मभावादीनां फलत्वाङ्गीकारे दूषणानामुक्तत्वात् संसारदशायां जडरूपताया ब्रह्मविश्वदशायां चिद्रूपतायाश्च सत्त्वात् । अत आनन्दमयस्य विकारत्वाङ्गीकारे फलबोधकश्रुतिविरोधः सर्वथा दुर्धार इत्यर्थः । दूषणान्तरमाहुः अस्येत्यादि । स एको ब्रह्मण आनन्द इत्यस्य व्याख्याने ब्रह्मानन्दस्य परमत्वायैतस्यैवानन्दस्येति श्रुतिसौरुप्यस्ता । आनन्दमयस्य विकारत्वे ब्रह्मानन्दकदेशत्वाभावात् स्फुट एव तद्विरोध इत्यानन्दमयस्य विकारत्वाङ्गीकारः सर्वथा श्रुतिविरुद्ध इत्यधिकरणमङ्गी न युक्त इत्यर्थः । अधिकरणमङ्गीसाशयान्तरमुद्भावयन्ति पुच्छत्वेनेत्यादि । जिज्ञासत्वेन मुख्यतया शास्त्रारम्भे बोधितस्य ब्रह्मणोऽनयाधिकरणरचनया न्यूनता समायातीत्यतः प्रद्वेषादधिकरणमङ्गी इत्यर्थः । तद् दूषयन्ति तर्हीत्यादि । स्वप्रधानस्याप्रधानत्वापत्त्या यदि प्रद्वेषस्तदा ब्रह्मण आनन्द इत्यत्राभिन्नस्य पृष्ट्या भेदनिर्देशाद्भ्याभावरूपस्य फलस्यानन्दकर्मकज्ञानेनैवोक्तत्वात् तस्य परमपुरुषार्थत्वमपि नाङ्गीकुर्यात् । पुच्छत्ववचनवद् रश्मिः ।

वा ग्राह्य इतिभावः । भाष्यं विवृण्वन्ति स्म तत्राद्य इति । तत्रोभयोः पक्षयोस्तद्व्यतिरिक्तं जडं स्वर्गलोकयोग्यं शरीरं तस्मैवित आनन्दमयः स्वर्गसुखरूपः इतिपक्षे इत्यर्थः । उक्तश्रुतिविरोधः ‘ब्रह्मविदाप्नोति परम्’ इतिश्रुतिविरोधः । तर्हि आत्मसुखं स्वर्गः आत्माश्रितो जडस्तर्हि तस्य ब्रह्मज्ञानफलत्वे जितं ब्रह्मवादिभिरित्यर्थः । ज्ञानस्येतिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म यदीत्यादि । तर्हीत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म तदेत्यादिना । भाष्यार्थस्तु जडाश्रितत्व इति यथाधिभौतिकसर्गाऽन्तरिक्षजडाश्रित एवमानन्दमय आत्मसुखं जडाश्रितं प्रजातिरसृत्मानन्द इत्युपस्थ इतिश्रुतेस्तत्त्वे कर्मफलं स्पष्टम् यत्र दुःखेन संबिन्नमिति वाक्येन स्वर्गान्तर्गतत्वात् । एवकारेण ज्ञानफलयोग्यव्यवच्छेदः क्रियते । अवान्तरेति मुख्यमानन्दमयः फलम् । भाष्ये । तस्येति ब्रह्मज्ञानस्य । प्रकृते । जडचिद्रूपताया इत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति संसारदशेत्यादि । फलबोधकेति । नहि ब्रह्मज्ञानफलमानन्दविकारः संभवतीति विरोध इत्यर्थः । सर्वथेति विकारशब्दसूत्रविचारे ब्रह्मकर्मविचारे मोक्षस्य निर्विकारत्वविचारे च हिरण्यगर्भः कर्मणा युक्तः इति । दूषणान्तरमित्यादि पूर्वं विद्यमानो जडो नानन्दमय इति जड आनन्दमयफलमित्याशङ्कितं प्रति ह्यानन्दविकारत्वापत्तिः पूर्वं विद्यमानस्य स्तुतस्येति दूषणान्तरमाहुरित्यर्थः । परमत्वायैति अस्यैवानन्दस्येत्यत्र सावधारणत्वदर्शनादितिभावः । अत्र ‘अक्षरं ब्रह्म परमं वेदानां स्थानमुत्तमम्’ इतिवाक्याद्भवदभिमतानन्दस्य विकृतत्वापत्तिरुक्ता । ब्रह्मानन्देत्यादि अस्य निर्विकारत्वादितिभावः । शास्त्रारम्भ इति जिज्ञासाधिकरण इत्यर्थः । अभिन्नस्येति । ब्रह्माभिन्नस्यानन्दस्येत्यर्थः । भयाभावेत्यादि ‘आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन’ इत्युत्तरश्रुत्येत्यर्थः । आनन्देत्यादि ब्रह्मसंबन्धानन्द-

उपक्रमदिसर्वविरोधश्च पूर्वमेव प्रतिपादितः । यद्व्यधिकरणमन्यथा रचितं ब्रह्म पुच्छमिति । तत्र न पुच्छस्य ब्रह्मत्वं प्रतिपाद्यते, येनान्यथा समाधानं भवेत् । किं तु ब्रह्मणः पुच्छत्वमिति पूर्वन्यायेनेदं पुच्छं प्रतिष्ठेतिवत् । तत्र श्रुतिबाधो ब्रह्मणाप्यशक्यः ।

भाष्यप्रकाशः ।

भेदवचनस्यापि प्रद्वेषबीजस्य सत्त्वात् । अथ यदि राहोः शिर इतिवद् ब्रह्मण इत्यभेदपृष्टी तर्हि तस्य प्रियमेवेत्यादावप्यभेदपृष्टीमाहृत्य पुच्छत्वं भाक्तमङ्गीकार्यं न त्वधिकरणं भङ्गव्यमित्यर्थः । मङ्गलं पूर्वोक्तानि दूषणानि सारयन्ति उपक्रमेत्यादि । ननु न वयमधिकरणं भङ्गमः किंतु प्रकारान्तरेण तत् समर्थयाम इत्याकाङ्क्षायां तद् दूषयितुमनुवदन्ति यदपीत्यादि । ब्रह्म पुच्छमिति । ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेत्यत्र किमानन्दमयस्यावयवत्वेन ब्रह्म विवक्षयते, उत स्वप्रधानत्वेनेति संदेहे पुच्छशब्दादवयवत्वेनेति प्राप्तम् । तत्रोच्यते ‘आनन्दमयोऽभ्यासात्’ आनन्दमयात्मेत्यत्र ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेति स्वप्रधानमेव ब्रह्मोपदिश्यते । असभेव स भवतीति निगमनश्लोके केवलस्य ब्रह्मण एवाभ्यस्यमानत्वादित्येवं रचितमित्यर्थः । तद् दूषयन्ति तत्र नेत्यादि । ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेति वाक्ये पुच्छस्य यदि ब्रह्मत्वं प्रतिपाद्येत तदा शङ्का स्यात् । पूर्वं वेदनविषयतया लक्षितं स्वप्रधानब्रह्मरूपत्वं पुच्छस्य कथमिति । तदा समाधानमपि संभवेदभ्यासात् स्वप्रधानत्वमिति । दृश्यते तु विपरीतम् । तत्र ब्रह्मपदाभ्यासेन कथं समाधानं भवेत् । अभ्यासो हीतरशब्दश्रुतमर्थं स्थापयन्नभ्यस्यमानं परिच्छिन्नमिति, न तु तदर्थं बाधते । समिधो यजतीत्यादौ तदुदाहरणे स्थापयन्नभ्यस्यमानं परिच्छिन्नमिति, न तु तदर्थं बाधते । समिधो यजतीत्यादौ तदुदाहरणे तथादर्शनात् । एवमत्रापि ब्रह्मपदाभ्यासस्तत्समिधव्याहृतपदश्रुतं पुच्छमितरेभ्यः परिच्छेत्स्यति, न तु बाधियते । अतो ब्रह्मणोऽवयवश्रुतिबाधोऽनया रीत्या ब्रह्मणा सर्ववेदपाठिनापि कर्तुमशक्यः, किं पुनरितरेणेति व्यर्थमिदमन्यथारचनमित्यर्थः । दूषणान्तरमाहु रश्मिः ।

कर्मकज्ञानेनेत्यर्थः । एवकारेण संबन्धिब्रह्मणो योग्यव्यवच्छेदः । तस्येति ब्रह्मणः । भाक्तमिति प्रियमोदप्रमोदानन्दानामगणितानन्दानामभेदे पृष्टी उपपन्ना गणितानन्दे ब्रह्मणि तु पुच्छत्वं भाक्तत्वमित्यर्थः । आनन्दमय इत्यादि ‘आनन्दमय आत्मा मे शुद्धान्ताम् ज्योतिरहं विरजा विषाप्माभ्यासश्च स्वाहा’ इत्यत्र विरजाहोमेति । किंत्वितिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म दृश्यते स्थिति । कथं समाधानमित्यादि यत्र ब्रह्मपदाभ्यासस्तत्र परमात्मत्वं न तु यत्र स तत्र पुच्छत्वमिति व्याप्तिकमिति तथा । तदुपपादयन्ति अभ्यासो ह्येत्यादिना अत्र स्पष्टम् । तथा दर्शनादिति यजतेरभ्यासो हि समिदादिशब्दश्रुतमर्थं समिदादिरूपं परिच्छेदकत्वेन स्थापयन्नभ्यस्यमानं यजत्यर्थरूपं यागं समिदादिरूपेण परिच्छिन्नमिति न तु समिदादिरूपमितरपदार्थं बाधत इति दर्शनादित्यर्थः । परिच्छेत्स्यतीति ब्रह्मपुच्छत्वेन रूपेण परिच्छेत्स्यति । तत्रेतिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म अतो ब्रह्मण इति । इतःपूर्वभाष्यार्थस्तु पूर्वन्यायेनेत्यस्य व्याख्यानं इदं पुच्छं प्रतिष्ठेतिवत् इतिपूर्वन्यायोन्नयन्यायः तेन । तेन तृतीयान्ताद्भवति । इदं पुच्छं प्रतिष्ठा इत्यनेनेव इदं पुच्छं प्रतिष्ठा इतिवदिति न तु ब्रह्मार्थं बाधियत इत्यर्थः । ब्रह्मार्थमिति शेषः । सर्ववेदेत्यादि ब्रह्मणेत्युक्तेस्तात्पर्यमिदम् ।

मौर्ख्यं चैतत् । आनन्दमयस्यैव ब्रह्मत्वे न कोपि दोषः स्यात् । आनन्द-
मयस्याब्रह्मत्वं परिकल्प्य तत्पुच्छत्वेन ब्रह्म वेदबोधितमिति ज्ञात्वा तत्समाधा-
नार्थं यन्मानो महामूढ इति विषयफलयोः किं मुख्यमित्यप्यनुसंधेयम् ।
पुच्छत्वोक्तिस्तु पूर्वभाषित्वाय । अत एव ज्ञानविषयत्वं प्रतिष्ठा च । आनन्दमयो
ब्रह्मण्येव प्रतिष्ठित इति । अत्रावयवावयविभावो भाक्त इति तु युक्तम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

मौर्ख्यमित्यादि । एतत् अन्यथारचनम् । चकारादधिकरणभङ्ग उभयमपि मौर्ख्यम् ।
तत्र हेतुरानन्दमयस्येत्यादि । त्वद्बुद्धावितानां दोषाणां प्रागेव परिहृतत्वादन्वेषां चाभावात्
तथेत्यर्थः । ननु प्रकारान्तरेण योजनं कौशलाय भवतीति कथं मौर्ख्यमित्यत आहुः
आनन्दमयस्याब्रह्मत्वमित्यादि । तथाच भवेत् कौशलाय यद्यानन्दमयस्याब्रह्मत्वं न
कल्पयेत्, पुच्छश्रुतिं च न वाधेत् । तत्तु करोतीत्यतस्तथेत्यर्थः । ननु शास्त्रे प्रकृतं ब्रह्मैव
मुख्यमतस्य तथात्वं साधयितुमयं यत्नः कथं मौढ्यायेत्यत आहुः विषयेत्यादि । प्रकृ-
तत्वस्योभयत्र तौल्यात् तेन रूपेण मुख्यत्वं निर्णयं किंतु रूपान्तरेण । तथा सति तु
त्वदभिमतस्य न मुख्यत्वं किंतु फलस्येति विषयमुख्यत्वार्थमपार्थो यत्न इत्यर्थः । ननु
भवत्वेवं तथापि विषयत्वेनावश्यकस्य पुच्छत्वोक्तिकृतोऽपकर्षः कथं सोढव्य इत्यत आहुः
पुच्छेत्यादि । सा तु पूर्वं तत्प्राप्तिबोधनाय । न हि द्वारं गृहं वा अप्राप्य तत्र स्थितं
पुरुषं कथिन् प्राप्नोति । तेन तथेत्यर्थः । अत्र गमकमाहुः अत इत्यादि । आनन्द-
मयस्य तत्र स्थितौ गमकमाहुः प्रतिष्ठेत्यादि । नन्वेवं सति द्वैतमापद्यते, तच्च नेह नानाऽ-
स्तीत्यादिभिर्निषिद्धमतो नोक्तं साधीय इत्यत आहुः अत्रेत्यादि । भाक्तत्वस्य प्रामाणिक-
त्वान्न द्वैतापत्तिदोष इत्यर्थः । ननु भाक्तत्वे भवता हंसाकारः कथं समर्थनीय इति
रहिमः ।

मौर्ख्यमिति आनन्दमयस्यैव ब्रह्मत्वे कल्पनालाघवं तदकरणात् पाण्डित्यविरुद्धं मौर्ख्यम् । पण्डा-
लाघवबुद्धिः सा न जातेति । तत्तु करोतीति पुच्छवत्पुच्छं प्रतिष्ठापरायणमेकनीडं लौकिकस्यानन्दजा-
तस्य ब्रह्मानन्द इत्येतदनेन विवक्ष्यते नावयवत्वम् । 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति'
इति श्रुत्यन्तरादिति भाष्येण पुच्छश्रुतिबाधकरणं बोध्यम् । अतस्तथेत्यर्थः अतः कारणान्महामूढ
इत्यर्थः । मुख्य्यासोक्तानन्दमयस्य ब्रह्मत्वकल्पनं मोहादिति मूढः तमःकार्ययुक्तः शंकरत्वात्
तत्पुच्छत्वेन ब्रह्मवेदबोधितमिति ज्ञात्वा तत्समाधानार्थं यत्नो महामोहादिति महामूढो महेश्वर इत्यर्थः ।
ब्रह्मविदित्यत्र ब्रह्मज्ञानविषयत्वेन प्रकृतं सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता इत्यनेन सावयव-
ब्रह्मरूपानन्दमयं फलत्वेन प्रकृतम् । एवं च प्रकृततावच्छेदकफलत्वावच्छिन्नं आनन्दमयमेव मुख्यं
न तु प्रकृततावच्छेदकविषयत्वावच्छिन्नं ब्रह्मैत्युपक्रमोपि फलरूपसानन्दमयस्यैवेत्याहुः प्रकृतत्व-
स्येत्यादिना 'योपध' इत्यस्य लिङ्गानुशासनसूत्रस्यैतदतिरिक्तो विषयः । नन्वेवमिति पुच्छरूपान्तरा-
भिन्नत्वे सति तत्प्रतिष्ठितत्वे सति । भाक्तत्वस्येत्यादि 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स

१. मौर्ख्यमिति ।

प्राणमयादीनामपि तथात्वात् । अन्तःस्थितस्य बाह्यानुरोधेन तथात्वमिति सर्व-
सुखम् ॥ १८ ॥

इति प्रथमाध्याये प्रथमपादे पञ्चममानन्दमयाधिकरणम् ॥ ५ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

शङ्कायामाहुः अन्तरित्यादि । बाह्यो जीवस्तदनुरोधेन तथाकार इति न कोऽपि शङ्का-
वकाशः । तत्प्रकारस्य पूर्वभेदोपपादितत्वात् सर्वं प्राचां वचनं समीचीनमेवेत्यर्थः । एवं
च यद्भाष्येति नन्वे पक्षद्वयं व्याख्यायोक्तम् ।

'प्रायपाठपरित्यागो मुख्यत्रितयलङ्घनम् ।

पूर्वस्मिन्नपक्षे प्रायपाठस्य बाधनम्' इति ।

अर्थस्तु, आनन्दमयपदस्य ब्रह्मार्थकत्वपक्षे मयडयस्य विकारस्य त्यागेन प्राचुर्यार्थ-
ङ्गीकारेण प्रायपाठपरित्यागः । आनन्दमयपदस्य ब्रह्मण्यप्रसिद्धस्य लक्षणया योगेन वा
ब्रह्मणि व्याख्याने मुख्यार्थोऽलङ्घनम् । आनन्दपदाभ्यासेन च ज्योतिरधिकरणपूर्वपक्षे
ज्योतिःपदेन ज्योतिष्टोमवदानन्दमयो लक्ष्यत इत्यानन्दपदस्यापि मुख्यार्थोऽलङ्घनम् । पुच्छ-
पदं च बालधौ शक्तमानन्दमयावयवे गौणमिति तत्समानाधिकरणब्रह्मपदमपि स्वार्थत्यागेन
तत्परमतस्तस्यापि मुख्यार्थोऽलङ्घनमिति चत्वारो दोषाः । विकारार्थकत्वपक्षे तु ब्रह्मपदस्य
न स्वार्थत्यागो, नाप्यानन्दमयपदस्य, न चानन्दपदस्य । पुच्छपदमुख्यार्थबाधस्त्वयवयव-
रतायामधिकरणपरतायां च तुल्यः । अवयवप्रायपाठबाधश्च विकारप्रायपाठबाधेन तुल्य इति
विकारार्थग्रहणपक्ष एव साधीयानिति । तदपि व्याख्येयपूजनमात्रमेव, न तु तात्त्विक-
कम् । विकारार्थस्य प्राणमये बाधितस्य घटाकाशदृष्टान्तेनोद्गीवयितुमशक्यत्वात् । आप्राकृत-
रहिमः ।

श्रुणोत्यकर्णः' इत्यादिश्रुतिषु पर्युदासार्थकनञ्श्रावणादिति भावः । तदनुरोधेन तथेति जीवे
प्रवेशानुरोधेन तथा हंसाकार इत्यर्थः । नन्वानन्दमयस्यैव साकारत्वमिति सिद्धान्तात् कथं विज्ञान-
मयातुरोधेन हंसाकार इत्याकाङ्क्षायां समाधानमाहुः तत्प्रकारस्येत्यादि । पूर्वमेव भाष्यवर्णिकसूत्र एव
जीवोत्र मुख्य इत्यादिना वर्णयतीत्यन्तेन । तथा च स सिद्धान्तः पौरुषाकारपरो न तु हंसाकारमात्रपर
इति भावः । एवं चैति प्राचां सर्ववचनस्य समीचीनत्वे प्रकारे चेत्यर्थः । पक्षद्वयमित्यादि ।
प्राचुर्यविकाररूपपक्षद्वयं व्याख्याय वाचस्पतिकेनोक्तं पूर्वस्मिन्नित्यादि । पूर्वस्मिन् प्राचुर्ये उत्तरे
विकारे अप्रायपाठस्येत्यादिरित्यर्थः । मुख्यत्रितयलङ्घनं व्याचष्टे आनन्दमयपदस्येत्यादिना । अप्र-
सिद्धस्येति । ननु क प्रसिद्धिरिति चेत्कोशे इति गृहाण । लक्षणयेति ब्रह्मकोशयोर्जन्यजनक-
भावो लक्षणा तथा । लक्ष्यत इति विकारविकार्यभावसंबन्धेन लक्ष्यते । विकारविकार्यभावसंबन्धो
लक्षणा । तत्समेति तदेकार्थकेत्यर्थः । भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वे सत्येकार्थबोधकेत्यर्थः । भिन्नप्रवृत्ति-
निमित्तैकार्थबोधकत्वसंबन्धो लक्षणात्र । दोषा इति पूर्वस्मिन् पक्ष इत्यर्थः । उत्तरे पक्षे इत्यादि ।
व्याकृतत्वप्रायपाठस्य बाधनमित्युपलक्षणमित्याशयेन विकारेत्यादि । अवयवेत्यादि विकारपक्षे-
वयवपरतायां प्राचुर्यपक्षे पुच्छस्य ब्रह्मत्वमिति तन्मते पुच्छस्य ब्रह्मत्वाधिकरणपरतायां तुल्य इत्यर्थः ।
विकारपक्षे अवयवप्रायपाठबाधश्च आनन्दविकारेति ब्रह्मपुच्छावयवेनौचित्यादिति । प्राचुर्यपक्षे
विकारप्रायपाठबाधेन तुल्यम् । व्याख्येयपूजनमात्रमिति भाष्यस्य यथा कथंचन समर्थनमेव पूजनं
तदेव पूजनमात्रम् । विकारार्थस्येत्यादि । उपपादितं चैतद्विकारशब्दसूत्रे । आप्राकृतमित्यादि

भाष्यप्रकाशः ।

मात्रं पण्डितं कस्यापि घटाकाशे घटविकारत्वप्रत्ययस्याभावात् । घटभूते दुग्धादावपि तथा-
प्रत्ययाभावेन दृष्टान्ताभावादानुमातुमप्यशक्यत्वात् । लोके शास्त्रे तथाप्रयोगस्य काव्यनुपल-
म्भादिति । एवं बाधिते विकारपाठे तस्य प्रायताया अपि वन्ध्यासुतसौन्दर्यदेशीयत्वात् ।
किंच । शब्दमात्रमोहकारस्य विकृतिः । उ०कारस्तु ब्रह्मवाचक एवेति तद्विकृतयः सर्वेऽपि
शब्दा उत्सर्गतो ब्रह्मवाचका एव । 'उ०मित्येतदधरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्' इति,

'स्वधास्रो ब्रह्मणः साक्षाद्वाचकः परमात्मनः, ।

स सर्वमश्रोपनिपद्वेदबीजं सनातनम्' ॥

इति, 'तस्य वाचकः प्रणवः' इति श्रुतिपुराणपातञ्जलस्मृतिभित्तयानिश्चयात् । अतः शक्ति-
संकोचेनैव व्यवहारसिद्ध्यर्थं तच्चदन्तीति तन्निवर्तनायैवाचार्यः श्रौतान् हेतुन् भूत इति प्रागेव
निर्णीतमिति नानन्दमयानन्दब्रह्मपदानामपि मुख्यार्थोल्लङ्घनम् । अतः पूर्वस्मिन् दोषाभावाद्
द्वितीयस्मिन्नेव व्याकरणविरोधादिरूपदोषाहुल्यादुत्तर एवासाधुरिति । यदपि वेदसूत्रयोर्विरोधे,
गुणे त्वन्यायकल्पनेति सूत्राप्यन्यथा नेतव्यानीत्युक्तम् । तदप्यसंगतम् । तथाहि । इदं हि,
'विप्रतिपत्तौ विकल्पः स्यात् समत्वाद् गुणे त्वन्यायकल्पनेकदेशत्वात्' इति नावमिकवृत्तीय-
पादस्यसूत्रस्यैकदेशभूतम् । सूत्रस्य त्वेवं विषयः । ज्योतिष्टोमेऽग्नीषोमीयपशावेकवचनान्तबहुवच-
नान्तौ पाशोन्मोकमन्त्रौ भिन्नयोः शाखयोराम्नातौ । अदितिः पाशं प्रमुमोक्त्वेतमिति तैत्तिरीये ।

रश्मिः ।

'आङ् मर्यादाभिविध्योः' इति सूत्रेण समासे आप्राकृतं चापण्डितमित्येव चकारो मध्ये रमसात्
अङ्गिकाकारो वा । अनुमानुमिति प्राणाद्यवच्छिन्नाकाशः प्राणादिविकारः विकारत्वात् यो यदव-
च्छिन्नः स तस्य विकारः घटाकाशवत् प्राणादिविकार आकाशः प्राणाद्यवच्छिन्नः विकारत्वात् यो यस्य
विकारः स तदवच्छिन्नः घटाकाशवदिति । घटभूतदुग्धादिवद्वेलेवमनुमातुमित्यर्थः । अशक्य-
त्वादिति स्वरूपसिद्ध्यवतारणात्तथा । वन्ध्यासुत्यादि । इदं पदं सदृशे लाक्षणिकम् । तथा चेवद्वन्ध्या-
सुतसौन्दर्यसदृशत्वादित्यर्थः । ईषदर्थे देशीयरप्रत्ययः । पूर्वस्मिन्पक्षे मुख्यव्रितयोल्लङ्घनं नास्तीत्याहुः
किं चेत्यादिना । एवकारः कुत इत्यत आहुः उ०मित्येतदिति । तथा च श्रुतेरेवकार इति भावः ।
अत इति उपव्याख्यानमित्यत्रोपशब्दात् । शक्तीत्यादि शक्तिस्तु ब्रह्मणि उक्तवाक्यात् । घट
इत्युक्तेपि वेदान्ते भासचेष्टयोरपि कर्तृत्वसंबन्धेन ब्रह्मण्यन्यथात् । परमात्मन इत्युक्त्या स्वोपपदार्येषु तु
उक्तसंबन्धेनान्वयाभावाच्छक्तिसंकोचलक्षणया योगकाविरोधकरुद्ध्येत्यर्थः । घटपटादौ योगासंभवा-
देवकारः । ननु व्यवहारे ब्रह्मवद्वटादिव्यपि व्यवहियतामित्यत आहुः व्यवहारेति । अस्ति ब्रह्मत्वेन
घटादिविषयके महात्मनां नास्त्याधुनिकानां तेषां व्यवहारसिद्ध्यर्थमित्यर्थः । यथादृष्टं व्यवहारः
ज्ञानवत्तम् । तत्तदिति तदित्यव्ययं घटादिपदांनीत्यर्थः । तद्वटादिकर्माभूतम् । आचार्य इति
महात्मा व्यासः ब्रह्मत्वेन घटादिज्ञानवत्त्वाद् भूत इति । श्रौतानित्यादि । श्रुतिनिष्ठान् हेतुन्
तद्वर्णपदेशादीनित्यर्थः । प्रागेवेति ईक्षतिसूत्र एव । यद्यपीत्यादि । उक्तं वाचस्पतिकेनोक्तम् ।
गुणत्वादिति विभक्तिप्रातिपदिकयोः प्रातिपदिकानां प्राधान्यं संख्याया गुणत्वं विभक्तिप्रातिपदिकयोः

१. पक्षे हेत्वभावः स्वरूपसिद्धिः ।

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥ १९ ॥ (१११६)

'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्यमयः पुरुषो हृद्यते हिरण्यमश्नुर्हिरण्यकेश
आप्रणत्वात् सर्व एव ससुवर्णस्तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदितिति
नाम स एव सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः । उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं
वेदेत्यधिदैवतमथाध्यात्ममप्यथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो हृद्यते' इत्यादि । तत्र

भाष्यप्रकाशः ।

अदितिः पाशान् प्रमुमोक्त्वेतानिति शास्त्रान्तरे । तत्र संदेहः । बहुवचनान्तो मन्त्रः प्रकृतौ
निविद्यते न वेति । तत्र प्रकरणवशेन प्राप्तावपि विकल्पापादकत्वाद् बहुवचनस्यैकस्मिन् पशुपाशे
असमर्थत्वाच्च न निवेशो युक्त इति बहुपाशकपशुगणयुक्तासु विकृतीश्लेष्य इति पूर्वः
पक्षः । सिद्धान्तस्तु पाशरूपप्रातिपदिकार्थान्वितं विभक्त्यभिहितं कर्मकारकं प्रकृतावप्यस्तीति
पाशकर्मकोन्मोचनाभिधानेन संभवनमन्त्रो नोत्कर्षं सहते । संख्यामात्रं त्वसंभवदपि गुणत्वाच्च
प्रातिपदिककारकयोः प्रधानभूतयोरुत्कर्षणसमर्थम् । इह संख्याप्यविवक्षिता । पाशकर्मणोरभि-
धानमात्रेण व्यवहारस्य सिद्धेः । किं चैकस्मिन्नप्यवयवबहुत्वाभिप्रायेण छान्दसो बहुवचनप्रयो-
गोऽवकल्पते । अतो गुणोऽन्यायकल्पनाया अदुष्टत्वात् प्रकरणानुरुद्धो विकल्प एव युक्त इति ।
एवं चात्र सूत्राणां वेदार्थनिश्चयनाय प्रवृत्तत्वेन संख्यावदेकदेशत्वाभावात् तदन्यथानयने
मीमांसाद्वयस्य वेदस्य च विद्युत्वापत्तेरिति । वस्तुतस्तु ।

'युक्तिभिरतिशयित्वाभिः समादधानो दृढान् दोषान् ।

वाचस्पतिरपि भाष्ये व्याख्याव्याजेन दूषणं ब्रूते' ॥

इति बोध्यम् ॥ १८ ॥

इति पञ्चममानन्दमयाधिकरणम् ॥ ५ ॥

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥ १९ ॥ अथ य एव इत्यादि । इदं छान्दोग्ये प्रथम-
प्रपाठके श्रूयते । विषयवाक्यमुपन्यस्य संशयाकारमाहुः किमित्यादि । तथाचात्र त्रिकोटिकः

रश्मिः ।

प्रातिपदिकं मुख्यम् । धर्मिवाचकत्वात् । विभक्तिस्तु गुणभूता कर्मकरणादिसंबन्धरूपधर्मवाचकत्वात् ।
संख्यायास्तु विभक्त्यपेक्षयापि गुणत्वं विभक्तिवाच्यकर्मकारकगतसंख्याभिधायित्वादिति बोध्यम् ।
यद्वा, प्रातिपदिकार्थान्वितविभक्त्यभिहितकर्मकारकातिरिक्तमसंभवदस्तुत्वं गुणत्वं तस्माद्गुणत्वात् ।
संख्याविवक्षितापीत्याहुः किं चैकस्मिन्नित्यादि । गुण इत्यादि संख्यायां पाशावयवगतबहुत्व-
संख्यालक्षकत्वकल्पनाया इत्यर्थः । एवं संख्यायुक्त्वा तस्य दृष्टान्तस्य वैषम्यमाहुः एवं चेत्यादिना ।
व्याख्याव्याजेनेति यथावयवप्रायपाठवाधश्च विकारप्रायपाठवाधेन तुल्यः इति । स्वपक्षे दोषमनु-
द्धार्य परपक्षे दोषदानरूपवितण्डासत्त्वात् ॥ १८ ॥

इति पञ्चमाधिकरणम् ॥ ५ ॥

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥ १९ ॥ श्रूयत इति । श्रुत्यर्थस्तु हिरण्यमयो ज्योतिर्मयः ।
पुरुषः पुरि शयनात् । हृद्यते समाहितचेतोभिः । आप्रणत्वादानस्त्राप्रम् । तेन सर्वोपि सुवर्णप्रसुरः ।
अक्ष्णोर्विशेषमाह कपेरासनमिव तेजस्वि पुण्डरीकमेवंभूते तस्याक्षिणी तस्योदितितिति नाम ।

संशयः । किमधिष्ठातृदेवताशरीरमाहोस्वित् परब्रह्मेति, ब्रह्मणो वा शरीरमिति । तदर्थमिदं विचार्यते । हिरण्यमयशब्दः सुवर्णविकारवाची, आहोस्वित् प्रकाशसाम्येनानन्दवाचीति । ब्रह्मविदामिति परमित्युपक्रम्य आनन्दमयस्य फलत्व-

भाष्यप्रकाशः ।

संशय इत्यर्थः । तदर्थमिदं विचार्यत इति तादृशसंशयोत्पत्त्यर्थं तस्य बीजं विचार्यत इत्यर्थः । तदाहुः हिरण्यमयेत्यादि । ननु जन्माद्यधिकरणसमन्वयाधिकरणाभ्यां लक्षणकथनादिना सप्रकारां कारणतां विचार्येत्त्वानन्दमयाधिकरणाभ्यामसंभवादिदोषनिरासेन सा रश्मिः ।

एतज्ज्ञानफलमाह उदेतीति । एतदग्रे तस्यैव सामं च गण्यौ तस्मादुद्गीयस्तस्मात्त्वोद्गातैतस्य हि माता स एष ये चामुष्मात्परात्पराभ्यो लोकास्तेषां चैव देवकामानां चेति पठितं तदग्रे इत्यधिदैवतमिति । तदग्रेऽध्यात्ममिति । तदग्रे वागेवर्कं प्राण इत्यादि । तदग्रे अथ यदेतदक्षयः शुक्लं मा इत्यादि । तदग्रे य एषोन्तरिक्षिण पुरुषो दृश्यत इति एतासामर्थेयै वक्तव्यः । किमित्यादीति । अत्र भाष्ये । अधिष्ठात्रित्यादि । हिरण्यमयवपुरिति वक्ष्यमाणवाक्यादित्यर्थः । इदमेव वाक्यं ब्रह्मण इत्यादावपि ज्ञेयम् । विचार्यत इति यथा दृश्यमानशास्त्राज्ञातिवर्तेत द्विकोटिकश्च भवेदित्यर्थः । हिरण्यमयेत्यादीति । अत्र भाष्ये । आनन्दवाचीति 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति' इति श्रुतेः प्रकाशस्थानन्देन्यत्र च साम्येनानन्दवाचीत्यर्थः । गौणी लोके हिरण्यमयस्थानन्दजनकत्वात् जन्यजनकभावसंबन्धो लक्षणा । ज्ञानं जातिस्तस्यात्र भातीत्यनेनामृतनिष्ठभावानुकूलव्यापारकथनेन कथनात् । व्यापारस्थानात्मत्वात् । जातौ शक्तिराकृत्यधिकरणानुरोधात् । विशिष्टे शक्तिरिति द्वितीयसुबोधिन्याम् । व्यक्तौ शक्तिरिति प्रस्थानरत्नाकरे उभयशास्त्रफलितमुक्तम् । 'सत्यं ज्ञानमनन्तमानन्दं ब्रह्म' इति भाष्यश्रुतेः आनन्दविशिष्टे ज्ञाने ब्रह्मपदशक्तिर्वा । अन्यस्माद्वाङ्निवृत्तिश्रुतेः । तत एव तद्भर्मशक्तेरपि । न च ज्ञानत्वविशिष्टे ज्ञानस्थानन्दत्वविशिष्टे आनन्दस्य शक्तिः जातौ विशिष्टे व्यक्तौ वा । सत्ताया विद्यमानत्वेत्यात्मानतिरेकात् । ज्ञानानन्दवद्वर्तमानत्वेपि सत्तामात्रमित्यत्र देवकीस्तुतौ धर्मताप्रतिषेधात् । नन्वेवं सति ज्ञानवत्त्वेनात्मानं व्यभाङ्गीस्त्वं तथा सति वेदस्यात्मपदादेर्ज्ञानादिमिति लक्षणाज्ञानुपपत्तिरिति चेन्न । सत्यं ज्ञानमनन्तमानन्दं ब्रह्मेत्यत्र ज्ञानवत्त्वेनात्मानं व्यभाङ्गुः । पूर्वं इति । वेदमीमांसायां सास्त्रि न तु वेदान्तमीमांसायां, आनन्दत्वानन्दतत्संबन्धानामेकत्वात् । एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मेति श्रुतेः । अतो लघुभूषणे ।

'सत्यासत्यौ तु यौ भागौ प्रतिभावं व्यवस्थितौ ।

सत्यं यत्तत्र सा जातिरसत्या व्यक्तयो मताः' ॥ ७२ ॥

प्रकृतेऽसत्यांशाभावाज्जातिरात्मा वाक्यपदीयात् आत्मा ब्रह्म कोशात् ब्रह्मज्ञानमिति स्पष्टम् । अत आनन्दे ज्ञानं जातिस्त्वादन्वयापि । दूरत्वादुपाध्यधीनश्चाक्षुषः संशयोऽयं तु शब्दो विरुद्धशब्दोपजन्यः । विरोधश्च सहानवस्थानलक्षणो हिरण्यमये आनन्दत्वाभाव आनन्दे हिरण्यमयत्वाभावो द्विविदुषाम् । यद्यजनकं तत्तद्गुणकं यद्यद्गुणकं तत्तदात्मकमिति व्याप्तिभ्यां हिरण्यमयस्थानन्दजनकत्वादानन्दत्वमिति चेद्विभाष्येत तदा तु हिरण्यमयस्वरूपदोषोपधिर्बलीयान् । सहावस्थानलक्षणविरोधं प्रापयिष्यति । तथा च शरीरत्वेनैकविधो दृष्टः परब्रह्मत्वेन चापर उद्भावितोतिरेकस्त्रिपदार्यदर्शनात् । न च संदेहो नोपपद्यते श्रुत्या 'ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती' इत्यधिपुराणवाधादिति वाच्यम् । पुराणस्यापि पञ्चमवेदत्वाद्दुपबृंहणत्वाच्चेति । लक्षणयेत्यादि आदिना प्रकारः स च निमित्तत्वादिः । असंभवेत्यादि । अव्याप्त्यति-

सुक्त्वा द्वितीयोपाख्याने, स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः स य एवंविदिति साधनस्थानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्येति फलं श्रुतम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

परीक्षिता । तथा सति लक्षणप्रमाणाभ्यां ब्रह्मज्ञानस्य सौकर्यात् तावतैव च ततः फलसिद्धेः किमनेनाधिकरणेनेत्याकाङ्क्षायां पूर्वाधिकरणेनास्य संगतिं वक्तुमाहुः ब्रह्मविदित्यारम्भ, विचारारम्भ इत्यन्तम् । द्वितीयोपाख्यान इति यद्यपि प्रथमप्रपाठक एतादृशं वाक्यमस्ति । तथापि तत्र, स एको ब्रह्मण आनन्द इति गणितानन्दं प्रस्तुत्य तत्पठितं, न तु वाच्यनसागोचरं प्रस्तुत्येति पूर्णब्रह्मविदस्तदनुपयुक्तमिति शङ्का स्यादतस्तदमावायेतदुक्तम् । अत्र हि सर्वान्ते एतदुक्त्वाग्रे, हावु हावु इत्यहोअर्थकेन शब्देन वीक्षया आश्चर्यमुक्त्वा, अहमन्नमित्यादिना सर्वात्ममावं ब्रह्ममावं चाह । तेनैतज्ज्ञानमक्षरसायुज्ये परब्रह्मसायुज्ये च फलोपधानायावश्यकमित्येतस्य कथनम् । न च भवत्वेवं, तथाप्यस्य विचारे किं बीजमिति वाच्यम् ।

रश्मिः ।

व्याख्यसंस्वरहितोऽसाधारणधर्मो हि लक्षणमिति तथा । अशब्दत्वे लक्षणशब्दस्याप्रवृत्तेरसंभवः । आनन्दे ब्रह्मत्ववासनावतां अगजन्मादिकर्तृत्वस्याव्याप्तिर्लक्ष्यत्वात् । येषां त्वक्षरधियां तादृशवासनाभावत्वेपामित्यव्यतिरिक्तानन्दे लक्षणमेति ज्ञेयम् । परीक्षितेति यथा पूर्वतन्त्रे 'तस्य निमित्तपरीष्टिः' इति सूत्रयता श्रीजैमिनिना परीक्षिता, तथोत्तरतन्त्रेपीति भावः । फलसिद्धेरिति ब्रह्मत्वविषयकशब्दज्ञानरूपं फलमत्र । एतादृशमिति स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः स य एवंविदिति । [सर्वात्मभावमित्यादि पृथिवी वाङ्मयित्वात्तत्भावः सर्वात्मभावः व्याहृतिर्ब्रह्मत्वात् पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठित इत्यग्रेतन्त्रेन्तरिक्षमपि ज्ञेयम् । सर्वेषामात्मत्वं सर्वात्मभावः । अस्त्यप्यदार्थस्यात्मत्वमन्नस्य देहत्वमादिशब्देनाहमन्नाद इत्यादिनाकाशरूपाद्नादरूपस्य ब्रह्मणो भावो ब्रह्मत्वं ब्रह्मभावः । आकाशोन्नाद इति श्रुतावाकाशशरीरं ब्रह्मेति श्रुतेर्ब्रह्मशरीरमाकाशः अहं श्लोककृत्यादिना संघातकृत ब्रह्मवदाकाशद्वारा । श्लोकु संघाते ।] एतदिति आनन्दवहयां हि यतो वाचो निवर्तन्त इति श्रुतिवाक्यानन्तरं 'एतं ह वा व न तपति किमहं साधु नाकरवम्, किमहं पापमकरवमिति' इति निरुच्य स एवं विद्वानित्यनेन वाङ्मनसागोचरं प्रस्तुत्यात्मप्रीणनमुक्तम् । एतमित्यस्यैवविदमिति भाष्यम् । ज्ञानं च शब्दमत्र सर्वेषु । अग्रे भृगुप्रपाठकेपि पूर्णब्रह्मवित्त्वं न हीयत इति एतत् द्वितीयप्रपाठकस्य 'स यश्चायं पुरुषे' इति वाक्यमुक्तमिति भावः । यदा वारुण्यां विद्याधामानन्दमात्रपर्यवसितितदर्शनेनानन्दः पूर्णं ब्रह्म तत्रस्त्वानाग्रे इत्येतदुक्तम् । ननु तर्हि अक्षरब्रह्मविदः एतदनुपयुक्तमत आहुः अत्र शील्यादि । अहमन्नमित्यादिनेति 'अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् । अहमन्नादोहमन्नादोहमन्नादः । अहं श्लोककृतदहं श्लोककृतम् । अहमस्मि प्रथमजा ऋतास्य पूर्वं देवैभ्योऽमृतस्य नामाथि यो मा ददाति स इदेव भावा अहमन्नमन्नमदन्तमाद्मि । अहं विश्वं भुवनमभ्यमवां सुवर्णज्योतिः य एवं वेद इत्युपनिषत्' इत्यनेनेत्यर्थः । अत्रान्तिगतया सर्वात्मभावं सर्वस्मिन्नात्मभावः सर्वात्मभावः । अज्ञादान्तिकया ब्रह्मभावं ब्रह्मणोन्नादस्य भावोन्नादत्वं, अत्र हि अत्रपदेन भोग्यमन्नादपदेन मोक्ता अग्रे कार्यकारणसंघातकर्तुरभेदं गदति 'श्लोकु संघाते' इति धातुपाठात् संघातकृद्वा तत्राप्यम् । तेनेत्यादि । ज्ञानं शब्दम् ।

तत्र सवितरि विद्यमानस्याब्रह्मत्वे फलं नोपपद्यत इति विचारारम्भः । तत्र हिरण्यमयशब्दो विकारवाची । केशनखादयश्चोच्यन्ते शरीरधर्माः । 'मृता वा एषा त्वगमेध्या यत् केशश्मश्रू' इति शरीरमन्तरा नोपपद्यते । परिच्छेदश्चाधि-
दैविकादिवचनं च बाधकम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

तत्रैव भयं विदुषोऽमन्वानस्येत्यनेन मननाभावे भयस्योक्ततया तदापत्तेरेव बीजत्वादित्या-
शयेनाहुः तत्र सवितरीत्यादि । तथाचास्य हेतुतागर्भः प्रसङ्गोऽत्र संगतिरित्यर्थः । किं चायं
जन्मादिद्वयविचारः सर्वथाग्रिमविचारस्य मूलम् । तत्राग्रे, फलमत उपपत्तेरित्यनेन सर्व-
फलदाता भगवानेवेति वक्तव्यम् । ततोऽग्रे चतुर्थेऽध्याये निषेधमुखेन प्रतीकोपासना, विधि-
मुखेनाङ्गोपासनाश्चादित्यादिमतिद्वये षक्तव्यास्तत्र मतान्तरोक्तरीत्या प्रतीकोपासनानामब्रह्म-
परत्वेऽपि तद्वाक्योक्तफलसिद्धिस्तदन्तःस्थाद् ब्रह्मण एवेति ज्ञापनायाङ्गोपासनानां ब्रह्मपरत्वे
तदुक्तमवान्तरफलं तत्कृतत्वरूपं मुख्यं फलं च भगवत एवेति ज्ञापनाय चाप्येतद् बोध्यम् ।
तेनान्तःपदघटितेषु वाक्यान्तरेषु सत्स्वप्येतस्यैव विषयवाक्यत्वेनोदाहरणेऽप्येतदेव बीजमिति
बोध्यम् । पूर्वपक्षमाहुः तत्रेत्यादि । विकारवाचीति अचत्वाद् विकारार्थकप्रत्ययवान् ।
नोपपद्यते इति मृतत्वसंबन्धो नोपपद्यते । परिच्छेदश्चेत्यादि अन्तराऽऽदित्य इत्य-
नेनोक्तस्तदन्तर्वर्तित्वकृतः परिच्छेदः । इत्यधिदैवतमित्यनेनोक्तमाधिदैविकवचनम् । 'आध्या-

रश्मिः ।

अक्षरेति वैचोऽविधानाशो नाक्षरसायुज्यं पृथिव्यास्तद्विकाराणामभावेहमन्नमित्यादौ ह्यन्नाभानापत्तेः
किं तु अक्षरकार्याविद्याक्षरसायुज्यमतस्तेन सर्वात्मभावब्रह्मभावयोः सातत्येन फलोपधानापेक्षणेन स
यश्चायं पुरुष इतिश्रुत्युक्तादित्यैक्यशब्दज्ञानं फलोपधानायावश्यकमेवं परब्रह्मसायुज्यं न संयोगजन्यं
कारणे व्यङ्गत्वात् किं तु संयोगविप्रयोगसंचारिभावजन्यं वैराग्यरूपसंचारिणो मुख्यत्वमतो ब्रह्मभावः
साधनं ब्रह्मविदिति श्रुतेः । उक्तश्रुत्युक्तं शब्दं ज्ञानं फलोपधानायावश्यकं सहकारिकारणम् ।
एतस्येति श्रुत्युक्तशब्दज्ञानस्य फले सायुज्ये सहकारिकारणोपधानाय सहकारिकारणभावाय ।
तदापत्तेरिति एवकारोप्यर्थे । फलोपधानायावश्यकत्वरूपबीजसमुच्चयाय । तथा चेत्यादि । भाष्ये ।
स यश्चायमिति श्रुतौ । सवितरीत्यादि फलमेतमानन्दमयमुपसंक्रम्येति श्रुत्युक्तमानन्दमानन्द-
मयोवसान इति श्रीभागवतोक्तं च श्रुतावेक इत्यानन्दमयैक्यम् । विचारेति अस्पष्टत्वेन विचारारम्भ
इत्यर्थः । प्रवृत्ते । अस्य हेतुतेति अस्याधिकरणस्यात्राधिकरणे । हिरण्यमय आनन्दमय इत्यत्रानन्द-
मयत्वविशिष्टहिरण्यमयज्ञानरूपविशिष्टज्ञाने विशेषणज्ञानस्य कारणत्वाद्धेतुता । एकसंबन्धिज्ञानमपरसंब-
न्धिस्मारकमिति नियमादधीतवेदान्तानां आनन्दमयरूपसंबन्धिज्ञानं संबन्धिण एकार्थप्रतिपादकत्वरूप-
संबन्धेन हिरण्यमयप्रतिपादकस्य वाक्यस्य स्मारकमिति स्मृतस्य हिरण्यमयप्रतिपादनस्योपेक्षानहंत्वमिति
प्रसङ्गसंगतिः । वाक्यान्तरेष्विति । एतान्यन्यत्रैवान्यमतानुवादे लिखितानि । एतदेवेति
उक्तमननमपि । एवकारोऽप्यर्थे इति फलोपधानावश्यकत्वमपि बीजम् । छान्दसं हिरण्यशब्दं मत्वाहुः
ह्यजित्यादि तथा च हिरण्यविकारवाचीति भाष्यार्थः । इत्यधीत्यादि । श्रुतिस्तु प्रथमविषयवाक्येऽन-

अतः सर्वथा तच्छरीरमिति मन्तव्यम् । चाक्षुषत्वाच्च । इन्द्रियवत्त्वं च
श्रूयते । यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्येति । कपेरास आसनम् । आरक्तं
तस्यासनं भवतीति । असभ्यतुल्यता च । अतो देहेन्द्रिययोर्विद्यमानत्वाज्जीवः

भाष्यप्रकाशः ।

त्मिकस्तु यः प्रोक्तः सोऽसावेवाधिदैविकः' इति स्मृतौ तस्याध्यात्मिकाभेदकथनादाध्यात्मि-
कस्य च जीवत्वात् तद्वचनमपि ब्रह्मत्वबाधकमित्यर्थः । आदिपदं, य एषोऽन्तरिक्षिणीति,
अथाध्यात्ममित्यादिनोक्तानामक्षिपुरुषधर्माणां संग्रहाय । अक्षिपुरुषविचारोऽपि, स यश्चायं
पुरुष इति श्रुत्यर्थनिर्णयायेति बोध्यम् । मन्तव्यमिति उक्तहेतुभिर्निश्चयम् । एवं देहत्व-
साधनेन देहित्वं साधयित्वेन्द्रियवत्त्वं साधयति इन्द्रियेत्यादि । कप्यासमिति उपवेश-
रश्मिः ।

न्तरं तस्यर्कं च साम च गेष्णौ तस्माद्गुद्रीथस्तस्मात्त्वोद्रीतैतस्य हि गाता स एष ये चामुष्मात् पराञ्चो
लोकाः तेषां चेष्टे देवकामानां चेत्यग्रे इत्यधिदैवतमिति पूर्वमुक्तम् । श्रुत्यर्थस्तु तस्योदितिनाम्नो गेष्णौ
पृथ्व्याद्युक्तलक्षणे पर्वणी तस्मात्परमात्मोद्रीथः । यत एतस्योदिनाम्नो गाता तस्मादेवोद्गायति इत्युद्गातेत्यु-
द्गातृनामप्रसिद्धिः स एष उन्नामामुष्मादादित्यात् । किं च लोकाधिष्ठातारो देवास्तेषां कामानां फलानां
चेष्टे ईशिता । इत्यधिदैवतमुद्रीथस्वरूपं देवसेल्यर्थः । य एष इत्यादि । श्रुत्यर्थस्तु अथ भिन्नप्रक्रमे ।
अस्यां परिदृश्यमानायां । श्रुतिस्तु अथाध्यात्मं वागेवर्कं प्राणः साम तदेतदस्यामृच्यध्वृदं५साम तस्मा-
दच्यध्वृदं५साम गीयते इति । अग्रे वागेव सा प्राणोऽमस्तत्सामेति श्रुत्या सामनिर्वचनम् । इतराणि निर्व-
चनानि प्रोच्यन्ते चक्षुरवर्गात्सा साम तदेतदस्यामृच्यध्वृदं५साम तस्मादच्यध्वृदं५साम गीयते । चक्षुरेव सा
आत्मानमस्तत्साम श्रोत्रमेवर्षानः साम तदेतदस्यामृच्यध्वृदं५साम तस्मादच्यध्वृदं५साम गीयते श्रोत्रमेव
सा, मनोमः, तत्सामाय यदेतदक्षः शुक्लं भाः सैवर्गथ यं नीलं परैः कृष्णं तत्साम तदेतदस्यामृच्यध्वृदं५-
साम तस्मादच्यध्वृदं५साम गीयते अथ यदेवैतदक्षः शुक्लं भाः सैव साथ यं नीलं परः कृष्णं तदेतदः तत्सा-
मेति अग्रेऽथ य एषोन्तरिक्षिणि पुरुषो दृश्यते सैवर्कं तत्साम तदुच्यं तद्यजुः तद्ब्रह्म तस्यैतस्य तदेव रूपं
यदमुष्यरूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नामेति अस्या अर्थः । दृश्यते योगिभिरपि सर्वा-
त्यमुद्दिष्टैरितिद्वैधैर्मैः पूर्णात्मत्वं चक्षुष्टपुरुषस्य । अतीति 'अन्यत्रैव प्रतीतायाः' इति कारिकोक्ताति-
देशः । अतिदेशवाक्यगतं कार्यं स यश्चायमितिश्रुतावैक्यम् । नामेति नामनिर्वचनस्य तस्योदिति
नाम 'स एष सर्वेभ्यः पाप्मस्य उदितः' इतिश्रुतौ । सैव पुरुष ऋक् उक्तप्यादन्यच्छ्रजातं लिङ्गव्यत्य-
यस्तु विधेयलिङ्गापेक्षया बोध्यः । तस्यैतस्य चक्षुष्टपुरुषस्य तदेवं रूपं परममुष्मादित्यरूपस्य हिरण्यमय इति
यौ ऋक्सामरूपौ अमुष्मादित्यरूपस्य गेष्णौ पर्वणीः तावसापि गेष्णौ यदमुष्मादित्यरूपस्य पुरुषस्य
नामोदिति उद्रीथ इति च तदेवास्य नामेति । अक्षिपुरुषेति मिथुनत्वशुक्लत्वादीनामित्यर्थः । नन्वेक-
यैव निवीहे द्वितीयस्याः किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायां तदाहुः अक्षीत्यादि । तथा च स यश्चायं पुरुष
इत्यत्र यच्छब्दार्थपुरःसरं श्रुत्यर्थनिर्णयायेत्यर्थः । तदग्रे स्पष्टीकरिष्यतेऽस्माभिः । फलं स्वसाधिकारी-
त्यस्य व्याख्याने देहित्वमिति आदित्यान्तःस्थेदेहित्वम् । भाष्ये । अत इत्यादि उक्तवाक्येभ्यः ।
कश्चिदिति विज्ञानमय इति सर्वोपनिषदि सूर्यविशेषणात् । अधिकारीति आनन्दमय इत्यर्थः ।

कश्चिदधिकारी सूर्यमण्डलस्य इति गम्यते । फलं तत्सायुज्यद्वारेति । अथोच्येत, एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित इति । अपहृतपाप्मत्वादिधर्मश्रवणात् । पूर्वदोषस्यापि विद्यमानत्वाद् ब्रह्मण एव केनचिन्निमित्तेन शरीरपरिग्रह इति । तस्य च शरीरस्य कर्मजन्यत्वाभावादपहृतपाप्मत्वादि संगच्छते । सुवर्णशरीरत्वमप्यलौकिकत्वाद् ब्रह्मण एव संगच्छते । शरीरवदिन्द्रियस्यापि परिग्रहः । वर्णमात्रपरिग्रहाभासभ्यता । स्यावरापेक्षया जङ्गमस्योत्कृष्टत्वात् स्यावरावयवोपमानवज्जङ्गमावयवोपमानं स्यावरास्यापीति सर्वब्रह्मभावाय श्रुत्युक्तत्वाच्च । तस्माद्

भाष्यप्रकाशः ।

नार्थकस्यासतेः करणे घञ् । कर्पेर्मर्कटस्थासनमघोभाग इव कप्यासम् । उपमानाचकपदलोपाह्वसोपमा । तेन रूपकतिशयोक्तिः । ननु यदि स जीवः स्यात् तदा तैत्तिरीये परिकरान्तानामुपासनानामनन्तरं, स यश्चायमिति वाक्यं नोच्येत । तथा बृहन्नारायणीये, आदित्यो वा एष एतन्मण्डलं तपतीत्यनुवाके त्रयीविद्यात्मकत्वमुक्त्वा, आदित्यो वै तेज ओजो बलमिति तदग्रिमानुवाके ब्रह्मणः सायुज्यं सलोकतामाप्नोतीति फलं नोच्येतेति शङ्कायामाह फलमित्यादि आनन्दमयोपसंक्रमणरूपं फलं स्वस्याधिकारिसायुज्यद्वारा भवतीत्येतदर्थं तदनन्तरमुच्यते । 'आदित्यो वै तेज' इत्यत्रापि ब्रह्मणः सायुज्यमित्याद्युक्त्वा, 'एतासामेव देवतानां सायुज्यं सार्द्धितां समानलोकतामाप्नोति य एवं वेद' इत्युच्यते । एवमधिष्ठानदेवताशरीरकोटिः साधिता । ब्रह्मशरीरकोटिं साधयति अथोच्येतेत्यादि । अनया श्रुत्या असाधारणब्रह्मधर्मश्रवणादयं ब्रह्मैवेत्युच्येतेत्यर्थः । तद् दूषयति अपहृतेत्यादि । स्यावरास्येति पुण्डरीकस्य । एवमुपमाप्रयोजनं तु ब्रह्मप्रवेशेन सर्वस्य ब्रह्मभावबोधनम् । ब्रह्मदाशा इतिवत् ।

रश्मिः ।

आनन्दमयो विज्ञानमयो 'विज्ञान आदित्यः' इति श्रुतेरानन्दमयफलाधिकारीत्यर्थः । प्रकृते । अनन्तरमिति उपासनयाश्चित्तशुद्धिः । नोच्येतेति । स्वस्याधिकारीति । अत्रायं, स यश्चायं पुरुष इति श्रुत्यर्थनिर्णयः । यश्चायं पुरुषः अन्तरिक्षिणि पुरुषः कुतोयं निर्णयः प्रसिद्धपुरुषार्थत्यागेन । एवं तु स्यात्, अत्रैकपदेनाभेद उच्यते, स नाविद्यावच्छिन्नमायावच्छिन्नयोः संभवतीति प्रसिद्धं परित्यज्याक्षिप्सितो मायावच्छिन्नपुरुषो गृह्यते । तस्य ब्रह्मत्वमग्रेधिकरणे वक्ष्यते इति एवमभेद उपपन्नः । सार्द्धितामिति समाना ऋष्टिः ऋद्धिः । जीवस्योपासाफलत्वायोगात् । इति फलमिति । आदित्यो वै तेज ओजो बलमिति ज्ञानस्य फलम् । ब्रह्मण इति षष्ठ्या विभाजितं जीवात् ब्रह्मेति । सैषा त्रय्येव विद्या तपति य एषोन्तरादित्ये हिरण्यमयः पुरुष इत्युक्तहिरण्यमयः । अयं ब्रह्मैवेति पदत्रयमप्याहृत्य भाष्यं योजयन्ति अनयेत्यादिना । उच्येत इति विधावधीष्टे वा लोट् । अपहृतेत्यादीति । भाष्ये । पूर्वदोषस्येति विकारमयडन्तपदप्रतिपाद्यत्वस्य । प्रकृते । सर्वब्रह्मेति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म एवमुपमेति । ब्रह्मप्रेत्यादि तत्सुष्ट्वा तदेवानुप्राविशदिति श्रुत्युक्तेन । सर्वस्येत्यादि जङ्गमस्यावररूपस्य, ब्रह्मभावो ब्रह्मत्वं समत्वं 'निर्गुणं हि समं ब्रह्म' इति श्रुतेस्तस्य बोधनम् । ब्रह्मदाशेति 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति श्रुत्या सर्वस्य ब्रह्मत्वेऽपि सेव्यं ब्रह्मपदवत् सेवकेन्द्रः करणारूढं न भवतीति ब्रह्मत्वविधानं तद्ददस्येप्युपमानत्वं न भविष्यति तत्परिहारार्थेवमस्योपमेत्यर्थः । इतिवदिति यत्तु वृत्तावसु श्लेषम् इत्यस्यास इतिरूप-

ब्रह्मण एवेदं शरीरमित्येवं प्राप्ते, उच्यते ।

अन्तस्तद्दर्शोपदेशात् ॥

अन्तर्दृश्यमानः परमात्मैव । कुतः । तद्दर्शोपदेशात् । तस्य ब्रह्मणो धर्मा उदित्यादिधर्मा उपदिश्यन्ते । 'स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः' इति । अयमाशयः । ब्रह्म कारणं, जगत्कार्यमिति स्थितम् । तत्र कार्यधर्मा यथा कारणे न गच्छन्ति । तथा कारणसाधारणधर्मा अपि कार्ये । तत्रापहृतपाप्मत्वादयः कारणधर्मस्ते यत्र भवन्ति तद् ब्रह्मेत्येवावगन्तव्यम् । बलिष्ठत्वात् कारणधर्मस्य । नामतुल्यतामात्रमुभयेषामपि धर्माणाम् । ते श्रुत्येकसमधिगम्या ब्रह्मणि । लोके प्रमाणा-

भाष्यप्रकाशः ।

स्फुटमन्यत् ।

सूत्रं पठित्वा समादधते अन्तरित्यादि । ननु भाषकानां बहूनामुक्तत्वाद्दर्शोपदेशमात्रेण कथं ब्रह्मत्वनिश्चय इत्यतस्तद् व्युत्पादयन्ति अयमाशय इत्यादि । स्थितमिति पूर्वाधिकरणैर्निर्णीतम् । कार्यधर्मा इति कार्यासाधारणधर्माः । दृष्टं चैतत् । न हि घटीया जलाहरणयोग्यत्वादयो मृत्पिण्डकपालादौ गच्छन्ति । न वा मृत्पिण्डादिसंस्थानविशेषा घटादौ । अथ यदि गच्छेयुस्तदा कार्यकारणयोर्वैलक्षण्यं न भवेत् । कार्यकारणव्यवहारश्च मज्येत । अतो ये असाधारणा धर्मास्तेऽप्यत्र न गच्छन्तीति नियतम् । तत्र प्रकृतवाक्ये, 'तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः' इत्यनेनोक्तमपहृतपाप्मत्वम् । तथा आदिपदेनाक्षिपुरुषवाक्ये 'सर्वं तत्साम तदुक्तं तद्यजुस्तद् ब्रह्म तस्यैतस्यैतदेव रूपं यदगुण्य रूपं यावमुष्य गेष्यौ तौ गेष्यौ यन्नाम तन्नाम' इत्यनेनोक्तमृक्कामादिसार्वार्थ्यं यन्नाम तन्नामेत्यतिदिष्टं नामनिर्वचनहेतुभूतमपहृतपाप्मत्वं च, 'य आत्मा अपहृतपाप्मा' इति श्रुत्यन्तरे ब्रह्मासाधारणधर्मत्वेन सिद्धम् । तथा, इदं सर्वं यदयमात्मैति श्रुत्यन्तरसिद्धं सार्वार्थ्यं च कारणभूतब्रह्मासाधारणधर्मरूपं नान्यगामि तदत्रोपदिश्यते । एवमन्येऽपि श्रुत्यन्तरोक्ता असाधारणा ब्रह्मधर्मा यत्र भवन्ति तद् ब्रह्मेत्येवावगन्तव्यम् । तेन सूत्रे अन्तःपदं स्थानान्तरस्याप्युपलक्षकं, न तु तावन्मात्रपर्यवसन्नमिति बोधितम् । न च केशनखादीनां कार्यधर्माणामपि बोधनात् कथं विनिगमनेति शङ्कम् । उपजीव्यत्वेन नित्यत्वेन च कारणधर्मस्य बलिष्ठत्वात् । न चापहृतपाप्मत्वं स्वाध्याये मुख्यप्राणो चोच्यते, सार्वार्थ्यं च चतुर्मुखादावतः कथमसाधारणत्वमिति शङ्कम् । यतो नामतुल्यतामात्रमुभयेषां धर्माणाम् । स्वाध्यायादौ अपहृतपाप्मत्वं पापराहि-

रश्मिः ।

मस्यत प्राप्तेऽस्मिन्नधिकरणार्थकषया सिद्धतीत्युक्तं तद्भाष्यासंमतम् । स्फुटमिति । अत्र भाष्ये वर्णमात्रेत्यादिमात्रपदेन कपोरासनरूपस्य द्रव्यस्य व्यवच्छेदः । प्रकृते । उक्तत्वादिति पूर्वपक्षे तथा । सर्वं तत्सामेति व्याख्यातैषा । अध्याख्यातमाहुः सार्वार्थ्यमित्यारभ्य य इत्यन्तम् । ऋक् सामेति हेतुमूतम् । इदं सर्वमिति इदं परिदृश्यमानं सर्वं यत् तदयमालेत्यर्थः । सार्वार्थ्यमिति अयमालेत्यतिदिष्टं जगन्निष्ठमिदम् । अन्य इति अस्तिभालादयः । तेनेति । अथवा 'य एषोन्तरिक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इत्यादावक्षिपुरुषेऽपि तद्दर्शोपदेशेन । सावन्मात्र इति । आदित्यमण्डलान्तस्यमात्रेत्यर्थः । बलिष्ठत्वादित्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति न च केशोत्यादि । नामतुल्यतामात्रमित्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति न चापेत्यादिना । कथमित्यत उपपादयन्ति स्वाध्यायेत्यादि ।

न्तरमपि प्रवर्तते । अतः सर्वरसादयो ब्रह्मनिष्ठा एव धर्माः । स्थूलत्वादयस्तु ये ब्रह्मणि निषिध्यन्ते, अस्थूलादिवाक्येषु ते कार्यधर्माः । अणोरणीयानित्यादिषु कारणधर्मा एव । अत एकोऽप्यसाधारणो धर्मो विद्यमानः शिष्टान् संदिग्धानपि ब्रह्मधर्मोनेव गमयति । इममेव श्रुत्यभिप्रायमङ्गीकृत्य सर्वत्र ब्रह्मवाक्यनिर्णयमाह

भाष्यप्रकाशः ।

त्यरूपं, स्वाध्यायो देवपवित्रमिति य एवंविदि पापं कामयत इति तत्र तत्र लिङ्गात् । अत्र तु सर्वकर्मोन्नराहित्यरूपम् । 'अनन्वितं ते भगवन् विचेष्टितं यदात्मना चरसि च कर्म नाज्यसे' इति श्रीभागवतवाक्यात् । एवं चतुर्मुखादिसार्वभौम्यमपि साङ्ख्यम् । 'अविज्ञाय परं मत्तः एतावच्चं यतो हि मे' इति द्वितीयस्कन्धे नारदं प्रति ब्रह्मवाक्यात् । अत उदित्यादीनामेवं कारणभूतब्रह्मासाधारणधर्मत्वे सिद्धे तत्सहपठितानां दृश्यत्वहिरण्यम्श्रुत्वादीनामपि ब्रह्मधर्मत्वमेव बोध्यम् । यतस्ते श्रुत्येकसमधिगम्या ब्रह्मणि । लोके तु तेषां गमकं प्रमाणान्तरमपि वर्तते । अत एतद्वत् 'सर्वकर्म सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः' इत्यादिश्रुत्यन्तरोक्ताः सर्वरसादयोऽपि ब्रह्मनिष्ठा एव धर्मा बोध्याः । श्रुत्येकसमधिगम्यत्वस्य तेष्वपि तौल्यात् । नचैवं मति स्थूलत्वादिप्राप्तिः शङ्क्या । तेषां श्रुत्या निषिध्यमानत्वेन कार्यधर्मत्वात् । नच ब्रह्मणि विरुद्धधर्माश्रयत्वस्याग्रे व्युत्पादनीयत्वात्, 'आसीनो दूरं व्रजति', 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' इत्यादिषु सहावस्थानविरुद्धक्रियाधर्मयोरिव भावाभावविरुद्धस्थूलत्वतदभावयोरपि शक्यवचनत्वादेतेषां कारणधर्मत्वमेवास्त्विति शङ्क्यम् । इतः पूर्वं गार्गीया उपादानकारणबोधार्थं कार्याणां प्रकृततया याज्ञवल्क्येन कार्यविलक्षणकारणबोधनार्थं कार्यधर्माणामेव निषेधात् । अन्यथा प्रकृतिविरोधापत्तेः । नचैवमनन्वित्यनेन निषिद्धसाणुत्वस्य, स य एषोऽपिमेत्यादिषु श्रूयमाणस्य का गतिरिति शङ्क्यम् । तत्राणोरणीयानित्यादिषु तु, सप्त प्राणाः प्रभवन्तीत्यादिभिः कार्यस्याग्रे वक्ष्यमाणतया ततः पूर्वं श्रूयमाणानां कारणधर्मत्वेन तद्विचित्रत्वात् । 'एतदात्म्यमिदं सर्वम्', महतो महीयानित्यादि तद्विरुद्धधर्मसामानाधिकरण्याश्रयणेन तथानिश्चयात् । एवमन्यत्रापि बोध्यम् । अत एकोऽप्यसाधारणधर्मो विद्यमानः शिष्टान् संदिग्धानपि धर्मान् ब्रह्मधर्मत्वेनैव गमयति । अन्यथाऽन्यगामित्वेन तस्यासाधारण्यभङ्ग-

रश्मिः ।

पवित्रमिति । पावित्र्यं पापाभाव इति भावः । श्रुती तु एकतरा सह वै पन्नायामारणे 'अपहतपाप्मा स्वाध्यायो देवपवित्रम्' इति । द्वितीया छान्दोग्ये मुख्यप्राणकृतपापविध्वंसनानन्तरं 'य एवंविदि पापं कामयते यश्चैनमभिदासति स एषोऽमाखणो नैवैतेन सुरभिर्न दुर्गन्धि विजानात्यपहतपाप्मा ह्येव इति' । पापं कर्तुं इ कामयते । अभिदासति हिनस्ति, स प्राणवित्, अत्रमा आखणः तद्वदप्रधर्षणीय इत्यर्थः । एतेन मुख्यप्राणेन न विजानाति स्थानदोषाद् प्राणदेवता पाप्मना विद्धा मुख्यस्थानबलीयस्त्वात् मुख्यप्राणदेवता न विद्धेत्यपहतपाप्मत्वम् । लिङ्गादिति पाप्मभावलिङ्गात् । ते श्रुत्येकसमधिगम्या इत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति स्म अत उदित्यादि । प्रमाणान्तरमिति प्रत्यक्षमित्यर्थः । स्थूलत्वेत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म नचैवमित्यादिना । अग्रे इति उभयव्यपदेशाधिकरणादौ । उपादानेत्यादि 'सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदर्वाक् पृथिव्याः यदन्तरा घावापृथिवी इमे यद्रूतं यच्च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते । कस्मिन्नेव तदोतं च प्रोतं च' इति गार्गीब्राह्मणे प्रश्नश्रुत्येत्यर्थः । याज्ञवल्क्यो यज्ञवक्ता वल्क परिभाषणे इति धातुपाठात् । अणोरणीयानित्यादिभाष्यं विवृण्वन् नचैव-

सूत्रकारः । तथाच श्रुतिव्यतिरिक्तस्थले तथैवावगन्तव्यम् । अनन्तमित्यनन्त-मूर्तिता च ब्रह्मणः प्रतिज्ञाता । अन्यथा गुहायां निहितमिति विरुद्धेत । तस्मात् साकारं तादृशमेव ब्रह्म ।

भाष्यप्रकाशः ।

प्रसङ्गात् । तथाच यत्र निषिध्यन्ते तत्र तदुरोधात् ते लौकिक्याः कार्यधर्मा एव । यत्र च न निषेधस्तत्रालौकिका ब्रह्मात्मकास्ते धर्माः, नेह नानास्तीतिश्रुत्यनुसारेणावगन्तव्याः । इममेव श्रुत्यभिप्रायमङ्गीकृत्य सर्वेष्वधिकरणसूत्रेषु ब्रह्मवाक्यनिर्णयमाह सूत्रकारः । अन्यथा, आदित्यान्तरस्यन्तइत्येवमधिकरणं विशिष्यात् । तथाचेदं सिद्धम् । यत्र निश्चिते कार्यत्वे तस्य कारणाभेदेन स्तुतिः क्रियते, यथेन्द्रप्रतर्दनसंवादादौ तत्र नेयं रीतिः । तद्व्यतिरिक्तस्थले त्वेवमेवावगन्तव्यमिति । नचैवं परिच्छिन्नेषु नानास्थानेषु नानापरिमाणेन स्थितौ ब्रह्मणोऽनेकत्वापत्त्या, एकमेवाद्वितीयमित्यादिश्रुतिविरोध इति शङ्क्यम् । यतः सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति लक्षणवाक्य एवानन्तमित्यनेन ब्रह्मण आनन्त्यकथनेऽनन्तमूर्तिता च प्रतिज्ञाता । नचात्र मानाभावः । निहितं गुहायामिति हृदयाकाशनिधानकथनस्यैव मानत्वात् । अन्यथा गुहायां निहितमिति विरुद्धेत । अनन्तमूर्तित्वाभावे व्यापकतया सर्वस्य तदन्तःस्थत्वात् । इदं च श्रुत्यन्तरेऽप्युक्तम् । 'यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्तात्' इति । तस्माद् ब्रह्मण एकत्वेन व्यापकत्वेऽप्यनन्तमूर्तित्वात् । साकारं वेदैकवेद्यत्वात् । यादृशं

रश्मिः ।

मित्यादि । तथाच यत्रेति अस्थूलादिश्रुतिषु न निषेध इति । तदुरोधादिति नित्यस्य निषेधायोगेन निषेधानुरोधादित्यर्थः । न निषेध इति यथात्र । नेह नानेति श्रुतिर्ब्रह्मदारण्यके । इममेवेत्यादिभाष्यं व्याकार्षुः इममित्यादिना । एकोऽप्यसाधारणो धर्मो मयि विद्यमान संदिग्धानपि ब्रह्मधर्मोनेव गमयत्विति संकेतान्तसाभितो गमनं प्रायोभूम्यन्तगमनमित्यर्थादित्यर्थः । अधिकरणेत्यादि सूत्रपदं यत्र सूत्रमवतारणमाभासते तत्संग्रहाय । यथा शब्दाधिकरणे सूत्रप्रयोजनं बोधयितुं संशयादिकमाहुरिति । अन्यथेत्यादि अधोक्षजत्वेन यत्र च न निषेध इत्याद्यङ्गीकारे इत्यर्थः । विदिष्यादिति न तु तद्वर्माधिकरणमिति तद्वर्मेण विशिष्यादिति भावः । अन्तस्त्वस्य सर्वप्रसिद्धस्याधोक्षजत्वेपि नटवत्यागायोगात् तथा । तथाचेत्यादिभाष्यं विवृण्वन् तथाचेत्यादि । इन्द्रेत्यादि इयमाख्यायिकानुगमगाधिकरणे व्याचरीकरिष्यते मामेव जानीहीतीन्द्रेण लोकपालादिकं मामेव जानीहीति स्वात्मा स्तुतः । आदिपदेन पुरुषविधब्राह्मणे 'तद्वै तत्पश्यन्नुषोर्वाग्देवः प्रतिपेदेहं मनुरभवमहं सूर्यश्चेति तदिदं मप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति' इति । अत्र स इदमित्यादिस्तुतिः । अविद्यमानस्य सर्वभवनरूपस्योत्कर्षाधायकगुणस्य जीवीयस्य वर्णनाच्छ्रुत्या । नेयं रीतिरिति इन्द्रिया अपि धर्मा अधोक्षजत्वेनादृष्टा ब्रह्मधर्मा इति गमयतीति रीतिनोस्थूलत्वादिनिषेधादित्यर्थः । तद्व्यतीति श्रुतावपि तावन्निषेधव्यतिरिक्तस्थले इत्यर्थः । यथात्रादित्यादिपुरुषयोः । भाष्यादाहुः एवेत्येवकारम् । तद्व्यतिरिक्तस्थलानि तु ह्यदाहतायुदाहरिष्यन्ति च । अनन्तमित्यादिभाष्यं विवृण्वन्त आहुः नचैवमित्यादि । मानाभाव इति ।

१. प्राणवत्त्वैलधिकरणे ।

ब्रह्मणः शरीरमिति तु सर्वथा असंगतम् । सर्वकर्तृब्रह्मणः का वा अनुपपत्तिः स्याद् येन स्वस्यापि शरीरं कल्पयेत् । किं तु लीलया व्यामोहनार्थमन्यथा भासयेन्नटवत् ।

भाष्यप्रकाशः ।

यत्र स्थाने यद्वाक्यं उच्यते तादृशं तत्र ब्रह्मेति मन्तव्यमिति सिद्धमित्यर्थः । एवमधिष्ठातृ-
देवतापक्षं निराकृत्यात्र ब्रह्मैवोच्यते इति स्थापितम् । अतः परं साधकानुग्रहार्थं ब्रह्मण एव
शरीरमिति पक्षं निराचक्षते ब्रह्मणः शरीरमित्यादि । असंगतत्वे हेतुमाहुः सर्वकर्तृरि-
त्यादि । अयमर्थः । यदत्र शरीरमङ्गीकृतं तत् किं नित्यमुत्तानित्यम् । नाद्यः । अद्विती-
यश्रुतिव्याकोपात् । सच्चिदानन्दादतिरिक्तवस्त्वभावस्य प्रागेवोपपादितत्वेन ब्रह्मात्मकताया
एवापाते शरीरत्वस्याशक्यवचनत्वाच्च । अन्यथा पुरुषविद्यब्रह्मणोदितयाः, सोऽनुवीक्ष्य
नान्यदात्मनोऽपश्यदित्यनुवीक्षया विरोधापत्तेश्च । द्वितीयपक्षेऽपि तच्छुद्धसत्त्वात्मकं वा
प्राकृतं वा मायिकं वाङ्गीकार्यम् । तत्र कर्त्रपेक्षया ब्रह्मण एव कर्तृत्वं च वाच्यम् । तत्रा-
न्यानपेक्षतया सर्वकर्तृब्रह्मणः का वा अनुपपत्तिः स्याद् येन स्वस्यापि शरीरं कल्पयेत् ।
अतो मूलरूपे नास्त्येव शरीरम् । किंतु स्वरूपमेव तदाकारम् । 'प्राणज्ञेव प्राणो भवति वदन्
वाक्' इतिवच्छरीरकार्यं कुर्वन् लीलया व्यामोहनार्थं शरीरवद्भासयेन्नटवत् ।

रश्मिः ।

भाष्येऽनन्तमित्यनन्तानन्द इत्यनन्दविशेषणादिति भावः । यत्र स्थान इति परिमाणनिरूपणस्यले
वैश्वानराधिकरणे । यद्वाक्ये 'प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते' इतिवाक्ये । तादृश-
मिति । न च सुषुप्तौ ब्रह्मज्ञानेऽभावतया विषयत्वात् नेदमिति वाच्यम् । अभावापेक्षयाऽसतोति-
रेकात् । न चेदानींतनानां ब्रह्मविदामप्रतीतिविषयत्वात् नेदमिति वाच्यम् । नित्यलीलाधिकृतकानां
कृतपुण्यपुञ्जानां प्रतीतिविषयत्वात् । एतेन शंकरभाष्यीयं यत्तत्तं हिरण्यमश्रुत्वादिरूपश्रवणं परमेश्वरे
नोपपद्यते इत्यत्र ब्रूमः । स्वात्परमेश्वरस्यापीच्छावशात् मायामयरूपं साधकानुग्रहार्थं 'माया ह्येषा'
इति स्मरणात् । इति तत्र विशेषोऽदर्शितः । तत् 'ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म' इति पक्षे

'आत्ममायामृते राजन् परस्थानुभवात्मनः ।

न घटेतार्थसंबन्धः स्वप्नद्रष्टुरिवाज्ञसा' ॥

इति नवमाध्यायसिद्धान्तात् द्वितीयस्कन्धे । स्वरूपं तु सत्यं ज्ञानमनन्तानन्दमिति भेदः ।
प्रागेवेति ईक्षत्यधिकरणाभासे । तथा च भाष्यम् 'सच्चिदानन्दरूपेणाकाशवायुतेजोवाचकवाक्या-
नि षड्विधान्यपि निर्णीयन्ते' इत्यादि । शुद्धेत्यादि 'विशुद्धसत्त्वं तेषु धाम शान्तम्' इति श्रीमागवते
'सैषा विद्या जगत्सर्वम्' इति नृसिंहतापिनीये 'मायाभिः पुरुरूप ईयते' इति च शंकराचार्यमते ।
सिद्धान्ते प्रकृतेर्मायावज्ज्ञानमात्रदेहसाधकत्वात् मायाप्रकृत्योर्भेदः । ब्रह्मणः शरीरमितिभाष्यं
व्याचक्रुः द्वितीयेति । तदसंगतमिति भाष्यविवरणम् । तत्रेति शरीरे । तथा चानवस्थादोषादिति तु
सर्वथाऽसंगतमित्यर्थः । सर्वकर्तृरिति भाष्यविवरणम् । तत्रेत्यादि शरीरे, कर्तव्ये शरीरानपेक्षतया ।
सर्वकर्तृरिति एवं च सर्वकरणेऽपि तदनपेक्षमेवाविशेषादिति भावः । किं त्विति भाष्यं विवृण्वन्ति स्म
अत इति । स्वरूपमिति स्वरूपमगमत् 'किल यस्य गोपवध्वः' इति वाक्यात् प्राकृतं स्वरूपम् । प्राणज्ञि-
त्यादिश्रुतिर्वृहदारण्यके 'समान एवं चाभेदात्' इत्यत्र तातीये कृष्णावताराभेदस्य वेदस्तुती च प्रतिपादना-

तस्माद् वेदातिरिक्तेऽप्युपपत्तिपूर्वकं यत्र ब्रह्मधर्मस्तद् ब्रह्मेति मन्तव्यम् ।
ब्रह्म तु वेदेकसमधिगम्यं यादृशं वेदे प्रतिपाद्यते तादृशमेवेत्यसकृदवोचाम ।
प्रकृतेऽपि हिरण्यमय इत्यत्र यकारलोपदृष्टान्दसः । अतो न द्यच् । हिरण्यशब्द

भाष्यप्रकाशः ।

'यथा मत्स्वादिरूपाणि धत्ते जह्वाद्यथा नटः ।

भूमारः क्षपितो येन जहौ तच्च कलेवरम्' ॥

इति प्रथमस्कन्धवाक्यात् । अतो यादृशं प्रतीयते तादृशं तद् ब्रह्मेव । येषां पुनर्न
मोक्षाधिकारस्तेषां तच्छरीरवद्भासत इति निश्चयः । एतमेव निर्णयमन्यत्रातिदिशन्ति तस्मा-
दित्यादि । ननु किमित्येवं निर्वन्धेन सर्वाकारं निरूप्यते । निर्विशेषमेवोपासकानुग्रहाय मायया
शरीरं कल्पयतीत्येवं कृतो न कल्प्यते इत्याकाङ्क्षायामाहुः ब्रह्म त्वित्यादि । ननु भवत्वेवं,
तथापि प्रकृते हिरण्यमय इत्यत्र विकारवाचिनो मयटः प्रयोगः । हिरण्यमयशब्दस्य, दाण्डिनायनस्य
निपातनादिकारत्वसिद्धौ कथं ब्रह्मत्वनिर्णय इत्यत आहुः प्रकृतेऽपीत्यादि । तथाच श्र्यत्त्वेन
विकारप्रत्ययाभावाभावां निपातः कित्त्वत्र छान्दस एव यकारलोप इत्यर्थः । ननु पूर्वं स्वरूप-
लक्षणविचारे ब्रह्मणः सत्यज्ञानानन्दरूपत्वमेव सिद्धं न हिरण्यरूपत्वमिति हिरण्यमयाविकार-
त्वेऽपि ब्रह्मत्वं वक्तुमशक्यमतः शरीरत्वमेवाङ्गीकार्यमित्यत आहुः हिरण्यशब्द इत्यादि ।
यद् यजनकं तत् तद्गुणकं, यद् यद्गुणकं तत् तदात्मकमिति व्याख्योः पूर्वं साधितत्वाद्ब्रह्म-
नन्दासाधकत्वेनानन्दात्मकत्वे विकारभूतस्य लौकिकस्यापि हिरण्यस्य सिद्धे कारणभूतस्याविकारस्या-
नन्दात्मकत्वे बाधकामावाद्दिरण्यशब्द आनन्दवाची । अतः केशशमश्रुनखाप्राक्षीणि, तत्सहभूता
अनुक्ता अन्येऽपि पुरुषावयवाः कप्यासशब्देन वर्णान्तरस्यापि सूचितत्वात् तच्चद्वर्णविशिष्टा
अपि सर्वे आनन्दमया एवेति पुरुषाकारं ब्रह्मस्वरूपमेवेति मननीयम् । अन्यथा, तच्चेव
भयं विदुषोऽमन्वानखेत्युक्तस्य भयस्यापत्तेरित्यर्थः । ननु धर्मान्तर्वर्ति न ब्रह्मशरीरमित्य-
संगतम् । उपबृंहणविरोधात् । अग्निपुराणे, ध्येयः सदेति श्लोके, हिरण्यमयपुरिति शरीरवा-

रश्मिः ।

तद्वाक्यमाहुः यथेत्यादि । निश्चय इति भाष्यविद्वन्मण्डनप्रहस्तादौ निपुणतरं प्रतिपादनादिति भावः ।
ब्रह्म त्वित्यादीति । न च रामतापिनीये 'उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना' इति कथमिति
वाच्यम् । पूर्वार्धे 'चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः' इत्यत्र चिन्मयपदेनौडुलोमिमते तदिति
न बादरायणमते इति 'चित्ति तन्मात्रेण तदात्मत्वादिलौडुलोमिः' इति सूत्रात् । यादृशं वेदे प्रतिपाद्यते
तादृशमेव श्रुतौ ब्रह्मणो रूपं कल्पनाशब्देनोक्तमिति वा । दाण्डिनायनेति 'दाण्डिनायनहास्तिनायना-
यवर्णिकजैह्वाशिनैयवाशिनायनित्रैणहृत्पथैवत्यसारवैश्वानरैश्चैव हिरण्यमयानि' इति सूत्रे । नायमिति
दाण्डिनायनसूत्रस्य लौकिकप्रक्रियाविषयत्वात् । अत एवैवकारो वक्ष्यते । यकारलोप इति तथा च
भाष्ये इयकार इत्यादिपदच्छेदः । इत्यदार्थः सुबोधिन्यां 'स त्वं न चेत्' इत्यत्र । न च इत्
इति पदच्छेदपक्षेऽपि यद्यर्थ इदिति । अत्र तु हीत्यर्थको य इ तद्विदुरित्यत्र तथादर्शनात् । पूर्वमिति
समन्वयाधिकरणे । हेतुभाष्यविवरणपूर्वकं विवृण्वन्ति यद्यज्जनकमित्यादि । पूर्वमिति समन्वया-
धिकरणे । अतः केशेत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म अतः केशेति । कमनीयमिति स्वर्णधर्मानुवाक-
पदादाहुः वर्णान्तरस्येति । ब्रह्म स्वरूपमेवेति पुरुषविद्यब्रह्मणादेवकारो विधान्तरयोगः

आनन्दवाची । लोकेऽपि तस्यानन्दसाधकत्वात् । अतः केशादयोऽपि सर्वे आनन्दमया एव । तादृशमेव ब्रह्मस्वरूपमिति मन्तव्यम् । अत एव ।

‘ध्येयः सदा सचित्तमण्डलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः ।
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः’ ॥
इत्यत्रापि वपुः स्वरूपम् ।

‘माया ह्येषा मया सृष्टा’ इत्यादि भगवद्वाक्यं, भगवन्मायया भगवन्त-
मन्यथा पश्यन्तीत्याह । न तु भगवानेव मायिक इति । शरीरे सति जीवत्वमेवेति
निश्चयः । अतो ब्रह्मधर्मोपदेशात् सूर्यमण्डलस्यः परमात्मैव ॥ १९ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

चक्रपदसोक्तत्वादित्याशङ्क्यामाहुः अत एवेत्यादि । तथाचात्रापि वं सुखं पुष्पातीति
योगेन ब्रह्मैवोच्यते । अत एव स्मृत्यन्तरे ।

‘आदित्यमण्डलासीनं रुक्मामं पुरुषं परम् ।

ध्यात्वा जपेत्तदित्येतन्निष्कामो मुच्यते द्विजः ॥

आदित्यमण्डलान्तःस्थं परं ब्रह्माधिदैवतम् ।

छन्दोनिवृत्त्याद्रायत्री मया दृष्टा सनातनी’ ॥

इति गायत्र्या ध्येये सूर्यमण्डलान्तःस्थे वपुःपदं नोच्यत इति न तेन शरीराङ्गीकारः कर्तुं
शक्य इत्यर्थः । नन्वत्र केवलस्वरूपाङ्गीकारेऽन्यत्रापि स्वरूपमेव न्यायवलेन साधितं शक्यम् ।
तथा सति ।

‘माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद ।

सर्वभूतगुणैर्युक्तं न मां पश्यन्ति हरयः’ ॥

इति विश्वरूपाकृतेनारायणस्य यद्गारते वाक्यं तस्य विरोधो दुर्वार इत्यत आहुः माये-
त्यादि । तथाचास्मिन् वाक्येऽपि, यन्मां सर्वभूतगुणैर्युक्तं पश्यसि एषा माया मया सृष्टेति पद-
संबन्धान् विरोध इत्यर्थः । ननु किमित्येवं निर्बन्धे शरीरवत्ता निराक्रियते । कर्माजन्यसैच्छिकश-
रीरस्याङ्गीकारेऽपि ब्रह्मत्वाक्षतेरित्याशङ्क्यामाहुः शरीर इत्यादि । मास्तु कर्मजन्यत्वं शरीरस्य,

रदिमः ।

व्यवच्छेदकः । मन्तव्यमित्यस्यार्थः मननीयमिति । अत एवेत्यादीति सति संभवे तत्ररत्नाभावादेव ।
अन्यथाश्रुतिविरुद्धपुराणं तत्रं स्यात् । श्रुतिविरुद्धोऽयं तत्रं पुराणे उपदृष्टन्ति स्म अत इत्यदि ।
छन्द इत्यादि । छन्दोभिर्ध्यायतीत्यर्थः । निवृत्त्यती ध्यायती चासी गायत्री च एतेन पुराणमुपबृंहण-
भक्तिप्रार्थान्तरूपन्यासो न सांप्रतमिति निरस्तम् । माया ह्येषेति इदं वाक्यं शंकरभाष्य
उपन्यस्तम् । पदसंबन्धादिति माया त्रिगुणा तन्मते ततो वाचच्छेत्तुं माया ह्येषेत्यत्र मायेन्द्रियाणि
ततश्च ‘इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते’ इत्यत्र मायायाः करणतयोल्लेखाद्यन्मां पश्यतीत्यत्र मायिकं मां
पश्यतीत्यर्थाभावात् किं तु इन्द्रियविशिष्टं मां पश्यति इत्यर्थात् । ‘दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे
योगमैश्वरम्’ इत्यत्र विशिष्टकरणदानस्य मायिकं मां पश्यतीत्यर्थं विरोधात् मिदं ‘मायाभात्रमनूद्यान्ते
प्रतिषिष्य प्रसीदति’ इति मिदाया एव मायाभात्रत्वात् । ‘भगवानपि ता रात्रीः’ इत्यत्र ‘योगमाया-
सुपाश्रितः’ इत्यत्र योगमायाश्रयणादिन्द्रियरूपमायायाः करणत्वम् । विषयविषयात् इन्द्र इन्द्रियरूप-

भेदव्यपदेशान्वाच्यः ॥ २० ॥

इतोऽपि सूर्यमण्डलस्यः परमात्मा । भेदव्यपदेशात् । ‘य आदित्ये तिष्ठन्ना-
दित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष
त आत्माऽन्तर्धाम्यमृतः’ इति श्रुत्यन्तरे आधिदैविकं सूर्यमण्डलाभिमानिभ्यां
भेदेन निर्दिष्टम् । यद्यपि तत्राकारो न श्रूयते, तथापि हिरण्मयवाक्येनैकवाक्य-
त्वात् सर्वत्र साकारमेव ब्रह्मेति मन्तव्यम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

तथापि शुद्धसत्त्वात्मकत्वं त्रिगुणात्मकत्वं वा तु सर्वथाङ्गीकार्यम् । तेन सह संबन्धश्चाभिमान एव
वाच्यः । तथा सत्यभिमाना जीव इति तापनीये श्रावितस्य जीवलक्षणस्य तत्र सत्त्वाजीवत्व-
मेव । यदि च नियन्तृत्वं तदाऽन्यस्याभिमानिनस्तत्र सत्त्वाद् ब्रह्मशरीरत्वाभावः । यदिच
संबन्धान्तरं, तदापि ।

‘स एव वासुदेवोऽयं पुरुषः प्रोच्यते बुधैः ।

प्रकृतिस्पर्शराहित्यात् स्वातन्त्र्याद् वैमवादापि’ ॥

इति नारसिंहवाक्यविरोध इति शरीराङ्गीकारे जीवत्वापत्तिरनिवार्येति तदभावाय निर्बन्ध
इत्यर्थः ॥ १९ ॥

भेदव्यपदेशान्वाच्यः ॥ २० ॥ ननु पूर्वसूत्रोक्तेनैव हेतुना सिद्धे ब्रह्मत्वे किमिति
रदिमः ।

मायाभिः पुरुरूपः चाक्षुषः शब्दोनुमित उपमित इत्येव भीयते प्राप्यते इति पदसंबन्धः । भगवतो
मायेति संबन्धविशेषनिवेशश्चायं पदसंबन्धस्तस्मादित्यर्थः । एतेन शंकरभाष्याद्विशेषे दक्षिते स्मरणं सभा-
जितम् । त्रिगुणेत्यादि त्रिगुणमुपक्रम्य ‘अभ्यपद्यत लीलया’ इतिवाक्यात् । अत्र सूत्रे उत्तरसूत्रादन्य
इति साध्यानुकषादधिकारसूत्राद्ब्रह्म इत्यनुवर्तनाद्वा न पक्षहेतुनिर्देशो दोषायेति ज्ञेयम् । अत एव
रामानुजभाष्यं ‘अन्तरादित्ये अन्तरक्षिणि च यः पुरुषः प्रतीयते स जीवादन्यः परमात्मैव कुतः
तदमोपदेशादिति’ । अस्मन्मतेपि परमात्मान्यपदार्थ इति विशेषो न । नियन्तृत्वमिति जीव-
शरीरयोः संबन्धः अथान्तर्धामिब्रह्मणे । ब्रह्मेति किं तु नियन्तृत्वमणोन्यस्याभिमानिनः शरीरत्वं स्यादिति
भावः । तस्मिन् सत्यन्तर्धामिब्रह्मणविरोधः । एवं चाभिमाननियन्तृत्वान्यतरसंबन्धे विवक्षिते त्वाहुः
यदि चेति । संबन्धान्तरत्वमभिमाननियन्तृत्वान्यतरत्वं तदापि संयोगसंबन्धासंग्रहाद्वाक्यविरोध
इत्याहुः तदापीति । वसुदेवे संक्रान्तः संयोगसंबन्धेन वर्तमानो वासुदेवः अयं पुरुषो जीवः । तथा
च पुरो जीवस्य च संयोगसंबन्धः । विधाविधावच्छिन्नजीवस्य वासुदेवाभेदसंभवमालोच्यह प्रकृतीति ।
अभिमानो मिथ्येति प्रकृतिः । स्वर्शोभिमानारुयस्तस्य राहित्यात् । नियन्तुरंशत्वात् स्वातन्त्र्यं तस्मात् ।
वैमवं वैमथ्यं तत्त्वमस्तीतिवद्वासुदेवोयं पुरुष इति तस्मादपि ॥ १९ ॥

भेदव्यपदेशान्वाच्यः ॥ २० ॥ भाष्ये । आधिदैविकमिति आदित्ये तिष्ठत् इत्याशु-
क्तादित्ये स्थित्यादिमन्तं निर्दिष्टं जानीयादिति शेषः । सूर्येत्यादि सूर्यमण्डलं जडम् । तदभिमानो
चेतनः वेदेत्यनेन ज्ञानानुकूलव्यापारवत्त्वोपधनपुरस्कारेण नेति नञा निषेधात् । ज्ञानवत्त्वस्यापारे
जडे बाधात्तन्मायित्यर्थः । प्रकृते । समानेति समानप्रकरणं ब्रह्मप्रकरणेनोद्गीयप्रकरणं समानं
तदुक्तधर्मान्तरं परमात्मत्वं तस्य । परमात्मत्वमत्रोद्गीयत्वं तद्विद्योक्तधर्मवत्त्वम् भाष्ये । एक-

अन्तर्यामिन्नात्मणे चत्वारोऽर्था उच्यन्ते । सर्वत्र तिष्ठेत्सद्भूमैर्न संबध्यते । सर्वमुक्तिपरिहाराय स्वधर्मैस्तत्र बध्यते । स्वलीलासिद्ध्यर्थं तच्छरीरमिति । तस्य नियमनं तदर्थमिति । चकाराद्भूमौ उच्यन्ते ।

भाष्यप्रकाशः ।

हेत्वन्तरोपन्यास इत्याकाङ्क्षायामाहुः यद्यपीत्यादि । तथाच समानप्रकरणोक्तधर्मान्तरस्यापि प्राप्त्यर्थं हेत्वन्तरमित्यर्थः । नन्वत्र भेदव्यपदेशमात्रेण कथं परमात्मलाभ इत्यत आहुः अन्तर्यामीत्यादि । तदिति सामान्ये ननुसकम् । अभिमानीत्यर्थः । अत्र हि जडाजीवाश्च भिन्नत्वेनान्तर्यामी प्रतिपाद्यते । तत्र, य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तर इति जडं मण्डलसाधारत्वेन निर्दिश्य ततोऽन्तरत्वकथनात् ततो भेदो बोधितः । तेन तद्भूमैर्न संबध्यत इति बोधितम् । तत आदित्यादन्तरत्वं तदभिमानीनो जीवस्याप्यस्तीति ततोऽपि भेदबोधनाय, यमादित्यो न वेदेति तदभिमानीयज्ञेयत्वकथनेनाभिमानीधर्मैर्न संबध्यत इत्याह । तथा यद्यभिमानी तं जानीयान्मुक्तः स्यात् । अतस्तदभावाय स्वासाधारणैर्ज्ञानापहवताप्यमत्वादिभिर्धर्मैः कर्तृभिस्तद् आधारभूतम् अभिमानी वस्तु न बध्यते, न व्याप्यते । 'यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्' । 'सैषा त्रय्येव विद्या तपति' इति स्मृतिश्रुत्युक्तधर्मैर्मण्डल एव

रश्मिः ।

वाक्यत्वादिति स्वार्थबोधे समासयोर्हिरण्यपदघटितान्तर्यामिपदघटितवाक्ययोर्द्वन्द्वप्रयोगात्परस्पर-साकाङ्क्षयोरेकवाक्यतया द्वन्द्वप्रयोगिमीमांसको ज्ञानाङ्गमित्येवमेकवाक्यत्वात् । द्वन्द्वं ब्रह्मात्मरूपम् । 'स्वरूपं द्विविधं चैव सगुणं निर्गुणं तथा' इति श्रुतेः । ननु साकारं ब्रह्मेति वक्तव्ये सर्वत्रैवेवमिति च कुतः । इति चेच्छ्रुणु सर्वत्रैवेवमिति वक्तव्यम् । एकत्र सिद्धः शास्त्रार्थोपरत्रापि तथेति न्यायात् अन्यथैकत्रान्यथापरत्रान्यथेति शास्त्रार्थो भिद्येत । एवेत्यपि वक्तव्यमुक्तश्रुतेः । पुरुषविष्वक्पञ्च । 'अहं सर्वस्य प्रभवः' 'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् । परं भावमजानन्तः' इति गीता । 'समान एवं चामेदात्' इति वैयाससूत्रम् । 'अपश्यत् पुरुषं पूर्णम्' इति समाधिभाषा तदेकवाक्य-तया । द्वितीयस्कन्धे नवमाध्याये ज्ञानस्य कथनात् ब्रह्मणे चतुर्भुजरूपप्रदर्शनाच्च । तच्च निर्गुणपूर्वक-मिति सुष्ठुक्तं सर्वत्रैति एवेति च ध्येयम् । प्रकृतेः । भेदव्येति हेतुना । परमात्मलाभः भावप्रधान-परमात्मशब्दः तेनान्यद् ब्रह्मसुत्रान्तरादनुवृत्तं परमात्मैत्युच्यतेन्यपक्षग्रन्थत्वात् तस्य लाभ इत्यर्थः । तेनात्र वक्ष्यमाणसाध्यपक्षयोर्न विरोधोत्र । अभिमानीधर्मैरिति तदभैरधोश्चजत्वादिभिः । सर्व-मुक्तीत्यादिभाष्यं विवरिष्यन्त आहुः तथा यद्यपीत्यादि । मुक्त इति । ज्ञानत्वेन मुक्तित्वेन कार्यकारण-भावादिति भावः । बध्यत इति बध बन्धने इति धातोः कर्मणि प्रत्यये रूपम् । बन्धनं चाप्रीत्यनुकूलो व्यापारः सा च प्रकृते व्यापनरूपस्वरूपलक्षिका । धातुनामनेकार्थत्वमित्याशयेनाहुः व्याप्यत इति । यदेत्यादि उत्तरार्धे तु 'यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्' इति । सैवेति तैत्तिरीये 'आदित्यो वा एष एतन्मण्डलं तपति तत्र ताः ऋचस्तदृचां मण्डलं स ऋचां लोको अथ य एष एतस्मिन् मण्डलेर्चिर्दिप्यते तानि सामानि स साम्नां लोको अथ य एष एतस्मिन् मण्डलेर्चिषि पुरुषस्तानि यजुषि स यजुषां मण्डलं स यजुषां लोकोः । सैषा त्रय्येव विद्या तपति य एषोन्तरादित्ये हिरण्यमयोः पुरुषः' इति श्रुतेः । स्मृतिश्रुतीत्यादि धर्मादिष्वनियमात् साधुः प्रयोगः । अन्यथा 'अन्यर्हितं

भाष्यप्रकाशः ।

व्याप्यते, नाभिमानीति स न बध्यते । यद्वा दिवादिर्भ्वादित्रदाकृतिगणः । तेन क्षीयते मृग्यतीत्यादिवद् बध्यत इत्यपि कर्तरि प्रयोगः । तथा सति स्वधर्मैस्तमभिमानीनं न व्याप्नो-तीत्यर्थः । तात्पर्यं तूभयथापि समानम् । तेन ततोऽपि भेदः । एवमुभयान्भेदे सिद्धेऽपि तत्र स्थितेः किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायां, यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयतीत्याह । तत्र जगद्भासनं दिग्बिभागो धर्मप्रवृत्तिरित्यादिरूपा स्वस्वैव लीला तत्सिद्ध्यर्थं तन्मण्डलं शरीरं, न त्वधिष्ठानार्थम् । तेन जीवतुल्यता वारिता । एवं, 'गामाविश्य च भूतानि धारयाम्य-हमोजसा' इत्यादिष्वपि भगवल्लीलात्वं बोध्यम् । तेन पृथिव्यादिकार्यस्यापि लीलात्वं तेषां लीला-शरीरत्वं च ज्ञातं भवति । शरीरस्य तादृशत्वे गमकमाह य आदित्यमन्तरो यमयतिती । अत्रादित्यपदं मण्डलाभिमानीनोः संग्राहकम् । तथाच तस्यादित्यादेर्नियमनं तदर्थं तादृश-रश्मिः ।

पूर्वम्' इति सूत्रप्रवृत्तिर्न सादेव । तदुक्ता धर्मा जगद्भासनादयः । आकृतिगण इति आकृत्या गण्यते इति व्युत्पत्तिः । क्षीयत इत्यादि । यद्यपि क्षि क्षये श्वादिः । क्षि निवासगलोस्तुदादिः । क्षि हिंसायां क्रयादिस्तयाप्याकृतिगणः संभवति । मृग्यतीति मार्गं अन्वेषणे चुरादिः, मृग गतौ श्वादिः, परस्मैपदी उभयस्य मृग्यतीति रूपं मृग्यमिति तथा । दिग्बि-भाग इति सूर्योदयानन्तरं प्राच्यादिव्यवहारात् । लीलेति स्थानलक्षणलीला । एवं गामिति आदिपदार्थोऽग्रे वक्ष्यते । भगवदित्यादि पृथ्वीधारणमपि स्थानम् । सृष्टायाः पृथ्व्याः मर्यादया पालनरूपत्वात् । ओषधीनां सोमरसमर्यादया पालनम् । जाठराग्नेश्चतुर्विधात्रापाचनस्य मर्यादारूपत्वेन स्थानत्वम् । अग्निर्ज्ञानं क्रियात्मा । सर्वस्य स्मृतिर्ज्ञान-मपोहनं च मर्यादया पालनम् । अत्र ब्रह्माग्निविचारः 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेर्जुन तिष्ठति' इति दश-विधलीलासंशुक्त इति 'लीला भगवत्सत्तास्ता ह्यनुचक्षुस्तदारिमकाः' इत्यपि बोध्यम् । इति 'गतिस्मित' इति श्लोकोक्तभगवत्परिग्रह उक्तः । तथा च सुबोधिनी 'एकैकस्मिन् पदार्थे दशविधलीलाविशिष्टो भगवान् तिष्ठतीति । आदिपदार्थवाक्यानि तु यदादित्यगतमिति वाक्यानन्तरम् ।

'गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।

पुष्पामि चोषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।

प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टोः मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च' । इति

लीलात्त्वमिति विसर्गलीलात्त्वम् । 'विसर्गः पौरुषः स्मृतः' इति तल्लक्षणात् । 'धावाभूमी जनयन् देव एकः' इति श्रुतिः सर्गे । शरीरत्वमिति यौगिकं शरीरपदं वेदान्ते योगमात्रादरात्तु रूढमित्यन्तर्यामिणः शरीरं योगरूढं वा । संग्राहकमिति अभिधेयैव संग्राहकं विशिष्टे शक्तेः । अन्तर्यामी तु साकारव्यापकेन्तर्भवति तद्रूपस्थितसाकारव्यापकेषु त्रिषु रूपेषु व्यक्तौ शक्तिरिति पक्षे चिन्त्यम् । नन्वस्त्वेवं तथाप्यभिमानीस्मरणस्य किं प्रयोजनमत आहुः तथेति । तथा चाभिमानी-स्मरणस्य प्रसिद्धशरीरत्वज्ञानं प्रयोजनमन्तर्यामिणो लीलाज्ञानं प्रयोजनं द्वा सुपर्णैतिश्रुतेरित्यर्थः ।

तस्मात् सर्वविलक्षणत्वादन्य एव, नाभिमानी । उपचारव्यावृत्त्यर्थमन्य-
पदेनोपसंहारः ।

भाष्यप्रकाशः ।

लीलार्थम् । तं यदि, भीष्मादित्याद्युक्तरीत्या न नियमयेत्तदा सा सा लीला न सिद्धो-
दिति । अत्र पुनरप्यन्तर इति पदम्, अन्तरं करोतीत्यन्तरपति, अन्तरयतीत्यन्तर इति
सर्वान्तःस्थापकत्वबोधनार्थम् । एवमेते चत्वारोऽर्था उच्यन्ते । यत्र तु चकारात् पूर्वश्लोका
धर्माः समुचीयन्ते । तेन हेतुभेदेऽपि साध्यैक्यान्नाधिकरणभेदः । एवं श्रुतिं यत्र च
व्याख्याय सिद्धमाहुः तस्मादित्यादि । तथाच भेदव्यपदेशात् सर्वविलक्षणत्वेन व्यपदेशा-
दादित्यान्तर्वर्ती परमात्मा अन्य एव, नाभिमानीत्यर्थः । नन्वत्रान्य इत्यस्य साध्यत्वेन
निर्देशादिदमधिकरणान्तरमेवास्तिवति चेत्तत्राहुः उपचारेत्यादि । तथाच, नेतरोऽनुपपचेरि-
त्यादिना पूर्वाधिकरणं निषेधश्रुतेन विचारितं यथोपचारनिवृत्त्यर्थं तथेदमन्यपदेनोपसंहृतमिति
तत्रेवात्रापि नाधिकरणभेद इत्यर्थः । ननु, उदेति ह वै सर्वेभ्यः याप्सभ्यो य एवं वेदेत्य-
नेनोपासनाकथनात् तस्याश्च वाचो धेनुत्ववदारोपिताकारेणापि सिद्धेः किमर्थमयमाग्रह इत्यत
रश्मिः ।

तस्येत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म तस्येत्यादिना । भीषेत्यादि ।

‘भीष्मास्माद् वातः पवते भीषोदेति सूर्यः ।

भीष्मास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्पावति पञ्चमः’ ॥

इति तैत्तिरीये । उक्तरीत्येति उक्तरीत्या नामस्थानलीलार्थं न नियमयेदित्यर्थः । सा सेति
प्रजायेयेति न्यायेनोच्चनीचभावेन सा सा लीला न सिद्धेत् सर्वस्य भगवत्त्वेन समत्वात् ‘स्थितिवैकुण्ठ-
विजयः’ इति स्थानलक्षणोक्तविजये तु सा सा लीला स्यादेव । अनेति य आदित्यमन्तर इत्यत्र
पुनरनन्तरपदस्यार्थः । सर्वान्तरिति सर्वानन्तरं करोतीत्यर्थेनानुवादकत्वमिति भावः । चकारादि-
त्यादि भाष्यार्थमाहुः सूत्रे त्वित्यादि । तेनेत्यादि चकारकृतपूर्वोक्तहेतुसमुच्चयेन । अन्यत्वरूपसाध्यै-
क्यात् । साध्यभेदस्त्वधिकरणं भिन्नात् । यथोत्तरत्र । तस्मादित्यादीति । पूर्वं साध्यं परमात्मत्वं न
त्वादित्यान्तःस्थत्वं तस्य संदिग्धसाध्यत्वेन पक्षत्वात् । अत्र तु परमात्मनः पक्षत्वं संदिग्धसाध्यव-
त्त्वात् । अन्यत्वं साध्यं भेदव्यपदेशो हेतुः । अत्र साध्यतावच्छेदकहेतुतावच्छेदकयोरेक्यात्साध्यसाधन-
त्वव्याहृतिर्दोषः । अन्यथा प्रसिद्धानुमाने वहेहेतोरपि वह्निसिद्धिः स्यात् । अतो हेतुपरिष्कारपूर्वकं
सिद्धं सूत्रार्थमाहुः तस्मात् सर्वविलक्षणत्वादिति । तथा च सर्वविलक्षणत्वत्वं हेतुतावच्छेदक-
मिति तयोर्भेदान्नोक्तदोष इति भावः । परमात्मनि लक्षणत्वेन सर्वविलक्षणत्वं सिद्धं, पृथिवीतरेभ्यो भिद्यते
गन्धवत्त्वात् इत्यत्र यथा, सर्वविलक्षणत्वेन हेतुनान्यत्वसिद्धिः । यथा लक्षणं सर्वविलक्षणत्वसिद्धि-
स्तथा भेदव्यपदेशोपीति समानव्याप्तिज्ञानविषयत्वेन हेतोरैक्यं सारम् । उपेत्यादि ‘आनन्दमानन्द-
मयोवसाने’ इति द्वितीयस्कन्धात् जीवस्याप्यानन्दमयत्वेनानन्दमयस्य तद्वाचकत्वे उपचरितत्वं स्यात्-
त्रिवृत्तये इत्यर्थः । उपसंहृतमिति तथा चादित्यान्तःस्थाभिमानिव्यावर्तकत्वेनोपचारनिवृत्त्यर्थमेवमुप-
संहृतमित्यर्थः । अनेनेति इतिश्रुत्यन्तर्गतवेदेतिपदेन । उपासनेति वेदेत्यनेनोक्तोपासनेत्यर्थः । वाच

ब्रह्मत्वे सिद्धे ज्ञानं वा, उपासना वेति, नास्तिस्त्वान्ते कश्चन विशेषः ।
कारणे कार्यधर्मोपस्त्ययुक्त एव । कार्ये पुनः कारणधर्माधिकरणत्वेनोपासना
अभेदात् फलायेति सर्वत्र व्यवस्थितिः ॥ २० ॥

इति प्रथमाध्याये प्रथमपादे षष्ठमन्तस्तद्धर्माधिकरणम् ॥ ६ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

आहुः ब्रह्मत्वे इत्यादि । तथाच भवतुपासना, तथापि पूर्वश्लोकाधर्मैस्तस्य ब्रह्मत्वे सिद्धे तदा-
कारणाकल्पितत्वमप्यनुपपन्नमावात् सिद्धमेवेति वेदनस्य ज्ञानत्वमुपासनात्वं वास्तु, मनो-
व्यापारत्वस्योभयत्र वीत्यादतस्तत्र नास्तिस्त्वान्ते कश्चिदाग्रह इत्यर्थः । नन्वतस्मिन्तद्धर्मा-
नारोप्य तत्त्वेन चिन्तनमुपासना, तस्य तत्त्वेन निश्चयो ज्ञानमिति स्वरूपभेदात् कुतो न विशेष
इत्यत आहुः कारण इत्यादि । अस्त्वयं विशेषस्तथापि हीने उत्कृष्टधर्मोपस्य लोके कार्य-
साधकत्वस्य विपरीते वैपरीत्यस्य च दर्शनात् कारणे यः कार्यधर्मोपस्य स तु हीनत्वापाद-
कत्वेन कार्यासाधकत्वादयुक्त एव । वेदे हि सर्वत्राहं ब्रह्मेत्यादौ कार्ये कारणधर्माणा-
मुत्पत्तिस्थितिप्रलयकर्तृत्वादीनामारोपेणोपासनात् फलप्राप्तिः श्रूयते । तत्र हेतुः कार्यस्य कारणा-
भेद एव । सर्वत्र तथा दर्शनात् । कारणस्य कार्याभेदस्तु प्रत्यक्षाच्छास्त्राच्च विरुद्धः ।
यत्र पुनः सर्वथा भेदो यथा वाग्धेनोस्तत्रापि शब्दापेक्षयार्थसोत्कृष्टत्वम् । शब्दशेषित्वाद्-
र्थस्य । अतो ज्ञानोपासनयोर्विशेषसत्त्वेऽपि यथैकदेशिभिः स्वीक्रियते तथा नास्तीति फल-
जनकत्वांशो विशेषामावकथनं तत्रोपपन्नमेवेत्यर्थः ।

माध्वास्तु, पूर्वाधिकरणविषयवाक्येषु, अदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्त इत्युक्तम् । तच्चाह-
इत्युक्तम्, अन्तःप्रविष्टं कर्तारमेतमन्तश्चन्द्रमसि मनसा चरन्तं सहैव सन्तं न विजानन्ति
देवा इत्यत्रान्तःस्थस्य कस्यचिदुच्यते । तदग्रे च, इन्द्रो राजा जगतो य ईशो इति । सप्त
युञ्जन्ति रथमेकचक्रं त्वष्टारं रूपाणि विकुर्वन्तमित्यादिभिरन्ये प्रतीयन्ते । अतः को वाऽनन्द-
मय इति संदेहे, इन्द्रो राजेत्यादितत्तद्देवतावाचकश्रुत्या, सप्त युञ्जन्तीत्यादित्यलिङ्गाच्च
रश्मिः ।

इति ‘वाचो धेनुमुपासीत’ इति श्रुतिः । उपासनेति यथा वाचो धेनुमिलत्र । तस्येति । तस्त्व-
तस्तत्त्वेन । कार्ये पुनरित्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म वेदे हीत्यादिना । सर्वत्र जगति घटपटादौ । इदं
सर्वत्रेत्यादिभाष्यविवरणम् । प्रत्यक्षादिति सुवर्णं न कटकदि ब्रह्माहमसि न त्वहं ब्रह्मेत्यादि-
प्रतीतेरित्यर्थः । अत्राब्रह्माहं नास्मि अहं ब्रह्मास्मीति योजना । अत्राभेद उपासनीये कारणतावच्छेदकं
नोद्देश्यतावच्छेदकं कार्यतावच्छेदकं नो विधेयतावच्छेदकं कारणतावच्छेदकं विधेयतावच्छेदकं
कार्यतावच्छेदकमुद्देश्यतावच्छेदकं तु भवति । कुतः मायावच्छिन्नमविधावच्छिन्नमस्त्वप्यदार्थः इत्य-
भेदो भवति विशिष्टं शुद्धात्तातिरिच्यते इति यत्र पुनः साधनेन भेदे विगलिते ब्रह्म शुद्धं न तत्रास्त्-
त्यदार्थोभेदः तस्यैवामावादिति हेतोः । ‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत’ ‘कार्यकारण-
वस्त्वैक्यमर्थनं पटतन्नुवत्’ इति सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशादित्यधिकरणे शास्त्रमुक्तमेव । भाष्यसूचितार्थ-
माहुः यत्र पुनरिति । तथा नेति एकादशसुबोधिन्यामुप समीपे स्थित्वा यथायोग्यकरणमुपासनमुक्तं
तदत्रापीति भावः । अत्र शांकरमते भास्करमते रामानुजमते चाधिकविशेषामावात्तन्माध्वमतमादावाहुः
साध्या इति । आदित्येत्यादि सप्तसुखाश्वरथत्वात् तस्य विपश्चितिमिति सूर्यनामेति शब्दसामर्थ्या-

भाष्यप्रकाशः ।

कश्चिद्देवताजीवविशेष एव तत्र युक्तः । श्रुतेः सर्वापेक्षया प्रबलत्वाजगतो य ईश इत्यादि-
योगस्यापि तदुपोद्गलकस्य तत्र दर्शनाच्चेति प्राप्त इदं सूत्रद्वयं प्रवृत्ते । 'अन्तस्तद्द्रव्योपदेशात्'
'भेदव्यपदेशाच्चान्यः' इति । अन्तः श्रूयमाणो विष्णुरेव । कुतः । 'अन्तःसमुद्रे मनसा
चरन्तं ब्रह्मान्वविन्दद्दशहोतारमर्णे । समुद्रे अन्तः कवयो विचक्षते । मरीचीनां पदमिच्छन्ति
वेधमः । यस्याण्डकोशं शुष्ममाहुः प्राणमुल्वम्' इत्यादि तद्रमोपदेशात् । श्रुत्यर्थस्तु समुद्रे
अन्तरर्णे अन्तर्जले मनसा चरन्तं यथेष्टं विहरन्तं दशहोतारं, हु दानादनयोः, दशेन्द्रियवि-
षयदातारं ब्रह्मा अन्वविन्दद् व्यजानादिति तथा । मरीचीनां जीवानां पदमाश्रयभूतं वेधसः
भूतभावितो ब्रह्माण इच्छन्तीति । अण्डकोशं ब्रह्माण्डं यस्य शुष्मं वीर्यमाहुरिति । अत्र
समुद्रशायित्वब्रह्माण्डवीर्यत्वादीनामन्तःप्रविष्टनिष्ठतयोपदिष्टानां लिङ्गानां विष्णवेकनिष्ठत्वाद् अन्तः-
प्रविष्टः कर्ता विष्णुरेवेति । प्रलयार्णवशायित्वब्रह्माण्डवीर्यत्वयोः कथं विष्णुलिङ्गत्वमित्या-
काङ्क्षायाम्, आपो नारा इति व्यासस्मृतिवाक्यं, चतुर्वेदशिक्षाश्रुतिश्रोपन्यस्ता । ननु तस्ये-
न्द्राद्यभिन्नत्वं तर्हस्त्विति शङ्कायां द्वितीयसूत्रे, 'इन्द्रस्यान्मा निहितः पञ्चहोता । वायोरा-
त्मानं कवयो निचिक्षुः । अन्तरादित्ये मनसा चरन्तम् । देवानां हृदयं ब्रह्मान्वविन्दत्' इत्या-
दिष्वेकस्यैव सर्वदेवान्तर्वातित्वकथनेन यथेष्टचारितयान्तर्यामित्वबोधनेनेन्द्रादिभ्यस्तस्य भेद-
व्यपदेशात् सोऽन्य एव तेभ्य इति वदन्ति ।

शैवास्तु छान्दोग्यश्रुतिमेव विषयवाक्यत्वेनोपन्यस्य साधकानुग्रहार्थं तत्र हिरण्यमं किमापि
रूपं समास्थाय सवितृमण्डलेऽधिवसति । तच्च त्रिलोचननीलकण्ठादिविशिष्टम् । न चाक्षिणी
इति द्वित्रचनविरोधः । तस्य पुण्डरीकोपमानोपधनार्थत्वात् । तृतीयस्य नेत्रस्य सुकुलितत्वेन
तत्र पुण्डरीकोपमाया अभावात् नचैतावता तृतीयाभावः शङ्क्यः । यथाहि कंचित् त्रिपुत्रं
ब्राह्मणमुद्दिश्योच्यते, द्वावस्य पुत्रावग्निकल्पौ । न तावता तृतीयाभावः, आपाति । किन्तूप-
माभाव एव । तथात्रापि शक्यवचनत्वाद् । ध्येयः सदेति वाक्यं तु लौकिकानां भाक्तमेव ।
नापि पुण्डरीकाक्षत्वलिङ्गेन विष्णुः शङ्क्यः । कमलनेत्रत्वस्य लौकिकसाधारणत्वेन लिङ्गत्वा-
भावात् । नचास्मिन् हिरण्यमयपुरुषवाक्ये शिवासाधारणलिङ्गादर्शनात् कथं शिवाकारत्वनिश्चय
इति शङ्क्यम् । अस्य वाक्यस्य संदिग्धत्वेनासंदिग्धेन वाक्यान्तरेणैतदर्थस्य निर्णयत्वात् ।
तैत्तिरीयाणां महोपनिषदि, आदित्यो वा एष एतन्मण्डलं तपतीत्यनुवाके, य एपोन्तरादित्ये
हिरण्यमयः पुरुष इत्यादित्यान्तर्यामिणमभिधाय तदग्रिमानुवाके, आदित्यो वै तेज इत्यादि-
रश्मिः ।

दित्यर्थः । श्रुतेरित्यादि निरपेक्षरूपायाः श्रुतेः सर्वेषां लिङ्गादीनामपेक्षेत्यर्थः । चतुर्वेदेत्यादि
अहं न तेजोरश्मीन् नारायणं पुरुषं जातमग्रतः पुरुषात् प्रकृतिर्जगदण्डमिति श्रुतिः । अहं तेज-
आदिकं न किं तु पुरुषान्महत्त्वाद् विष्णोर्द्वितीयरूपाद्विष्णोः प्रकृतिः प्रकृतिभ्रमः सुखानन्दसः जगत्
जीवानुद्यमपीति नारायणत्वमुभयया विष्णुलिङ्गम् । अण्डमिति ब्रह्माण्डवीर्यत्वं लिङ्गम् । पञ्चहोतेति
पञ्चज्ञानेन्द्रियादिदाता पञ्चहोता पञ्चहोता वायुरिति चितिश्रुतेः । उपमाभाव इति अग्निकल्पपदोक्तो-
पमाभावः । तृतीयोभिकल्पो नेति । भाक्तमिति स्वाधिष्ठाने लाक्षणिकम् । आश्रयतासंबन्धो लक्षणा ।
लिङ्गत्वेति असाधारणधर्मत्वाभावेन लौकिकेतिव्याप्तस्तथा । अमृतपदशक्तिं शिवे साधयति भगवान्,

भाष्यप्रकाशः ।

नाऽऽदित्यरूपस्य विभूतिमभिधाय एष पुरुष एष भूतानामधिपतिरिति भूतपतित्वेन तं निर्दिश्य
तदग्रिमानुवाकेऽ, सर्वो वै रुद्र इत्यादिपु, हिरण्यवाहवे अम्बिकापतय उमापतय इत्युपसंहारेण
तत्र शिवाकारनिर्णयात् । अन्तर्यामिब्राह्मणे, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृत इति कथनाच्च ।
जाबालोपनिषदि, एतानि ह वा अमृतस्य नामधेयानीति शतरुद्रियप्रशंसावाक्येन अमृतपदस्य
शिवपरतानिर्णयादत आदित्यान्तर्वर्ती त्रिलोचननीलकण्ठादिशरीरवानित्याहुः । तन्मन्दम् ।
शरीरपक्षस्य प्राणेषु दधितत्वात् । आकारेऽप्यक्षिद्रित्वस्य पुण्डरीकोपमानोपधनार्थत्वं तदा स्याद्यदि
नीलग्रीवादिकं त्रिलोचनत्वसाधकमस्मिन् वाक्ये एतन्निर्णायकत्वाक्यान्तरे वा स्यात् । भूतानाम-
धिपतिरित्यस्य तु न निर्णायकत्वम् । भूतपदस्य, धरः सर्वाणि भूतानि, पादोऽस्य विश्वा भूता-
नीतिवत् प्राणिमात्रवाचकत्वेन प्रेतवाचकत्वाभावाच्च नीलग्रीवादिरूपवलिङ्गत्वम् । तस्य प्रेत-
मात्रवाचकत्वे च परिच्छिन्नैश्वर्यबोधकत्वेन परमैश्वर्यविघटकतया तस्यालिङ्गत्वमेवेत्युभयथापि
तदगमकत्वात् । सर्वो वै रुद्र इत्यादीनां तु नैतद्वाक्यशेषत्वम् । आदित्यो वै तेज इत्यनुवाकान्ते,
इत्युपनिषदित्यनेन विद्यासमाप्तिबोधनात् । एवममृतपदस्यापि न निर्णायकत्वम् । शतरुद्रि-
यस्याऽमृतनामत्वेऽप्यमृतपदस्य शिवनामत्वाभावात् । इदं यथा तथा प्रहस्ताख्ये वादे निपुणतरमु-
पपादितमिति नेह प्रपञ्चयते । यत्पुनर्ध्वेयः सदेत्यस्य लौकिकवाक्यत्वमुक्तं, तच्च त्रिपुराणा-
रश्मिः ।

शैवः । जाबालेत्यादि । तत्र माध्वाचार्यमते विष्णुगुणावतारपरत्वं यच्छ्रुतीनामुक्तं तन्नारायणशिवो-
विष्णुरितिवाक्यान्नारायणादीनां ब्रह्मनामत्वात् तत्परमेवेत्येतावान् विशेष इति तन्मतमपहाय शैवं
निराकुर्वन्ति स्म तन्मन्दमित्यादिना । निर्णायकत्वं कोशादिभ्यां तदा स्याद्यदन्वेषां पदानां
शिववाचकत्वं स्यादस्य च प्रायपाठेन यथाकथंचिदप्यन्यपरत्वं तस्यां न त्वेवमित्याहुः भूतपदस्ये-
त्यादि । अलिङ्गत्वमिति तव मते लिङ्गत्वमिति बोध्यम् । उभयथापीति उभे प्राणिमात्रवाचकत्व-
प्रेतमात्रवाचकत्वे अवयवौ यस्य प्राणिमात्रवाचकत्वप्रेतमात्रवाचकत्वसमुदायस्य स उभयस्तस्मिन्
प्रकार इत्यर्थः । एतदुपपादितं प्रहस्ते द्वितीयवादे शिवेशानादिपदानां शिवे रूढिलण्डनप्रस्तावे ।
वस्तुतः सर्वेषां शब्दानां सर्वार्थत्वस्य महाभाष्याद्यभिमतत्वेन ब्रह्मवाचकत्वस्यैवमिप्रेतत्वात् ।
प्रतिनियततावन्मात्रकार्यकरणेन ब्रह्मानुकारितया व्यवहारार्थमेव च शक्तिसंकोचे कोशेषु शिववाचकत्व-
दर्शनेपि ब्रह्मवाचकत्वस्यापि पर्यवस्येयत्वादित्यादिना ग्रन्थेन । एतद्वाक्येति 'य एपोन्तरादित्ये
हिरण्यमयः पुरुषः' इति महोपनिषद्वाक्यशेषत्वम् । विद्यासमाप्तीति तदुत्तरविद्यास्थानां सर्वो वै रुद्र
इत्यादीनामुत्तरविद्याशेषत्वमिति भावः । समाप्तपुनरास्तत्वदोषात् । न चानेकार्थसंकटे वाक्यशेषप्रवृत्तौ
प्रतिबन्धे समाप्तेरप्रयोजकत्वमिति वाच्यम् । स्यादेवं यद्यनेकार्थत्वं स्यात् । तदेव तु न प्रायपाठात् ।
एवं च समाप्तेरस्यान्तरप्रायपाठविघटकत्वाभावेन रुद्रादिपदानां समाप्तिसर्वपरिजिहीर्षयानेकार्थ-
संकटाभावे किञ्चिज्ज्ञापकत्वेन समाप्तेरप्रयोजकत्वाभावात् । इदमिति शरीरपक्षस्येत्यारभ्य निरुक्तम् ।
उपपादितमिति शरीर इत्यारभ्य हेत्वर्थकविभक्त्यन्तं प्रहस्ते प्रथमवादे उपपादितम् । आकारप्रतीति-
ब्रह्मण एव सर्वाकारत्वादेवोपपन्नेत्यादिग्रन्थेन । आकार इत्यारभ्य स्यादित्यन्तमन्तर्यामिचिचारे
पुण्डरीकाक्षत्वाच्चिद्रित्याभ्यामादित्योभूषदा हरिरिति वैष्णवाः । ध्येयः सदा सवितृमण्डलेत्याद्यभिपुराण-
श्रीमद्भागवतवाक्ययोर्मकरकुण्डलत्वादि लिङ्गकथनाच्चेत्यादिना संदर्भेणोपपादितम् । लौकिकेत्यादि

भाष्यप्रकाशः ।

दर्शनादेवेति । गायत्र्यां तु भर्ग इति पदं सान्त्वम् । द्वितीयपादे चासान्वयो मैत्रायणीयो-
रश्मिः ।

लौकिकानां वाक्यत्वं यदि च लौकिकानामित्यस्य स्मार्तानामित्युच्यतेः एतर्षपि वाक्यसामानाधि-
करण्यं सुष्ठु लौकिकं वाक्यं तत्त्वमिति न तु वाक्यसंबन्धिकत्वम् । ननु दृढतरमेतदुपोदलकं यद्गायत्र्यां
सवितुर्वरेण्यं भर्ग इति तत्राहुः गायत्र्यां तु इत्यादि । त्रिपदा गायत्री । त्रिपदेति संघ्याश्रुतेः ।
द्वितीय इत्यादि तिस्रो व्याहृतयः अस्य प्रथमपादस्य वरेण्यपदस्य द्वितीयपादे अच्युतप्रवाचक-
भर्गःपदेनान्वये मैत्रायणीये उपनिषदि ।

‘रविमध्ये स्थितः सोमः सोममध्ये हुताशनः ।

तेजोमध्ये स्थितं सत्त्वं सत्त्वमध्ये स्थितोऽच्युतः’ ॥

इति श्रुतौ सिद्धः । अयमर्थः । सवितुर्देवस्य वरेण्यं तद्भर्गो धीमहि यः सविता नो धियः
प्रचोदयात् । शश्वत्सूयमानात्सूर्यः सवनात्सवितेति श्रुतेः । सविता ब्रह्मेति यत्तदोः सामानाधिकरण्यम् ।
तस्य सवितुर्देवस्य वरेण्यं भर्गो धीमहीति तत्पदं लुप्तपष्टीकम् । तत्सवितुरिति समस्तं पदं धामत्वाश्रौता-
न्वयः । इमं च भर्गःशब्दस्य सान्त्वत्वेऽचकथम् । केचिच्च सवितुर्देवस्य वरेण्यं तं भर्गं चिन्तयामि यः
पूर्वोक्तोऽस्माकं बुद्ध्युपलक्षितानि सर्वेन्द्रियाणि प्रेरयतीति योऽस्माकं भर्गो धियः प्रेरयति सवितुर्देवस्य
तद्वरेण्यं धीमहीति चान्वयमाहुः तत्र । अदन्तत्वपक्षे तदित्यत्र लिङ्गव्यत्ययः सुप्लोपकल्पनाऽव्ययत्व-
कल्पना वा भर्गपदे व्यवहितान्वयो वा विभक्तिव्यत्ययो वा । न च तदित्यस्याव्ययत्वस्य व्यवहिता-
न्वयस्य च सार्वत्रिकत्वेनादोषादन्वयोऽदुष्ट एवेति शङ्कं अव्ययत्वकल्पनाया अन्वयासंभवफलकत्वा-
द्व्यवहितान्वयस्य पूर्वतन्त्रे तृतीयस्याष्टमे पादे मासं तु सवनीयानां नोदनाविशेषात् इति मांसाधिकरणे
शाक्यानामयनं नाम षड्विंशदाब्दिकं सत्रम् । तत्र संस्थितेहनि गृहपतिर्भृगयां याति स प्रतिपद्यते
स यान् सृगान् हन्ति तेषां सरसाः सवनीयाः पुरोडाशा भवन्तीति श्रूयते तत्रेदं तरसं सर्वेषां
पुरोडाशानामुत सवनीयानामिति विचिकित्सा । उद्देश्यः पुरोडाशः सवनीयेषु विशेषेण न शक्यते इति
सर्वपुरोडाशार्थं तरसं नवनीतवत् । सवनीयपदं तु सर्वपुरोडाशेषु लाक्षणिकमिति पूर्वपक्षे प्राप्ते तरसं
संनिहितं सवनीयपदमतिहाय पुरोडाशेनावेति व्यवहितान्वयदोषप्रसङ्गात् । अतः सवनीयपुरोडाशे-
ष्वेव तरसत्वमिति सिद्धान्तयता दोषत्वकथनादिति । स्यादेतत् । भर्गमिमं तं चिन्तयामि इति
मैत्रश्रुतेः तद्भर्गाख्यं किमपीति स्मृतेश्च भर्गःशब्दस्यादन्तत्वज्ञापनेन अस्ज पाके इत्यस्माणिचि
‘अस्जो रोपधयोः’ इति रमागमे तदीयाकारमकारयोरित्वालोपे भ्रजत्यतो ‘अकर्तरि च कारकं संज्ञायाम्’
इत्यनेनाकर्तर्येति प्राप्ते ‘बहुलं छन्दसि’ इत्यनेन कर्तरि घञि ‘बिनत्यादिर्नित्यम्’ इत्यनेनाद्युदात्तत्वे च भर्गं
इति व्युत्पत्तिमचकथत् । अत एव तलवकाराणां कः सविता का सावित्री इत्युपक्रम्य द्वितीयः पादो
भर्गमयः इति ब्राह्मणं संगच्छते इति । अत्र वदन्ति स्म भर्गाख्य इत्यस्य ‘शकन्ध्वादिषु पररूपं
वाच्यम्’ इत्यनेन पररूपे भर्गमय इत्यस्य ‘पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्’ इति सलोपे च कृते सिद्धिरिति
तरसन्वयेन संनिहितान्वयबोधनादसुनन्तमेतदिति । अत एव विष्णुसंज्ञमिति श्रुतिः । काचित् वरेण्यं
सवितुर्भर्गो विष्णुमिधं जगौ ।

याज्ञवल्क्योपि पुरुषं व्योम्नि तद्विष्णुसंज्ञितं ।

भ इति भास्यते लोकान् र इति रक्षते प्रजाः ॥

ग इत्यागच्छते तेजस्तं मरुगाद्भर्गं उच्यते ।

इत्याह गायत्र्यस्य व्याकृतौ योगशास्त्रके ॥

भाष्यप्रकाशः ।

पनिषदि सिद्धः । तथा,

‘रविमध्ये स्थितः सोमः सोममध्ये हुताशनः ।

वह्निमध्ये स्थितं सत्त्वं सत्यस्यान्तः स्थितोऽच्युतः’ ॥

इति तत्रैव मन्त्रः । योगियाज्ञवल्क्येऽप्येतादृशमेव वाक्यम् । ताभ्यामपि सर्वान्तरच्युत
एवोक्तो व्येयत्वेन च भगवानेवाद्यत इत्यतोऽपि शैवमतमसंगतमेवेति दिक् ।

विज्ञानेन्द्रभिधुस्तु काण्वपष्टाध्यायस्थं, ‘स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञान-
नमयः प्राणेषु । य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते । सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्वा-
धिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति । स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयान्’ इति
वाक्यं विषयत्वेनोपन्यस्य, तत्र किं जीवविशेष उच्यते, उत परमेश्वर इति संदेहे विज्ञान-
मयशब्दस्य योगरूढिभ्यामात्मसामान्यवाचित्वाज्जाग्रदाद्यवस्थाभिर्जीवस्यैव प्रक्रान्तत्वाजीव एवेति
प्राप्ते । अन्तः परब्रह्मैव भवितुमर्हति । कुतः । तद्भर्गोपदेशात् । सर्ववशित्वशुभाशुभकर्मफला-
भागित्वसर्वाधिपतित्वादीनां परमेश्वरधर्माणामुपदेशात् । न चैते धर्माः सिद्धेः पूर्व जीवेषु संभ-
वन्ति । सत्कर्मणैव पदप्राप्तेःश्रेत्यादियुक्तिभिर्हेतुं साधयित्वा, न केवलं धर्मव्यपदेशादेवान्तःस्थो
विज्ञानमयो जीवादन्यः परमेश्वरः । किं तु, भेदव्यपदेशाच्चान्यः । भेदव्यपदेशश्च यथात्रैव
वाक्यशेषे । येषां नोऽयमात्मा, आत्मन्येवात्मानं पश्यतीति । आधाराधेयभावस्य भेदतत्त्वा-
त्त्वादित्याद्युक्त्वाह । ‘आधुनिकास्तु, य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्यमय इति छान्दोग्यवाक्यं
विषयतया वर्णयन्ति । तत्र । पाप्मभ्य उदित इत्यनेनोक्तस्य पाप्मभ्य उदयस्य पापनाश-
रूपतया ब्रह्मधर्मत्वामावात् । धर्मान्तरस्य चात्रानुक्तत्वात् । प्रत्युत तेनैव लिङ्गेन चन्द्रनक्ष-
त्रादिदेवताप्रकरणपठिततया च देवताविशेषावधारणाच्च । न चादित्यस्यान्तरिति भेदनिर्देशा-
नुपपत्तिरिति वाच्यम् । आदित्यस्यान्तरपि आदित्यभिन्नस्य हिरण्यगर्भोदेः सारणात् ।

‘ब्रह्मादीनां परं धाम त्रयाणामपि संस्मृतम् ।

वेदमूर्तिधरः पूषा पूजनीयः प्रयत्नतः’ ॥

रश्मिः ।

इति च संगच्छते । यत्तु अथ भर्ग इति यो ह वा अस्मिन्नादित्येभिहितस्तारकोक्षिणीवेष भर्गाख्यो
भाभिर्गतिरस्य हीति भर्गो भर्जयतीति वैष भर्ग इति रुद्रो ब्रह्मवादिनो ‘अथ भ इति भासयतीमां-
लोकान् र इति रक्षयन्तीमानि भूतानि ग इति गच्छन्त्यभिन्ना गच्छन्तीमाः प्रजास्तस्मात् मरुत्वा-
द्भर्गः । ‘शश्वत्सूयमानात्सूर्यः । सवनात् सविता’ इत्यादिश्रुत्या रुद्रपदादकारान्तस्य भर्गशब्दस्यैव
तद्वाचकत्वात् तत्त्वमेव युक्तमिति तन्मन्दम् । रुद्रपदस्य प्राणवाचकत्वात् । कतमो रुद्र इति
‘दशमे पुरुषे प्राणाः आत्मैकादश’ इति श्रुतेः प्राणस्य च ब्रह्मवाचकत्वमतिदेशाधिकरणे लक्षयिष्यामः ।
विशेषस्तु प्रहस्ते लक्षित एवेत्युपराममः । भिक्षुमतनिरूपणे ब्रह्मधर्मत्वादि पापं विना तत्राशसा-
शक्यवचनत्वेन तथात्वादित्यर्थः । पूषेति सूर्यः तथासति पूषि त्रयाणामुपासनाः सन्तु तत्राहुः

भाष्यप्रकाशः ।

इति मात्स्यादिषु हिरण्यशब्दाद्विरण्यगर्भ एवात्रोपासत्वेन गम्यते । किंच, ध्येयः सदेति-
रूपयोः श्रुतिस्मृत्योर्नारायणारण्यहिरण्यस्य सूर्यमण्डल उपासनासिद्धेस्तदेकवाक्यतया हिरण्य-
श्मश्रुत्वादिश्रुतेरपि नारायणपरत्वमेव, न परमेश्वरपरत्वम् । अपिच । यस्मिन् वाक्ये रूपसंस्थाना-
दिकं श्रूयते, तत्र तच्चदेवतापरिग्रह एवौत्सर्गिकः । असाधारणत्वात् । ब्रह्मणश्च स्वतो नीरूपताया,
'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्' इत्यत्र वक्ष्यमाणत्वात् । क्वचित्तु प्रकरणादिबलादेवादीन् विहाय
देवादिरूपैरेवारूप ईश्वर उपास्य इष्यते । न चेह तथा बलवत् प्रकरणादिकमस्ति । अन्यथा देव-
तोपासनमात्रोच्छेदापत्तेः । सर्वत्रैव ब्रह्मोपासनसंभवात् । लीलाविग्रहोऽपि विष्ण्वादिवेवतानामेव
स्वस्वाधिकारसंपादनार्थः । न त्वीश्वरस्य । 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः, अक्षरात् परतः परः', 'न तस्य
कार्यं करणं च विद्यते' इत्यादिश्रुतीनां संकोचे प्रमाणाभावात् । तदुक्तं विष्णुपुराणे ।

'स देवोऽन्यशरीराणि समाविश्य जगत्स्वितिम् ।

करोति सर्वभूतानां नाशं चान्ते जगत्पतिः' ॥ इति ।

तत्र विषयवाक्यव्याख्यानादिकं तु न दुष्टम् । तथाप्येतस्य विषयवाक्यत्वेऽधिकरणस्य
पूर्वाधिकरणेन सह न स्फुटा संगतिरिति बोध्यम् । यत्पुनश्छान्दोग्यवाक्यस्यसालिङ्गत्वा-
दिकमुक्तं, तच्चबुद्धैव । अत्र पाप्मभ्य उदयस्य सर्वकर्माङ्जनराहित्यरूपस्य विवक्षितत्वादिति
प्रागेवोक्तम् । नच पाप्मशब्दस्य पापे शक्तत्वात् तत उदयस्य पापनाशरूपत्वमेव युक्तं, न
यावत्कर्माङ्जनराहित्यरूपत्वमिति वाच्यम् ।

'स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः ।

कर्मणां जाल्यशुद्धानामनेन नियमः कृतः' ॥

रश्मिः ।

हिरण्यमेत्यादि । क्वचिदिति रामतापिनीयादौ ।

'रमन्ते योगिनो नन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि ।

इति रामपदेनासौ परब्रह्माभिधीयते' ॥

'चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः ।

उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना' ॥ इति ।

बलवदित्यादि छान्दोग्ये ॐ इत्येतदक्षरमुद्रीधमुपासीत इत्युद्रीधप्रकरणं तत्र रूपोपासने
बलवत् । मायादिप्रकाराणां संभवात् । हिरण्यमयपदकृतं बलवत्त्वं वारयन्ति स्म अन्यथेत्यादिना ।
नन्विति यथा श्रीभागवते 'सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणा' इत्यादि तथा न । नाशं चेति
चकोरपोत्पत्तिर्गोष्ठा । एतद् दूषयन्ति स्म तत्र विषयेत्यादिना । यावदित्यादि कर्मत्वावच्छिन्न-
विहितनिषिद्धकर्मजन्यपुण्यपापाङ्जनराहित्यरूपमित्यर्थः । अशुद्धिशाबल्यस्योभयत्र तौल्यादुभयोः
पाप्मत्वमेवेत्याहुः स्वे स्व इत्यादि । स एव गुणो नेतरः तदुपपादयति स्म भगवान् कर्मणामिति ।
यस्माद्विधिप्रतिषेधाभ्यां अनेन गुणदोषविधानेन कर्मणां नियमः संकोचः कृतः । कुत इत्यत आह
जाल्योत्पत्त्यैवाशुद्धानां तत्त्वप्राप्तानां संगानां त्याजनैच्छया । अयं भावः । पुरुषस्याशुद्धिर्नाम न
प्रवृत्तेरन्यास्ति स्वाभाविकप्रवृत्त्यैव तस्य मलिनत्वात् । नापि सहसा सर्वतो निवृत्तिः संभवति
अत इदं कर्तव्यमिदं नेत्येवं स्वाभाविकप्रवृत्तिसंकोचद्वारेण निवृत्तिरेव क्रियते 'उत्पत्त्यैव हि कामेषु प्राणेषु

भाष्यप्रकाशः ।

इति विधिप्रतिषेधयोर्व्यवहारनियमार्थत्वबोधके वाक्ये कर्ममात्रस्य जाल्यशुद्धत्वबोधनेन
तदङ्गने पुण्यरूपेऽप्यशुद्धिशाबल्यस्य दुरपोहत्वेन सर्वस्यैव पाप्मरूपत्वात् । अन्यथा पुण्यफल-
स्यापि शुद्धशुपादेयताद्यापत्तेः । अतो धर्मान्तरानुक्तावपि न वाक्यस्य जीवपरत्वं शक्यशक्यम् ।
आदित्यान्तस्तु न हिरण्यगर्भादिः । मात्से परं धामोदित्य तस्य पूषत्वकथनेन तत्र परब्रह्मण
एवाभिप्रेतत्वनिश्चयात् । ध्येयः सदेति वाक्येऽपि परमेश्वर एवोच्यते ।

'नारायणः शिवो विष्णुः शंकरः परमेश्वरः ।

एतैस्तु नामभिर्ब्रह्म परं प्रोक्तं सनातनम्' ॥

इति वाराहपुराणवाक्येन तस्य ब्रह्मनामत्वात् । नीरूपेश्वरवादस्येत्यधिकरणव्याख्याना
एव निरस्तत्वात् । नचैवं, 'यो देवानां नामधा एक एव', 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' इत्यादि-
श्रुत्या, 'हव्यकव्यमुगोक्तस्त्वं पितृदेवस्वरूपधृक्' इत्यादिस्मृत्या च सर्वत्र ब्रह्मोपासनायाः शक्य-
वचनत्वेन देवतामात्रोपासनोच्छेद इति शक्यम् । ज्ञानपूर्वकोपासकान् प्रति तस्येष्टत्वात् ।
अज्ञान् प्रति तु तदभावात् । 'येऽप्यन्यदेवताभक्ता' इत्यादिभगवद्गीतावाक्यसंदर्भेण तथा
निश्चयात् । स्वरूपे विग्रहस्तु नास्त्येव । आकारस्तु स्वरूपात्मक एवेत्यसकृदुक्तश्रुत्पादितं च । तेन
'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' इत्यादिश्रुतीनां न विरोधः । अरूपवदेवेति सूत्रे तु रूपवद्विभवेवोच्यते,
न तु रूपरहितम् । नजः पर्युदासार्थत्वात् । अन्यथा त्वरूपमित्येतावतापि रूपाभावबोधन-
सिद्धेर्मतुःस्यैवर्ष्यस्य दुर्वारत्वात् । अतो, 'न तस्य कार्यं करणं च' इत्यत्र संकोच एतदेव सूत्रं
प्रमाणमित्यसंकोच एव प्रमाणाभावः । श्रुतयस्तुक्ता वक्ष्यन्ते च । उक्तं विष्णुपुराणवाक्यं
रश्मिः ।

स्वजनेषु च' इत्यादिना एकविधे वेदस्य प्रवृत्तिपरत्वनिषेधात् इति श्रीधर्यनुसारेण 'गुणदोषविधानेन
सङ्गानां त्याजनैच्छया' इत्यर्थेन सह श्लोकान्वयः । मुमुक्षुश्चित् आदिशब्देन पुण्यफलार्थं प्रवृत्तिः ।
धर्मान्तरस्येत्युक्तं दूषयन्ति अतो धर्म इति । धाम्नः परमिति विशेषणान्तरलब्धमर्थमाहुः परं धामे-
त्यादि । तत्रेति परधामपूषणि । एवकारो हिरण्यगर्भादिव्यवच्छेदकः । पूषत्यस्य ब्रह्मलिङ्गत्वात् ।
देवतामात्रेति देवतैव देवतामात्रं तस्योपासनाया उच्छेद इत्यर्थः । तस्येति उच्छेदस्य ।
अज्ञानिति पूर्ववाक्याज्ञानित्यर्थः । तथेत्यादि 'तेपि मामेव कौन्तय यजन्यविधिपूर्वकम्'
इति तत्र कथनादिति भावः । पर्युदासेति 'पर्युदासः सद्यग्राही' इति रूपवद्विभवे सति रूपवद्विभवेत्यर्थः ।
अन्यथेति नजः प्रसज्यप्रतिषेधकत्वप्रकारकत्वे तु । रूपवदभावापेक्षया रूपात्यन्ताभावस्य
लघुत्वात् । अत इति पर्युदासाश्रयणादेव संकोचे लौकिककार्योदौ । एतदिति पर्युदासार्थकनभू-
षटितमरूपवत्सूत्रस्थासंकोचः पर्युदासं विना यथाश्रुतव्याख्यानं संकोचे । तथा च कार्यत्वाव-
च्छिन्नप्रतियोगिताकाभावः करणत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावश्च विद्यते इति न श्रुत्यर्थः । किं तु
लौकिककार्यत्वेत्यादिस्तथा लौकिककरणत्वेत्यादिरर्थः । सूत्रानुसारेण निरुच्य श्रुत्याकाङ्क्षामौनेवत् ।
श्रुतय इत्यादि 'सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रिविवर्जितम्' इत्याद्याः ।

आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥ २१ ॥

अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच । सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते । आकाशं प्रत्यक्षं यन्ति । आकाशो ह्येवैभ्यो व्यायानाकाशः परायणमिति । तत्र संशयः । भूताकाशो ब्रह्म वेति । ननु कथमत्र संदेहः । आकाशाद्योमदान्दा ब्रह्मण्येव प्रयुज्यन्ते ब्रह्मप्रकरणे । कार्यनिरूपणे तु महाभूतवचनः । यथा, आकाश आनन्दो न स्यात्, परमे व्योमन् प्रतिष्ठिते-

भाष्यप्रकाशः ।

त्वान्तरस्थितिनाशविषयकं, न तु महाकार्यविषयकम् । शरीराणीति बहुवचनेन तथानिश्चयात् । अत इदं भिक्षवैयम्यदशायामेवावादीति दिक् । अतो यत्रासाधारणधर्मोपदेशोऽभिमान्यादि-भेदव्यपदेशो वा तत्र रूपोक्तावतुक्तौ वा परं ब्रह्मैवाभिधीयत इति निश्चयः ॥ २० ॥

इति षष्ठमन्तस्तद्धर्माधिकरणम् ॥ ६ ॥

आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥ २१ ॥ छान्दोग्यप्रथमप्रपाठकस्य विषयवाक्यस्यन्यस्याधिकरणप्रयोजनं विचारयन्ति नन्वित्यादि, विचार इत्यन्तम् । तत्र कथंभेदे गृहीतं प्रकारं विमजन्ते आकाशेत्यादि । यद्यपि लोकप्रसिद्धेः प्रयोगप्राचुर्याच्च संदेहः संभवति, तथाप्यस्य वाक्यस्य प्रकरणावरुद्धत्वेन प्रकरणे चाकाशपदेन कारणमुक्त्वा कार्यनिरूपणस्योपक्रान्ततया रश्मिः ।

'कांसघण्टानिनादस्तु यथा लीयति शान्तये ।

अकारस्तु तथा योज्यः शान्तये सर्वमिच्छता ॥

यस्मिन् संलीयते शब्दः तत्परं ब्रह्म गीयते ।

इति ब्रह्मविधोपनिषदि लयस्य महेश्वरात्प्रवचने स्वाप्ययादिति सूत्रे च ब्रह्मणो न सर्वेष्वव-हारातीतत्वम् । कुतः स्वस्मिन्नप्ययालयात् । स्वस्वरूपं तु द्वादशे 'एष नैमित्तिकः' इत्यत्र विश्वरूपपदेन ज्ञानं तल्लक्षणं सर्वोपनिषदि अवस्थात्रयभावाद्भावसाक्षि स्वयं भावरहितं नैरन्तर्यं चैतन्यमित्युच्यते इति । 'अवन्तासनपदेन पूर्वव्यापकं चैतन्यं तत्रैवानन्तं नाम मृदिकरेषु मृदि सुवर्णतन्तुकार्येषु अव्यक्तादिषु प्रपञ्चेषु पूर्व व्यापकं चैतन्यमनन्तमित्युच्यते इति आत्मभूयदेवानन्दोनाम मुखचैतन्य-स्वरूपमपरिमितानन्दसमुद्रः अविशिष्टसुखस्वरूपश्च आनन्द इत्युच्यते' इति । निश्चयादिति महाप्रलयेऽशरीरिणः कर्तृत्वम् । भिक्षेत्यादि विज्ञानमिच्छत्वादिन्द्रमिच्छत्वं विज्ञानश्रणादियं भिक्षवैयम्यदशेलाशयः । असाधारणेति पूर्वसूत्रोक्ता अपहृतपाप्मत्वादयः । अभीत्यादि अयं द्वितीयसूत्रे च आदित्ये तिष्ठन् इत्यत्र ॥ २० ॥

इति षष्ठमधिकरणम् ॥ ६ ॥

आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥ २१ ॥ गृहीतमित्यादि 'किमश्च' इत्येव प्रकारे व्युत्पत्त्यात् प्रत्ययांशेन गृहीतं प्रकारमित्यर्थः । विमजन्त इति प्रकरणान्यां विमजन्ते । तथा च प्रकरणमेवात् न द्वितीयकोटिरतः संशये द्वितीयकोटिः किंप्रकारेति प्रश्नः । कोशप्रसिद्धिं श्रीभागवतादौ सूताकाशे प्रयोगप्राचुर्यं च समाकलय्य लौकिकस्फूर्तिं पुरस्कृत्याम्यस्त्ववेदान्तानां पूर्वपक्षविगानं समादधाना किंचिदाहुः यद्यपीत्यादिना । प्रकरण इत्यादि उभयोरुपकरणपरिकारयोः कार्यकारणयोरा-

त्यादि । आत्मन आकाशः संभूत इति कार्यनिरूपणम् । अतः प्रकरणादेव संदिग्धनिर्णये किमिति सूत्रारम्भः । जन्मादिलक्षणसूत्रेण चायमर्थो निर्णीतः । अन्यथा ब्रह्मशब्देऽपि संदेहः स्यात् । महाभूतवेदादिवाचकत्वात् । तस्मात् प्रकरणादेव परिज्ञानं भविष्यतीति चेत् । उच्यते । असंदिग्धे प्रकरणे तथैव निर्णयः । इह पुनः प्रकरणमपि संदिग्धम् । अतो विचारः ।

अचान्तरविधायां पर्यवसितप्रकरणवदस्यापि प्रकरणस्य भूताकाश एव पर्यवसानमिति लोकभाष्यन्यायेनाकाशो भौतिक एवेति पूर्वपक्षस्तत्राह ।

भाष्यप्रकाशः ।

प्रकरणादेवाकाशशब्दार्यस्य निर्णयसिद्धेराकाशः प्रकरणादिति सूत्रयितव्यम् । अयं प्रकरणापेक्षया लिङ्गस्य बलिष्ठत्वात् तेन निर्णिनीषा तदा तु जन्मादिषुत्रे लिङ्गस्य निर्धारितत्वात् तेनैवैतद्वा-क्यनिर्णयसिद्धेः सूत्रमेव न प्रणेतव्यम् । अयं जन्मादिषुत्रे लक्षणस्यापरीक्षितत्वाच्च लिङ्गता, तदा त्विदानीं तस्याः सिद्धत्वादाकाशो ब्रह्मलिङ्गादित्येवं प्रणेतव्यम् । न तु तल्लिङ्गादिति पूर्व-पक्षाशयः । प्रतिवचनाशयस्तु स्फुट एव । प्रकरणस्य संदिग्धत्वं तु उपक्रमे उद्गीथोपासन-स्योक्तत्वात्तन् परोवरीयोरुपस्योत्कृष्टस्य फलस्य कथनाच्च हेयम् । तेन विचारस्वावश्यकत्व-मिति । अधिकरणसंगतिस्तु प्रसङ्गरूपा । पूर्वाधिकरणयोः प्रत्ययकृते संदेहे वारितेऽत्र प्रकृति-कृतसंदेहस्य वारणीयत्वादिति । प्रयोजनमुक्त्वा पूर्वपक्षमाहुः अचान्तरेत्यादि । तथा च यथा आनन्दश्रुत्याख्यानं संवर्धविधायां पर्यवसितं तथास्वापि प्रकरणस्य भूताकाश एव पर्य-रश्मिः ।

काङ्क्षारूपे ब्रह्मप्रकरणेऽत्र तृतीयब्रह्मप्रकरणे चकारेण विषयवाक्ये । अत्र लोकस्य भूतस्य गतिः कारणम् । निर्णयेत्यादि । आकाशपदस्य ब्रह्मवाचकत्वनिश्चयो ज्ञानं तस्य सिद्धेरित्यर्थः । भाष्ये । कार्यनिरूपणं किमित्याकाङ्क्षायामाहुः आत्मन इति । प्रकृते । जन्मादिलक्षणेत्यादिमाध्यं विवृण्वन्ति स्म अथेत्यादि । लिङ्गस्येति जगज्जन्मादिकर्तृत्वरूपस्य श्रुतिसामर्थ्यस्य । ब्रह्म-लिङ्गादिति । नन्वसिद्धस्य लिङ्गस्य कुत उपन्यासः व्यासोक्तत्वात् सेत्स्यतीति । न तु तदिति तस्मात्लिङ्गात्तल्लिङ्गादित्यर्थेऽसिद्धत्वात् । प्रतीत्यादि उच्यते इत्यादिनोक्तस्य प्रतिवचनस्येत्यर्थः । प्रतिवचने किंचिद्विवृण्वन्ति स्म प्रकरणस्येति । उक्तत्वादिति 'अमित्येदं ब्रह्मसुद्गीथमुपासीत' इतिश्रुत्येत्यर्थः । परोवरीय इति आकाशः परायणमित्यस्याप्रे पठ्यते 'स एष परोवरीयानुद्गीथः' इति । एवं च महाप्रकरणवदवान्तरप्रकरणमपि आत्मपरमाकाशपरं वेति संदिग्धं वरीयसः का साम्नो गतिरिति स्वर इति होवाचेत्यादिश्रुत्युक्तस्वरप्राणात्तादेः सकाशादतिशयेन वरः वरीयान् इति व्युत्पत्तिः । परोवरीयान् परमात्मेति तदर्थः । विरुद्धा द्वितीया कोटिः पूर्वपक्षमाप्याह । अतो विचार इत्यत्र भाष्येऽत्र इत्यत्र सार्वभिमक्तिरुक्तसिलित्याशयेन तस्य भाष्यस्य विवरणम् । तेन विचारस्येति । स्वतस्योपेक्षानर्हत्वरूपं प्रसङ्गं स्मारयन्ति स्म पूर्वैत्यादि । प्रत्ययेत्यादि यद्यपि मयदप्रत्यय-मात्रकृतसंदेहो वारितस्त्वयापि अधिकरणानां न्यायरूपत्वेनैवमुक्तम् । किं च पूर्वाधिकरणे ब्रह्मपि हिरण्यशब्द आनन्दवाचीति भाष्येण प्रकृतिकृतसंदेहोपि वारितस्त्वयापि प्रकृतिमात्रकृतसंदेहो न वारितः इति प्रत्ययकृत इत्युक्तम् । अत्र तु विविक्तप्रकृतिकृतसंदेहो वारितः । इतिर्वाधिकरणारम्भ-प्रयोजनसमाप्तौ । आन इत्यादि छान्दोग्ये षष्ठे प्रपाठके इदमस्ति । जवश्रुतस्यापत्वं जवनश्रुति-

आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥ आकाशः परमात्मैव । कुतः । तल्लिङ्गात् । श्रुति-
लिङ्गादयो नियामकत्वेन पूर्वतन्त्रविहापि गृह्यन्ते । लिङ्गं श्रुतिसामर्थ्यम् ; एकवा-
क्यता च सर्वासां ब्रह्मश्रुतीनाम् । तत्र ब्रह्मैव जगत्कारणमिति निःसंदिग्धेषु

भाष्यप्रकाशः ।

वगानम् । लोकेऽवगतसामर्थ्यः शब्दो वेदेऽपि बोधक इति लोकभाष्यन्यायेनात्र भूताकाश-
ग्रहणस्यैव युक्तत्वात् । लिङ्गापेक्षया श्रुतेः प्राबल्यस्य पूर्वतन्त्रे सिद्धत्वात् । 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्र-
करणस्थानसमारूपानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविग्रकर्पात्' इति जैमिनिध्वजात् । ब्रह्मग्रहणे तु
लक्षणपक्षेः । बाधकं विना तदादरस्यानुचितत्वात् । नचाकाशते, आकाशयतीति वा योगेन
प्रकाशकं ब्रह्मोच्यतेऽतो न दोष इति वाच्यम् । रूढ्यपेक्षया योगस्यापि दुर्बलत्वात् । नच लिङ्ग-
बोधकवाक्यसंगतिः । सर्वाणि ह वा इमानि भूतानीति सर्वपदस्य भूतपदस्य च वाग्वादिषु
संकोचात् सुखेन संगतेः । किंचेह, इमानीति कथनादवान्तरभूतसंबन्धवकाशरूप एव स
ग्राह्यः । फलं तु तादृशोपासनावलादेव भविष्यतीति पूर्वः पक्ष इत्यर्थः । स्रजं पठित्वा समा-
दधाना व्याचक्षते आकाश इत्यादि । नियामकत्वेनेति अर्थविशेषनिर्णायकत्वेन ।
श्रुतिसामर्थ्यमिति अन्यानपेक्षस्य शब्दस्य खरसेनार्थबोधकत्वम् । एकवाक्यतेति ।

रश्मिः ।

स्तादुपाख्यानं 'वायुर्वा व संवर्गः' इत्याद्युक्तायां संवर्गविधायाम् । संवर्गपदस्य योगस्तु संवृक्के स्थितिकाले
सर्वमात्मनि स्थापयतीति संवर्ग इति यदा वाऽग्निरुद्भायति वायुमेवाप्येति इति श्रुतेः उद्गायतीत्यस्य
शाम्यतीत्यर्थः । लोके येष्वर्थेषु प्रसिद्धानि पदानि सति संभवे तदर्थान्येव सूत्रेष्वित्यवगन्तव्यम् ।
नाध्याहारदिभिरेषां कल्पयितव्योः परिभाषितव्यो वेति जिज्ञासाधिकरणस्यं शावरभाष्यं तदेव
लोकभाष्यपदेनोच्यते तेन न्यायेनेत्याहुः लोक इत्यादि । लक्षणोति । आकाशपदस्यैत्यर्थः ।
शरीरशरीरिणोरध्यासकः संबन्धो लक्षणा । बीजस्य तात्पर्यानुपपत्त्यन्वयानुपपत्त्यन्यतरस्याभावालक्षणापि
न संभवतीत्याहुः बाधकमित्यादिना । वाग्वादिष्विति 'आकाशाद्वासुर्वायोरग्निरग्रेरापः'
इति श्रुत्युक्ताकाशकार्येषु । इति कथन इति इदमो रूपस्य प्रत्यक्षगत्वेनावान्तरभूताकाशस्यैव प्रत्यक्ष-
त्वात्तथैत्यर्थः । नाहोति तादृशोपासनावलात् । अर्थेत्यादि एतेन तल्लिङ्गादित्यस्य श्रुतेलिङ्गा-
दित्यर्थोऽबोधि । इदानीं तस्य तात्पर्यनिर्णयस्य लिङ्गं तल्लिङ्गं तस्मादित्यर्थं हृदिकृत्याहुः विभाग
इत्यादि । अयमाशयोत्र बोध्यः । ब्रह्मवाक्यानामेकवाक्यतोक्ता सा च दुर्लभा बहुत्वविशिष्टेषु
ब्रह्मवाक्येषु एकत्वावच्छिन्नाया वाक्यताया अशक्यवचनत्वात्, एकत्वस्य बहुत्वविरुद्धत्वात् । तस्माद-
त्रैकवाक्यता पूर्वतन्त्रकृता गृह्यते लाघवात् सेयमेकवाक्यता भावार्थपादभाष्येऽतन्वन् श्रीमदाचार्याः ।
एकस्मिन् वाक्ये न तु बहुषु वाक्येषु तामेव गृह्णीमः । अस्य लोकस्येत्यस्याकाशपरत्वमपास्य
ब्रह्मवाक्यत्वमत्र सूत्रे व्यासपादेर्निर्णायि । एवं चास्य यतो वा इमानि इत्यस्य चाधिकरणसंगत्या
विभागेपि साकाङ्क्षत्वेन ब्रह्मणो जगज्जन्मादिकर्तृत्वरूपैकत्वादेकं वाक्यमपरनये वेदलोकशब्दयो-
रेकत्ववत् । अथैकत्वमाकाशपदस्य भौतिकाकाशपरत्वापवदनेन भवति तदपोहितमाकाश इत्यने-
नाधिकरणांशेन नत्र रूढ्या योगस्यापहरणात् कथमाकाशपदवाच्यत्वं ब्रह्मणः इत्यंत उत्तरमपाठीत्
तल्लिङ्गादिति तस्य तात्पर्यस्य योनिर्निर्णयः तस्य लिङ्गादिति । अयमर्थः । आकाशपदस्यास्तु रूढिः परं
त्विह नास्ति । तात्पर्यवृत्तिनिर्णायकानां पदानामासीत्सत्तानन्दानामिह सत्त्वात् इति । नहि

सिद्धम् । सर्वशब्दवाच्यत्वं ब्रह्मेण्यव । तत्र वाक्यार्थपेक्षया पदार्थस्य दुर्बलत्वाद्

भाष्यप्रकाशः ।

विभागे साकाङ्क्षत्वे सत्येकार्थप्रतिपादकता । सा च समन्वयरूपा । उपपत्त्यात्मकं तात्पर्य-
निर्णयलिङ्गम् । तेन तल्लिङ्गादित्यस्य श्रुतिसामर्थ्याच्चात्पर्यनिर्णयलिङ्गात्चेत्यर्थः सिद्ध्यति ।
मुख्यत्वादिति मुख्यार्थत्वात् । तथाच, 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादिषु निखिल-
जडजीवकारणत्वं ब्रह्मणि सिद्धम् । अत्रापि तदेव सर्वपदेन निखिलान्युद्दिश्य, भूतपदेन च
देहविशिष्टजीवतया महाभूततया च तानि जीवजडरूपेण निष्कृष्य तत्कारणत्वमाकाशे बोध्यते ।
तथा, एभ्य इत्यनेन पूर्वोक्तान्येव भूतानि परामृश्य ततो ज्यायस्त्वं च बोध्यते । तथा परम-
स्थानत्वरूपं परायणत्वं च । तद्यदि भूताकाशो गृह्येत, तदा सर्वपदार्थसंकोचेन सर्वपदसामर्थ्य-
स्वार्थभावाद् भूतादीनां पदानामपि तद् बाध्येत । तच्चासंगतम् । एकपदानुरोधेनानेकपदार्थ-
संकोचात्मकस्य सामर्थ्यबाधस्यानुचितत्वादिति । किंच । 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इति 'तं
त्वौपनिषदम्' इति च श्रुत्या सर्वस्य वेदस्य ब्रह्मण्येव तात्पर्यमिति सिद्धम् । तद्यदि निरङ्कुश-
सर्वकारणत्वमस्मिन् वाक्ये भूताकाशस्योच्येत, तदार्थभेदाद् विभागे साकाङ्क्षत्वाभावाच्च सर्वासां
श्रुतीनामेकवाक्यता व्याहन्येत । यद्यपि सर्वे वेदा इत्यत्रासंख्यचितवृत्तिना सर्वशब्देन ब्रह्मणि
सर्वशब्दवाच्यत्वं तत्त्वपदार्थरूपतया सिद्धं, तथापि तत्र वेदे वाक्यार्थपेक्षया तदेकदेशभूतस्य
पदार्थस्य दुर्बलत्वाद् वाक्यार्थ एवादरणीयः । वाक्यार्थस्तु सर्वगतित्वादिः । गतिराश्रयः ।
प्रश्ने, शालावत्येनेतल्लोकगतेः पृष्टत्वेऽपि जैबलिना तदुपपादनार्थं सर्वभूतोत्पत्तिप्रलयाधारत्वं

रश्मिः ।

जगज्जन्मादिकर्तृवाचकपदानि प्रयुज्यतो भगवतो व्यासस्य भौतिकाकाशे तात्पर्यास्तित्वं वक्तुं शक्यम् ।
नवार्थासंगतौ रूढिमाद्यणीमो वयं लिङ्गाभावात् । अत उत्तमेकार्थस्य ब्रह्मरूपस्य प्रतिपादकता ।
साच समन्वयरूपेति । ननु तर्हि तात्पर्यलिङ्गादित्येव सिद्धे निर्णयपदमधिकं नियग्रहस्थानमिति चेन्न
तात्पर्यलिङ्गेन चेत्येव तल्लिङ्गादित्यनेन तदप्युल्लत् । तथाप्यत्र यदुददानं तत्फलं तु क्षीमित्येकाक्षरं
ब्रह्म सर्वं तस्योपव्याख्यानं इति निर्णयस्तत्संग्रहणार्थम् । अन्यथाकाशशरीरं ब्रह्मेति श्रुतिरूपाप्रतिहताज्ञेन
वेदेन ब्रह्मशरीरं समन्वयः स्यात् एतदत्र उपपादयिष्यामो वयम् । निष्कृष्टमर्थमाहुः रूपेत्यादि । अत्रेदं
विशेषणमुत्पत्त्यात्मकस्यास्य लोकस्य का गतिरित्यादिश्रुतिस्थत्वेन सूत्रे व्यावृत्त्यर्थं किं त्वेकवाक्यतया
श्रौतं यदेष आकाश आनन्दो न सादित्युक्ता उपपत्तिरेव लिङ्गं प्रथमज्ञप्तेः पूर्वतन्त्रे उत्पत्तिपदार्थत्वात् ।
तात्पर्येत्यादि । आकाशशब्देनात्र ब्रह्मबोधो भवतु इत्याकारिकेच्छा वक्तुस्तात्पर्यम् । सिद्ध्यतीति ।
न च ब्रह्मलिङ्गादित्यर्थः साधुः तस्याधिकारसूत्रलभ्यत्वेपि साध्यत्वात् । अर्थस्य ब्रह्मणो मुख्यत्वेन
रूपेणोपस्थितिरित्याहुः मुख्यार्थेत्यादि । पूर्वभाष्यार्थस्तु सिद्धमिति शास्त्रयोनित्वादिति सूत्रांशेन
सिद्धम् । सर्वशब्देति कार्यकारणैक्यमर्पणात् । ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म सर्वं तस्योपव्याख्यानमिति श्रुते-
रेवकारः । एवं पदवाच्यत्वमुक्त्वा वाक्यवाच्यत्वमपि ब्रह्मणीत्याहुः तत्र वाक्यार्थेति । पुष्प-
लत्वादिति यथा घटः भवत्येतयोरेकतरानुक्तौ सत्यां न शक्यार्थो दुर्बलो भवति परस्परं सापेक्षत्वात्
सापेक्षमसमर्थं भवति इत्युक्तेः एकतिङ् वाक्यमिति सापेक्षत्वाभावात् वाक्यार्थः प्रबलः । सापेक्षत्वा-
भावात् अन्यत्सर्वमग्रे स्फुटम् । तत्र ब्रह्मैवेत्यारभ्य यावत्समाप्ति सर्वापि ग्रन्थस्तावदुपपत्तिरूप-

रश्मिः ।

तात्पर्यलिङ्गरूपद्वितीयायोपपादनायेत्याहुः तथा चेत्यादिना । अत्रेति ब्रह्मवाक्ये । सर्वपदेति सर्वाणीति विषयवाक्यस्यसर्वपदार्थस्य संकोचेन आकाशमात्रकार्येषु संकोचस्तेन । अर्धबाधादिति । केवलोत्पन्नकार्यरूपत्वस्य ब्रह्मत्वात् बाधेन तथेत्यर्थः । मूलादीनां वाग्वादीनां पदानां वाग्वादि-
वाचकानां सर्वपदसामर्थ्यं तत्तद्वाचकत्वेन बाध्येत ततश्च सर्वाणि ह वा इमानि भूतानीत्यत्र मूतानीत्यस्य सर्वाणीति विशेषणासंगतिरिति भावः । एकपदेत्यादि आकाशपदेत्यर्थः । सर्वशब्देत्यादि भाष्यं विवृण्वन्ति स्म किं चेत्यादिना । योगजधर्मेण प्रत्यासत्त्यात्मकेन अयं महान् पुरुष इत्यत्र ब्रह्मणः सर्वशब्द आब्रह्मवृण्वन्ति च्छन्दपर्यायो महापुरुषशब्दः तद्वाच्यत्वम् । यद्वा सर्वाणीतिशब्दस्तद्वाच्यत्वम् । अकारो वै सर्वा वागिति श्रुतेरशब्दवाच्यत्वं ब्रह्मणः एवं च सर्ववाचकः शब्दः सर्वशब्दोकारशब्दश्च तद्वाच्यत्वम् । अत्र कठवह्नीवृहदारण्यकश्रुती प्रमाणयन्ति सर्वे वेदा इत्यादि । पदमक्षरमाभनन्ति अभ्यस्यन्ति व्यष्टिसमष्टिभेदेन समष्टेरुक्तत्वाम्बेर्वक्ष्यमाणत्वात् उपरमामः । ब्रह्मपदं वेदार्थं वेदात्परात्परे च वर्तते तत्र वेदार्थं 'मां विधतेभिधते मां' इति भगवद्वाक्या-
द्वेदार्थं ब्रह्मण्यभिधा वेदात्परात्परे तात्पर्यं चतुरिच्छात्मकम् । यद्यपि अस्मत्पदेन मामित्यत्र परात्परमुच्यते तथाप्यदृश्यत्वाधिकरणेऽक्षरामिन्नमक्षरे स्थितमित्युक्तयोपपन्नम् ।

नारायणादिरूपाणि ज्ञातान्यस्माभिरच्युत ।

सगुणं ब्रह्म सर्वेदं वस्तुबुद्धिर्न तेषु नः ॥

ब्रह्मेति पठ्यतेस्माभिर्यद्वैतं निर्गुणं परम् ।

वाग्वागोचरातीतं ततो न ज्ञायते तु तत् ॥ इति

ज्ञानं तु ह्यभिधया प्रतिपादनानन्तरमतो ज्ञानानीत्यत्राभिधावृत्तिः श्रीनारायणादौ लभ्यते । न ज्ञायते इत्यत्र वाग्वागोचरातीते त्वपोघतेतस्त्र तात्पर्यम् । यदा पदं पदनीयमिति कठवह्नीयसुरार्थः तदा तु तात्पर्यवृत्त्या प्रतिपादयन्ति । न चानेकार्थसंकटे तात्पर्यज्ञानं कारणं न तु वृत्त्यन्तरम् । वृत्तिस्तु शक्तिलक्षणान्यतरसंबन्ध इति शङ्कम् । शास्त्रान्तरत्वात् । व्यञ्जनाया आलंकारिकसंमतत्वाच्च । प्रस्थानरत्नाकरे तु व्यञ्जना तात्पर्येणैव गतार्थेत्युपपादितम् ।

'गच्छ गच्छसि चेत् कान्त पन्थानः सन्तु ते शिवाः ।

ममापि जन्म तत्रैव भूयाद्यत्र गतो भवान् ॥

इत्यत्र मा त्वं गम इत्यभावे न व्यञ्जनापि तु तात्पर्यवृत्तैव निर्वाहः । लक्षणावृत्तेति नैयायिकाः । तत्र पुष्पवच्छन्दव्यतिरिक्तस्थले युगपद्बुद्धिद्वयविरोधः । तत्र वाक्यार्थेत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म यद्यपीत्यादिना । तत्तत्पदानि घटपयदिपदानि तदर्थतया व्यष्ट्येति यावत् । तदुक्तम् 'सर्वाणि रूपाणि निविलं धीरः नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते' इति । एवं चास्मिन् पक्षे आकाशपदं न शक्तयात्मपरमपि तु गौण्येति । तथापि तत्रेति व्याख्येयम् । वेद इति व्याख्या एतद्व्यवच्छेदकं पदं लोकादिकपदपदार्थानां भिन्नत्वादिकेषु वाक्येषु लौकिकपदार्थस्य शेषत्वस्यापनाय भाष्योक्त-
त्वाच्च । सर्वगतित्वादिरित्यत्रादिपदेन उपसंहारं घटयांश्चमूत्रुपक्रमोपसंहारयोरर्थनिर्णायकत्वात् । अस्य लोकस्य का गतिरित्यत्र गतिराश्रयः कारणमिति यावत् । मध्ये सर्वभूतोत्पत्तिः सर्वभूतास्तगमनं ज्यायस्त्वे विषयवाक्यनिरुक्तानि ज्ञेयानि वाक्यार्थसमुदायस्य महावाक्यार्थत्वात् । यथादिपदेन

१. (मिपीलिङ्ग) शाकल्यब्राह्मणे । २. सर्वमित्यतः प्रत्ययस्यदा । ३. विचिन्त्येत्यर्थः ।

वाक्यार्थः सर्वगतित्वादिः । तद् वाक्यार्थान्यथाऽनुपपत्त्या आकाशपदार्थो ब्रह्मेति सर्वशब्दवाच्यत्वाच्च न लक्षणा । मुख्यत्वाच्च । यावन्मुख्यपरत्वं संभवति तावन्न कस्यापि वेदान्तस्यापरब्रह्मपरत्वमिति मर्यादा । तस्माद्, यदेव आकाश आनन्दो न स्यादितिबदभ्राप्याकाशो ब्रह्मेवेति सिद्धम् ॥ २१ ॥

इति प्रथमाध्याये प्रथमपादे सप्तमं तल्लिङ्गाधिकरणम् ॥ ७ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

यदा परायणपदेन सर्वगतित्वं प्रतिपाद्यत इति । तथा आदिपदेन सर्वज्वावस्त्वं परोक्षीय-
स्त्वन्नन्तत्वं च । तत् तस्मात् कारणात् वाक्यार्थान्यथानुपपत्तिरूपयोपपत्त्यापि, आकाशपदस्य ब्रह्मण्येव तात्पर्यमित्यर्थः । सर्वशब्दवाच्यत्वादित्यादिग्रन्थस्मृतानार्थः । एवमत्र श्रुतिसामर्थ्यरूपेण लिङ्गेन उपपत्तिरूपेण तात्पर्यलिङ्गेन चेति द्विधा व्याख्यातम् ।

रश्मिः ।

भाष्ये आकाशः परायणमित्यग्रहीपुराचार्यास्तथादिपदेन विषयवाक्याभेदानानां स एव परोक्षीयानुहीयः स एषोन्नत इति श्रुत्युक्ताः प्रतिपाद्यन्ते इति । एकतिङ् वाक्यं तेन परायणमित्यस्य क्रियापदमन्तरा विभक्त्यनुत्पत्तेर्वाक्यत्वमेवमत्रेपि । तद्वाक्यार्थेत्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म तत्तत्कारादित्यादि । वाक्यार्थेति वाक्यार्थस्य सर्वगतित्वादेः अन्यथाभांतिनाकाशपरत्वेन उपपत्तिसंग्रहणेत्यर्थः तात्पर्य-
मिति आकाशपदस्य तात्पर्यवृत्तिर्न तु गौणीत्यर्थः । उक्तानार्थ इति मुख्यार्थत्वात्तद्वाच्यत्वाच्च लक्षणेति प्रयोजनमेकमपरमाहुः यावदिति । इतिबदिति य एव आकाशः परमात्मा न स्यात् जगज्जन्मादि-
कर्ता कः स्यात् अतः परिषेपात् आकाशपदवाच्यं ब्रह्मेवेति सिद्धमित्यर्थः । अतोस्मिन् प्रासङ्गिक-
विवरणमात्रं कृतं न तुपपादनादीति भावः । उपपत्तीत्यादि । ननु तात्पर्येण श्रुतिसामर्थ्यलिङ्गमित्ये-
वास्तु किंचाकाशपदार्थो ब्रह्मेति तदिति भाष्ये आकाशपदवाच्यं तत् लिङ्गादित्येव सूत्रान्वयध्वननं
विना तल्लिङ्गादित्यत्र समासं ब्रह्मपदानुवर्तनात् । तत्कथं द्विधा तल्लिङ्गादिति लिङ्गव्याख्यानं बाढम् ।
एतदपेक्षया कुतः तल्लिङ्गादिति भाष्यस्यैव विस्पष्टत्वात् । सामर्थ्यपदेनैव पारितोष्यात्तत्पदवैयर्थ्यापत्तेः ।
श्रुतिपदवैयर्थ्याद् द्वितीयो हेतुरावश्यकः श्रुतिपदात्तात्पर्योपलब्धेः इति कुतो द्विधा व्याख्याने दोषः ।
एवं आकाशपदवाच्यं तल्लिङ्गादित्येव सूत्रान्वयः । व्यङ्ग्यार्थपेक्षया शक्यार्थस्य बलीयस्त्वादिति ।
द्वितीयं लिङ्गम् । तथा च पूर्वपक्षाद्यवर्णने तल्लिङ्गादिहेतुः आकाशः प्रकरणादिति प्राप्ते आकाशस्य-
लिङ्गात् प्रकृत्यापेक्षया लिङ्गस्य बलिष्ठत्वादुक्तं एवमपि जन्मादिसूत्रेण सिद्धसाधनत्वात् शुक्लकिः
जन्मादिसूत्रीयलिङ्गस्यापरीक्षितत्वात् काम्यनभयपूर्वहेतुबदलिङ्गता अलिङ्गतायां तस्माल्लिङ्गादिति
कर्मेधारयसमासयमित्तल्लिङ्गादित्यस्याप्यलिङ्गता । तत्रिसूत्र्यर्थं तस्य लिङ्गं तल्लिङ्गमिति षष्ठीतत्पुरुषे
तत्पदवैयर्थ्यं तदा ब्रह्मेति जिज्ञासासूत्रादनुवर्त्यं ब्रह्मलिङ्गादिति हेतुः । आकाशः तत् जगत्कर्ता
ब्रह्मलिङ्गादिति हेतुः सिद्धः । तत्र ब्रह्म वेद इतिश्रुतिसामर्थ्यरूपेण लिङ्गेन लिङ्गं श्रुतिसामर्थ्यमभिधा-
लक्षणं तेनाकाशत्वे आकाशयतीति वाकाशः इत्याकाशे योगरूपमभिधारूपेण लिङ्गेनाकाशस्य जगत्क-
र्तृत्वेनानुमितिविषयत्वं यदा तु यदेव आकाश आनन्दो न स्यादित्युपपत्तिरूपेण तात्पर्यलिङ्गेनानन्दत्वे
नानुमितिविषयत्वम् । जगत्कर्ता आकाशत्ववानित्यनुमितिः । इदमनुमानं ब्रह्मविदि साधारणं ब्रह्मविदि
ब्रह्मलिङ्गरूपहेतुसत्त्वेपि जगत्कर्तृत्वरूपसाध्याभावेन साध्याभावरूपवद्वृत्तिलादेतोः । श्रुतिसामर्थ्य-

१. इदं व्याख्येयम् । २. इदं व्याख्या ।

भाष्यप्रकाशः ।

अन्ये तु, तल्लिङ्गादित्यस्य, ब्रह्मासाधारणधर्मादित्यर्थं वदन्ति । केचिच्चैवं ह्यवयन्ति । तन्मतेऽधिकरणवैयर्थ्यम् । तद्वर्गोपदेशाधिकरणेनैव गतार्थत्वादिति ।

विज्ञानभिक्षुस्तु, काण्वचतुर्थाध्याये सुषुप्तं जीवमुपक्रम्य पठ्यते, 'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते' इत्यादि । तत्र किं भूताकाशस्तदेवता वा ब्रह्म बोध्यत इति संशयः । तद्वीजं तु उपक्रमोपसंहारयोर्ब्रह्मवाचकब्रह्मात्मादिपदव्यन्यव्याक्ये भूताकाशादिवाचकस्याकाशपदस्य श्रवणम् । अन्यतरस्य गौणत्वे नियामकाभावस्त्रयाणामपि स्वापाधारत्वादविशेषश्च । निर्णयस्तु, आकाशो ब्रह्मैवेति । हेतुस्तु तल्लिङ्गात् । लिङ्गानि तु, स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोद्धरेत्' इति 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति' तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमित्यादीनि । सर्वश्रुतिषु ब्रह्मणि तथा दृष्टान्तदर्शनात् । अचेतनस्य भूताकाशस्याभि-विस्फुलिङ्गदृष्टान्तान्तर्हृत्वात् । तदेवतायाश्च सर्वदेवान्तर्गतत्वेनाकारणत्वात् । य एवायमाकाशे पुरुष इति पूर्ववाक्येनाकाशशेवताया ब्रह्मत्वप्रतिषेधाच्च । सत्यस्य सत्यमिति च नामपूर्ववाक्येन ब्रह्मण्येव व्याख्यातम् । तत्र सत्यशब्देन पञ्चभूतानि व्याख्याय तदपेक्षयापि निषेधशेषं ब्रह्म सत्यमिति श्रुत्यैव स्पष्टमुक्तत्वात् । स्कान्देऽपि,

रश्मिः ।

मुपपत्तिरूपं लिङ्गद्वयं साध्याभाववद्वृत्तिगृहीतमतो व्याख्यातमित्यर्थः । अन्य इति भास्कराचार्याः । वदन्तीति तथा च तद्भाष्यम् । तल्लिङ्गमव्यभिचारी धर्म इति । केचिदिति शंकराचार्यादयः । तथा च तद्भाष्यं परस्य हि ब्रह्मण इदं लिङ्गम् । 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशशेव समुत्पद्यन्ते' इतिरामानुजभाष्यम् । निखिलजगदकारणत्वं सर्वस्माख्यायस्त्वं परायणमित्यादीनि परमात्मलिङ्गान्युपलभ्यन्ते इतिमाध्वभाष्यम् । स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽन्तर्हृत् इत्यादि तल्लिङ्गादिति । एवमसाधारणधर्मं स्वतात्पर्यवृत्तिं कुर्वन्तीत्यर्थः । शैवभाष्येऽप्येवं ज्ञातव्यम् । इतीति बोध्यमिति शेषः । तदेषामिति । स जीवः प्राणानामिन्द्रियाणां स्वविज्ञानेन चैतन्येन विज्ञानं प्रकाशनसामर्थ्यमादाय गृहीत्वा उत्तानार्थेयमग्रे । स्वापेत्यादि इदं तद्भाष्यप्रामाण्यात् सुषु श्रुत्यन्तराच्च मनसोऽप्याधारत्वं सुषु 'कामः संकल्पः' इत्यादिश्रुतेः । यथोर्णनाभिरिति श्रुतिर्बृहदारण्यके तस्य ब्रह्मणः उपनिषदिति नाम । अकारणेति द्रक्ष्याम्यहमिति चक्षुर्द्रे इत्येवं नियतकार्यकारणत्वेनान्यत्राकारणत्वादित्यर्थकः व्यापकत्वेन वा तथात्वात् । पूर्वत्यादि 'य एवायमाकाशे पुरुष एतमहं वा ब्रह्मोपासे' इतिगार्ग्य-वाक्यं ब्रह्मत्वप्रतिषेधकं तु सहोवाचाजातशुभ्रमेतस्मिन् संवदिष्टा इत्यजातशुभ्रोर्ब्रह्मणस्य वाक्यं तेनेत्यर्थः । श्रुत्यन्तरेणाप्याकाशशेवतातिरिक्तत्वमाह भगवान् भिक्षुः सत्यस्येत्यादिना । निषेध-शेषमिति ।

स वै न देवासुरमर्त्यतिर्यङ्
न स्त्री न षण्डो न पुमान् न जन्तुः ।
नायं गुणः कर्म न सन्न चासन्
निषेधशेषो जयतादशेषः ॥

भाष्यप्रकाशः ।

'चैतन्यापेक्षया प्रोक्तं व्योमादि सकलं जगत् ।
असत्यरूपं सत्यं तु कुम्भकुण्डापेक्षया' ॥

इत्युक्तत्वाच्च । अतः शब्दसाम्येऽपि ब्रह्मलिङ्गाद् ब्रह्मैवाकाशशब्दार्थः । आकाशशब्दश्च ब्रह्मणि रूपकविधया विश्रुत्वनिर्लेपत्वादिगुणलाभाय, मुखे चन्द्रवच्छ्रुत्या प्रयुक्तः । अत एव, 'परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता' इत्यादिषु श्रुतिष्वाकाशरूपेण ब्रह्म निर्दिश्यते । नानार्थताया, गङ्गायां घोष इतिवच्छ्रुणायाश्चायुक्तत्वादिति । एवं प्राणज्योतिरादयः शब्दा अपि जीवन्त्वप्रकाशन-त्वादिप्रतिपादनाय रूपकत्वेनैव व्याख्येयाः । वस्तुतस्त्वाकाशप्राणज्योतिरादयः शब्दा आकाशादिभावापन्नब्रह्मपरा एवैतेषु ब्रह्मवाक्येषु भवन्ति । केवलब्रह्मपरत्वे सत्याकाशादि-लिङ्गानुपपत्तेः । यत्तु छान्दोग्यवाक्यमाधुनिका इहोदाहरन्ति, 'अस्य लोकस्य का गतिः' इत्यादि । तत्र । प्रकरणादिशून्यात् केवललिङ्गाच्छ्रुतेर्बलवत्त्वस्य पूर्वमीमांसासूत्रादेवावधार-णात् । तत्र च श्रुतिप्रकरणयोरभावात् । किञ्च । प्रश्ने, अस्य लोकस्येत्यनेन भूलोकजना एवोक्ता इति प्रत्युचरे भूतानीत्युक्तत्वात् सर्वाणि भूतानीति ब्रह्मलिङ्गं न भवति । आकाशसाधारण्यात् । आकाशाद् वृष्टिद्वारेषां भूलोकस्थानां सृष्टिस्थितिसंहारादित्याह । तदसंगततमम् । ह्यविरोधात् । सूत्रे केवलस्य लिङ्गस्यैव हेतुत्वेनोक्तत्वात् । त्वद्रीत्या

रश्मिः ।

इति गजेन्द्रस्तुतौ तु स्पष्टम् । उक्तत्वाच्चेति । तथा च कुम्भकुण्डादि सत्यस्य सत्यमिति श्रुत्यर्थः फलितः । श्रुतावाकाशपदोक्तेस्तात्पर्यमाहाचार्यो विज्ञानः आकाशशब्देत्यादि । रूपकेति अनुभयोक्तिरूपताद्रूप्यरूपकं यथा 'असा मुखेन्दुना लब्धे नेत्रानन्दे किमिन्दुना' इत्यत्रानुभयोक्तिताद्रूप्यन्यूनताद्रूप्याधिकताद्रूप्यभेदेन ताद्रूप्यरूपकस्य त्रैविध्यम् ।

'विषयभेदताद्रूप्यरञ्जनं विषयस्य यत् ।

रूपकं तन्निधाधिक्यन्यूनत्वानुभयोक्तिभिः' ॥

इति तल्लक्षणात् । विषयिणः उपमानस्य पद्मादिरभेदेन ताद्रूप्येण च विषयस्योपमेयस्य रञ्जनं रूपकमित्यर्थः । यद्वा । अभेदरूपकं वा तत् । 'अयं हि धूर्जटिः साक्षाद्येन दग्धाः पुरः क्षणात्' इत्यत्र यथा । विभ्रुत्वेत्यादि तथा च गौणीवृत्तिरिति भावः । प्रतिष्ठितेति 'सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योम्नि प्रतिष्ठिता' इत्यर्थः । ननु वृत्तैर्विध्यालक्षणाद्यैव निर्वोदो किं गौण्येति चेत् तर्कपादीयगौण्युपपादकयुक्तिद्वय आह लक्षणाया इत्यादि । एवं प्राणेति 'प्राणस्य प्राणसुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादिबृहदारण्यकादग्रेतनाधिकरणेषु प्राणादयो व्याख्येया इत्यर्थः । एवं विभागाद्वैतप्रायाऽविभागाद्वैताय पश्चान्तरमाह भगवान् वस्तुतस्त्वित्यादि । आकाशादीत्यादि-यदेन प्राणज्योतिरादयः तेनायं भगवानाचार्यः तावद्भ्रुचरणमाकाशभावापन्नब्रह्मकर्तृकं तादृश-ब्रह्मणः सकाशाद्वैति मन्यते । तेन तल्लिङ्गादित्यस्याकाशभावापन्नब्रह्मलिङ्गादित्यर्थः पर्यवसितः । प्रकरणेत्यादि 'उभयाकाङ्क्षा प्रकरणम्' 'निरपक्षो रवः श्रुतिः' इति पूर्वमीमांसासूत्रं पूर्वं निरुक्तम् । तत्रेत्यस्य छान्दोग्यीयवाक्ये इत्यर्थः । वृष्टिद्वारेति अयमाचार्यो मन्यते । ननु सत्यं व्याससूत्रेण जैमिनिसूत्रदौर्बल्यं तथापि श्रुतिलिङ्गादय इत्यादिभाष्यप्रामाण्यात् त इह तथैवोपादेया इतिलिङ्गा-

भाष्यप्रकाशः ।

तु, श्रुतिलिङ्गप्रकरणैरिति पाठापाताच्छ्रुतिविरोधाच्च । श्रुतौ सामाद्यदोलोकान्तगतिज्ञानवतः शालावत्यस्यैतच्छोकगतिप्रश्नेन सामाद्येत्तच्छोकान्तस्य परमाश्रये परमोपजीव्ये वा प्रश्रप्य-वसानात्, तादृशत्वस्य चाकाशेऽसंभवात् । अतश्छान्दोग्यवाक्यस्याविषयत्वकथनमसंगतम् । अन्येषामाधुनिकत्वकथनमपि तथा । सस्य सर्वावीचीनत्वात् । प्राचीनवृत्त्यादीनामनाश्रयणाच्च । आकाशशब्दस्य भूताकाशतद्देवताब्रह्मसु साधारण्यकथनमपि तथा । ब्रह्मणि रूपकविधया प्रयोगाङ्गीकारेण गौण्या वा निरूढलक्षणाया वाऽऽदराद् ब्रह्मवाचकत्वस्याभावेन रश्मिः ।

पेक्षया सिद्धान्तेपि आकाशश्रुतिर्वैलव्येति चेत्तत्राहुः श्रुतीत्यादि । सामादीति का साम्नो गतिरिति खर इति होवाचेत्यारम्य अमुष्य लोकस्य का गतिरित्ययं लोक इति होवाचेत्यन्त्या श्रुतेत्यर्थः । असंभवादिति आश्रयमात्रे उपजीव्यमात्रे तथा संभवः । आकाशे तु 'आकाशाद्वायुः' इति श्रुतेः वायुपजीव्यत्वं तथा आकाशादिभावापन्नब्रह्मणः परमाश्रयत्वपरमोपजीव्यत्वाम्भामस्पर्शात्प्रविषयत्वसंभवीति भावः । ब्रह्माधिकारात् । एवं चैतदसिद्धं भाष्यविरोधस्तदा स्याद्यदीदं लिङ्गतात्पर्यवृत्तिवैलव्यमतिक्राम-च्छ्रुतिमतिक्रामेन्नत्वमतो लिङ्गं बलीयः श्रुत्यपेक्षयात्रेति श्रुतिलिङ्गेति सूत्रं तु तात्पर्यवृत्त्यवैलव्यां प्रतिबन्धकाभावात् परैरभिधादिवृत्त्या प्रवर्तितमिति ज्ञेयम् । तथा च लिङ्गस्य बलीयस्त्वे सूत्रं प्रतिबन्धकं तात्पर्यं तु सूत्रप्रतिबन्धकमुत्तेजकं व्याससूत्रम् । संबन्धात् । अतोऽसंगतममित्यत्र तत्रापि योज्यः । अत इति व्याससूत्रविरोधादिदूषणम्य इत्यर्थः । ननु प्राचीनवृत्तिकल्पगीतास्करन्वाद्यनुसरतामस्माकं सर्वेभ्यः पूर्वत्वं व्याख्यानप्रयुक्तमपि चाधुनिकत्वं लोकरञ्जकत्वं लक्षणिकमत्रेति नायं हेतुरिति शङ्कायामाहुः प्राचीनेत्यादि । किं च लोकरञ्जकत्वं तदा स्यात् यदि तदुत्तरमस्माद्भाष्ये विषयत्वं तस्य वाक्यस्य नादत्तं भवेदिति । न चास्याप्रसिद्धत्वात्तदज्ञानादादत्तत्वमिति शङ्क्यम् 'अनागतमतीतं च' इत्यादिवाक्यात् । गौण्येत्यादि द्वितीयाध्याये गौण्यसंभवादिति सूत्रे आचार्येण भगवता गौणीत्वेन गौण्या पदार्थ उक्तः तत्काव्यप्रकाशे लक्षणात्वेन वर्णितस्य भेदास्त्रयोदशोपवर्णिताः । उपादानलक्षणा कुन्ताः प्रविशन्तीत्यत्र । लक्षणलक्षणा गङ्गायां घोष इत्यादौ । शुद्धा सारोपालक्षणा आयुर्धृतमित्यादौ । गौणी सारोपालक्षणा गौर्वाहीक इत्यादौ । शुद्धसाध्यवसोनीलक्षणा आयुरेवेदम् । गौणी सार्धवसाना-लक्षणा गौरयमित्यादौ । एवं षड्विधा प्रयोजनवती । आसां व्यङ्ग्योत्थापनफलकतया नियमेन तासां सन्वयत्वमेव । तच्च व्यङ्ग्यं द्विविधम् । गूढमगूढं चेति । काव्यार्थभावनापरिपक्वबुद्धिविभवमात्रवेद्यं गूढम् । अनस्यन्तसहृदयैरपि ज्ञेयमिति ग्राह्यमगूढम् । यथा 'मुखं विकसितस्मितम्' इति 'श्रीपरिचयात्' इति चोदाहरणे । एवं द्वादशधा प्रयोजनवतीलक्षणा । निरूढलक्षणां कर्मणि कुशला इत्यादौ । सैकविधैव । एवं च गौर्वाहीक इतिवत् आकाशो ब्रह्मेति गौण्या सारोपेत्यर्थः । ननु सारोपत्वं केन प्रकारेणेति चेद्ग्रन्थपौरवर्षीतिकानुज्ञया तत एव विदांकुर्वन्तु विद्वांसः । तथा च गोसदृशो वाहीकः गोनिष्ठाज्वलादिगुणविशिष्ट इतिवदाकाशसदृशं ब्रह्माकाशनिष्ठस्वापाधारत्वादिगुणविशिष्टमिति तन्मतेऽर्थः । अत्र सादृश्यातिरिक्तकार्यकारणभावादिसंबन्धानामविबक्ष्यतो नो शुद्धा सारोपा संबन्धान्तरेण सारोपा शुद्धा भवतीति । तथा च भास्कराचार्यभाष्यम् । सर्वमभिव्याप्य प्रकाशते इत्याकाशः तत्सादृश्यादेति द्वितीयवेत्यस्य प्रयोजनं पूर्वतन्ने क्वचित्सिद्धम् । यथा 'सेवायां वा कथायां वा' इत्यत्र श्रीमदाचार्योक्तौ । पूर्वोक्तेर्ये तज्जन्मादिसूत्रभाष्यविरोधमाकलय्याहुः । किं च । यथा गौरित्यादावज्ञत्वाद्यतिशय एव प्रयोजनमेवं प्रकृते स्वापाधारत्वातिशय एव प्रयोजनं वाच्यं तस्याभावादाहुः निरूढेत्यादि । कर्मणि

अत एव प्राणः ॥ २२ ॥ (१११८)

प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्तेत्युपक्रम्य श्रूयते । कतमा सा देवतेति प्राण इति होवाच । सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युद्भिहते । सेवा देवता प्रस्तावमन्वायत्तेति । तत्र संशयः । आसन्न्या प्राणो ब्रह्म वेति । पूर्वपक्षसिद्धान्तो पूर्ववदेवेत्यतिदिशति ।

भाष्यप्रकाशः ।

साधारण्यस्याभावादिति ॥ २१ ॥

इति सप्तमं तल्लिङ्गाधिकरणम् ॥ ७ ॥

अत एव प्राणः ॥ २२ ॥ अत्रापि छान्दोग्यप्रथमप्रपाठकस्य वाक्यं विषयवाक्यत्वे-नोदाहरन्ति प्रस्तोतरित्यादि । अत्रापि देवतापदेनोपक्रमादस्मादित्यसहपाठाच्च प्रकरणं न ब्रह्मणः । प्राणस्य प्राणमित्यादिब्रह्मप्रकरणस्या श्रुतिः पुराणप्रसिद्धिश्च संदेहवीजम् । श्रुतौ तु प्रस्तावः सामोपासनाविशेषः । अन्वायत्ता अनुगता प्रस्तावाख्योपासनाविषया । प्राणश्च वायु-वत् प्रतीयमानोऽपि न वायुत्तिकारः । 'बुद्धिः प्राणस्तु तैजसः' इति पुराणेषु भिन्नकारणकत्वेन सिद्धत्वात् । श्रुतौ च प्राणाद्वायुरजायतेति वायुजनकत्वेन, 'यो वायुः स प्राणः' इति श्रुतौ वायु-त्वेन च कथनात् । यद्यपि लोके वायुविकारत्वेनोक्तस्तथापि तदपेक्षया वेदहृदयरूपस्यैतदुप-बृंहणस्य बलिष्ठत्वात् । अतः स आसन्न्यो ब्रह्म वेति संशयः । पूर्वपक्षस्तु पुराणप्रसिद्धेरासन्न्यो ग्राह्य इति । सिद्धान्तस्तु असंकुचितवृत्तेः सर्वशब्दस्य सामर्थ्यादेवात्र प्राणशब्देन ब्रह्म ग्राह्यम् । रश्मिः ।

कुशल इत्यादौ यथा कुशान् लाल्पादत्ते इति विग्रहे 'आतोनुपसर्गे कः' इति कप्रत्यये च निष्पन्नः कुशलशब्दः । तस्य कुशग्राहिरूपमुल्यार्थस्य क्रियासामान्यवाचके कर्मणीति पदे सति सभाषत्वात् मुख्येन शक्यार्थेन विवेचकत्वसाधर्म्यरूपस्य संबन्धेन निरूपणरूपोऽमुल्योर्थो लक्ष्यते इति कुशग्राहिणि पुरुषेऽसतां कुशानां परित्यागः सतां च ग्रहणं विवेचकत्वम् । एवं निपुणेपि सतोर्थस्य ग्रहणमसतः परित्याग इति विवेचनीयम् । तद्वत्प्रकृतेऽप्याकाशते दीप्यते सूर्योदयोत्रेत्याकाशः 'इलम्' इति घञ् तस्य दीपनरूपमुल्यार्थस्य य एषोन्तर्हृदय इति पदेषु सत्यु सभाषत्वान्मुख्येन दीपन-ब्रह्मणा शक्यार्थेनाधारत्वसाधर्म्यरूपस्य संबन्धेनाकाशभावापन्नब्रह्मरूपोऽमुल्योर्थो लक्ष्यते इति निरूढल-क्षणा तथेत्यर्थः । साधारण्येत्यादि ब्रह्मणि लक्षणा आकाशे रुद्धिरिति तथा । इतिः समाप्तौ । यद्यपि तत्तद्भावापन्नस्य ब्रह्मणः तत्तच्छब्दाव्यव्यवमित्युक्तं तदपि न । उकारस्य ब्रह्मवाचकत्वात् सर्वेषां शब्दानां चौकारविकृतित्वादिति ॥ २१ ॥

इति सप्तमाधिकरणम् ॥ ७ ॥

अत एव प्राणः ॥ २२ ॥ पुराणेत्यादि बुद्धिः प्राण इत्यादिवक्ष्यमाणा । अस्या अपि पर्यायमाहुः प्रस्तावेत्यादि । तैजस इति राजसाहंकारकार्यमित्यर्थः । श्रुतौ चेति 'प्राणाद्वायुर-जायत' इति श्रुतौ चेत्यन्वयः । तेनाग्रे पुनः श्रुतावित्युक्तेपि न पुनरुक्तिः 'पुराणं हृदयं स्मृतम्' इति वेदहृदयत्वम् । संशय इति निकोटिक इत्यर्थः । श्रुतौ तिष्ठति अत्र प्रस्तोतरि संभोचनम् । अभ्युद्भिहते उत्पद्यन्त इत्यर्थः । भास्कराचार्यभाष्येऽयमर्थः । ननुक्तं प्रकरणं न ब्रह्मण इत्यत

नन्वधिकरणानां न्यायरूपत्वात् सर्वत्र गमिष्यति, किमित्यतिदिश्यत इति । उच्यते । प्राणस्य मुख्यस्यापि सर्वभूतसंवेशनं स्वापादौ श्रुतावेवोपपाद्यते यदा वै पुरुषः स्वपिति प्राणं तर्हि वागप्येतीत्यादिना । तत्र यथा प्राणविद्याया न ब्रह्मपरत्वमेवमेवास्यापि न ब्रह्मपरत्वमिति, न न्यायेन प्राप्नोति । अतोऽति-

भाष्यप्रकाशः ।

प्रकरणापेक्षया लिङ्गस्य बलिष्ठत्वात् । पुराणस्य चान्यत्र सावकाशत्वेनात्रानुपबृंहणतायामपि विपरीतबलावलभावस्याशक्यकल्पनत्वादिति । अत्राधिकरणवैयर्थ्यमाशङ्कते नन्वित्यादि । समादधते उच्यते इत्यादि । उपपाद्यत इति धर्मत्वेनोपपाद्यते । तत्रेत्यादि तत्र प्राण-विद्यावाक्ये पुरुषस्वापप्रयुक्तं भूतसंवेशनं, तत्प्रबोधप्रयुक्तं च भूताधिजननमुच्यते, न तु स्वतन्त्रमतो यथा न प्राणविद्याया ब्रह्मपरत्वमेवमस्यापि वाक्यस्य न ब्रह्मपरत्वं स्याद्यदि श्रुतिसामर्थ्यरूपे हेतौ स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्यविवेको न क्रियेत । इतिहेतौ । प्राणविद्यासाधारण्यस्य बाधकस्य सत्त्वात् तेन न्यायेनास्य ब्रह्मपरत्वं न प्राप्नोति । अतोऽप्राप्तत्वादितिदिश्यति । एवकारेण बाधकयोगं व्यवच्छिन्दन्नत्र तं हेतुं प्रापयतीत्यर्थः । एतस्मात्तिदेशस्य फलमाहुः रश्मिः ।

आहुः प्रकरणेत्यादि । लिङ्गं सर्वशब्दसामर्थ्यम् । अन्यत्रेति प्राणविद्याविशेषे । विपरीतेत्यादि 'आनर्थक्ये प्रमाणानां विपरीतं बलावलम्' इत्यप्यत्र न प्रवर्तते इत्यर्थः । तथा च छन्दोवत्सन्नाणि भवन्तीति सूत्रोक्तमेव ज्यायः । पुराणापेक्षयेति अतिदेशेऽपि सिद्धान्तनिरूपणे निरूप्यः । भाष्ये । गमिष्यतीति न्यायो गमिष्यति । प्रकृते । धर्मत्वेनेति प्राणधर्मत्वेन ।

'अन्यत्रैव प्रतीतायाः कृत्स्नाया धर्मसन्ततेः ।

अन्यत्र कार्यतः प्राप्तिरतिदेशोभिधीयते' ॥

इति पूर्वतन्त्रसिद्धमतिदेशपदार्थमाहुः एवकारेणेत्यादि । सूत्र एवकारेण बाधकयोगमत्यन्ता-योगमत्रपक्षे प्राणशब्दवाच्ये ब्रह्मत्वे साध्ये तं हेतुं तल्लिङ्गादिति हेतुं प्रापयतीत्यर्थः । भगवान् सूत्रकारः । तथा चेयं सूत्रयोजना । प्राणशब्दवाच्यं ब्रह्म तल्लिङ्गाद्भवत्येवेति । ब्रह्म तल्लिङ्गहेतुकप्राणशब्दवाच्य-त्वात्यन्तायोगव्यवच्छेदवदिति बोधः । न चैवं भवतेरध्याहारोपः इत्ययोगव्यवच्छेदकोन्ययोग-व्यवच्छेदको भवत्येवकार इति शङ्कम् । तथा सति ब्रह्म प्राणशब्दवाच्यत्वायोगव्यवच्छेदवत् ब्रह्मान्यः प्राणशब्दवाच्यत्वयोगव्यवच्छेदवान् इति ब्रह्मापेतप्राणपदवाच्यत्वं स्यात्तदसंगतम् । आनन्दमयादि-पदवाच्यत्वं निरूप्य ज्योतिरादिपदवाच्यत्वस्य निरूप्यमानत्वात् । तद्वदत्रेति । यद्वा अत इत्यस्य तल्लिङ्गं हेतुरर्थः एवकारस्यायोगव्यवच्छेदोर्थः । तथा च तल्लिङ्गहेत्वयोगव्यवच्छेदवत् प्राणपदवाच्यं ब्रह्मेति सूत्रार्थः । बाधकशून्यात्पूर्वोक्ताल्लिङ्गात् इति तु फलितोर्थः । भाष्ये । न्याय आपादित इति यद्ययं न्यायो न स्यात् तदा प्राणविद्यासाधारण्यं स्यात् तस्माद्विषयवाक्यमतिरिक्तन्यायवदित्येव-मापादित इत्यर्थः । विषयवाक्यं अतिरिक्तन्यायवत् प्राणविद्यासाधारण्यात् यदेवं तदेवं ब्रह्मविदाप्नोतीत्यादिविद्यावत् यन्नैवं तन्नैवं भार्गवीवारुणीविद्यान्तर्गतात्रादिविद्यावदित्यनुमाने ।

दिशति । अनेन चायमतिरिक्तो न्याय आपादितः । यत्रैव प्रकरणे ब्रह्मपरत्वे कल्प्यमाने न किञ्चिद् बाधकं तत्रैव ब्रह्मपरत्वं कल्पनीयमिति, न त्वन्यस्मिन् संभवे तत्परत्वमिति । अत एव तल्लिङ्गात् प्राणशब्दवाच्यं ब्रह्मेति ॥ २२ ॥ इति प्रथमाध्याये प्रथमपादेऽष्टममतिदेशाधिकरणम् ॥ ८ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

अनेनेत्यादि । न त्वन्यस्मिन् संभव इति संभवान्तरे सति तु नेत्यर्थः । सिद्धमाहुः अत एवेत्यादि । बाधकशून्यात् पूर्वोक्ताल्लिङ्गात्तथेत्यर्थः । नच, 'प्राणं तर्हि वागप्येति प्राणशब्दः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनो यदा प्रबुद्ध्यते प्राणदेवाधि पुनर्जायन्ते' इत्यत्रेन्द्रियसंवेशनमुच्यते, न भूतसंवेशनमिति विषयभेदात् कथमस्य साधारणत्वशङ्केति वाच्यम् । 'दीपशब्दस्तथा रूपं ज्योतिषो न पृथग्भवेत्' इत्यादिषु पुराणवाक्येष्विन्द्रियाणां भूतापृथग्भावसोक्तत्वेन भूतविशेषत्वस्य सिद्ध-तयेमानीत्यस्य श्रुत्यन्तरे वागादिरूपत्वेनोक्तानीत्यर्थस्य शक्यवचनत्वेन शङ्कोदयस्य संभवात् । अतः सर्वथेदं समाधेयमिति । एतेन माहात्म्यज्ञानोपयोगिनीनां देवान्त्रोपासनानामनुच्छे-दायेदमधिकरणम् । अन्यथा तु लोके पित्रपेक्षया क्वचित् पुत्रमाहात्म्यदर्शनात्, केचिद् ब्रह्म-कार्यत्वेऽपि ब्रह्मापेक्षयाऽधिका भविष्यन्तीति शङ्का स्यादिति तेनोपोद्घातः संगतिरिति बोधितम् । एवं चात्रातिदेशाङ्गीकारे, 'आपो वा इदं सर्वम्' इत्यादिवाक्येष्वपि सर्वात्मकत्वादि-ब्रह्मलिङ्गदर्शनादवादिशब्दानामपि ब्रह्मप्रकरणे ब्रह्मवाचकत्वमित्यपि साधितं ज्ञेयम् । अधि-करणानां न्यायरूपत्वादिति ।

रश्मिः ।

प्रकृते । बाधकेति बाधकं प्राणविद्यासाधारण्यं तच्छून्यादित्यर्थः । तथेति प्राणशब्दवाच्यं ब्रह्मेत्यर्थः । अनुमानावर्णनाद्विपरीतसूत्रपाठकमः । यद्वा जिज्ञासासुत्राद् ब्रह्मेत्यनुवृत्तेर्न सूत्रे ब्रह्मपद-मुक्तम् । विषयेति इन्द्रियपञ्चमहाभूतरूपविषयभेदात् । साधारणेत्यादि ब्रह्मपरत्वबाधकसाधारणत्व-शङ्केत्यर्थः । पुराणेत्यादि एकादशस्कन्धादिषु इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां भूतेभ्यो दीपादिभ्योऽपृथग्भाव-स्येत्यर्थः । श्रुत्यन्तरे 'अन्नाद्भवे खल्विमानि भूतानि जायन्ते' इत्यत्र 'प्राणादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते' इत्यत्र वा शक्यवचनत्वेन भूतानां चेन्द्रियसारत्वात् । इति भास्कराचार्यभाष्याद्येत्यर्थः । अत इत्यादि शङ्कोदयसंभवात् । इदं शङ्काविषयभूतम् । एतेनेति ब्रह्मविद्यातिरिक्तप्राणविद्याच्छेदेने-त्यर्थः । क्वचिदिति वेनात्पृथुनाममाहात्म्यं वसुदेवाच्च श्रीःकृष्णस्य । स्यादिति तथा चैवं विधनिरङ्गशजगत्कारणत्ववादिनीनां ब्रह्ममात्रपरत्वादेव न शङ्केति भावः । मिश्रमते त्वियं शङ्का स्यादेव । पञ्चाङ्गेधिकरणे न्यूनं पूरयन्ति स्म तेनेत्यादिना । अत्र सावधानपुरुषप्रयुज्यमानवाक्यं ब्रह्मजिज्ञासा-धिकारवाक्यं तत्प्रयोजकत्वेन ब्रह्मजिज्ञासोपपादकत्वेन स्मृतस्य साकारब्रह्मणो रूपजातसोपेक्षा-नर्हत्वं भवतीत्युपोद्घातः । ननु विशेषलक्षणं गौणं कुतः आहतोत्रेति चेन्न । संगतिव्यवहारस्तु तत्र तत्र स्पष्टत्वाय हेतुतादिभिः प्रयोजकधर्मैरेव वक्तव्य इति तत्रैवेत्यधिकरणे निरुक्तत्वात् । एवं चात्रातिदेशाङ्गीकारेण 'आपो वा इदं सर्वम्' इत्यादिवाक्येष्वपि सर्वात्मकत्वादिब्रह्मलिङ्गदर्शना-दवादिशब्दानामपि ब्रह्मवाचकत्वमित्यपि साधितं ज्ञेयम् । अधिकरणानां न्यायरूपत्वादिति

भाष्यप्रकाशः ।

अत्र सर्वेऽपि ब्रह्मासाधारणधर्ममेव हेतुकृत्याधिकरणं योजयन्तीति तद्दूषणमपि पूर्व-
वदेव बोध्यम् ।

भाष्यास्तु, 'तद्वै त्वं प्राणो अमवः महान् भोगः प्रजापतेः । भुजः करिष्यमाणः यदेवान्
प्राणयो न वा' इति तैत्तिरीयोपनिषच्छ्रुतिं विषयवाक्यत्वेनोपन्यस्याधिकरणं रचयन्ति तत्र
लोकप्रसिद्धिः, ईशानः प्राणदः प्राण इति विद्वद्बुद्धिः संदेहबीजम् । श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्या-
वित्यादि तल्लिङ्गं हेतुत्वेनाहुः । अतिदेशप्रयोजनं तु किमपि नाहुः । अत्रापि पूर्ववदेव दूष-
णम् । किंचात्र हेतुः पुरुषशक्तस्यो, विषयवाक्यं मर्त्यशक्तस्यप्रतो हेतुसाध्यवैयधिकरणपरिहार-
प्रयासश्चाधिक इत्यवधेयम् ।

विज्ञानभिक्षुस्तु कौपीतकिब्राह्मणादित्यां ब्रह्मप्रकरणीयां श्रुतिं विषयत्वेन वृत्तीति
तद्दूषणमपि पूर्ववदेव ॥ २२ ॥

इत्यष्टममतिदेशाधिकरणम् ॥ ८ ॥

रश्मिः ।

कचित्सुस्तके ह्येवं चेत्यास्य इतीत्यन्तः रश्मावुक्तः मूले प्रकाश एव पठ्यते । सर्व इति
शंकररामानुजशैवभास्कराचार्याः । तद् दूषणमिति अधिकरणवैयर्थ्यरूपम् । महान् भोगः परमानन्दः
श्रुतौ । 'तद्वै त्वं यो यदा भारं तन्द्रयते स भर्तुं परास्य भारं पुनरस्तमेति' । श्रुत्यर्थस्तु यदा भारं भर्तुं
तन्द्रां कुरुते तदा संकर्षणव्यूहेन भारं परा अस्य असु क्षेपणे क्षिप्वेति तथा च यस्त्वमस्तमेता तद्वै त्वं
प्राणोऽमवः । किं च प्रजापतेर्महान् भोगः । अपरं च भुजः भोगात् करिष्यमाणः यद्यस्माद् देवान्
प्राणय उ न प्राणय वा किं तु सर्वानित्यर्थः । विद्वद्बुद्धिरिति कचित्प्रसिद्धा विष्णौ । दूषणमधिक-
रणवैयर्थ्यरूपम् । महाभोगरूपस्य परमानन्दस्यापि कृष्णलिङ्गत्वादिति । श्रुतिमिति । भाष्ये । श्रुतिं
दृष्ट्वा दूषणं पूर्ववदुच्येयम् । भाष्ये । अत एवेत्यादि अत्रापि प्राणत्वेन ब्रह्मोपस्थितिराशक्योपपादना ।
नहि पटत्वेन तन्तूपस्थापनं शक्नोति कर्तुं कश्चित् प्राणपदवाच्यत्वेन तूपस्थापयितुं शक्नोति यः कश्चिद्
ब्रह्म । यथा सशङ्खचक्रो हरिरित्यत्र हरित्वेन विष्णुतूपस्थापयितुं शक्नोति न तु हरिर्वर्षायां इत्यत्रापि
किं तु वर्षापदसमभिव्याहारात्मण्डूकवाचकं हरिपदमित्यवधारितेन हरिपदवाच्यो मण्डूक इत्येवं
हरिपदवाच्यत्वेन मण्डूकोपस्थितिनं तु हरित्वेन स्ववाचकपदोपस्थितस्यैव विशिष्टबोधे विशेषणमर्था-
दया भानस्य घटः पृथ्वीत्यादिसले दर्शनात् ॥ २२ ॥

इत्यष्टममधिकरणम् ॥ ८ ॥

ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥ २३ ॥

इदमामनन्ति । अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः
पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेषु इदं तावद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे ज्योतिरिति ।
तत्र ज्योतिःशब्देन प्राकृतं ज्योतिराहोस्विद् ब्रह्मैवेति संशयः ।

भाष्यप्रकाशः ।

ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥ २३ ॥ आमनन्तीति छान्दोग्ये पञ्चमप्रपाठके वदन्ति ।
श्रुतौ तु, विश्वतः पृष्ठेष्विति सर्वेषामुपरि अयं च विश्वशब्दो न संकोचसह इति ज्ञापनाय
तदर्थकं शब्दान्तरं सर्वतः पृष्ठेष्विति । शेषं स्फुटम् । संशयमाहुः तत्र ज्योतिरित्यादि ।
अत्र लोकप्रसिद्ध्या, 'अनादिमत् परं ब्रह्म' इति प्रकृत्य पठितेन, 'ज्योतिषामपि तज्योतिः'
इति गीतावाक्येन च कोटिद्वयोपस्थितिः संशयबीजम् । पूर्वपक्षमाहुः अत्रेत्यादि । अय-
मर्थः । लोके तमोविरोधी पदार्थ आदित्यादिज्योतिःपदेनाभिधीयते । अत्र च दीप्यत इत्युक्तं,
प्रकाशकत्वमपि तस्यैव लिङ्गम् । तथाप्ये, तस्यैवा दृष्टिर्यत्रैतदस्मिन् शरीरे संस्पृशेन्नोष्णिमानं
विजानाति, तस्यैवा श्रुतिर्यत्रैतत्कर्णावपिगृह्य निनदमिव नदधुरिवाग्नेर्ज्वलत उपशृणोतीति
जाठरस्याग्नेर्लिङ्गम् । नच सूर्यादिप्रकाशस्य दिवोर्ज्यामपि दर्शनाज्जाठरप्रकाशस्य च काप्य-
दर्शनादुभयोर्बोधे गीतावाक्यादिभिर्ब्रह्मैव ज्योतिःपदवाच्यतयादरणीयमिति वाच्यम् । ब्रह्मा-
साधारणधर्मस्य तत्प्रकरणस्य चात्रानुपलम्भात् । अतस्तेजोधर्मस्यात्र दर्शनाद्, बर्हिंराज्याधि-
रश्मिः ।

ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥ २३ ॥ वदन्तीति यद्यपि ब्रा अभ्यासे तथाप्युपसर्गबले-
नायमर्थः । 'उपसर्गेण धात्वर्था बलादन्यः प्रतीयते' इतिवाक्यात् । मनिन च ज्ञाने दिवादिः ।
मणिनण् स्तम्भे चुरादिः । मनु विबोधने तनादिरेषामाःमनेपदित्वात् 'ये धातुशब्दा यत्रार्थे'
इति पत्रावलम्बनवाक्यस्य वेदराशिपरत्वात् । ननु वेदपदेनैव चरितार्थत्वे राशिग्रहणं ज्ञापयति
भाष्यादीनामपि तथैव भाष्योर्थः इति चेन्न । पडङ्गपरत्वेनैव चरितार्थत्वादिति । स्फुटमिति । अत
इत्यस्य स्वर्गाल्लोकादित्यर्थः । अनुत्तमेऽपि तत्र न विद्यते उत्तमं येभ्य इति बहुव्रीहिः । न च तत्पुरुषः
शङ्खः । तमपाकर्तुमेवाप्ये उत्तमेऽपि तत्र बहुव्रीहिफलितार्थकथनात् । इदं पूर्ववदनुत्तमेष्वित्येतयो-
र्व्याख्याने । लोकेष्वित्यस्य जनलोकादिष्वित्यर्थः । अत्रासाधारणब्रह्मधर्माभावात्पूर्वपक्ष इति भाष्ये
हेत्वोपेक्षितं पर्यन्तः पूर्वपक्षस्वरूपमाहुः अयमर्थ इत्यादिना । तस्यैवेति तस्य ज्योतिषो
दृष्टिर्दर्शनमेवा का यत्र यस्मिन्काले श्रुतिः श्रवणं श्रवणोपायः को यत्र यस्मिन् काले कर्णावपिगृह्याहु-
लीभ्यां पिपाय निनदमिव रथधोषमिव नदधुरिर्वर्षभङ्गजितमिवाग्नेरिव ज्वलत उप स्वान्तर्गतमेव शब्द-
मेतच्छ्रवणं यथा सात्तथा शृणोतीति श्रुत्यर्थः । दिवोर्वाग्नीति तादृशश्रुत्युक्तज्योतिषस्तु 'यदतः
परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते' इति दिवः परं दीपनमुच्यते इति भावः । गीतेत्यादि आदिपदेन
ज्योतिर्ब्राह्मणं 'ज्योतिर्दर्शनात्' इति सूत्रं च संगृह्यते । एवमेपेक्षितं पूर्यित्वाऽसाधारणब्रह्मपदं
ब्रह्मप्रकरणस्याप्युपलक्षकमिति सूचयन्तो हेतुभाष्यार्थमाहुः ब्रह्मेत्यादि । बर्हिंराज्येत्यादि ।
अयं न्यायः पूर्वतन्ने प्रथमस्य चतुर्थपादेस्ति तत्र 'बर्हिंलेनाति' 'आज्यं विलापयति' 'पुरोडाशं पर्यभि-

अत्रासाधारणब्रह्मधर्माभावात् पूर्वपक्षः । सिद्धान्ते तु चरणस्य ब्रह्मधर्मत्वमिति एतावानस्य महिमा, अतो ज्यायाश्च पूरुषः, पादोऽस्य सर्वा भूतानि

भाष्यप्रकाशः ।

करणन्यायेनात्र शास्त्रप्रसिद्धापेक्षया लोकप्रसिद्धेरेवात्र फलवत्त्वाच्च त्रिवृत्कृतं वा प्राकृतमेव तेज इह ग्राह्यम् । अघटमानो धर्मो द्युमर्यादत्वादिर्यः स तूपासनार्थः । किंच । यदि ब्रह्मैवात्रोपास्यत्वेनाभिसंहितं स्यात्तदाऽस्या उपासनायाश्चक्षुष्यः श्रुतो भवतीत्यल्पं फलं नोच्येत । अतः फलमपि वाक्यस्य तेजस्तात्पर्यकत्वगमकमतः प्राकृतं तेज एवात्रादरणीयमिति पूर्वपक्षः । सिद्धान्ते युक्तिमाहुः सिद्धान्ते त्वित्यादि । नन्विह कुत्र चरण उक्तो यस्य ब्रह्मधर्मत्वमुच्यत इत्यत आहुः एतावानित्यादि । तथाच यद्यप्यत्र नोक्तस्तथापि-वाक्यान्तर उक्तस्तस्य चैतस्य चैकवाक्यत्वमत्रशरणलाभ इत्यर्थः । कथमेकवाक्यतेत्याकाङ्क्षायां तामुपपादयन्ति

रश्मिः ।

करोति' इत्यत्र द्रव्यनामानो बर्हिंराज्यपुरोडाशशब्दाः श्रुताः ते शास्त्रज्ञैः संस्कृतेषु प्रयुज्यन्ते । असंस्कृतेषु जातिमात्रे कैश्चिदशास्त्रज्ञैस्तत्र तेषां किं संस्कारनिमित्ततो जातिवाचकतेति संशयः पीत्वादिबद्धश्रवात्त्वञ्च शास्त्रस्य याज्ञिकप्रसिद्धिः सार्वत्रिकी । अशास्त्रस्य म्लेच्छकतिपयसिद्धेर्बलीयसीति संस्कारनिमित्ततेति पूर्वः पक्षः । तेषां जातिवाचितेति सिद्धान्तः । नहि शास्त्रस्याः सर्वलोकस्थाश्च जातिमपहाय प्रयुज्यते । संस्कारं विहाय जातिमात्रे तु केचन प्रयुज्यते । यथा बर्हिषा यूपावटमवस्तुणातीत्यत्र संस्कारमन्तराप्यास्तरणमिति तेन जातिमेते न व्यभिचरन्ति । व्यभिचरन्ति तु संस्कारमतोन्वयव्यतिरेकाभ्यामिति । अत्र दृष्टान्तप्रपञ्चः कस्यचित् । पीलुशब्दं म्लेच्छा हस्तिनि हार्यां वृक्षविशेषे प्रयुज्यते । आदिशब्देन यवशब्दस्तं च दीर्घशक्रेष्वाः प्रियङ्गवादिषु म्लेच्छाः । आश्रवाः प्रस्तर इत्यश्रवाः वाक्यविशेषात् नृणविशेषः । आदिपदेन त्रिवृद्धिष्पवमानमित्यत्र त्रिवृच्छब्दस्य त्रैगुण्यं लोकसिद्धोः । वाक्यशेषाद्वाक्यात्मकेषु त्रिषु सूक्तेष्ववस्थितानां बहिष्पवमानात्मकस्तोत्रनिष्पादनक्षमाणां 'उपास्यै गायतां नरः' इत्यादीनामृचां नवकर्मथैस्तद्ददिति । ननु न न्यायोक्तिर्न साधीयसी जमिनीयन्यायमालाविस्तरेऽयं न्यायोन्वयापीत्युक्तेस्तस्यैवान्यत्र संचार इत्यस्यान्यत्रासंचारादितिचेन्न तस्यास्वमतत्वात् । फलेत्यादि फलपदं प्रयोजनवचनं तेनोपासनारूपप्रयोजनवत्त्वादित्यर्थः । त्रिवृद्धित्यादि तासां तेजोवन्नानां देवतानामेकैकान् द्विधा विभज्य पुनश्चकैकं भागं द्विधा कृत्वा तत्स्वभागादितरभागयोर्निक्षिप्य तन्निगुणरज्जुवन्नित्तं करवाणीति त्रिवृत्करणश्रुत्यनुसार्यर्थः परत्र । सिद्धान्ते तु रोहितशुक्लकृष्णरूपैस्त्रिधा भवनं पुरुषं प्राप्य त्रेधाभवनं च त्रिवृत्करणश्रुत्यर्थः । त्रिवृत्करणश्रुतिस्तु 'तासां त्रिवृत्तं त्रिवृत्तमेकैकां करवाणि' इति वाक्वाकाशयो रूपाभावात्पुरुषं प्राप्य त्रेधाभावाभावालोचनाच्च तेजोवन्नानि तावदिच्छापुरस्सरं परस्मादात्मनो जातानीति चोत्पत्तिमद्व्यवहर्तृप्राणिनाकायव्यवहारनिर्वाहकतदीयधर्माधर्मात्मककर्मापेक्षया तानि त्रिवृत्कृतानि न तु पञ्चीकृतानि । अत्रिवृत्कृतानि तु त्रिवृत्करणात्पूर्वाणि छान्दोग्ये श्वेतकेतुपाख्याने 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्युपक्रम्य 'तत्तेजोसृजत' 'तदपोसृजत' 'ता अन्नमसृजन्त' इति श्रुतिप्रोक्तानि । ननु यदतः परो ज्योतिर्दीप्यते इत्यवधिवाचकपञ्चम्या श्रुतस्य द्युमर्यादत्वस्य का गतिस्तत्राह अघटेत्यादि । एवं भाष्यं व्याख्याय शांकरभाष्यीयामपि युक्तिमाहुः किं चेत्यादिना । चक्षुष्य इत्यादि । चक्षुषे हित इत्यर्थः । तस्मै हितमित्यधिकारे शरीरावयवाघत् इति यत् । न तु चक्षुषा दर्शनीयः । सूत्राभावात् । श्रुतः विख्यातः । ब्रह्मधर्मत्वमिति हृदयब्राह्मणाद्दृश्यं ब्रह्म तस्य विधा धर्मः ज्योतीरूपस्तत्त्वम् ।

त्रिपादस्याऽमृतं दिवि' इति पूर्ववाक्यम् 'गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किंच' इति गायत्र्याख्यब्रह्मविद्यां वक्तुं तस्याः पादचतुष्टयं प्रतिपाद्य ब्रह्मणश्चतुष्पात्त्वमुक्तम् । पुरुषसूक्तेऽप्याश्रमचतुष्टयस्या जीवाः पादत्वेनोक्ताः । तथा प्रणवब्रह्मविद्यायामप्यकारोकारमकारनादवाच्याश्चत्वारः पादा विश्वतैजसप्राज्ञतुरीया उक्ताः । तद्विष्णोः परमं पदमिति च । ब्रह्म पुच्छमिति च । सत्यकामब्राह्मणे तु स्पष्टा एव

भाष्यप्रकाशः ।

गायत्रीत्यादि, सिद्धमित्यन्तम् । उक्तरीत्या तां ब्रह्मप्रतिपादकविद्यां वक्तुं यस्मात् तस्या भूतादिपादचतुष्टयं प्रतिपाद्य तदेतद्व्याप्यन्तकमिति तत्पदेन तदेव चतुष्पात्त्वं परामृश्य ब्रह्मणश्चतुष्पात्त्वमुक्तम् । यदि हि सा ब्रह्मविद्यात्वेन न विवक्षिता स्याद्वचैवं कथनं निष्प्रयोजनकं स्यात् । अत एव गायत्र्या ब्रह्मविद्यात्वेन प्रकरणस्य ब्राह्मत्वे सिद्धे, एकप्रकरणगतत्वेनैकवाक्यतेत्यर्थः । नन्वग्निमस्रैकदेशे प्रकरणस्य ब्राह्मताया आक्षेप्यमाणत्वेन संदिग्धत्वाच्च तावन्मात्रेणात्र ब्रह्मणश्चतुष्पात्त्वसिद्धिरिति हेतोः साध्यसमत्वमत आहुः पुरुषसूक्त इत्यादि । तत्र पुरुषं प्रकृत्य पठिते एतावानितिमात्रे श्रावितानां पादानां द्वितीयस्कन्धीये पुरुषसूक्तविवरणाध्याये,

'पादाह्वयो बहिश्चासन्नप्रजानां य आश्रमाः ।

अन्तस्त्रिलोक्यास्त्वपरो गृहमेधोऽवृहद्ब्रतः' ॥

इत्येनेन विवरणादाश्रमवदेहविशिष्टा जीवाः पादत्वेन सिद्धा इति तत्प्रत्यभिज्ञानादत्र ब्रह्मपादसिद्धिः । किंच । यद्येकत्रैव क्वचिद् ब्रह्मणः पादनिरूपणं स्यात् तदा कथंचित् संदिरश्मिः ।

भूतादीति भूतपृथिवीशरीरहृदयरूपं पादचतुष्टयमित्यर्थः । गायत्री वा इदं सर्वं भूतमिति या वै सा गायत्रीयं वा व सा येयं पृथ्वीति या वै सा पृथ्वीयं वा व सा यदिदमस्मिन् पुरुषे शरीरमिति । यद्वैतल्युरूपे शरीरमिदं वा व तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे हृदयमिति श्रुतिभिः । ऋकोक्तमिति 'तावानस्य महिमा ततो ज्यायाश्च पूरुषः । पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' इति ऋकोक्तमित्यर्थः । एवमिति पूर्वपरासृष्टार्थकथनाय इयं वक्ष्यमाणा ऋक् इत्यभेदकथनमित्यर्थः । एकवाक्यतेति एकार्थप्रतिपादकता । अग्निमेत्यादि 'छन्दोभिधानाच्चेति चेत्' इत्येकदेश इत्यर्थः । हेतोरित्यादि ब्रह्म चतुष्पाद् ब्रह्मप्रकरणादित्यत्र हेतोः साध्यतुल्यत्वं न सिद्धत्वमतो यत्र प्रकरणे ब्राह्मत्वमसंदिग्धं तत्स्वल्माहुरित्यर्थः । प्रकृत्येति 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' इत्येनेन । एतेनेति श्लोकार्थस्तूपदेशभेदाच्चेति चेदिति सूत्रे स्वयमेव वक्तव्यः । आश्रमेति आश्रमवन्तो देहविशिष्टा जीवा इत्यर्थः । तत्प्रतीति तावानित्युचि सर्वनाम्नास्तुसर्गतः प्रधानपरामर्शित्वेन यावत्सर्वनामशब्दैः पुरुषसूक्तोक्तार्थस्य प्रत्यभिज्ञानात् इमे पादाः इत्येवं तत् ईक्षाप्रकारकज्ञानविषयत्वाद्ब्रह्मपादसिद्धिः । न तु गायत्रीपादसिद्धिः । तस्याः शब्दात्मकत्वेनार्थपादत्वासंभवात् । एवं तावानित्यस्याः सिद्धे ब्रह्मपादनिरूपकत्वे 'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते' इत्यत्रापि पूर्ववाक्ये द्युसंचन्धित्वेन प्रसिद्धं ब्रह्मैव प्रत्यभिज्ञायते प्रत्यभिज्ञाविषयीक्रियते इति चतुर्थपादसिद्धिरित्यर्थः । ग्रन्थोत्थाधिक्यरूपं निग्रहस्थानं निराकुर्वन्ति स्म किं चेत्यादिना । कथंचिदिति ब्रह्मणो निग्रहत्वात् कथमंशरूपाः पादाः इति प्रकारेणेत्यर्थः ।

ब्रह्मणश्चत्वारः पादा निरूपिताः । अतः सच्चिदानन्दरूपस्य प्रत्येकसमुदायाभ्यां चतुरूपत्वम् । तत्र केवलानां कार्यत्वमेव । चतुर्थपादस्य तु ब्रह्मत्वम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

होतापि । अस्ति तु तद् बहुषु स्थलेष्विति बोधयितुमाहुः तथेत्यादि । तथाच माण्डूक्यादौ काठके तैत्तिरीये छान्दोग्यस्यसत्यकामब्राह्मणे च नानाप्रकारेण पादश्रावणान् ब्रह्मणश्चतुष्पात्वे संदेह इति न हेतोः साध्यसमत्वमित्यर्थः । ननु भवतु ब्रह्मणश्चतुष्पात्त्वं, तथापि ते चत्वारो न पशोरिवावयवाः कित्वांशा एव वाच्याः । तच्च न युज्यते, ब्रह्मणोऽनंशत्वादित्यत आहुः अत इत्यादि । यतो जन्माद्यधिकरणेषु ब्रह्मणस्त्रिरूपता, कार्यकारणभावो, विरुद्धधर्माधारत्वं रहिमः ।

यद्बहुषु स्थलेष्विति । एतेन विरुद्धधर्माश्रयत्वं फलित्यति ब्रह्मणः । माण्डूक्यादावित्यादि आदिपदेन ब्रह्मोपनिषच्च । तत्र मण्डूके 'अमित्येतदक्षरं सोयमात्मा चतुष्पात्' इति चोपक्रम्य ।

'बहिःप्रज्ञो विभुर्विशो ह्यन्तःप्रज्ञस्तु तैजसः ।

धनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्थितः' ॥

इति पादत्रयं संगृह्य तुरीयं परममृतमजं ब्रह्म यत्तन्नतोस्मीति तुरीय उक्तः । अथर्वशिखायां चतुष्पादे 'तदक्षरं परं ब्रह्म पूर्वास्य मात्रा पृथिव्यकारः द्वितीयान्तरिक्षमुकारः तृतीया धौमकारः चतुर्थ्यर्धमात्रा सा लुप्तमकार इत्यकारोकारमकारनादवाच्याश्चत्वारः पादा उक्ताः । नादसंज्ञो लुप्तमकार इति नारायणकृतटीकोक्तोर्थः । एतेन चतुर्थ्यर्धमात्रा सा सोमलोके इति शैवाचार्य-कल्पितोऽपपाठः परास्तः । अप्रसिद्धेः काव्यप्रकाशदृष्टोऽसोक्तदोषात् । काठके चतुर्थवह्याम् ।

'स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति ।

महान्तं विभुमात्मानं भवा धीरो न शोचति' ॥

इत्यत्र यथाकथंचित्साधनीयाः उभौ स्वप्नान्तजागरितान्तौ येनेति च्छेदः । अत्र स्वप्नान्तमित्यस्य स्वप्नमध्ये स्वप्नज्ञेयमित्यर्थात् स्वप्नसाक्षी तैजसो लभ्यते । एतद्वेदरूपसुषुप्तिसाक्षी प्राज्ञश्च लभ्यते जागरितमध्ये जागरितज्ञेयमिति विश्व उपलभ्यते । आत्मानमिति तुरीयक उपलभ्यते 'इन्द्रियैर्योप-लब्धिर्जागरितम्' । 'करणेषूपसंहृतेषु जागरितसंस्कारजः प्रत्ययः सविषयः स्वप्नः' । 'सर्वप्रकारक-ज्ञानोपसंहारो बुद्धेः कारणात्मनावस्थानं सुषुप्तिः' । 'ब्रह्मप्रकरणानुयो निरङ्कुशजगज्जन्मादिकर्तृत्वा-वच्छिन्नो वा तुरीयः' इति तैत्तिरीये शिक्षायां 'यश्छन्दसाश्रयः' इति चतुष्पादौः तात्पर्यवृत्त्या तु कामवर्षक इत्यन्यदेतत् । भाष्ये । तद्विष्णोरिति संहिताप्रथमाष्टके तृतीयप्रश्ने 'गमध्वे गावो यत्र भूरिशृङ्गा अयासः । अत्रा इ तदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदमवभाति भूरः' इति । 'विष्णोः कर्माणि पर्यत यतो व्रतानि पश्यते इन्द्रस्य युज्यः सखा' 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पर्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम्' इति । श्रुत्यर्थस्तु नित्यलीलावादे स्फुटः । प्रकृते । सत्येत्यादि । षष्ठप्रपाठक इदम् । तत्र नानाप्रकारेण 'ब्रह्मणश्च ते पादं ब्रवाणीत्युपक्रम्य प्राची दिक्कला प्रतीची दिक्कला दक्षिणा दिक्कलो-दीची दिक्कलैव वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः' इति । एवमेवाग्रे अग्निः कला सूर्यः कला चन्द्रः कला विद्युत्कलैव वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मण इति एवमग्रे प्राणः कला चक्षुः कला श्रोत्रं कला मनः कला इत्येवं नानाप्रकारेणेत्यर्थः । नेत्यादि तथा च चतुष्पादं ब्रह्म प्रकरणात् ज्योतिर्ब्रह्म चरणाभि-धानादिति ब्रह्मसिद्धमिति हृदयम् । अनंशेत्यादि निष्कलमिति श्रुतस्तथा । त्रिरूपतेत्यादि इदं

तत्रापि षड्विधत्वप्रतिज्ञानाद् भूतधिपृथ्वीशरीराणां परिचायकत्वेन षड्विधत्वमनिरूप्य हृदयस्य षड्विधत्वं निरूपयस्तस्य ह वा एतस्येत्यादिना पञ्च देवपुरुषास्त्रिरूप्य तेषां द्वारपालत्वज्ञानानन्तरम्, 'अथ यदतः परो ज्योतिर्दीप्यते'

भाष्यप्रकाशः ।

ष साधितमत एवं चतुरूपत्वादेवमंशाः सुखेन युज्यन्त इत्यर्थः । ननु भवतु ब्रह्मणश्चतुष्पात्त्वं तथाप्यत्र प्रकरणे सत्यकामब्राह्मणवत् कार्यरूपा एव भूतादयः पादा निरूप्यन्ते । तेषां च न ज्योतिर्वाक्याकाङ्क्षा । गायत्रीं प्रकृत्योक्तत्वात् । नापि ज्योतिर्वाक्यस्य तदाकाङ्क्षा । अथेति प्रकृतच्छेदात् । उभयप्राप्याकाङ्क्षोत्थापकपदाभावाच्च । यदि च तेषामृचा विवरणादपि च पुरुषपदाद्गायत्राणामपि तेषां ब्राह्मत्वं विभाव्यते, तदापि ऋचि ज्योतिर्वाक्ये च परस्परकाङ्क्षो-त्थापकपदाभावाच्च 'तयोरेकवाक्यता । तदभावे च प्रकरणैक्येन साधितमप्येकवाक्यत्वम-प्रयोजकमित्याकाङ्क्षायां तयोः परस्परकाङ्क्षां साधयितुमाहुः तत्रापीत्यादि । यत्र गायत्र्या-श्चतुष्पादात्त्वमुक्तं तत्रापि तस्याः षड्विधत्वप्रतिज्ञानादस्ति षण्णां विधानामाकाङ्क्षा । तत्र भूत-पृथिवीशरीराणां पादत्वेन प्रतीयमानानामपि पाणिप्रपदाङ्कुल्यादिवत् पादपरिचायकत्वमेव रहिमः ।

भिन्नं पदम् । अयमाशयः । जन्माद्यधिकरणे प्रपञ्चत्वेन ब्रह्मत्वेन कार्यकारणभावः सिद्धः । समन्वया-धिकरणेऽभिन्ननिमित्तोपादानत्वेन परीक्षितः । तेन विरुद्धधर्माधारता बोधिता । ईक्षत्यधिकरणे त्रिद्रोऽव्याप्तिः परिहृता प्रकृतिपरमाणादौ चातिव्याप्तिश्च । तेन चिदंशो ब्रह्मणि बोधितः सदंशस्य च कारणता बोधिता सदेव सोम्येत्युपक्रमात् । आनन्दमयाधिकरणे आनन्दे लक्षणयोजनेन तत्राव्याप्तिः परिहृता तेनानन्दांशो ब्रह्मणि बोधितः तेन त्रिरूपता बोधिता । एवं त्रिरूपताकार्यकारणभावः समवायित्वनिर्णायकधर्मकथनेन तृतीयधिकरणे विरुद्धधर्माधारत्वं च साधितमिति । अतो विरुद्धधर्मा-धारत्वात् प्रकरणैक्यप्रयुक्त एकवाक्यत्वेऽप्रयोजकत्वं शङ्कते नन्वित्यादि । तेषामिति कार्याणाम् । न ब्रह्मप्रतिपादकज्योतिर्ब्राह्मणाकाङ्क्षा ब्रह्मणो कार्यत्वादित्यर्थः । हेत्वनन्तरमाह गायत्रीमित्यादि । तथा च कस्यैते पादा इति संबन्धित्वेनापि न ब्रह्माकाङ्क्षेति भावः । अथेति भिन्नप्रक्रमवाचकेनाथेत्येवं पदेनेत्यर्थः । नन्वस्त्वनाकाङ्क्षा तथापि ।

'स्वार्थबोधे समासानामङ्गाङ्गित्वाद्यपेक्षया ।

वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते' ॥

इत्यङ्गाङ्गित्वापेक्षयैकवाक्यतास्तु इत्यपेक्षायामाहुः उभयत्रेत्यादि । नन्वस्ति तावदाकाङ्क्षो-त्थापकपदसत्त्वं तदेतद्वचाम्यनूक्तमिति श्रुत्या तदेतत्पदाभ्यामुक्तस्य पूर्वं निरूपितस्वर्गाकाङ्क्षोच्यते । ऋचि च पुरुषपदं पादसापेक्षमिति चेत्तर्हि अस्तु तत्रैकवाक्यत्वं विवक्षितस्थले तु नास्त्वैक्यमित्याहुः यदि चेत्यादिना । ऋचेत्यादि । सैषा चतुष्पादा षड्विधा गायत्रीति पूर्वमुक्तं तत्कथं षड्विधत्वमित्या-काङ्क्षायां वाच्यवाचकयोरेवमाश्रित्याकाङ्क्षा पूर्णयित्वाशयेन तेषां पादानामृचा तावानित्यादिकया विवरणादित्यर्थः । तर्ह्यस्तु तत्रैकवाक्यता विवक्षितस्थले तु नास्त्वैक्यमिहास्तदापीति । तदभाव इति परस्परकाङ्क्षोत्थापकपदाभाव इत्यर्थः । पादपरीति वक्ष्यमाणप्रकारेण गायत्र्याः सर्वमूलात्मकत्व-परिचायनाय भूतानां पृथिवीत्वेन संकोचः पृथिव्याः शरीरत्वेन शरीरस्य हृदयत्वेनैवं हृदयात्मक-

भाष्यप्रकाशः ।

न तु पादत्रयं, न वा तद्विधापूरकत्वमित्याशयेन तेषां षड्विधत्वमनिरूप्य हृदयस्यास्ति तथात्व-
मित्याशयेन हृदयस्य षड्विधत्वं निरूपयन् वक्ता तस्य ह वेत्याद्युक्तरीत्या पञ्चविधाज्ञाना-
नन्तरमधेति प्रकृतविच्छेदेन पूर्वोक्तविधाभ्यो ज्योतिषो वैलक्षण्यं बोधयंश्चतुर्थपादस्य षड्वि-
धत्वप्रतिपादनाहयन्लोपे पञ्चमीप्रतिपादनं कृत्वा, अतस्तृतीयपादस्य, अनेन प्रकारेण
चतुर्थपादेत्युक्तरीत्या तदेव ज्योतिरन्तःपुरुष उपसंहरति । तस्मात् पूर्वं मन्त्रेति पादस्येति कथनात्
पादत्रयमुपरि यतोऽतोऽत्र, तस्य ह वेत्यारभ्यान्तं विधानिरूपके वाक्ये चतुर्थः पादो निरूप्यत
इति सिद्धम् । तथाच षड्विधत्वप्रतिज्ञाया विधानिरूपणसाक्षात्त्वाद्द्विधोपपादनस्य चाकस्मिक्त्वा-
भावाय प्रतिज्ञासाक्षात्त्वाद्दुभयोरेकवाक्यत्वम् । अतः परं ऋगवशिष्यते । सापि चतुष्पदात्व-
षड्विधत्वप्रतिज्ञायोरनन्तरं तद्विवरणतयोक्तैति तच्छेषस्तस्मादुपपादनवाक्यात् पूर्वं च पठिता ।
तस्यां च त्रिपादस्याऽमृतमिति रीत्या पादत्रयं कण्ठत उपरितनलोकेष्वित्युक्तत्वाद्दस्ति चतुर्थ-
पादाकाङ्क्षा । चतुर्थश्च पादः सर्वभूतात्मको हृदयाधिष्ठानक इति तदधिष्ठानस्य हृदयस्य
ज्योतिर्वाक्यपर्यन्तेन विवरणादाकाङ्क्षा पूर्यते । विधियमाणपादविधानां च स्वाधारभूतपाद-
स्वरूपविवरणाकाङ्क्षा । सा च पादोऽस्य सर्वा भूतानीति भूतविवरणेन ऋचा पूर्यते । तथा
रश्मिः ।

पादपरिचायकत्वम् । निरूपयन्निति वेदान्तकृदिति भावः । ल्यब्रूलोप इति । अनुनासिकात्परोनुस्वारः
इत्यत्र यथा तयैत्यर्थः । कृत्वेति अत्र प्रतिपादनं विधायेति पाठः । अस्मिन् पाठे यद्यपि त्वः
प्रयोगैर्न क्वं तथापि ल्यब्रूलोपो नाम ल्यबन्तशब्दाज्ञाने प्रत्यासत्त्या ल्यबन्तधात्वर्थकर्मण्यधिकरणे च
पञ्चमीति शब्देन्दुशेखरे व्याख्यानात् । अन्त इति व्याख्येयमिदम् । अन्तःपुरुष इति अस्मिन्नन्तः-
पुरुषे ज्योतिरिति श्रुतेः । तस्मादित्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म तस्मादित्यादि । विषयवाक्यात्पूर्वमन्त्रे ।
पादत्रयमिति अनुकरणशब्दोयं त्रिपादिति श्रौतस्य तेन सुपां सुलुक् इत्यनेन त्रिपादित्यत्र ङसो
लुगव्याख्यातः । त्रिभिः पद्यत इति च तथा च त्रिपादोऽस्येत्यन्वयः । अर्धदषष्ठ्या त्रिपादभिन्नममृतं
क्षेममभयमित्युक्तं पादत्रयमित्यर्थः । गूढार्थोऽत्रे वाच्यः । अन्त इति चतुर्थपादाकाङ्क्षायाः सत्त्वादित्यर्थः ।
आन्तमिति अन्तमन्तःपुरुषे ज्योतिरिति वाक्यं तदभिव्याप्येत्यर्थः । हृदयपष्ठविधायां ज्योतिषि चतुर्थः
पादः इति भाष्यीयचतुर्थत्वं समर्थयितुं किञ्चिदाहुः तथा चेत्यादि । प्रतिज्ञेति षड्विधात्व-
प्रतिज्ञेत्यर्थः । भाष्ये । उपरितनेति ।

‘पादेषु सर्वभूतानि पुंसः स्थितिपदो विदुः ।

अमृतं क्षेममभयं त्रिमूर्त्तौऽघायि मूर्धसु’ ॥

इत्यनेनेकवाक्यतायै बहुवचनम् । पादत्रयमुपरितनलोकेषु, चतुर्थः सर्वत्रेति । प्रकृते ।
तच्छेष इति व्याख्यानस्य व्याख्येयार्थत्वेन पारार्थ्यादिति भावः । पारार्थ्यं शेषलक्षणम् । उपेत्यादि
तस्य ह वा एतस्य हृदयस्येत्यादिषु द्विधोपपादनवाक्यं तस्मादित्यर्थः । त्रिपादस्याभितीति भाष्ये
त्रिपाद, अस्य, अम्, कृतमिति पदच्छेदं मत्वोक्तम् । अत्र पक्षे संबन्धोऽभेदो बोध्यः । आकाङ्क्षेति
चतुर्थपादाकाङ्क्षा पूर्यत इत्यर्थः । सर्वभूतात्मक इति सर्वाणि भूतानीति पादस्य भूतरूपस्य
विवरणात् स च पृथ्वीरूपः पृथ्वी च शरीररूपा शरीरं च हृदयरूपमिति संकोच इति हृदय-
विधारूपचतुर्थपादो ज्योतीरूपः सर्वभूतात्मकः । हृदयं व्यवच्छेत्तुं विशिष्यन्ति स्म वीत्यादि ।
स्वाधारभूतेति एतादृशः पादो हृदयात्मा । भूतेत्यादि कारणे तृतीया । ऋचेति कर्त्तरि तृतीया ।

भाष्यप्रकाशः ।

ऋचि, दिवीति पदादत्र च परो दिव इति कथनाद्यच्च पुरुषपदेनोक्तः पादत्रयाधारो ज्योतिर्वाक्ये
प्रत्यभिज्ञायते । अतश्चतुर्थः पादोऽस्मिन् वाक्ये निरूप्यत इत्युक्त्वा सहाप्यस्यैकवाक्यत्वं
सिद्धमित्यर्थः ।

अत्रेदं बोध्यम् । अत्र गायत्रीमुपक्रम्य तस्याः सर्वभूतात्मकत्वं प्रतिज्ञाय तत्स्वरूप-
जिज्ञासायां, वाचै गायत्रीति तत्स्वरूपमुक्त्वा वाचः कथं गायत्रीत्वमित्यपेक्षायां सर्वभूत-
गातृत्वात्तत्रातृत्वाच्च गायत्रीत्वमुक्तम् । तर्हि तस्याः कथं सर्वभूतात्मकत्वमित्यपेक्षायां या
वै गायत्रीयं वा व सेत्यादिना तस्याः पृथिवीत्वं प्रतिपाद्य तेन रूपेण सर्वभूतधारकत्वात्
सर्वभूतत्वे समर्थिते, किं तत् सर्वं भूतं का च तद्धारिका पृथिवीत्यपेक्षायां तां शरीरत्वेन
संकोच्य शरीरं हृदयत्वेन संकोचयति । तत्र प्राणांश्च प्रतिष्ठापयति । तेन प्राणरूपाणि भूतानि
शरीरैकदेशहृदयात्मकपृथिवीरूपेण वाग्रूपा गायत्री धारयतीति प्रतिपाद्य तस्याः स्वरूपमाह ।
सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्रीति । तत्र वाग्रूपायाः कथं पृथिव्यादिरूपत्वं भूतधारकत्वं च ।
तथा पदशब्दोऽपि किं स्थानवाची, उत चत्वारि वाक्परिमिता पदानीति श्रुत्युक्तपरा पश्यन्ती-
मध्यमावैखरीति वागवस्थाचतुष्टयवाची वा पादवाची वेति संदेहवारणाय तदेतद्वचाम्य-
रश्मिः ।

पादत्रयेत्यादि पुरुषस्यावयवित्वेनावयवभूतपादत्रयाधारत्वमिति ज्ञेयम् । ज्योतिःपदेन
प्रत्यभिज्ञायते षड्विधात्वेनान्तिमत्वात्तुरीयपादेऽप्यत्र पर्यवसित्वा प्रधानं हृदयं तदिदं ज्योतिरिति
तथा । ननु ‘यदतः परः’ इतिविशेषणेन प्रथमपादभूतभूतादिनिविष्टपुरुषव्यतिरेकात् तत्कथं पुरुषो
ज्योतिरिति प्रत्यभिज्ञा तदिदं जलं सेयं दीपमालिका यथा । किं च । परस्य पुरुषरूपज्योतिषः
प्राज्ञतैजसतुरीयरूपत्वेपि शरीरपृथिवीहृदयरूपत्वं च कथमित्यतो गायत्री वा इदं सर्वमित्यारभ्य
य एवं वेद इत्यन्तस्य योर्थः सिद्धस्तं सिद्धान्ते आहुः अत्रेदमित्यादिना । अत्रेत्यादि
‘गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किं च’ इति ह्यन्तपदद्वयमत्रे संबध्यते । सर्वभूतेत्यादि
सर्वं भूतं गायति च प्रायते च या सा गायत्रीति श्रुतेरित्यर्थः । तर्हीति वाग्रूपत्ववेलायाम् ।
इत्यादिनात्रादिना ‘येयं पृथिव्यस्याः हृदीदं सर्वं भूतं प्रतिष्ठितमेतामेव नातिशीयते’ इति नातिशीयते
नातिवर्तेते यद्वा शिग् तनुकरणे शिनोति शिनुते इत्यर्थे वा शीयते इति छान्दसः । तामित्यादि
‘यद्वै तत्पुरुषे शरीरमिदं वा व तद्यदिदमस्मिन् तत्पुरुषे हृदयम्’ इति संकोचयतीत्यर्थः । तस्मिन्
हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता इति श्रुतेराहुः तत्रेत्यादि । एतेनातिदेशाधिकरणसंगतिरपि सूचिता,
प्रसङ्गरूपा । प्राणनिरूपणेन तदाधारहृदयं तन्निष्ठपुरुषो ज्योतिस्ताम्यामाभाराधेयभावसंबन्धः
सामानाधिकरण्यसंबन्धश्चेति संबन्धित्वात् । एकसंबन्धिज्ञानमपरसंबन्धिस्मारकमिति स्मृतस्योपेक्षानर्हत्वं
प्रसङ्गसंगतिः । चत्वारिीत्यादि ‘चत्वारि वाक्परिमितानि पदानि तानि विदुर्नाक्षणा ये मनीषिणः
गुहायां त्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति’ इतिश्रुतिः । एतदर्थस्तु वाचः
परिमितानि वाक्परिमितानीति षष्ठीतत्पुरुषः । वागित्यत्र ङसः स्वादेशो वा । परिमितानीत्यस्य
शास्त्रनिर्णीतानीत्यर्थः । पदान्यवस्थाविशेषरूपाणि । ताश्चावस्थाः परापश्यन्तीमध्यमावैखरीरूपाः ।
मनीषिणोऽप्यात्मकुशलाः । तेषां मध्ये त्रीणि गुहायां शरीरे आधारनाभिहृदयेषु निहितानि ।
नेङ्गयन्ति न जानन्ति । तुरीयं वैखर्याख्यं मनुष्या वदन्ति मनुष्याणां वदने वर्तमानोर्थबोधकः

इति चतुर्थपादस्य षष्ठविधत्वप्रतिपादनात् । अतश्चतुर्थपादे पञ्चपुरुषास्ततः परो दिवोज्योतिः षष्ठस्तस्यैव सर्वत्र दीप्यमानत्वं निरूप्य तदेवान्तःपुरुषे उपसंहरति । तस्मात् पूर्वं 'त्रिपादस्याऽमृतं दिवि' इत्युक्तत्वादस्य त्रिपात्संबन्धि अमृतमुपरितनलोकेष्विति । अतोऽत्र चतुर्थः पादो निरूप्यत इति सिद्धम् ।

अतः पादः प्राणो ब्रह्मधर्मत्वाज्योतिषो ब्रह्मत्वमिति ।

भाष्यप्रकाशः ।

चूकमिति प्रतिज्ञाय ऋचा विश्वतम् । यावान् सर्वभूतात्मकत्वादिरूपोऽर्थः पूर्वमुक्तस्तावान् अस्य गायत्रीनाम्नः पुरुषस्य महिमा साहात्म्यं विभूतिः । तत उक्तरूपान्महिम्नः पुरुषो ज्यायान् अधिकः । पूर्वोक्तं कथमस्य महिमैत्यत आह पादस्येत्यादि । यथा चोक्तरूपस्य सर्वस्यैतत्पादरूपत्वान्महिमतम् । तत एव च पुरुषस्य ज्यायस्त्वम् । एतेन पदशब्दार्थोऽपि निर्णीतः । पादा एव पदशब्दवाच्या इति । एवं चार्थरूपपादबोधनेन गायत्र्या वायूपत्वं निवारितम् । तेन पुरुषस्य गायत्रीवाच्यत्वाद् गायत्रीत्वम् । तेन वायुपाया गायत्र्यास्तद्विधात्वमित्यपि साधितम् । ततः पुरुषः को वेत्यपेक्षायाम् तं पूर्वोक्तपार्थिवशरीरवतः पुरुषाद् व्यावर्तयितुं यद्वैतद् ब्रह्मेत्यारभ्य, योऽयमन्तर्हृदय आकाश इत्यन्तेन तत्स्वरूपमाह । तेन मन्त्रे पुरुषत्वेन यदुक्तं तद् ब्रह्म आकाशो, न तु शरीरी पुरुष इत्युक्तम् । तत आधेयस्य कथं महिमाधारत्वमित्यतस्तथात्वं साधयितुं तस्य व्यापकत्वं तदुपासनं तत्फलं चाह । तदेतत्पूर्ण-

रश्मिः ।

शब्दो भवतीत्यर्थः । ऋचेति तावानित्यादिकया । निवारितमिति अन्यथा परापश्यन्तीमध्यमा-
वैखर्याख्यपादचतुष्टयं वदेदिति भावः । किरूपत्वं तस्या इत्यपेक्षायाम् पुरुषो ज्योतिरिति प्रत्यभि-
ज्ञानुसारेण वाच्यवाचकयोरभेदोक्तयाराद्ब्रह्मरूपत्वमित्याहुः तेनेत्यादिना ग्रन्थेन । चन्द्रेत्यादि
ऋक् समनन्तरमेव यद्वैतद्ब्रह्मेतीदं वा व तद्योगं बहिर्धा पुरुषादाकाशो यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाशोयं
वा व स योयं अन्तःपुरुष आकाशो यो वै सोन्तःपुरुष आकाशो यं वा व स योयमन्तर्हृदय
आकाश इत्यन्तेन वाक्येन । बहिर्धेत्यस्य बहिरित्यर्थः । आकाशस्याधिभौतिकादिभेदेन त्रिधा निरूपणं
ज्ञेयम् । तेनाकाशस्तल्लिङ्गादित्यधिकरणेनावसररूपा संगतिरुक्ता । तदेतदित्यादि तदेतत्पूर्णम-
प्रवृत्तिपूर्णमप्रवर्तिनी श्रियं लभते य एवं वेद इत्यनेनेत्यर्थः । अप्रवर्तीत्यस्य न कुतश्चित्प्रवर्तितु-
मुत्पत्तिं प्राप्तुं शीलमस्येत्यर्थः । अप्रवर्तिनीमित्यस्याविनाशिनी कल्पस्यायिनीमित्यर्थः । इत्यादिनेत्यत्र
आदिना पञ्च देवसुषयः स योस्य प्राक् सुषिः स प्राणस्तच्चक्षुः स आदित्यस्तेजोऽन्तर्हृदयमित्युपासीत
ततेजस्यज्ञादो भवति य एवं वेदाय योस्य दक्षिणः सुषिः स व्यानस्तच्छ्रोत्रं स चन्द्रमास्तदेतन्मूर्ध्नि
यशश्चेत्युपासीत श्रीमान् यशस्वी भवति य एवं वेदाय योस्य प्रत्यक् सुषिः सोऽपानः सा वाक्
सोमिस्तदेतद्ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यमित्युपासीत तद्ब्रह्मवर्चस्यज्ञादो भवति य एवं वेद । अथ योस्योदक्
सुषिः स समानस्तन्मनः स पर्जन्यस्तदेतत्कीर्तिश्च व्युष्टिश्चेत्युपासीत कीर्तिमान् व्युष्टिमान् भवति
य एवं वेदाय योस्योर्ध्वसुषिः स उदानः स वायुः स आकाशस्तदेतदोजश्च महश्चेत्युपासीतोऽजस्वी
महस्वान् भवति य एवं वेद ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपाः स य एतानेवं
पञ्च ब्रह्मपुरुषान् स्वर्गस्य द्वारपान् वेदास्य कुले वीरो जायते प्रतिपद्यते स्वर्गं लोकं य एतानेवं पञ्च
ब्रह्मपुरुषान् स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान् वेदेति श्रुत्या निवेशयतीत्यर्थः । अत्र प्राक् सुषिश्च ।

भाष्यप्रकाशः ।

मित्यादिना । ततः कास्तद्विधा इत्यपेक्षायाम् तस्य ह वा एतस्य हृदयस्येत्यादिना पञ्चप्राणा-
निन्द्रियाणि तदेवांश्च द्वारपालकोटौ निवेशयति । पृष्ठेन ज्योतिषा च षट्संख्यां पूरयति ।
तेनैते षडपि विधाः । एतद्व्यतिरिक्तः प्राणविद्यायां, प्राणो हि पिता प्राणो मातेति प्रसिद्धो
जीवात्मकः प्राणः पाद इति सिद्ध्यति । सोऽपि न विविक्तः किंतु शरीरविशिष्ट इति तद्वि-
शिष्टानां जीवानां पादत्वं, तस्य च मुख्यं स्थानं हृदयं, विधाश्च तत्रैव भूयस्य इति हृदयमपि
पाद एव निविशते । ज्योतिश्चात्र हार्दमेव यदाकाशशब्देनोक्तं, हृद्यन्तज्योतिरिति श्रुत्यन्तराद्यं ।
अतः पूर्वोक्तरीत्या एकवाक्यत्वं निष्प्रत्य्यूहमित्यर्थः ।

यत्तु केचित् पुरःस्फूर्तिकमालम्ब्य गायत्र्या भूतपृथिवीशरीरहृदयमेदेन चतुष्पात्वं,
तस्या वायूपत्त्वकथनाद् हृदये प्राणानां चोक्तत्वात् तदुभयसहितानि तानि भूतानि संख्यायां
निवेश्य तैः षडभिर्गायत्र्याः षड्विधत्वं व्याख्याय, इदं यावदुक्तं तावानस्य महिमा विकार-
स्ततो ज्यायान् पुरुषो महान् विकारोऽस्य पुरुषस्य सर्वाणि भूतानि पूर्वं गायत्र्यात्मनोक्तान्येकः
पादोऽस्य गायत्रीब्रह्मणस्त्रिपाद् अमृतं दिवि द्योतनवति स्वात्मन्यवस्थितमित्येवं मन्त्रं व्याख्याय
तस्य गायत्र्यवच्छिन्नस्य ब्रह्मणो हृदयाकाश उपास्यत्वं च व्याख्याय तत उपास्यत्वंभूतं
पञ्चद्वारपालोपसानं च व्याख्याय गायत्र्युपाधिकस्य हृद्युपास्यत्वेनोक्तस्यैव कौश्लेयज्योतिः-
प्रतीकत्वेनोपासनम् 'अथ यदतः परो दिवः' इत्यादिना विधीयते । अत्र चाथशब्दो
विद्यान्तरोपक्रमार्थं इत्याहुः ।

रश्मिः ।

सुषिर्द्विद्रुम् । अस्तेति हृदयस्य । कीर्तिः परोक्षख्यातिः । व्युष्टिर्परोक्षख्यातिः । एते इति
पञ्च द्वारपाला ज्योतिश्चेत्येत इत्यर्थः । तेन प्राणरूपाणि भूतानि इत्यादिस्वोक्तसंदिग्धत्वात् प्रपञ्चयन्ति
एतद्भवतीत्यादिना । प्रसिद्ध इति पितृत्वमातृत्वे जीवानां प्रसिद्धे ईश्वरस्य तु पिताहमस्य जगतो
मातेति न प्रसिद्धे । किंत्वित्यादि । पितृत्वमातृत्वयोः शरीरिधर्मत्वादिति भावः । धातृपितामह
समभिव्याहारात् । भूयस्य इति षडधर्मा इतिसंख्यातात्पर्यात् । हृदयमिति 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ
हि तदर्शनात्' इति सूत्रादौ । निविशत इति तथा चाश्रमवदेहविशिष्टा जीवाः पाद इति
तथेति भावः । ज्योतिरित्यादि 'योयमन्तर्हृदय आकाशः' इत्यत्राकाशशब्देनोक्तं यद्दार्दमाकाशं
ज्योतिर्ब्रह्मैवेति योजना । ज्योतिश्च चकारेण पंचसुषयो जीवाः हृदयं हृदि अयमिति च्छान्दोग्य-
व्युत्पत्तेस्ततो ज्योतिः षष्ठीविधा । अत्र योयमिति श्रुतौ जीववद्दार्द 'द्वौ सुषणौ भवतः' इति श्रुतेः
परं तु ज्योतिर्न सुषिः हृदये आकाश इति हृदि अयं जीवस्तत्समीपे आकाश इति आत्मासनं
काशः । वर्णलोपः । काश्च दीप्तौ आसमन्तात् काशत इति वा । सुषयस्तु न काशन्ते । आकाशशब्दस्य
ज्योतिःसामानाधिकरण्ये श्रुतिं प्रमाणयन्ति स्म हृद्यन्तरिति । अत इत्यादि उपपादनात् ।
भाष्योक्त 'तावानस्य महिमा' इत्यादिरित्या ऋग्विषयवाक्ययोरैकवाक्यत्वं निष्प्रत्य्यूहमिति । 'निःप्रत्य्यूहो
महान् भोगः' इत्याचार्यप्रयोगात् । इत्यर्थ इति इदमेव वाक्यत्वं निःप्रत्य्यूहं निरूपसर्गं इति निष्कृष्टेयौ
बोध्यः । इति लिङ्गव्यत्ययेनान्वयः । अर्थपदाभावे तु सुषुन्चय इति ज्ञेयम् । स्वोक्तं व्याख्यानां
दृढीकर्तुं शांकरव्याख्यानमुपक्षिपन्ति यत्त्वित्यादि 'अङ्गं प्रती कोऽवयवः' इति कोशात् प्रतीकोवयवः ।

भाष्यप्रकाशः ।

तन्मन्दम् । पुराणोपबृंहितश्रुत्युपलब्धेन व्याख्यातप्रकारेण पादानां विधानां च विवेकसिद्धावेवं सांकर्येण पादविधयोर्व्याख्यानस्यासंगतत्वात् । उक्तपुराणश्रुत्योरेवंविरोधेनैव मन्त्रव्याख्यानस्याप्यसंगतत्वात् । अथ योऽस्य दक्षिणः शुपिरित्यादावप्यथशब्दस्य सत्त्वेऽपि तत्र न विद्याभेदकत्वम्, 'अथ यदतः परः' इत्यत्र विद्याभेदकत्वमित्यत्र बीजानुपलम्भाद् अङ्गोपास्तिभेदप्रायपाठविरोधाच्चेति । एवमेकवाक्यतामुपपाद्य सिद्धमाहुः अत इत्यादि । अत एव ।

रश्मिः ।

दूषयन्ति स्म तन्मन्दमित्यादिना पुराणेन 'पादेषु सर्वा भूतानि पुंसः' इति श्लोकद्वयात्मकेनोपबृंहिता या श्रुतिः ।

'तावानस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पूरुषः ।

पादोस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' ॥

त्रिपादोऽर्धुद्वैत्पुरुषः पादोऽस्मेहाभवत्पुनः' इतिपुरुषसूक्तस्था तदुपलब्धेन प्रकृतश्रुतिव्याख्यानप्रकारेणेत्यर्थः । प्रकारपदं ज्ञापयति ह्यपरस्यापि मायावादप्रकारस्य पुराणान्तरः उपग्रन्थोस्तीति कृष्णवाक्यानुसारित्वं सिद्धान्ते उक्तर्कः । अयमर्थः । पुराणेन वेद उपलब्धव्यो न युक्त्या । केवल्युक्तीनां तर्काप्रतिष्ठानसूत्रे प्रत्याख्यानात् तदपेक्षया पुराणस्य महत्त्वात् । तत्र च पादेषु च भूर्भुवः सुवो महर्लोकस्था व्यष्टिजीवाः प्रथमः पादः । जनलोकस्था ब्रह्मचारिणो व्यष्टिजीवा द्वितीयः पादः । तपोलोकस्था वानप्रस्थाः व्यष्टिजीवास्तृतीयः पादः सत्यलोकस्थाः संन्यासिनो व्यष्टिजीवाश्चतुर्थः पादः । एतदनुसारेण पुरुषसूक्ते पाद इत्यत्र सुपां सुः पादा इत्यर्थः । तथा च पुराणे साधिष्ठानानां जीवानां पादत्वं पुरुषसूक्तेपि विश्वा भूतानीति साधिष्ठानानामेव तेषां तत्त्वमित्यत्रापि भूतपृथिवीशरीरपरिचायितहृदयस्थानं तस्य ह वेत्यादिनोक्तानां जीवानां पादत्वं तेषामेव च पञ्चपुरुषाणां ज्योतिषश्च षड्विधात्वमिति सिद्ध्यति । इति पादानां विधानां च विवेकसिद्धावित्यर्थः । पादयोरिति वाक्प्राणौ निवेश्य पादयोश्चतुष्पदाषड्विधयोर्व्याख्यानस्येत्यर्थः । तथा च सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्रीति वाक्यं न पादानुवादकं तत् षड्विधात्वानुवादकं च किं तु प्रतिज्ञावाक्यम् । पादतद्विधानां प्रतिपादकं तु तस्य ह वा इति वाक्यमिति हृदयम् । एवं तदुक्तपादान् दूषयित्वा तावानिति मन्त्रव्याख्यानं दूषयन्ति स्म उक्तपुराणेत्यादिना । न च पुरुषपदं पुरुषावतारवाचकं तथा वाक्येपि पुंसः इति पदं पुरुषावतारपरमिति शङ्कम् । 'तस्माद् विराड्-जायत विराजो अधिपुरुषः' इति तस्य तत्कार्यश्रावणात् । अतः 'पुरुषात्र परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः' इतिश्रुतेरत्र परमकाष्ठापन्नवस्तु पुरुषपदाभिधेयम् । न तु विकृतः पुरुषः । एवं पुराणवाक्ययोरपि पुरुषसूक्तविवरणात् स एवार्थः । किं च पुराणे व्यष्टिजीवाः पादेषु व्याख्याताः । अत्र तु सर्वाणि भूतानि तेजोवन्नादीनि सस्याधराणि जङ्गमानि गायत्र्यात्मनोक्तान्येकः पादोतो विरोधेनेत्यर्थः । गायत्र्युपाधिकसेत्यादिनोक्तं दूषयन्ति स्म अथ य इत्यादि । नन्वङ्गोपासनातः कौक्षेयज्योतिरुपासनस्य भेदसाधनाय तथाव्याख्यायत इति चेत्त्राहुः अङ्गोपास्तीत्यादि । अङ्गोपास्तिभेदे प्रायपाठविरोधोऽङ्गोपास्तिभेदप्रायपाठविरोधः सुप् सुपेतिमासः । तथा सतीति सामानाधिकरण्यात् सप्तमी । असमस्तपाठोत्र भाति । द्वारपालोपासनेऽङ्गोपास्तित्वं त्वविरुद्धम् ।

भाष्यप्रकाशः ।

मृगवाक्ययोरपि परस्परकाङ्क्षासत्त्वेन पादानां ब्रह्मधर्मत्वाज्योतिषो ब्रह्मत्वं सिद्धमित्यर्थः । अत्रैतद्विषयम् । मन्त्रे, 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि' इत्यत्र, 'क्षरः सर्वाणि भूतानि' इति गीतोक्तः क्षरः पुरुषो जीवसमष्ट्यात्मको यद्यपि वक्तुं शक्यते । किंच 'हृद्यन्तर्ज्योतिःपुरुषः' इति श्रुत्या जीवस्य हृदयं स्थानं, तद्विराड्जीवस्य खलोकः 'हृदा खलोकः' इति द्वितीयस्कन्धात् । अत्र च खलोकस्य द्वारपान् वेदेति तत्प्रत्यभिज्ञानात् । तथापि मन्त्रे, त्रिपादस्याऽमृतं दिवीति विशेषकथनात् पुरुषसूक्तविवरणाध्याये च तेषामाश्रमत्रयसत्त्वेन व्यष्टितया निगमनात्, पादोऽस्येत्यत्रापि व्यष्टिजीवा एव ग्राह्याः । अन्यथा त्रिपादित्यादेर्विरोधापत्तेः । एवं सिद्धेऽत्रत्यानां सर्वभूतानामुपरितनानां च व्यष्टिजीवत्वे तेषां सर्वेषां हृद्यन्तरिति श्रुत्या हृदयमेव स्थानमिति तस्यैकत्र षड्विधत्वेऽन्यत्रापि तथात्वमिति ब्रह्मपादानां गायत्रीपादतुल्यत्वं तद्विधानां च गायत्रीविद्यातुल्यत्वं भवति । एवं सति यथा प्रणवविद्यायां ब्रह्मणः पादसंख्यापूरकत्वं तथास्यां गायत्रीविद्यायां विधासंख्यापूरकत्वम् । एवमत्र चरणानां ब्रह्मधर्मत्वात् प्रकरणस्य ब्राह्मत्वे सिद्धे शब्दमात्रस्य ब्रह्मण्येव मुख्यवृत्तत्वात् । 'तमेव भान्तम्', 'यदादित्यगतं तेजः' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिर्दीपनात्मकस्य तेजोलिङ्गस्यापि ब्रह्मण्येव समन्वयात् 'अहं वैश्वानरो भूत्वा' इतिगीतां-वाक्येन जाठरधर्मस्योष्णिमादेरपि तत्र समन्वयात् । द्युमर्यादत्त्वेत्यापि ब्राह्मणश्रमणन्यावेनाधिक्य-बोधनार्थत्वात् । चक्षुष्यः श्रुतो भवतीति फलस्यापि भगवदीयत्वेन दृश्यो विख्यातश्च

रश्मिः ।

इति न दूषितम् । ऋगवाक्ययोरिति तावानित्यस्य विषयवाक्यस्य च । न हि खल्ववववाचकपद-स्यावयवावाचकत्वं प्रसिद्धम् । अतश्चरण इत्युक्ते पुरुषस्याग्रहणात्कथमत्र ब्रह्मज्योतिरित्याहङ्गां प्रकरणस्य ब्राह्मत्वं साधयन्तोऽपनयन्ति स्म अत्रैतदित्यादिना । वक्तुमिति पादत्वेन वक्तुम् । श्रुत्यापि जीवसमष्ट्यात्मकत्वं पादस्य संभवतीत्याहुः किं चेत्यादिना । तत् स्थानमित्यर्थः । हृदेत्यादि ।

'मूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकस्य नाभितः ।

हृदा खलोक उरसा महर्लोक महात्मनः' ॥

इत्युक्तकल्पितपदेनान्वयः । ननु प्रकृतश्रुतौ खलोकः कुत्र प्रत्यभिज्ञातः इत्यत आहुः अत्र चेत्यादि । तथा च श्रुतावपि पुरुषो जीवसमष्ट्यात्मको वक्तुं शक्यत इति भावः । अन्यथेति ग्रहणे जीवसमष्ट्यात्मकपुरुषप्रकारे सति । एवमिति त्रिपादित्यादेरविरोधचिन्तनप्रकारेण । ननु सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्रीति गायत्र्याः पादानां षड्विधत्वं न तु ब्रह्मणः पादानां तथात्वमित्याहङ्गायां तत्र तस्यातिदेश इत्याहुः तस्यैकत्रेत्यादिना । अन्यत्रेति प्रणवादिविद्यायामपि पादस्य षड्विधत्वमित्यर्थः । पादसंख्येत्यादि । 'तुरीयं परममृतमजं ब्रह्म' इति श्रुतेः । विद्येत्यादि ज्योतीरूपस्य ब्रह्मण इत्यर्थः । एतावता प्रकरणस्य ब्राह्मत्वं साधितमतः परं ज्योतिषो ब्रह्मवाचकत्वं साधयितुं पूर्वपक्षोदितदोषान् दूरीकुर्वन्तो हेतूनाहुः शब्दमात्रस्येत्यादिना । अन्तिमपादत्वात् ह्यभिधावृत्तिर्ज्योतिःपदस्य ब्रह्मणीति सिद्धम् । ब्राह्मणश्रमणेत्यादि ब्राह्मणश्रमण-श्रमशीलशब्दत्सुकृष्टः इति न्यायेन । एवं ब्रह्मणोपि व्यापकरूपस्य तेजसो द्युमर्याददीपनाश्रयत्वादि-रुद्धधर्माश्रयत्वादत्युक्तकृष्टमित्यर्थः । भगवदीयत्वेनेति उपक्रमे 'अभिलेखेत्तदक्षरमुद्रीयमुपासीत' इति द्युमर्यादे च 'आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि संपतिष्ठाप्य' इति निरोधलक्षणप्रत्योक्तिरितिद्वन्द्वानुक्रमोप-

ब्रह्मधर्मनिर्णयार्थमिदमधिकरणं चरणानामौपचारिकत्वव्यावृत्त्यर्थम् । एत-
न्निर्णयेन प्रणवादिविद्या निर्णीता वेदितव्याः ॥ २३ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

भवतीत्याकारकत्वात् । 'अपवर्गमात्यन्तिकं परमपुरुषार्थमपि स्वयमासादितं नो एवाद्रियन्ते
भगवदीयत्वैवैव परिसमाप्तसर्वार्थाः' इति पञ्चमस्कन्धोक्तरीत्या तस्य महाफलत्वात् । 'वसन्ते
ज्योतिषा यजेत', वाचैत्र ज्योतिषेत्यादिश्रावणेन ज्योतिःपदस्य तेजोमात्रवाचकत्वाभावाच्च
ज्योतिषो ब्रह्मत्वमिति हृदयम् । एवं सिद्धान्तमुक्त्वा, तद्धर्मोपदेशाधिकरणेनास्य गतार्थताशङ्कां
परिहरन्ति ब्रह्मेत्यादि । तथाच तत्र हेतोः सिद्धत्वेनात्र तु साध्यत्वेन फलमेदान्न गतार्थ-
तेत्यर्थः । ननु ब्रह्मप्रतिपत्तिरूपस्य फलस्याऽन्यथापि सिद्धेः का हेतुसाधनावश्यकतेत्यत आहुः
एतदित्यादि । पादनिर्णयेन पादवत्योऽन्या अपि विद्या निर्णीताः स्युरित्येतदर्थं तदा-
वश्यकतेत्यर्थः ॥ २३ ॥

रश्मिः ।

संहाराभ्यामर्थनिर्णयादुक्तमेतत् । तस्य महेत्यादि संपद्याविर्भावधिकरणन्यायेन प्राप्तं शरीरं यस्य
तस्य दर्शनीयत्वं व्याख्यातत्वं च भगवदीयत्वेनेति महाफलत्वमित्यर्थः । इत्यादीति ह्यत्रादिपदेन
मनोज्योतिर्जुपतामित्यस्य संग्रहः । हेतोरिति धर्मरूपस्य । साध्यत्वेनेति हेतुत्वेनोक्तश्रवणाभिधां
गायत्रं ब्राह्मं वेति संदेहात्साध्यत्वेनेत्यर्थः । ननु ब्रह्मेति औपचारिकत्वव्यावृत्त्या चरणानां
ब्रह्मप्रतिपत्तिरूपस्य फलस्य । अन्यथेति तुरीयचरणचरमत्वादिति हेतुप्रकारेणापि सिद्धेः ।
हेतुसाधनेति हेतौ ब्राह्मत्वसाधनावश्यकतेत्यर्थः । नन्वन्तस्तद्धर्माधिकरणेनैकान्तरितश्रुति-
विचारोपि कृतः ।

'स्युतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानश्चतुष्टयम् ।

एतैरादित्यमण्डलं सर्वैरेव विधास्यते' ॥

इत्यारणात् । अत्र तु चरणानां ब्रह्मधर्मत्वोक्त्या प्रकाशाश्रयवद्वेति सूत्रोक्तब्रह्मधर्मभिदाय
प्रतिबन्धकं चरणौपचारिकत्वं तद्व्यावृत्त्यर्थं विचारः कृतः इति फलमेदः कुतो नाद्यत इति चेन्न ।
अस्यार्थस्यैव ननु ब्रह्म इत्यादिभाष्यविभागेनोक्तत्वात् । विद्या इति । ताश्च 'सर्वासामविरोधः सामान्य-
तदभावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम्' इति तार्तीये सूत्रे शंकरभाष्ये प्रसिद्धा भाष्यविभागे प्रपञ्चिताश्च ।
इत्यर्थं इति तथा चैष सूत्रार्थः । ब्रह्म ज्योतिःशब्दवाच्यं चरणाभिधानात् । चरणप्रत्यभिज्ञानादिति ।
चरणप्रत्यभिज्ञानं त्वेवम् । अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यत इत्यत्र सर्वनामत्वेन प्रसिद्धार्थवाच-
केन यच्छब्देन तावानिति पूर्ववाक्ये शुसंबन्धित्वेन प्रसिद्धं ब्रह्मात्रापि शुसंबन्धात्प्रत्यभिज्ञायत इति ।
अत्रेदं विज्ञेयम् । ज्योतिषो ब्रह्मत्वमित्यनेन ब्रह्मधर्मनिर्णयार्थमिदमधिकरणमिति भाष्यं विरुध्यते ।
ज्योतिःपदस्याभिधावृत्तौ ब्रह्मणि सत्त्वात्, ज्योतिःपदस्य चरणे वृत्त्यभावात् । तत्कथं ब्रह्मधर्मनिर्णय
इति । उच्यते । चरमस्य धर्मिवाचकत्वेपि धर्मिवाचकत्वस्य तुरीयं परममृतमजं ब्रह्मेत्यादौ दृष्टत्वात्
चरमचरणवाचकत्वमपि ज्योतिःपदसेति । त् च युगपद्दृष्टिद्वयविरोध इति वाच्यं, अमुष्य वस्तुन
एव तथात्वादिति ॥ २३ ॥

छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदात्

तथा हि दर्शनम् ॥ २४ ॥

ननु नात्र ब्रह्म चतुष्पाभिरूपितं किंतु गायत्रीछन्दः । 'गायत्री वा इदं
सर्वं यदिदं किंच' इत्युपक्रम्य तामेव भूतपृथिवीशरीरहृदयभेदैर्व्याख्याय, 'सैषा
चतुष्पदा षड्विधा गायत्री । तदेतदृचाभ्युक्तं, एतावानस्य महिमा' इति । तस्यामेव
व्याख्यानरूपायां गायत्र्यामुदाहृतो मन्त्रः कथमकस्माद् ब्रह्म चतुष्पादभिद-
ध्यात् । यद्दे तद् ब्रह्मेति ब्रह्मपदमपि छन्दसः प्रकृतत्वात् तत्परमेवावगन्त-
व्यम् । शब्दस्यापि ब्रह्मवाचकत्वसिद्धेर्ब्रह्मोपनिषदिति वच्छब्दब्रह्मेति च । तस्मा-
च्छन्दस एव पादाभिधानान्न ब्रह्मधर्माः पादा इति चेन्नैव दोषः । तथा
चेतोऽर्पणनिगदात् । तथा तेन द्वारेण चेतसोऽर्पणं निगद्यते । 'गायत्री वा इदं
सर्वं यदिदं किंच' इति । न हि वर्णसमाज्ञायरूपस्य सर्वत्वमनुपचारेण संभवति ।
यथा सूचीद्वारा सूत्रप्रवेशस्तथा गायत्रीद्वारा बुद्धिस्तत्प्रतिपाद्ये ब्रह्मणि प्रविशे-
दिति । कुत एतदेवं प्रतिपाद्यत इति, तत्राह । तथा हि दर्शनम् । तथा तेनैव
प्रकारेण दर्शनं ज्ञानं भवति । स्थूला बुद्धिर्नाह्यैव ब्रह्मणि प्रविशेदिति । एतेन

भाष्यप्रकाशः ।

छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदात्तथा हि दर्शनम् ॥ २४ ॥
आक्षेपांशं व्याकुर्वन्ति नन्वित्यादि । अकस्मादिति तात्पर्यलिङ्गोपष्टम्भं विना । तथाचोपक्रमस्य
तात्पर्यलिङ्गत्वादसंजातविरोधत्वेन प्रबलत्वाच्च तदतुरोधेनैव मन्त्रव्याख्यानमुचितमिति मन्त्रेण
ब्रह्मपादासिद्धेर्हेतुः स्वरूपासिद्ध इत्यर्थः । परिहारांशं व्याकुर्वन्ति तथा तेनेत्यादि । अत्र
हि तथा चेतोऽर्पणनिगदे सर्वरूपत्वोक्तिर्लिङ्गम् । वाग्युपायां गायत्र्यां तस्यासंभावितत्वात् ।
तदेव च विरुद्धमानमुपक्रमस्य प्राबल्यमपहन्ति । निश्चये च तस्मिन् प्रकरणस्य ब्राह्मत्वं
मन्त्रवर्णादेव निश्चीयते अतस्तथेति । अग्रिमं व्याकुर्वन्ति कुत इत्यादि । वेदेनेति
शेषः । एवं निरूपणप्रयोजनमाहुः एतेनेत्यादि । तथाच सर्वासां मन्त्रोपासनानां निर्णयार्थ-
रश्मिः ।

छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदात् तथा हि दर्शनम् ॥ २४ ॥
भाष्ये । अभ्युक्तमिति क्वचिदभ्यनूक्तमित्यपि पाठः । प्रकृते । तात्पर्येत्यादि तात्पर्यस्य लिङ्गं
तस्योपष्टम्भसं वित् । तात्पर्येत्यादि तात्पर्यस्य तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वस्य लिङ्गं ज्ञापकं
तत्त्वादित्यर्थः । किं च । असंजातेति न संजातो गायत्रीप्रतिपादनविरोधो यस्य तत्त्वेन ।
स्वरूपासिद्ध इति पक्षेऽभावात्तथा । तस्येति सर्वरूपत्वस्य । तदेवेत्यादि सर्वरूपत्वमेवेत्यर्थः ।
तस्मिन्निति उपक्रमप्राबल्ये । मन्त्रवर्णादिति तावानिति मन्त्रवर्णादेव निश्चीयत इत्यर्थः ।
भाष्ये । प्रतिपाद्ये ब्रह्मणीति न च भर्गःपदाच्छिवः, तमउपाधिकं ब्रह्म तत्रतिपाद्यं न
शुद्धमिति शङ्कम् । सर्वेषां पदानां शुद्धब्रह्मणि शक्तेः । अन्यत्रहस्ते स्फुटम् । प्रकृते । मन्त्रेत्यादि

सर्वा मन्त्रोपासना व्याख्याताः । हि युक्तध्यायमर्थो लोके स्वतो यन्न प्रविशति तदुपायेन विशतीति । न त्वदृष्टद्वारा । दृष्टे संभवत्यदृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वात् । तस्मात् पादा ब्रह्मधर्माः ॥ २४ ॥

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥ २५ ॥

किंच । भूतादयोऽत्र पादा व्यपदिश्यन्ते । भूतपृथिवीशरीरहृदयानि चत्वारि । न होतानि गायत्र्याः पादा भवितुमर्हन्ति । ब्रह्मपरिग्रहे तूपपद्यन्ते । पावन्मुख्यमुपपद्यते तावन्न गौणं कल्पनीयम् । अयमर्थः । पूर्वहेतौ छन्दसोऽपि पादा व्यपदेशाद् भवन्ति । तथापि ब्रह्मण एव युक्ता इति । पुरुषसूक्ते एतावानस्येत्यस्य ब्रह्मपरत्वात् । अस्मिन् वाक्ये तु गायत्र्याः पादा एव नोपदिष्टाः किंतु ते ब्रह्मण एव पादा इति ।

भाष्यप्रकाशः ।

मेतदित्यर्थः ॥ २४ ॥

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥ २५ ॥ युक्त्यन्तरं वदतीत्याहुः किंचेत्यादि । अयमर्थः । त्वया हि गायत्र्याः प्रकरणित्वमुपगम्य सन्निहितत्वाद् भूतादय एव पादत्वेन चाख्याः । ते च स्वरसेनासंभवन्तो गौण्या योज्याः । गौणीत्वेकत्र वास्तवत्वेऽन्यत्र भवत्यतस्तथेति स एव मुख्यो विवक्षित इति श्रुतौ वक्ष्यमाणपरामर्शं बोधयितुं सैषेत्येतत्पदमुक्तम् । अन्यथा तु पूर्ववदियं वा व सेत्येवं वदेदित्यर्थः । नन्वयमर्थस्तु पूर्ववद्वेत्तैव सिद्ध इत्यस्य सूत्रस्य किं प्रयोजनमत आहुः अयमर्थ इत्यादि । पूर्वहेतौ चेतोऽर्पणनिगदरूपे छन्दसोऽपि पादा गौण्या कथनाद् भवन्ति । तथापि ब्रह्मणः पादा युक्ता इति ज्ञायते । नच तर्हि भूतादय एव मुख्यतया ब्रह्मणः पादा भवन्तिवति शङ्क्यम् । पुरुषसूक्ते, एतावानस्येत्यस्य ब्रह्मपरत्वात् । तदर्थस्य चात्र विवरणार्थं प्रत्यभिज्ञानात् । नच तत्रापि सर्वभूतपदेनैतान्येवोच्यन्त रश्मिः ।

‘प्रयोगकरणभूतः शब्दो मन्त्रः’ तदुक्तोपासनानाम् ॥ २४ ॥

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥ २५ ॥ पूर्वसूत्रे भूतपृथ्वीशरीराणां परिचायकत्वेनेति भाष्येण तेषां पादत्वं नोक्तम् । अत्र तु भूतादीनां पादत्वमुक्तं तत्कथमित्यपेक्षायां तत्प्रकारमाहुः अयमित्यादि । वास्तवत्व इति यथा गौर्वाहीक इत्यादिसूत्रे जाड्यादर्गवि वास्तवत्वे । अतस्तथेति यतो ब्रह्मपरिग्रहाभावे गौण्यापि पादा न योजयितुं शक्याः । अतो ब्रह्मपरिग्रह इतीति । स एवेति भूतादिपादव्यपदेशो मुख्य एवेति ‘सैषा चतुष्पदा षड्विधा’ इत्यत्र श्रुतौ वक्ष्यमाणानां ‘तस्य इ वा एतस्य’ इत्यादिना पादानां विधानां च समीपतरवाचिनैतत्पदेन परामर्शं बोधयितुं सैषेत्येतत्पदमुक्तमित्यर्थः । यद्वा । श्रुतौ सैषा चतुष्पदेत्यत्र गायत्रीपदेन लक्षणया वक्ष्यमाणस्य तद्वैतब्रह्मेति ब्रह्मणः परामर्शं बोधयितुं सैषेत्यत्र समीपतरवाच्ये तत्पदमुक्तमित्यर्थः । अत्र युक्तिमाहुः अन्यथेति । ब्रह्मपरामर्शाभावे प्रकारे सति तु समीपतरवार्तिवाचकसैतत्पदस्य निष्प्रयोजनत्वे सति पूर्ववद्या वै सा पृथिवीयं वा व सा इति श्रुताविच प्रत्यक्षवाचकस्येदम एव प्रयोगः कृतः स्यादित्यर्थः । सर्वभूतेत्यादि सर्वा (विश्वा) भूतानीत्यस्यार्थकथनमिदम् । तस्य च सर्वभूत-ब्राह्मकत्वेन विश्वभूतपदेनेत्यर्थः । विश्वभूतपदेनेति वार्थः । एतानीति भूतपृथिवीशरीरहृदयानीत्यर्थः ।

तद्वाचकत्वेन गायत्र्यामुपचारेणोपसंहारः । चकारावर्था न शब्दस्य पादा भवन्ति, किंत्वर्थस्यैवेति । तस्माद्ब्रह्मवाक्यत्वे भूतादीनां पादत्वमुपपद्यते नान्यथेति । तस्मात् पादानां ब्रह्मधर्मत्वम् ॥ २५ ॥

उपदेशभेदान्नेति चेशोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ॥ २६ ॥

‘पादोऽस्य विश्वा भूतानि’ सर्वाणि भूतान्येकः पादः । पादत्रयममृतं दिवीत्येकोऽर्थः ।

‘पादेषु सर्वभूतानि पुंसः स्थितिपदो विदुः ।

अमृतं क्षेममभयं त्रिमूर्धोऽघायि मूर्द्धसु’ ॥ इत्यपरः ।

भाष्यप्रकाशः ।

इति शङ्क्यम् । पुरुषसूक्तविवरणाध्याये चैतदग्न्याख्यायान् आश्रमचतुष्टयस्यानां मौक्तिकशरीर-विशिष्टजीवानामेव व्याख्यातत्वाच्छरीरवैशिष्ट्ये च भूतपृथिव्यादेरपि परिचायकत्वेनैव संग्रहान्मुख्यतया ग्रहणे तद्विरोधापत्तेस्तन्मुख्यतया वक्तुमशक्यत्वात् । नच गायत्री वेति वाक्य-विरोधः । अस्मिन् वाक्य इत्याद्युक्तरीत्या तेषां गायत्र्यामुपचारेणोपसंहार इति तद्विरोधा-भावादित्यर्थः । तद्वाचकत्वेनेति ब्रह्मवाचकत्वेन । उपसंहार इति सैषा चतुष्पदेत्यादिनोक्तः सः । तथाच पादानां ब्रह्मधर्मत्वाभावे गायत्र्यां तद्व्यपदेशस्यापि वक्तुमशक्यत्वात् त्वया स्वमतोपमादनायाप्यसदुक्तमवश्यमङ्गीकरणीयमिति, गले पादुकान्यायेन तदङ्गीकारणं प्रयोजन-मित्यर्थः । एतेन सूत्रस्येवंपदं व्याख्यातम् । स्फुटमन्यत् ॥ २५ ॥

उपदेशभेदान्नेति चेशोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ॥ २६ ॥ सूत्रं व्याख्यातुं तदर्थं रश्मिः ।

तन्मुख्येत्यादि तेषां भूतपृथिवीशरीरहृदयानां मुख्यपादताया इत्यर्थः । न इति चतुष्पाद् ब्रह्मत्वेन दृष्टा गायत्र्येतदुपासनोक्तफलाय भवतीत्येतदर्थं पादानां विधानं चोपसंहार इत्यर्थः । वृत्त्यनुसारेणेदं प्रतिज्ञावाक्यमुक्तम् । गले पादुकान्यायेनेति अयं क्वचित्प्रसिद्धः कैकेय्या रामराज्यार्थं यतन्त्या रामपादुकां गले स्वे कृते इति न्यायो वा । भरतेन रामपादुके सेविते इति तथापि तथा । एवमनिच्छतोपि ग्राहिते पादुके यथा तथेदमपि वृत्तमित्यर्थः । ब्रह्मण एव पादा युक्ता इति सूत्रस्यसैषंपदस्यार्थ इत्याहुः एतेनेत्यादिना । वृत्तौ त्वेवमित्यस्य तव मतोपपत्तिरित्यर्थ उक्तः । अन्यदिति तस्मादित्यादिना सिद्धकथनं स्फुटार्थमित्यर्थः ॥ २५ ॥

उपदेशभेदान्नेति चेशोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ॥ २६ ॥ अत्रैवं भाति । बहुधा हि पादनिरूपणं भवति तत्र ‘पादेषु सर्वभूतानि’ इत्यत्र भूतादयः पादाः ‘पादास्तयो बहिष्’ इत्यत्राश्रम-स्या जीवाः पादाः । पादोऽस्येत्यत्र सर्वभूतान्येकः पादोऽमृतादयस्त्रयस्त्रयः पादा इति सिद्धमिति । किं चाकारउकारमकारार्धमात्राकाराः पादाः ब्रह्मविष्णुकपर्दितुरीयपादाः भूतपृथिवीशरीरहृदयानि पदानि । प्राची दिक्कला प्रतीची दिक्कला दक्षिणा दिक्कलोदीची दिक्कलाः पादाः । पृथ्वी कलाऽन्तरिक्षं कला द्यौः कला समुद्रं कलाः पादाः । अग्निः कला सूर्यः कला चन्द्रः कला विद्युत्कलाः पादाः । प्राणः कला चक्षुः कला श्रोत्रं कला मनः कलाः पादाः । एकशब्दश्च संख्यावाची । मुख्यत्वं च पुरःस्फूर्तिकत्वे

पुरुषसूक्तानुरोधे द्वितीय एवार्थः । प्रथमे तावत् । ननु दिवीति मन्त्रे सप्तम्या आधारत्वं प्रतिपाद्यते । अतः परमित्यत्र पञ्चम्या अनाधारत्वमत उपदेश-
भेदात् पूर्वोक्तपरामर्शाभावात् ज्योतिषो ब्रह्मत्वमिति चेन्नैव दोषः । उभय-
स्मिन्नप्यविरोधात् । मन्त्रे दिव्येवोक्तम् । अस्मिन् वाक्ये सर्वत्रोच्यते । सर्वत्र

भाष्यप्रकाशः ।

प्रथमतो मन्त्रं व्याकुर्वन्ति पादोऽस्येत्यादि । एकोऽर्थ इति पुरःस्फूर्तिकः सर्वाद्यतस्तृती-
योऽर्थः । अस्मिन् पक्षे श्रौतं दिवीति पदं द्योतनात्मस्वरूपपरम् । अतः पादसंख्यापूर्तिस्त्व-
मृतात्मकेन स्वरूपेणैव । न तु जीर्वेन वा लोकैरिति । द्वितीयस्कन्धानुसारेणेतर्माहुः
पादेष्वित्यादि । श्लोकार्थस्तु तिष्ठन्ति येष्विति स्या भूरादिलोकाः स्थितिपदवाच्यास्तु
पादा यस्येति स्थितिपात् । तस्य स्थितिपदो भगवतो भूरादिषु पादेषु सर्वाणि भूतानि विदुः ।
त्रिमूर्त्तौ भूरादित्रयोपरिवर्तमानस्य महर्लोकस्य पूर्वेषुपरितनेषु जनस्तपःसत्येषु, 'अमृतं क्षेमम-
भयम्' इति सुखत्रयमधायि । अतो भूरादिचतुष्के अनित्यं सुखमित्यर्थादायाति । अस्मिन् पक्षे
श्रौते पादशब्दे, सुपां सुलुगिति सुपः स्वादेशः । अस्त्वस्य स्थितिपदः पुंस इत्यर्थः । दिवीति
अनित्यं सुखमित्यर्थादायाति । अस्मिन् पक्षे श्रौते पादशब्दे, सुपां सुलुगिति सुपः स्वादेशः ।
अस्त्वस्य स्थितिपदः पुंस इत्यर्थः । दिवीति जनआदित्रयोपलक्षकम् । अमृतपदममृतत्वस्यानु-
व्यवसीयमानत्वात् सुखत्रयोपलक्षकम् । एवं सति द्वितीयस्थोपपादनसापेक्षत्वात् प्राञ्जलः पूर्वं
रश्मिः ।

सति सर्वाद्यतत्वं तदेतदभिसंधायानुः पुरःस्फूर्तिक इत्यादि । अस्यार्थस्य तृतीयत्वमुपपादयन्ति
स्म अस्मिन्नित्यादिना । इतीति तथा चास्यार्थस्योपबृंहितत्वेन श्रौतमात्रत्वात्तृतीयत्वमित्यर्थः ।
यदि चास्याप्यर्थस्य 'पादास्तयः' इत्यनेनोपबृंहितत्वं तदा द्विधा पादनिरूपणम् । एतच्चैवकारोप्यर्थः
इत्यादिनाप्रे सूचयिष्यन्ति । तथा चोभयस्मिन्निति सौत्रं पदं सिद्धम् । तिष्ठन्तीत्यादि । अत्र
चत्वारो लोकालम्का ब्रह्मपादाः सेत्यन्ति । स्थितिपदेत्यादि स्या इत्यत्राधिकरणे घञ् । स्थितिश्चन्द्रश्च
लोकेषु रूढ इति भावः । जनस्तप इत्यादि अत्र सान्तः । अमृतमित्यादि अमृतं तु जनलोके
सुखम् । तस्य स्वरूपतः स्थानतश्च नाशाभावात् । तथा च न विद्यते मृतं नाशो यस्येत्यमृतम् ।
तपोलोके तु क्षेममक्षेमदर्शनाभावात् । जनलोके तु महर्लोकात् पलाय्यागतानां दुःखितानां
दर्शनरूपमक्षेमदर्शनमस्ति तपोलोके तु नैवमिति तत्सुखस्य क्षेमत्वम् । सत्यलोके तु सुखमभयरूपं
मोक्षप्रत्यासन्नत्वादिस्त्वममृततादिभेदो ज्ञेयः । आयातीति 'यान्त्युष्मणा महर्लोकाञ्जनं भृग्वा-
दयोर्दिताः' इतिवाक्यात् महर्लोकेषु स्थानत्यागलक्षणस्य दुःखस्य विद्यमानत्वेनानित्यप्रायेमेव
सुखमिति भावः । श्रुत्येकवाक्यत्वात्पादोः अस्मिन्नित्यादि । सुप इति सप्तमीबहुवचनसेत्यर्थः ।
तथा च पादोस्य विश्वा भूतानीत्यस्य पादेषु स्थितिपदः पुंसो विश्वा भूतानि इत्यर्थः । जन आदीति
जनपदं सकारान्तमत्र क्वचिच्च ग्रीवायां जनलोकोस्य इत्यादावकारान्तं पदमिति बोध्यम् । अमृतपदेन
तात्पर्योपपत्त्यनुसंधानात्तद्विद्योपरितनत्वादिधर्मैः सादृश्याद्गौणी सारोपा । अत्र द्योतनाद्यतिशय एव
प्रयोजनम् । गौर्वाहीक इतिवत् । घौर्जनःतपःसत्यानि हीति । सुखत्रयेत्यादि त्रिपादित्यस्य
त्रिमिः पद्यते प्राप्यते इति त्रिपादिति विग्रहः । अत्रापि गौणी सारोपा । मृतममृतामयक्षेममिति ।

विद्यमानस्य दिवि विद्यमानत्वं न विरुद्धते । अतःशब्देन न तत्राविद्यमानत्वं
किं तु ततोऽप्यन्यत्र सत्त्वं बोध्यते । तस्मात् सप्तमीपञ्चमीनिर्देशो न विरुद्धः ।
द्वितीये तु । ननु मन्त्रे अमृतपदमत्र ज्योतिःपदमत उपदेशभेदाच्चतुर्थश्च पादो

भाष्यप्रकाशः ।

एव प्राप्त इति शङ्कायामाहुः पुरुषेत्यादि । एवकारोऽप्यर्थे । पूर्वस्यापि पादास्तय इत्युक्तीत्या
पुरुषसूक्तानुसारित्वात् । एवमभिप्रेत्य सूत्रं द्वेषा व्याकरिष्यन्त आहुः प्रथमे तावदित्यादि ।
प्रथम इति पुरःस्फूर्तिके तृतीये । पूर्वोक्तपरामर्शाभावादिति विभक्तिभेदेन मन्त्रोक्तस्य
दिव्यशब्दस्यास्मिन् प्रत्यभिज्ञाभावात् । सिद्धान्तग्रन्थे पञ्चम्याः कथं सर्वत्र विद्यमानताबोधकत्वमत्र
आहुः अत इत्यादि । अतो दिव इत्युक्त्वा, सर्वतः पृष्ठेष्वित्यादिश्रावणेन पञ्चम्या व्यप्लो-
पीयत्वे, इमं सुलोकमारभ्येत्यर्थात् तथेत्यर्थः । अत्र सर्वे, वृक्षाप्रे ज्येनो वृक्षाप्रात् परतः
ज्येन इति विभक्तिभेदेऽपि यथैकार्थ्यप्रत्यभिज्ञा तथात्रेति दृष्टान्तमात्रमाहुः । अत्र तु विभक्ति-
भेदस्य प्रयोजनमप्युक्तमिति विशेषः । द्वितीयपक्षेण व्याकर्तुं पूर्वपक्षमाहुः ननु मन्त्र
इत्यादि । अन्यमप्युपदेशभेदमाहुः चतुर्थश्च पादो हृदयमिति । मन्त्रे लोकात्मकः पादः ।
ब्राह्मणस्य तु हृदयस्युपक्रम्य पठितत्वाद् हृदयं पादत्वेन तत्र सिद्ध्यतीत्युपदेशभेद इत्यर्थः ।
रश्मिः ।

पादास्तय इत्यादि । श्लोकस्तु ।

'पादास्तयो बहिश्चासन्नप्रजानां य आश्रमाः ।

अन्तस्त्रिलोक्यास्त्वपरो गृहमेधोऽबृहद्भ्रतः' ॥ इति ।

श्लोकार्थस्तु चत्वारश्चाश्रमाः भगवतश्चत्वारः पादाः यतो भगवान् तानपितिष्ठति तत्र
त्रयः पादाः ब्रह्मचारी वानप्रस्थः संन्यासी च ते त्रयोपि त्रिलोक्या बहिश्चासन् चकारेण स्वेच्छया-
न्तरेपि । न जायन्ते प्रजादिरूपेणेत्यप्रजाः गृहस्यव्यतिरिक्ताः । अपरो हीनः गृह एव मेधा
बुद्धिर्यस्येति गृहमेधः । बृहत् स्थूलमूर्ध्वरेतोरूपं व्रतं यस्य नास्ति सोऽबृहद्भ्रत इति । अस्मिन्
पक्षे त्रिपादाश्रमत्रयात्मकः पुरुषः ऊर्ध्वं उपरितनामृतसुखार्थयुदैत् । उपरितनेषु जनस्तपःसत्येषु
लोकेषु गतवान् । अस्य पादो गृहस्थाश्रमीह त्रिलोकीसुखार्थं पुनरमवात् पुनः पुनरुपपन्न इति
त्रिपादूर्ध्वं उदैत् पुरुषः इति श्रुत्यर्थः । एवमिति उपबृंहणेनैवं द्वेषा मन्त्रार्थमभिप्रेत्येत्यर्थः ।
प्रत्यभिज्ञेत्यादि अयं चोपदेशभेदादित्यस्यार्थः । उभयस्मिन् विभक्तिभेदादिना भिन्नविधेयुपदेशे
ब्रह्मवाक्यत्वसाविरोधादिति सूत्रशेषार्थः । ल्यबित्यादि । ज्ञापित इति शेषः । सर्व इति शंकराचार्या-
दयः । प्रयोजनमिति सप्तम्या तत्रैव विद्यमानत्वमुच्यते पञ्चम्या तु सर्वत्र तदिति ह्यन्यत्र
सत्त्वं प्रयोजनमित्यर्थः । लोकात्मक इति तावानिति मन्त्र उपलम्भकेन पुराणेन लोकात्मके लोक-
स्थिताश्रमस्यजीवात्मको वा पाद इत्यर्थः । लोकात्मकपदस्योपलक्षकत्वात् । ब्राह्मणस्येति तस्य
ह वा एतस्य हृदयसेति । हृदयस्युपक्रम्याय यदतः पर इति ब्राह्मणस्य पादस्य पठितत्वादित्यर्थः ।

हृदयम् । अतःशब्दाच्च सर्वस्वाग्नेयः प्रतिपाद्यते । अत उपदेशमेवात्रैकवाक्यता
अस्मिन् वाक्ये चरणाभावात् । स्वरूपासिद्धो हेतुरिति चेन्नैव दोषः
उभयस्मिन् ज्योतिःपदे अमृतपदे च प्रयुज्यमाने एकार्थत्वात् विरोधः । पाद-

भाष्यप्रकाशः ।

अन्यमपि भेदकमाहुः अतःशब्दादित्यादि । अत इत्यस्य पूर्वपरामर्शित्वात् पूर्वसाधु भेदे
प्रत्यायिते पूर्वोक्ताद् ब्रह्मणोऽपि सकाशाज्ज्योतिषो भिन्नत्वसिद्धिरित्यर्थः । अत इत्यादि एवं
प्रकारत्रयेणैकदेशभेदान्मन्त्रब्राह्मणयोर्भिन्नार्थत्वेनोपदेशभेदादित्यर्थः । तेन सिद्धमाहुः अस्मिन्नि-
त्यादि । ब्राह्मणवाक्ये तदभावादेकवाक्यत्वाभावेन मन्त्रतः प्राप्त्यभावाच्चेत्यर्थः । सिद्धान्तं
व्याख्यते नैव इत्यादि । एकार्थत्वादिति उभयोर्ब्रह्मवाचकत्वेनैकार्थत्वात्कवाक्यताविरोधः ।
ननु तथापि पादभेदेन विभागे साकाङ्क्षत्वाभावात् कथमेकवाक्यतेत्यत आहुः पादेत्यादि ।
आश्रमचतुष्टयस्वजीवानां पादत्वपक्षे लोकानां च पादत्वपक्षे यथायथं हृदयरूपं चरणस्थानं,
पादान्तर्वर्ति ब्रह्म च ज्योतीरूपं सर्वत्रेति पादभेदेऽपि तदुपलक्षकस्य तदन्तःस्थितस्य च
सार्वत्रिकत्वेनोभयत्रापेक्षणादिभागे साकाङ्क्षतायाः सत्त्वात्कवाक्यत्वमङ्ग इत्यर्थः । ननु

रश्मिः ।

पूर्वोक्तादिति गायत्री वा इदं सर्वमिति गायत्रीरूपादित्यर्थः । तेनेति एकवाक्यताभावासाधनेन ।
तथेति स्वरूपासिद्धत्वप्रकरणे हेतुरित्यर्थः । पादभेदेनेति मन्त्रब्राह्मणयोरिति शेषः । पादेत्यादीति
अत्र मन्त्रब्राह्मणयोः पादत्रयमुपरितनलोकेषु जनस्तपःसत्येषु समानमेकवाक्यत्वादुभयोः पादान्त-
ज्योतिः सर्वत्र ब्रह्मत्वात् न तु हृदयं न वा पञ्च स्वर्लोकपा न वा जीवाः नापि लोकाः अतश्चतुर्थत्वेन
ज्योतिषो ह्युपादानं व्यर्थं सज्जापयति चतुर्थं सर्वत्रेति तत्कथमुपपद्यते । उच्यते । उभयस्मिन्नपि
पक्षे चरणयोः बहुत्वविशिष्टजीवलोकयोः स्थानं हृदयं वाच्यं पदं यथायोग्यम् । जीवानां स्थानं
हृदयं स्पष्टम् । लोकानां लोकं दर्शनं इति धातुपाठात् ज्ञानात्मकत्वे हृदयं योग्यं स्थानं च
हृदयं स्वामिन्नपञ्चसुप्यात्मकं ते च तेजोमनआकाशात्मानः इति चतुर्थं सर्वत्रेति सुषुपपन्नम् ।
तेजआदीनां व्यापकत्वात् । पादानां विश्वामृतक्षेमामयानां ब्राह्मणोदितानां मन्त्रोदितानां
सर्वभूतपृथिवीशरीरहृदयानां च भेदेऽपि तदुपलक्षकस्य सुखत्रयोपलक्षकस्यामृतस्यामृतान्तःस्थित-
स्यामृतत्वस्य सार्वत्रिकत्वात्त्रिपादस्यामृतं दिवीत्युभयत्र श्रवणात् । सार्वत्रिकपदं ज्ञापयति ह्यन्यत्र
पादेष्वप्येवम् । तथाहि, पूर्वोक्तानि चतुश्चतुरंशकानि चत्वारि पादानि छन्दोग्यष्टाहानि । तत्र
प्राचीदिक्कलादिष्वमृतत्वं परेण मृत्युतिष्ठान्ता इति बृहदारण्यकश्रुतेः । पृथिवीकलादिषु अबृहद्गतः
'भारतभूजयो वरम्' इति वाक्यात् । अम्बिकलादिषु क्षेमं तुरीयचन्द्रप्रवेशात् । निरुक्ते वाक्यमि-
स्येन्द्रानां चन्द्रस्य तुरीयत्वात् । प्राणकलादिष्वमयम् । मनःप्रवेशात् । मनोमयो वेदः 'मनोमयं
रूपमुपेत्य' इति वाक्यात् । वेदार्थस्तु 'यश्छन्दसामृषभो विश्वरूप' इति विश्वरूपपदसाहचर्या-
च्छेष्टार्य ऋषभः पूर्व गौरुक्तो धर्मोत्सा स्मृतस्तत्रापि छन्दोग्योऽप्यमृतत्वंसंभूय समेन्द्रो मेघया स्पृणोतु
अमृतस्य देवधारणो भूयासं इत्यमृतपदमुपलक्षकमिति तथा । वाङ्मुनिर्नोक्तः पञ्चमः । तस्य
व्यापकत्वं प्रसिद्धमिति तुरीयप्रतिपादिका वाक्यसर्वत्र । तथा च मुण्डके चतुर्थं पादं ब्रह्मेति सर्वत्र ।
अथर्वशिखायां नादश्चतुर्थः पादः । सर्वत्रैवमिति । नूनमुभयस्मिन्मन्त्रब्राह्मणयोरविरोधचित्ता

१. अबृहद्गता ।

प्रयमुपरितनलोकेषु चतुर्थं सर्वत्रेति । अन्यथा वैजात्यं पादानामापद्येत । परिच्छेद-
विरोधश्च । अतोऽमृतज्योतिःशब्दयोरेकार्थत्वेन विरोधाभावादेकवाक्यत्वम् ।
अतोऽत्र चरणसद्भावात्तस्य च ब्रह्मधर्मत्वाज्ज्योतिर्ब्रह्मैव ॥ २६ ॥

इति प्रथमाध्याये प्रथमपादे नवमं ज्योतिश्चरणाधिकरणम् ॥ ९ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

स्पष्टस्य ब्रह्मधर्मस्यात्राभावेऽपि निर्बन्धेनैवं व्याख्याने का वोपपत्तिरित्यत आहुः अन्यथे-
त्यादि । गायत्रीपरतया व्याख्याने गायत्र्याः शब्दत्वेन पादानां चार्थत्वेनांशांशिमावाङ्गीकारे
वैजात्यं पादानामापद्येत । किंच । गायत्री परिच्छिन्ना । अत्र तु, सर्वतःपृष्ठेऽप्यित्यादिना
परिच्छेदराहित्यं प्रतिपाद्यतेऽतः परिच्छेदविरोधश्च । तथाच गायत्रीपक्षे दोषद्वयसत्त्वं ब्रह्मपक्षे
तदभावश्च व्याख्यानिर्बन्ध उपपत्तिरित्यर्थः । एवं सर्वमुपपाद्य सिद्धमाहुः अत इत्यादि ।
अत इति पञ्चान्तरस्याघटमानत्वात् । अत इति एकवाक्यत्वस्य सिद्धत्वात् । तथाच प्रकरणस्य
ब्राह्मत्वे सिद्धे ब्रह्मधर्मस्य तत्र सिद्धत्वादुपसंहारगतमपि ज्योतिःपदं ब्रह्मवाचकत्वेनैव
सिद्धमतस्तथेत्यर्थः । अत्र पादवतीनां विद्यानां ब्रह्मस्वरूपपरत्वप्रतिपादनादध्यायसंगतिः ।
आश्रमचतुष्टयस्य जीवस्थितितद्गोच्यसुखरूपकार्यद्वारा तत्प्रतिपादनात् पादसंगतिः । ज्योतिषः
स्थितिकार्यकत्वेन ब्रह्मलक्षणोऽतिव्याप्तौ प्राप्तायां तन्निवृत्त्यर्थं ज्योतिःपदे संदेहवाराणादवसरोऽधि-
रश्मिः ।

अत्र तु न्यायप्राप्ता विपुलीकृता तेन सार्वत्रिकत्वेनोभयत्र मन्त्रब्राह्मणयोश्चतुर्थपादस्य ब्रह्मत्वेनैकरस-
त्वादपेक्षणादित्यर्थः । वा इति वै निश्चयेनेत्यर्थः । शब्दात्मकं जगदिति पक्षे दोषाभावादाहुः
किं चेति । गायत्रीत्यादि । परिच्छिन्नत्वमस्याः पर्यविद्ददशायात् । सर्वत इत्यादिस्थले यद्यपि
प्रथमत्यागे मानामावादिश्वतःपृष्ठेऽप्यित्यादिनेति पाठ्यं तथापि विश्वशब्दस्य संकोचसहिष्णुत्वमत्र
नास्तीति सर्वतःपृष्ठेऽप्यिति व्याख्यातमतोऽसंदिग्धत्वादित्दमेवोक्तम् । भाष्ये । एकवचनत्वमिति
एकवाक्यत्वमित्यत्र पाठः एकब्रह्मवाचकत्वम् । प्रकृते । अत्राप्यायपादाधिकरणानां संगतयो न
स्फुटा इति ता उपपादयन्ति स्म अत्र पादेत्यादिना अध्यायसंगतिः । पादवतीनां प्रणवादिविद्यानां
मध्ये चतुर्थस्य पादस्य ब्रह्मत्वेन तत्प्रतिपादकवाक्यस्य ब्रह्मणि समन्वयात् समन्वयाध्यायसाधिकरणेन
संगतिर्निर्वाहकलक्षणं संगतिः समन्वयायासाधिकरणस्य वचनं संगतमित्यर्थः । तत्प्रति-
पादनात् कार्यप्रतिपादनात् । पादस्यमिति तथा चात्रापि कार्यप्रतिपादकस्य ब्रह्मणि समन्वयात्
न कार्यसमन्वयरूपपादायां संगतिरित्यर्थः । ज्योतिष इत्यादि । अयभाशयः । जन्मापधिकरणे
यद्यप्याकाशजन्मकर्तृत्वं ब्रह्मलक्षणत्वेन निष्कृष्टम् । तस्यापि ब्रह्मासाधारणधर्मत्वात् । तथाप्युप-
लक्षणविषया तत्स्थितिकर्तृत्वं तल्लयकर्तृत्वं च सिद्धमिति तथा चैतन्मिळितं संदेह लक्षणमिति न ।
किं तु पृथक् पृथक् । किं चाधिकरणानां न्यायरूपत्वेन यतो वा इमानि भूतानीत्यत्राप्ययं न्यायः
प्रचरते इति स्थितिकर्तृत्वस्य ब्रह्मलक्षणस्य ज्योतिष्यतिव्याप्तौ प्राप्तायामिति । संदेहेत्यादि
ब्रह्मपरत्वव्यवस्थापनेनान्यपरत्वसंदेहवाराणात् । अभीत्यादि धर्मिर्निरूपकाधिकरणैः प्रतिबन्धक-
मृत्विज्ञासानिवृत्तौ धर्मिर्व्याप्तिवारणवसरः । वृत्तौ तत्र ज्योतिषोन्तःपुरस्य उपसंहृतत्वेन स
यस्यायं पुरुष इत्यानन्दमयाधिकरणे विषयवाक्ये श्रावितस्य पुरुषान्तःस्थस्य निर्णयादुपोद्घात

प्राणस्तथाऽनुगमात् ॥ २७ ॥ (१-१-१०)

अस्ति कौपीतकिब्राह्मणोपनिषदि इन्द्रप्रतर्दनसंवादः । प्रतर्दनो ह वै देवोदासिरित्यादिना, एष लोकपाल एष लोकाधिपतिरेष लोकेशः स म आत्मेति विद्यात् स म आत्मेति विद्यादित्येतदन्तम् । तत्र वरदाने मामेव विजानीद्येत-
देवाहं मनुष्याय हिततमं मन्य इत्युपक्रम्य त्वाष्ट्रवधादिनात्मानं प्रशस्य
स्वोपासनायाः पापाभावं फलत्वेन प्रतिपाद्य कस्त्वमिति विचक्षायां, प्राणो वा
अहमस्मि प्रज्ञात्मानं मामायुरमृतमित्युपाखेत्युक्त्वा आयुषः प्राणत्वमुपपाद्या-
मृतत्वं च प्राणस्योपपाद्य, प्राणेन होषामुष्मिहोके अमृतत्वमाप्नोतीति, अमृतत्वं
योगेन प्रतिपादयति । तत्र संदेहः । प्राणः किमासन्यो ब्रह्म वेति ।

भाष्यप्रकाशः ।

करणसंगतिः । तेनापो वा इदं सर्वमित्यादावप्ययं न्यायो बोध्यत इति न न्यूनता ।

माध्वास्त्वत्राधिकरणद्वयमङ्गीकुर्वन्ति । तत्र प्रथमद्वयसाधितं विषयवाक्यम् । 'वि मे कर्णा पतयतो विचक्षुर्विदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत् । वि मे मनश्चरति आ धीः किंस्विद् वक्ष्यामि किमनुमनिष्ये' इति । अत्र विशन्दो विरुद्धार्थकः । पतयत इति पततो विरुद्धं चरत इत्यर्थः । इदं चरणं हेतुः । शेषं समानम् । वस्तुतस्त्वत्र विचरणमुक्तं न तु चरणमतश्चिन्त्यम् । छन्दोऽभिधानादिति त्रिसुत्रमधिकरणान्तरम् । तत्र छान्दोग्यस्यमुक्तमेव विषयवाक्यम् । समानमितरत् । अत्रापि सूत्रे साध्यानुल्लेखात् सूत्रकृदाशयगोचरत्वं संदिग्धम् ॥ २६ ॥ ९ ॥
इति नवमं ज्योतिश्चरणाधिकरणम् ॥ ९ ॥

प्राणस्तथाऽनुगमात् ॥ २७ ॥ विषयवाक्यमुदाहरन्ति अस्तीत्यादि । तथाच संपूर्णः पञ्चमाध्यायोऽत्र विषयवाक्यमित्यर्थः । कथमस्य विषयत्वमित्याकाङ्क्षायामेतदर्थं वदन्तो मतान्तरीयाः सर्वेऽपि, मुख्यः प्राणो वा देवतात्मा वा, जीवो वा, ब्रह्म वेति चतुष्कोटिके संशयं वदन्तीति ततो वैलक्षण्यबोधनाय व्युत्पाद्याहुः तत्र वरेत्यादि । योगेनेति प्राण-
रक्षिः ।

एव संगतिरित्युक्तम् । न न्यूनतेति न्यूनतारूपनिग्रहस्थानं नेत्यर्थः । अतिदेशाधिकरणोपान्ते इदं रश्मौ प्रोक्तम् । अत्र त्वत्रेति । श्रुताविदं परिदृश्यमानं जगत् । अत एव सुबोधिण्यां अवात्मा नारायण इति निरुक्तम् । वि म इत्यादि मे मम कर्णा । आवोडा कर्णावित्यर्थः । चक्षुर्विचरति इदं ज्योतिर्विचरति मे मम मनश्च विचरति । आ तन्मर्यादीकृत्य धीश्चरति तदप्राप्य किं स्विद्वक्ष्यामि ब्रह्म 'हु' इति वितर्कं किमनुमनिष्ये अवबोधं करिष्ये इति श्रुत्यर्थः । माध्वाचार्यमते इदं ज्योतिर्हृदये म्याहितं यत्तल्लक्ष्मीकृत्येति विशेषः । विष्णुरेव ज्योतिः कर्णादीनां विचरणाभिधानादिति भाष्यात् । उक्तमिति सर्वोदतम् । साध्यानुल्लेखादिति छन्दोभिधानादित्यस्य हेतुत्वादिति भावः । संदिग्ध-
मिति । सर्वत्राधिकरणारम्भे साध्यशून्यस्य सूत्रसादर्शनादधिकरणत्वांशे संदिग्धमित्यर्थः ॥ २६ ॥

इति नवमं ज्योतिश्चरणाधिकरणम् ॥ ९ ॥

प्राणस्तथानुगमात् ॥ २७ ॥ प्राणपदस्य बहुवचनान्तता प्रायशः । प्राणा इति माध्वपुस्तकान्तरे बहुवचनान्तप्राणपदप्रयोगात् । पञ्चमेत्यादि पञ्चमाध्यायो द्रष्टव्यः । तत्र वरे-
त्यापीति श्रुत्वर्थेष्वेव सम्यग् । श्रुत्यर्थस्तु दिवोदासस्यापत्वं दैवोदासिः स इन्द्रस्य प्रियं वामोपजगाम

'अत एव प्राण' इत्यत्र प्राणशब्दमात्रे संदेहः । अप्राथेऽपि संदेहः । बाधकं च वर्तत इति पृथगधिकरणारम्भः । तत्र साधकासाधारणधर्मस्याभावाद् बाधकानां विद्यमानत्वात् ब्रह्मत्वमिति पूर्वं पक्षः । सिद्धान्तस्तु चतुर्भिः सूत्रैः प्रतिपाद्यते । तत्र प्रथमं साधकधर्ममाहैकेन । त्रिभिर्बाधकनिराकरणम् । प्राणः परमात्मा भवितुमर्हति । कुतः । तथाऽनुगमात् । तथाहि । पौर्वापर्येण पर्यालोच्यमाने बाधके पदार्थानां समन्वयो ब्रह्मप्रतिपादनपर उपलभ्यते ।

भाष्यप्रकाशः ।

संयोगेन । तथाचैत्रेण स्वस्मिन् प्राणत्वस्यैवोपपादितत्वेन प्रज्ञापदस्य बुद्धिवाचकतया चेतन-
धर्माणां तत्रोपचरितत्वाद् द्विकोटिक एव युक्त इत्यर्थः । ननु चतुष्कोटिक एव युक्तोऽन्यथा
पूर्वाधिकरणेनास्य गतार्थत्वं स्यादित्यत आहुः अत एवेत्यादि । उक्ताधिकरणे विषयवाक्ये
ब्रह्मलिङ्गस्य विद्यमानत्वात् प्राणशब्दः कथं प्रयुक्त इति प्राणशब्दमात्रे संदेहः । अत्र तु प्राणे
प्रज्ञात्वत्वकथनादायुष्टोपपादनाभासान्यो वा, जीवो वेति प्राणशब्दार्थे संदेहः । किंच जीव-
मुख्यप्राणलिङ्गादिकं बाधकं वर्तत इत्यतस्तथेत्यर्थः । युक्तिपूर्वकं पूर्वपक्षमाहुः तत्र साधके-
त्यादि । कथमेवमित्यत आहुः तत्र प्रथममित्यादि । सूत्रं व्याकुर्वन्ति प्राण इत्यादि ।

रक्षिः ।

युद्धेन च पौरुषेण युद्धकारणपुरुषार्थप्रदर्शनेनेत्यर्थः । तमवलोकयेन्द्रो वक्ति प्रतर्दन ते वरं
दास्यामीति तदा सहोवाच प्रतर्दनः हे इन्द्र त्वमेव वरं वृणीष्व यत्त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे इति ।
एवमुक्त इन्द्रो वरदाने 'मामेव विजानीहि एतदेवाहं मनुष्याय हिततमं मन्ये' इति स्वोपासनमुक्तवान् ।
ततश्च त्वाष्ट्रवधादिनात्मानं प्रशस्य स्वोपासनाफलं पापाभावं भणितवान् । एवमैन्द्रगुणविशिष्टोपासनोक्त ।
ततः कस्त्वमित्यपेक्षायां प्राणो वेत्यादिना प्राणगुणकां द्वितीयोपासनामुक्तवान् । प्राणस्यायुद्धं तु
प्राणो हि मृतानामायुरिति तैत्तिरीयश्रुतेः । स्फुटमग्रिमम् । संयोगेनेति यद्यपि प्राणितीति प्राणः
न मृतं येन तदमृतमिति योगेनेत्यर्थः । तथापि सम्यग् योगेन ब्रह्मत्वादित्यर्थः । त्रयाणामेक-
कोटिपातित्वेन द्विकोटिकत्वमित्याहुः तथा चेति । एवकारेण प्राणव्यवच्छेदः । उपपादितत्वेनेति
अयं प्रज्ञेत्यादौ हेतुः तथा च धर्मोपपादनं प्रसङ्गः सिद्ध इति भावः । प्रज्ञा ब्रह्मरूपा धर्मरूपापि
कोशात्तस्याः प्रसङ्गो वारितः । प्रज्ञा देवतात्मन्यस्येवेवं सति संभवति न प्रज्ञात्मेति भावः । किंत्वात्मधर्मः
प्रज्ञा वेदार्थ इन्द्रे वेदान्तार्थः । तत्रेति इन्द्रजीवे प्राणरूपे । उपचरितत्वादिति तथा च मनोधर्म-
रूपायाः प्रज्ञाया एकार्थप्रत्यासत्त्या जीवेन्द्रधर्मरूपत्वम् । प्रज्ञापदेन जीवो गृहीत इति भावः । जीवो
वेति अत्र त्रिकोटिकः संशयः फलति । एवं च भाष्ये प्राणपदं जीवस्याप्युपलक्षकमिति भावः । यदा ।
प्राणे प्रज्ञात्वत्वोक्तेर्जीवप्राणयोरैक्याद् द्विकोटिकः संशयः इति भावः । एवं च भाष्ये इन्द्रः प्राण
इति लक्षणया प्रतीत्या प्रज्ञापदं च जीवधर्मवाचकमित्युक्तरीत्या द्विकोटिक एवेति भाष्याशयः ।
प्राणपदस्य जीवे देवतायां च शक्त्यभावादाहुः एवेति । तत्र साधकेत्यादि । अत्र भाष्ये
अमृतत्वपापाभावरूपसाधारणधर्मदर्शनादसाधारणेति धर्मविशेषणम् । बाधकानि प्राणप्रशंसारूपाणि

उपक्रमे तावद् वरं वृष्णीष्वेति इन्द्रः प्रतर्दनोक्तः परमपुरुषार्थं वरमुपविक्षेप । त्वमेव मे वृष्णीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यस इति । तस्मै हिततमत्वेनोपदिश्यमानः प्राणः कथं परमात्मा न स्यात् । न हि परमात्मनोऽन्यद्विदितममस्ति । परमानन्दस्वरूपत्वात् । पापाभावश्च ब्रह्मविज्ञान एव । 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' इति श्रुतेः । प्रज्ञातमत्वं च तस्यैव संभवति । उपसंहारेऽप्यानन्दोऽजरोऽमृत इति, एष लोकाधिपतिरित्यादि च । तस्मात् सर्वत्रानुगमात् प्राणो ब्रह्म ॥ २७ ॥

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसंबन्धभूमा ह्यस्मिन् ॥ २८ ॥

बाधकमाह । यदुच्यते प्राणो ब्रह्मेति, तन्न । कुतः । वक्तुरात्मोपदेशात् । वक्ता हीन्द्र आत्मानमुपदिशति । मामेव विजानीहीत्युपक्रम्य प्राणो वा अहमस्मि प्रज्ञात्मानं मामायुरमृतमित्युपास्वेति । स एष प्राणो वक्तुरात्मत्वेनोपदिश्यमानः कथं ब्रह्म स्यात् । तथाच वाचो धेनुत्वोपासनवद्देवतायाः प्राणत्वोपासना बोध्यते ।

अन्ये च ब्रह्मधर्माः प्राणस्तावका इति कथमस्य ब्रह्मोपाख्यानत्वमिति

भाष्यप्रकाशः ।

तथा ब्रह्मपरत्वेऽनुगमात् पदार्थानां समन्वयादिति सूत्रार्थ इति तदुपपादयन्ति उपक्रम इत्यादि । संबवतीति चिद्रूपत्वात् संभवति । सर्वत्रानुगमादिति आद्यन्तं पदार्थानां ब्रह्मधर्मत्वेनैव समन्वयात् । एवं साधकधर्मो व्याख्यातः ॥ २७ ॥

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसंबन्धभूमा ह्यस्मिन् ॥ २८ ॥ बाधकमाहेति सूत्रांशेनाहेत्यर्थः । उपदिशतीति मामित्यहंकारवादेनोपदिशति । ब्रह्मधर्मा इति रश्मिः ।

ज्ञेयानि । उपक्रम इत्यादि । अत्र भाष्ये नहीत्यादि वाक्यान्वयाधिकरणे स्फुटमिदम् । कर्मक्षयः पापक्षयः कारणनाशो कार्यनाशात् ॥ २७ ॥

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसंबन्धभूमा ह्यस्मिन् ॥ २८ ॥ अयमाभासो न सूत्रस्येत्याहुः सूत्रांशेनेति वस्तुतस्तु बाधस्य पूर्वपक्षान्तर्गतार्थभाववृत्तित्वेन सूत्रे च बाधांशश्च तयोः समाहारः सूत्रांशं तेनेत्यर्थः । अहमित्यादि । [अस्मत्प्रत्ययगोचरोऽयवा सुवर्णधनवत् विज्ञानचिन्मात्रस्वभाव आत्मा यदावभासते तदा त्वंपदार्थप्रत्यगात्मा] अयं वादो न भवति अनात्मनो देहादीनिभिमन्यते सोभिमानः । आत्मनो बन्ध इति बन्धे पर्यवसानात् वादस्य मोक्षे पर्यवसानात् इति चेन्मैवम् । अहंनामाभवदिति पुरुषविधब्रह्मणात् । अहमिति ब्रह्मणि सति यौगिकं सत्तार्थस्यास्तोर्मदिक् । रूढमिति भाष्याः तथा चं स्मृतिः 'अहं सर्वस्य प्रभवः' 'अहमेवासमेवाग्रे' इति च । तं करोतीत्यहंकारः । पुरुषविधः तस्य वादो मोक्षपर्यवसायीति अहंकारवादः । स यत्पूर्वोऽस्मात्सर्वस्मात् सर्वान् पाप्मनः औषत् तस्मात् पुरुष इति श्रुतिः । आत्मवादः । ब्रह्मवादः पूर्वमुक्तः । इन्द्रप्रयोगादुभयं युक्तम् । शीतोष्णसुखदुःखादिवत् । तथा च श्रुती 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' इति च । पुरुषविधब्रह्मणे ।

चेन्न । अध्यात्मसंबन्धभूमा ह्यस्मिन् । अस्मिन् प्रकरणे अध्यात्मसंबन्धः । आत्मानमधिकृत्य यः संबन्धः । आत्मशब्दो ब्रह्मवाची । वस्तुतो जीवस्य ब्रह्मत्वाय तथा वचः । तस्य संबन्धः । तद्धर्माः । तेषां बाहुल्यं प्रतीयते । एष लोकपाल इत्यादि । यावद् यथाकथंचिदपि ब्रह्मप्रकरणत्वं सिद्ध्यति, तावदन्य-प्रकरणत्वमयुक्तमिति हिशब्दार्थः । प्राणस्य प्रज्ञानात्मत्वम् । स्वातन्त्र्येणायु-

भाष्यप्रकाशः ।

पूर्वद्वयव्याख्यान उक्ताः । निराकरणांशं व्याकुर्वन्ति अस्मिन्नित्यादि । अधिकृत्येति अधिराधिक्ये । अधिकं कृत्वा । आत्मपदार्थस्य संदिग्धत्वादाहुः आत्मेत्यादि । ननु तर्हि ब्रह्मपदमेवास्मिन् दृष्टे कृतो नोक्तमत आहुः वस्तुत इत्यादि । ऐकात्म्यवादेन जीवस्य ब्रह्मत्वं बोधयितुमात्मपदम् । अत एव सूत्रे परिहारांशप्रयोगो नकारस्य न कृतः । संबन्ध इति सम्यग्बन्धोऽस्याऽसौ संबन्धः । तथाच जीवात्मनः सकाशात् परमात्मानमधिकं कृत्वा तद्धर्म-बाहुल्यमस्मिन् प्रकरणे प्रतीयते । अतोऽत्र बहूनामनुग्रहस्य न्याय्यत्वात् प्राणः परमात्मेत्यर्थः । ननु किमित्येवं निर्बन्ध इत्यत आहुः यावदित्यादि । तथाच पूर्वसूत्रे साधकहेतुमुक्तत्वाऽत्र हिशब्दकथनात्, सर्वे वेदा यत् पदमिति श्रुत्यनुरोधेन निर्बन्ध इत्यर्थः । तदुपपादयन्ति प्राणस्ये-रश्मिः ।

'निर्धर्मको वा भिन्नो वा निरोधं कुरुते यदि ।

तदा निरोधो व्यर्थः स्यादित्येवं षड्गुणामिधा' ॥

इति गुणप्रकरणकारिका । अहंकारस्तु

'ततो विकुर्वतो जातो योऽहंकारो विमोहनः ।

वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिवृत् ॥

तन्मात्रेन्द्रियमनसां कारणं चिदचिन्मयः' इति ।

ततो महतो विकुर्वतः कालेन धुन्धगुणान्निवृत् त्रिव्यूहः चिदचिन्मयः चिदाभासत्वाच्चिद-चिद्वन्निरूप इति भेदः । ऐकात्म्येत्यादि वस्तुत इत्यस्यार्थः । यतो वस्तुत्वैकाल्यं श्रुत्युक्तत्वात् विभक्तिस्तु तृतीया प्रत्ययस्य सार्वविभक्तिकत्वात् । यागाय याति इत्यस्य यष्टुं यातीति विवरणवत् । अत्राहुः ब्रह्मत्वमित्यादि । वादशब्देन भक्त्यर्थमैकाल्यं यत्तन्निरूप्यते द्वितीयाध्याये मोक्षापत्तिसूत्रे ब्रह्मणो निर्विशेषस्य कारणत्वादिति भाष्येण सिद्धं गृह्यते । स च शारीरब्रह्मणे अणुः पन्थाः विततः पुराणो यांश्चष्टो वित्तो मयैव तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः उत्क्रम्य स्वर्गं लोकमितो विमुक्ताः । अग्रे यस्यानु वित्तः प्रतिबुद्ध आत्मा अस्मिन् संदेहे गहने प्रविष्टः स विश्वकृत् स हि सर्वस्य कर्ता तस्य लोकः स उ लोक एवेति प्रोक्तः । दहराधिकरणे जीवब्रह्मवादः स तु तत्रैव दूषितः । अत एवेति ब्रह्मजीवयोरेशांशिमोवनेक्यात् तद्धर्माणां ब्रह्मधर्मत्वादेव वक्तुरात्मोपदेशादिति चेन्नाध्यात्मसंबन्धभूमा ह्यस्मिन्निति न सूत्रितमित्यर्थः । तथा सति ह्यात्मजीविक्यं सर्वया ध्यासचरणैर्नि-विद्धं स्यादिति भावः । संबन्धशब्दस्यासाधारणधर्मवाचकत्वं वक्तुं योगमाहुः सम्यगित्यादि । बन्ध इति बन्ध संयमन इति धातोर्घञि निष्पन्नः । तथा च सम्यक् बन्धो नियम आधेयत्वेन यस्य स धर्मः संबन्धपदवाच्य इत्यर्थः । एतेन सिद्धमाहुः तथाचेत्यादि । प्रतीयत इति ते च धर्माः परमहितत्वब्रह्महत्यादिरूपमहापापनिवर्तकत्वलोकपालत्वादिरूपा बोध्याः । हिशब्देत्यादि

वातृत्वम् । न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यादिति चोपक्रम्य, तथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता, नामावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्पर्पिताः, प्रज्ञामात्राः प्राणे अर्पिताः । स एष (प्राण एव) प्रज्ञात्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृतो न साधुना कर्मणेत्यादिविषयेन्द्रियव्यवहारे अरनाभिभूतं प्रखगात्मानमेवोपसंहरति । स म आत्मेति विद्यादिति चोपसंहारः । तस्मात्तस्मात्संबन्धबाहुल्याद् ब्रह्मोपदेश एवायम् ॥ २८ ॥

तर्हि वाचकस्य का गतिरित्यत आह ।

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥ २९ ॥

पूर्वसूत्रेणापरिहृतमत्र परिहरति तुशब्दः । अयं दोषो व्यवहारदृष्ट्योपदेशे । अहं ब्रह्मेत्यार्षेण दर्शनेन तूपदेशः । ननु, तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्मेति वाक्येषु जीवस्य ब्रह्मत्वं बोध्यते । तत्र प्रत्यधिकारं शास्त्रप्रवृत्तिरिति न्यायेन स्वात्मन एव ब्रह्मत्वावगतिर्मुक्त्या । न प्रतर्दनस्येन्द्रजीवब्रह्मत्वावगतिरुपासनं वा पुरुषार्थाय । अतः शास्त्रदृष्टिरपि नैवंविधा । केवलस्य चैतन्यमात्रस्य

भाष्यप्रकाशः ।

त्यादि । भूतमात्राः शब्दादयः । प्रज्ञामात्रा ज्ञानेन्द्रियांशः । तस्मादिति प्रज्ञात्मत्वाद्युपदेशात् ॥ २८ ॥

तर्हीत्यादि प्रकरणस्य ब्रह्मपरत्वाङ्गीकारे । वक्त्रा इन्द्रेण यः स्वात्मोपदेशः कृतस्तस्य वाचकस्य क उद्धरणप्रकार इत्यर्थः ।

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥ २९ ॥ व्याकुर्वन्ति पूर्वत्यादि । अयं दोष इति स्वात्मोपदेशरूपो दोषः । तथाचार्यज्ञानेन स्वात्मानं ब्रह्मात्मकमवगत्येन्द्रैव-गुपदिष्टमतोऽत्रैवं प्रकारभेदे भासमानेऽपि ब्रह्मण एवोपदेशान्नेनान्यथा संभावयितुं शक्यमित्यर्थः । कथमेवमवगम्यत इत्यपेक्षायां दृष्टान्तमवतारयन्ति नन्वित्यादि । प्रत्यधिकारमिति अधिकारं लक्ष्यकृत्य । नैवंविधेति । नेन्द्रजीवस्य ब्रह्मत्वबोधनपरा । तर्हि, न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यादित्यत्रे श्रावणाजीवसामान्य एव शास्त्रदृष्टिरस्त्वित्याशङ्क्याद् केवलस्येत्यादि । सर्वज्ञत्वाज्ञत्वादीनां धर्माणां परस्परविरोधाद्भागत्यागलक्षणया निर्विशेषस्य

रश्मिः ।

अस्यार्थस्य युक्तत्वं हिशब्दस्य वाच्योर्थः । आसन्यपक्षे सर्वत्र गौणाद्यापत्तिरिति सूचितोर्थः भाष्ये ज्ञेयः । विशिष्यार्थस्याधिकरणसमाप्तौ वक्तव्यत्वात् । अर्थसंक्षेपमाहुः भूतमात्रेति । यथा रथस्यारेष्विति 'आरं शीघ्रे च चक्राङ्गे शीघ्रगे पुनरन्वयवत्' इति विश्वाचक्राङ्गेषु । नेमिरिति 'नेमिस्त्रिकायां कूपस्य चक्रान्ते तिमिश्रदुमे' इति विश्वाचक्रान्तम् । नाभाविति 'नाभिः प्रभावे कस्तूरीमदे च कचिदीरितः' इति विश्वाचक्रप्रधानेङ्गे । विषयेन्द्रियेति विषया भूतमात्राः । इन्द्रियाणि प्रज्ञामात्राः ॥ २८ ॥

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥ २९ ॥ पूर्वत्यादीति पूर्वसूत्रेणापरिहृतमिति द्वितीयः पाठः प्रथमे भाष्ये न परिहृतमित्यत्र नैकषेत्यादिवत् नशब्देन सह सुपसुपेति समासात् 'न लोपो नञः' इत्यनेन न नलोपः । एवमिति मामेव जानीहीत्येवम् । अन्यथेत्यादि यद्यत्र ब्रह्मण्येवाभिप्रायः स्यात् नाहंकारवादेनोपदिशेदतोत्र ब्रह्मातिरिक्तं किंचिदुपदिष्टमित्येवमन्यथा संभावयितुमित्यर्थः । लक्ष्मीकृत्येति यथाधिकारमिति यावत् । वक्तारमिति जीवम् । विरोधादिति

तादृशो ब्रह्मण्यैक्यावगतिर्विरोधात्तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थोऽध्यवसीयते । न तु ब्रह्मधर्मा जीवे वक्तुं शक्यन्त इत्याशङ्क्य परिहरति । वामदेववत् । तद्वैतत् पश्यकृषिर्वाग्देवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यमेति । य एव प्रत्यबुद्धयत स सर्व भवति । तत्र सर्वेषां सर्वभावे सर्वानन्यप्रसङ्गात् सर्वभेकमेवेति वक्तव्यम् ।

ततः कारणलय एव सर्वभाव इति मनुरभवं सूर्यमेत्यवयुत्यानुवादोऽ-

भाष्यप्रकाशः ।

चैतन्यमात्रस्य जीवस्य निर्विशेषे चैतन्यमात्रे ब्रह्मण्यैक्यावगतिस्तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थ इति निश्चीयते । न त्वानन्दाऽऽनन्दत्वादयो ब्रह्मधर्मा ऐक्यावगतिविरोधिनस्तत्र जीवे वक्तुं शक्यन्ते । अतोऽत्र वक्तुत्वादिवैशिष्यस्योक्त्या केवलस्यात्राविवक्षितत्वाद् ब्रह्मणोऽपि तादृशत्वेनाप्रावि-क्षितत्वाजीवसामान्ये शास्त्रदृष्टिरपि न वक्तुं शक्येति नायं समाधिरुपपन्न इत्यर्थः । परिहारं व्याकर्तुं दृष्टान्तं व्याकुर्वन्ति तद्वैतदित्यादि । इदं दृष्टदारण्यके पुरुषविषयप्रमाणस्य वाक्यम् । तत्रेति अस्मिन् वाक्ये । एकमेवेति ब्रह्मात्मकतयैकमेव । कारणलय इति कारणे ब्रह्मणि लये । अवयुत्यानुवादोऽनुपपन्न इति । स्वसर्वत्वविध्यंशं पृथक्कृत्य मन्वाद्यनुवादः स्वस्य

रश्मिः ।

भाष्यानुवादः । भागत्याग इत्यारभ्य निश्चीयत इत्यन्तम् । सर्वोपनिषदि 'सर्वोपाधिर्विनिर्मुक्तः सुवर्ण-धनवद्विज्ञानचिन्मात्रस्वभाव आत्मा यदावभासते तदा त्वंपदार्थः प्रत्यगात्मेत्युच्यते' । 'त्वंपदार्थादौ-पाधिकाद्विलक्षण आकाशवत्सूक्ष्मः केवलः सत्तामात्रस्त्वपदार्थभात्मेत्युच्यते' इति श्रुत्योर्निर्विशेष-त्वस्येत्यदिरर्थः । 'कर्मानुसारी भूत्वा प्राप्तशरीरसंबन्धवियोगमप्राप्तशरीरसंबन्धमिव कुर्वाणो यदा दृश्यते तदोपहितत्वाजीव इत्युच्यते' । अत्र भागत्यागस्तथा 'ब्रह्मादिपिपीलिकापर्यन्तसर्वप्राणिबुद्धिरष्ट-विशिष्टतयोपलभ्यमानः सर्वप्राणिबुद्धिसो यदा तदा कूटस्थ इत्युच्यते' । 'कूटस्थाद्युपरिहिताभेदानां स्वरूपलामहेतुर्भूत्वा मणिगणं सूत्रमिव सर्वक्षेत्रेष्वनुस्यूतत्वेन यदा प्रकाशते आत्मा तदान्तर्भासी-त्युच्यते' अत्र भागत्यागश्च यथा गङ्गायां घोष इत्यत्र यथावद्भागत्यागेन लक्षणा भागत्यागलक्षणा भागस्य त्यागो यस्यां सा चासी लक्षणा चेत्यत्र गौरवम् । वरानेकपदलक्षणातो षेकपदलक्षणेति । आत्मा द्वितीयैकवचनान्तयुष्मत्पदार्थाणुः 'एवोणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश' इति श्रुतेः । भाष्यं व्याख्याय फलितमाहुः अतोत्रेत्यादिना । तादृशत्वेनेति केवलत्वेन । न वक्तुमित्यादि तथा च यद्यत्र भागत्यागलक्षणया केवलस्य चैतन्यमात्रस्य ज्ञापनादिकं विवक्षितं स्याद् ब्रह्मधर्मा अत्र नोक्ताः स्युरिति भावः । भाष्ये वामदेववदिति इतिकरणमन्तरापि सूत्रप्रती-कत्वं 'सर्वं विष्णुमयम्' इत्यस्य प्रक्षिप्ताध्यायसुबोधिन्या विष्णुपुराणवाक्यप्रतीकत्ववत् । प्रकृते । कारण इत्यादि साकारब्रह्मत्वात् कृतकारुणोर्धेन तादृशताऽश्रयण लयो बोध्यः । स्वसर्वत्वे-त्यादि स्वसर्वत्वप्रयोजकविध्यंशं कथं तु मात्मन एव जनयित्वा संभवाति हन्त तितोसानीतीति पूर्वोक्तप्रकारस्याप्राप्यनुकर्षात्तत्र संभवातीति लोकोक्तं विध्यंशं यद्वा स सर्वं भवतीत्यत्र लेढाश्रयणात् भवातीति पाठाद् वा विध्यंशं पृथक्कृत्य यद्यपि सारस्वतीयथानुपाठे यु मिश्रण इत्येव तथापि धातुतर-ङ्गिण्यां तट्टीकायामभिप्राये च सिद्धान्तकौमुद्यामभिप्राये इत्यन्य इति निरुक्तेः साधुः । संभवातीत्यस्य

१. प्रकृतकोटी यद्वा येषु अन्यकलाची भ्वादिरात्मनेपेयी वेद । यद्वा रिपू हिंसयां भ्वादिः परस्मैपेयी वेद । यद्वा क्-उ-वे विधादिभुपदिभ परस्मैपेयी वेदो । वर्णविकारः सर्वत्र बोध्यः ।

नुपपन्नः । तत्र यथा ज्ञानावेशात् सर्वधर्मस्फूर्तिरेवमत्रापि ब्रह्मावेशादुपदेश इति ।

भाष्यप्रकाशः ।

ब्रह्मणि लीनत्वादनुपपन्नः । न प्रेत्य संज्ञातीति श्रुत्यन्तरे ब्रह्मभूतानां भिन्नतया खानुसंधाना-
भावनोधनात् । तर्हि कथमेवमुक्तं तत्राहुः तत्र यथेत्यादि । ब्रह्मावेशादिति शास्त्राम्यास-
रश्मिः ।

संभोगं कुरुतादिति पूर्वार्थः । प्रकृते तु मा मामात्मन एव जनयित्वा कथं नु संभवाति सम्यक् प्रकारे-
णैक्यप्रकारेणाभक्तिमार्गीयेण भवाति भवतात् सत्तां कुरुतादित्यर्थः । हन्तेति खेदे । तिरोरानि रूपान्तरेण
तिरोभूतो भविष्यामीति अथवा स्वसर्वैत्यत्रेयं प्रक्रिया । भू सत्तायां लेट् 'लिङ्गं लेट्' इति सूत्रात् लेटस्तिप्
भूति इति स्थिते 'सिम्बहुलं लेटी'त्यतः सिप इञ्जोपे कृते भूस्ति इति स्थिते 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' इत्यने-
नेतो लोपे भूस्त् इति स्थिते 'लेटोडाटौ' इति सूत्रेणाद् टित्वादायः भूस् अत् 'आर्षघातुकसेडुलादेः'
इत्यनेन सिम्बहुलं णिङ्गक्यः इति वार्तिकेन सिपि णिति वृद्धौ चेद् । भाव इस् अत् । अञ्जीनं परेण
संयोज्यमिति भाविसत् । षत्वे भाविषत् । प्रण आयूश्च तारिषत् इतिवत् । सिप इलोपस्य चामावे
पताति विद्युत् प्रियः सूर्ये प्रियो अश्ना भवातीतिवत् । सिप इलोपस्याटश्चाभावे सर्वं भवतीति । ननु यत्र
सिचिल्लोपौ तत्रैव ह्यद् । तारिषत् ज्योषिषदासाविषत् इत्यत्र यथा यत्र तु सिचिल्लोपौ न स्तस्त्र ह्याद्
यथा पताति भवातीति ह्यत्र तु सिचिल्लोपाभावेन कथमद् कित्वाया भाष्यमिति चेत्सत्यम् उदाहरणपेक्षया
सूत्रमतस्य प्राचल्यं सुरादिगणे मनोरमायां भाननदित्यत्रोक्तत्वात् । 'लेटोडाटौ' इति सूत्रे वृत्तौ
वास्व विशेषस्यानुपलम्भात् । वृत्तिस्तु लेटः अद् आद् एतावागमौ स्तस्त्वौ च पिताविति । भक्तिमार्गीयां-
शस्य पृथक्कृतत्वात्, ज्ञानिवेलायां द्वितीयपक्षे ज्ञानमार्गीयांशस्य पृथक्कृतत्वात्, मुक्तोपपञ्चप-
देशादिति सूत्रेणाधिकारवेलायां सत्तामाहुः स्वस्येत्यादिना । तत्र हेतुमाहुः न प्रेत्येत्यादिना ।
शास्त्रेत्यादि शास्त्राणामभ्यासः पौनःपुन्यं कीर्तनं स्मरणं वा स्वनिर्वाहकस्मरणोपलक्षकं तेषां यद्
दार्ढ्यं शतधापि व्यसनसंपातेनुच्छेदो बाहुल्यं च तयोः समाहारे दार्ढ्यं बाहुल्यं तेन । तथा
चास्य योहंकारवादः स ब्रह्मात्मभावेनैव न स्वात्मभावेनेत्यतस्तत्र यथा स न मायिकत्वेपि ब्रह्मवाक्य-
बाधकः तथात्रायमपीति भावः । नन्वत्र ज्ञानावेशादिति भाष्यं पूर्वत्र तु स्वसर्वत्वेत्यादिना भक्तिरपि
कौचिद्ब्रह्माख्यातेति चेत् सत्यम् तदाहुः यद्ब्रह्मविषया सर्वं भविष्यन्त इत्यादिना ब्रह्मविषया सिद्ध-
देवर्षिभ्योऽनुष्णाणामुक्त्वा वामदेवर्षिप्रतिपत्तावहं मनुरभवं सूर्यश्चेति साकारब्रह्मवादो निष्कृष्टः तद्वक्ष्यमाणं
नित्यनिरतिशयं श्रेयःप्रतिवित्स्व आहुरिति तदाहुरित्यस्यार्थः । अथ योन्यां देवतामुपास्तेत्योसाव-
न्योहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानामिति ह्यभेदोपासनाया ज्ञानमार्गीयायाः समर्थनार्थं
भेदकम् पशुरिति निन्दितः । 'अन्तरा भूतप्राभवत्स्वात्मनः' इत्यत्रान्तरापभूताभेदज्ञानं भक्त्या न
ददाति इति तृतीये साधनाध्याये निर्णीतम् । तत्राभेदवान् निन्दितस्तत्र ज्ञानमार्गे भेदज्ञानवतो
निन्दायां पशुशब्दस्य रूढिः पशु बन्धे सुरादिपरस्मैपदी सेद् योगो वा योगरूढिर्वा निरुक्ता तस्य
भेदकश्चि पुरुषे गौणी उपासकत्वादिगुणयोगात् । तस्य तात्पर्यवृत्त्या देवादिप्रियोर्था हि काकां
कृतायां विरुध्यतेतो भक्तिमार्गात्सारेणाहुः श्रुतयस्वात्पर्यवृत्तिं पशोः । यथा ह वै बहवः पशवो
मनुष्यं भुज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान् भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किं तु बहुषु
तस्मादेषां तत्र प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युरिति । भुज्युर्दोहनादिना पालयेयुः भुनक्ति पालयति

१. ऊन परिहाणे । २. अन्वुल्लेखत्र अद्योपसर्गार्थे ।

त्वाद्ब्रह्मवाक्यो ब्रह्मधर्म एव । तदावेशेन क्रियमाणत्वात् । 'नन्वेव ब्रह्मस्तव
शक्त तेजसा हरेर्दधीवेस्तपसा च तेजितः । तेनैव शक्तुं जहि विष्णुपश्चितः' इति-
बृहन्नवचनं श्रीभागवते । तस्माद्युक्तं ब्रह्मधर्मवचनम् । ननु 'स्वाप्ययसंपत्त्योरन्य-
तरापेक्षमाविष्कृतं हि' इति सूत्रे सुप्तौ ब्रह्मसंपत्तौ च ब्रह्मधर्माधिर्भावो न
त्वन्यदेति कथमेवमिति चेन्मैवम् । उपदेशभावनादिष्वपि कदापिदुत्तमाधिका-
रिविषये ब्रह्मप्राकट्यमित्यङ्गीकर्तव्यम् । 'मद्येष सकलं जातम्' इत्यादि-
वाक्यानुरोधात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

दार्ढ्यं बाहुल्येन तदावेशात् । ननु यदि शास्त्रद्वयोपदेशः स्यात् तदा जगल्लयादय उक्ताः
स्युर्न तु त्वाद्ब्रह्मवाक्ये इन्द्रकर्तृका इत्यत आहुः त्वाद्ब्रह्मवाक्ये धर्मवचनमित्यन्तम् । अत्रा-
गामिद्वयविरोधमाशङ्कते नन्वित्यादि । परिहरन्ति मैवमित्यादि । नान्यदेति नियमरूपः
स्युर्नार्थो नाङ्गीकर्तव्यः । किन्तुभयत्र नियतोऽन्यत्र त्वनियत इत्यङ्गीकर्तव्यः । तत्र हेतुः
उपदेशोऽप्येति । तथा चैवंविधवाक्यानि पश्यन् व्यासः कथमेवं नियमयेदतो नैवं स्युर्नार्थः ।
आदिपदेन 'एतत्साम गायत्रास्ते' इत्यादिश्रुतीनां, 'कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः' इत्यादिवाक्यानां
रश्मिः ।

अप्रियमिति छेदः । किंत्वित्यस्य किंपुनरित्यर्थः । पशुभावाद् व्युत्थानसाधनं तत्त्वज्ञानं कुर्युरिति विद्यु-
रित्यस्यार्थः । अत्रैतद्गीकाकृत् पशुभावाद् व्युत्थानं देवा विद्विषन्तीत्याहेत्येकस्मिन् एव पशावादीयमाने
इत्याद्या आभासयांचकार पशुभावाद् व्युत्थानसाधनं तत्त्वज्ञानमपि देवा विद्विषन्ति इत्याहेति तस्मादेपा-
मित्याद्या आभासयांचकार देवाश्च नाभूत्या ईशते इत्यत्रोक्तान् देवान्देवपदार्थत्वेन ग्राहयामास
तदन्यथा यथाकथंचिद्वेद्यम् । अथाह वै बहव इत्यत्र सोपपत्तिकविधाकथनानन्तरमित्यथशब्दार्थात्
ते देवा नात्र ग्रहीतुं शक्याः किं तु लदादीनामुत्सर्गतः प्रधानपरामर्शित्वाच्चैवं स देवानामित्यत्रोक्तान्
देवान् ग्राहयाम इति को भेद उभयेषाम् । तेषामभेदद्विधापेक्षामित्यस्यार्थः । अस्माकं तु भेदद्विधा-
पेक्षामित्यस्यार्थः । यमर्थमिच्छामः । काका तु संभवति । अन्यथा प्रकृतापरामर्शे तु पूर्वविधाकथन-
विच्छेदकायश्रौतपदविरोधापत्तेः । काकस्तु ह्यप्रियं भवति किमपि तु न किं तु बहुषु ह्यपि
तु न, न प्रियमपि तु प्रियमिति । एवमपि वेदोक्षरमात्रमपि नान्यथा वदतीति भाष्यविरोधः । तदा काका
विनापि भेदद्विधां भेदकश्रुतौ उपादाने सिंहादिकर्तृकेऽप्रियत्वं विरोधामासेनालंकारमिति भेदकश्रुते भक्तत्वं
गमयति । भक्तास्तु ह्यभेदद्विधोपि वेदान्तकृदादेः सकाशात्प्राप्तभेदकवन्त इव चकासतीति तदुपादा-
नान्य प्रियाण्येव 'अहं भक्तपराधीन' इति स्मृतेः । 'अन्तरा भूतप्राभवत्स्वात्मनः' इत्यत्र स्फुटम् ।
जगल्लयेत्यादि स्थितिविधमानत्वात् उक्तः । तथा च ब्रह्मवेशोत्रेति न लयादय उक्तास्ते तु
ब्रह्मत्वे सतीति भावः । इत्यादीत्यादि हाहु हाहु हाहु अहमन्नमहमन्नमहमन्नं अहं विश्वं भुवनम-
म्यमवां सुवर्णज्योतिरित्यादयो ब्रह्मवेशयोधकाः आदिपदायाः । हावित्यादीनि त्रीणि पदानि आश्चर्ये
अन्यत्र त्रिरुक्तिरार्थे यथा आत्मबोधोपनिषदि अमृते लोकेऽक्षितेऽमृते लोके अक्षिते अमृते लोके अक्षिते
अमृतत्वं गच्छत्यमृतत्वं च गच्छत्यमृतत्वं च गच्छत्यो नम इति अमृतचिन्दूपनिषदि । न स स्युर्भोज्याते

१. वेदान्तकृततदनुयायिनाम् ।

५१ म० सू० २०,

इहैव समवनीयन्ते प्राणाः । ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येतीत्यप्याविर्भावापेक्षम् । तस्य

भाष्यप्रकाशः ।

च संग्रहः । तथाच वाक्यानां सूत्रोपजीव्यत्वेनोक्तसूत्रस्य संपत्तिपदे उपलक्षणविधयोक्तमाधिकारोऽपि संग्रहीतुं शक्यत इति न तद्विरोध इत्यर्थः । ननु तद्वैतदिति, भव्येवेति श्रौतं वाक्यद्वयं पूर्णज्ञानिन इति तस्याहंकारवादेन तथा कथनं युज्यते, न त्वावेशिनः । इन्द्रस्त्वावेशीति दृष्टान्तदर्शान्तिकवैषम्यम् । न चेन्द्रस्यापि पूर्णज्ञानित्वं शक्यपचनम् । तथा सति वामदेवादेरिवेन्द्रस्यापि युक्तत्वात् तद्वदेवमुपदेशस्यापि फलत्वमुक्तं स्यादित्यत आहुः इहैवेत्यादि । अस्तु तस्य पूर्णज्ञानिवाक्यत्वं तेषां युक्तत्वं च । तथापि ज्ञानमुत्तयोराविर्भावापेक्षत्वं तु निर्विवादम् । इहैवेति श्रुतौ ब्रह्मैव सन्निति ब्रह्मभावे सत्येव मोक्षकथनाद्, 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इति श्रुत्यन्तरे ज्ञानेन ब्रह्मभावश्रावणाच्च । ब्रह्मभावश्च स्वस्मिन् ब्रह्मधर्माविर्भावपूर्वकब्रह्मस्फूर्तिरूप एव । न तु तद्व्याप्तिरूपो, न वा तादात्म्यरूपः । तस्य सार्वदिकत्वेन सर्वावस्थासाधारणतया ज्ञानित्वाद्यप्रयोजकत्वात् । नापि निष्प्रपञ्चतत्स्फूर्तिरूपः । सर्वभावस्फूर्त्यादिरश्मिः ।

न स भूयोभिजायते न स भूयोभिजायत इति । वाक्यानामिति ब्रह्मवेशबोधकानाम् । उपजीव्यत्वं कारणत्वं तेन । उत्तमेत्यादि उत्तमाधिकारो ज्ञानम् ।

'चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोर्जुन ।

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ' ॥

'ज्ञानी त्वात्सैव मे मतः' इति गीतायाः ।

अत एव ज्ञानी चेद्भजते कृष्णमिति निबन्धे प्रोक्तं श्रीमदाचार्यैः । उत्तमाधिकारो ब्रह्मवरणसहितप्रेमापि 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः', 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' इति श्रुतिभ्याम् । भावनादीनां साधनत्वं तृतीयाध्यायचतुर्थपादे सहकार्यन्तराधिकरणे वक्ष्यते । श्रीभागवते त्रिभिरध्यायैर्हानाधिकारस्त्रिभिर्मध्यमस्त्रयोदशभिरुत्तमं इति प्रथमस्कन्धोधिकारस्कन्धः । एतादृशाधिकारस्योपलक्षणविधया सूत्र उपादाने हेतुमाहुः तस्येत्यादिना । अहंकारवादेनेति प्रारब्धशेषरूपाविद्यारूपेणेत्यर्थः । सिद्धान्ते तु चिकीडिषया रुद्ररूपाहंकारेण नित्यक्रीडाप्रविष्टांशेन । गुणिरुद्रभिन्नगुणिरुद्रसदृशेन । आवेशेतीति प्रथमस्य तृतीयाध्यायसुबोधिन्यामस्ति । कार्यकाले संक्रमणमावेशः । तद्वदेवमिति तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवतीति सर्वभावरूपफलत्ववदित्यर्थः । एवमुपदेशस्येत्यस्य स्वात्मनः परमात्मत्वेनोपदेशस्येत्यर्थः । इदानीं ब्रह्मभावस्वरूपं निश्चिन्वन्ति ब्रह्मभाव इत्यादिना । एवेति पञ्चाध्याय्यां तथोपपादनात् । साकारब्रह्मवादाद्यैवेति व्याप्तिरूप इति स्वसमानाधिकरणत्वात्तन्मावाप्रतियोगित्वं व्याप्तिरत्र तिलेषु तैलस्य दधनि सर्पिष इव तादात्म्यं तदात्मनोभावस्तद्रूपत्वमिति यावद् आत्मसृष्टौ । तस्येति ब्रह्मव्यापनरूपस्य तदितरस्य च । ज्ञानित्वादीत्यत्रादिनाधिकारः । नन्वस्तु ब्रह्मधर्मः सत्यत्वाद्यभावाभावलक्षणस्तत्पूर्वकनिष्प्र-

च प्रायिकत्वान्न सूत्रे फलत्वमाह । जीवन्मुक्तानामपि परममुक्तेर्वक्तव्यत्वाच्च । असंप्रज्ञातसमाधाविवाविर्भावदशायामेव शरीरवियोगे वियोजकत्वाभावाद्

भाष्यप्रकाशः ।

विरुद्धत्वात् । अतः प्रकृते उपदेशरूपकार्यदर्शनेन तत्कारणरूपे ज्ञाने ब्रह्मधर्माविर्भावपूर्वक-ब्रह्मभावे चेन्द्रस्य सिद्धे तथा वाक्यकथनस्य युक्तत्वान्न दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकवैषम्यम् । एतावान् परं विशेषो यन्मुक्तस्योक्तविधयन्त्रभावः सार्वदिक आवेशिनस्तु कादाचित्कः । अतस्तस्य प्रायिकत्वाद् वामदेवादिस्वत्ववन्न सूत्रे तस्य फलत्वमाह । किंच । सर्वभावस्यापि साधनत्वेनावान्तरफलत्वमेव, न परमफलत्वम् । परममुक्तिश्च जीवन्मुक्तानामप्यग्रे वक्तव्या, सुतरामावेशिन इत्यतोऽपि नाहातो न तदनुक्तिर्दोष इत्यर्थः । ननुक्तस्येले ब्रह्माविर्भावाङ्गीकारो न युक्तः । तस्मिन् सति वागादिविलयस्येहैवेति श्रुतौ कथनाद् वक्तुस्तदापस्योपदेशनासंभवपत्तेः । तस्य युक्तिपूर्वावस्थास्यैवनाचिर्वादिगतिकथनापत्तेश्चेत्यत आहुः असंप्रज्ञानेत्यादि । सत्यमस्ति तत्र तथात्वं पुराणे दधीच्यादिषु प्रसिद्धं च । तथाप्युक्तश्रुतौ, अथाकामयमान इति प्रतिज्ञाय लयकथनात् कामाभावे सत्येव प्राणानां लयो न तु तदभावे । प्रकृते तु दधीचिदसंप्रज्ञातसमाधेरभावाद्धिकारित्वेन तदानीमिन्द्रियवियोजकस्य कामाभावस्य चाभावाच्च वागादिलय इति नोपदेशानुपपत्तिः । ब्रह्मभावस्य प्राप्तत्वाच्चाचिरादिगत्युक्तिश्चेत्यर्थः ।

यद्वा । ननुपदेशभावनादिषु ब्रह्माविर्भावो न युक्तः । यदि तत्र स स्वात्तदोपदेशुः सद्यो मुक्तिः स्यात् 'इहैव समवनीयन्ते प्राणाः' इत्यादिश्रुतौ तथैव सिद्धेः । तथा सति तस्याविर्भावस्य फलत्वमपि व्यासैरुच्येतेत्यत आहुः इहैवेत्यादि । सत्यं सद्योमुक्तिराविर्भावापेक्षा । परंतु ब्रह्मैव सन्निति श्रुतावधारणकथनाद् यत्र सर्वथा ब्रह्मभावस्तत्रैव सद्योमुक्तिः । उपदेशभावनादौ तु न तथा । ब्रह्मिःस्फूर्तेरपि सत्त्वेन केषुचिदेव तद्भवनेन तस्याविर्भावस्य प्रायिकत्वा-रश्मिः ।

पञ्चस्य दृशिमात्रस्य ब्रह्मणः स्फूर्तिरूपः । अत इति कार्येण कारणानुमानात् । प्रायिकत्वादिति उत्तमाधिकारजन्यत्वेन प्रायिकत्वात् 'कस्याश्चित्पूतनायन्त्याः' इत्यादौ तादृशभक्तिसाप्यत्वेन दुर्लभत्वप्रयुक्तात्तथात्वादित्यर्थः । सूत्र इति स्वाप्ययसूत्रे । दधीच्यादिष्विति ।

'एवं व्यवसितो दध्यङ्गाथर्वणमुनिस्तनुम् ।

परे भगवति ब्रह्मण्यात्मानं संनयन् जहौ' ॥

इतिवाक्यात्प्रसिद्धम् । असंप्रज्ञातसमाधिः निर्वाणसमाधिः यत्रेति नेतीति वाक्यसंवादी । यत्र भगवतो रूपस्य न भानम् । 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' इत्यत्र प्रप्रभ्योस्य । असंप्रज्ञातसमाधिः शमीकस्याप्रे वक्ष्यते । अधिकारित्वेनेति स्वलोकपालत्वात् । ब्रह्मेत्यादि ब्रह्म चासौ भावश्चेत्यपि समासः । ब्रह्मवेशानन्तरं ब्रह्मभाव इति पक्षे पृष्ठीतत्पुरुष एव । भाष्ये तु वागादिमात्रं लीयते इति तद्व्यकथनात् भाष्यविरोध इत्याशङ्क्य पश्चान्तरमाहुः यद्वेत्यादि । उपदेशेत्येत्यादि उपदेशोत्रत्यः । भावनास्मदादिकर्तृका तस्याम् । आदिपदेन संयोगे वियोगवृत्तिरूपे प्रेम्णि । न तथेति न सर्वथा ब्रह्मभाव इत्यर्थः । तत्र हेतुर्ब्रह्मिःस्फूर्तेरित्यादि । तथा चोक्तद्विरेह ब्रह्मभावस्तत्र ब्रह्मिःस्फूर्तेरभावादिति भावः । यथान्तर्दृश्यतानाम् । ननु तदतिरिक्तानां सर्वथा ब्रह्मभावस्तरणात् सद्योमुक्तिप्रसन्न इति चेन्न ।

वागादिमात्रं लीयते । तस्य च प्राप्तत्वादेव नार्चिरादिगतिः । तथापि प्रायिकत्वात्
सूत्रगीतादिषु तद्वचनम् । सगुणनिर्गुणभेदेन नियमवचनं स्वप्रामाणिकमेव ।

भाष्यप्रकाशः ।

इगवान् व्यासस्तस्य फलत्वं नाह । न तु तावता सर्वत्र नाविर्भाव इति वक्तुं शक्यमित्यर्थः ।
यदि तादृशाविर्भावस्य न फलत्वं तदा तस्य वैयर्थ्यमेव स्यादित्यत आहुः जीवन्नित्यादि ।
तथाच पारम्याभावात् फलत्वानुक्तावपि नाफलत्वमित्यदोष इत्यर्थः । ननु यदि तादृशस्याविर्भा-
वस्य जीवन्मुक्तिसंपादकत्वं तदा तस्यार्चिरादिगतिरुच्येत । सा च नोच्यतेऽतो नैवमित्यत
आहुः असंप्रज्ञातेत्यादि । शरीरविद्योग इति । अर्चिरादिगतिरिति शेषः । विद्योजका-
भावादिति तादृशादृष्टाभावात् । भावनादौ वागादिमात्रं लीयते । तस्य ब्रह्मणश्च प्राप्तत्वात्
तत्प्राप्त्यर्थार्चिरादिगतिरत्र नोक्ताऽतो न दोष इत्यर्थः । ननु मुख्यधिकारस्वींविषयत्वे घ्रा-
दिषु कृतसदनुक्तिरित्यत आहुः तथापीत्यादि । प्रायिकत्वं संभावितत्वमनियतत्वमिति
यावत् । तथाचातोऽनुक्तिरित्यर्थः । ननु सगुणोपासकस्यार्चिरादिगतिर्निर्गुणपरस्य तु 'तस्य
तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्त्ये' इति श्रुत्या केचिदेकदेशिनः सगुणनिर्गुणोपा-
सनाभेदेनाधिकारिभेदमङ्गीकुर्वन्ति तत् कृतो नाद्रियत इत्यत आहुः सगुणेत्यादि ।

रश्मिः ।

'मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्' 'न स्त्रियो ब्रजसुन्दर्यः पुत्र ताः श्रुतयः किल' इति सूत्रस्मृतिभ्यां मुक्तत्वेपि
मध्ये वरप्राप्तानन्दमुजो मूलोक्तकालं समासाद्य गोप्यो हरिं गता इति । न चेहैवेति श्रुत्यानन्दभोग-
प्रतिपादकस्मृतिवाचः इति वाच्यम् । अत्र स्मृतीनामुपबृंहणत्वस्वीकारात् । 'इतिहासपुराणैस्तु वेदं
समुपबृंहयेत्' इति वाक्यात् । यथा 'मस्मान्तो देहः' इति श्रुतेः । 'कृमिविह्वलमसंज्ञितः' इति
पुराणमुपबृंहणम् । न तु वाच्यं प्रत्यक्षविरोधात् । अर्चिरादीत्यादि दृष्टान्तानुरोधोत्र द्रष्टव्यः ।

'भिद्यते हृदयग्रन्थिच्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' ॥

इति परब्रह्माविर्भावे तद्दर्शनेन हृदयग्रन्थ्यादिभेदादौ वागादिमात्रं लीयते इत्यसंगतं मुक्तौ
प्रतिबन्धकाभावादित्याशङ्क्यामिच्छाविषयादृष्टाभावात् मुक्तिः किं तु वागादिमात्रस्य लय इति
नासंगतमित्याशयेन व्याकुर्वन्ति तादृशादृष्टेत्यादिना । अस्य देहवियोगो अनेन भवत्वित्याकारि-
केच्छाविषयधर्माभावादित्यर्थः । इच्छायाः फलफलकल्प्यत्वादिति भावः । वागादिमात्रं लीयते
परमाविर्भावदशापामेव पश्चाच्च ह्युपदेशनसंभवोऽस्त्येवेति । एवं चात्र वियोगान्तं संपूर्णमनुवर्तते ।
असंप्रज्ञातसमाधिः शमीकस्य भगवतः । प्रकृते । प्रथमस्कन्धे परीक्षितसङ्गे 'उन्मील्य शनकैर्नैत्रे
दृष्ट्वा स्वसिं सृतेरगम् । विमुञ्च पुत्रं पप्रच्छ' इति वाक्यात् । तस्येति भाष्यानुवादः । प्राश्यर्था
ब्रह्मप्राप्त्यर्था । नोक्ता, निश्चयोजनत्वादिति भावः । दोषः अर्चिरादिगत्यनुक्तिरूपः । निर्गुणेत्यादि
निर्गुणोपासकस्य । श्रुत्यर्थस्तु तस्याचार्यवतः पण्डितस्य मेधाविनो मुक्ताविद्याधनस्य आचार्यवान्
पुरुषो वेदेति पण्डितो मेधावीति च पूर्वं श्रुतत्वात् तावदेव तावान् काल एव चिरं विलम्बः
सत्संपत्ताविति शेषः । यावत्कालपर्यन्तं न विमोक्ष्ये न विमोक्ष्यते । प्रारब्धकर्मणां भोगादिनाथेन
यावदेहपातो न भवतीत्यर्थः । अथ तदा प्रारब्धक्षयादेहपातसमकालमेवं संपत्त्ये संपत्त्यते
मुक्तो भवतीति । एकदेशिनः शांकराः । सगुणेत्यादि विद्वन्मण्डने स्फुटमुपपादितमेतत् ।

ब्रह्मवादे गुणानङ्गीकाराच्च । तस्माद्युक्तमुक्तं शास्त्रदृष्ट्यातूपदेश इति ॥ २९ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

ब्रह्मवादे ब्रह्मणः सगुणनिर्गुणभावाभावेनाधिकारिभेदाभावात् तथागत्यादिनियमकथनमग्रामा-
णिकमेव । सांख्यप्रतिपक्षानां गुणानां व्यासेनानङ्गीकारादपि तथेत्यसंगतत्वात्तद्विद्यत
इत्यर्थः । सिद्धमाहुः तस्मादित्यादि । तस्मादिति अन्यासबाहुल्येन ब्रह्मावेशात् ॥ २९ ॥

रश्मिः ।

'अभेदादनुपाधित्वाजगदप्रत्ययासितः ।

सर्वोधारत्वतस्तावच्छक्तित्वाग्रास्य धाधनम्' ॥ इति ।

न चायं मायाशब्दलिप्तं ब्रह्मासीदिति श्रुतिविरोध इति शङ्कं मायाशब्दसेन्द्रियपरत्वस्य निषन्धे
व्यवस्थापनात् । अनङ्गीकारादिति ब्रह्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय केवलदेव जन्माद्यस्य यतः इति वदता
रचनानुपपत्तेश्च नानुमानमिति गुणसाध्यावस्थां खण्डयता व्यासेन भगवता गौणश्रेणात्मशब्दादिति सूत्रे
तथेत्यर्थः । अन्यासेत्यादि व्याकृतम् । इदानीं पूर्वोक्तोर्थः पुनरुच्यते । यत्र वामदेवसाहंकारवाद
उक्तस्त्वैव तदादुर्यद् ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते किमु तद्ब्रह्मवाधेयसात्सर्वम-
भवत्, 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्', 'तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति', 'तस्मात्सर्वमभवत्', 'तथो यो
देवानां प्रत्यबुद्धस्त स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्' इति सर्वभावो युक्तः । मध्यमपद-
लोपी समासः तेन सर्वात्मभावोऽप्यर्थः । य एव प्रत्यबुद्धतेति सामान्यनिर्देशात् । तदतिशयं
श्रेयोजिज्ञासवः आहुरिति तदादुरित्यस्यार्थः । भविष्यन्त इत्यस्य भविष्याम इत्यर्थः । मन्यन्त इत्यस्य
संभावयन्तीत्यर्थः । इति पुनरुक्तं संबन्धार्थं पृच्छति किमुतेति । यस्माद्ब्रह्मज्ञानात्तद्ब्रह्म सर्वमभवत् तद्
ब्रह्म किमु किमात्मस्वरूपमतिरिक्तं वाऽवेत् स्वरूपं तदतिरिक्तं वा यस्मात् तत्सर्वमभवत् तदपि
किमिति ब्रह्मविद्याधिकारिप्रमेयप्रमाणप्रश्न इत्यर्थः । क्रमेणोत्तराणि । ब्रह्मेति । अब्रह्मबोधोऽप्याह । इदं
जीवरूपं चैतन्यं शरीरस्यमंशत्वेन ब्रह्मैवासीत् । तजीवरूपं चैतन्यमात्मानमेवमहं ब्रह्माक्षरात्मकं
पुरुषोत्तमाधिष्ठानमस्मीत्यवेत् । सेवनादिरूपसाधनसंपत्त्या इति शेषः । तस्मादेव विज्ञानात्तजीवरूपं
चैतन्यं परब्रह्माविर्भावे इहैव समवनीयन्ते इति श्रुत्यन्तरेण तत्र प्राणादिलयेन तद्रूपत्वे जाते सर्वं
सर्वरूपमभवदिति । तदाहुराचार्याः 'ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम्' इति । तत इति सेवातः
इति तदर्थः । अधिकारिणमाह यो यो देवानामिति । देवानामिति निर्धारणे षष्ठी तेषां यो यो देवः
प्रत्यबुध्यतात्मानमक्षरब्रह्मत्वेन यथावद्वोधितवान् स एव देवस्वत्परब्रह्मभवत् व्यापकत्वादिप्रादुर्भावेन
विरुद्धधर्माधारोऽभवदित्यर्थः । 'आनन्द आत्मा मद्य पुच्छं प्रतिष्ठा' इति श्रुत्योः परब्रह्माक्षरब्रह्मणोरश्रयाश्र-
यिभावः सिद्धः । ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येतीत्यत्र कर्तृकर्मभावोऽप्युपपन्नतरः । अक्षरस्यापि परब्रह्मत्वेनाथ योऽन्यां
देवतामुपास्तेऽन्योऽसौ अन्योऽहमस्मीति न स वेदेत्यत्रेतनश्रुतेरपि न विरोधः । भक्तस्याक्षरात्मकत्वेन
स्वज्ञानं भवतीति तृतीयाध्याये तृतीयपादे व्युत्पाद्यम् । इदानीं प्रकृतमुच्यते ॥ २९ ॥

जीवमुख्यप्राणलिङ्गाभ्यामेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ॥ ३० ॥

अन्यद् वाचकद्वयमाशङ्कते । ननु यद्यपि ब्रह्मधर्मा भूयांसः प्रकरणे श्रूयन्ते । तद्ब्रह्मधर्मा मुख्यप्राणधर्माश्च वाचकाः सन्ति । न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यादित्यादि । अत्र हि वागादिकरणाध्यक्षस्य जीवस्य विशेषत्वमभिधीयते । अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्णाति शरीरधारणं मुख्यप्राणधर्मः । मा मोहमापद्यथा, अहमेवैतत् पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्वाणमवष्टभ्य विधारयामीति श्रवणात् ।

यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या प्रज्ञा स प्राण इति जीवमुख्यप्राणवाच्यत्वे प्रज्ञाप्राणयोः सहसृत्तित्वाद्युपचारो युज्यते । उत्क्रान्तिश्च । ननु सर्वथा विलक्षणस्य ब्रह्मणः । तस्माज्जीवमुख्यप्राणलिङ्गयोर्विद्यमानत्वात् ब्रह्मप्रकरणमिति चेन्न ।

भाष्यप्रकाशः ।

जीवमुख्यप्राणलिङ्गाभ्यामेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ॥ ३० ॥ व्याचक्षते अन्यदित्यादि । एतद्वाणमिति एतच्छरीरम् । तथाच वागादिकरणाध्यक्षत्वस्य जीवलिङ्गस्य शरीरधारणस्य मुख्यप्राणलिङ्गस्य च ब्रह्मवाक्यत्वबाधकस्य विद्यमानत्वात्नेदं ब्रह्मवाक्यमित्यर्थः । ननु यथैते लिङ्गे ब्रह्मवाक्यत्वबाधके तथा अमृतत्वादिकं ब्रह्मलिङ्गमेतद्बाधकमिति नात्र कस्यापि निर्णय इत्यतः स्वपक्षे गुणमाह यो वा इत्यादि । इति जीवमुख्यप्राणवाच्यत्व इति अस्मिन् प्रकरणेऽङ्गीकार्यत्वे । उत्क्रान्तिरिति । सहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामतीत्यनेनोक्तोत्क्रान्तिः । सर्वथा विलक्षणस्येति । उत्क्रान्तिविरोधिण्या व्यापकतया जीवात्, तथा चेतनतया च मुख्यप्राणाद् विरुद्धधर्मणः । तस्मादिति । उत्क्रामस्य महाबाधकस्य सत्त्वात् । तथाचैतेन बाधकेन ब्रह्मलिङ्गानामुपासनार्थत्वस्य शक्यवचनत्वात्नेदं रश्मिः ।

जीवमुख्यप्राणलिङ्गाभ्यामेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ॥ ३० ॥ भाष्ये । 'मा मोहमापद्यथाः' इत्यादि वागादीन् प्रति प्राणवाक्यम् । पञ्चधेति प्राणापानादिभेदेन । प्रकृते । अङ्गीत्यादि अत्र त्वप्रत्ययहितः पाठः प्रतिभाति । इदं प्रकरणाधिकरणकाङ्गीकार्यत्व इत्यर्थो वा । भाष्ये । उपचारो अमृतत्वादिब्रह्मलिङ्गानाम् । प्रकृते । एतैरित्यादि समीपतरवर्तिभिः प्राणैः । उत्क्रान्तिरित्यस्य युज्येत इति पूर्वेण समं संबन्धः । तथेति उत्क्रान्तिविरोधिण्या व्यापकतयेत्यर्थः । महेति पूर्वपक्षांशे विपरीतलक्षणया स्वरेण वापाततो बाधकं तत्र तु परमार्थत इत्यर्थो बोध्यः । धीत्यादि 'मामेव विजानीहि' इति श्रुतावित्यर्थः । अर्थत्रयं ब्रह्मजीवमुख्यप्राणरूपं घटादीनां प्रसक्त्यभावात् । प्रसक्तानां त्रयाणां च व्यवच्छेदायोगात् व्यवच्छेदाभावेन तथेत्यर्थः । ननु शिवस्य व्यवच्छेद्यत्वं ब्रह्मणो ब्राह्मणत्वात् विष्णोर्ब्रह्मगुणगणगर्णगुणितां गणितानन्दगुणकस्यातिरेकमिति चेन्न । भेदकस्य तमसो मायिकत्वेनतैर्प्रतीतेः । पूर्वत्राप्येवम् । 'एकतिद् वाक्यम्' 'अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्गं चेद्भिन्नामे स्यात्' इति प्रोक्तलक्षणकं वाक्यं तस्य भेदः । आश्रितत्वादिति भाष्याग्रे अत्र एव 'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी । त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं

१. गण संख्याने ।

उपसात्रैविध्यात् । अयमर्थः । किमत्र चोच्यते । जीवमुख्यप्राणलिङ्गाद् ब्रह्मधर्माणां जीवपरत्वं, त्रयाणामपि स्वतन्त्रत्वं वा, लिङ्गद्वयस्यापि ब्रह्मधर्मत्वमुच्यतामिति वा । आद्यः पूर्वमेव परिहृतः । न हि ब्रह्मधर्मा अन्यपरत्वेन परिणेतुं शक्या इति । द्वितीये दूषणमाह । उपासात्रैविध्यात् । तथा सत्युपासनं त्रिविधं स्यात् । तद्वाक्यभेदप्रसङ्गात् युक्तम् । तृतीये तूपपत्तिरुच्यते । जीवधर्मा ब्रह्मणि न विरुद्ध्यन्ते । आश्रितत्वात् । जीवस्यापि ब्रह्माधारत्वात् । तद्धर्मा अपि भगवदाश्रिता एव । इहेत्युभयत्र संबन्धो ब्रह्मवादे । मुख्यप्राणे तु तद्योगात् ।

भाष्यप्रकाशः ।

ब्रह्मप्रकरणमिति पूर्वपक्षाशय इत्यर्थः । समाधानांशं व्याकुर्वन्ति अयमर्थ इत्यादि । उच्यतामिति । उपपाद्यताम् । पूर्वमेव परिहृत इति । न वक्तुरिति सूत्रे ब्रह्मधर्मवाङ्मयप्रतिपादनेन बहूनामनुग्रहस्य न्याय्यत्वाम्बनात् परिहृतः । परिहारसाकारमाहुः न हीत्यादि । अत्राशक्यत्वं बहुषु लक्षणाया आपस्या ज्ञेयम् । द्वितीय इति लक्षणोपराहित्यात् त्रयाणां स्वातन्त्र्येण प्रतिपाद्यत्वाङ्गीकार इत्यर्थः । वाक्यभेदप्रसङ्गादिति । विजानीहीत्यस्वावर्तनेन, मामिति पदस्यार्थत्रयकल्पनेनैवकारार्थविरोधेन च वाक्यभेदप्रसङ्गात् । तृतीय इति ब्रह्मधर्मत्वोपपादनचोदनापक्षे । ब्रह्माधारत्वादिति । 'अस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्' इति श्रुत्या जीवस्यावयवत्वबोधनेन तस्य ब्रह्माधारत्वात् । नच वैपरीत्यं शक्यम् । संयोगादुत्पत्तिरिति पक्षे तथात्वे, विभागादुत्पत्तिरिति पक्षे तदभावादिति । इहेत्युभयत्र संबन्ध इति । इहाऽऽश्रितत्वादिह तद्योगादित्येवं संबन्धः । ब्रह्मवादपदं मायारश्मिः ।

जातो भवसि विश्वतोमुखः' इत्यादिश्रुतिरित्याकाशवाणीपाठः । वञ्चसि गच्छसि । तस्येत्यादि शरीरे करादय इति प्रतीत्या करादीनां शरीरधारत्ववत् तस्य जीवस्य ब्रह्माधारत्वात् । वैपरीत्यं तन्त्वधिकरणकपटनिरूपितेत्यादिविद्वन्मण्डने कपालेषु घट इति प्रतीत्यावयवभूतब्रह्मणोवयवभूतजीवस्याधारत्वं शङ्कामित्यर्थः । संयोगादुत्पत्तिरित्यादि ईश्वरचिकीर्षावशात्परमाणुषु जायमानया क्रियया परमाणुद्वयसंयोगादुत्पत्तिः । तथात्वे अवयविनोवयवस्याधारत्वे । विभागेत्यादि अयमर्थः । सिद्धान्ते प्रथमस्यान्तिमस्य च कार्यस्य विभागादुत्पत्तिः अवान्तरस्य तु यथासंभवं संयोगविभागान्यां सा 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युत्स्रन्ति एवमेवास्मादात्मनः' इति पञ्चमीश्रवणात् । परमाणुकारणवादस्य तर्कपोदे दूषणीयत्वात् । इदं यथा तथा सृष्टिभेदवादे व्युत्पादितम् । तदभावात् अवयवानामवयवव्याधारत्वाभावात् । संबन्ध इति देहलीदीपकन्यायेनेति भावः । इहेत्यस्य सर्वात्ममाववति जीवे इह ब्रह्मणि आश्रितत्वात् तद्योगादित्येवमर्थसमर्थनार्थम् । न चैवं स्वे महिषि ह्याश्रितत्वव्याख्याने ।

'मन्त्रोपासनवैदिकताधिकदीक्षाचर्नादिविधिमर्थः ।

अस्पृष्टो रमते निजभक्तेषु स मेस्तु सर्वस्वम्' ॥

इति ह्युपासाऽविषयत्वं विरुद्धमिति वाच्यं मन्त्राणामुपासनेति व्याख्यानात् । अत एव मुक्तिस्कन्धे उपासना उप समीपे स्थित्वा यथायोग्यकरणमिति सुबोधिनी । भाष्यप्रकाशसमाप्तौ चोपासनापटितसाधनपरंपरा । मायावादव्यवच्छेदसूचकब्रह्मवादपदकथनतात्पर्यमाहुः ब्रह्मवादेत्यादिना ।

तेन योगस्तद्योगस्तस्मात् । प्राणधर्मा भगवति न विरुद्धन्ते । प्राणस्य भगवत्संबन्धात् तद्वर्माणामपि भगवत्संबन्धात् । अथवा वक्तृत्वादयो न जीवधर्माः किं तु ब्रह्मधर्मा एव । जीवे आश्रितत्वाद्भासन्ते । परात् तच्छ्रुतेरिति न्यायात् । प्राणेऽपि तथा । स्वाप्यसंपर्योर्जीवस्य ब्रह्माश्रितत्वम् । आध्यात्मिकाधिदैविकरूपत्वाच्च संयोगः । प्राणस्य तु संयोग एव । तस्मात् सर्वे धर्मा ब्रह्मणि युज्यन्ते ।

भाष्यप्रकाशः ।

वादिमते जीवब्रह्मणोरभेदादाश्रयाश्रयिभावानङ्गीकारेण तस्य विरुद्धत्वबोधनार्थम् । भगवत्संबन्धादिति । भगवतो नियामकतया तन्वियम्यत्वरूपात् संबन्धात् । तथाच,

‘न प्राणेन, नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।

इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ’ ॥ इति ।

तस्मान्मध्यस्थ भगवदधीनत्वात् तद्वर्माणामपि परंपरया भगवद्दर्मत्वमित्यर्थः । अस्मिन् पक्षे जीवप्राणधर्माणाम् न साक्षाद् भगवद्दर्मत्वमिति लक्षणेवाऽऽपद्येतेत्यरुच्या पक्षान्तरमाहुः अधवेत्यादि । ब्रह्मधर्मा इति साक्षाद्ब्रह्मधर्माः । ननु यद्येवं प्राणे स्यात् तदाऽऽश्रितत्वमेव हेतुत्वेनोक्तं स्यान्न तु तद्योगोऽपीत्यत उपपादयन्ति स्वाप्ययेत्यादि । तथाच स्वाप्ययादौ जीवस्य ब्रह्माश्रितत्वम् । अवस्थामेदं कृतात् तादात्म्याच्च संयोगः । उभयप्रवेशपक्षे तु स्वाप्यये संपरिष्वङ्गश्रुतेः संयोगः कादाचित्कः । प्राणे तु संयोग एव सार्वदैक इति हेतुद्वयकथनं युक्तमित्यर्थः । सिद्धमाहुः तस्मादित्यादि । तस्मादिति अनया रीत्या ब्रह्मणः प्रयोजकत्वेन लक्षणादोपासंज्ञात् । नन्वस्त्वैवमन्येषां भगवद्दर्मत्वं तथापि सहोत्क्रमसौकत्वन्यापकत्व-
रश्मिः ।

तस्येति प्रत्यक्षाधिकरणवाचकस्येहेतिपदस्येत्यर्थः । न प्राणेनेत्यादिश्रुतिः पञ्चमवह्नीत्या । तस्मान्मध्यस्थस्य प्राणसामर्थ्यस्य । परंपरयेति हस्तपुस्तकसंयोगस्य कायधर्मत्ववदित्यर्थः । लक्षणेवेति शक्यसंबन्धो लक्षणा । संबन्धसंबन्धः परंपरेति सादृश्यार्थकस्येवेत्यस्य प्रयोगः । जीवप्राणधर्मवाचकपदवाक्यानां जीवप्राणयोर्धर्मत्वावच्छिन्नेषु शक्तिस्तदाधारोर्लक्षणा ब्रह्मणो योगात्संबन्धसंबन्धः जीव आश्रयाश्रयिभावः । प्राणे योगमात्रमित्युभयमुपात्तम् । भाष्ये । परादित्यादि द्वितीयस्य तृतीयचरणे पराब्रह्मणः सकाशात् जीवानां कर्तृत्वं तच्छ्रुतेः ‘यमधो निनीषति तमसाधु कारयति’ इत्यादिश्रुतेरित्यर्थको न्यायोस्ति तस्मादित्यर्थः । प्रकृते । अत्र पक्षे तद्योगादित्यंशवैयर्थ्यमाशङ्क्य समादधति स्म ननु यदीत्यादिना । स्वाप्ययः सुषुप्तिः संपत्तिर्भवेत् संन ब्रह्माप्येतीति श्रुत्युक्तो लयः । कुतः संबन्धादित्यत आहुः अवस्थेत्यादि । तादात्म्यं च भेदसहिष्णुरभेदो न संयोग इति तयोरिति शेषः । उभयेत्यादि सह शेषास्मिन् शरीरे वसतः इति धर्मधर्मिणोः प्रयक्तत्वपक्षे देहे प्राणप्रज्ञयोरुभयोः प्रवेशस्तस्मिन् पक्ष इत्यर्थः । एतच्चात्रैवाग्रे स्फुटम् । कादाचित्क इति परिष्वङ्गस्य संयोगवाचकत्वादित्यर्थः । हेत्वित्यादि संबन्धद्वयबोधकहेतुद्वयकथनमित्यर्थः । भाष्ये । न संयोग इति किं त्वभेदः ‘यस्तु आध्यात्मिकः प्रोक्तः सोऽसावेवाधिदैविकः’ इति वचनात् । प्रकृते । प्रयोजकत्वेनेति परात् तच्छ्रुतेरिति न्याये कारयतीत्यत्र ‘तत्प्रयोजको हेतुश्च’ कर्तृप्रयोजको हेतुसंज्ञः स्यात् कर्तृसंज्ञश्चेति सूत्रवृत्तिभ्यां णिचोर्यः प्रयोजकस्तस्य भावेनेत्यर्थः ।

सहोत्क्रमस्तु क्रियाज्ञानशक्तयोर्भगवदीययोर्देहे सहेव स्थानं सहोत्क्रमणमिति भगवदधीनत्वं सर्वस्यापि बोध्यते । ननु प्राणस्तथानुगमादिति प्राणशब्देन ब्रह्मैव प्रतिपादितं तत्कथं धर्मयोस्तत्क्रमणमिति चेत् । अत्र धर्मधर्मिणोरेकत्वप्रयक्तत्वनिर्देशयोर्विद्यमानत्वात् । प्राणो वा अहमस्मिन् प्रज्ञात्मेति । अत्र

भाष्यप्रकाशः ।

विरुद्धतया तस्य तु तथात्वं न युज्यत इति तस्य का गतिरित्यत आहुः सहोत्क्रम-
स्त्विति । तथाच व्यापकत्वादसंभवमपि शक्तिशक्तिमतोरभेदादस्तोत्क्षेपणवत् सोऽपि भग-
वद्दर्म एवेत्यर्थः । एवं बोधनस्य फलमाहुः देह इत्यादि । अत्र पूर्वविरोधमाशङ्कते नन्वि-
त्यादि । तत् कथमिति पूर्वोक्तविरोधेन धर्मधर्मिभावस्य वक्तृत्वस्यत्वात् कथम् । एत-
त्समाधानाय हेतुं युज्यन्ति अत्र धर्मेत्यादि । तथाच यदि पृथक्त्वनिर्देशो न स्यादुत्क्रम-
विरुद्धेत । अत्र त्मयोः सत्त्वाच्च पूर्वापरविरोध इत्यर्थः । उक्तं व्याख्यातुमुपपादयन्ति
प्राण इत्यादि । अत्र विषयवाक्ये पाठभेदो देहभेदाद् बोध्यः । यथा बृहन्नारायणोपनिषदि
तैलङ्गविष्टपाठभेदात् । यथा चैतद्वाणप्रवष्टभ्येति प्रश्नोपनिषद्वाक्ये ये त्विमं शरीरं परिगृह्येति
पठन्तीति पाठान्तरं शंकराचार्यैरुपन्यस्तम् । तथाऽत्रैवोद्बुद्धमित्यत्राद्बुद्धदिति पठितम् ।
तद्वत् शंकरानन्दकृतटीकायामप्येवमेव पाठ इति । अत्र क्रियाशक्तयनुग्राहकः प्राण इति
ज्ञानशक्तयनुग्राहकश्चेतन इति तदुभयवाचकयोः प्राणप्रज्ञात्मशब्दयोर्दिमा सामानाधिकरण्यात्
तदुभयवानेको निर्दिष्टः । ततस्तं मामापुरमृतमित्युपाख्येत्यनेन तस्योपासनं विधाय तस्य
फलं चोक्त्वा तदनु तद्वैक आहुरित्यारभ्यास्तित्वेव प्राणानां निःश्रेयसमित्यन्तेन
क्रियाशक्तिप्रशंसा । जीवति वागपेत इत्यारभ्य प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापय-
तीत्यन्तेन ज्ञानशक्तिप्रशंसा । ततस्तस्योत्थोपासनां विधाय प्राणे सर्वासिमुत्त्वा यो वै प्राणः
रश्मिः ।

तथात्वमिति ब्रह्मधर्मत्वम् । हस्तेत्यादि हस्तोत्क्षेपणस्य पुरुषधर्मत्ववदित्यर्थः । तथा च ‘भविमक्तं
च मृतोऽपि विभक्तमिव च स्मितम्’ इति गीतायां भगवदीययोरित्यर्थः । ननु प्राण इत्यादिसूत्रे ब्रह्मात्मेति
पठ्यतेत्र तु ब्रह्मानात्मेति पाठभेदेऽपि किञ्चिदाहुः अत्र विषयेत्यादिना पाठभेदस्तु स्वयमग्रे
वक्तव्यः । तैलङ्गैत्यादि धर्मं द्रष्टव्यः क्वचित्स्थले । इति पठितमिति शंकराचार्यैरित्यर्थः । तथा च
तद्भाष्यम् । ये त्विमं शरीरं परिगृह्येति पठन्ति तेषामिमं जीवमिन्द्रियत्रयं वा परिगृह्य शरीरमुत्थाप-
यन्तीति व्याख्येयमिति । तथा अय ययास्यै प्रज्ञायै सर्वाणि मृतान्येकं भवन्ति तद्वाह्यास्तास्य
इत्युपक्रम्य वागेवास्या एकमङ्गमदुद्बुद्धं तस्यै नाम परस्तात् प्रतिविदिता मृतमात्रा प्रज्ञा वाचं
समाश्रय वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति इत्यादि प्रज्ञाधर्म इति । इत आरभ्य प्राणगुणविशिष्टोपासना
प्रबोधयस्मि ब्रह्मात्मा तं मामापुरमृतमित्युपाख्येति श्रुत्यर्थमाहुः अत्र क्रियेत्यादिना । उपासनाद्व-
प्रतिपादकश्रुत्यर्थस्तु छाधिकरणारम्भ उक्तः । तदन्वित्यादिभाष्यं विवृण्वन्ति स्म तदन्वित्यादिना ।
प्राण एवेति अय खलु प्राण एवेत्यादितृतीयोपासनाप्रज्ञागुणविशिष्टस्य । तस्योपेति
तस्मादेतदेवोत्थमुपासीतेति श्रुत्योत्थमित्यस्य देहाद्युत्थापकमित्यर्थः । पुनर्ज्ञानशक्तैरुत्कर्षं वक्तुमिति
५२ अ० सू० २०

क्रियाज्ञानशक्तिमान् निर्दिष्टः । तदन्वेकैकस्य धर्मस्य प्रशंसा, यो वै प्राणः सा प्रज्ञा, या प्रज्ञा स प्राण इत्युपसंहारान्तम् । पुनस्तयोरेवोत्क्रमणप्रवेशाभ्यां सह ह्येवास्मिन् शरीरे वसतः सहोत्क्रामत इत्युपक्रम्य सुषुप्तिमूर्च्छामरणेषु प्राणाधीनत्वं सर्वेषामिन्द्रियाणामुक्त्वा आसन्यव्यावृत्त्यर्थं प्रज्ञायैक्यं प्रतिपाद्योपसंहारति । पुनर्ज्ञानशक्तैरुत्कर्षं वक्तुम्, अथ खलु यथा प्रज्ञायामित्यारभ्य, न हि प्रज्ञापेतोऽर्थः कश्चन सिद्धयेतेत्यन्तेन ज्ञानशक्त्युत्कर्षं प्रतिपाद्य धर्ममाश्र्वनिराकरणाय ज्ञानशक्तिमन्तं भगवन्तं निर्दिशति, न हि प्रज्ञातव्यमित्यारभ्य, मन्तारं विद्यादित्यन्तेन । तदनु ज्ञानक्रियाशक्तयोर्विषयभूतभूतमात्रारूपजगतो भगव-

भाष्यप्रकाशः ।

सा प्रज्ञा, या वा प्रज्ञा स प्राण इत्युपसंहृतेत्येतदन्ता उभयप्रशंसा । तदग्रिमसंदर्भे तूत्क्रमण-प्रवेशाभ्यां पुनस्तयोरेव प्रशंसा । सा च तस्मिन् पाठे, सह ह्येवास्मिन् इत्युपक्रम्य सुषुप्त्यादिषु सर्वेन्द्रियाणां प्राणाधीनत्वमुक्त्वा ततः प्राणस्य प्रज्ञायैक्यं प्रतिपाद्योपसंहृता । प्रसिद्धपाठे तु, तस्यैपैव दृष्टिरेतद्विज्ञानमित्युपक्रमः । सह ह्येवास्मिन् इत्युपसंहारः । वाक्यार्थस्तु भगवन्नाप्येक एव । तस्य प्रयोजनं तु क्रियाशक्त्यपेक्षया ज्ञानशक्तैरुत्कर्षप्रतिपादनमतस्तुत्कर्षं वक्तुमेतावान् संदर्भः । ततोऽथ खलु प्रज्ञायामित्यादिनोत्कर्षप्रतिपादनम् । तत्रापि पाठभेदः । प्रसिद्धपाठे, अथ यथास्यै प्रज्ञायै, इत्युपक्रमात् न हि प्रज्ञापेता धीः काचन सिद्धेदित्युपसंहारात् । अर्थस्त्वेक एव । तदग्रे तु पाठोऽपि समानः । तदर्थस्तु, धर्ममाश्र्वनिराकरणायेत्यादिना प्रतिपाद्यते । तत्र ज्ञानशक्तिभिर्देशो जीवसाधारण इति जीवं वारयितुं, सा वा एता दशैव भूतमात्रा इत्यारभ्य, न ह्यन्यतरतो रूपं किंचन सिद्धेदित्यन्तेन क्रियाज्ञानशक्तयोः परस्परसापेक्षतया स्वविषयभूतरूपात्मकजगत्साधकत्वं प्रतिपाद्य, ततो, नो एत-

रश्मिः ।

भाष्यं विवृण्वन्ति स्म तस्य प्रयोजनमित्यादि । एक एवेत्यादि । अथ बुद्धिप्राणयोः सहस्यित्योत्क्रान्तिकथनानन्तरं प्रज्ञायै प्रज्ञायाः संबन्धीनि सर्वाणि भूतानि एकीभवन्ति भगवता तथा व्याख्यास्यामः । तदेकीभावमेवाह वागेवास्या इति । अस्या भगवद्रायाः प्रज्ञायाः एकमङ्गमशं वाक् पूर्यामास । तस्यै नाम तस्याः भगवद्रायाः प्रज्ञाया नाम इत्यव्ययं प्रकाशयार्थकं परस्तात् द्वितीयमंशं चक्षुरादिना प्रतिविहिता विषयीकृता रूपादिरूपा भूतमात्राः पूर्यान्भूतुरित्यर्थः । नामरूपात्मकजगदुक्तम् । तत्र श्रीहामाह प्रज्ञयेत्यादि । तथा वाचं समारुह्यातुप्रविश्य तथा करणभूतया सर्वाणि नामानि वक्तव्यत्वेनाप्नोति चक्षुषा सर्वाणि रूपाणि वक्ष्यतीत्येवंरूपोर्थ इत्यर्थः । श्रुतयस्तु शंकरानन्दभाष्योपन्यास उक्ताः । प्रकृतमनुसरामः । ता वा एता इति ता वा एता दशैव भूतमात्राः अविप्रज्ञं दश प्रज्ञामात्राः अविभूतं यदि भूतमात्रा न स्युः न प्रज्ञामात्राः स्युः । यद्वा प्रज्ञामात्रा न स्युर्न भूतमात्राः स्युर्न ह्यन्यतरतो रूपं किंचन सिद्धेदिति । प्रतिपाद्येति । एतावता त्रेषोपासनमुक्तममीमांसायाम् । श्रुत्यर्थस्तु अविप्रज्ञं प्रज्ञामात्रास्वित्यर्थः । एवं भूतमात्रासु दश प्रज्ञामात्रा इत्यर्थः । एवमुक्तमुभवो

वमेवं प्रतिपादयन्, 'स एष प्रज्ञात्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृतः' इत्युपसंहारति ब्रह्मधर्मैः । अतः क्रियाज्ञानविषयरूपो भगवानेवेति प्रतिपाद्य, न तावन्मात्रं ततोऽप्यधिक इत्येकोपासनैव विहिता । तस्मात्तद्विषयत्वात् सर्वात्मकं ब्रह्मैवेति महावाक्यार्थः सिद्धः ॥ ३० ॥ १० ॥

इति प्रथमाध्याये प्रथमपादे दशममनुगमाधिकरणम् ॥ १० ॥

इति श्रीवेदव्यासमतवर्तिश्रीबृहद्भाचार्यविरचिते ब्रह्मसूत्राणु-
भाष्ये प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥ १ ॥

भाष्यप्रकाशः ।

आनेति तासां प्रज्ञायाः सकाशादभेदं प्रतिज्ञायोपपादयति । 'तद्यथा रयस्यारेषु नेमिरर्पिता नामावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणोऽर्पिताः स एष इति । तथाच, यद् यजनकं तत् तद्वर्त्मकं, यद् यद्वर्मकं तत् तदविनाभूतमिति व्याख्या भूतमात्राप्रज्ञामात्रात्मकस्य सर्वस्य जगतः प्रज्ञाऽविनाभावेन तदात्मकत्वे सिद्धे तस्या अपि स्वरूपं निर्णेतुम्, आनन्दोऽजरोऽमृत इति ब्रह्मधर्मैरुपसंहारति । अतोऽत्र प्रज्ञात्मकजीवस्वरूपादधिकस्य ब्रह्मणः सर्वात्मकत्वसर्वाधिकत्वज्ञानार्थमेकैकोपासना विहिता । तस्मात् साध्वसाधुकास्तया प्राप्तस्य वैषम्यादिदोषस्यापि परिहाराद् ब्रह्म जडजीवात्मकतया सर्वोपादानत्वेन सर्वात्मकमित्येष महावाक्यार्थः सिद्ध इत्यर्थः । तेनेदमधिकरणं पूर्वोक्तस्य सर्वस्य निगमनार्थमिति बोधितम् । तथाहि । पूर्वं शास्त्रारम्भे जिज्ञासोक्ता । सा सर्वदा कर्तव्या । अन्यथा अरुन्मुख्यत्यादिवद्विनाशः स्यादिति विषयवाक्यारम्भे बोधितम् । ततो जन्मादिष्वप्रसिद्धं सर्वकर्तृत्वं समन्वयस्वप्नसिद्धं सर्वोपादानत्वं चोपपादितम् । तत उपसंहारे, ईश्वरानन्दमयाधिकरणसिद्धोऽर्थः प्रज्ञात्मानन्दपदार्थ्यां संगृह्य बोधितः । ब्रह्मधर्मोपदेशेन, लोकपालत्वादिबोधनेन, प्राणशब्दोक्त्या, स म आत्मेत्युपसंहारेण च यथायथं तद्वर्त्मोपदेशाधिकरणार्थः

रश्मिः ।

सापेक्षत्वं प्रपञ्चयन्ति यदीत्यादि । ग्राह्यव्यतिरेकेण ग्राहकं न सिद्ध्यति ग्राहकव्यतिरेकेण ग्राह्यं न सिद्ध्यतीत्यर्थः । ग्राह्यग्राहकयोरभेदमाह नो इति । प्रज्ञामात्राभूतमात्रारूपमित्यर्थः । तासां भूतमात्राणाम् । तद्यथेत्यादि रयस्य सन्दनस्यारेषु मध्यवर्तिशलाकासु चक्रोपान्ते नेमिरर्पिता नामौ चक्रपिण्डकायामरा अर्पिताः यथा तथा भूतमात्राः शब्दादयः प्रज्ञामात्रास्विन्द्रियेष्वर्पिताः प्रज्ञामात्राश्च प्राणे ब्रह्मण्यर्पिताः । प्राणस्य ब्रह्मत्वमाह स एष इति । तथा चानेन दृष्टान्तेन नानात्वं नेत्यर्थः । अतः क्रियेत्यादिभाष्यं व्याकुर्वन्ति स्म अतोऽत्रेत्यादिना । महावाक्येत्यादि अवान्तरवाक्यार्थसमूहो महावाक्यार्थः । तथा च जडविशिष्टजीवेतिव्याप्तिवारणायेदमनुगमाधिकरणमिति भावः । जीव प्राणधारणे इति धातुपाठात् । प्राणरूपजडाधारो जीवः । औपाधिकब्रह्मणोऽभिन्नः इति । अन्यदपि प्रयोजनमाहुः तेनेत्यादि । विषयेत्यादि अरुन्मुखान् यतीन् शालावृकेभ्यः प्रायच्छमित्यनेन । श्रुत्यर्थस्तु न रूक् रूक् मुखे येषां तान् । शालावृका अरण्यश्वानः । तथा चावेदान्तसुखानां निन्दाश्रावणेन सर्वदा वेदान्तसुखत्वे प्राप्ते ब्रह्मजिज्ञासापि सर्वदा प्राप्तेति भावः । उपपादितमिति ता वा एता दशैत्यादिना निरूपितम् । तद्वर्त्मोपदेशाधि-

भाष्यप्रकाशः ।

संगृहीतः । तेन तथेति । अत्रोपासात्रैविध्यादिति पदं शंकरभास्कराचार्यमिश्रुभिः स्वस्वमतेनैव-
मेवापत्तिमादाय व्याख्यातम् ।

रामानुजाचार्यैस्तु प्राचीनवृत्तिकारानुसारेणोपासात्रैविध्यपदमेकवाक्यत्वे हेतुत्वेन व्याख्यातम् ।
रश्मिः ।

करणचतुष्टयार्थः । ब्रह्मधर्मोपदेशस्तद्वर्णोपदेशः तस्मादन्तः परमात्मा लोकपालत्वादिरूपद्रव्यरूप-
धरणाभिधानाउद्योतिर्महं प्राणशब्दोक्त्या ब्रह्म ग्राह्यं लिङ्गात् । तल्लिङ्गाधिकरणे योर्यस्त आत्मेति
लिङ्गात् ब्रह्मैव भवितुमर्हति प्रकृते इति तल्लिङ्गाधिकरणे अतिदेशाधिकरणे च तल्लिङ्गानां हेतुत्वात् ।
तथेति अनुगमत्वमुपलक्षणं चैतत् । प्रतिज्ञा प्रथमाधिकरणे अप्रतिज्ञातार्थस्य निग्रहस्थानत्वात् ।
प्रतिज्ञातार्थस्य लक्षणप्रमाणान्यां वस्तुज्ञानमिति द्वितीयाधिकरणे प्रतिज्ञातार्थविशेषलक्षणं विशिष्ट-
ज्ञानस्य विशेषणरूपब्रह्मज्ञानाधीनत्वाद् दण्डीति ज्ञानवत् । ततस्तृतीयाधिकरणे सामान्यप्रकारक-
जिज्ञासाया ब्रह्म कारणमित्यस्याविशेषप्रकारकजिज्ञासाजनकत्वात् ब्रह्मभिन्ननिमित्तोपादानकारणमिति
जिज्ञासितम् । ततश्चतुर्थाधिकरणे ब्रह्मलक्षणस्य चित्यतिव्याप्तिः परिहृता । ईक्षत्याश्रयस्य चित्त्वात् ।
शब्दप्रवृत्तिसाधनेन लक्षणस्याभिधादिव्यापारश्च विचारितः । ततः पञ्चमाधिकरणे आनन्देतिव्याप्तिः
परिहृता । आनन्दस्य ब्रह्मत्वप्रसाधनेन । तेन स्वरूपलक्षणस्य असंभवः परिहृतः । कार्यलक्षणलक्षिते ।
षष्ठे तद्वर्णोपदेशाधिकरणे बृहदारण्यके चक्षुर्हि वै सत्यं तस्माद्यदिदानीं द्वौ विवदमानावेयाता-
महमद्राक्षमहमश्रौषमिति य एव ब्रूयादहमद्राक्षमिति तस्मा एव श्रद्धध्यामेत्यत्र प्रत्यक्षस्य शब्दपेक्षया
श्रद्धेयत्वोक्त्या स्थूत्यादिसिद्धप्रमेयस्य ब्रह्मत्वमुक्तम् । भाष्ये परमात्मपदात् स्तृती परमवस्तुनि
परमात्मपदात् तदुक्तमारणे ।

‘स्तृतिः प्रत्यक्षमैतिसामनुमानश्चतुष्टयम् ।

एतैरादित्यमण्डलं सर्वैरेव विधास्यते’ ॥ इति ।

ततः सप्तमे तल्लिङ्गाधिकरणे आकाशेतिव्याप्तिः परिहृता । आकाशपदस्य ब्रह्मार्थत्वात् ।
अष्टमेतिदेशाधिकरणे न्यायो नियमार्थम् । यथान्यत्र ब्रह्मनिरूपणं न स्यात् भ्रमेण । नवमे ज्योतिश्चरणा-
धिकरणे ब्रह्मधर्माणां मुख्यत्वसाधनेन प्रकाशाश्रयसूत्रादौ न द्वैतवारणं कृतमिति धर्मविषयत्वम् ।
दशमेनुगमाधिकरणे जडजीवरूपत्वाद् ब्रह्मणो जडे कार्येतिव्याप्तिः परिहृता । जीवे तु द्वितीयाध्याय-
भोक्तापत्तिसूत्रायाणुनादेन कार्येतिव्याप्तिः परिहृता । मय्येव सकलं जातमित्यादि निरूपितं कार्यमिति
तेनाणुभाष्यमिति समाख्या ‘ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः’ इति गीताया इति । आपत्ति-
मित्यादि उपासात्रैविध्यमापाद्य यदि जीवमुख्यप्राणलिङ्गानि स्युः तर्जुपासात्रैविध्यं स्यात् इत्येवमि-
हाश्रितत्वात् इह तद्योगादेकैव ब्रह्मोपासनेति समाधानसूत्रं व्याख्यातम् । मायावादिभिर्मोयापुरस्कारेण
बुद्धिप्राणौ ह्युपाधी स्वीकृत्य प्रत्यगात्मनः स्वरूपेणाभेद इत्यतः प्राण एव प्रज्ञात्मेलेकीकरणमविरुद्धम् ।
तत्त्वमसादिवाक्येभ्यो जीवस्यात्यन्तभिन्नत्वाभावाद् ब्रह्मणः । इहेति विषयवाक्ये । अतो न ब्रह्मवादे
प्राणप्रज्ञात्मनो भेददर्शनविरोधः । एवं स्वमतेन । भास्कराचार्यैः भेदाभेदेन । विज्ञानेन्द्रमिश्रुभिः
अविभागाद्वैतेनेति । विशिष्टद्वैते चिदचिद्विशिष्टं मध्येत्यापत्तिर्न संभवतीति पृथक् रामानुजमतोपन्यासः ।

भाष्यप्रकाशः ।

न ह्यत्र जीवमुख्यप्राणब्रह्मणां त्रयाणामुपासनमुच्यते, येन वाक्यं गिद्येत । किंतु भोक्तृत्वस्य
धर्मैर्भोग्यस्य मुख्यप्राणस्य धर्मैः स्वधर्मैरेत्वेवं त्रैविध्यादेकोपासनैव विधीयत इति,
संभवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदश्च नेष्यते इत्यभियुक्तोक्तेः पूर्वपक्षो न युक्त इति । तेषां चौर
शैवोऽप्येवमाह ।

तच्च वाचस्पतिमिश्रैरेवं दृषितम् । एतदालोचनीयम् । कथं न वाक्यभेद इति ।
युक्तं सोमेन यजेतेत्यादौ सोमादिगुणविशिष्टयागविधानम् । तच्चतुष्टयविशिष्टस्वापूर्वस्य कर्म-
णोऽप्राप्तस्य विधिविषयत्वात् । इह तु सिद्धरूपं ब्रह्म न विधिविषयो भवितुमर्हति । अमा-
वार्थत्वात् । भावार्थस्य विधिविषयत्वनियमात् । वाक्यान्तरेभ्यश्च ब्रह्मावगतेः प्राप्तत्वाच्चद-
द्याप्राप्तोपासाभावाद्यो विधेयस्तस्य च भेदाद्विध्यावृत्तिलक्षणो वाक्यभेदोऽतिस्फुट इति भाष्य-
कृता नोद्घाटित इति ।

अत्रेदं बोध्यम् । तथाहि । अत्र हि मामेव विजानीहीत्यारभ्य, नीलं वेतीत्यन्ता
ऐन्द्रगुणविशिष्टैकोपासना । तदनु सहोवाच प्राणोऽस्मि ब्रह्मात्मा तं मामापुरश्चतमित्युपा-
खेत्यारभ्येवं हि पश्याम इत्यन्ता द्वितीया प्राणगुणविशिष्टस्य । तदन्वयं स्वलु प्राण एव
प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति तस्मादेतदेवोत्थयुपासीतेत्यारभ्य सिध्येदित्यन्ता प्रज्ञागु-
णविशिष्टस्य । तत्र पृथगुपासनाङ्गीकारे, मामेव विजानीहि स म आत्मेति विधादित्युपक्रमो-
पसंहारगतस्य वक्त्रात्मोपदेशस्य विरोध इति तदभाषायैकवाक्यत्वस्यावश्यकत्वाद्दुपासनात्र-
यपक्षस्त्वसंगतः । अथोपक्रमाद्यनुरोधेनावान्तरोपासनावाक्यानां तदनुवादेन प्रकारविधायक-
त्वमङ्गीकृत्यैन्द्रवाक्यत्वं चेदङ्गीक्रियते, तदा तत्रोक्तानां प्राणधर्माणां ब्रह्मधर्माणां च काल्प-
निकत्वापत्तिः पूर्वोक्तरीत्या प्रतर्दनस्य पुरुषार्थासिद्धिभेति तदुभयं विहायैव ब्रह्मवाक्यत्वं
रश्मिः ।

कथमेकवाक्यत्वे हेतुत्वमित्यपेक्षायामाहुः न एत्थेत्यादिना । विशिष्टद्वैतार्थमाहुः किं तु भोक्तृ-
रित्यादि । चौर इति उपासात्रैविध्यापत्त्यादिना भावस्य यद्यप्ययुक्तं तथापि दृश्यत्वेनेच्छ-
विषयत्वाद्युक्तमपि विशेषणमिदं भगवतः शैवाचार्यस्य लक्षणात् । सोमादीत्यादि सोमपदस्य मनुष्ये
लक्षणयेत्यम् । अप्राप्तस्येतिपदेनापूर्वविधित्वं सूच्यते उपासनाया विधिविषयत्वेन तद्विशेषणस्यापि
विधिविषयत्वं मत्वा निषेधम् । यद्वा ‘प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः’ इति बृहदारण्यके प्रज्ञारूपब्रह्मणस्तयात्वं
मत्वा निषेधमाह इहेत्यादिना । निषेधशेषत्वेनाभावाथत्वात् । विधिब्रह्मणस्य गर्ति निषयविधिरूपाभाह
वाक्यान्तरेत्यादि । तस्येत्यादि प्राणादिधर्मैरुपासारूपस्य भावार्थस्य भेदाजानीहीति विध्यावृत्ति-
लक्षणनियमविधिरित्यर्थः । अत्रेवमित्यादि । दृष्ये वाक्यभेदरूपे वक्ष्यमाणव्याख्यानात्मिततामण-
स्वरूपं इदं दृष्यं बोध्यम् । विरोध इति प्राणस्य ब्रह्मत्वादिति भावः । तपनुवाचेनेति
प्राणप्रज्ञागुणानुवादेन । प्राणप्रज्ञागुणैः प्रकारो तद्विधायकत्वं प्राणप्रज्ञागुणरूपप्रकारवद्वैन्द्रगुणविशिष्टो-
पासनाविधायकत्वमङ्गीकृत्येत्यर्थः । पूर्वोक्तेत्यादि प्राण इति सूत्रभाष्ये न हि परमात्मनेन्द्रित-
तमस्ति परमानन्दरूपत्वात् । पापाभावश्च ब्रह्मविज्ञान एवेत्यादिना प्रोक्तरीत्या प्रतर्दनस्यैन्द्रात्मैरे-
वैक्यरूपपुरुषार्थासिद्धेस्तथा । तदुभयमिति इन्द्रवाक्यत्वं प्रतर्दनवाक्यत्वं चेत्युच्यते । नञ्

भाष्यप्रकाशः ।

सिद्धान्तितम् । तथा सति त्रितयपक्षस्य प्रागेव निरस्तत्वाद् विध्यावृत्त्यङ्गीकारे विधोलेखवै-
यर्थ्यप्रसंगाच्च प्रकारत्रयविशिष्टैकोपासाविधिरेव सिद्ध्यतीति वाक्यभेदस्फुटत्वं क्यमित्ये-
वालौचनीयं, न तु तदभावसमर्थनमालौचनीयम् । किंच । भाष्यकृतापि ब्रह्मण एवैतदुपा-
धिद्वयधर्मेण स्वधर्मेण चैकमुपासनं त्रिविधं विवक्षितमिति तन्मतसिद्धमुक्तमतो व्याख्येय-
विरोधोऽपीति ।

नन्वेवमस्य प्राचीनपक्षस्य निर्दुष्टत्वे सिद्धान्तिना कुतोऽयं नाद्यत् आपस्या च कुतो
व्याख्यातमिति चेन्न । त्रैविध्यादित्यस्या स्वस्लोपपञ्चमीत्वेनापचेरार्थिकतयाऽव्याह्यत्वाभावेन
व्याख्याने दोषाभावात् । सिद्धान्ते तेषां धर्माणां जीवीयत्वादिना भानस्यैव भ्रान्तिरत्वबोध-
नेन ब्रह्मधर्मत्वस्यैव निर्णीततया प्राचीनप्रतिपक्षत्रैविध्यस्याप्यभावादिति बुध्यम् ।

माध्वास्तु, ऐतरयोक्तं विश्वामित्रेन्द्रसंवादं विषयवाक्यत्वेनोदाहरन्ति ॥ ३० ॥ १० ॥

इति दशममनुगमाधिकरणम् ॥ १० ॥

इति श्रीबल्लभाचार्यचरणनखचन्द्रकिरणनिवारितहृदयध्वान्तेन

पुरुषोत्तमेन कृते भाष्यप्रकाशे प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥ १ ॥

रश्मिः ।

जीवं प्राणं चेत्युभयम् । यदुक्तम् ।

‘युक्तिभिरतिशियिलाभिः समादधानो दृढान् दोषान् ।

वाचस्पतिरपि भाष्ये व्याख्याव्याजेन दूषणं कृते’ ॥ इति ।

तत्स्फुटं दर्शयन्ति किं चेत्यादि । तन्मतेत्यादि अणुभाष्ये द्वितीयव्याख्यानेऽयं चेत्यादिना
वृत्तिकृन्मतानुसारेण व्याख्यातमिति रामानुजमतसिद्धमुक्तम् । अर्थात्तद्वृत्तिकृन्मतानुसारेण व्याख्या-
नादिदमपि तदेवेति भावः । विरोध इति । यद्यपि वृत्तिकृन्मतानुसारेणायथा नोपासात्रैविध्या-
दाश्रितत्वादिह तद्योगादित्यस्यायमन्योर्थ इत्यादिना वृत्तिकृन्मतेन व्याख्यानान्तरमचीकुपन् शंकराचा-
र्यास्तटीकाकारा इदमेकदेशमतप्रामाणिकमित्युक्त्वा नात्रोपासात्रयविशिष्टब्रह्मविधिः । आरुण्याद्यनेक-
गुणविशिष्टाप्रसक्तयणवत् सिद्धस्य ब्रह्मणो विध्ययोगात् वाक्यभेदप्रसङ्गाच्च । न च नानाधर्मविशिष्ट-
मेकमुपासनं विधीयते । एवंविधवाक्यस्यात्राश्रवणात् । नापि मामासुरमृतमित्युपास्येत्यत्र मामिति
जीवः, आसुरिति प्राणः, अमृतमिति ब्रह्म, इति स्वस्वधर्मविशिष्टमुपासनं विधीयते इति शङ्क्यम् ।
ब्रह्माश्रुतेः । प्राणो वासुतमिति प्राणस्यैवामृतत्वकथनाच्चेति प्रथमव्याख्यानमेवमश्रुतमिति दूषितम् ।
तथापि द्वितीयस्य पूर्वपक्षयाऽस्वरसरादित्याद्भाष्ये चास्य पक्षस्य नैबल्यासूचनाच्च टीकाकारोक्तमेवा-
संगतमित्याशयः । रूपबल्लोपेत्यादि तथा चोपासात्रैविध्यादित्यसोपासात्रैविध्यमापद्येत्यर्थः ।
यथा प्रासादात्पेक्षते इत्यत्र प्रासादमारुह्येत्यर्थः । एवं च यदि ब्रह्मजीवमुख्यप्राणानां त्रयाणामपि
स्वतन्त्रत्वं त्वयोच्येत तदोपासात्रैविध्यमापाद्य वाक्यभेदो दूषणत्वेनोच्येत इत्यर्थः । ननु तथापि
वाक्यभेदप्रसङ्गस्य त्वध्याहार्यत्वमेवेति दोषतादवस्थं तत्राहुः सिद्धान्त इत्यादिना । प्राचीन-
प्रतिपक्षेति तथाव्याख्याने समन्वयस्य अध्यायार्थस्य जीवप्राणयोः सत्त्वेनातिव्याप्तिरतोयमर्थ इति
भावः । उदाहरन्तीति ते देवाः प्राणयन्तः स एषोसुः स एष प्राणः प्राणकृत्व इत्येव विधात्तदयं

१. पक्ष प्राणहन्तः ‘वक्षिन् प्राणः पक्षवा संविद्येय’ इति सुखन्तरात् ।

रश्मिः ।

प्राणोपितिष्ठतीत्याद्यनुगमादत्रापि प्राणो विष्णुरेव ।

‘विष्णुमेवानयन् देवा विष्णुर्गतिमुपासते ।

स एव सर्वं वेदोक्तसारघो देह उच्यते’ ॥ इति स्कान्दे ।

इतिश्रीति । अणुभाष्येति अणुभ्यो द्वा सुपर्णेति श्रुत्युक्तेभ्यो भाष्यमिति चतुर्थीसमासः
तस्य प्रकाश इत्यर्थः ।

‘इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञमिति तद्विदः ॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥

तत्क्षेत्रं यच्च यादक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।

स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।

ब्रह्मसूत्रपदैश्वैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितम्’ ॥

इतिगीतात्रयोदशाध्यायवाक्येभ्यः ॥ ३० ॥ १० ॥

इति दशमाधिकरणम् ॥ १० ॥

इति श्रीविट्ठलेश्वरैश्वर्यनिरस्तसमस्तान्तरायेण श्रीगोविन्दरायपौत्रेण
संपूर्णवेत्त्रा विट्ठलरायभ्रात्रीयगोकुलोत्सवात्मजगोपेश्वरेण कृते

भाष्यप्रकाशरश्मौ प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः

संपूर्णतामगमत् ।

१. स एष प्राण इत्युक् । २. प्राणम् ।